निदान-चिकित्सा-हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

प्रथम खण्ड

वैद्य रणजितराय देसाई

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर • इलाहाबाद

ॐ नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

प्रथम खण्ड

लेखक

वैद्य रणजितराय देसाई

आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य

उपाचार्य : श्रीओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

सदस्य : मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान समिति

प्रस्तावना-लेखक

वैद्य हरिदत्तजी शास्त्री

आयुर्वेदाचार्य

डाइरेक्टर ऑफ आयुर्वेद, मुंबई राज्य

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर : इलाहाबाद

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते

—मल्लिनाथ

रोपिता **धर्मदत्तेन** गुरुणा गुणशालिना ।
सिक्ता श्री **यादवाचार्य**——चरणैः सुविचक्षणैः ।।
पालिता यत्नतो **वैद्य रामनारायणेन** या ।
लताज्ञानमयी तस्याः प्रथमः कुसुमोद्गमः ।।
ग्रथितो बालिशतया नीतो वः कण्ठहारताम् ।
आवहेद् विबुधाः प्रीतिमित्येवाऽभ्यर्थनाऽसकृत् ।।

विदुषामाश्रवस्य
लेखकस्य

लेखक की कृतियाँ

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

(चतुर्थ संस्करण यन्त्रस्थ)

आयुर्वेदीय हितोपदेश

आयुर्वेदीय शिक्षणालयों में संस्कृत विषय के शिक्षणार्थ
आयुर्वेदीय वाङ्मय से संगृहीत गद्य-पद्य (सार्थ)
(द्वितीय संस्करण यन्त्रस्थ)

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

आयुर्वेदीय दर्शन का शिक्षण आयुर्वेदीय संहिताओं से ही हो इस दृष्टि से निबद्ध
(तीनों ग्रन्थ गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा
पाठ्यपुस्तकतया स्वीकृत)

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

प्रथम खण्ड-प्रथम मुद्रण (आप के हाथों में)

प्रस्तावना

तस्माद् दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।। च. चि. अ. ३०
समीक्ष्य दोषौषधदेशकालासात्म्याग्निसत्त्वौकबलानि।
च. चि. अ. २

आयुर्वेद-सिद्धान्तानुसार प्रत्येक रोग की चिकित्सा में उक्त दोषौषधादि परीक्षण अत्यावश्यक है। केवल अमुक योग (नुस्खा) से अमुक रोग नष्ट हो जाता है इतना ही जानकर चिकित्सा करना उचित नहीं, क्योंकि "न योगैरेव केवलम्" यह डिण्डिमघोष आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। इस डिण्डिमघोष को ध्यान में रख कर ही "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक यह पुस्तक लिखने का उपक्रम हुआ है।

आयुर्वेदिक साहित्य में रोग-निवारण के लिए अनेक प्रकार की चिकित्सा-विधियों का वर्णन मिलता है। यथा--उपशय नाम से १८ प्रकार की चिकित्सा-विधि का वर्णन चरक तथा वाग्भट आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इस में देश तथा काल का भी समावेश करने से बीस प्रकार के उपशय अर्थात् चिकित्सा का संकेत भी मिलता है।

इसके अतिरिक्त मणि, मन्त्र, स्वस्त्ययन, बलि-उपहार, प्रार्थना, स्तोत्रपाठ, सूर्य-रश्मि, जल, मृत्तिका और भस्म आदि का प्रयोग भी विविध रोगों के नाश के लिए आयुर्वेदीय साहित्य में वर्णित है।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल में संसार में जितने प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ पाई जाती हैं, उन सब का वर्णन आयुर्वेदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध है और आवश्यकतानुसार इन सभी प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियों का उपयोग प्राणाभिसर-प्रकार से करने का आदेश आयुर्वेदिक साहित्य में उपलब्ध है।

इन सब प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियों में से किसी एक ही पद्धति को सर्वथा-सर्वदा मुख्यता दे देना आयुर्वेद के सिद्धान्त में अभीष्ट नहीं है ;।

प्रस्तुत निदान-चिकित्सा हस्तामलक पुस्तक के प्रारम्भिक ६ अध्यायों में रोग-परीक्षा के लिए अत्यावश्यक ज्ञेय पदार्थों का विस्तृत वर्णन है। उदाहरणतः--व्याधि सामान्य विज्ञानीय--प्रथम अध्याय में काय चिकित्सा का प्राधान्य ; काय-चिकित्सा से अभिप्रेत कायाग्नि का महत्त्व, व्याधिस्वरूप, दोषमहत्त्व, वात-दोष का महत्त्व, दोष शब्द का महत्त्व--आदि अपेक्षित ज्ञातव्य विषयों का दिग्दर्शन किया गया है।

दूसरे अध्याय में रोगलक्षण-प्रसंग में प्रकृतिज्ञानाधीन विकृति-ज्ञान होने से विकृति-वर्णन से प्रथम प्रकृति-वर्णन के रूप में स्वस्थ-लक्षण--समीक्षा की गई है। अनन्तर रोगभेदों की असंख्यता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया गया है तथा जीवाणु-कारणवाद के बारे में आयुर्वेद-साहित्य का मन्तव्य स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकरण में "भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" इस सुश्रुतोक्त वचन का व्यापक प्रामाण्य शल्यतन्त्र के बाहर कायचिकित्सा या भूतचिकित्सा, मानस रोगों में भी मानना संगत नहीं क्योंकि मानसरोग---राग-द्वेषादि भौतिक नहीं हैं। अतएव "भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" इस वचन को केवल शल्यतन्त्र में ही मान्यता देना उचित होगा क्योंकि शल्यतन्त्रवादी प्रायः पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण को मान्यता देते आ रहे हैं। इसका प्रमाण "प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्" इत्यादि सुश्रुतोक्त वचन हैं। किन्तु कायचिकित्सक तो प्रत्यक्ष को अल्प तथा अप्रत्यक्ष को अनल्प मानते हैं। यथा--"अल्प हि प्रत्यक्षमनल्पमप्रत्यक्षम्। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षं भवति तान्येव सन्ति चा प्रत्यक्षाणि।" इत्यादि चरकसंहिता के वचन इस ओर संकेत करते हैं। इसी लिए यह प्रसिद्ध है कि--"अनुमानेन कुर्वन्ति वैद्यकं न प्रतिज्ञया" (यो. र.)।

इसी प्रकरण में यह भी कह देना उचित होगा कि मानसरोगों को आगन्तु रोग मान लेना भ्रान्त होगा, क्योंकि मानस दोष--रजोगुण तथा तमोगुण आगन्तु नहीं प्रत्युत ये मन के आश्रय में रहते हैं।

तीसरे अध्याय में दोषों के नानात्मजरोगों का विस्तृत वर्णन है। मेरे विचार से "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" इस नाम के अनुसार इसी अध्याय में इन रोगों की चिकित्सा-विधि का भी वर्णन साथ-साथ हो जाता तो इन रोगों की सम्प्राप्ति का भंग किस प्रकार हो सकता है यह भी भली प्रकार हृदयंगम करने में छात्रों को सुविधा होती।

रक्त धातु को भी कुछ लोग दोष मानते हैं, अतएव दोषज रोगों के बाद रक्त-जन्य रोग तथा धातु-प्रसंग से रसादि धातुस्थ रोगों का भी अपेक्षित वर्णन किया गया है।

इस प्रकार प्रायः उपद्रवरूप में पाए जानेवाले साधारण रोगों का वर्णन पढ़ लेने के बाद ज्वर, अतिसार आदि विशेष रोगों का वर्णन शीघ्र समझ में आ सकेगा--इस विचार से प्रथमतः यही वर्णन-क्रम उत्तम समझा गया है। आशा है, पाठक इस से लाभान्वित होंगे।

पाँचवें अध्याय में आदिबल इत्यादि से प्रवृत्त रोगों का वर्णन इस लिए किया गया है कि, चिकित्सा करते समय इस प्रकार के वर्गीकरण से उन-उन

रोगों का बलाबल भली प्रकार समझकर उनकी यथासम्भव सफल चिकित्सा की जा सके।

छठे अध्याय में वर्णित रोग-भेद का प्रकार भी ऊपर निर्दिष्ट प्रयोजन अर्थात् चिकित्सा में सुकरता लाने के लिए ही किया गया है।

सातवें अध्याय में रोग-परीक्षा के लिए उपयुक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विवेचन किया गया है तथा साथ ही प्रश्नादि द्वारा भी रोग-परीक्षा कहाँ तक उपयुक्त है--इस का भी विवेचन किया गया है।

आठवें अध्याय में परीक्षणीय विषय प्रकृति, सारसंहनन, सात्म्य, सत्त्व आदि का वर्णन किया गया है।

नवम अध्याय में दोष तथा दूष्यों का अपेक्षित संक्षिप्त वर्णन किया है तथा स्रोतों का भी उपयुक्त वर्णन दिया गया है।

इस प्रकार प्रसक्तानुप्रसक्त रूप से उपयुक्त ज्ञेय विषयों का संकलन कर के इस "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

पाश्चात्य विद्वद्वरों द्वारा प्रचारित ग्रन्थलेखन की शैली के अनुसार निबन्ध-रूप में लिखे गए इस ग्रन्थ की शैली, आज-कल के पठन-पाठन - प्रकार के अनुकूल ही है, इस लिए यह ग्रन्थ सामयिक पाठकों की रुचि बढ़ाता हुआ लोकोपयोगी होगा--ऐसी आशा है। लेखक की भाषा-शैली विषय को रुचिपूर्ण तथा बोधगम्य बनाने में सफल हुई है। इसका प्रमाण वाचक स्थान-स्थान पर प्राप्त करेंगे।

लेखक ने यत्र-तत्र प्राचीन प्रचलित शब्दों के प्रयोग में औचित्य प्रदर्शित किया है--जो स्तुत्य है। पर प्रस्तुत पुस्तक में "प्रमाण" शब्द को प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लिए तथा 'मान-तौल' आदि के लिए भी प्रयुक्त करके संकीर्ण कर दिया है। जब कि प्राचीन ग्रन्थों में "मान-तौल" के लिए परिमाण शब्द का उचित प्रयोग प्रसिद्ध है, अतएव मेरे विचार में प्रस्तुत ग्रन्थकार "मान-तौल" के लिए "परिमाण" शब्द का प्रयोग करें तो ठीक होगा।

आयुर्वेद में निदान अर्थात् रोगों का निदान विस्तार से वर्णित नहीं है--ऐसी धारणा प्रायः शिक्षित वैद्यसमाज में पाई जाती है। यह इसलिए कि निदान सम्बन्धी सभी साहित्य किसी एक ही ग्रन्थ में और एक जगह शृंखलाबद्ध--एक ही प्रकरण में प्राप्त नहीं हैं। यद्यपि आयुर्वेद के वाङमय में इतस्ततः ऐसा साहित्य मिलता है--जिसके संकलन से निदान के विषय में संक्षिप्त तथा आकांक्षित साहित्य-शून्य स्थलों का प्रतिसंस्कार किया जा सकता है। तथापि ऐसा यत्न करके लिखे ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हैं। इस श्रेणी के उपलब्ध ग्रन्थों में--माधव निदान आदि ग्रन्थों से भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती। उदाहरणतः माधव निदान के प्रारम्भ में ही ज्वर-निदान-प्रकरण में ज्वर का निदान ही

वर्णित नहीं है केवल ज्वर की सम्प्राप्ति से ही इस प्रकरण का श्रीगणेश कर दिया गया है। चरक संहितोक्त ज्वर के विविध निदानों का वर्णन माधव निदान में नहीं पाया जाता। अतः सम्प्रति ऐसी सामयिक निदान-पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता है।

"निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक इस पुस्तक की भूमिका लिखने का आदेश मेरे अन्यतम सुहृद्वर श्री रणजितराय देसाई ने दिया था। अत्यन्त कार्य-व्यस्तता के कारण मैं इस कार्यको शीघ्रतया सुचारुरूप से पूर्ण न कर सका, एदतर्थ क्षमा चाहता हूँ। मेरे विचार में यह पुस्तक प्राचीन आयुर्वेद के सिद्धान्तों की व्याख्या पाश्चात्य विज्ञान-मत से भी करने में अच्छी मार्गदर्शक है। ऐसे ग्रन्थों से इस समय पठन-पाठन में अच्छी सहायता मिल सकती है। क्योंकि काल-बल से आज के युग में जनता पाश्चात्य विज्ञान पर अधिक श्रद्धा रखती है। वह भारतीय प्राच्य विज्ञान को भी पाश्चात्य विज्ञान की कसौटी पर कस कर ही उसका मूल्य निर्धारण करना उचित समझती है। अतएव, ऐसे समय में इस प्रकार की पुस्तकें अवश्य आयुर्वेदसिद्धान्तों का ज्ञान पाश्चात्य विज्ञान के सहयोग से जनता तक पहुँचाने में उपयोगी होंगी। शमिति,

हरिदत्त शास्त्री
डायरेक्टर ऑफ आयुर्वेद, मुम्बई राज्य

नम्र निवेदन

आयुर्वेद के प्रमुख अङ्ग कायचिकित्सा पर विशद-विवेचन-सहित जो ग्रन्थ-माला प्रस्तुत करने की लेखक और प्रकाशक की योजना है उसका यह प्रथम पुष्प वाचकों की सेवा में सादर समर्पित है। कई वर्षों से प्रकाशकों के प्रतिष्ठित मासिक पत्र 'सचित्र आयुर्वेद' में छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा अथवा निदान-चिकित्सा हस्तामलक नामक जो लेखमाला प्रतिमास छपती रही उस का संशोधित-परिवर्धित रूप यह ग्रन्थमाला होगी। पुस्तक पर आदि से अन्ततक दृष्टिपात करते ही वाचक समझ सकेंगे कि मूल लेखमाला के आरम्भिक पन्द्रह-बीस पृष्ठ ही अभी तो इस प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाश में आ रहे हैं।

ग्रन्थ जैसे-जैसे लिखा जाता रहा वैसे-वैसे छपता रहा। यह क्रम कोई चार वर्ष चला। योजनानुसार संपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित होने में अभी अनेकगुण समय व्यतीत होता। मुद्रित पृष्ठ इतनी देर पड़े रहना अथवा ग्रन्थकी पूर्ति के लिए अपेक्षित काल दे सकना स्पष्ट कारणों से लेखक और प्रकाशक दोनों के लिए अशक्य था। अतः ग्रन्थ को खण्डों के रूप में प्रस्तुत करना उचित समझा गया। ग्रन्थ को शीघ्र मुद्रित हुआ देखने का प्रिय वाचकों का उत्कट आग्रह भी योजना को यह परिवर्तित रूप देने में कम कारणभूत नहीं हुआ।

इस प्रथम खण्ड में रोग-निदान सम्बन्धी सामान्य विवेचन किया गया है। यह विषय भी उक्त कारणों से इस खण्ड में पूर्णतया नहीं लिया जा सका है। इस प्रकरण में अभी नाडी-परीक्षा, अरिष्ट-विज्ञान तथा निदानपञ्चक ये महत्त्वपूर्ण प्रकरण शेष रहे हैं। तथापि ग्रन्थ को जो रूप दिया गया है उसे देखते हुए अद्या-वधि मुद्रित अंश भी विद्यार्थियों के लिए कम उपयुक्त न सिद्ध होगा।

लेखक द्वारा अबतक लिखित तथा श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा ही प्रकाशित ग्रन्थों से प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली में कुछ भिन्नता है, जिसके प्रति वाचकों का चित्त आकृष्ट किया चाहता हूँ।

प्रथम भिन्नता यह है कि अवान्तर विषयों से संबद्ध समग्र वचन लिए नहीं गए हैं। केवल आरम्भ में वचनों का स्थल-निर्देश पूर्णतया कर दिया गया है। उसे देख कर जिज्ञासु विद्यार्थी स्वयं स्वाध्याय कर सकेंगे। वचन प्रायः वे लिए गए हैं जो अधिक महत्त्व के हैं तथा जिनकी स्मृति निम्न स्तर के विद्यार्थी को भी बहुधा रहनी ही चाहिए। कई प्रसंगों में मूल वचन उन स्थलों पर भी लिए गए हैं जहाँ उन का निर्देश न होता तो किसी को स्वभावतः शङ्का होती कि अमुक बात लेखक ने अपनी कल्पना से लिखी है--मूल ग्रन्थों में नहीं है। एक

वार इस क्रम से संपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हो जाए तो नयी आवृत्तियों में वचन पूर्णतया उद्धृत करने की इच्छा है।

द्वितीय भिन्नता इस ग्रन्थ में यह है कि, आधुनिक मत के प्रति प्रायः संकेतमात्र कर दिया गया है, संपूर्ण विवेचन नहीं किया गया है। अब तक के अनुभव से लेखक का नम्र मत हुआ है कि आयुर्वेद के लेखक या अध्यापक को नवीन विषयों का ज्ञान कराने की जिम्मेदारी न लेनी चाहिए। इन विषयों के पृथक् अध्यापक होते ही हैं। विशद ग्रन्थ भी अब तो देशभाषाओं में भी उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में आधुनिक विषयों को भाषण या ग्रन्थ में स्थान देनेका फलितार्थ यह होता है कि हमारी जो शक्ति और समय आयुर्वेद पर लगने चाहिए उनका व्यय आयुर्वेद पर न होकर आधुनिक शास्त्रों के पोषण और प्रचार में ही होता है। अतः अपने शास्त्रों के परिशीलन और प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा अपने तन्त्र को विशद किया जाए यही परिपाटी श्रेयस्कर समझी है। तथापि नव्य-मत को सर्वथा छूए विना भी कार्यसिद्धि तो नहीं होती। आज के युग में किसी न किसी रूप में नव्य-मत के संपर्क में चिकित्सक को आना ही पड़ता है, भले ही वह केवलायुर्वेद का विद्यार्थी रहा हो। अतः नव्य मत के प्रति अंगुलिनिर्देश मात्र कर दिया है--किस प्राचीन वस्तु का किस नवीन वस्तुके साथ साधर्म्य है और कितना अथवा वैधर्म्य है तो कितना? एवं वैधर्म्य है और उस विषय में आयुर्वेद की उत्कृष्टता है तो क्यों? अथवा आयुर्वेद का कोई अंश हमें अपने आज के ज्ञान के अनुसार कुछ अपूर्ण भासता है तो उसकी अपूर्णता का स्वरूप क्या है तथा उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है?

अपना स्थिर मत यह हो चुका होने पर भी मैं आयुर्वेदीय क्रियाशारीर की नयी आवृत्तियों में तदनुरूप परिवर्तन नहीं कर पा रहा हूँ, इसका मुझे खेद है। साथ ही बलवान् कारण भी है, और वह है महाकवि माघ के शब्दों में--विष-वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्। तथापि "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" के नवीन संस्करण में आयुर्वेद को अधिकतर स्थान देने, उसकी अधिकाधिक व्याख्या करने एवं नव्य-मतसे उसका श्रैष्ठ्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

आयुर्वेद के संवर्धन के लिए नव्य-मत से उसकी समन्वयपूर्वक पूर्ति की अपेक्षया आयुर्वेद का स्वयं आयुर्वेद से समन्वय मुझे प्रथम आवश्यक प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह है कि आयुर्वेदिक प्रस्तुत किसी प्रकरण को समझने के लिए आयुर्वेद के ही प्रकरणान्तरों में आए वचनों का उपन्यास करना और उनकी सहायता से प्रस्तुत प्रकरण को विशद करना। यह पद्धति अपनाने का नम्र प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है। ऐसा करने में प्रमुख दृष्टि यही रखी है कि ग्रन्थ आरम्भ से अन्ततक केवल शब्दार्थ मात्र न रह कर व्यवसाय और क्रिया से साक्षात् संबन्ध रखनेवाला बने। इस प्रकार निदान-विषयक इन आरम्भिक अध्यायों की रचना भी

केवल शुष्क आकार-शून्य चर्चा न रह कर आगे आनेवाले रोगों के निदान और चिकित्सा के प्रति संकेत करनेवाली होने से अधिक उपयोगिनी हो गयी है। इतना ही नहीं, क्रियाशारीर या दोषधातुमल-विज्ञान, जो कायचिकित्सा का ही युगानुरूप पृथग्भूत उपग्रह या उपाङ्गभूत विषय हो चुका है, उससे संबद्ध इस ग्रन्थ में आए प्रकरण भी रोगों के निदान और चिकित्सा से साक्षात् संबन्ध रखनेवाले होनेसे इस ग्रन्थ में अधिक गहराई से चर्चे गए हैं। परिणामतया, क्रियाशारीर का अध्ययन करनेवाले प्रारम्भिक कक्षा के विद्यार्थी भी अपने विषय से संबद्ध प्रकरणों का अध्ययन इस ग्रन्थसे करेंगे तो उन्हें इस ग्रन्थ में आवश्यकतानुसार की गई विवेचन की विशदता के कारण विषय अधिक स्पष्ट एवं व्यवहार से अधिक संबन्ध रखनेवाला प्रतीत होने से अधिक रोचक लगेगा।

किं बहुना, विषय के विशद विवेचन की विशिष्ट दिशा का निर्धारण कर तदनुरूप ग्रन्थ-लेखन का नम्र प्रयास इन पृष्ठों के रूप में किया गया है। यह प्रयास श्लाघनीय हो तो मैं इसे गुरुकल्प विद्वज्जनों, विवित्सु वाचकों और विद्यार्थियों एवं सहृदय सन्मित्रों द्वारा जो प्रोत्साहन सतत मिलता रहा उसीका शुभ परिणाम मानता हूँ और सर्व सज्जनों का अन्तःकरण से ऋण-स्वीकार करता हूँ। श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय की स्वामिनी सभा श्री-तापी ब्रह्मचर्याश्रम के अध्यक्ष माननीय श्री रणछोडदास त्रि. पोपावाला तथा महाविद्यालय के आचार्य पूज्य श्री बापालाल भाई ने संस्था में कायचिकित्सा विषय के प्राध्यापक पद पर नियुक्त कर मुझे इस विषय का शास्त्रीय ज्ञान एवं प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया तथा साहित्य-सर्जन के कार्य को सतत प्रोत्साहन देकर पल्लवित किया तदर्थ दोनों महानुभावों का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ। आदरणीय वैद्य पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, डाइरेक्टर ऑफ आयुर्वेद, मुंबई राज्य ने अपने सुतरां व्यस्त समय में से थोड़ा-थोड़ा करके समय निकाला और पुस्तक को साद्यन्त वाँच कर उसपर विवेचनात्मक प्रस्तावना लिख कर दी, तदर्थ उनके प्रति भी पृथक् कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशक, मुद्रक एवं मुद्राकर सर्व महानुभावों का सौजन्य स्वीकार करता हूँ, कि उन्होंने अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी मेरी अनियमितताओं को सहन किया। अपने प्रातःस्मरणीय गुरु श्रद्धेय स्वर्गवासी वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य की पुण्य स्मृति तो इस समय सर्वोपरि लेखक के अन्तःकरण को आप्लावित कर रही है। उनके प्रति अपनी नम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ।

विनीत

लेखक

प्रकाशकीय वक्तव्य

'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान', तथा 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' आदि ग्रन्थों के लेखक तथा ओ० ना० आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत के वाइस-प्रिन्सिपल एवं बम्बई आयुर्वेद रिसर्च बोर्ड के सदस्य वैद्य रणजितराय देसाई, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेदालंकार द्वारा लिखित 'निदान-चिकित्सा हस्तामलक' का प्रथम खण्ड प्रकाशित कर आयुर्वेदीय विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है। वैद्य रणजितराय की अगाध विद्वत्ता एवं सुलझे हुए विचारों के साथ इनकी लेखन-शैली से समस्त आयुर्वेद-जगत् सुपरिचित हैं। कठिन से कठिन विषय को भी सुबोध भाषा में लिखकर सर्वसाधारण को हृदयस्थ करा देना——यही इनकी लेखन-शैली की विशेषता है। इनके द्वारा लिखित उपरोक्त आयुर्वेदीय ग्रन्थ देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और सरकारी आयुर्वेद कालेजों के पाठचक्रम में सम्मिलित हैं।

इस पुस्तक (प्रथमखण्ड) के मात्र ६ अध्यायों में निदान विषयक आवश्यक विषयों एवं यथास्थान कठिन विषयों पर पूर्ण विवेचन तथा प्राच्य-पाश्चात्य निदान का तुलनात्मक विवेचन करते हुए आयुर्वेद-विषय को ही प्रधानता दी गई है, जिससे विद्वान् वैद्य समाज एवं कोमलमति छात्रों तथा आयुर्वेद-जिज्ञासुओं को रोग-निदानात्मक विषय सरलतया समझ में आ जाएँ।

इस पुस्तक के प्रारम्भिक प्रकाशन काल में हमें आशा थी कि बैद्यनाथ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकों की तरह इसे भी एक ही जिल्द में प्रकाशित कर दिया जा सकेगा और तदनुसार ही इसका प्रकाशन भी होता रहा। परन्तु लेखक की कार्यव्यस्तता और समयाभाव एवं प्रकाशन में अत्यधिक समय लग जाने तथा इस पुस्तक की अत्यधिक माँग आने पर निश्चय किया गया कि ६ अध्यायों का एक खण्ड प्रकाशित कर दिया जाय। शेष विषय दूसरे खण्ड में प्रकाशित होंगे।

हमें आशा है कि आयुर्वेद के विद्यार्थियों, अध्यापकों और जिज्ञासुओं को यह पुस्तक पसन्द आयेगी और निदान जैसे गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण विषय को हृदयंगम करने में उनको सुगमता होगी।

प्रकाशक

रामदयाल जोशी रामनारायण वैद्य

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, कलकत्ता

विषय सूची

छठा अध्याय

* ॐ नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः *

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

निदान-चिकित्सा-हस्तामलक

पहला अध्याय

आमुख

अथातो व्याधिसामान्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः[1] ॥

काय-चिकित्सा : ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

व्यापकता की दृष्टि से आयुर्वेद के आठ अङ्गों में काय-चिकित्सा का पद अग्रच है। आज तो अन्य अङ्गों में वर्णित रोगों की चिकित्सा भी काय-

---

१—ऋग्वेद १०।९७।६ तथा यजुर्वेद १२।८०

—समिति (राजसभा, बड़ी विधान-सभा) में जैसे राजा (उसके सभ्य) संयुक्त होकर कार्य करते हैं, तद्वत् ओषधियाँ (दोषनाशन उपचार—**निरुक्त**) जिसके समीप अथवा जिसकी बुद्धि में स्थित होती हैं ऐसा, राक्षसों का (रोग-बीजों का) नाश करनेवाला तथा (उनके आश्रयभूत) आम का शमन करनेवाला (कर्मणा) विप्र **वैद्य** कहाता है।

यहाँ रोगबीजों (जीवाणुओं) के नाश और उनके पोषक आम (आम रस तथा उससे संयुक्त दोषों) को एक ही कक्षा में रखा गया है। 'हृदय और मस्तिष्क दोनों में किसका महत्त्व अधिक है?' आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्साशास्त्र के मध्य विवादास्पद इस विषय के समाधान के लिए मैंने **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** में 'मूर्धानमस्य संसीव्य' इत्यादि वेद-मन्त्र प्रस्तुत किया है। जीवाणुवाद को लेकर प्रवृत्त विवाद के शमनार्थ यहाँ उल्लिखित मन्त्र उपस्थित करता हूँ। जैसा→

चिकित्सक ही करते देखे जाते हैं; यथा रक्तप्रदर, विभिन्न बालरोग आदि कौमारभृत्याधिकारोक्त रोगों; प्रतिश्याय, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि शालाक्यतन्त्रोक्त रोगों; रसायन-वाजीकरण प्रकरणों में कहे तत्तत् विकारों एवं अन्य तन्त्रोक्त रोगों की चिकित्सा कायचिकित्सकों द्वारा ही की जाती है। इससे इस तन्त्र का महत्त्व और भी बढ़ गया है। यों कायचिकित्सा का प्राचीनोक्त क्षेत्र इसके नीचे दिए लक्षण से विदित होगा[1]।

कायचिकित्सा का लक्षण——

ज्वर, रक्तपित्त, शोष (यक्ष्मा), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्त-विकार), प्रमेह (मूत्र-विकार), अतिसार आदि प्रथम आमाशय और पक्वाशय में उत्पन्न होकर पश्चात् सर्व शरीर में प्रसृत तथा संश्रित हो उसे उपतप्त (पीडित) करनेवाले रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा का निर्देश आयुर्वेद के जिस अङ्ग में किया जाता है, उसे कायचिकित्सा कहते हैं।

कायचिकित्सा के दो विभाग किए जाते हैं। १——निदान, जिसमें रोगों के कारण, पूर्वरूप, लक्षण आदि का विचार किया जाता है; २——चिकित्सा, जिसमें रोगों के शमन के उपायों का वर्णन होता है।

काय शब्द का विशेष अर्थ : कायाग्नि——

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा ॥

च० सू० ३०।२८ पर चक्रपाणि

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः ॥

च० सू० ३०।२८ पर शिवदाससेन धृत भोज-वचन

———

←कि मैंने ऊपर कहा है मन्त्र में रोगबीज तथा उनके आश्रयदाता साम शरीर दोनों को एक ही कोटि में रखा है। तात्पर्य, आयुर्वेद के मूल वेद के मत से दोनों ही मत सत्य हैं। तथापि 'ओषधि' शब्द की ऊपर दी निरुक्ति (ओषधिः कस्माद् दोषधिर्भवति) से यह ध्वनित है कि, ओषधियों की क्रिया दोषों पर (विशेष) होने से रोगबीजों के क्षेत्रभूत शरीर का महत्त्व प्राचीनों के मत से सविशेष है।

१—देखिए—सु० सू० १।८ (३), सु० सू० १।७ पर डल्लन, सु० सू० ३०।२८ पर चक्रपाणि, च० सू० ३०।२८ पर शिवदास सेन तथा अ० हृ० सू० १।५ पर अरुणदत्त।

इस प्रकरण में काय शब्द जाठराग्नि (अन्तरग्नि, कायाग्नि) इस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मन्द हुए जठराग्नि की जो चिकित्सा करे--अर्थात् लङ्घन, दीपन, पाचन आदि उपचारों द्वारा उसे प्रदीप्त कर, यथोचित संशोधनों द्वारा उसे आवृत करनेवाले दोषों का निर्हरण कर एवं अग्नि की मन्दता के कारणों का परित्याग करा उसे समावस्था में लाए, उसे कायचिकित्सक कहा जाता है। अनुभव से भी यह वस्तु सत्य सिद्ध होती है। कारण, देखते हैं ज्वर, अतिसार प्रभृति कायचिकित्साधिकारोक्त रोग अग्नि की विकृति से ही होते हैं। देखिए कारण--

दोषों के प्रकोप तथा रोगमात्र की उत्पत्ति का कारण : अग्निमान्द्य--

शमप्रकोपौ सर्वेषां दोषाणामग्निसंश्रितौ ॥ च० चि० ५।१३६

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ ॥ अ० हृ० नि० १२।१[1]

रोगों की उत्पत्ति के कारणभूत दोषों का साम्य या प्रकोप अग्नि के ही अधीन है। अग्नि मन्द हो तो प्रसादभूत अन्नरस एवं रस-रक्तादि धातुओं और उप-धातुओं की पुष्टि यथावत् नहीं होती, उनके मलभूत दोषों की ही उत्पत्ति और पुष्टि सविशेष होती है[2]। जैसे, जाठराग्नि दुर्बल हो तो निश्चित ही प्रसादभूत

१--'अग्नि की महिमा' के सूचक अन्य प्रमाणों का संग्रह **आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर** के छठे अध्याय में देखिए।

२--दोषों की मलरूपता

क्रियाशारीर या दोषधातुमलविज्ञान में अधीत यह सिद्धान्त यहाँ प्रसंगवश स्मरण कर लेना चाहिए कि, **उत्पत्ति की दृष्टि से दोषों का नाम मल है**। प्रत्येक धातु को अपनी पुष्टि के लिए रसधातु का जितना प्रमाण प्राप्त होता है उसका उपयोग धातु-उपधातु अपनी पुष्टि और क्षतिपूर्ति के लिए कर चुकते हैं, उसके अनन्तर रसधातु का जो अंश शेष रहता है, वह उस धातु या उपधातु के लिए अनुपयुक्त होने से उस धातु के लिए तो मल-रूप ही होता है। इस निःसार या मलरूप अंश से जिस द्रव्य की पुष्टि होती है, उसे निःसार या मलरूप अंश से परिपोषित होने के कारण उस धातु का **मल** कहा गया है।

दोषमात्र की उत्पत्ति और पुष्टि इस प्रकार अपने-अपने धातु के निःसार अंश से आनुषङ्गिक फल (बाई-प्रोडक्ट) के रूप में ही होती है। यह बात नहीं कि वे सर्वथा त्याज्य—शरीर से बाहर फेंक देने योग्य—होने से मल कहाते हों। इनके स्वास्थ्योपयुक्त प्राकृत कर्म भी शास्त्रों में वर्णित हैं ही। उन कर्मों के कर्ता होने से—उन कर्मों के द्वारा शरीर का धारण करनेवाले होने से—वात→

अन्नरस न्यून प्रमाण में उत्पन्न होता है, मलभूत पुरीष, मूत्र और वायु ही अधिक प्रमाण में बनते हैं, वैसे ही धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि मन्द हों तो जो-जो धात्वग्नि या भौतिकाग्नि मन्द हो उससे पक्व और पुष्ट होनेवाले धातु-उपधातु और इन्द्रिय की पुष्टि स्वल्प होती है; उसके मलभूत द्रव्य की ही उत्पत्ति अधिक प्रमाण में होती है। इन मलभूत द्रव्यों में वात-पित्त-कफ की भी गणना है। वात

←—पित्त-कफ को **धातु** भी कहा जाता है। यही वात-पित्त-कफ विषम नाम प्रकुपित या क्षीण होते हुए शरीर को दूषित (रोग-पीडित) करते हैं इस निमित्त इन्हें **दोष** कहा जाता है।

तात्पर्य, **वात-पित्त-कफ की विभिन्न संज्ञाएँ विभिन्न दृष्टियों से है।** सिद्धान्त को यथावत् समझने के लिए इस बात को पुनः-पुनः समझ लेना चाहिए। उत्पत्ति की दृष्टि से इन्हें मल कहा जाता है—अपने-अपने धातु के निःसार अंश (मलभूत अंश—अनुपयुक्त अंश) से उत्पन्न होने के कारण इनकी मल संज्ञा है। मलों के अन्य भी भेद हैं—यथा, पुरीष, मूत्र, स्वेद, इन्द्रियों के मल इत्यादि। इन सर्व मलों में विशिष्ट प्राकृत कर्म और दूषणात्मक स्वभाव (रोगोत्पत्ति में हेतुता) को लक्ष्य में रखकर **ब्राह्मण-कौण्डिन्य न्याय से** वात-पित्त-कफ को पृथक् वर्ग में स्थापित किया गया है। सो, मलभूत अंश से उत्पन्न होने से इन्हें मल कहा जाता है। प्राकृत कर्मों द्वारा तथा शरीर के निर्माण में घटक-रूप में यत्किंचित् भी भाग लेनें के कारण इन्हें **धातु** कहा जाता है। इन्ही को दूषणात्मक स्वभाव के कारण **दोष** कहते हैं। सो, प्रत्येक दोष और प्रत्येक दोष का प्रत्येक भेद मल है—उत्पत्ति की दृष्टि से; धातु है—उक्त प्रकार से शरीर का धारक होने से; दोष है—दूषणात्मक स्वभाव के कारण।

वात-पित्त-कफ को प्रशस्त कर्मों का द्योतक धातु यह सुन्दर नाम न देकर प्राचीन आचार्यों ने दुष्ट कर्मों का सूचक दोष यह असुन्दर नाम दिया है। उसका हेतु यह है कि, चिकित्सक की दृष्टि नाम लेने के साथ ही इनके दुष्टि-कर्तृत्व पर पड़े और वह इनके साम्य की सदा चिन्ता करे इस विचार से इन्हें असुन्दर भी दोष-नाम देना ही ठीक समझा गया है। इससे आचार्यों की व्यवहार-कुशल बुद्धि की ही प्रतीति होती है।

ऊपर **ब्राह्मण-कौण्डिन्य न्याय** का उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है। किसी समय ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया गया। सबके उपस्थित होने पर यजमान ने पूछा—सब ब्राह्मण आगए? उत्तर मिला—हाँ। पुनः यजमान ने प्रश्न किया—कौण्डिन्य भी आ गया? उत्तर मिला—हाँ। इस दृष्टान्त में यद्यपि ब्राह्मण होने से प्रथम प्रश्नोत्तर में कौण्डिन्य का भी समावेश→

आहार का मल है, कफ रस-धातु का तथा पित्त रक्त-धातु का मल है। जाठराग्नि, रसाग्नि तथा रक्ताग्नि मन्द होंगे तो परिणाम रूप में उनके मलभत इन दोषों की पुष्टि अनपेक्षित (आवश्यक से अधिक) प्रमाण में होगी।

इस प्रकार दोषों की पुष्टि होकर उनके संचय और प्रकोप का कारण अग्नियों की मन्दता ही है। अग्नियों की मन्दता के कारण दोषों का प्रकोप होने से रोगों की उत्पत्ति होती है। सो, परम्परया रोगमात्र का कारण अग्निमान्द्य (मन्दाग्नि) ही है, यह आयुर्वेद का सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है।

रोगों की उत्पत्ति में यद्यपि स्रोतों की दुष्टि भी कारणभूत होती है, तथापि स्रोतों की दुष्टि का कारण भी दोष ही होने से उन्हीं को रोग का कारण कहा जाता है, और जैसा कि ऊपर कहा--इन दोषों के वैषम्य का कारण अग्नियों की मन्दता है।

अग्नियों में जाठराग्नि का प्राधान्य[1] --

दोषों का साम्य और वैषम्य उक्त प्रकार से जाठराग्नि, धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि तीनों के साम्य और वैषम्य पर अवलम्बित है। परन्तु, शेष अग्नियों से जाठराग्नि का ही महत्त्व विशेष है, और काय-चिकित्सा में उसके ही समत्व को लक्ष्य में रखा जाता है। कारण, यद्यपि प्रत्येक धातु में उसके

←हो ही जाता है, तथापि उसके इतर ब्राह्मणों से विशिष्ट होने से उसका पृथक् ग्रहण किया गया। इसी प्रकार जहाँ भी विशिष्ट व्यक्ति-विशेष का उल्लेख वैशिष्टय-द्योतनार्थ समष्टि से पृथक् होता है वहाँ इस न्याय (दृष्टान्त) का व्यवहार किया जाता है। ऐसे स्थलों पर ही **गोबलीवर्द न्याय** भी प्रयुक्त होता है। संस्कृत में गो शब्द से गाय और बैल (साँड) दोनों का ग्रहण होता है। तथापि 'गावः समागताः ?' प्रश्न और उसके उत्तर के अनन्तर भी वैशिष्टय होने से 'बलीवर्दोऽपि समागतः' ऐसा प्रश्न किया जाता है। इसी प्रकार जहाँ समष्टि (वर्ग) से व्यष्टि (व्यक्ति) का पृथक् निर्देश हो वहाँ गोबलीवर्द न्याय व्यवहृत होता है।

१—देखिए—च० चि० १५।३९ तथा उसपर **चक्र** ; च० सू० २८।३ (**अन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा**) तथा उसपर चक्र; च० सू० २८।४ (दोषों की मलरूपता में प्रमाण—**किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्त-श्लेष्माणः**) तथा उस पर चक्र; अ० हृ० सू० ११।३४ (**स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः**) तथा इन पर **अरुण-हेमाद्रि** ; तथा सु० सू० २१।१० (**तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चानुग्रहं करोति**) तथा उस पर **चक्र और डह्लन**।

परिपचन के लिए उस-उस धातु का अग्नि तथा तदन्तर्गत भौतिकाग्नि पृथक् होते हैं, तथापि, उन अग्नियों का बलाबल जाठराग्नि के बलाबल के अनुसार ही होता है। जाठराग्नि प्रदीप्त हो तो धात्वग्नियाँ भी प्रदीप्त होती हैं, एवं जाठराग्नि क्षीण हो तो धात्वग्नियाँ भी क्षीण होती हैं। इस प्रकार धात्वग्नियों के वृद्धि-क्षय जाठराग्नि के वृद्धि-क्षय के अनुसारी होने से कहा जाता है कि धात्वग्नियों का मूल जाठराग्नि या पाचक पित्त ही है। अतः जाठराग्नि सर्व अग्नियों का अधिपति है।

वाग्भट तो और आगे जाकर कहता है कि, इस पक्वामाशय-मध्यस्थ कायाग्नि या जाठराग्नि के ही अंश या क्षुद्र रूपान्तर धातुओं के आशयों में धात्वग्नि नाम से रहते हैं। सुश्रुत ने इसी वस्तु को इस रूप में कहा है कि, पक्वामाशय-मध्यवर्ती पाचक पित्त अपने इस स्थान में रहता हुआ अग्निकर्म नाम पाक के द्वारा अपनी शक्ति से शेष पित्तस्थानों तथा शरीर को अनुगृहीत करता है।

पाचक पित्त के इस अग्निकर्म द्वारा अग्न्यन्तरानुग्रह (इतर अग्नियों को अनुगृहीत करना)-रूप कर्म से इस बात की व्याख्या हो सकती है कि, किस प्रकार जाठराग्नि शेष अग्नियों का मूल तथा उनके लिए बलप्रद है। ऊपर टिप्पणी में हमने आयुर्वेद का यह मत दर्शाया है कि, वात-पित्त-कफ अपने-अपने धातु के मल द्रव्य हैं। आहारगत किट्टांश (मल-पोषक अंश) से उनकी पुष्टि होती है। यह किट्टांश मलों को रसधातु द्वारा ही प्राप्त होता है। धातुओं, उप-धातु तथा मलों को अपना-अपना पोषक द्रव्य यथायोग्य प्रमाण में मिले इस निमित्त जाठराग्नि दीप्त होना आवश्यक है। इस प्रकार जाठराग्नि की दीप्ति से यथावत् पुष्ट होनेवाले द्रव्यों में धातुगत पित्त या धात्वग्नि भी एक द्रव्य है। सो, ऊपर कहे प्रकार से धातुगत पित्त या धात्वग्नियों का पोषण भी जाठराग्नि या पाचक पित्त के ही अधीन है। इसी बात को सुश्रुत ने इन शब्दों में कहा है कि--पक्वामाशय-मध्यवर्ती यह पाचक पित्त अपनी शक्ति से अग्निकर्म (पचन-क्रिया) द्वारा समग्र शरीर और शेष पित्तस्थानों का अनुग्रह करता है। संहिताओं के अन्य वचनों की भी व्याख्या इसी प्रकार करनी चाहिए।

इसी प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि, जाठराग्नि के दुर्बल होने से जो अन्नरस अपक्व रह जाता है उसे आम कहते हैं, यह आम की परिभाषा प्राचीनों ने कही है। परन्तु, अर्थापत्ति से वहाँ यह भी गृहीत समझना चाहिए कि, जाठराग्नि दुर्बल होने से तदाश्रित धात्वग्नियाँ भी दुर्बल होती हैं। परिणामतया, उनके पोषणार्थ उनके आशयों में जो रसधातु पहुँचता है, वह भी अपक्व रहकर आम-संज्ञा को प्राप्त करता है। अन्यथा, केवल आम-पक्वाशयगत आम से

सर्वाङ्ग में रोग होना प्रायः संभव ही न हों। यत्सत्यं, टीकाकारों ने स्पष्ट पदों में आम के इस रीति से दो भेद कहे भी हैं। इस विषय का विवरण आगे यथा-स्थान करेंगे ही।

रोग का प्रसिद्ध पर्याय : आमय--

आम के एक लक्षण में उसका विशेषण सर्वदोष-प्रकोपणः दिया है। इससे स्पष्ट है कि आम ही सर्वदोषों के प्रकोप द्वारा रोग-मात्र की उत्पत्ति में हेतु है। पाठान्तर में सर्वरोग-प्रकोपणः शब्द द्वारा इस वस्तु को अधिक स्पष्ट कह दिया है। आम के इन विशेषणों से यह सूचित है कि आयुर्वेद-मत से आम का कारणभूत अग्निमान्द्य ही दोषों का प्रकोपक तथा रोगों का जनक है।

'रोग' के पर्यायों में एक आमय है। शास्त्र और लोक में (वैद्यकेतर वाङ्मय में) यह संज्ञा सुप्रसिद्ध है। इस संज्ञा की व्युत्पत्ति देखने से भी विदित होगा कि आम ही--परम्परया अग्निमान्द्य ही--सर्वरोगों का मूल है। आमय शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते चक्रपाणि ने कहा है:

प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते ॥ च० नि० १।५ पर

रोग को आमय इस कारण कहते हैं कि प्रायः (अधिकांश) रोग आम से ही उत्पन्न होते हैं[1]।

रोगों की उत्पत्ति में आम किंवा अग्निमान्द्य की कारणता के प्रतिपादन का प्रयोजन यह है कि, स्वास्थ्य के संरक्षण में तथा उत्पन्न हुए रोग के निवर्तन में हमें अग्नि के स्वरूप को सदा दृष्टि में रखना चाहिए। अनुभवी चिकित्सकों के चिकित्सा-चातुर्य का साररूप यह पद्य सुप्रसिद्ध है--

अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा ॥

निद्रा का प्रादुर्भाव रोगों के बल को आधा कर देता है, जबकि क्षुधा का उदय रोग को संपूर्णतया निर्मूल कर देता है। निद्रा मन की निर्विकारता की सूचक है। इससे विशेषतया मनोदोषों (रज-तम) के सम हो जाने का निदान होता है। क्षुधा विशेषतया शारीर-दोषों का शमन होकर उनकी साम्यावस्था को द्योतित करती है।

१—रोग के पर्याय--

व्याधि, आमय, गद, आतंक यक्ष्मा, ज्वर, विकार, रोग, पाप्मा, आबाध, तम और दुःख—ये रोग के नामान्तर हैं। (देखिए—च० सू० ६।४; च० नि० १।५; अ० सं० नि० १)। राजयक्ष्मा शब्द में यक्ष्मा शब्द रोगों का वाचक है। रोगों का राजा होने से इसे राजयक्ष्मा कहते हैं। केवल यक्ष्मा शब्द भी राजयक्ष्मा के लिए व्यवहृत होता है।

लङ्घन और विरेचन हम देखते हैं सिद्ध (अनुभवी) चिकित्सकों का सर्वस्व होता है, विशेषतया जीर्ण रोगों में। विरेचन से दोषों की शुद्धि होती है। यद्यपि शोधनार्थ वमन, बस्ति और शिरोविरेचन भी शास्त्र में विहित हैं, तथापि इनका प्रचार इन दिनों उतना नहीं है। जो चिकित्सक इन शोधनोपायों का भी अवलम्बन करते हैं, उनकी क्रियासिद्धि सविशेष होती है। पञ्चकर्म के अङ्गभूत इन उपचारों का प्रचार रोगपीडित जनता के कल्याण और आयुर्वेद के पुनर्जीवन के लिए आवश्यक है।

लङ्घन शब्द अनशन या उपवास (क्षुधा तथा पिपासा के वेग का निग्रह) के अर्थ में प्रसिद्ध है। पर आयुर्वेद में प्रकरण-भेद से इसका व्यापक अर्थ होता है। जिस किसी भी हेतु से शरीर में लाघव (हलकापन, स्फूर्ति) का उदय हो उसे लङ्घन कहते हैं। उपवास लङ्घन का एक भेद है। व्यायाम[१], शोधनादि भी लङ्घन के ही अन्य भेद हैं।

लङ्घन के प्रसंग में विपरीत गुणवाले आहार, औषध, विहार, देश और काल, विशेषतया विपरीत-गुण आहार-द्रव्यों का भी स्मरण करना चाहिए। विपरीत-गुण द्रव्यों का सेवन वृद्ध दोषों की शान्ति के लिए उपयुक्त होता है। दोषविशेष की वृद्धि होने पर विपरीतगुणेच्छा (अ० हृ० सू० १२।२२) तथा चयकारणविद्वेष (दोष के संचय और वृद्धि के कारणभूत गुणवाले द्रव्यों के प्रति अप्रीति--(सु० सू० २१।१८) प्रायः होती है। इससे वृद्ध या क्षीण दोष का ज्ञान भी होता है तथा तदनुरूप चिकित्सा का मार्ग भी परिष्कृत (स्वच्छ) होता है[२]। दोष के वर्धक या क्षयकारी आहार द्रव्यों का त्याग, कम से कम उन गुणों वाले द्रव्यों का विचार करें तो, एक प्रकार का लङ्घन ही कहा जा सकता है। यहाँ 'प्रायः' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि, कभी-कभी दोष-विशेष की वृद्धि होने पर भी वृद्धि के हेतु गुणों की रुचि होती देखी जाती है[३]।

१—ज्वर में लङ्घन प्रथम कर्तव्य है—**ज्वरे लङ्घनमेवादौ**। कई वयोवृद्ध सत्त्वसार स्त्री-पुरुष ज्वर का पूर्वरूप या रूप प्रकट होने पर चक्की चलाना आदि व्यायाम द्वारा स्वेदन कर ज्वर को दूर करते देखे जाते हैं। इस परिस्थिति में व्यायाम ही लङ्घन का कार्य कर ज्वर को शान्त करता है।

२—रुचि से ही स्वस्थ तथा अस्वस्थ दोनों दशाओं में शरीर के लिए हिता-हित वस्तुओं का निर्णय होता है—प्राच्य-पाश्चात्य उभय मत से मान्य इस सचाई के विवरण के लिए देखिए—**आयुर्वेदीय क्रियाशारीर**।

३—रुचि के इस व्यभिचार (अपवाद) के लिए देखिए—अ० हृ० सू० ११।४३ पर **अरुणदत्त** तथा **हेमाद्रि** टीका।

जैसे मनोगत तथा इन्द्रियगत रुचि या प्रीति एवं अरुचि या अप्रीति वृद्धि किंवा क्षय को प्राप्त हुए दोष के निर्णय में सहायक होती है, उसी प्रकार आयुर्वेद-मत से मन, इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता आत्मा की प्रसन्नता या सुख से आरोग्य का निर्णय होता है तथा इन्हीं के दुःख से रोग का निदान किया जाता है। अथवा मन आदि की प्रसन्नता का ही अन्य नाम आरोग्य तथा इनकी ही अप्रसन्नता का अन्य नाम रोग है। आरोग्य और रोग के शेष लक्षण जीवित शरीर में क्रमशः प्रसन्नता और अप्रसन्नता की ही उत्पत्ति करनेवाले होने से आरोग्य और रोग के अप्रधान लक्षण कहे जाते हैं। तथाहि--

व्याधि अथवा रोग का लक्षण--

आयुर्वेद में व्याधि अथवा रोग का अर्थ बहुत ही व्यापक है। इस शब्द से केवल संपूर्ण शरीर अथवा उसके एकदेश (एक या अधिक अवयवों) को हुई व्यथा का ही बोध नहीं होता ; प्रत्युत जीवित शरीर या पुरुष के घटकभूत प्रत्येक अवयव को पृथक् किंवा समग्र शरीर को जिस भी कारण से दुःख या व्यथा हो उसे व्याधि या रोग कहा जाता है।

यह जीवित शरीर या पुरुष पञ्चमहाभूतों तथा आत्मा के समवाय (नाम, आमरण रहनेवाले संयोग) से बना है[1]। यहाँ पञ्चमहाभूत का अर्थ शरीर में उनके कार्य द्रव्य रूप अर्थात् उनसे बनी मन-समेत पाँच-पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, उनके अधिष्ठान या आश्रयभूत शिर-हाथ-पैर आदि शरीरावयव तथा तदतिरिक्त यकृत्-प्लीहा-अन्त्र प्रभृति अङ्ग-प्रत्यङ्ग है। इन घटकों अर्थात् जीवच्छरीर के अवयवों में किसी को भी जिस कारण व्यथा, दुःख या रुजा हो उसे व्याधि या रोग कहते हैं।--

अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ××× । तद्दुःखसंयोगा व्याधयः ॥ सु० सू० १।२२-२३

लक्षण की इस व्यापकता के कारण ही आयुर्वेद में क्षुधा-पिपासा आदि शारीर दुःखों की, काम-क्रोध आदि मानस दुःखों की यहाँ तक कि, दारिद्रय और आत्मा के जन्म-मरण के चक्र की भी व्याधियों में गणना की गयी है। अतएव द्रव्योपार्जन तथा मोक्ष के उपायों का भी उल्लेख आयुर्वेद में किया गया है।

पुरुष शब्द का मुख्यार्थ चेतनाधातु या आत्मा है। आयुर्वेद में वह अर्थ भी लिया ही है तथापि, आयुर्वेद में पुरुष शब्द का विशेष अभिप्रेत अर्थ वह है,

---

१--प्रकरणान्तरों में आए पुरुष, आयु आदि के लक्षणों को लक्ष्य में रखकर इस प्रकरण में आए 'पुरुष' के लक्षण में प्रयुक्त 'पञ्चमहाभूत' का विस्तृत अर्थ मन, इन्द्रिय आदि ग्रहण किया है।

जो ऊपर दिया है। आयुर्वेद में पुरुष शब्द का यह अर्थ स्वीकार करने का कारण है और वह यह कि, आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय--रोग तथा उनकी चिकित्सा दोनों का अधिष्ठान यही पुरुष है।

तस्मिन् क्रिया ; सोऽधिष्ठानम् ॥ सु० सू० १।२२

स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः ॥ सु० शा० १।१६

उल्लिखित समवाय का एक अङ्ग आत्मा यद्यपि निर्विकार (नीरोग) माना गया है, तथापि रोग के अधिष्ठानभूत पुरुष के अन्तर्गत उसकी गणना इसलिए की गयी है कि--कई रोग कर्मज नाम पूर्वकृत कर्मों के परिणाम (परिपाक) होते हैं; कई वार रोगों की साध्यासाध्यता भी प्राक्तन-कर्माधीन होती है। ये कर्म अदृष्ट (या दैव) इस नाम से आत्मा के द्वारा ही वर्तमान शरीर में संक्रान्त होते हैं। इन्ही सब कारणों से रोग और उनकी चिकित्सा के विचार में आत्मा को भी उनके अधिष्ठानभूत शरीर के लक्षण में स्थान दिया गया है। कर्मज रोगों को लक्ष्य में रख कर ही लोक में भी दारुण किंवा चिरकालानुबन्धी रोगों से पीडित पुरुष या उसके स्वजन-परिजन विविध शब्दों में प्राक्तन कर्म को रोग का कारण बताते सुने जाते हैं।

आत्मा के विषय में किए, इस विशदीकरण से विदित होगा कि यत्सत्यं, आत्मा निर्विकार है, उसको रोग नहीं होता। सो, जीवच्छरीर में रोग के आश्रय दो ही रह जाते हैं--(स्थूल इन्द्रियों समेत) शरीर तथा (सूक्ष्म इन्द्रियों समेत) मन।

दोषों के दो प्रभेद : शारीर और मानस

जैसे रोग के आश्रय किंवा अधिष्ठान दो हैं--शरीर और मन, वैसे इनमें रोग उत्पन्न करनेवाले दोषों के भी दो प्रकार हैं--शारीर दोष और मानस दोष।

शारीर दोष तीन हैं--वात (वायु), पित्त और कफ (श्लेष्मा)। मानस दोष दो हैं--रज और तम। तन्त्रकारों ने कहीं-कहीं रक्त के हेतु, लक्षण और चिकित्सा ऐसे शब्दों में बताए हैं, जानो वह (रक्त) भी उन्हें दोषत्वेन अभिप्रेत हो। कहीं-कहीं उसे दोष कहा भी है। परन्तु उन प्रकरणों में भी रक्त की दुष्टि का कारण तो वातादि ही को कहा है। रक्तज (रक्त-प्रकोपज) रोगों को दोषप्रकोपज होते हुए भी रक्तज कहने में शैली यह है कि, जैसे घृत या तैल से पुरुष दग्ध हुआ हो तो उसमें मूल कारण तो घृत-तैल-गत अग्नि ही होता है, तथापि उपचार से (गौण वृत्ति से) घृत या तैल से दग्ध कहने का प्रचार है वैसे दोष-दूषित रक्त से हुए रोगों को रक्तज कहने की परिपाटी है। रक्त

को जो यत्र-कुत्रचित् दोष कहा है वह भी गौण अर्थ में। यों तो आम तथा पुरीष को भी कहीं दोष कहा है। पर इससे वे दोषपदवाच्य नहीं हो जाते। यही बात रक्त के विषय में भी समझनी चाहिए। इस स्पष्टता का आशय यह है कि, चिकित्सा में रक्तज रोगों में वातादि दोषों को दृष्टिगत रखना चाहिए। जैसे आज के सुप्रथित रोग 'उच्च रक्तदाब' (हाई ब्लड प्रेशर, हाईपरटेन्शन) का प्राचीनों ने रक्तज रोगों में भ्रम, रक्तनेत्रता, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि लक्षणों के रूप में उल्लेख किया है। आयुर्वेद-मत से इस रोग में विशेषतया वात या पित्त में कौन दोष प्रधान है इस बात का निदान कर तदनुरूप शुद्ध चिकित्सा करनी चाहिए। तात्पर्य—दोष नाम उसी का है जिसमें स्वयं दुष्टि या रोगोत्पत्ति करने का स्वभाव हो, साथ ही जो प्रकृति का उत्पादक हो। वात-पित्त-कफ में यह वैशिष्ट्य होता है, अतः वे दोष-संज्ञक होते हैं। रक्त में यह स्वभाव न होने से वह दूष्य ही है, दोष नहीं। जहाँ उसे दुष्टिजनक कहा है, वहाँ भी तत्कृत दुष्टि (रोग) दोष-पराधीन ही होती है, स्वयं रक्तकृत नहीं; साथ ही रक्त में प्रकृत्यारम्भकत्व भी नहीं होता। अतः उसे मुख्यार्थ में दोष नहीं कहा जाता[1]।

दोषों में वात तथा रज का प्राधान्य

शारीर दोषों में वात के प्राधान्य के हेतु—

यहाँ तथा अन्यत्र शारीर दोषों में वायु का स्मरण पहले किया गया है। कारण, अनेक दृष्टियों से रोगोत्पत्ति में अन्य दोषों की अपेक्षया वायु प्रधान है[2]। हृदयकार कहते हैं—

विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात्।
स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः॥

अ० हृ० शा० ३।८४

सर्व शारीर दोषों में वायु प्रधान है। कारण, यह १—विभु-व्यापक-है—

१—यह विषय विस्तार से जानने के लिए देखिए: च० सू० १।५७ की **आयुर्वेददीपिका** टीका (चक्रपाणि); अ० हृ० सू० १।६ की **सर्वाङ्ग-सुन्दरा** टीका (अरुणदत्त); सु० सू० २१।३–४ तथा इस पर **निबन्ध-संग्रह** (डल्हन) और **भानुमती** (चक्रपाणि) टीकाएँ; तथा सु० सू० १७।७–८। इस प्रसंग में विदग्ध वैद्यों में प्रसिद्ध दोष की दो व्याख्याएँ स्मरणीय हैं—**स्वातन्त्र्येण दुष्टि-कर्तृत्वं दोषत्वम्**; तथा—**प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।**

२—च० सू० १।५७ (ऊपर धृत) पर चक्रपाणि टीका भी देखिए।

सूक्ष्म भी स्रोतों (तथा शरीरपरमाणुओं--कोषों) में प्रवेश के अपने सामर्थ्य[१] के कारण कुपित होने पर वायु शेष दोषों की अपेक्षया अधिक प्रमाण में और अधिक शीघ्रता से शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागों में पहुँच सकता है तथा उनमें रोगोत्पत्ति कर सकता है। २--वायु आशुकारी है--शरीर में प्रसर, प्रवेश तथा रोगोत्पत्ति की इसकी क्रिया इतरदोषापेक्षया शीघ्र--अल्पकाल में--होती है। ३--कफ तथा पित्त के साथ तुलना में यह बलवान् (दारुण) है। ४--वायु शेष दोषों को भी कुपित करनेवाला है। स्वयं कुपित हो तो आगे कहे जानेवाले प्रकार से इतर दोषों को भी कुपित कर उनके द्वारा भी रोगोत्पत्ति कराता है--स्वयं तो रोग उत्पन्न करता ही है। ५--वायु स्वतन्त्र है। तात्पर्य--यह शेष दोषों को प्रेरित करता है--वे कुपित हों या समावस्था में हों--उन्हें स्थलान्तर में भेजकर वहाँ उनकी वृद्धि कर उनका प्रकोप तथा रोगोत्पत्ति करता है; परन्तु स्वयं किसी से प्रेरित (अभिवाहित) नहीं होता। ६--अन्त में इसके उत्पन्न किए रोगों की संख्या सब से अधिक है। प्रत्येक-दोषोत्पन्न नानात्मज रोगों की संख्या अधिक होने पर भी अल्पबुद्धि विद्यार्थियों के हित के लिए (मार्गदर्शनार्थ) उनकी जो संख्या तन्त्रकारों ने दर्शायी है उनमें कफज रोगों की संख्या २०, पित्तज रोगों की संख्या ४० तथा वातज रोगों की सख्या ८० कही है[२]। तथापि यह संख्या भी दृष्टान्त-रूप ही है। यों वातज रोग असंख्य हैं। तथाहि--

संख्यामप्यतिवृत्तानां तज्ज्ञानां हि प्रधानतः।
अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः॥

च० चि० २८।१३

वायु प्राकृत हो या विकृत (विषम--वृद्ध, या क्षीण), एवं शेष दोषादि सम हों या विषम--सभी दशाओं में वायु ही अन्य दोषों, धातुओं तथा मलों को अभिवाहित कर उनको अपने कर्मक्षेत्र एवं रोगक्षेत्र पर पहुँचाता है। इस विषय में शार्ङ्गधर का अधोनिर्दिष्ट पद्य सुन्दर और सुविदित है।--

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥

शा० पू० ५।२५

१--पेनिट्रेबिलिटी--Penetrability.

२--नानात्मज रोगों की यह संख्या केवल निदर्शन-रूप है, यों रोग असंख्य है। इसके प्रमाण रूप में च० सू० २० में सूत्र ११, १४ तथा १६ देखिए।

अर्थात्--पित्त पंगु है--स्वयं चलनासमर्थ है, कफ भी पंगु है; पुरीषादि मल तथा रसादि धातु भी पंगु हैं। वायु ही उन्हें जहाँ चाहता है ले जाता है और उस स्थल पर उनसे क्रिया कराता है। वैसे ही जैसे बाह्य वायु स्वयं अगतिशील मेघों को यत्र-तत्र ले जाता है और उससे अभिवाहित मेघ तत्तत् स्थान पर वृष्टि करते हैं।

इतर दोषों का अभिवाहक वायु--

शार्ङ्गधर ने प्राकृतावस्था में दोषादि के वायु द्वारा अभिवहन की बात कही है। प्रकुपित दशा में भी उनके प्रसर में (वृद्धि के स्थान से रोगोत्पत्ति के स्थान पर गमन में) वायु ही कारण है। दोषों की प्रसरावस्था के प्रसंग में सुश्रुत कहता है।--

तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये स हि रजोभूयिष्ठः। रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्॥ सु० सू० २१।२८

प्रकुपित हुए दोषों में देशान्तर-गमन रूप चेष्टा का कारणभूत चैतन्य नहीं होता। वायु ही गतिशील होने से उनके प्रसरण का हेतु है। वायु में गतिशीलता का कारण यह है कि वह रजोगुण-प्रधान है और रजोगुण सर्व पदार्थों का प्रवर्तक है--गमनादि-चेष्टाकारक है[1]।

वातरोगाधिकार में अत्रिपुत्र ने भी कहा है--

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत्[2]॥

च० चि० २८।५९-६०

१—च० सू० २८।३१-३३ में तन्त्रकार ने दोषों की कोष्ठ से (कोष्ठ में संचय के पक्वाशयादि अपने-अपने स्थल से) शाखाओं में नाम रस-रक्तादि धातुओं में गमन के कारण बताए हैं। उनमें एक वायु की आशुकारिता है। इसी प्रकरण में आगे शाखाओं को छोड़ दोषों के पुनः कोष्ठ में आने के कारण लिखे हैं। इन कारणों में एक वायु का समीकरण (शमन) है। इस प्रकरण में आए वायु के निर्देश को यहाँ भी स्मरण किया जा सकता है। यह विषय इसी ग्रन्थ में आगे यथास्थान आएगा।

२—इस वचन की टीका भी देखिए।

वात, पित्त और कफ शरीर के सर्व स्रोतों में प्रवेश और संचार करते हैं। सूक्ष्म होने से वायु ही उन दोनों का भी प्रेरक है--वे किसी भी दशा में हों उन्हें देशान्तर में ले जानेवाला है। प्रकुपित हुआ वायु कफ और पित्त को सवेग स्थानभ्रष्ट और संचलित कर तत्तत् स्थान पर ला छोड़ता है। इस स्थान पर स्वभावतः पहले से स्थित दोष समावस्था में हों तो भी देशान्तर से आए दोष का संयोग होने से उस स्थान पर उनके प्रमाण में वृद्धि और प्रकोप होकर तत्तत् रोग की उत्पत्ति होती है। कदाचित् कफ और पित्त कुपित हो वायु के मार्ग को आवृत करते हों, जिससे वायु का संचय और प्रकोप हुआ हो ऐसी स्थिति में भी कुपित वायु अपने आवरक दोषों को उनके द्वारा हुए प्रकोप के कारण ही स्थानान्तर पर चलित कर उनसे रोगोत्पत्ति कराता है। दोषों के सदृश रसादि धातुओं को भी यत्र-तत्र (विना किसी नियम के) विक्षिप्त करता है तथा अपने प्रधान गुण रूक्षता के प्रभाव से उन्हें शुष्क (क्षीण) करता है।

अन्य दोषों तथा मलों के साम्य का हेतु वायु--

तात्पर्य, वायु कुपित हो तो सम या विषम शेष दोषों, धातुओं और मलों को उनके उचित स्थान पर न रहने देकर, एवं वे मलरूप हों तो उनके बहिर्मुख स्रोतों (निर्गमन-द्वारों) से उन्हें बाहर न निकाल कर शरीर में ही विक्षिप्त करता है और उनके प्रमाण में वृद्धि करता है। वायु समावस्था में हो तो उसके अनेक प्राकृत कर्मों में एक यह है कि--आहार का जठराग्नि द्वारा एवं रस धातु का अपने-अपने धात्वग्नि द्वारा पचन होने के परिणाम-स्वरूप जो मल उत्पन्न होते हैं, उन्हें वह (वायु) तत्तत् द्वार से बाहर निकालता रहता है। वायु अन्नपान का मल है, कफ रसधातु का तथा पित्त रक्त का। दोष इस अपर नामवाले वात-पित्त-कफ तथा पुरीषादि अन्य मल जैसे-जैसे बनते जाते हैं, वैसे-वैसे वायु की क्रिया से बाहर निकलते रहने से ही शरीर में उनका प्रमाण सम बना रहता है। इस प्रकार शेष दोषों के प्रमाण के साम्य में भी वायु ही हेतुभूत है। चरक ने अधोनिर्दिष्ट पद्य में रसादि प्रसादभूत धातुओं के पोष्य धातु के प्रति गमन को एवं पुरीषादि मलों की बहिर्मार्ग से प्रवृत्ति को वायु का ही प्राकृत कर्म कहा है--

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम्[1]॥

च० सू० १८।४६

१--चेष्टेत्यविकृता चेष्टा। धातुगतिरिति रसादीनां पोष्यं धातु प्रति गमनम्। गतिमतामिति पुरीषादीनां बहिर्निःसरताम्॥ --चक्रपाणि

उत्साह (सुखद वस्तु की प्राप्ति और दुःखद वस्तु के परिहार के लिए प्रयत्न), उच्छ्वास, निःश्वास, गमनादि प्राकृत चेष्टाएँ, रसादि धातुओं की अपने पोष्य धातुओं के प्रति गति, तथा पुरीषादि बहिर्गमनशील पदार्थों का सम मोक्ष (इतने प्रमाण में विसर्ग या प्रवृत्ति होना कि शरीर में उनका क्षय भी न हो जाए और वृद्धि भी न हो)--ये प्राकृत वायु के संक्षेप में कर्म हैं।

यहाँ समो मोक्षो गतिमताम् वचन द्वारा वायु का जो कर्म बताया है उसी को वातकलाकलीय अध्याय में इन शब्दों में कहा है--(वायुः) क्षेप्ता बहिर्मलानाम्--च० सू० १२।८।

बस्ति की प्रशंसा के प्रकरण में प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल ने प्रसंगवश वायु के मल-क्षेपणाख्य प्राकृत कर्म का स्वरूप सुन्दर इन्द्रवज्राओं में बताया है। तथाहि--

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किंचित्॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके॥

च० सि० १।३८-४०[1]

रोग चाहे शाखाओं (रक्तादि धातुओं तथा त्वचा) में स्थित हों, कोष्ठ (मध्यकाय, धड़) में स्थित हों, किंवा मर्म और सन्धियों में स्थित हों (तात्पर्य-किसी भी रोग-मार्ग में स्थित हों); अथवा--ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् भेद से किसी रोगमार्ग में स्थित हों; अथवा सर्वाङ्ग या किसी एक देश में स्थित हों--उनकी उत्पत्ति में वायु के अतिरिक्त कोई हेतु नहीं है। कारण?--

पुरीष, मूत्र, पित्त, कफ आदि मलों के उनके आशयों (स्थानों) से निर्हरण में और इस प्रकार उनके द्वारा रोगोत्पत्ति न होने देने में, किंवा इसके विपरीत उनके अपने आशयों में ही रहने में और इस प्रकार उनके द्वारा रोगोत्पत्ति होने में वायु ही कारण है। तात्पर्य--वायु ही प्राकृतावस्था में हो तो अपने अन्य प्राकृत कर्मों के सदृश मलों का (जिनमें दोष भी संम्मिलित हैं) निर्हरण करता है; वही विषम हो जाए तो तत्तत् प्रकार से मलों और दोषों को आशयों से प्रच्यावित न कर वहीं रहने देता है तथा इस प्रकार उनका संचय, वृद्धि और प्रकोप कर रोगोत्पत्ति कराता है। और--

---

१--आगे दिए अर्थ-विस्तर के लिए देखिए चक्रपाणि-टीका।

यह वायु अति प्रकुपित हो गया हो--प्रकुपित हो स्वयं तथा इतर दोषों, धातुओं और मलों को दूषित कर उनके द्वारा रोगोत्पत्ति कर-करा रहा हो तो उसके शमन के लिए--उसे पुनः समावस्था में लाने के लिए--बस्ति को छोड़ कर और कोई उपचार नहीं है। इसी से अन्यत्र भी कहा है--

बस्तिर्वातहराणाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

वातहर उपचारों में बस्ति सर्वोपरि है। बस्ति इस प्रकार वायु की और परम्परया इतर दोषों की भी श्रेष्ठ चिकित्सा होने से ही कई आचार्य कहते हैं कि--आधी चिकित्सा तो बस्ति ही है। कई आचार्य तो इससे भी बढ़कर कहते हैं--नहीं, बस्ति ही संपूर्ण (एकमात्र) चिकित्सा है।

सुश्रुत ने भी वायु का इतर दोष-प्रकोपक स्वभाव तथा उसके साम्य के लिए बस्ति की सर्वोत्कृष्टता का निरूपण ऐसे ही प्रबल पदों में अधोलिखित प्रकार से किया है। तथाहि--

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः॥
वायोर्विघहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिं च बस्तिः सम्यगुपासितः॥

सु० चि० ३५।२९-३१

तीनों दोषों के प्रकोप में वायु ही कारण है। वह सुतरां प्रकुपित हो शरीर को नष्ट-भ्रष्ट करने की स्थिति में पहुँच गया हो तो (भी), जैसे वायु के वेग से आहत समुद्र की कल्लोलों का वेग वेला (समुद्र-तीर) पर आकर रुक जाता है वैसे बस्ति के समक्ष शारीर-वायु भी सर्वथा परास्त हो जाता है--बस्ति के विना अन्य कोई क्रिया उसके वेग को शान्त करने में समर्थ नहीं होती। किं बहुना--

बस्ति का यथाविधि उपयोग किया जाए तो शरीर का उपचय (पुष्टि) वर्ण, बल, आरोग्य और आयु की वृद्धि होती है[1]।

१--'सोप-वॉटर एनीमा' आयुर्वेद-मत से--

आयुर्वेद-वर्णित बस्ति की महिमा निसर्गोपचार से और अंशतः एलोपैथी से इन दिनों विशद हुई है। दोनों ही मतों में पक्वाशय में उत्पन्न विष-द्रव्यों को→

निदान स्थान के आरम्भ के भी वायु की महिमा बताते सुश्रुत ने कहा है--

अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥ सु० नि० १।८

वायु की शक्ति कल्पनातीत है। वह दोषों का नायक तथा रोगसमूह का राजा है।

रोगोत्पत्ति में वायु की सर्वाधिक कारणता के दो हेतु अबतक हमने बताए हैं। एक तो तत्तत् कारणवश वायु से होनेवाले स्वतन्त्र (नानात्मज) रोगों की संख्या ही इतरदोषापेक्षया बहुत बड़ी है; दूसरे यह शेष दोषों तथा मलों के भी संचय, वृद्धि और प्रकोप में तथा तद्द्वारा रोगोत्पत्ति में कारण है। परन्तु

←प्रसृत हो अधिकांश रोगों का कारण माना गया है। बस्ति इन द्रव्यों के मूल को ही बाहर निकाल देती है। आयुर्वेद-मत से बस्ति की महिमा का रहस्य यह है कि, पक्वाशय वायु का प्रभव-स्थान है, और बस्ति इस स्थान पर ही प्रहार कर वायु को परास्त कर देती है। परन्तु यह बस्ति वातहर द्रव्य-साधित होनी चाहिए। आयुर्वेद के पुनर्जीवन के इस युग में बस्ति के शास्त्रोक्त विस्तार को व्यवहार में लाना और उसकी उपयोगिता का दर्शन और प्रदर्शन करना उचित प्रतीत होता है।

यहाँ एक ही महत्त्व की वस्तु के प्रति इङ्गित कर दूँ। प्राय: वैद्य आधुनिकों का अनुसरण कर साबुन के जल की बस्ति देते हैं। कोई तो अपना आयुर्वेदानुराग प्रदर्शित करने के लिए इसे 'निरूह बस्ति' नाम भी देते हैं। परन्तु साबुन अत्यन्त रूक्ष द्रव्य है। कई त्वग्रोग-विशेषज्ञ त्वग्रोगों में इस रूक्षता के कारण ही अच्छे भी साबुन के उपयोग का निषेध करते हैं। जब त्वचा पर साबुन की रूक्षता का यह अनिष्ट परिणाम होता है तो पक्वाशय की मृदु कला पर इसके अहित प्रभाव की कल्पना अनायास की जा सकती है। साबुन के पानी की बस्ति का अहितत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि जिस साबुन का उपयोग बस्ति के लिए होता है वह रूक्षतर—कपड़े धोने का साबुन—होता है।

रूक्ष गुण होने से साबुन का व्यवहार दूषणीय इस हेतु है कि, वायु का प्रधान गुण रूक्षता होता है और उसका प्रधान उत्पत्ति-स्थान पक्वाशय है। साबुन सदृश रूक्ष द्रव्य का उपयोग इस स्थान पर किया जायगा तो परिणाम में वायु की उत्पत्ति सविशेष होगी। अत:, आयुर्वेद-मत से सोप-वॉटर एनीमा गर्हित है। अन्य योजना सुलभ न हो तो दशमूल क्वाथ, एरण्ड तैल तथा श्रीवास-तैल (टरपेंटाइन) जैसे वात के अनुलोमन तथा प्रशमन द्रव्यों का उपयोग सरलता से किया जा सकता है। शास्त्रोक्त निरूह बस्ति का भी अतियोग या अनुवासन बस्ति के विना उपयोग वातवर्धक माना गया है, यह यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

वायु द्वारा उत्पन्न होनेवाले विकारों की संख्या बड़ी होने में अन्य भी कुछ कारण हैं। विषय की पूर्ति के लिए उनका भी निर्देश करना आवश्यक है।

अग्नि के साम्य का भी हेतु वायु--

अध्याय के आरम्भ में हमने कहा था कि, रोगमात्र का मूल अग्नि की मन्दता ही है। यहाँ रोगमात्र का मूल वायु को कहा है। उसका कारण यह है कि वायु ही समावस्था में हो तो अग्नि को प्रदीप्त रखता है। वातकलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) में वायु के कर्मों के अन्तर्गत कहा है कि--(वायुः) समीरणोऽग्नेः--वायु अग्नि को प्रदीप्त रखनेवाला है। सो, प्रकारान्तर से अग्नि-दोष से होनेवाले विकारों का मूल भी वायु ही है[1]।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए सुश्रुत ने भी वायु के प्राकृत कर्म एक ही पद्य में बताते कहा है--

दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥

सु० नि० १।१०

वायु अविषमावस्था में रहकर दोषों, धातुओं तथा अग्नि को सम रखता है; मन-सहित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषयों का सम्यग्ग्रहण कराता है तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा समस्त चेष्टाएँ यथावत् कराता है।

मानस रोगों का मूल वायु--

वायु द्वारा अधिकांश रोगों की उत्पत्ति का अन्य हेतु यह है कि--मन भी वायु के ही अंकुश में रहता है। वातकलाकलीय अध्याय में ही मन तथा उभयविध इन्द्रियों पर वायु के प्रभाव को लक्ष्य में रखकर कहा गया है--

(वायुः) प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, × × प्रवतको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः ॥

च० सू० १२।८

१—स्पष्टता के लिए कह दूँ कि—अग्नि की मन्दता का कारण वातवश हुई कफ की वृद्धि है। कफ की वृद्धि से शरीर में आम की उत्पत्ति होती है। परिणामतया, कफ-प्रकोपक तथा आम के लक्षण सहचारी और परस्पर सदृश ही होते हैं। उपचार भी दोनों का समान ही होता है।

वायु विविध चेष्टाओं का प्रवर्तक (करानेवाला) है। मन अनभीष्ट विषयों में प्रवृत्त हो रहा हो तो वायु ही उसका नियमन करता है। वही अभीष्ट विषयों में प्रवृत्त हो तो वायु उसका प्रवर्त्तन (प्रेरण) करता है। वायु ही सर्व इन्द्रियों को अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त करता है। वही इन्द्रियों के सर्व विषयों का अभिवहन करता है। वाणी की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) का कारण वायु ही है। स्पर्श और शब्द का तथा उनकी इन्द्रियों का मूल यह वायु ही है। वायु ही हर्ष और उत्साह (मन की कार्यों में प्रवृत्ति--प्रयत्न) का हेतु है।

मन के कर्मों में यहाँ वायु को मूल कहा है, तथा उनपर वायु का प्रभुत्व बताया है। सो, वायु विषम हो तो मन के कर्मों पर भी प्रभाव होने से उसके रोग होना संभव है--संभव क्यों, प्रत्यक्ष है। तात्पर्य--आयुर्वेद में रोगों के प्राथमिक दो विभाग शारीर और मानस भले किए हों तथा दोनों के दोष भी भले ही पृथक् बताए हों, तथापि मानस दोषों के वैषम्य में वायु कारणतया रहता ही है। अतएव, कुशल चिकित्सक अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), अपस्मार आदि मानस रोगों में भी मलवातानुलोमन तथा आर्तव-प्रवर्तन (संशोधन) एवं समीरपन्नग, चन्द्रोदय आदि वातशमन उपचारों का सफल प्रयोग करते देखे जाते हैं।

वायु के मन पर इस प्रभुत्व को दृष्टि में रखकर ही योगियों का मत है कि--

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥

हठयोगप्रदीपिका

मन इन्द्रियों का स्वामी है और मन का भी स्वामी वायु है। अतएव काश्यप ने भी कहा है--

मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम्।

का० सं० सू० २७।५

मानस रोगों की भी चिकित्सा शारीर रोगों के सदृश ही करे।

आवरण से वात का प्रकोप--

वातज रोगों की संख्या अधिक होने में एक अन्य कारण यह है कि, अपने प्रकोपक कारणों से तो अन्य दोषों के समान इसका प्रकोप होता ही है, साथ ही आवरण से भी वातका प्रकोप होता है। आवरण से अन्य दोषों का इस प्रकार प्रकोप नहीं होता। जैसे किसी नदी आदि जल-प्रवाह के मार्ग में अन्तराय आ जाने पर प्रवाह द्विगुण वेग से उछलता है वैसे वायु की (क्रिया के) मार्ग में आवरण आजाए तो वह प्रकुपित (उद्दीपित) होता है।

प्रमाण से अधिक सेवित अन्न, पित्तादि दोष तथा पुरीषादि मल वायु के मार्ग एवं संचरण में प्रतिबन्ध (आवरण) उपस्थित करते हैं, जिससे उसका

संचय और वृद्धि होकर प्रकोप होता है। वायु के प्रकोप के कारण संक्षेप में बताते तन्त्रकार ने कहा है--

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा ॥ च० चि० २८।५९

वायु का कोप संक्षेप में दो कारणों से होता है--रूक्ष अन्नपान आदि के सेवन से धातुओं का क्षय होने से, किंवा वायु के मार्ग में प्रतिबन्ध (आवरण) होने से। इस प्रकार इतर दोषों की अपेक्षया प्रकोप के कारणों का बाहुल्य होने से वात का प्रकोप तथा तज्जन्य रोग अधिकतया होते हैं।

वायु की योगवाहता--

वातज रोगों के संख्याधिक्य का एक अन्य कारण इसकी योगवाहता है। योगवाहता का अर्थ है कि यह पित्त या कफ जिसके भी संसर्ग (योग) में आता है, उसके गुण-कर्मों को ग्रहण (वहन) कर लेता है। तथाहि--

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

च० चि० ३।३८

वायु अत्यधिक योगवाह है--(सं) योग होने पर संयुक्त दोष के गुण-कर्मों को ग्रहण (वहन) करने का इसमें प्रबल स्वभाव है। इस संयोगवश वह दोनों दोषों के कार्य करता है। जैसे बहिश्चर वायु दिवस में सूर्य के संपर्क में आता है तो सृष्टि में संताप का प्रसार तथा तदुत्थ कर्म करता है, एवं रात्रि को चन्द्र के संसर्ग में आने पर उसके आह्लादक शीत गुण का ग्रहण तथा तज्जन्य कर्म करता है, वैसे अन्तश्चर वायु पित्त के साथ अनुबद्ध (संबद्ध) हो दाहादि पित्तकृत कर्म करता है तथा वही कफ का अनुबन्ध होने पर शीत आदि कफकृत कार्य करता है। वायु के इसी योगवाह गुण को लक्ष्य में रखकर सुश्रुत ने सृष्टि के समस्त पदार्थों को दो ही वर्गों में विभक्त किया है--आग्नेय और सौम्य[1]।

वायु द्वारा धातुओं का शोषण--

अन्न में वायु द्वारा उत्पन्न रोगों की अधिकता में एक हेतु यह है कि, वायु अपने रूक्ष गुण के कारण धातुओं को क्षीण (शुष्क) करता है। इस प्रकार धातुओं के क्षीण और बलहीन (व्यायाम तथा रोगों का प्रतिकार करने में अल्प सामर्थ्यवाले) होने से भी परम्परया तत्तत् रोग उत्पन्न होते हैं।

१--देखिए सु० सू० १।२२।

वायु से इतर दोषों के प्रकोप का स्वरूप--

वायु का अन्य दोषों से प्राधान्य और तज्जन्य रोगों का संख्याधिक्य दर्शाते हुए हमने इस प्रकरण के आरम्भ में कहा है कि--वायु के प्राकृत कर्मों में एक मलों का बहिःक्षेपण है। मल तथा दोष जैसे-जैसे बनते जाते हैं, वैसे-वैसे वायु बहिर्द्वार की ओर उनका अभिवहन करता जाता है और अन्त में उन्हें तत्तत् द्वार से बाहर निकाल देता है। परन्तु वायु यदि कुपित हो तो उसकी मलक्षेपण क्रिया समीचीन नहीं होती। परिणामतया, दोषों तथा मलों का शरीर में संचय, वृद्धि और प्रकोप होकर तज्जन्य रोगों की उत्पत्ति होती है। वात का प्रकोप होने से यह सब कैसे संभव होता है यह स्पष्ट समझ लेना चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी होने से उसका संक्षेप में सोदाहरण उल्लेख यहाँ किया जाताहै।

दोषों के साम्य, क्षय और वृद्धि का सामान्य लक्षण यह है कि--

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिंगं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
क्षीणा जहति लिंगं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते[1] ॥

च० सू० १७।६२

दोष समावस्था में हों तो उनके शास्त्रोक्त तथा अनुभवगम्य गुण-कर्म समभाव से होते रहते हैं--शरीर में कोई विकार हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता।

दोषों की वृद्धि (प्रकोप) हो जाए तो उनके जिस प्राकृत गुण की जितने प्रमाण में वृद्धि हुई हो उस गुण के कर्म उतने प्रमाण में अधिक होते हैं। जैसे, स्निग्धता, शैत्य, मधुरता आदि श्लेष्मा के प्राकृत गुण हैं। श्लेष्मा की वृद्धि होने पर वृद्धि को प्राप्त हुए गुण के अनुसार त्वचा, मुख, जिह्वा, नख, नेत्र, पुरीष, मूत्र आदि में स्निग्धता, शीतता, मधुरता आदि गुणों की वृद्धि हो जाती है और तदनुरूप कण्डू, अरुचि, अग्निमान्द्य आदि विकार दृष्टिगोचर होते हैं।

दोषों का (दोष-विशेष के एक या अनेक गुणों का) क्षय हो जाए तो दो स्थितियाँ हो सकती हैं। एक उनके प्राकृत कर्मों का उतने ही प्रमाण में ह्रास जितने प्रमाण में उनका क्षय हुआ है। यथा--वात का क्षय हुआ हो तो उसके प्राकृत कर्म उत्साह का ह्रास होता है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि, दोष-विशेष के जिन प्राकृत गुण-कर्मों का क्षय हुआ है उनके विरोधी गुण-कर्मों की वृद्धि। यथा--वात का क्षय होने पर उत्साह-विरोधी विषाद (मनोभङ्ग) की वृद्धि ; पित्त का क्षय होने पर दृष्टिमान्द्य, अजीर्ण इत्यादि का प्रादुर्भाव एवं श्लेष्मा का क्षय होने पर रूक्षता आदि।

१--च० सू० १८।५२-५३ तथा दोनों स्थलों की टीकाएँ भी देखें।

दोष–विशेष के किसी गुण का क्षय होने पर दोषान्तर के (अन्यदोष के) अङ्गभूत विरोधी गुण की वृद्धि का कारण यह है कि––दोषों के शास्त्रोक्त गुणों में कतिपय गुण परस्पर समान होते हैं और कुछ विरुद्ध । विरुद्ध गुण समावस्था में रहते हुए एक दूसरे को बढ़ने नहीं देते–एक दूसरे की समावस्था बनाए रखते हैं । जैसे वात का रूक्ष गुण, कफ का स्निग्ध गुण तथा पित्तका ईषत् (किंचित्) स्निग्ध गुण एक दूसरे को समावस्था में रखते हैं । इनमें किसी दोष का कोई गुण क्षय को प्राप्त हो जाय तो विरोधी गुण तथा उसके कर्मों पर से उसका नियन्त्रण न्यून हो जाने से स्वाभाविक ही उस विरोधी गुण के कर्मों की वृद्धि हो जाती है ।

दोषों के गुण परस्पर-समान होने का परिणाम भी कायचिकित्सा में उपयुक्त होने से उसका भी संक्षेप में विचार कर लें । अहिताहार-विहार से एक या अनेक जिन गुणों की वृद्धि हो जाए वे गुण जिस दोष में प्रधानतया रहते हों उस दोष की वृद्धि मुख्यतया होती है और उसी के प्रकोप से होनेवाले रोग भी प्रधानतया होते हैं । परन्तु निदान (रोग के कारण) के सेवनवश प्रकुपित हुए गुण अन्य किसी दोष के भी गुण होते हैं, भले ही वे गुण उस दोष के प्रधान गुण न हों । निदानवश उस गुण का प्रकोप होने से उसके आश्रयभूत दोष का भी प्रकोप होता ही है, यद्यपि अल्प प्रमाण में । और उस अप्रधान दोष से भी रोगोत्पत्ति होती है, परन्तु गौण या अनुबन्ध के रूप में । चिकित्सा में कुपित गुण के ही शमन को विशेषतया लक्ष्य में रखा जाता है । जैसे, अम्लरस के अतिसेवन से पित्त की वृद्धि प्रधानतया होती है, पर साथ-साथ अनुबन्ध (सहचारी) रूप में कफ की वृद्धि होकर तज्जन्य उपद्रव होते हैं । चिकित्सा में ऐसे द्रव्य की योजना करनी चाहिए जो दोनों दोषों का विरोधी हो यथा कषाय तथा तिक्तरस-द्रव्य दोनों दोषों के विपरीत होने से उनकी योजना ऐसे विकारों में की जाती है । इस विषय का विचार आगे यथा प्रकरण किया जाएगा ।

प्रकृत विषय यह है कि, दोष प्रकुपित हो जाएँ तो उनके प्रकोप के ज्ञान का सामान्य लक्षण यह है कि प्रकुपित हुए दोष के गुण-कर्मों में वृद्धि हो जाती है । इस नियमानुसार वायु का प्रकोप होने पर उसके द्वारा दोषों का निर्हरण अधिक प्रमाण में होना चाहिए और इस प्रकार शरीर में दोषों का संचय होकर वृद्धि और प्रकोप न होना चाहिए, प्रत्युत क्षय ही होना चाहिए । संक्षेप में, इस प्रश्न का विचार उपयुक्त होने से किया जाता है ।

दोष विषम होकर जैसे धातुओं-उपधातुओं-मलों और अन्य दोषों को दूषित करते हैं, वैसे स्रोतों को भी तत्तत् प्रकार से दूषित करते हैं । यह उनका स्वभाव है ।

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ॥ च० वि० ५।६

शीत और उष्ण—द्रव्यों के दो वर्ग—ऊपर हमने कहा है कि--प्रधान गुणों को दृष्टि में रखते हुए सृष्टि के समस्त द्रव्य, चाहे वे वात-पित्तादि शारीर द्रव्य हों, चाहे उशीर (खस)–शुण्ठी आदि बाह्य द्रव्य हों, उनके दो विभाग किए जा सकते हैं--सौम्य और आग्नेय। लोक में भी आहार-औषध द्रव्यों का का विचार उनको मुख्यतया ठण्डी या वादी तथा गरम इन संज्ञाओं द्वारा दो वर्गों में विभक्त करके ही किया जाता है। यह लोक-व्यवहार शास्त्रमूलक ही है।

शीत जल या वायु, चन्द्रकिरण आदि प्रत्यक्षतः शीत वस्तुओं के संसर्ग से रसरक्तवह, पित्तवह आदि स्रोतों का संकोच होकर जैसे शरीर में जाड आदि गुण-कर्मों का प्रादुर्भाव होता है वैसा ही कर्म जिन वात-कफादि शारीर तथा उशीर, चन्दन आदि बाह्य द्रव्यों का प्राचीनों के देखने में आया उन्हें उन्होंने शीत-वर्ग में संनिविष्ट किया। शेष पित्त-प्रभृति शारीर द्रव्य तथा शुण्ठी, तगर आदि बाह्य द्रव्य जिनका शरीर के साथ बाह्य या आभ्यन्तर संसर्ग होने पर उनका परिणाम अग्नि, सूर्य-किरण आदि द्रव्यों के संसर्ग से होनेवाले कार्यों के समान देखा गया, अर्थात् जिनके सेवन से त्वचा, आम-पक्वाशय आदि अवयवों के रस, रक्त, पित्त आदि का वहन करनेवाले स्रोतों की विवृति (चौड़ा हो जाना), अतएव स्वेदन, अग्निदीप्ति, लाघव आदि क्रियाएँ दृष्टिगोचर हुईं, उन्हें उष्ण-वर्ग में स्थापित किया गया। यों स्निग्ध-रूक्ष आदि अन्य भी पृथक् गुण द्रव्यों में देखे जाते हैं तथा शास्त्र में उन का वर्णन भी किया गया है, तथापि उन सब का समावेश इन्हीं दो वर्गों में किया जा सकता है, और प्राचीन आचार्यों ने वैसा ही किया भी है।

वायु का स्रोतों पर प्रभाव—कर्म देखकर वायु की गणना प्राचीनों ने शीत- गुण द्रव्यों में की है। वायु का गुण-परक यह पद्यांश प्रसिद्ध है--

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥
च० सू० १ ५६

वायु में प्रधान गुण ये हैं--रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर। जिन द्रव्यों में इन गुणों के विपरीत स्निग्ध-उष्ण आदि गुण होते हैं, उनके सेवन से वायु का प्रशमन होता है। इन गुणों में भी रूक्ष मुख्य है, इसीलिए सर्वत्र वायुके गुणों में उसका प्रथम निर्देश किया जाता है। अर्थापत्त्या, वायु की चिकित्सा में रूक्ष-प्रत्यनीक स्निग्ध द्रव्यों का सेवन प्रधानतया करना चाहिए। पर ये

द्रव्य उष्ण होने चाहिए, अथवा उनके साथ उष्ण द्रव्यों का आहार या औषध के रूपमें संयोग करना चाहिए। कारण, वायु का दूसरा मुख्य गुण शीत है।

शीत-गुण[1] (द्रव्यों) के कर्मों में एक गुण स्तम्भन भी है--ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेददाहजित्--सु.सू. ४६-५१५--स्तम्भन का अर्थ है शरीर या उसके किसी भी अवयव में होनेवाली चेष्टा (कर्म) को रोक देनेवाला। वात-प्रभृति शीतद्रव्यों की यह स्तम्भन क्रिया संधियों पर, शरीरान्तर्गत स्थूल या अणु-स्रोतों पर तथा मांसपेशी आदि पर देखी जाती है। शरीरान्तर्गत स्रोतों पर शीत द्रव्यों की स्तम्भन क्रियाएँ समझने के लिए थोड़ी नव्य मत की सहायता ली जा सकती है। महास्रोत, तथा हृदय-समेत रस-रक्तवह स्रोतों में बाह्य द्रव्यों के अभिवहन के लिए विशेष प्रकार की संकोच-विकासात्मक क्रिया हुआ करती है, जिसे 'पेरिस्टाल्सिस' कहा जाता है। स्थल-विशेष पर संकोच होने पर संकुचित-प्रदेशान्तर्गत द्रव्य आगे धकेल दिया जाता है। एकाध क्षण में यह प्रदेश विवृत (विकसित) होता है। परिणामतया, ऊपर की ओर से वाह्य द्रव्य इस प्रदेश में पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार वाह्य द्रव्य (अन्न-पान, पुरीष, रस-रक्तादि) अविराम गति करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर पहुँचता जाता है। शीत द्रव्य इस क्रिया को शिथिल कर देते हैं, या कुछ काल के लिए अटका देते हैं। इसी क्रिया को स्तम्भन कहा जाता है। इस स्तम्भन का परिणाम विशेषतः वाह्यद्रव्य पर होता है। यह परिणाम नीचे लिखे प्रकार से होता है।

स्तम्भन का बुद्धिगम्य प्रथम परिणाम यह होता है कि, वाह्य द्रव्य उतने काल के लिए उसी स्थान पर स्थिर (स्तब्ध) रह जाता है। शेष परिणाम इस स्तब्धता के ही आश्रय से होते हैं। स्तब्धता के अनन्तर पहली क्रिया वाह्य द्रव्यपर यह होती है कि वायु के प्रभाव से उसके अन्तर्गत क्लेद (द्रवांश) का शोषण होने लगता है। महास्रोत आदि स्रोतों में स्वभावतः वाह्य द्रव्यों का यत्किंचित् शोषण होता ही है। द्रव्य स्तब्ध हो जाने पर शोषण अधिक मात्रा में होने लगता है, यह यहाँ तात्पर्य है। वातकलाकलीयाध्याय में ही वायु का एक विशेषण आया है--संशोषणो दोषाणाम् च. सू. १२-८- चक्रपाणि ने इसका अर्थ दिया है--दोषसंशोषणः शरीर क्लेदसंशोषणः। अर्थात्--यहाँ दोषों के संशोषण का

१--दर्शनों का मत है कि, गुणों में कर्म नहीं रहता। गुण-कर्म द्रव्यों में (द्रव्याश्रित) रहते हैं। परन्तु आयुर्वेद में गुणों के भी कर्म बताए हैं। आयुर्वेदीयदर्शन या पदार्थविज्ञान की अनेक विशेषताओं में यह एक विशेषता है। इन विशेषताओं के कारण ही आयुर्वेदीय पाठचक्रम में पदार्थविज्ञान विषय आयुर्वेदीय संहिताओं से ही संगृहीत करके पढ़ाना चाहिए।

अर्थ है, शरीरान्तर्गत क्लेद[1] (आर्द्रता, द्रव अंश) का शोषण करना--उसे शुष्क कर घनत्व प्रदान करना। प्रवृद्ध होकर शरीर के क्लेद और स्नेह को इस प्रकार शुष्क करना वायु का स्वभाव है--उसकी प्रकृति है। इस दोष-संशोषण स्वभाव के कारण ही उसमें एक अन्य गुण देखा जाता है--रूक्ष। वातारब्ध प्रकृति या विकृति (रोग) दोनों में वायु का यह गुण प्रधानतया लक्षित होता है। दोष-संशोषण कर्म कहिये या रूक्ष गुण कहिए, इन दोनों का परिणाम जैसा कि ऊपर कहा है, यह होता है कि वाह्य द्रव्य उत्तरोत्तर घन होकर पिण्ड-रूप प्राप्त करता जाता है। विकृत वायु के कर्मों में तन्त्रकारों ने इस विकार को वर्त नाम दिया है। वर्त का अर्थ टीकाकारों ने यह दिया है--वर्तुलीकरणं वर्तः--चक्रपाणि ; वर्तनं वर्तः, पुरीषादीनां पिण्डीकरणम्--अरुणदत्त। --पुरीषादि द्रव्यों का वर्तुलीभाव, शोषण के परिणाम-रूप में पिण्डीभूत हो गोलाकार धारण करना इसका नाम है वर्त। वाह्य द्रव्यों के पिण्डीभाव-वश अधिष्ठान- भेद से विभिन्न विकार उत्पन्न होते हैं।

उदाहरणतया महास्रोत में पुरीष की ग्रन्थियाँ बँधती हैं--मल ग्रन्थित होता है, जिससे अपकर्षणी गति (पेरिस्टाल्सिस) समीचीनतया नहीं होती तथा मल अधिक अवरुद्ध होकर ग्रन्थियाँ अधिक ही बनती जाती हैं ; साथ ही वायु का भी आवरण (अवरोध) होकर उसके संचय-वृद्धि-प्रकोप के लक्षण तथा विकार उत्पन्न होते हैं। वर्तुलीभाव यदि याकृत पित्त का वहन करनेवाले पित्तप्रसेक (बाइल डक्ट) में हो तो शुष्कीभूत पित्त की अश्मरी (गॉल-स्टोन) बनती है। पिण्डीभाव मूत्रयन्त्र में हो तो पिण्डता के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) के अनुसार मूत्रान्तर्गत द्रव्यों की सिकता (रेती या क्रिस्टल), शर्करा या अश्मरी बनती है। इन में शुष्कता का हेतु यद्यपि वायु ही है, तथापि जिस द्रव्य की सिकता आदि बनती है उसके स्वरूप-भेद से सिकतामेह आदि रोगों का दोषानुसार विभाग किया गया है। इस प्रकार अश्मरियों के वातज, पित्तज, कफज भेद होते हैं।

तीनों दशाओं में पुरीषादि का बहिःक्षेपण-रूप कर्म करनेवाला वायु ग्रथित पुरीषादि से अवरुद्ध या आवृत होने से उसका प्रकोप होता है। आवृत वायु अधिक बलपूर्वक अवरोध के स्थान पर संकोचन-क्रिया (स्पैज्मॉडिक कोंट्रेक्शन) करता है। इस क्रिया के कारण अवरोध के प्रदेश पर तीव्र शूल होता है। आधुनिकों ने महास्रोत में इस प्रकार होनेवाले शूलको 'इण्टेस्टाइनल कॉलिक' या केवल 'कॉलिक', पित्तप्रसेक में होने वाले शूल को 'बिलिअरी कॉलिक' तथा मूत्रयन्त्र में होनेवाले शूल को 'रीनल कॉलिक' नाम दिए हैं। उनकी वर्णित संप्राप्ति

१--क्लेद शब्द क्लिदू आर्द्रीभावे धातु से व्युत्पन्न है।

कुछ भी हो, आयुर्वेद में तो पिण्डीभाव तथा तीव्रसंकोच दोनों का कारण वायु होने से इनमें शूल का मूल वात को ही बताया है। तथाहि--

सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥

माधवनिदान

इन का उपचार--विशेषकर अनुत्पत्तिकर उपचार--इन्हें उत्पन्न ही न होने देना--वायु को ही लक्ष्य में रखकर करना चाहिए।

वात का क्लेद-संशोषण कर्म इसी प्रकार प्राणवह स्रोतों में स्थित कफ पर हो तो परिणाम कास-श्वास के रूप में होता है। इस स्रोत में स्थित कफ (अवलम्बक कफ) सम प्रमाण तथा सम स्निग्धता और क्लेदयुक्त हो तो प्राणापान की गति सम रहती है। वायु के प्रकोपवश यह कफ शुष्क हो जाए तो इसकी बहिर्द्वारों (मुख-नासिका) की ओर गति समभाव से हो नहीं सकती। परिणामतया, संचित हुए इस कफ का बहिःक्षेपण करनेवाला वायु पूर्वोक्त रीति से ही आवृत होने से प्रकुपित (उद्दीपित) होता है। प्रकुपित वायु की बहिःक्षेपणानुकूल क्रिया कास के वेगों के रूप में व्यक्त होती है। वेग अधिक होने से उर तथा उदर की पेशियों एवं अन्य अवयवों में भी आयाम होने से उनमें वेदना होती है। कास के प्रसक्त (अविरत) वेग जबतक होते रहें तबतक श्वसन क्रिया रुकी रहती है। परिणाम में प्राण का निर्गमन न होने से उसका संचय, वृद्धि और प्रकोप होने से उसका प्राकृत कर्म श्वसन बढ़ जाता है। श्वसन के दर की (प्रतिमिनट संख्या की) इस वृद्धि का ही रोग-सूचक नाम श्वास है। यह संप्राप्ति स्मरण में रहे तो, इस प्रकार उत्पन्न कास, श्वास, पार्श्वशूल तथा उदरशूल में मलवातानुलोमन एवं कफ को क्लिन्न (द्रवीभूत) करनेवाले उपचारों की स्मृति अनायास हो आती है। प्रायः यह शुष्क कास प्रतिश्याय का परिणाम होता है। प्रतिश्याय का भी मूल उदावर्त आदि के कारण मल और वायु का विबन्ध ही होता है।

मल और वायु का स्तम्भन अधिक हो जाय तो बद्ध-गुदोदर के समान मल और वायु की प्रतिलोम गति होती है। वात-कलाकलीय अध्याय में शारीर वायु के प्राकृत-विकृत कर्म समझाते हुए बहिश्चर वायु के कर्म भी दर्शाए हैं। बहिश्चर वायु के विकृत कर्मों में एक नदियों के जल की विपरीत दिशा में गति--प्रतिसरणमापगानाम्--(च. सू. १२।८) भी है। शारीर वायु की उक्त प्रतिलोम गति को प्रतिसरण (रीट्रोपेरिस्टालिसस ; रस-रक्तवह स्रोतों में--रीगर्जिटेशन) कह सकते हैं। उत्तर तन्त्र अध्याय ५५ में सुश्रुत ने वेगावरोध से हुए विकारों को उदावर्त नाम दिया है। जैसा कि नाम से सूचित है, वह इसी प्रतिसरण का पर्याय है। यह प्रतिसरण या उदावर्तन कभी इतना अधिक

हो सकता है कि मुख से मल की प्रवृत्ति होने लगती है। प्राचीनों ने वायु और मल के वेग का अवरोध करने से हुए विबन्ध (कॉन्स्टीपेशन) तथा उसके उपद्रवों के अधिकार में इस उपद्रव का उल्लेख किया है। (देखिए—सु० उ० ५५।७-९)।

पुरीष और पित्त की ग्रन्थियों के समान वायु के प्रकोप से कभी मेद की स्थूल या अणु ग्रन्थियाँ शरीर पर बँध जाती हैं। इसे आधुनिकों ने 'मिक्सीडीमा' कहा है। इसमें मेदोग्नि के मन्द होने से वायु का प्रकोप होता है। चिकित्सा तदनुरूप कर देखनी चाहिए।

धातुओं के आशयों में तथा शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों में उनके पोषण के लिए रसधातु को पहुँचानेवाले स्रोत (रसवह स्रोत) वायु की क्रिया से न्यूनाधिक समय के लिए स्तब्ध (संकुचित) हो जाएँ तो स्रोतों के अन्तर्गत अवकाश (विवर, मुख, आस्य, छिद्र) संकुचित हो जाता है। परिणामतया, धातुओं की पुष्टि आदि के लिए उपयुक्त रसधातु, ओज विष्णुपदामृत (ऑक्सिजन) इत्यादि की प्राप्ति पर्याप्त प्रमाण में न होने से धातु तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग क्षीण (शुष्क) और हीनबल तथा अन्त में रोगग्रस्त होते हैं। ऊपर कहा है कि वायु के प्रकोपवश धातुओं का क्षय होता है, उस का स्वरूप यह है।

रसवह स्रोतों के संकोच का एक अन्य परिणाम वह होता है, जो हायपरटेन्शन' या 'हाईब्लडप्रेशर' नाम से सुविदित है[1]। रसवह स्रोत संकुचित होने

१—रसधातु—नवीन मत से—

रसका वर्णन करते हुए तन्त्रकारों ने कहा है—उसका स्थान हृदय है। वहाँ से चौवीस धमनियों में अनुप्रविष्ट हो व्यान वायु की सहायता से अहर्निश समस्त शरीर का तर्पण (क्षतिपूर्ति), वर्धन, धारण (जीवन) तथा यापन करता रहता है। देखिये—**तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्। स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य......कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति (जीवयति) यापयति च** ...सु० सू० १४।३। अन्यत्र तन्त्रकारों ने कहा है कि, शरीर में उल्लिखित कर्म कर यह पुनः सिराओं द्वारा हृदय में आ जाता है। इस प्रकार हृदय से समस्त शरीर में गमन, वहाँ तर्पणादि क्रिया करना और पुनः हृदय में परावर्तन—इस वर्णन को देखने से विदित होगा कि यह आयुर्वेद का रस ऐलोपैथी का एकमात्र 'लिम्फ' नहीं हो सकता। उसकी हृदय से गति नहीं होती। हृदय से जिसकी गति होती है, वह लिम्फके समान ही रासायनिक स्वरूपवाला **प्लाज्मा** भी आयुर्वेद का रस धातु होना चाहिए। यह प्लाज्मा केशवाहिनियों से स्रुत हो 'टिश्यु फ्लुइड' नाम धारण करता है; वही रसवाहिनियोंद्वारा हृदय से→

से रस के शरीर में विक्षेपण का कार्य जिस व्यान वायु का है उसके मार्ग (तथा उसकी क्रिया) में अवरोध या आवरण होने से उस का प्रकोप होता है। प्रकुपित होकर वह अपना प्राकृत-कर्म रस-विक्षेपण अधिक बलपूर्वक करता है। यही अधिक बल 'स्फिग्मोमेनोमीटर' (ब्लडप्रेशर मापनेवाले यन्त्र) में पारद को अधिक ऊँचा उठाने के रूप में तथा शरीर में भ्रम, शिरोरोग (शिरोवेदना) इत्यादि के रूप में व्यक्त होता है।

अङ्गवध का कारण वात-प्रकोप—व्यान वायु के आवरण से उत्पन्न इस प्रकोप के साथ यदि खरत्व गुण का भी प्रकोप हुआ हो तो परिणाम गम्भीर होता है। कफ शरीर में समावस्था में हो तो शरीर के सर्वावयवों में स्निग्धता और मृदुता रहती है। हृदय-समेत स्रोतों में ये दो गुण हों तो उनके तत्तत् भाग में रस-रक्त का अभ्यागमन होने पर वे पर्याप्त प्रमाण में विवृत होकर उस को (रस-रक्त को) ग्रहण कर लेते हैं। पश्चात् इन गुणों के कारण ही उत्पन्न स्थिति-स्थापक गुण के कारण पुनः संकुचित हो पूर्वावस्था में आते हैं। परिणामतया, संकुचित-प्रदेशान्तर्गत रस-रक्त पीडित होकर आगे धकेल दिया जाता है। व्यान वायु इस प्रकार कफ के स्निग्ध, मृदु और स्थितिस्थापक गुणों के साहाय्य से रस-रक्त को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुंचाता और पुनः हृदय में लाता रहता है।

परन्तु, रस-रक्तवह स्रोतों में कफ के अङ्गभूत इन गुणों के स्थान पर वायुके प्राबल्यवश उत्पन्न खरत्व (रिजिडिटी, आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) गुण विशेष हो तो, रजोगुणजन्य मानसिक आवेश आदि के कारण रस-रक्त अधिक वेग और प्रमाण में इन स्रोतों में पहुँचे तो अपने खरत्व के कारण वे रस-रक्त के इस प्रवृद्ध प्रवाह को सहन न कर न्यूनाधिक विदीर्ण हो जाते हैं। यह स्थिति यदि मस्तिष्क में हो तो अङ्गवध (पेरेलिसिस) हो जाता है। इस रोग का उभय मत से विवरण आगे वातरोगाधिकार में आएगा ही। यहाँ इतना ही कह दें कि अङ्गवध की कारणभूत स्रोतों में उत्पन्न हुई इस खरता तथा तज्जन्य भंगुरता (ब्रिटलनेस, फ्रेजाइलिटी) के भी हेतुभूत वात-प्रकोप को दृष्टि में रख कर ही आयुर्वेद में

←परावर्तित होता हुआ 'लिम्फ' नाम ग्रहण करता है। सो, ये तीनों समुदित हुए आयुर्वेद के रस धातु हैं। इसके अनुसार आधुनिकों के ब्लड वेसल्स को रसवह स्रोत कहना चाहिए। यकृत् प्लीहा में जाने-आनेवाले रसवह स्रोत रक्तवह स्रोत होने चाहिए। आयुर्वेद का रक्त धातु मैं समझता हूँ, आधुनिकों के रक्तकण होने चाहिए। रक्त की उत्पत्ति तथा शुद्धि (रञ्जनकर्म) यकृत्-प्लीहा में होने से वहाँ जाने-आनेवाले रसवह स्रोतों की रक्तवह यह विशेष संज्ञा है।

अङ्गवध को वातरोग माना गया है। पुरुष वातप्रकृति हो तो उस में यह स्थिति उत्पन्न होने की संभावना सविशेष होती है।

हृच्छूल में वात की कारणता—दैवात् रस-रक्तवह स्रोतों का स्तम्भ (स्पैज्म) हृदय में हो तो इस आवरण से हृदयस्थायी वायु का प्रकोप होता है। इस आवरण का सामना कर रस-रक्त को हृदय में सर्वत्र पहुँचाने के लिए वायु उद्दीप्त होता है——उसकी रस-रक्त का विक्षेपण करनेवाली नैसर्गिक क्रिया का अङ्गभूत संकोचन कार्य अधिक बलपूर्वक होता है। इस प्रबल संकोच के कारण महास्रोत आदि में होनेवाले उल्लिखित शूल के समान हृदय में भी तीव्र शूल होता है। इसे हृच्छूल (एन्जाइना) कहते हैं। इसी संप्राप्ति के कारण हृदय-शूल को भी आयुर्वेद में वातज रोगों में स्थान दिया गया है। इसी कारण हृच्छूल का उपचार वैद्यजन वायु के शमन और अनुलोमन के रूप में सफलता से करते हैं।

कभी हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों में यत्किंचित् रस-रक्त स्रुति होकर उसका स्कन्दन (जमना, कोएगुलेशन) भी हो सकता है। उसकाल भी मार्गावरोधवश आवृत हुआ व्यान वायु प्रकुपित हो हृच्छूल उत्पन्न करता है।

कफ का अनुबन्ध हो तो व्यानवायु कफावृत होने से हृदय में——हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों में——रस-रक्त की गति कफ के मन्द गुण के प्रभाव से मन्द हो जाती है। कफ के पिच्छिल गुण की क्रिया से रस-रक्त का स्कन्दन होकर इस स्थिति में भी व्यान वायु जमे हुए रस-रक्त से आवृत हो तीव्र हृच्छूल उत्पन्न करता है।

वायु के साथ कभी पित्त का भी अनुबन्ध होना संभव है। यह स्थिति तब होती है जब निदान (रोग के कारणभूत अहिताहारादि) उष्ण-रूक्ष हों। उष्ण गुण के साथ स्निग्धगुण आहारादि का सेवन किया जाए तो उससे विपरीत-गुण वायु का शमन होता है। परन्तु उष्ण गुण का अतियोग रूक्ष गुण के साथ हो तो एक ओर तो उष्ण गुण के प्रभाव से धातुओं के स्नेह, गौरव आदि गुणों का क्षपण (क्षय) होता है; दूसरी ओर सेवन किए रूक्ष गुण से क्षय की भूयसी (और अधिक) वृद्धि ही होती है। इस स्थिति में भी प्रकुपित वात हृच्छूल उत्पन्न कर सकता है। पर उसमें अनुबद्ध (सहचारी) दोष पित्त होगा। सहचारी दोष कफ है या पित्त, इस वस्तु का अनुमान द्वारा विनिश्चय शरीर में दोनों दोषों में से जिसके प्रकोप के लक्षण प्रत्यक्ष हों उन्हें देखकर किया जा सकता है। उपचार भी तदनुरूप होना चाहिए।

वायु से जैसे स्रोतों का स्तम्भ और संकोच होता है, ऐसे ही स्रोतों तथा आशयों का व्यास (विस्तार; डायलेटेशन) भी होना संभव है। गुल्म रोग में महा-स्रोत, हृदय आदि में यह स्थिति देखी जाती है। इन स्रोतों और आशयों की

क्षीणता (एट्रॉफी) भी होना संभव है। वायु के इन विकारजनक गुण-कर्मों का वर्णन वायुरोग के प्रकरण में किया जायगा। यहाँ उदाहरणतया वात-प्रकोप के कुछ ही परिणामों पर प्रकाश डाला गया है।

रसायन द्रव्यों की वात पर क्रिया--

ऊपर वात के प्रकोप का स्वरूप दर्शाने के लिए जो उदाहरण दिए गए हैं उनसे स्पष्ट होगा कि प्रायः रोगों में वायु की क्रिया स्रोतों पर होती है। स्रोतों की वातजनित दुष्टि का परिणाम यह होता है कि इन का अन्तर्गत अवकाश (विवर, मुख, आस्य, ल्युमेन) न्यून होता जाता है, जिससे उनके वाह्य द्रव्य का अभिवहन सम्यक् हो नहीं पाता। पित्त या कफ के कारण स्रोतों की दुष्टि हो तब भी परिणाम यही होता है, यह हम आगे देखेंगे। स्रोतों की दुष्टि का परिणाम यह होता है कि दोष (मल) शरीर से बाहर योग्य प्रमाण में निकलने नहीं पाते-- शरीर में स्थिर या स्तब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार संचित हो वृद्धि और प्रकोप को प्राप्त हो तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं। दुष्टि रस-रक्तवह स्रोतों की हो तो उन से पुष्ट होनेवाले धातु, उपधातु, मल या पित्त आदि का पोषण सम्यक् नहीं होता--वे क्षीण होते हैं। धातु आदि के भेद से क्षय के परिणाम भिन्न होते हैं। यथा, मांस क्षीण हो तो शरीर दुर्बल होता है; शुक्र क्षीण हो तो रति की इच्छा तथा सामर्थ्य न्यून होता है; पित्त क्षीण हो तो अग्नि की मन्दता आदि विपरिणाम होते हैं, इत्यादि।

रसायन पदार्थ, चाहे वे आवरक (अवरोधकारी) दोष के विरोधी आहार या औषध-द्रव्य के रूप में हों, चाहे दोष-प्रत्यनीक आचार (शारीरिक या मानसिक व्यापार अर्थात् विहार) के रूप में हों, चाहे दोष-गुण विपरीत देश या काल के रूप में हों, सब की क्रिया एक ही होती है। ये पदार्थ अवरोधक दोष पर अथवा उसके प्रकोप से हुए परिणाम पर क्रिया कर स्रोत को विवृत करते हैं; परिणामतया रस के वहन में हुए अवरोध को दूर कर शरीर की सुस्थिति को पुनः स्थापित करते हैं। रस शब्द का अर्थ यहाँ अधिक व्यापक रूप में ग्रहण करना चाहिए। रस शब्द की व्युत्पत्ति तन्त्रकार ने यह कही है--

तत्र 'रस' गतौ धातुः। अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः॥

सु० सू० १४।१३

रस शब्द गत्यर्थक रस धातु से व्युत्पन्न हुआ है। रस धातु शरीर में अहर्निश गति करता रहता है, अतः इसे रस कहा जाता है। गति के इस साम्य से स्थल-विशेष में गमनशील द्रवपदार्थमात्र के लिए भी रस संज्ञा का व्यवहार होता है। देखिए--

रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते। तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति ॥ च० चि० १५।३६ पर चक्रपाणि

इस प्रकार अपने-अपने स्रोतों में जिन का वहन होता है उन सर्व रस-रक्त-शुक्रादि धातुओं, पित्तादि दोषों तथा मल-मूत्र-स्वेदादि मलों का गौण अर्थ में ग्रहण रस शब्द से होता है। स्वास्थ्य की अनुवृत्ति (निरन्तरता) के लिए इन सब रसों का वहन समीचीन होना आवश्यक है। अन्यथा शरीर धातुओं की पुष्टि तथा दोषों और मलों का निर्हरण अयथावत् होता है और शरीर रोग-पीड़ित होता है। रसायन पदार्थ इन रसों के अयन अर्थात् वहन की क्रिया को सुस्थित करते हैं। अतएव इन्हें रसायन कहा जाता है। अतएव वे शरीर को नीरोग तथा चिरायु करने में समर्थ होते हैं। तन्त्रकारों ने रसायन उपचार की व्याख्या करते हुए उसके परिणाम बताए हैं, परन्तु यह क्रिया वे कैसे करते हैं, यह उन्होंने बताया नहीं है। रस शब्द का व्यापक अर्थ तथा रसायन शब्द की ऊपर दी व्युत्पत्ति देखने से जाना जा सकता है कि, रसायन पदार्थ यह क्रिया कैसे करते हैं ? अर्श की चिकित्सा के प्रकरण में तक्र की प्रशंसा में अत्रिपुत्र ने जो पद्य लिखा है, उससे रसायन शब्द के इस अर्थ की पुष्टि होती है। तथाहि——

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते।
नास्ति तक्रात्परं किंचिदौषधं कफवातजे ॥

च० चि० १४।९७-९८

तक्र के विधिवत् सेवन से स्रोतों की शुद्धि हो जाए——उनके अन्तर्गत अवरोध (आवरण) दूर हो जाए तो रस का सम्यक्(यथायोग्य प्रमाण) अयन होता है। उसके परिणाम स्वरूप शरीर की पुष्टि, बल, वर्ण और प्रहर्ष (सामान्य आनन्द या रतिसुख की इच्छा तथा उस की पूर्ति का सामर्थ्य) उत्पन्न होता है। एवं वातज और श्लेष्मज सौ रोग (८० वातज तथा २० श्लेष्मज मिलकर सौ) दूर होते हैं। अर्श कफज, वातज या कफवातज हों तो तक्र से श्रेष्ठ औषध उनके लिए अन्य नहीं है। यहाँ शरीर की पुष्टि आदि कर्मों का कारण रस का सम्यक् अयन बताया है। रसायन शब्द में रस पूर्वपद तथा अयन उत्तरपद है। अयन शब्द 'इ' (ण्) धातु से बनता है। पद्य में भी 'इ' (ण्) धातु का ही उप-उपसर्गपूर्वक प्रयोग कर 'उपैति' शब्द का व्यवहार हुआ है। सो, इन पद्यों से रसायन पदार्थों की क्रिया का सम्यक् बोध हो सकता है।

ये रसायन उपचार दोष-भेद से भिन्न होते हैं। वात का शमन या संशोधन करनेवाले आहार औषध आदि उपचार वातकृत स्रोतोदुष्टि को दूर कर शरीर को रोगरहित और चिरायु बनाते हैं।

वायु के बहु गुण का तात्पर्य--

वायु के अनेक गुणों में एक बहु गुण है। अबतक हमने वायु के विषय में जो विवेचन किया उससे इसके इस गुण का एक अर्थ सरलता से समझा जा सकता है। वायु द्वारा उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र या परतन्त्र रोगों की संख्या अन्य दोषों की अपेक्षया बहुत बड़ी है। इसी के संक्षेप में द्योतनार्थ वायु में बहु गुण की कल्पना की गयी है।

वायु में बहुगुण की कल्पना का एक अन्य भी कारण है। और वह यह कि, जैसे वातज विकृतियों की संख्या बड़ी (बहु) है, वैसे वातारब्ध (वात से उत्पन्न) प्रकृतियों की---अन्य शब्दों में वातप्रकृति पुरुषों की संख्या भी अन्यदोषारब्ध प्रकृतियों की अपेक्षया बड़ी है। अपने चारों ओर वाचाल, निश्चय की अस्थि-रता, मिथ्या भाषण, कपट आदि वातप्रकृति के लक्षणोंवाले पुरुष ही अधिक संख्या में आप पाएँगे। सो सृष्टि में वातकृत प्रकृति और विकृति दोनों की ही बहुता (बाहुल्य) होने से वात के इस वैशिष्टय के सूचनार्थ इस में बहु गुण है यह कहा जाता है।

वायु के इस प्राधान्य का परिणाम अतिदक्षिण भारत के सिद्ध-संप्रदाय (अगस्त्य-संप्रदाय) पर यह हुआ है कि, उसके अनुयायी वैद्य तीन दोष न मानकर एक ही दोष वायु को मानते हैं।

नाड़ी-परीक्षकों की नाड़ी से ही रोग-परीक्षा और चिकित्सा कर्म में सिद्धि का भी एक कारण उनके उपचार में वायु के शमन का प्राधान्य ही है। ये वैद्य यदि वनस्पतियों से उपचार करते हों तो चिकित्सा में मलवातानुलोमन मृदु विरेचन का प्रायः प्रत्येक रोग में व्यवहार करते हैं। वात के उपचारों में जैसा कि आगे देखेंगे मृदु विरेचन का निर्देश प्रथम हुआ है। ये द्रव्य वायु का संशोधन तो करते ही हैं, साथ ही मल का भी शोधन कर वायु की उत्पत्ति का मूल ही उच्छिन्न कर देते हैं। कारण, पक्वाशय में जो मल या किट्टांश पहुँचता है, उसी से तो पुरीष, मूत्र और वायु ये तीनों द्रव्य उत्पन्न और पुष्ट होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।

नाड़ी-वैद्य यदि रसशास्त्री हों तो प्रायः सोमल आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्यों का उपयोग करते हैं। ये द्रव्य अपनी तीक्ष्णोष्णता से अग्नि की दीप्ति तथा वायु का शमन करते हैं। इन के रूक्षोष्ण गुणों से धातुओं का क्षय न हो जाए इस प्रयोजन

से साथ ही घृत, दुग्ध आदि स्निग्ध द्रव्यों की योजना प्रभूत मात्रा में की जाती है। इस प्रकार उभयविध नाड़ी-परीक्षकों के उपचार में वायु का साम्य प्रधानतया लक्ष्य होने से निदान में किंचित् त्रुटि हो तो भी औषध-सेवनसे प्रायः अनुकूल परिणाम आता ही है। कारण, प्रायः (अधिकांश) रोग वातजन्य होते हैं, और नाड़ी-परीक्षकों के उपचार का लक्ष्य भी वात ही होने से बहुधा उनका निशाना ठीक बैठ जाता है। इससे नाड़ीपरीक्षा के रूप में उनकी प्रसिद्धि भी बढ़ती है। तथापि उनके प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का कौशल एवं अमुक विशिष्ट साधना भी उनके नाडी-परीक्षा के चातुर्य में हेतु होती है, यह भूलना न चाहिए।

समवाय में वायु की चिकित्सा—

वायु के इस प्राधान्य के कारण ही दोषों के संसर्ग या संनिपात से हुए रोगों में प्रथम वात को ही समावस्था में लाने का सामान्य नियम है। रोग दो दोषों से हुआ हो तो उसे संसृष्ट या द्वन्द्वज तथा तीन दोषों से हुआ हो तो संनिपतित, त्रिदोषज या समवेत कहते हैं। दो और तीन दोषों के संयोग को क्रमशः संसर्ग और संनिपात कहा जाता है। इस प्रकार संसृष्ट या संनिपतित रोगों में किस दोष को प्रथम चिकित्सा की जाए इस का सामान्य नियम तथा उसके अपवाद सुश्रुत ने निम्न प्रकार से कहे हैं।

समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥

सु० उ० ४०।१६१

दोषों का संयोग होने पर ज्वर और अतिसार इन दो रोगों में प्रथम पित्त का उपचार करे। शेष सभी रोगों में प्रथम वायु को समावस्था में लाने का उपाय करे। अतिसार–संबन्धी इस नियम का भी अपवाद है। अतिसार यदि संनिपातारब्ध हो और निराम (पक्व) हो एवं दोष तीनों सम हों, तो प्रथम वात का ही उपचार करें, पश्चात् पित्त का तथा अन्त में कफ का। दोष साम हों तो प्रथम आम की चिकित्सा करनी चाहिए। संनिपातातिसार में दोष विषम हों तो जो बलवत्तम हो उसकी चिकित्सा प्रथम करें[1]।

१—देखिए सु० च० चि० १६।१२६ तथा उसकी चक्रपाणि-टीका। संनिपात ज्वर में चरक तथा सुश्रुत के मत जानने के लिए—देखिए—च० चि० ३। २८५-८६ तथा सु.उ. ३६।२६४। दोनों मतों के समाधान के लिए चक्रपाणि तथा डल्ह्लन की टीका देखिए।

प्रकोप से पूर्व ही वायु के उपचार की आवश्यकता--

यद्यपि तीनों दोषों को स्वस्थवृत्त के आचरण द्वारा समावस्था में रखना पुरुष मात्र का कर्तव्य है, तथापि तीनों दोषों में भी वात को समावस्था में रखने पर सविशेष ध्यान देना चाहिए। कारण, कुपित होने पर वायु अपने आशुकारिता आदि गुणों के कारण अल्पकाल में ही गम्भीर अवस्था में पहुँच जाता है। वातकलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) में वार्योविद् ने वात को लक्ष्य में रखकर सत्य ही कहा है--

भिषक् पवनमतिबलमतिपरुषमतिशीघ्रकारिणमात्ययिकं चेन्नानुनिशाम्येत्, सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमग्रेऽभिरक्षितुमभिधास्यति प्रागेवैनमत्ययभयात्॥ च० सू० १२।१०

अति बलवान्, अति रूक्ष (या अति निर्दय), अति शीघ्रकारी तथा तत्काल लक्ष्य देने योग्य (आत्ययिक) वायु की यदि पहले से ही सँभाल न ली जाए--उसकी समावस्था का संरक्षण न किया जाए एवं वह सहसा (अवितर्कित ही--अपना ध्यान भी न हो तब) कुपित हो जाए, तो परिणाम-रूप में अत्यय (इमर्जेन्सी) की स्थिति में पहुँच जाए उसके पूर्व ही अति प्रयत्न करके भी चिकित्सक उसे कैसे आगे बढ़ने से रोक सकेगा?

तात्पर्य--वायु इस आत्ययिक दशा को प्राप्त हो जाए--स्थिति हाथ में न रहे, उसके पूर्व ही उस पर तीक्ष्ण दृष्टि वैद्य और पुरुष दोनों को रखनी चाहिए। प्रकृति में वात का प्राधान्य देखकर कहा जा सकता है कि, किस पुरुष के वातप्रकोप से पीड़ित होने की भविष्य में संभावना है। तदनुसार उचित स्वस्थवृत्त का पालन कर वायु को बढ़ने से रोकना चाहिए। वायु के विषय में यह दृष्टि रखी जाए तो आजकल इतने वृद्धि को प्राप्त हृद्ग्रह, हृच्छूल, अकालमृत्यु, पक्षाघात आदि वातरोगों को अंकुरित होने के पूर्व ही रोका जाना संभव है। आज के विश्व को आयुर्वेद जो उपहार दे सकता है, उनमें एक इन वातरोगों की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) है।

मानस दोषों में रज का प्राधान्य--

पिछले पृष्ठों में हमने शारीर दोषों में वायु के प्राधान्य के कारण तथा चिकित्सा में इस विषय की उपयोगिता का विचार किया। मानस दोष दो हैं--रज और तम। सत्त्वगुण वृद्धि को प्राप्त होकर भी कोई विक्रिया नहीं करता। अतः उसे दोष नहीं कहा जाता है--गुण ही कहा जाता है। रज और तम में

भी रज का प्राधान्य है। कारण, रजोगुण प्रवर्तक होने से वह प्रकुपित हो तभी तम को प्रवृत्तिशील कर उसके द्वारा रोगोत्पत्ति कराता है--नारजस्कं तमःप्रवर्तते--च० वि० ६।९। दोषों में वायु के प्राधान्य का कारण भी उसमें रजोगुण का बाहुल्य है, यह ऊपर कह आए हैं।

द्वितीय अध्याय

रोगों के विविध वर्ग

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स्वस्थ पुरुष का लक्षण

गत अध्याय में रोग के लक्षण, रोग के अधिष्ठान तथा रोग के कारणभूत शारीर-मानस दोषों का निर्देश किया गया था। ये दोष अपने-अपने अधिष्ठान में किस अवस्था में रहकर पुरुषों को स्वस्थ रखते हैं, तथा किन अवस्थाओं में परिणत हो उसे रोगाक्रान्त करते हैं, यह स्वस्थ पुरुष के आयुर्वेदोक्त लक्षण से विदित होगा। स्वस्थ का लक्षण बताते सुश्रुत ने कहा है--

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

सु० सू० १५।४१

जिस पुरुष के शारीर-मानस दोष, अग्नि (जाठराग्नि, धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि) सम अर्थात् यथायोग्य स्वरूप, प्रमाण और क्रियावाले हैं; धातु-उपधातु-मल तथा इनकी क्रिया (प्राकृतकर्म) एवं निद्रा, जागरण आदि क्रियाएँ[1]

१--'**समधातुमलक्रियः**' का यह विग्रह प्रसिद्ध है--**समा धातुमलानां क्रिया यस्य सः**--ऐसा पुरुष जिसकी धातुओं-उपधातुओं तथा मलों की क्रिया सम है। **चक्रपाणि** और **डल्लन** दोनों ने यही विग्रह दिया है। परन्तु **समाः स्वं कर्म कुर्वते**--च० सू० १७।६२ के अनुसार दोष आदि की समता का लक्षण ही उनकी प्राकृत (शास्त्रोक्त) क्रियाएँ सम भाव से होना यह है; सो, जैसे इस पद्य में कहे दोषों और अग्नि के साम्य से उनकी क्रियाओं का सम होना गृहीत है, वैसे धातुओं और उपधातुओं के साम्य के कथन से भी उनकी क्रिया की समता अर्थ से स्वयं आपतित है। अतः विग्रह-विशेष द्वारा उसके ग्रहण का प्रयास अनावश्यक है। अतः इस समास का ऊपर दिया अधिक अर्थ का ग्राहक विग्रह मैंने लिया है। **डल्लन** ने एकीय मत से यह विग्रह दिया भी है। तथाहि--**क्रिया स्वप्न-जागरणादिकेति केचिद्भिन्नं क्रियाशब्दं व्याख्यानयन्ति।** आतमा का अर्थ उल्लन ने देह दिया है--**आत्मा देहः।** धातु शब्द से धारण-क्रिया के साम्य से उपधातुओं→

सम हैं, अतएव जिसका शरीर, इन्द्रिय तथा मन प्रसन्न (ग्लानिरहित) हैं उसे स्वस्थ कहा जाता है।

प्रसन्नेन्द्रियता : स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण--

शास्त्रों में शरीर और अङ्ग-प्रत्यङ्गों के स्वास्थ्य और दीर्घायु के सूचक लक्षणों के प्रसंग में कहा गया है कि--प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पुरुष को अपनी मध्यमांगुलि की चौड़ाई से माप करते हुए अमुक-अमुक अंगुलि-प्रमाण होता है[1]। साथ ही प्राकृतावस्था में दोषों, धातुओं और मलों का अञ्जलि-प्रमाण भी बताया गया है।[2] अवयवों का पृथक् प्राकृत[3] स्वरूप तथा धातुसारता के लक्षण[4] आदि का निर्देश भी इस दृष्टि से हुआ है। एवं, गत अध्याय में दर्शाए अनुसार--दोषादि की साम्य आदि अवस्थाओं का यह सामान्य लक्षण भी बताया गया है कि--दोषादि सम हों तो उनकी प्राकृत क्रियाएँ समभाव से होती हैं, वे प्रकुपित हों तो उनकी यही क्रियाएँ अधिक (प्रमाण और बल में अधिक) होती हैं, अथच वे क्षीण हों तो उनकी इन क्रियाओं के प्रमाण और बल का ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्य के ये सर्व लक्षण सत्य हैं इसमें संशय नहीं। तथापि इनमें मुख्यतया द्रष्टव्य लक्षण प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः ही है। दोषादि सम हों तो आत्मा, इन्द्रिय और अन्तःकरण प्रसन्न (प्रफुल्ल) रहते हैं। वे ही विषम हों तो आत्मा आदि अप्रसन्न (हर्षक्षय, ग्लानि या अवसाद को प्राप्त) हो जाते हैं[5]। अतएव आत्मा की

←का भी ग्रहण चक्रपाणि ने किया है--**धातुग्रहणेन उपधात्वादीनां धारकाणां ग्रहणम्।**

१--देखिए--सु० सू० ३५।५-१५।

२--देखिए च० शा० ७।१५। ३--देखिए च० शा० ८।५१।

४--देखिए च० वि० ८।१०२-११५; सु० सू० ३५।१६।

५--ऊपर सुश्रुत का पद्य उद्धृत किया है। चरक-संहिता में देवराज इन्द्र के पास रोग-पीड़ित मानव जाति के उद्धार की इच्छा से गए हुए ऋषियों को (जो स्वयं भी रोगाक्रान्त थे) देखकर इन्द्र ने उनकी जिन शब्दों में परीक्षा की वे भी इसी बात के द्योतक हैं। देखिए--

अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्त्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च। ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम् --च० चि० १।४।४।

अहो ब्रह्मर्षियो, देखते हैं बस्ती में निवास करने के कारण तत्काल और अनुबन्ध (लौङ्ग रन) में दुःखदायी ग्लानि (म्लानता, अप्रसन्नता), प्रभावशून्यता, स्वरभेद (स्वर की विकृतियाँ) तथा विवर्णता (वर्णनाश या वर्ण की विकृतियाँ)→

प्रसन्नता ही स्वास्थ्य का प्रमुख लक्षण है तथा आत्मादि की अप्रसन्नता ही अस्वास्थ्य का मुख्य लक्षण है। स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य के शेष लक्षण इस एक-एक लक्षण के ही हेतुभूत किंवा परिवार-भूत हैं।--

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्॥
सु० सू० १५।३९

पुरुष की इन्द्रियाँ अप्रसन्न हों तो निपुण वैद्य को अनुमान से जान लेना चाहिए कि दोष, धातु, उपधातु तथा मल विषम (वृद्धि या ह्रास युक्त) हो गए हैं।

पूर्वोक्त स्वस्थ-लक्षण की टीका में चक्रपाणि कहता है--दोष, अग्नि आदि अन्तर्वर्ती (अप्रत्यक्ष) होने से उनकी परीक्षा संभव नहीं है। अतः स्वास्थ्य का प्रत्यक्ष लक्षण बताया है--प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः। आत्मा आदि तभी प्रसन्न रहते हैं जब वे अग्नि आदि के वैषम्य-रूप दुःखोत्पादक विकार से रहित होते हैं। दुःखोत्पादक हेतु का संसर्ग हो तो आत्मा आदि की प्रसन्नता हो ही नहीं सकती।--

तेन प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणमव्यभिचारि व्यक्तं च। तत्परिकरतया वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधान-मिति युक्तं पश्यामः॥

सो, आत्मा (शरीर), इन्द्रिय और मन इनकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्य का नियत (अव्यभिचारी) और प्रत्यक्ष लक्षण है। शेष समदोषता आदि लक्षणों का कथन केवल इस कारण किया गया है कि, ये लक्षण आत्मा आदि की प्रसन्नता के परिवार-तुल्य हैं--अङ्गभूत हैं, साथ ही इनका प्रतिपादन करने से वैद्यक के दोष-विषयक प्रसिद्ध सिद्धान्त का निरूपण भी हो जाता है। अर्थात् दोषादि की समता और विषमता जैसे सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का उल्लेख स्वस्थ और अस्वस्थ पुरुष के लक्षण के प्रसङ्ग में न किया गया होता तो प्रकरण अपूर्ण-सा भासित होता[1]।

←आपको पीड़ित कर रहे हैं। यत्सत्यं, ग्राम-वास (बस्ती में रहना) सर्व अहितों का मूल है।

यह ग्रामवास कैसे रोगोत्पत्ति का हेतु है, इस विषय के प्राचीन वचनों का अर्थ-सहित संग्रह **आयुर्वेदीय हितोपदेश** में देखिए।

१--दोषों के साम्य से ही अग्नि आदि का साम्य उपलब्ध है, उनके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं थी, ऐसा कोई प्रश्न कर सकता है। इसका उत्तर→

आत्मादि की प्रसन्नता ही स्वास्थ्य और उनकी अप्रसन्नता ही अस्वास्थ्य होने से आयुर्वेद में स्वास्थ्य का एक पर्याय सुख है, तथा अस्वास्थ्य का अपर नाम दुःख है।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥

च० सू० ९।४

स्मरण रहे, चरक ने भी दोषादि का अञ्जलि-प्रमाण बताया है। परन्तु प्रकरण के प्रारम्भ में ही उसने भी कहा है--

तच्च (अञ्जलिसंख्येयं) वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव ॥

च० शा० ७।१५

अञ्जलि से जिनका प्रमाण बताया है उन सबका वृद्धि और ह्रास होता रहता है। सो, उनका यथास्थित प्रमाण वास्तव में तो तर्क या अनुमान का ही विषय है[1]। इस प्रकार दोनों आचार्यों में कोई मत-भेद जैसा नहीं।

रोग का चिकित्सोपयुक्त लक्षण--

आत्मादि की अप्रसन्नता रोग का नियत और स्पष्ट लक्षण होते हुए भी चिकित्सा में उपयोग की दृष्टि से अप्रसन्नता के कारणभूत दोषादि के वैषम्य को ही आयुर्वेद में रोग माना गया है तथा उनके साम्य को ही रोग कहा गया है। तथाहि--

विकारो धातुवैषम्यं[2] साम्यं प्रकृतिरुच्यते॥

च० सू० ९।४

धातुओं अर्थात् वातादि दोषों, रसादि धातुओं और रज-तम इन मानस दोषों का वैषम्य--नाम स्वास्थ्य के लिए उनका जितना प्रमाण उपयुक्त है उससे न्यूनता या अधिकता होना इसी का नाम विकार या रोग है; तथा इन्हीं के साम्य को प्रकृति या स्वास्थ्य कहते हैं।

←देते डल्हन ने कहा है कि--यह नियम नहीं है कि दोष सम हों तो अग्नि आदि सम ही हों। कारण दोनों भिन्न हैं, तथा दोनों की चिकित्सा भी भिन्न होती है। यथा--घृत तथा छागी-दुग्ध (बकरी का दूध) पित्त का निर्हरण करते हैं, परन्तु अग्नि की वृद्धि करते हैं--**पित्तहरणमपि सर्पिरजापयश्चाग्निं वर्धयति।**

१--इस विषय में सुश्रुत का मत जानने के लिए देखिए--सु० सू० १५ ३७-३९।

२--धातवो वातादयो रसादयश्च, तथा रजःप्रभृतयश्च। **--चक्रपाणि**

यद्यपि दिवस और रात्रि के काल-भेद से, भोजनकाल के सम्बन्ध से, ऋतु-भेद से एवं वयोभेद से दोषों का वैषम्य शरीर में सर्वदैव होता रहने से शरीर में दोषों का साम्य किसी भी काल में होता नहीं ; तथापि इन प्रकोपों के कारण शरीर में दोष विषम हुए हैं, ऐसा कहा नहीं जाता। क्योंकि, इन विषमताओं के अल्पमात्र होने से आत्मा आदि को अप्रसन्नता नहीं होती, अथवा उन्हें दुःख का संयोग नहीं होता और आत्मादि की अप्रसन्नता किंवा दुःखसंयोग को ही रोग कहा जाता है--

तद्दुःखसंयोगा व्याधयः—　　　सु० सू० १।२३

दोषों की तीनों अवथाओं में कर्तव्य--

दोषादि के वैषम्य का निर्देश चिकित्सा में उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता है, यह ऊपर कहा है। इस विषय की चिकित्सा में उपयोगिता इस बात से है कि दोषों की तीनों अवस्थाओं में वैद्य का कर्तव्य पृथक् होता है। तथाहि--

दोष आदि सम हों तो स्वस्थवृत्तोक्त दिनचर्या और ऋतुचर्या के पालन द्वारा उनके साम्य का संरक्षण करना चाहिए। दोष, धातु और मल क्षीण हों तो उन्हें अपनी-अपनी वृद्धि करनेवाले समानगुण युक्त द्रव्यों और कर्मों के सेवन से बढ़ाते हुए समावस्था तक लाना चाहिए। दोष यदि वृद्धि को प्राप्त हों तो यथावश्यक निदान-परिवर्जन, संशमन तथा संशोधन उपचारों द्वारा उनको समावस्था में पहुँचाना चाहिए[1]।

दोषों द्वारा रोगोत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विशद उल्लेख प्राचीनों ने रोगों के विविध वर्गीकरण तथा पञ्चनिदान[2] के रूप में किया है। अतः दोषों के विषय में पृथक् अधिक उल्लेख न कर प्रथम रोगों के वर्गों का विवरण करेंगे, पश्चात् पञ्चनिदान या निदान-पञ्चक का निरूपण किया जाएगा।

वर्गीकरण का प्रयोजन : रोगों की असंख्यता

त एवाऽपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थान　　नामभिः॥

१--देखिए—सु० सू० १५।४० ; सु० चि० ३३।३ डल्हन टीका-सहित।

२--रोगों के ज्ञान के साधनभूत **निदान** (रोग-कारण), **पूर्वरूप**, **रूप** या **लक्षण**, **संप्राप्ति** (रोगजनक दोष के संचय से रोगोत्पत्तिपर्यन्त इतिवृत्त का व्यौरा) तथा **उपशयानुपशय** (हित-अहित आहारादि) इन पाँच को पञ्चनिदान या **निदानपञ्चक** कहते हैं। इनका विवरण आगे आएगा ही।

व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥

च० सू० १८।४२-४३[1]

रोगों के निदान-लक्षण-चिकित्सा की प्रस्तावना में प्राचीन आचार्यों ने अपनी शैली का स्वरूप बताया है। वे कहते हैं, आगे कहे जानेवाले ततत् कारण को दृष्टि में रखा जाय तो रोग संख्यातीत हो जाते हैं। प्रत्येक का पृथक् वर्णन करना किसी भी अवस्था में शक्य ही नहीं—

नानारूपैरसंख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः।
तापयन्ति तनुं, तस्मात् तद्धेत्वाकृतिसाधनम् ॥
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥

अ० हृ० सू० १२।३०-३१

परन्तु रोगों का वर्णन किए विना कार्य-सिद्धि भी नहीं हो सकती। अतः मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया है। रोग भले असंख्य हों, पर इतना निश्चित है कि सबके मूल तो अन्त को मर्यादित संख्यावाले ही हैं। शारीर सभी रोग वात-पित्त-कफ से और मानस सभी रोग रज और तम से (इनके प्रकोप तथा सत्त्व के क्षय से) होते हैं। इसलिए पद्धति यह रखी गयी है कि, दोनों के वैकारिक गुण-कर्मों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। पश्चात् व्याख्यार्थ रोगों को प्रथम स्थूल वर्गों में संगृहीत किया गया है, इसके अनन्तर उन आविष्कृत-तम (या स्थूल) अर्थात् लोक में जिनकी उपलब्धि प्रायः होती है, तथा प्राचीन आचार्यों ने भी जिन ही का उल्लेख विशेष रूप से किया है ऐसे ज्वर, अतिसार, उदर, प्रमेह आदि कतिपय रोगों के निदान-लक्षण-चिकित्सा का उदाहरणत्वेन उल्लेख कर दिया गया है।

दोष-दर्शन : वैद्य का कर्तव्य—

ऐसी स्थिति में यह संभव है कि, चिकित्सा-व्यवसाय में वैद्य को ऐसे रोगों का सामना करना पड़े, जिनका उल्लेख शास्त्र में न हुआ हो। यह भी संभव है कि, कदाचित् शास्त्र में उस रोग का उल्लेख हुआ हो, गुरु ने भी उसका अध्यापन किया हो, परन्तु यही वह रोग है इस प्रकार की स्मृति चिकित्सक को समय पर

१—देखिए च० सू० १८।४२-४७; च० सू० १६।५; च० सू० २०।३; च० वि० ६।५-७; च० चि० ३०।२९१-९२; सु० सू० ३५।१९; अ० हृ० सू० १२।३०-३१ तथा इनकी टीकाएँ।

न हो। इस स्थिति में भी चिकित्सक को किंकर्तव्यविमूढ़ होना योग्य नहीं। उसके लिए कर्तव्य का निर्देश करते पूर्वाचार्य कह गए हैं--

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात् तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत्॥

सु० सू० ३५।१९

दोषों के विना, उनकी क्षय-वृद्धि के विना तो रोगोत्पत्ति होनेवाली नहीं है, यह निश्चित बात है। अतः जिस रोग का वर्णन शास्त्र में या आगम-काल में (अध्यापन-काल में) आया नहीं है, उसमें भी दोषों के लक्षणों को देखकर तदनुरूप उपचार करना चाहिए।

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम्॥
दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति॥

च० चि० ३०।२९१-९२

रोगों के असंख्येय होने के कारण नाम और रूप (लक्षण) से अर्थात् इस लक्षण-समुदाय वाले रोग का यह नाम होता है, इस पद्धति से जिन रोगों का उल्लेख न हुआ हो, उनमें भी मुख्यतया दोष, दूष्य और निदान (रोग-कारण) को लक्ष्य में रखकर उनके विपरीत गुण-कर्म वाला उपचार किया जाए तो रोग की नियत शान्ति होती है।

यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं न स मुह्यति कर्मसु॥

च० सू० १८।४७

जो वैद्य दोषादि तीन को दृष्टि में रखकर चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त कर शास्त्रानुसारिणी क्रिया करता है, व्यवसाय में वह कभी मोह (किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता) को प्राप्त नहीं होता। चिकित्सा-काल में विशेष स्मरणीय सूत्र यह है कि--

विकारनामाकुशलो न जिह्नीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

च० सू० १८।४४

वैद्य किसी रोग का नामतः निर्देश न कर सके तो उसे इसमें लज्जा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण सभी रोगों का तो नामतः निर्देश हो नहीं सकता। सत्य यह है कि, चिकित्सा में यह ज्ञान ही उपकारी होता है कि, रोग वातादि दोषों से उत्पन्न होते हैं। नाम-ज्ञान तो व्यवहार के ही लिए होता है, स्वरूपतः उससे चिकित्सा में कोई प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती।--

एवं मन्यते, यद्वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणामुपकारि। नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं, न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति ॥ उक्त स्थल पर चक्रपाणि

पाश्चात्य चिकित्सा में रोगों, उनके कारणभूत जीवाणुओं, उनके अधिष्ठानभूत पेशी, नाड़ीसूत्र आदि अवयव इत्यादि के लम्बे-लम्बे और विकट नामों का पदे-पदे उच्चार होता है। प्रायः चिकित्सा का क्षेत्र उतना पूर्ण नहीं होता। नामनिर्देशमात्र चिकित्सा-पद्धति एवं चिकित्सक की कीर्ति को उज्जवल करने के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रसिद्ध उदाहरण लें। आयुर्वेद में न्यूमोनिया, टायफॉयड, पैरा टायफॉयड आदि का नामतः निर्देश नहीं है। तथापि वैद्य इनको द्वंद्वज या समवायज मानकर सफल चिकित्सा करते देखे जाते हैं।

व्यवसाय में देखते ही हैं, प्रायः ऐसे अनेक रोगों और लक्षणों के समुदाय वाले रोगी आते हैं, और कभी-कभी तो प्रतिदिन लक्षणों में यत्किंचित् परिवर्तन भी होता देखा जाता है कि, उनको समझने और उनकी चिकित्सा करने में केवल ग्रन्थज्ञान उपयोगी नहीं होता। चिकित्सक को उनमें अपनी बुद्धि कसनी पड़ती है। जिसने अमुक रोग पर अमुक और अमुक रोग पर अमुक योग (नुसखा) उपयुक्त होता है, केवल इस रीति से योग-ज्ञान पर ही भार दिया है, उसे सिद्धि नहीं मिलती। मिलती है तो यादृच्छिक (आकस्मिक) ही। तन्त्रकर्ता कह गए हैं--देश, काल, बल आदि दस भावों (वस्तुओं) को दृष्टि में रखकर चिकित्सा करनी चाहिए, केवल योगों से नहीं। तथाहि--

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति[1]।
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः॥
तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्॥
च० चि० ३०।३२०, ३२६

१--अपराध्यति--लक्ष्यवेध नहीं करता है।

रोगों की असंख्यता के कारण

रोग असंख्य होने से विद्यार्थी के दिग्दर्शनार्थ दोषों का पूर्ण विवरण देकर, रोगों का वर्गीकरण एवं कतिपय रोगों का निदानादि पूर्वाचार्यों ने दिया है, यह हमने ऊपर लिखा है। रोगों की असंख्यता के कारण भी पूर्वाचार्यों ने बताए हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा की विशिष्ट पद्धति समझने के लिए उनको समझ लेना भी उपयुक्त है।

अंशांशविकल्प--

रोगों के संख्यातीत होने में प्रथम कारण यह है। यद्यपि आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि, रोग दोषों के प्रकोप से होते हैं और उनके प्रकोप का भी कारण प्रकोपक आहारविहारादि का सेवन है, तथापि इनकी विगत (विस्तार, व्यौरा) में कुछ विशेष ज्ञातव्य है।

हम जानते हैं, आगे अधिक विस्तार से देखेंगे भी कि, प्रत्येक दोष के अमुक-अमुक गुण तथा प्रकृति-विकृति-सूचक कर्म होते हैं। जिन कारणों को किसी दोष का प्रकोपक कहा जाता है वे, निश्चित नहीं कि, उस दोष के सभी गुण-कर्मों की वृद्धि करते हों। प्रसंगवश यह भी समझ लेना चाहिए कि जिन आहार-विहारादि को दोष-विशेष का शामक कहा जाता है वे भी उस दोष के सभी गुण-कर्मों का प्रशमन करते हों यह बात नहीं। कोई प्रकोपक (या शामक) कारण प्रकोप्य (या प्रशमनीय) दोष के सभी गुण-कर्मों को प्रकुपित (या प्रशमित) करता है तो किसी का कोपक (या शामक) प्रभाव दोष के किसी एक या अनेक गुणों या कर्मों पर होता है--सब पर नहीं। परिणामतया, रोग-परीक्षा में केवल यह देखना पर्याप्त नहीं होता कि, किस दोष का प्रकोप या क्षय हुआ है। किन्तु इस बात की परीक्षा करना अभीष्ट और चिकित्सा में साधक होता है कि, प्रकुपित दोष के किस या किन गुणों या कर्मों का प्रकोप हुआ है और क्षीण हुए दोष-विशेष के किस या किन गुण-कर्मों का क्षय हुआ है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक होता है कि, प्रकुपित या क्षीण गुण-कर्मों के प्रकोप या क्षय का तारतम्य (प्रमाण, अनुपात, प्रपोर्शन) कितना है? चिकित्सा की योजना करते हुए भी वृद्ध या क्षीण दोष की वृद्धि या क्षय का प्रमाण देखकर उसी प्रमाण में विरोधी गुण या कर्म करनेवाले द्रव्य, विहार आदि की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार दोष-विशेष के प्रकुपित या क्षीण हुए गुण-कर्मों तथा उनके तारतम्य के विचार को संप्राप्ति के प्रकरण में अंशांश-कल्पना, अंशांशविकल्प या केवल विकल्प[१] कहा गया है। इसके उदाहरण आगे दिए जाएँगे।

१--अंश=दोष का गुण या कर्म ; कल्पना या विकल्प=विचार, विवेचन।

यद्यपि सिद्धान्त यह है कि, दोषों के प्रकुपित या क्षीण गुण-कर्मों का विनिश्चय पृथक् करना चाहिए तथापि, जहाँ तक मैं जानता हूँ, एक-दो स्थलों को छोड़कर अन्यत्र पृथक् गुण-कर्मों की इस प्रकार परीक्षा शास्त्रकारों ने नहीं की है। ऐसे स्थलों में एक च० वि० १।१४-१७ है, जिसमें तैल, घृत और मधु में क्रमशः वात, पित्त तथा कफ के तत्तत् गुणों के विपरीत गुण होने के करण इन द्रव्यों का सतत सेवन (अभ्यास) करने से वातादि के शान्त होने के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। ऐसा द्वितीय स्थल च० चि० ३०।२३६--२८१ है। इस प्रकरण में दोषों के विविध प्रकुपित गुणों से होनेवाले स्तन्य-दुष्टि के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा पृथक् बताई हे। तथापि, अंशांश-कल्पना चिकित्सा में उपयुक्त होने से उसका अधिक विचार विदग्ध वैद्यों और अध्यापकों को करना चाहिए।

तात्पर्य, प्रकुपित या क्षीण दोष के प्रकुपित, क्षीण या सम गुणों और कर्मों तथा उनके तारतम्य का विचार करें तो रोग नामतः एक होते हुए भी तथा उनका कारण एक होते हुए भी प्रतिव्यक्ति रोग का स्वरूप यत्किंचित् भी भिन्न ही होगा, यह स्पष्ट है।

शरीर-परमाणुओं की असंख्यता--

इस प्रकार वात-पित्त कफ एवं रजस्-तमस् भेद से रोगों की संख्या मर्यादित होते हुए भी उनके गुण-कर्मों के तारतम्य-भेद से रोग संख्यातीत हो जाते हैं। रोगों के संख्याभेद का अन्य कारण दूष्यों का असंख्य होना है। धातु, उपधातु, मल, स्रोत, आशय तथा यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, क्लोम आदि अवयव दोषों की दुष्टि के आश्रय या दूष्य कहे जाते हैं। यों तो इनकी भी संख्या बड़ी होने से रोगों की गणना करना दुर्धट कार्य है, तथापि इनके अवयवभूत शरीर-परमाणु (आधुनिकों के कोष, सेल) तो वस्तुतः असंख्य होने से उनके भेद से रोगों के भेदों का भी असंख्य होना स्वाभाविक है। इन शरीर-परमाणुओं को लक्ष्य में रखकर कहा गया है--

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्याद्तीन्द्रियत्वाच्च[1] ॥ च० शा० ७।१७

१--इस विषय में अधोलिखित वचन भी द्रष्टव्य है--

सर्व एव त्ववयवाः परमाणुभेदेनातिसौक्ष्म्यादसंख्येयतां यान्ति ॥

—अ० सं० शा० ५

दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः ॥

च० सू० २०।३ पर चक्रपाणि

परमाणुओं के भेद से शरीरावयव अगणित हैं। कारण, परमाणु अत्यधिक, अतिसूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होने से असंख्य हैं।

यहाँ शरीर-परमाणु का अर्थ सांख्यों के तन्मात्र, जिन्हें महाभूतों का सूक्ष्म रूप भी कहा जाता है, ग्रहण करना योग्य नहीं है। कारण, संहिताकारों ने स्पष्ट कहा है कि स्थूल भूतों से परे की वस्तु हमारा विषय नहीं है--

भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते॥

सु० शा० १।१३

अवयव-भेद से शरीर-परमाणु भिन्न-भिन्न स्वरूप, प्राकृत कर्म तथा विक्रिया (रोग) वाले होते हैं। नव्य मत की कुछ सहायता लेते हुए इस विषय के एक-दो उदाहरण लें। वातज विकृतियों में कृशता (एट्रॉफी) की गणना प्राचीनों ने की है। यह विकृति पित्तधरा कला (ग्रहणी) के परमाणुओं में हो तो पाचक पित्त की उत्पत्ति सम्यक् न होने से अग्नि की मन्दता आदि विकार होते हैं। यही कृशता-रूप विकृति अग्न्याशय (पेन्क्रियास) के परमाणुओं में हो तो उनसे स्रुत होनेवाले इन्स्युलीन-नामक धात्वग्नि का स्वरूप तथा प्रमाण हीन प्रकार का होने से मधुमेह होता है। ये दोनों वातज विकृतियाँ ऐसी होती हैं कि विकृत परमाणुओं को पुनः प्राकृत स्वरूप में लाना शक्य नहीं होता। इसी कारण वातज ग्रहणी तथा मधुमेह प्राचीनों ने असाध्य कहे हैं। कफज मूत्रमाधुर्य (इक्षु मेह, शीतमेह) की गणना साध्य मेहों में की गयी है। क्योंकि प्रायः केवल निदान-परिवर्जन से अर्थात् मधुररस और मधुरविपाकी द्रवों के त्याग और शारीरिक परिश्रम के सेवन आदि से ये अच्छे हो जाते हैं। इसी कारण मूत्र-माधुर्य से आक्रान्त रोगी उपस्थित होने पर प्रथम मीमांसा करनी चाहिए कि रोग का कारण वात-प्रकोप है या कफ-प्रकोप।

मधुमेह (पर्याय क्षौद्रमेह; वातज मूत्रमाधुर्य) में वातप्रकोप वश एक अन्य विकृति होना संभव है। वात के प्रकोप के लक्षणों मे एक सुषिरता है। इसका अर्थ छिद्रयुक्तता तथा उसके कारण पदार्थ के घनत्व की अल्पता होना है। अर्वाचीन क्रियाशारीर में विद्यार्थी पढ़ आए हैं कि, प्रत्येक शरीर-परमाणु (कोष, सेल) में थोड़ा रिक्त स्थान, अवकाश या छिद्र होता है। ये छिद्र एक या

←शरीर-परमाणु का अर्थ कोष लेने में एक प्रमाण है। प्राचीनों ने पुरुष-बीज का वर्णन ऐसे शब्दों में किया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वे आधुनिकों द्वारा निर्दिष्ट प्रकृति तथा विकृति के वाहक क्रोमोसोमों एवं जेनों का ही उल्लेख कर रहे हैं। सो, प्राचीनों को ऐसी सूक्ष्म बातों का भास नहीं रहा होगा ऐसा मानकर परमाणु का यह अर्थ यहाँ उड़ा देना योग्य नहीं है।

अनेक होते हैं। वात का प्रकोप हो तो इन छिद्रों या अवकाशों की संख्या तथा विस्तार में वृद्धि हो जाती है, ऐसी नव्य मत की सहायता से आयुर्वेद के मन्तव्य की व्याख्या की जा सकती है। वायु जिस अवयव के शरीर-परमाणु में स्थान-संश्रय कर सुषिरता उत्पन्न करेगा, उसके प्राकृत कर्म की हानि (ह्रास) होकर तदनुरूप विकार (रोग) होंगे। उदाहरणतया, प्रकृत (प्रस्तुत, प्रकरणगत) विकार वातज मधुमेह में अग्न्याशय के कोषों में सौषिर्य की वृद्धि होकर बड़े-बड़े अवकाश (वैक्युओल्स) बनते हैं। कोषों में ये अवकाश या छिद्र बनने का सुव्यक्त परिणाम यह होता है कि, वे धात्वग्नि-विशेष (इन्स्युलीन) को अभीष्ट प्रमाण में उत्पन्न नहीं कर सकते। होता यह है कि, अग्न्याशय के परमाणुओं के देह में धात्वंश अर्थात् उनकी रचना में कारणभूत द्रव्य वायु के प्रकोपवश क्षीण होने से ये अवकाश या सुषिर बनते हैं। सो, इनके देह में प्राकृत धात्वंश न्यून होने से धातुपाक की क्रिया (मेटाबॉलिज्म) भी ईप्सित स्वरूप और प्रमाण में नहीं होती। धातुपाक की क्रिया यथावत् न होने से धात्वग्नि (इन्स्युलीन) के निर्माण के रूप में परमाणुओं की प्राकृत क्रिया भी यथावत् नहीं होती। कारण, प्रत्येक शरीर-परमाणु या उनसे बने धातु आदि अवयवों की प्राकृत क्रिया उनमें होनेवाले धातु-पाक की सुस्थिति के ही आश्रित या अधीन होती है, और धातुपाक की सुस्थिति शरीर-परमाणुओं तथा उनसे बने अवयव की पुष्टि के अधीन होती है। अवयव-विशेष के परमाणु क्षीण (कृश या स-शुषिर) होने का परिणाम उस की प्राकृत क्रिया के ह्रास के रूप में व्यक्त होता है।

सुषिरता या छिद्रयुक्तता का एक अन्य स्वरूप यह होता है कि, शरीर-परमाणुओं या अवयवों का घनत्व न्यून हो जाता है। उनके सूक्ष्म अवयव स्वाभाविक अवस्था में निकट होने के कारण उनकी घनता का अमुक स्वरूप बनाए रखते हैं। वात का प्रकोप हो जाए तो धात्वंश की क्षीणता (क्षय, ह्रास) होने से सूक्ष्म घटक अवयवों की निकटता न्यून हो जाती है——उनके घनत्व का ह्रास हो जाता है, भौतिक विज्ञान (फ़िजिक्स) में जिसे सच्छिद्रता (पोरॉसिटी) कहते हैं वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सौषिर्य के इस प्रकार में भी धात्वंश का क्षय होने से व्याधित अवयव-विशेष के प्राकृत स्वरूप तथा प्राकृत कर्म की हानि होती है। अवयव-भेद से इस विकार का परिणाम भी भिन्न होता है। यथा, अस्थियों में इस प्रकार सौषिर्य आ जाए तो उनमें तीव्र शूल होता है। नव्य मत से इसे 'रेअरीफेक्शन' कहते हैं। यह दशा केवल रञ्जन किरणों से (एक्स-रे से) देखी जा सकती है। स्थिति बढ़ती जाए तो छिद्र बड़े, और अधिक व्यक्त होते जाते हैं। इस विकृति को नव्य मत में 'नेक्रोसिस' कहा जाता है। अस्थिगत वात और उसके कारण हुए सौषिर्य के इस प्रभेद का परिणाम यह होता है कि, अस्थियों

में भंगुरता आ जाती है। स्वल्पमात्र कारण से वे टूट जाती हैं। इन विकृतियों का मूल या आदि कारण वायु होने से, आयुर्वेदमतानुसार अस्थिक्षय के इन विकारों में एवं रिकेट्स, मृद्वस्थि (ऑस्टिओमेलेशिया) आदि अस्थिक्षय-सूचक विकृतियों में नव्य मताभियुत हो एकमात्र केल्शियम देने पर लक्ष्य न देकर क्षीर, घृत, अश्वगन्धा आदि वातशामक तथा धातुपोषक स्निग्ध द्रव्य देते हुए वात-प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिए। अस्थि भी धातुओं के अन्तर्गत एक धातु है। धातुओं की क्षीणता वायु से और पुष्टि तद्विपरीत गुण-कर्मवाले द्रव्यों के सम्यक् सेवन से होती है। अस्थि की पुष्टि के लिए स्वयं अस्थि (तरुणास्थि) के सेवन की आयुर्वेद में महिमा है, परन्तु प्राचीनों ने अस्थिविकारों के प्रकरण में स्निग्ध, बृंहण उपचारों का ही विधान किया है। प्रकृत होने से एतद्विषयक वचन देता हूँ--

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्च कर्माणि भेषजम्।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥

च० सू० २८।२६

अर्थात्--अस्थिगत विकारों में पञ्चकर्म, बस्ति, तथा तिक्तद्रव्यों से साधित क्षीरों एवं घृतों का सेवन कराना चाहिए[१]।

वैद्य भी पाश्चात्यों के अनुकरण में उल्लिखित अस्थि-विकृतियों में केल्शियम की ही परिभाषा में विचार करते हैं। क्षीण धातु की पुष्टि के लिए समान (स्वयं वह धातु), समान-गुण या समान-गुणभूयिष्ठ द्रव्यों का विधान प्राचीनों ने किया है। उसे लक्ष्य में रखते केल्शियम के कल्पों का प्रयोग अनुचित नहीं; परन्तु अस्थि वायु का आश्रयभूत धातु होने से अथच धातुओं के पोषणार्थ उष्ण-गुण वीर्य अतएव अग्निदीपन तथा स्रोतोविबन्धहर द्रव्यों का उपयोग ही उचित होने से केल्शियम के कल्प भी ऐसे ही ग्राह्य होने चाहिए जो उष्णगुणवीर्य हों, यथा गोदन्ती, कच्छपास्थि, कूर्मास्थि, शङ्ख, शुक्ति, कपर्द आदि की भस्म। ऐसी स्थिति में मुक्ता या प्रवाल सदृश शीतवीर्य द्रव्य अनायुर्वेदीय तथा दोष-सम होने से उनका व्यवहार चिन्त्य है। भैषज्यरत्नावली में अस्थिभङ्ग में कपर्दक भस्म (पीली कौड़ी की भस्म) की प्रशंसा लिखी है। वह इसी मन्तव्य की पोषक है।

क्षीर तथा घृत की नव्यमत से उपयोगिता भी अंशतः दर्शायी जा सकती है। केल्शियम के पचन में आधुनिकों ने विटामीन डी को उपयोगी कहा है। यह विटामीन डी स्नेह-विलेय होने से घी, दूध में इसका प्रमाण विशेष होता है।

१--संग्रहकार ने भी और स्पष्ट कहा है :--
अस्थिक्षयजान् बस्तिभिः तिक्तकोपहितैश्च क्षीरसर्पिर्भिः॥

अस्तु, चिकित्सोपयोगी इतना विवरण करने के पश्चात् अब मैं पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ।

वातवश धातुक्षय (घटक शुद्ध धातु का नाश) होने से फुफ्फुसों में कभी-कभी छोटे या बड़े सुषिर (केविटी) हो जाते हैं। नव्यमत से इनके कारण रस-रक्त की शुद्धि के लिए जितना धातु चाहिए वह न मिलने से शरीर में प्राण (कार्बन डाइ ऑक्साइड) का संचय होता है। प्राण का एक कार्य प्राचीन तथा नवीन उभय मत से श्वसन है। संचित हुआ यह प्राणवायु प्रकुपित अर्थात् रोगोत्पादनक्षम होता है तो उसकी यह प्राकृत क्रिया (श्वसन, रेस्पिरेशन) बढ़ जाती है। श्वसन की वृद्धि अर्थात् निःश्वासोच्छ्वास की प्रतिमिनट संख्या में हुई वृद्धि को श्वास रोग कहा जाता है। यह स्थिति राजयक्ष्मा में होती है।

अवयवों के शरीर-परमाणुओं के समान स्रोतों तथा उनके घटक शरीर-परमाणुओं पर दोषों का प्रभाव होने पर भी स्रोतो-भेद से परिणाम-भेद होता है। गत अध्याय में हम प्राणवह स्रोत, हृदय के रस-रक्तवह स्रोत, पुरीषधरा कला, पित्त-प्रसेक तथा तिर्यग्गामी रस-रक्तवह स्रोतों (पेरीफेरल वेसल्स) पर वायु की क्रिया होने से होनेवाले भिन्न-भिन्न रोगों का निर्देश कर आए हैं। इस प्रकरण में उन्हें पुनः स्मरण किया जा सकता है। विषय के वैशद्य के लिए यहाँ पुनः एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ।

कफोन्माद (मेलनकोलिया) नाम सूचित करता है तदनुसार इस रोग में निदान कफ का प्रकोप होता है। इसके प्रकोप के स्थान-संश्रय के भेद से अरुचि, प्रतिश्याय, कास आदि लक्षण होते हैं। उनका स्वरूप स्पष्ट समझा जा सकता है। इसम बुद्धि की मन्दता तथा निश्चेष्टता एवं मौन आदि जो लक्षण होते हैं, जो इसके प्रत्यात्म-लक्षण हैं, उनकी संप्राप्ति एक-दो शब्दों में समझना आवश्यक है। हम जानते हैं, कफ का प्रधान गुण मन्द है। अन्य अवयवों के समान हृदय से निकल कर बुद्धि तथा इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत शिर में जानेवाली धमनियों पर (रस-रक्तवह स्रोतों पर) भी मन्द गुण का प्रभाव होता है। परिणामतया, शिर के अन्तर्गत अवयवों को रस-रक्त तथा आकाशामृत न्यून प्रमाण तथा न्यून वेग (मन्दता) से पहुँचता है। इससे तर्पक कफ की पुष्टि असम्यक् होती है। फलस्वरूप बुद्धि तथा इन्द्रियों के अधिष्ठानों का तर्पण-पोषण यथावत् न होने से इन्द्रियों तथा उनकी क्रियाओं में भी मन्दता आती है। अन्त को वे सब लक्षण प्रादुर्भाव होते हैं, जो मिलकर कफोन्माद (मेलनकोलिया) कहलाते हैं।

आयुर्वेद में जहाँ-जहाँ रोगों के निदान-संप्राप्ति के प्रसंग में दोषों के द्वारा स्रोतोरोध, स्रोतोदुष्टि, स्रोतोवैगुण्य आदि शब्दों से स्रोतों के विकृत होने की बात आती है वहाँ-वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिए। अर्थात्-उन

प्रकरणों में विचार करना चाहिए कि कौन दोष प्रकुपित है, एवं उसके विशेषतया प्रकुपित किस गुण या कर्म ने किस अवयव के किस स्रोत पर क्या प्रभाव किया है? साथ ही तत्तत् अवयव पर भी प्रकुपित दोष प्रकुपित (या क्षीण) दोष एवं गुण-कर्म की क्रिया समझनी चाहिए।

प्रकुपित दोष एक ही होते हुए भी दोष-प्रकोपक कारण (मिथ्याहार-विहार) के भेद से भी रोगों का भेद होता है। चिकित्सा की दृष्टि से यह भेद भी अविस्मरणीय है। यथा, वात का प्रकोप रूक्ष आहार से भी होता है और रात्रिजागरण से भी। परन्तु दोनों वात-प्रकोपों में कारण भेद होने से चिकित्सा में भिन्नता होती है। रूक्षाहार से हुए वातप्रकोप में स्निग्धभोजन ही चिकित्सा है, जब कि रात्रिजागरणोत्थ वातप्रकोप में दिवास्वप्न ही चिकित्सा है। इस विषय का एक और प्रसिद्ध उदाहरण लें। कामला कफ-प्रकोप से भी होती है, तथा पाण्डुरोग ही अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हो तब भी होती है। प्रथम भेद म कफ के शोधन-शमन को दृष्टि में रखना चाहिए तथा द्वितीय भेद में पाण्डुरोग की ही चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कामला के जो कारण ज्ञात हुए हैं, उन कारणों से हुई कामला में कारणानुरूप भिन्न ही चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिए। अन्य रोगों की भिन्नता का विचार भी इस प्रकार किया जा सकता है।

रोग एक ही हो, लक्षणादि भी समान हों तो भी लक्षणों, वेदनाओं तथा त्वचा-मल-मूत्रादि के वर्ण इत्यादि के प्रमाण में तारतम्य होने से भी रोगों की भिन्नता स्वीकार करनी पड़ती है। कारण, और कुछ नहीं तो औषध तथा अनुपान की मात्रा में तो इस तारतम्य-भेद से भिन्नता होती ही है।

रोगों की भिन्नता के कारणों में शारीर-मानस प्रकृति को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। इस विषय में सत्त्वसार पुरुषों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। सत्त्वसार पुरुष महान् भी रोग को बड़े धैर्य और शान्ति से सहन करते हैं, अतः उनके रोग को छोटा समझ लेने तथा उपेक्षा करने की भूल कभी न करनी चाहिए। असत्त्वसार पुरुष छोटे रोग को भी अधीरता (घबराहट) के स्वभाव के कारण भारी रूप दे देते हैं। उनके रोग को बड़ा न मान लेना चाहिए। आधुनिकों ने ऐसा ही एक विकार पक्वाशय की विकृति से होता हुआ बताया है। इसमें पुरुष अत्यन्त निःसत्त्व होता है। इस रोग को 'कोलन न्यूरॉसिस' कहते हैं। वातप्रकृति (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट वाले) पुरुष रोग न हो तो भी उसकी कल्पना कर लेते हैं या स्वभाव से बाधित हो मिथ्या-भाषण करते हैं।

इसी प्रकार रोगों की असंख्यता का विचार अधिक किया जा सकता है। इन सब प्रभेदों को स्मरण रखने का प्रयोजन यही है कि —जैसा कि ऊपर कहा,

कारण इत्यादि की भिन्नता इतनी अधिक देखी जाती है, कि प्रत्येक पुरुष को हुए रोग को पृथक् ही रोग मानकर उसकी परीक्षा और चिकित्सा करनी चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा में, विशेषतः मन का अध्ययन अधिक विशद रूप में जब से प्रारम्भ होने लगा है तब से प्रति-व्यक्ति रोग का विचार करने की पद्धति ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। अब यह सूत्र-सा बन गया है कि, रोग के लक्षणों की परीक्षा न कर रोग कैसे (किस स्वभाव के) पुरुष को हुआ है, इस बात की ही परीक्षा करना उपयोगी है। आयुर्वेद तथा प्राचीन भारतीय शास्त्रों में तो शरीर और मन का परस्पर गाढ़ संबन्ध बताया ही गया है। शारीर दोषों, धातुओं तथा मन के परस्पर संबन्ध का अधिक विस्तार से विचार मैंने अपने आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में किया है। विशेष वहीं देखना चाहिए। कारणों की भिन्नता को लक्ष्य में रखकर आयुर्वेद का तो प्राचीन सिद्धान्त ही है--

पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य--

योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥

च० सू० १।१२३

देश और काल का विचार कर, प्रत्येक रोगी की पृथक्-पृथक् परीक्षा कर तदनुरूप जो वैद्य औषधों की योजना करता है वही वैद्य-शिरोमणि है।

प्रकरण समाप्त करने के पूर्व इसके अंशभूत अंशांश-विकल्प के विषय में एक संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। संहिताओं के अनुशीलन से विदित होता है कि, प्राचीन काल में रस-चिन्तक नामक एक बड़ा संप्रदाय था, जो मधुरादि रसों को दृष्टि में रख कर ही चिकित्सा करता था। इस संप्रदायवालों की विचारों की पद्धति यह थी कि, उपस्थित रोगी में कौन दोष कितने अंश में प्रकुपित क्षीण या सम है, इसकी परीक्षा कर वे निर्णय करते थे कि किस-किस रस के कितने-कितने प्रमाण में सेवन करने से प्रकुपित दोष समावस्था में आ सकता है, क्षीण दोष की वृद्धि होकर वह भी सम हो सकता है तथा सम दोष की समावस्था यथा-स्थित रह सकती है। इस दृष्टि से की गयी योजना में कभी एक ही द्रव्य अपेक्षित सर्व रसों से युक्त होता है, तो कभी अनेक रसों वाले एक से अधिक द्रव्यों की योजना करनी पड़ती है। दोषों के संयोग से होनेवाले तिरसठ भेदों का तथा रसों के संयोग से होनेवाले तिरसठ भेदों का विचार तन्त्रकारों ने इसी उद्देश्य से किया है। इस रसचिन्ता की उपयोगिता अग्निवेश ने नीचे लिखे प्राणतान् शब्दों में बतायी है।

य: स्याद्रसविकल्पज्ञ: स्याच्च दोषविकल्पवित् ।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ।।
च० सू० २६-२७[१]

जो वैद्य रसों के संयोगजन्य तिरसठ भेदों तथा दोषों के संयोगजन्य तिरसठ भेदों को जानता उसे रोगों के कारणों, लक्षणों और चिकित्सा के मार्ग में किंकर्तव्य विमूढ़ता कभी पीडित ही नहीं करती ।

रोगों के प्राथमिक वर्ग : निज तथा आगन्तु

रोग इस प्रकार असंख्यात होते हुए भी पीडित मानव जाति को एवं प्राणियों और वृक्षों के भी कल्याणार्थ तथा अपनी भी वृत्ति के लिए वैद्यों को रोगों के हेतु-लक्षण-चिकित्सात्मक त्रि-स्कन्ध जानना आवश्यक तो है ही । प्राचीनों ने रोगों को विविध वर्गों में विभक्त कर इस कठिनाई का मार्ग निकाला है । उस में भी प्रथम लक्ष्य यह रखा है कि रोगों के संनिकृष्ट हेतुभूत दोषों का विवरण पृथक् तथा सविस्तर किया गया है । दोषों के प्रकोपादि से होनेवाले सामान्य लक्षणों तथा उनसे होनेवाले प्रधान नानात्मज रोगों का निर्देश इसी अध्याय में आगे करेंगे । आदि में रोगों के प्राथमिक भेद निज और आगन्तु का लक्षण-निर्देश रोगों की उनुत्पत्ति तथा चिकित्सा में उपयुक्त होने से देते हैं ।

द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम् (रोगाणाम्)-आगन्तुनिजविभागात् ।।
च० सू० २०।३

आयुर्वेद का यत्किंचित् भी अध्ययन जिस ने किया है वह जानता है कि, आयुर्वेद-मत से रोगोत्पत्ति का कारण दोषों का वैषम्य (प्रकोप या क्षय) है । परन्तु, स्पष्ट है कि, दोष विषम न हों तो भी शरीर में रोगोत्पत्ति होना संभव है ; यथा, शिर पर पत्थर लगे तो उससे व्रण आदि होना, सविष कुत्ता काटे तो उससे व्रण तथा उन्माद-विशेष के लक्षण होना ; एवं अतर्कित दुर्घटना और कभी अत्यन्त सुखदायी वृत्तान्त के भी श्रवण से हृदय पर प्रभाव होना इत्यादि विकारों में प्रथम दोष-वैषम्य नहीं होता । इस प्रकार प्रकृति (संन्निकृष्ट या प्रत्यासन्न कारण[२]) के भेद से रोगों के दो भेद होते हैं ।

१—विषय की पूर्त्ति के लिए देखिए—च० सू० २६।१४, २२-२७ ; सु० उ० ६३।३-५, १७ तथा इन पर **चक्रपाणि** और **डल्लन** की टीकाएँ ।

२—जिनका रोगोत्पत्ति से साक्षात् या सीधा सम्बन्ध हो ऐसे कारण । इन कारणों के भी कारणभूत प्रज्ञापराध आदि **विप्रकृष्ट** (परोक्ष) कारण कहलाते हैं ।

शारीर दोषों की विषमता से होनेवाले रोगों को निज रोग कहते हैं, तथा प्रहारादि बाह्य कारणों से हुए रोगों को आगन्तु रोग कहा जाता है। दोषों के तीन भेदों के अनुसार इनके पुनः चार भेद हो जाते हैं--आगन्तु, वातज, पित्तज, श्लेष्मज।

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः ॥

च० सू० २०।३

आगन्तु रोगों के भेद : शारीर तथा मानस---

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः॥

च० सू० ११।३६-३७

आश्रय-भेद से आगन्तु रोगों के दो भेद होते हैं। ये भेद चिकित्सा के भेदार्थ किए गए हैं। १--शरीर में हुए आगन्तु रोग तथा, २--मन में हुए आगन्तु[1] रोग। अधिष्ठान (आश्रय)-भेद से आगन्तु रोगों के इन भेदों की चिकित्सा में भेद होता है। शारीर आगन्तु रोगों में भी अनन्तर काल में शारीर दोषों का प्रकोप हो ही जाता है, अतः उनकी चिकित्सा निज शारीर रोगों के समान दोषों को दृष्टि में रखकर ही करनी चाहिए। मानस आगन्तु रोगों की चिकित्सा प्रीतिकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के संस्पर्श एवं धैर्य, स्मृति आदि के उदय द्वारा करनी चाहिए। अन्यत्र दिए गए रोग-विभागों में स्पष्टता के लिए मानस का पृथक् निर्देश किया गया है। यथा---

त्रयो रोगा इति—निजागन्तु=मानसाः। च० सू० ११।४५[2]

रोग तीन हैं--निज या शारीर, आगन्तु तथा मानस, मानस के पृथक् उल्लेख के अन्य उदाहरण आगे प्रकरणानुसार देंगे। प्रथम आगन्तु तथा निज रोगों के लक्षण एवं इनका परस्पर संबन्ध देखते हैं।

१—लोक में ककारान्त आगन्तुक शब्द है। आयुर्वेद में बाह्य कारणों से हुए प्रस्तुत विकारों के लिए ककार-रहित आगन्तु शब्द है।

२—सुश्रुत (सू० १।४) में सुश्रुतादि शिष्यों ने भी इन त्रिविध ही रोगों का निर्देश किया है।

आगन्तु रोगों का लक्षण[१]——

जो रोग भूत अर्थात् देव, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि वयःस्थों को पीडितकरने वाले ग्रह एवं स्कन्द, पूतना प्रभृति बालकों को पीडित करनेवाले ग्रह[२] ; अनेक

१—देखिए—च० सू० ७।५१ ; च० सू० ११।४५ ; च० सू० २०।४ ; सु० सू० १।२५ (१)। आगन्तु शोथ के च० सू० १८।४ में दिए लक्षण भी यहाँ द्रष्टव्य हैं।

२——आयुर्वेद और जीवाणुवाद

यहाँ एवं विषमज्वर के एकीय मत से कारण-प्रतिपादक वचन (**केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम्**——(सु०सू० ३९।६८) इत्यादि स्थलों में रोगों के कारणों में भूत की भी गणना की गयी है। भूत शब्द का प्राणी अर्थ प्रसिद्ध है। इस अर्थ के आधार पर कई विद्वान् प्राणि-विशेष होने से भूत से जीवाणुओं का ग्रहण करते हैं। वह चिन्त्य है।

प्रथम तो जीवाणु प्राणिवर्गीय द्रव्य नहीं हैं। प्रायः जीवाणु उद्भिद्-वर्गीय (वनस्पति-वर्गीय) हैं। इसी से नवीन लेखक इन्हें जीवाणु के स्थान पर **तृणाणु** कहना उपयुक्त समझते हैं। दूसरे, आयुर्वेद में भूत एक पृथक् योनि मानी गई है। उससे उत्पन्न होनेवाले रोगों के लक्षण-चिकित्सा के प्रतिपादन के लिए भूतविद्या आदि नामों से एक पृथक् ही अङ्ग की रचना प्राचीनों ने की है। केवल एक स्थल पर आए भूत शब्द तथा वचन-विशेष का जीवाणु अर्थ करने से प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती। संपूर्ण आयुर्वेदीय वाङ्मय में तथा इतर प्राचीन साहित्य में भी जहाँ-जहाँ भी भूत शब्द आया है, उन सब वाक्यों का जीवाणुपरक अर्थ करके दिखाना गलेपतित है। इसके अतिरिक्त, तत्तत् भूत के आवेश के उदाहरण लोक में आज भी देखे जाते हैं और इनका उपचार कायचिकित्सकों द्वारा किया जाने पर भी सिद्धि नहीं मिलती। अन्त को भूतविद्या-विशारदों के उपचार से ही रोग-निवृत्ति होती है। (उदाहरणतया, देखिए—**सचित्र आयुर्वेद** के जुलाई १९५० के अङ्क में डॉ० भट्टाचार्य का लेख——आयुर्वेदोक्त भौतिक नाड़ी)

स्वीकार करता हूँ कि, प्राचीनों को एक पुरुष से अन्य पुरुष में रोग की संक्रांति का ज्ञान था, जिसके लिए **'प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शात्'** (सु० नि० ५।३३) आदि वचन प्रस्तुत किए जाते हैं, यह भी स्वीकार करता हूँ कि, कदाचित् प्राचीनों को जीवाणुओं का ज्ञान था, जिसका विवेचन सिद्धान्त-निदान प्रथम खण्ड में कविराज गणनाथसेन जी ने, मराठी मासिक पुरुषार्थ के वेदाङ्क तथा वेद में रोगजन्तु-शास्त्र पुस्तक में पण्डित सातवलेकर जी ने ; जीवाणु विज्ञान में डॉ० घाणेकर→

प्रकार का विष, यथा——सविष सर्प, कुत्ता, वृश्चिक आदि प्राणियों में विद्यमान

←जी ने, काश्यप संहिता के उपोद्घात में राजगुरु हेमराज शर्मा जी ने, डॉ० धीरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने अपनी इसी विषय की पुस्तिका में तथा अन्यान्य विद्वानों ने विभिन्न रूपों में किया है ; यह भी मुझे स्वीकार है कि, प्राचीनों ने ज्ञानतः अथवा अज्ञानतः जीवाणुहर द्रव्यों का उपयोग किया था ; (यथा, क्षय और प्रवाहिका में प्राचीन काल से चला आया लशुन का उपयोग उनके जीवाणु-नाशन कर्म के कारण साधक होता है, यह नवीन प्रत्यक्ष से विदित हुआ है ।) यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीनों को रोगों के संक्रमण का ज्ञान था तो नव्य मत से खुटती कड़ी (मिसिंग लिंक) के रूप में जीवाणु-विज्ञान को अपने शास्त्र का एक अंश मानकर उसकी पूर्त्ति हमें कर लेनी चाहिए, तथापि मुझमें जितना बल है, उस सबका उपयोग कर मैं यह भी कहूँगा कि जीवाणु-विज्ञान और आयुर्वेद के सम्वन्ध-विषयक उल्लिखित सब तथ्यों के विद्यमान होते हुए भी——प्राचीन भारतीयों ने तो **जीवाणुओं के स्थान-संश्रय के हेतुभूत दोष-वैषम्य** को ही अग्र पद दिया था । भला विचार कीजिए, भूत का अर्थ जीवाणु कर लिया, तो इसका अर्थ यही होगा कि रोगमात्र जैसा कि नव्यों का मत है आगन्तु रोगों की श्रेणी में ही समाविष्ट हो जायगा । फिर, निज रोगों का स्थान कहाँ रहेगा ? निज रोगों के भी हेतुभूत दोष-वैषम्य का, आयुर्वेद के आधार-स्तम्भ (स्थूणात्रय)-रूप त्रिदोष का, अरे, समस्त आयुर्वेद का ही स्थान कहाँ और क्या रहेगा ?

सो, कदाचित् अपने शास्त्र में कुछ त्रुटि लक्षित हो तो भी उसकी अपेक्षित पूर्त्ति कर लेनी चाहिए, परन्तु त्रिदोषवाद-रूप अपनी विशेषता पर उल्लिखित प्रकार से अज्ञानतः कुठाराघात तो कदापि न करना चाहिए । आधुनिक जीवाणु-विज्ञान भी जीवाणुओं के आश्रयभूत क्षमता (इम्युनिटी) के ह्रास को कारणतया स्वीकार करता है, उसके लिए उचित आहार-विहार का निर्देश भी करता है, परन्तु व्यवहार में जीवाणुओं को उसने मुख्य पद दे दिया है । पर, जीवाणुओं को मुख्यता देता हुआ उन्ही के संहार की चिन्ता करता हुआ वह कहाँ जा पड़ा है, विचार कीजिए !

"स्ट्रगल फॉर ऐग्ज़िस्टेन्स एंड सर्वाइवल ऑफ ध फिट्टेस्ट" (जीवन के लिए स्पर्धा और बलिष्ठतम का विजय) का जो नियम संस्कृत देशों में चल रहा है, जिसके कारण प्रत्येक प्रतिस्पर्धी देश अणु-बॉम्ब, हाइड्रोजन-बॉम्ब आदि उत्तरोत्तर अधिक संहारक शस्त्रास्त्र बनाने के प्रयत्न में पड़ा है, वही नियम **जीवाणु की जगती में भी** चलता है । मनुष्य जीवाणुओं के संहार के लिए नव-नव औषध तय्यार करता है, जीवाणु भी उसका प्रतिकार (रेज़ीस्टेन्स) करते हैं । इस→

जङ्गम विष; सोमल, हरिताल, वत्सनाभ आदि स्थावर विष; संयोगजन्य

←प्रतीकार में सफल होकर जो जीवाणु जीवित रहते हैं, उनके द्वारा उत्पादित रोग पर वह पूर्व-योजित औषध कोई क्रिया नहीं करती। परिणामतया, मनुष्य बलवत्तर औषध की शोध के लिए बाधित होता है। और ये उत्तरोत्तर बली औषध रोगबीजों पर तो क्रिया करते ही हैं, शरीर के धातुओं पर भी उनकी अहित क्रिया होती है, जिससे शरीर तत्तत् उपद्रव से पीड़ित होता है। अपरंच, रोग-बीजों को आश्रय देनेवाला विकार शरीर में ही संचित रहकर पुनः प्रकुपित होता है तथा रोगोत्पत्ति करता है। आयुर्वेद में भी दोषों के संशमन की बात कही है, पर दोषों का मूलोच्छेद करनेवाला होने से **संशोधन** को ही प्रशस्ततर तथा रोगों का अपुनर्भवकर कहा गया है। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान के ग्रंथ देखिए। नवाविष्कृत औषधों के लाभों का उल्लेख जितना स्थान घेरे है, उससे अधिक स्थान उसके उपद्रवों का होता है।

आयुर्वेद-मत से दोष-वैषम्य होने से जीवाणुओं को स्थान-संश्रय का अनुकूल अवकाश मिल जाता है। अतः विषम-दोषाक्रान्त शरीर क्षेत्र है तो **जीवाणु बीज** हैं; अथवा जीवाणु-विज्ञान की संज्ञा का उपयोग करना हो तो इस प्रकार का **शरीर जीवाणुओं के लिए अनुकूल माध्यम (मीडियम, कल्चर)** होता है। निश्चित है कि, क्षेत्र या माध्यम अनुकूल न होने से रोग-बीजों की पुष्टि नहीं हो सकती। एक अन्य दृष्टान्त लें। सब जानते हैं—शरीर, वस्त्र, भूमि आदि पर कोई मलिन वस्तु पड़ी हो तो उस पर मक्खी इत्यादि आकर बैठते हैं, मधुर वस्तु हो तो उस पर चिऊँटियाँ आती हैं, इसी प्रकार शरीर में प्रकुपित दोषों का संचय हो तो आनुकूल्य होने से जीवाणु स्थान-संश्रय करते हैं। मलिन द्रव्य हटा लें, कृमि-कीट स्वयं हट जायँगे, ऐसे ही दोषों का वैषम्य दूर कर दिया जाय रोगजनक जीवाणु अनुकूलता न होने से स्वयं शरीर छोड़ जायँगे। इस विषय में आयुर्वेद और निसर्गोपचार का मार्ग समान है।

अन्य शब्दों में **दोष-वैषम्य को जीवाणुओं का कारण भी कह सकते हैं।** रोग की व्यक्ति अवस्था होने पर, रोग के प्रत्यात्म-लक्षण उत्पन्न होने पर ही प्रायः जीवाणु दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु रोग तो आयुर्वेद मत से तब ही से आरम्भ हो जाता है और पुरुष तब ही से चिकित्सा का विषय हो जाता है, जब से उसमें दोष-विशेष का संचय होने लगता है। संक्षेप में कहे इस विषय का निरूपण आगे यथा-प्रकरण किया जाएगा।

किंबहुना—इस विवादग्रस्त विषय पर निर्णय ढूंढ़ना हो तो मेरे नम्र विचार में ग्रन्थ के आरम्भ में दिए वेदमंत्र में दी वैद्य की परिभाषा में मिल सकता है→

विष, जिसे गरविष यह भिन्न नाम दिया गया है; एवं तत्तत् कारण से मन्द-वीर्यता को प्राप्त हुआ यह त्रिविध विष, जिसे दूषीविष संज्ञा दी गयी है[1]——इन विषों का दंश, स्पर्श, भक्षण, लेपादि द्वारा शरीर से संयोग; विषदूषित किंवा उष्णवात (लू) आदि के रूप में शरीर के लिए अपाय (हानि)——कारक वायु[2]; अग्नि या प्राकृत या कृत्रिम विद्युत् से दग्ध आदि; संप्रहार (विविध शस्त्रों या अस्त्रों का प्रहार, किंवा दण्ड, पत्थर, मुष्टि आदि से अभिघात); निर्विष भी प्राणियों का नख या दन्तपात; व्यध (तीक्ष्ण शस्त्र से विद्ध होना); रज्जु

←कि, वैद्य को आम का नाश करना चाहिए, दोषों को समावस्था में लाना चाहिए और रोग-बीजों का भी संहार करना चाहिए। सम्यक् चिकित्सा आयुर्वेद-मत से वह है——

> "या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
> सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत्॥
>
> सु० सू० ३५।२३।

यथार्थ चिकित्सा वह है जो उत्पन्न रोग को शान्त करे, और नया रोग उत्पन्न न करे। वह चिकित्सा असम्यक् चिकित्सा है, जो पूर्व विद्यमान व्याधि को तो दूर करे या न भी करे, पर अन्य रोग को तो उत्पन्न कर ही दे। हमें नवाविष्कृत औषधों को अपनाते हुए यह आर्य दृष्टि अपने समक्ष रखनी काहिए। विबुध जन-विशेष विचार कर निर्णय दें।

१——विष-भेदों के ज्ञान के लिए देखिए——च० चि० २३।५-१४; सु० क० २।३-२६ तथा इनकी टीकाएँ।

२——जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों के कारणभूत दूषित वायु का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इसके लक्षणों के लिए देखिए——च० वि० ३।७। सु० क० ३ में वर्णित प्राचीन काल में प्रचरित शत्रुपीड़ाकर अपचार भी यहाँ गृहीत हैं। इनमें शत्रु अपने विरोधी देश के जल, अन्न, वायु आदि को दूषित कर देते थे। आज के हाइड्रोजन-बॉम्ब आदि शस्त्रों ने यह बाधा उग्र स्वरूप में उपस्थित कर दी है। रोगी या रोगवाहक (कैरीअर) जनों के सम्पर्क से होनेवाले औपसर्गिक (संचारी) रोगों में भी बाह्य वायु की दुष्टि कारणभूत होती है। भल्लातक-युक्त वात जिसके कारण कइयों को अति दूर स्थित भी भल्लातक शरीर में कुष्ठादि जनक दोष के अत्यधिक पूर्व-संचय के कारण त्वग्विकार उत्पन्न करता है उसकी भी गणना यहाँ की जा सकती है। कभी-कभी पुष्पों के रजोयुक्त वायु के स्पर्श के कारण ज्वर भी हो जाता है। प्राचीनों ने ज्वर-प्रकरण में इस कारण का उल्लेख किया है। नवीनों ने 'हे-फीवर' नाम से इसका वर्णन किया है।

आदि से बन्धन[१] वेष्टन ; पतन (उच्चस्थल से गिरजाना) ; पीडन (पिस जाना, दबजाना, कुचला जाना) ; अभिचार (मारण, उच्चाटन--ऊपर उड़ा देना) आदि के लिए किए आथर्वण प्रयोग--यन्त्र, मन्त्र तथा तन्त्र से क्लेश देना[२]; द्विज, गुरु, वृद्ध, सिद्ध आदि का दिया अभिशाप ; अभिषङ्ग (काम आदि मनोभावों का आवेश[३])--इन तथा अन्य आगन्तु अर्थात् शरीर से बाहर स्थित कारणों का[४] शरीर से प्रथम संसर्ग, उसके कारण पीड़ा तथा अनन्तर काल में दोषों की विषमता होने से होते हैं, उन्हें आगन्तु कहा जाता है।

आगे सुश्रुत ने रोगों के आदिबलप्रवृत्तादि सात भेद किए हैं। उनमें कहा दैवबलप्रवृत्त इस प्रकरण में आगन्तु नाम से अभिहित है, यह आगे कहे उसके लक्षण से विदित होगा।

निज रोगों का लक्षण[५]--

प्रज्ञापराध जिन में प्रमुख है उन अपने वैषम्यकारक हेतुओं से विषम हुए वात-पित्त-कफ से और क्वचित् इन्ही दोषों से दूषित हुए रक्त से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हें निज कहा जाता है।

मानस रोगों का लक्षण[६]--

आगन्तु अर्थात् बाह्य हेतुओं से हुए रोगों के अधिष्ठान-भेद से दो भेद हैं--

---

१--रक्तस्राव को रोकने के लिए व्रण-प्रदेश के ऊपर की धमनी के स्थल पर किया जानेवाला बन्धन (टूर्नीकेट) कभी-कभी अति दृढ़ बद्ध हो तो नीचे की केशिकाएँ पीड़ित होने से रस-रक्ताभिवहन बन्द होने से विसर्प-विशेष (वातिक विसर्प-ड्राई गेंग्रीन, या कर्दम-विसर्प-वेट गेंग्रीन) होता है। उसे यहाँ विशेषतः स्मरण करना चाहिए।

२--इसे संस्कृत में कार्मण (गुजराती अपभ्रंश--कामण) भी कहते हैं।

३--**अभिषङ्गः कामाद्यभिषङ्गः** --च० नि० १।३० पर **चक्रपाणि**। इस वचन से स्पष्ट है कि चरक-मत से भी मानस-रोग आगन्तुओं के अन्तर्गत ही हैं। च० सू० २०।३ की टीका में भी चक्रपाणि ने आगन्तु से मानस विकारों का गृहीत होना बताया है। ऊपर सुश्रुत-मत प्रतिपादक वचन उद्धृत किया है।

४--**बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः**--अ० सं० सू० २२।

५--देखिए--च० सू० ११।४५ ; च० सू० २०।४ ; सु० सू० १।२५ (२) तथा टीकाएँ।

६--देखिए--च० सू० ११।४५ (तथा टीका में दिया पाठान्तर) ; च० वि० ६।५ ; सु० सू० १।२५ (३)।

शारीर और मानस, यह ऊपर कहा है। इनमें मानस रोगों का मूल रज और तम इन दो मानस दोषों का वैषम्य है। इन मानस दोषों के वैषम्य से होनेवाले विकारों (रोगों) के संक्षेप में दो वर्ग किए जा सकते हैं--इच्छा (राग-विषयों की अतिशय कामना) और द्वेष। जिस विषय के स्पर्श से शरीर और मन को सुख हुआ हो उसकी प्राप्ति की कामना को इच्छा या राग कहते हैं। इसके विपरीत जिस विषय (पदार्थ) के संयोग से मन और शरीर को दुःख हुआ हो उसके प्रति अप्रीति को द्वेष कहा जाता है। सुखद होने से अभीष्ट (वाञ्छित) वस्तु की प्राप्ति के लिए, किंवा दुःखद होने के कारण द्विष्ट वस्तु के परिहार के लिए मन में जो उत्साह होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। इस प्रयत्न के परिणाम रूप में आत्मा या मन की प्रेरणा से इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तु के परिहार (उससे वियुक्ति) के लिए विभिन्न शारीरिक, मानसिक या वाचिक चेष्टाएँ होती हैं।

किसी कारण इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या प्राप्त भी प्रिय वस्तु का वियोग हो जाय ; अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और कभी इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो (यथा, लॉटरी लगना आदि से हर्ष का अति आवेश, उसके कारण उन्माद या मृत्यु) इन प्रकोपक कारणों से रज और तम का उद्रेक होकर विभिन्न मानस रोग उत्पन्न होते हैं। मानस रोगों के उदाहरण अधोलिखित हैं--काम, (इन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा), क्रोध, मोह, (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान), मान (अपने गुणों को अधिक मानना) ; मद (अपने गुणों के मान के साथ अन्य पुरुषों में उन गुणों का अभाव या न्यूनता हो तो उनका तिरस्कार--गर्व), चिन्ता, उद्वेग (घबराहट), शोक, भय, हर्ष, विषाद (मनोभङ्ग, उत्साहभङ्ग[1]) ईर्ष्या (दूसरे का उत्कर्ष सहन न कर सकना), असूया (अन्यों के गुणों में दोषदृष्टि), दीनता (दब्बूपन, इन्फीरिऑरिटी), मत्सर (औरों के गुणों की परीक्षा न करना), लोभ (औरों के द्रव्यों की इच्छा), दम्भ आदि।

हर्ष, शोक, दैन्य, काम, लोभ आदि मनोविकार इच्छा इस वर्ग के अन्तर्गत हैं तथा क्रोध, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया, मत्सर (मात्सर्य) आदि का समावेश द्वेष इस वर्ग में होता है। ज्वर, अतिसार आदि शारीर दोषों के वैषम्य से शरीर रूप अधिष्ठान (स्थान, आश्रय, क्षेत्र) में होनेवाले रोग शारीर या शरीराधिष्ठान कहे जाते हैं। उल्लिखित काम-क्रोधादि विकार जो मनोरूप अधिष्ठान में मानस दोषों की विषमता से होते हैं, मानस या मनोऽधिष्ठान

१—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः ॥

साहित्यदर्पण

कहे जाते हैं। शरीर और मन दोनों अधिष्ठानों में होनेवाले अपस्मार (मिरगी) आदि रोगों को उभयाधिष्ठान कहा जाता है[१]।

निज तथा आगन्तु रोगों में भेद और परस्पर-संबन्ध[२]

निज शारीर रोगों में दोषों का वैषम्य होता है, अतः उन्हें समावस्था में लाना ही उपचार का लक्ष्य होता है। परन्तु आगन्तु शारीर-मानस रोगों में भी अनन्तर काल में दोषों की विषमता हो जाती है। परिणामतया--"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् (सु० उ० १।२५)--निदान नाम रोग के कारणभूत दोष-वैषम्यकारक आहार-विहार का परित्याग, अन्य शब्दों में अपथ्य का सेवन छोड़ देना, अर्थापत्त्या दोष जिससे समावस्था में आए ऐसे आहार-विहार का सेवन करना--स्पष्ट शब्दों में पथ्य का पालन करना इसीका नाम संक्षेप में चिकित्सा है--यह चिकित्सा के तीन सूत्रों में प्रथम और मुख्य, जिसके विना संशोधन-संशमनात्मक शेष दो सूत्र निरर्थक हैं ऐसा, सूत्र है।" इस सूत्र के अनुसार आगन्तु शारीर और मानस रोगों में यद्यपि कारण का परित्याग (निदान-परिवर्जन) भी अभीष्ट होता है, परन्तु पश्चात्काल में शारीर-मानस दोषों की भी विषमता हो जाने से चिकित्सा में उन्हें समावस्था में लाना भी वैद्य का कर्तव्य हो जाता है।

तात्पर्य, निज या शारीर रोगों में प्रथम दोषों का वैषम्य होता है, पश्चात् उसके कारण विविध व्यथाएँ होती हैं, जब कि आगन्तु रोगों में अभिधातादिवश प्रथम व्यथा होती है, पश्चात् दोषों की विषमता। सो, दोषों की विषमता तो दोनों ही में होती है, केवल क्रम (पौर्वापर्य) में भिन्नता होती है। देखिए--

तत्र निजास्तु दोषोत्थाः। तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते, ततो व्यथाऽभिनिर्वर्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः। तेषु प्रहारेण व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येण च बहुरूपा रुगनुबध्यते, प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्धः, केवलं पौर्वापर्ये विशेषः॥ अ० सं० सू० २२

इस प्रकार जैसे आगन्तु रोग में पीछे से दोषों का प्रकोप हो जाता है, वैसे निज रोगों में भी पश्चात्काल में बाह्य कारणों से आगन्तु रोगों का अनुबन्ध होने

१—सु० सू० १।२६ तथा डल्लन-टीका।

२—च० सू० १९।७; च० सू० २०।६-७; च० वि० ६।८; अ० सं० सू० २२; सु० सू० १।२६ तथा टीकाएँ।

की संभावना होती है। जैसे, ज्वर या उन्माद दोष-विशेष से हुआ हो तो उसमें पीछे से भूतावेश भी हो सकता है। किंवा, रोगी अभिघातज ज्वर या भूतज उन्माद (भूतोन्माद) से पीडित हो तो उसमें, दोषों के लक्षण देखने से जिसका विनिश्चय हो सकता है ऐसा, निज रोग भी पीछे से हो जाता है।

शारीर-मानस आदि रोगों का परस्पर अनुबन्ध--

न केवल आगन्तु और शारीर रोगों का परस्पर अनुबन्ध होता है, शारीर पृथक् दोष-विशेष से उत्पन्न हुए रोगों में भी इतर दोष से उत्पन्न रोग का अनुबन्ध हो सकता है। प्रत्येक के पृथक् लक्षणों को दृष्टि में रखा जाए तो किस दोष का प्रथम और प्रधान प्रकोप हुआ था और किस का पीछे से अनुबन्ध हो गया, इस वस्तु का निर्णय किया जा सकता है[1]।

यद्यपि मानस रोग भी आगन्तु-विशेष होने से अनुबन्ध-सम्बन्धी उक्त नियम का उल्लेख उन (मानस रोगों) पर भी लागू होता ही है, तथापि स्पष्टता के लिए कहना आवश्यक है कि--शारीर और मानस रोगों का भी परस्पर अनुबन्ध होता है[2]। अर्थात्--पहले से स्थित शारीर रोग-विशेष में अन्य शारीर रोग-विशेष का अनुबन्ध होता है; इसी प्रकार मानस रोगों में मानस रोगों का एवं शारीर रोगों में मानस रोगों का तथा मानस रोगों में शारीर रोगों का अनुबन्ध होता है। अनुबन्ध होने पर वे एक दूसरे के बल की अभिवृद्धि करते हैं--रोग को जटिल बना देते हैं। जैसे कामादि मानस विकारों और ज्वरादि शारीर विकारों का परस्पर अनुबन्ध होता है--काम (अतृप्त रति-सुख की इच्छा), क्रोध या भय से ज्वर तथा ज्वर आदि से दोष-वैषम्य होकर काम-प्रभृति मानस-विकार होना।

रोगों के परस्परानुबन्ध के रूप में भय और शोक से अतिसार (या परीक्षा, विषम परिस्थिति, फाँसी पर चढ़ना आदि के भय से शुक्रोत्सर्ग); भय-क्रोधादि से ज्वर; भय और चिन्ता से वायु का प्रकोप होकर उससे रक्त-प्रकोप (रक्त-दुष्टि) होने से भ्रम (नवीनों का हाईब्लड प्रेशर, जो अन्य चिन्ताओं से तो वृद्धि को प्राप्त होता ही है; कोई इस रोग का निदान कर दे तो भी इस रोग की वृद्धि होती है; यद्वा रजोगुण-इमोशन-से इसी प्रकार रक्त का प्रकोप होना—सूत्र है—रजःपित्तानिलाद् भ्रमः-- सू० शा० ४।५६); विषमज्वर के वेग के काल का विचार करने से भी ज्वर का वेग हो आना; अथवा भारी दुर्घटना (लाखों की द्रव्य हानि आदि) के श्रवण से शोक और उसके कारण वात का प्रकोप होकर वायु की महास्रोत में विलोम गति और उसके परिणामस्वरूप पित्त की प्रतिलोम

१—देखिए—च० सू० २०।६।

२—देखिए—च० वि० ६।८ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका।

गति तथा उसके कारण उसका संचय और प्रकोप होकर पैत्तिक शूल (पेप्टिक अल्सर; आमाशय या ग्रहणी में क्षत होना) इत्यादि मानस रोगों से शारीर रोगों का अनुबन्ध होने के चिकित्सा-व्यवसाय में अविस्मरणीय उदाहरण हैं। संतत ज्वरादि में धातुओं का क्षय होने से मांसधातुमय हृदय एवं उसके आश्रित रस धातु भी क्षीण होता है। परिणामतया, हृदयस्थायी मन भी क्षीण होकर उसके अधिष्ठान में होनेवाले दैन्य, भय (मरण आदि की भीति) इत्यादि मनोविकार होते हैं। यह शारीर रोगों में मानस रोग के अनुबन्ध का उदाहरण है। मानस दोष रज और तम का परस्पर अनुबन्ध तो सर्वदा रहता ही है; कारण रजोगुण के विना तमोगुण की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, यह सिद्धान्त है। तमोगुण की रोगारम्भक प्रवृत्ति या क्रिया भी रजोगुण से प्राप्त प्रवर्तना (प्रेरणा) से ही होती है--नह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते-- च. वि. ६।९।

शारीर दोषों का परस्पर अनुबन्ध---

मानस दोषों के अनुबन्ध के समान शारीर दोषों का भी परस्परानुबन्ध होता है। देखिए--

शारीरदोषाणामेकाधिष्ठानीयानां सन्निपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्। दोषा हि दूषणैः समानाः॥ च० वि० ६।१०

शारीर दोष एक ही अधिष्ठान शरीर में स्थित होने के कारण उनका संनिपात (तीन का संयोग) या संसर्ग स्वभावतः होता है। क्योंकि, उनमें कई गुण परस्पर समान होते हैं। दूषण या प्रकोप के कारणभूत अहिताहार-विहारादि भी अनेक दोषों के समान गुणवाले होते हैं। अर्थात् अहिताहार-विहार से जिन गुणों का प्रकोप होता है, वे गुण एक ही दोष में होते हों सो बात नहीं। प्रकुपित गुण अनेक दोषों के समान होने से एक से अधिक दोष को प्रकुपित करते हैं। यथा--अम्ल, लवण और कटु रस पित्त के प्रकोपक होते हैं, यह सिद्धान्त है। इन तीन रसों में अम्ल रस के अतियोग से पित्त तो कुपित होता ही है, समानगुणवाले कफ का भी प्रकोप होता है। लवण रस के अतियोग से पित्त कुपित होता है, साथ ही कफ भी। इसी प्रकार कटु रस के अतियोग से पित्त के साथ वायु का भी प्रकोप होता है। इसी प्रकार वसन्तऋतु श्लेष्म-प्रकोपक है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु यह आदान काल होने से शरीर के धातुओं और स्नेहांश का इस काल में क्षय होने से वात और पित्त का भी प्रकोप साथ ही होता है। इसी प्रकार वर्षा में पित्त का संचय तथा शरद् ऋतु में प्रकोप होता है, पर साथ ही कफ का भी अनुबन्ध होता है। एवं ग्रीष्मकाल रूक्ष होने से वात का संचय करता है, तो उष्ण होने से कुछ पित्त का भी संचय करता है। (देखिए--उक्त स्थलपर

चक्रपाणि)। परन्तु यह निश्चित है कि, प्रधानतया उस एक ही दोष का प्रकोप होता है जिसके गुण प्रकोपक कारण से अधिकतम मिलते हैं और उसी से प्रधान रोग उत्पन्न होता है। अनुबन्धभूत दोष, जिसके गुण प्रकोपक कारण से अल्पशः मिलते-जुलते हैं उस का प्रकोप होकर उससे अप्रधान रोग होता है। इस विषय का विचार इसी प्रकरण (रोगों के वर्गीकरण) में आगे किया जायगा।

मन और शरीर का परस्पर संबन्ध--

शारीर दोषों, धातुओं और मलों एवं अन्नपान का मन तथा मानस दोषों से गाढ़ संबन्ध है। इस संबन्ध का आयुर्वेद-मत से संकलन मैंने आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में किया है। एकाध उदाहरण विषय के वैशद्य के लिए देता हूँ। वायु मन तथा इन्द्रियों का प्रवर्तक (प्रेरक) और नियामक है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। इसका विचार गत अध्याय में हम कर भी आए हैं। उधर, काम, शोक, भय इन मानस विकारों से वायु के प्रकोप का तथा क्रोध से पित्त के प्रकोप का उल्लेख आचार्यों ने किया है।--कामशोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तम्--च० चि० ३।११५। अन्य शारीर दोषों में साधक पित्त तथा हृदयस्थायी कफ का संबन्ध हृदय द्वारा मन से है। तर्पक कफ इन्द्रियाधिष्ठानों तथा इन्द्रियों का तर्पक (क्षतिपूर्ति--तरावट--करनेवाला) होने से उसका भी संबन्ध इन्द्रियों और मन के साथ है। रजोगुण का वात तथा पित्त में और तमोगुण का कफ में प्राधान्य होने से दोनों प्रकार के दोषों का परस्पर संबन्ध सिद्ध है। जिन शारीर-मानस दोषों का परस्पर सम्बन्ध है, वे कुपित या क्षीण हों तो संबद्ध दोष पर भी स्वभावतः प्रभाव पड़ता है। ऊपर शारीर दोषों के संसर्ग या सन्निपात का एक कारण यह बताया है कि वे एक ही स्थान पर शरीर में रहते हैं, इस संबन्ध के कारण एक दोष के कोप के साथ दूसरे दोष का भी प्रकोप होता है। लौकिक उदाहरण से भी यह बात सत्य सिद्ध होती है। एक ही घर में अनेक जन रहते हों तो उनकी तत्तत् अवस्था का प्रभाव शेष जनों पर पड़ता ही है। इस प्रकार शारीर दोषों के प्रकोप के कारण मानस दोषों का भी प्रकोप होकर मानस रोगों का तथा इसी परिपाटी से मानस रोगों के साथ शारीर रोगों का भी अनुबन्ध होता है।

परस्पर रोगोत्पादन में मन और शरीर के इस गाढ संबन्ध को महाभारतकार ने निम्न उपमा से समझाया है। एक उत्तप्त अयोगोलक (लोहे का गोला) किसी जलपात्र में डाला जाए तो जैसे जल और पात्र दोनों उत्तप्त हो जाते हैं वैसे ही सन्तप्त या रुग्ण हुआ शरीरस्थ मन शरीर को भी रुग्ण कर देता है। दूसरी ओर, उत्तप्त जल में शीत अयोगोलक डाला जाए तो जैसे जल के संस्पर्श से

अयोगोलक भी उष्ण हो जाता है वैसे शरीर रुग्ण हो तो तदाश्रित मन भी रुग्ण हो जाता है।

प्राचीन वाङ्मय से ही शरीर और मन के अस्वास्थ्य और स्वास्थ्य के संबन्ध का द्योतक एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। योगविद्या का संबन्ध, सुविदित है, मन और आत्मा के उत्कर्ष के साथ सविशेष है। परन्तु उसमें भी मन को समाहित करने के पूर्व उसके साधन रूप में नेति, जलनेति, धोती, बस्ति, वमन, न्योलि क्रिया प्राणायाम, आसन आदि उपायों द्वारा शारीर दोषों और शरीर को शुद्ध और स्वस्थ किया जाता है।

वर्तमान काल में मन और शरीर के परस्पर संबन्ध और शरीर पर प्रभाव का अध्ययन बहुत गम्भीर हो गया है। एक मानस-चिकित्सक के एतद्विषयक प्रयोग का उल्लेख इस संबन्ध का उत्तम द्योतक है। अपने रोगियों को संमोहित (हिप्नोटाइज़्ड) करके वह अहिफेन का कोई कल्प देता था; परन्तु उनके मन को सूचनाएँ देता था कि तुम्हें विरेचन दिया गया है: परिणामतया, रोगियों पर अहिफेन की मलस्तम्भक क्रिया न होकर अतिसरण होता था। अन्य रोगियों को वह एरण्ड-तैल अथवा अन्य विरेचनतया प्रसिद्ध औषध देता था, परन्तु सूचना यह करता था कि, तुम्हें मलस्तम्भन द्रव्य दिया गया है। परिणाम में, रोगियों को आनाह (कब्ज) होता था। तात्पर्य, बाह्य द्रव्यों की शरीर पर क्रिया होती है ऐसा न कह कर मन की शरीर पर क्रिया होती है यही कहना यथार्थ है और इससे मन का शरीर पर कैसा प्रभाव है यह भी विशद होता है।

मन के प्रभाव की इस प्रकार व्याख्या प्राचीन भारतीयों द्वारा जाने गये सत्यों को ही युगानुरूप स्वरूप में प्रस्तुत करती है। बाकी प्राचीन भारतीयों ने तो न केवल शरीर पर, किन्तु शरीर-बाह्य प्रकृति पर भी मन की उत्कृष्ट शक्ति (संकल्प) का प्रभाव देखा था तथा उसे वे क्रिया में भी लाए थे।

रोग-निवृत्ति के लिए मन के शरीर से संबन्ध और सामर्थ्य का उपयोग तो प्राचीनों ने किया ही था, प्राकृतावस्था में भी मन और इन्द्रियों के वशीकार द्वारा शरीर को वे प्रभावित करते थे। आज भी ऐसे योगी देखे जाते हैं, जो हृदय और नाड़ी का स्पन्दन रोक सकते हैं, मलद्वार और मूत्रद्वार से द्रव द्रव्यों को यन्त्र की सहायता के विना ऊपर चढ़ा सकते हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में इन अवयवों को इच्छा के क्षेत्र के बाहिर (इनवॉलण्टरी) माना जाता है। कई योगी विना अन्नपान का सेवन किए कब्र आदि आवृत स्थानों में या बाहर रह सकते हैं। मन के द्वारा अतीतानागत, तथा परोक्ष देश में स्थित वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। विशेषतया भारतीय क्रियाशारीरविदों का कर्तव्य है कि, इन घटनाओं को नवीन विश्व के समक्ष रखें तथा इनके कारणों की शोध में लगें।

नोबल-पुरस्कार विजेता एलेक्सिस केरल ने 'मैन ध अननोन' में लिखा है कि, अमेरिका के एक अस्पताल में स्वस्थ पुरुष प्रार्थना करते हैं और कैंसर, अस्थि-क्षय (बोन टी. बी.) आदि कष्टदायी रोग निमेषों में अच्छे होते हैं। परन्तु लेखक की फरियाद है कि कोई इन विषयों पर लक्ष्य देने को ही तय्यार नहीं।

शरीर और मन का परस्पर संबन्ध जोड़नेवाली कड़ी कदाचित् जीवन-योनि नाडीसंस्थान (ऑटोनॉमस नर्वस सिस्टम) है ऐसा अनुमान है। उपसंहार में इतना ही कह कर कि,शरीर और मन का सर्वावस्थाओं में संबन्ध प्राचीन-अर्वाचीन उभय मतों से अध्ययन का उपयोगी और मनोरम विषय है, अब मैं पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ।

सामान्यज और नानात्मज रोग[१]

रोगों का स्वरूप समझने तथा समझाने के लिए प्राचीनों द्वारा किए गये ये दो विभाग या वर्ग हैं।

ज्वर, अतिसार, उदर आदि रोग ऐसे होते हैं जो वातादि दोषों में किसी भी एक से, किन्ही दो के संसर्ग से या तीन के संनिपात से हो सकते हैं। यथा, ज्वर वात से भी हो सकता है, पित्त या कफ से भी हो सकता है; अथवा इनमें किन्ही के द्वन्द्व या सन्निपात से भी हो सकता है। इसी कारण ज्वरों के वातज आदि भेद व्यवहार में देखे जाते हैं, तथा शास्त्र में वर्णित हैं। इन रोगों को सामान्यज रोग कहा जाता है।

इसके विपरीत कई विकार ऐसे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति किसी एक दोष के प्रकोप से ही होना संभव है। अन्य कोई दोष उनकी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता। यथा, ऊष्मा की अधिकता, दाह, अम्लोद्गार, शरीर की पीतता, अत्यग्नि आदि रोग पित्त के प्रकोप से ही होने संभव हैं। अतिनिद्रा, मुख-माधुर्य, कफष्ठीवन (मुख से घन कफ पड़ना), गौरव आदि विकार कफ के ही प्रकोप से होते हैं। एवं, कम्प, संकोच, आक्षेप, आयाम, शूल आदि रोग वायु की वृद्धि के ही परिणामभूत होते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति जिस-जिस दोष से होती कही गयी है, उससे भिन्न दोष से इनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। ऐसे रोगों को नानात्मज रोग कहा जाता है। (नाना=पृथक्, एक, दोष)।

नानात्मक रोगों की यों तो संख्या नहीं हो सकती, यह अध्याय के आरम्भ में कहा जा चुका है। तथापि विपुल-बुद्धि शिष्यों के व्यवहार के लिए आचार्यों ने प्रथम प्रत्येक दोष के प्रकोप के सामान्य लक्षण बताए हैं, पश्चात् अल्पबुद्धि

१—च० सू०. २०।१०।

विद्यार्थियों के मार्गदर्शनार्थ प्रत्येक दोष से होनेवाले नानात्मज रोग दृष्टान्ततया दिए हैं। इस प्रकार कफनानात्मज वीस रोग, पित्तनानात्मज चालीस रोग तथा वातनानात्मज अस्सी रोग शास्त्र में निर्दिष्ट हैं। अगले अध्याय में प्रथम प्रत्येक दोष के प्रकोप के सामान्य लक्षण बताए जाएँगे, पश्चात् उदाहरणभूत नानात्मज रोगों का उल्लेख किया जाएगा।

तीसरा अध्याय

नानात्मज रोग

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

कफ-नानात्मज रोग

कफ-विकारों के सामान्य लक्षण--

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेपूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—स्नेह-शैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्म-रूपाणि। एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेह-सुप्तिक्लेदोपदेहबन्धसाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि। तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१८[1]

कफ-नानात्मज रोगों का उल्लेख अनुपद किया जाएगा। परन्तु उन रोगों को कफज रोगों का उदाहरण-मात्र समझना चाहिए। यों कफज रोग असंख्य हैं। तथापि, कफ (श्लेष्मा) के स्वाभाविक स्वरूप और विकारजन्य कर्म के परिचायक अमुक नियत लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण संख्या में एकाङ्ग में या सर्वाङ्ग में उपलब्ध हों, तो निःसन्देह श्लेष्म-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगों का यहाँ किंवा शास्त्र में अन्यत्र निर्देश न किया गया हो उनका भी परिज्ञान इन लक्षणों को दृष्टि में रखकर--इसी परि-पाटी से--करना चाहिए। संसृष्ट (द्वंद्वज) या सन्निपतित (त्रिदोषज) रोगों में भी कफज लक्षणों का निदान इस प्रकार करना चाहिए।

श्लेष्मा के स्वरूप-द्योतक लक्षण (गुण) ये हैं। श्लेष्मा का प्रकोप होने पर, जिस गुण के प्रकोपक कारण का जितने प्रमाण में सेवन किया गया हो उतने

१—अ. सं. सू. २०; अ. हृ. सू. १२।५३–५४ तथा काश्यप-संहिता सू. २७।४४-४६ भी द्रष्टव्य हैं।

प्रमाण में उस गुण का प्रकोप होता है एवं जिस भी धातु, उपधातु, मल, स्रोत, आशय, अवयव आदि में प्रकुपित गुण या गुणों ने स्थान-संश्रय किया हो उसके भेद से तत्तत् रोग उत्पन्न होते हैं।--१. स्नेह, (स्निग्धता), २. शैत्य (शीतता), ३. शुक्लता (श्वेतता), ४. गौरव, ५. माधुर्य, ६. स्थैर्य, ७. पिच्छिलता (तन्तुमत्ता), तथा ८. श्लक्ष्णता (मसृणता, मृत्स्नता)[1]। अतः श्लेष्मप्रकोप से उत्पन्न होनेवाले आगे कहे उदाहरणभूत, अथवा इनसे भिन्न शास्त्र में अनुक्त (अवर्णित) किंवा अन्यदोषों से संयुक्त (मिलित) कोई भी श्लेष्म-विकार हो, उसमें श्लेष्मा या कफ के नीचे लिखे कर्म अवश्य पाये जाएँगे--

१. त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मल, मूत्र, अश्मरी--पथरी--आदि में श्वेतता ;

२. त्वचा, मल-मूत्र, निःश्वास आदि में शैत्य (इनका स्पर्श शीत होना ; इनकी उष्णता, जिसका परिज्ञान स्पर्श द्वारा या तापमापक नाड़ी-यन्त्र--थर्मोमीटर-से होता है, न्यून होना ; किंवा रोगी को शीत प्रतीत होना--ठंढ लगना) ;

३. कण्डू (त्वचा, नाक, कान, भगप्रदेश, मलद्वार आदि बहिर्मुख स्रोत इत्यादि में खुजलाने की इच्छा--खर्जू) ;

४. स्तैमित्य (ज्ञानेन्द्रियों की विषयों के ग्रहण में तथा कर्मेन्द्रियों की अपनी-अपनी चेष्टा के करने में अपटुता--मन्दप्रयत्नता) ;

५. गौरव (शरीर भारी) होना--उपचय, जिसका निर्णय तौल इत्यादि से होता है ; मन का गौरव--आलस्याभिभूत होना ; अथवा सर्वाङ्ग या हृदय, उदर आदि एकाङ्ग में भार की प्रतीति होना--सेन्स ऑफ वेट, सेन्स ऑफ हेवीनेस ; मल, मूत्र, अश्मरी आदि भी गुरु होना ; इनमें मल या पुरीष अपनी गुरुता के कारण जल में डूब जाएँ ऐसा होता है ; मूत्र की गुरुता के कारण वह थोड़ी देर रखा जाय तो उसका घन भाग नीचे बैठ जाता है ; अवस्था-भेद से इसके प्रमेहाधिकार में सान्द्रमेह तथा सान्द्र-प्रसादमेह--सुरामेह--ये दो भेद किए गए हैं--नव्य मत में इन्हें 'आल्ब्यूमिनयूरिया' कहते हैं--यह कफज शोथ का अङ्ग होता है ; अश्मरी कफज हो तो गुरु और विशाल होती है।

१--पॉलिश किए फर्नीचर आदि का करस्पर्शगम्य गुण **मसृणता** आदि कहाता है। पीडनीयता (दबाने से दब जाना) से जिसकी प्रतीति होती है, उस गुण को **मृदु** कहते हैं। **स्निग्ध** गुण स्वयंसिद्ध है।

शास्त्र में गुणों के शीत, स्निग्ध आदि नाम आए हैं। वे **भाव-प्रधान** शीतता, स्निग्धता आदि के व्यञ्जक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

६. स्नेह (त्वचा, मुखविवर, बहिर्द्वार, मल आदि में स्निग्धता--चिकनापन, इनका कफ से उपलिप्त होना) ;

७. निद्रा ;

८. क्लेद--विशेषतया व्रणों में आर्द्रता अधिक होना ; किंवा मुख, मूत्र आदि में लाला इत्यादि के रूप में द्रवांश का आधिक्य ;

९. शोफ--सर्वाङ्ग या एकाङ्ग में सूजन--शोथ ;

१०. स्रोतों का अवरोध--यह स्रोतों में मलों की कफ के कारण अति पुष्टिसे हुए संचय से होता है ; कफ के पैच्छिल्यवश रस-रक्त का अपने स्रोतों में स्कन्दन--कोएगुलेशन होने से होता है ; स्रोतों के घटक शरीर-परमाणु या कोष अति पुष्ट होने से उन स्रोतों का विवर वृद्धि को प्राप्त कोषों से व्याप्त होने से होता है ; प्राणवह, अन्नवह आदि स्रोतों में कफ का लेप होने से होता है ; किंवा कफ के प्रधान गुण मन्दता का महास्रोत, प्राणवहस्रोत, हृदय के रस-रक्तवह स्रोत, पित्तप्रसेक आदि स्रोतों पर प्रभाव होने से उनके वाह्य द्रव्य का वहन--अयन--मन्द होने के रूप में होता है ;

११. माधुर्य--मुख, मूत्र, त्वचा आदि में मधुरता ; त्वचा पर मक्षिका आदि बैठने से त्वचा या शरीर की मधुरता--वास्तव में तो रस-रक्त की मधुरता जिसे ग्लायकीमिया कहते हैं वह--ज्ञात होती है ; पिपीलिकाओं के बैठने से या प्रयोगशाला में परीक्षा द्वारा मूत्र की मधुरता विदित होती है ;

१२. चिरकारिता[1]--जो भी रोग हो उसकी वृद्धि शनैः-शनैः होना; अथवा दीर्घसूत्रता--कार्यों के आरम्भ तथा समाप्ति में विलम्ब करने की प्रवृत्ति ;

१३. स्थैर्य[2]--अङ्गों का जकड़ जाना; अथवा शोथ आदि की कठिनता[3]; किंवा स्थिरता--यथा गर्भाशय में शुक्र और गर्भ की स्थिरता और उसके कारण अपत्यों की संख्या अधिक होना ; निश्चय की स्थिरता ;

१३. अग्निमान्द्य ;

१--**चिरकारिता चिरेण रोगवृद्धिः** अ. हृ. सू. १२।५४ पर अरुणदत्त।

२--**स्थैर्य गात्राणां स्तम्भः** सु० सू० १५।१३ पर डल्हन।

काश्यप ने इस प्रकरण में चरक का ही अनुसरण किया है ; उसने स्थैर्य के स्थान पर विष्टम्भ ही की गणना की है। देखिए पृ० ३०।

३--अष्टाङ्ग हृदय में कुपित कफ के कर्मों में **काठिन्य** की गणना की है स्थैर्य का पाठ उसमें नहीं है। अरुण ने उसका अर्थ **अमृदुत्वम्** दिया है। **काठिन्य** वायु का गुण है ; कफ का गुण मृदुता प्रसिद्ध है। अतः कठिन का अर्थ यहाँ घनत्व (सान्द्रत्व) लेना उचित होगा।

१४. मुख का रस मधुर या लवण होना ;

१५. बहिर्मुख स्रोतों (मुख, नासिका, कर्ण, शिश्न का बहिर्भाग, भग-प्रदेश इत्यादि का उपदेह अर्थात् इनमें मलाधिक्य और उसके कारण कण्डू आदि लक्षण होना। यह श्लेष्मप्रधान ज्वर--इन्फ्लुएन्जा--इत्यादि में लक्षणतया पाया जाता है--इसे इन्द्रियोपलेप यह नामान्तर दिया गया है। प्रधान रोग तथा दोष का उपचार करने से यह भी निवृत्त होता है ;

१६. सुप्ति--त्वचा में स्पर्शनाश।

कफ-नानात्मज रोग[१]--

कफ का प्रकोप होने पर यों तो उल्लिखित लक्षणों और कर्मोंवाले अगणित रोग हो सकते हैं, तथापि इनमें जो बीस रोग चिकित्सा-व्यवसाय में प्रायः देखे जाते हैं, वे अधोलिखित हैं।--

१. तृप्ति--इसमें भोजन किए विना भी कफ से आम-पच्यमानाशय का उपलेप होने से पुरुष अपने को तृप्त अनुभव करता है ; ग्रहणी-अधिकार में इसे संतोष भी कहा गया है। पक्वाशय में संचित कफ का ऐसा ही उपलेप रहने से मल प्रवृत्ति करने के बाद भी वेग बना रहता है। यह स्थिति (प्रवाहण) प्रवाहिका का प्रत्यात्म-लक्षण है ; तृप्ति रोग अपने विपरिणाम के कारण अधिक चिन्तनीय रोग है। इसके कारण अन्न का सेवन न होने से अन्नरस नहीं बनता, पुरुष कफ-प्रकृति और मेदस्वी न हो तो इससे धातुक्षय होने की संभावना होती है। अन्नरस के समान ही अन्न का सेवन न करने से किट्टांश नहीं बनता--इस प्रकार पुरीषक्षय होकर विबन्ध (कॉन्स्टिपेशन) और तज्जन्य विविध विकार होते हैं। पान या जलादि पेय द्रव्यों का सेवन न होने से शरीर में उदकक्षय (डीहाईड्रेशन) तथा उसके विभिन्न अनिष्ट परिणाम होते हैं। इनमें एक मूत्राघात (सप्रेशन ऑफ यूरीन) है। इसके परिणामस्वरूप मोह (कॉमा) यह उपद्रव होता है। कदाचित् साथ ही तर्पक कफ (सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड) का भी प्रकोप हो और ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठानों पर इसका आवरण (पीडन) हो तो मोह में और वृद्धि ही होती है। मोह की यह संप्राप्ति दृष्टि में रखते हुए मूल कारण का विचार कर चिकित्सा में संप्राप्ति-भङ्ग करने का प्रयास करना चाहिए। इसका उल्लेख आगे चिकित्सा के प्रकरण में करेंगे ;

२. तन्द्रा--ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का ग्रहण न होना तथा कर्मेन्द्रियों की

१--देखिए--च० सू० २०।१८ ; शा० पू० ७।१२२-३५ ; अ० सं० सू० २० ; काश्यप संहिता-सू० २७।४१-४३ ; अ. हृ. सू. १२।४६-५१ ; च. चि. २८।२०-२४, माधव निदान तथा मधुकोष ; च. सू. १२।८।

अपने कर्मों में प्रवृत्ति न होना ; गौरव[1]--शरीर और मन में भारीपन प्रतीत होना ; जृम्भा[2], क्लम-श्रम किए विना भी थकावट लगना[3] ; चेष्टाएँ ऐसी होना जैसे पुरुष निद्राधीन हो। निद्रा और तन्द्रा में क्लम के कारण ही विशेष भेद होता है। जगने पर निद्रायुक्त पुरुष में क्लम नहीं होता ; तन्द्रायुक्त पुरुष में क्लम होता है[4] ;

३. निद्राधिक्य--कारण, निद्रा श्लेष्मतमोभवा सु० शा० ४।५-६ में कही गयी है। वहीं तमोवातकफात् तन्द्रा कह कर तन्द्रा के कारण तमोगुण, वायु और कफ बताए हैं ;

४. स्तैमित्य--ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा उभयेन्द्रिय मन की अपने-अपने प्रकृतिनियत कर्म करने में अपटुता ;

५. गुरुगात्रता--शरीरगौरव ;

६. आलस्य--शक्ति होने पर भी कर्मों में उत्साह--प्रवृत्ति--न होना[5] ; कफ के मन्द गुण के कारण इन्द्रियों और बुद्धि के अधिष्ठानभूत शिर में रस-रक्त का अयन सम्यक् न होने से यह स्थिति होती है ; किंवा स्थानीय तर्पक कफ के प्रकोप के कारण, नव्य मत से कहना हो तो सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड

१--गौरव का लक्षण

आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रं मन्यते नरः।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत्।। सु. शा. ४।५५

२--जृम्भा का लक्षण

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः।
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः।। सु. शा. ४।५०

३--क्लम का लक्षण

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः।। सु.शा. ४।५१

४--तन्द्रा का लक्षण

निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्।। सु. शा. ४।४९

क्लम के आधार पर निद्रा-तन्द्रा का भेद जानने के लिए देखिए उक्त स्थल पर डह्लन। तन्द्रा को गुजराती में घेन तथा अंग्रेजी में ड्राउजीनेस कहते हैं।

५--आलस्य का लक्षण

सुखस्पर्शप्रसंगित्वं दुःखद्वेषणलोलता।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते।। सु. शा. ४।५२

का दबाव बढ़ जाने से आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, मूर्च्छा, मोह--कॉमा--ये लक्षण होते हैं। आयुर्वेद-मत से शिरोविरेचन द्वारा क्लेदांश की शुद्धि होने से कारण की निवृत्ति होकर लक्षण शान्त होते हैं। नव्यमत से विचार करें तो, नासास्रोत के ऊर्ध्वभाग की सिराओं का सम्बन्ध मस्तिष्क में स्थित सिराजालों--सायनसेस--के साथ होता है और उनका भी सम्बन्ध सेरीब्रो-स्पाइनल फ्लुइड के साथ होता है। शिरोविरेचन द्वारा विपरीत क्रम से क्लेद की शुद्धि होती है। अतः नासिका को शिर का द्वार कहा गया है--नासा हि शिरसो द्वारम्;

७. मुख-माधुर्य--मुख का रस मधुर होना। स्मरण रहे, कफ का यह लक्षण होने पर भी निदान-प्रकोप के कारणभूत अतियुक्त अन्नपान--में मधुर रस या मधुर-विपाकी द्रव्यों का आधिक्य हो तभी मुख में माधुर्य विशेष लक्षित होता है। मूत्र या शरीर के माधुर्य की भी यही स्थिति है;

८. मुखस्राव--हृल्लास, प्रसेक, लालास्राव, (मुख, जिह्वा, दन्त आदि मुखान्तर्गत सर्व अवयवों के रोगों में कफ ही प्रधान होता है--मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः--अतः इनमें वमन, लङ्घन, कफ-प्रकोपक द्रव्यों का त्याग प्रभृति कफ-प्रत्यनीक चिकित्सा ही करनी चाहिए।);

९. कफोद्गिरण-मुख तथा नासिका द्वार से घन कफ की प्रवृत्ति, गुरु--नव्य मत से अति प्रोटीनवाले शरीर-वर्धक--द्रव्यों का अतियोग हो तभी कफ घन होता है;

१०. मलाधिक्य--कफ के कारण अग्नि मन्द होने से प्रसाद-भूत अन्न-रस न्यून तथा किट्टांश अधिक बनता है; मलों में वायु और मूत्र इन अन्नपान के मलों के आधिक्य की भी गणना समझनी चाहिए;

११. बलासक--चक्रपाणि ने इसके अनेक अर्थ दिए हैं। तथाहि--बलक्षय, किंवा श्लेष्मा का उद्रेक--प्रकोप--होने से मन्द ज्वर रहना; किंवा स्थूलाङ्गता;

१२. अविपाक--अजीर्ण; पाचक पित्त एवं तदाश्रित धात्वग्नियों की मन्दता के कारण अन्नपान तथा रसधातु का पाक सम्यक् न होना; अन्य शब्दों में आम की पुष्टि होना; इस प्रकार आम का हेतु कफ-प्रकोप ही होने से आम और कफ के लक्षण अभिन्न एवं सहचारी ही होते हैं; एवं चिकित्सा में भी अतएव साम्य होता है। काश्यप ने आम नाम से यह रोग दिया है;

१३. हृदयोपलेप--प्राणवह स्रोतों में कफ के पूरण के कारण हृदय तथा उरःप्रदेश में भार-सा प्रतीत होना;

१४. कण्ठोपलेप--कण्ठ कफ-लिप्त होना;

१५. धमनी-प्रति (वि) चय--धमनियों की अतिपूर्ति; रस-रक्त के अति पोषण के कारण इन धातुओं का प्रमाण अधिक होने से धमनियों का विवर उनसे सम्यक् पूर्ण होने के कारण धमनियों की परिधि--फुलावा--अधिक होना; साथ ही उनमें रस-रक्त की गति मन्द, और गुरु होना; धमनियों का विस्तार वायु से भी होता है, पर उसमें धमनी गुरु, मन्द तथा मृदु नहीं होती, किन्तु कठिन एवं वायु के वैषम्य या चलत्व के कारण कभी तीक्ष्ण कभी मन्द कभी पूर्ण कभी क्षीण होती है[1]; किंवा--धमनियों में पोषक द्रव्यों का संचय;

१६. गलगण्ड--आधुनिकों का गॉयटर; चुल्लिकाग्रन्थि की वृद्धि;

१७. अतिस्थौल्य--सामान्यतया सर्वधातुओं की, विशेषतया अग्निमान्द्य के कारण मेदोधातु की वृद्धि;

१८. शीताग्निता--अग्निमान्द्य;

१९. उदर्द--शीतपित्त-सदृश कण्डू, राग-रक्तिमा तथा-त्वचा के उत्सेध-युक्त विकार; कफ की विशालता के कारण इसमें मण्डल विस्तृत होते हैं तथा कण्डू कफ-प्रकोप के अनुकूल काल सायं और रात को विशेष होती है; तदनुरूप शीतपित्त और उदर्द में किंचित् चिकित्सा-भेद होता है--उदर्दस्तुकफाधिकः[2];

२०. श्वेतावभासता तथा श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्व--त्वचा, नख, नयन, बदन, पुरीष और मूत्र श्वेत होना[3]।

इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति॥ च० सू० २०।१७

१--**धमनीप्रतिचय का अर्थ** चक्रपाणि ने धमन्युपलेप लिखा है। काश्यप में धमनी-उपलेप ही नाम दिया है। गङ्गाधर ने धमन्युपलेप का अर्थ धमनियों की पुष्टता दिया है। योगीन्द्रनाथ ने प्रतिचय का अर्थ अतिपूरण दिया है। नाड़ी-परीक्षाशास्त्र, प्रत्यक्ष तथा सर्व टीकाकारों के अर्थ का समन्वय कर जो अर्थ उपयुक्त प्रतीत हुआ वह ऊपर दिया है। संग्रह तथा हृदय में केवल उपलेप शब्द है, जिसका अर्थ प्रतिचय देकर उसका भी अर्थ अतिपूरण दिया गया है। विस्तार आगे देखें।

२--संग्रह में उदर्द के मतान्तर से अनेक अर्थ दिए हैं। यथा, छाती का अभिष्यन्दन (प्राणवह स्रोतों की कफ से पूर्ति); शीत के साथ शरीर का कम्प; अथवा ऊपर दिया शीतपित्त के समान लक्षणों वाला रोग। वैद्यों में उदर्द का पिछला अर्थ प्रसिद्ध है। शीतपित्त और उदर्द की चिकित्सा में भेद चिकित्सा-धिकार में देखिए।

३--बीस संख्या की पूर्ति के लिए समान स्वरूपवाले दो रोग मैंने एक साथ ले लिए हैं।

इस प्रकार अपरिसंख्येय भी श्लेष्म-नानात्मज रोगों में जो लोक में अधिकतम (प्रायः) देखने में आते हैं, उनका यह उल्लेख हुआ[1]।

पहले कह आये हैं कि, काश्यप ने बीस कफ-नानात्मज रोगों में आम की गणना की है। कफाधिक्य से अग्नित्रय की मन्दता और उसके कारण आम (अन्नरस का अपक्व होना तथा रस-धातु का अपूर्ण पाक) होता है। कफाधिक्य और आम में इस प्रकार जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होने से दोनों के लक्षण समान ही होते हैं; यह स्मरण रखना चाहिए।

शार्ङ्गधरोक्त श्लेष्म-नानात्मज विकार--

आनूप (जल की अधिकतावाला--नम--देश) आदि देशों के भेद से रोगों में भेद होता है। तात्पर्य, देशभेद से कहीं वाताधिक रोग अधिक होते हैं, कहीं पित्ताधिक, कहीं कफाधिक। देशभेद से रोगभेद होने में देशवासियों के आहार-विहार, प्रकृति आदि की भिन्नता भी कारणभूत है। परिणामतया, प्रत्येक देश के कविराजों की दृष्टि में प्रधान (आविष्कृततम) रोग भिन्न होना स्वाभाविक है। शार्ङ्गधर ने भी तीनों दोषों के नानात्मज रोग इसी संख्या में लिखे हैं, तथापि उनके स्वरूप में कुछ भिन्नता है। उसके दिए रोग व्यवसायोपयुक्त होने से ज्ञातव्य हैं। अतः उनका भी उल्लेख नीचे किया जाता है--

१. तंद्रा; २. अतिनिद्रा; ३. गौरव; ४. मुखमाधुर्य; ५. मुखलेप; ६. प्रसेक (लालास्राव, सेलीवेशन),

७. श्वेतावलोकन--दृष्टि-नेत्रश्वेत होना; नेत्रपक्ष्मों-पलकों की श्लेष्म-कला श्वेत होना;

८. पुरीष की श्वेतता; ९. मूत्र की श्वेतता--स्वाभाविक पीतता न्यून होना; १०. त्वचा का वर्ण श्वेत होना;

११. शीतता--शरीर का ऊष्मा सम से न्यून होना; शरीर का स्पर्श शीत होना। अगला विकार--उष्ण पर प्रीति--इसीके कारण होता है; अथवा शैत्य का अर्थ अग्निमान्द्य भी होता है;

१२. उष्ण (स्पर्श तथा गुणकर्म की दृष्टि से उष्ण) अन्नपान एवं देशादि की इच्छा;

१--**आविष्कृत तम** का अर्थ देते **चक्रपाणि** ने प्रकरण के आरम्भ में (च. सू. २०।९-११ पर) कहा है कि प्रायोभावी होने से जो प्रधानभूत रोग हैं, उन्ही का यहाँ उल्लेख है। शेष अनुक्त रोगों का ग्रहण इन्ही से कर लेना चाहिए। उस काल तक जिनका आविष्कार (दर्शन) हुआ वे रोग यहाँ वर्णित है, ऐसा अर्थ संहिताकारों की शैली को देखते यहाँ प्रतीत नहीं होता।

१३. तिक्त द्रव्यों पर प्रीति ;

१४. मलों विशेषतः पुरीष का प्रमाण अधिक होना ;

१५. शुक्र का आधिक्य (परिणामतया, रतिसुख की इच्छा, स्वयं तृप्त होने तथा स्त्री को तृप्त करने का सामर्थ्य, गर्भ की स्थिरता, संतान की अधिकता तथा स्त्री को संतोष देने की शक्ति के कारण गृह में सुख) ;

१६. बहुमूत्रता ; १७. आलस्य ;

१८. मन्दबुद्धिता (कही या लिखी वस्तु को समझने की मन्दता--देर से समझ में आना ; परन्तु वस्तु एक बार समझ में आ गयी कि कफ के स्थिर गुण के कारण वह विस्मृत न होना) ; १९. तृप्ति; २०. कफ के मन्दगुण के कारण वर्णोच्चार में घर्घरता;

२१. अचैतन्य (?)--बुद्धि तथा इन्द्रियों के अधिष्ठान में रस-रक्त स्वल्प प्रमाण में तथा स्वल्पवेग से जाने से तर्पक कफ का पोषण सम्यक् न होना। उसके परिणामस्वरूप में किंवा तर्पक कफ का प्रकोप हो जाने से बुद्धि के अधिष्ठानों के उससे पीड़ित होने से तम--आँख के आगे अन्धेरा छाना, मोह--(काँभा), मूर्च्छा आदि की प्रवृत्ति।

कफज विकारों पर एक दृष्टि--

प्रथम अध्याय में दी गयी टिप्पणी 'दोषों की मलरूपता' में कहा जा चुका है कि दोषों को जो मल कहा जाता है, उसका हेतु यह है कि अन्नरस की पुष्टि के लिए सेवित अन्नपान का तथा विभिन्न धातुओं की पुष्टि के लिए प्राप्त होनेवाले रसधातु का उपयोग पूर्णतया हो चुकने के पश्चात् जो अनुपयोगी, निःसार अथवा किट्टांश शेष रहता है उससे वातादि दोषों की पुष्टि होती है। अन्य मलों की पुष्टि भी इसी प्रकार अपने-अपने धातु का पोषण संपूर्ण हो चुकने के अनन्तर रस-धातु के शेषांश से होती है। यह शेषांश अन्नरस या तत्-तत् धातु के लिए अनुपयुक्त हो चुका होने से उनके लिए त्याज्य किंवा मल-रूप ही होता है। इस मलरूप शेषांश से वातादि तथा स्वेदादि की पुष्टि होने से इन्हें भी मल संज्ञा दी गयी है।

अन्नपान का समयोग हो, पुरुष स्वस्थवृत्तोक्त नियमों के अनुसार अन्नपान का सेवन करता हो तथा अन्य चर्या का पालन करता हो, उसके सर्व दोष, अग्नि एवं स्रोत अविकृत हों, (दोषों के पक्ष में अविकृति का अर्थ अपने शास्त्रोक्त सर्व गुणों से सम्पन्न होना एवं स्रोतों के पक्ष में अविकृति का अर्थ उनका आन्तर विवर सम होना यह है) ऐसी स्थिति में दोषों तथा अन्य मलों की उत्पत्ति उतने ही प्रमाण में होती है जितने से वे अपने-अपने प्राकृत शास्त्रोक्त कर्मों का संपादन यथावत् कर सकें।

सर्व कारणों में समयोगयुक्त आहार की महिमा सर्वोपरि है। कारण, आहार इस प्रकार का हो तो सर्व दोषों, धातुओं, उपधातुओं, मलों तथा उनसे बने यकृदादि अवयवों, त्रिविध अग्नियों, स्रोतों, कलाओं तथा आशयों को अपनी-अपनी पुष्टि और तर्पण के लिए अपेक्षित सामग्री उपलब्ध होती है। अतएव अत्रिपुत्र ने कहा है--

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति ; अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति ॥ च० सू० २५।३१

हिताहारोपयोगः इतने पद से ही वक्तव्य पूर्ण होने पर भी आचार्य ने 'एकः' और उस पर भी भार देने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया है। यह इस बात का सूचक है कि हिताहारोपयोग का स्वास्थ्य से सम्बन्ध आचार्य की दृष्टि में कितना है।

अग्नियों के साम्य में भी अन्नपान की कारणता दर्शाते आचार्य ने उपदेश किया है--

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः ॥ च० सू० २७।३४५

तन्मना होकर अन्तरग्नि में हित अन्नपान की नित्य आहुति देते रहना चाहिए। विधिविहित तथा समयोगयुक्त आहार पर ही अन्तरग्नि (पाचकाग्नि) अवलम्बित है--तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः--च. सू. २७।३[1]

आहार के समयोग की एक विशिष्टता है। पुरुष की प्रकृति, देश, ऋतु आदि के अनुसार अन्नपान ऐसा होना चाहिए कि प्रकृति आदि भाव (पदार्थ) जिस दोष को कुपित या क्षीण करनेवाले हों उसके विरोधी रस, गुण, वीर्य तथा विपाक का इतना प्रमाण अन्नपान में रहना चाहिए कि प्रकृति आदि के कारण जिस दोष के क्षय या प्रकोप की संभावना हो, शरीर में जाकर उसका सामना (संशमन) योग्य ही प्रमाण में करे--न उसका ह्रास या क्षय होने दे, न वृद्धि या प्रकोप।

दोषों के वृद्धि-क्षयरूप वैषम्य के विषय में अधिक कहने के पूर्व तन्त्रकारों की एक परिपाटी का उल्लेख कर देना आवश्यक है। सिद्धान्त के रूप में प्राचीन तन्त्रकारों ने दोषों के क्षय को भी रोगों का कारण कहा है, परन्तु सविस्तर विवेचन तो उन्होंने उनकी वृद्धि और प्रकोप का ही किया है। इसका कारण प्रायः यह बताया जाता है कि दोष-विशेष का क्षय होने पर परिणाम रूप में उसके विरोधी दोष का प्रकोप ही होता है। अतः चिकित्सा में प्रकुपित दोष-विशेष

१--इस विषय के अन्य प्रमाणों के लिए देखिए--आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

के शमन को ही लक्ष्य में रखा जाता है। इस चिकित्सा से क्षीण दोष की वृद्धि स्वयमेव हो जाती है। यथा, स्निग्ध गुण का क्षय हुआ हो एवं उसके विरोधी रूक्ष गुण का प्रकोप हो तो स्वभावतः रूक्षगुण-विपरीत स्निग्धगुणवान् द्रव्यों का सेवन सात्म्य (हितावह) होता है। इससे क्षीण हुए स्निग्धगुण का साम्य स्वयं हो जाता है। सो, दोष-विशेष के किंवा उसके अमुक गुण-कर्म के क्षय के निदान-चिकित्सा के विषय में यह विचार कथंचित् सत्य हो तो भी, वाग्भट ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि--दोष का क्षय वृद्धि की अपेक्षया भी अधिक हानिकर है; वे बुद्धिहीन पुरुष हैं जो दोषों के क्षय पर लक्ष्य नहीं देते। इस विषय का पुनः और अधिक विचार दोषों के क्षय के अधिकार में किया जाएगा। अतः प्रासंगिक इतना विवेचन कर पुनः प्रकरण पर आता हूँ।

दोष-विशेष के प्रकोप से रोग या विकार होता है, केवल इतना जानना पर्याप्त नहीं। परन्तु, जैसा कि पहले कह आए हैं, यह भी जानना चाहिए कि जिस दोष-प्रकोपक निदान (अहिताहार-विहार) का सेवन किया गया है वह किस दोष के किस गुण तथा कर्म का प्रकोप करनेवाला था--उसके सेवन से प्रकुपित हुए किस दोष के किस या किन गुणों तथा कर्मों का कितने प्रमाण में प्रकोप हुआ है? पूर्वनिर्दिष्ट भी इस अंशांश-विकल्प का पुनरुल्लेख कफ-नानात्मज रोगों को समझाने के लिए किया है। सो, अंशांशकल्पना के प्रकाश में इन रोगों पर चिकित्सोपयोगी होने से एक दृष्टिपात कर लें।

कफ के कर्मों को लक्ष्य में रखते हुए प्राचीनों ने उसके अधोलिखित गुण निश्चित किए हैं; गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, लवण[1] स्थिर (सार), पिच्छिल, श्वेत, श्लक्ष्ण (मसृण), सान्द्र (घन), स्तिमित (अशीघ्र), विज्जल (संश्लिष्टता), स्वच्छ, द्रव[2]।

गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥[3]

च० सू० १।६१

१--प्रकृतिस्थ कफ मधुर तथा प्रदुष्ट हुआ लवणरस होता है, ऐसा **डल्हन** ने व्याख्या में कहा है।

२--श्लेष्मा के द्रवगुण का निर्देश तन्त्रकारों ने इतर गुणों के साथ नहीं किया है। परन्तु कई स्थलों पर अन्य प्रकरणों में इसका द्रव गुण बताया गया है। यथा--च. नि. ४।६ तथा उसकी **चक्रपाणि टीका**;; च. चि. ३।४५ तथा च. चि. ३।२८३ पर **चक्रपाणि टीका**।

३--सु. सू. २१।१५ तथा च. वि. ८।९६ भी देखिए।

प्रकोपक निदान के अनुसार जिस गुण और तदाश्रित कर्मों का आधिक्य देखने में आवे, उसके विरोधी गुणों का यथावत् (सप्रमाण) सेवन करने से प्रकुपित गुण समावस्था में आता है और उसके प्रकोप से हुआ रोग भी शान्त होता है। किस गुण का विरोधी गुण कौन है इसकी प्रतीति के लिए तन्त्रकारों ने गुण-प्रकरण में प्रत्येक गुण का निर्देश उसके विरोधी गुण के साथ द्वन्द्व के रूप में ही किया है; यथा--गुरु के साथ लघु का, शीत के साथ उष्ण का इत्यादि। प्रकुपित गुण का साम्य होने से उसके द्वारा उत्पादित रोग भी शान्त होता है। कुछ उदाहरणों से इसे समझ लें।

मधुर रस वाले एवं मधुर-विपाकी द्रव्यों का अतियोग होने से कफ-प्रकोप होगा तो कफ-प्रकोप होने पर शरीर में मधुर रस का ही प्राधान्य पाया जाएगा। पुरुष के रस-रक्त (शरीर) में माधुर्य होगा, जिसकी परीक्षा कृमि-कीटों के बैठने से या प्रयोगशाला में परीक्षा से (ब्लड-शुगर, या ग्लायकोमिआ के नाम से) हो सकेगी। मुख के रस में भी माधुर्य पाया जाएगा; मुख या नासास्रोत से प्रवृत्त होनेवाले कफ में घनत्व उतना न होगा। मधुरता का स्थान संश्रयमूत्र-यन्त्र (बस्ति?) में हो तो मूत्र में माधुर्य पाया जाएगा। इस संप्राप्ति के अनुसार हुए मधुर प्रमेह के दो भेद चरक ने किए हैं--शीतमेह और इक्षुमेह। कफज प्रमेहों की गणना साध्य प्रमेहों में की गयी है। तदन्तर्गत ये दो प्रमेह भी साध्य हैं।

मधुर प्रमेह के जितने रोगी देखे जाते हैं उनमें अधिक संख्या उल्लिखित कफज-प्रमेहाक्रान्त पुरुषों की ही होती है। प्रमेहों की चिकित्सा में कठिन परिश्रम एवं भोजन में यव-सदृश रूक्ष भोजन को आयुर्वेद में प्राधान्य दिया गया है। मधुरादि गुणविशिष्ट निदान-भूत कफवर्धक आहार का परिवर्जन, रूक्ष अन्नपान का सेवन (विशेषतया यव-भोजन), श्रम द्वारा कफ का परिपचन एवं औषधों में भी मधुर गुण के सर्वोपरि विपरीत तिक्त द्रव्यों का[1] उपयोग इस

१--मामज्जक (कड़वी नाई), निम्बपत्र, शिलाजतु, करेले के पत्र या बीज रहित फल, विषतिन्दुक (कुचला), कड़वी बिम्बी, अहिफेन आदि तिक्त द्रव्यों का मधुर प्रमेह में प्रभूत और सफल उपयोग होता है। इनमें भी **विषतिन्दुक** का स्थान अग्र्य है। कारण यह तिक्त होने से तो मधुर रस का प्रशमन करता ही है, अति उत्तम दीपन, पाचन होने से तथा शारीर चेष्टाओं (मांसपेशी-जन्य श्रम) का उद्दीपक होने से धातुओं में पचन की क्रिया को बढ़ाता है। परिणामतया, मधुर गुण का परिपाक हो जाने से वह मूत्रमार्ग से प्रवृत्त नहीं होता। नव्य मत से कहना हो तो, धातुपाक (मेटाबॉलिज्म) की क्रिया उद्दीप्त होने से→

बात का सूचक है कि प्राचीनों ने इस बात का प्रत्यक्ष (ऑब्ज़र्वेशन) किया था कि मधुर प्रमेहों में साध्य कोटि के कफज प्रमेह ही अधिक होते हैं; वातज और असाध्य माने गए मधुमेह (चरक का क्षौद्रमेह) से पीड़ित रोगियों की संख्या उतनी नहीं होती। नव्यमत से भी श्रमाभाव तथा अतिसंतर्पण के कारण अनुपयुक्त होने से मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होनेवाले मधुर द्रव्य के ही रोगी सविशेष देखे जाते हैं। इस स्थिति को 'डायबिटीज़ मेलीटस' नहीं कहा जाता है। इसे 'रीनल ग्लायकोस्यूरिआ' आदि नाम दिए गए हैं। वास्तविक डायबिटीज़ में अग्न्याशय (पेन्क्रियास) में असाध्य स्वरूप की विकृति हो जाती है, जिसका किंचित् परिचय गत अध्याय में कराया जा चुका है। यथार्थ डायबिटीज़ में रस-रक्त में मधुरता की वृद्धि (ब्लड शुगर) होती है, जिसका परिज्ञान प्रयोगशाला में परीक्षा से होता है। प्रायः मधुरप्रमेही रोगियों की यह परीक्षा नहीं की जाती।

मधुर द्रव्यों (मधुर रस वाली शर्कराओं एवं मधुर विपाकवाले गोधूमादि धान्यों) का अतियोग होने से जैसे मलरूप में मूत्रमार्ग से प्रवृत्ति होनेवाले कफ में मधुरता का प्राधान्य होता है, वैसे स्निग्धगुण (स्नेह द्रव्यों) का अतिमात्र सेवन करने से मूत्रमार्ग से उसकी प्रवृत्ति होती है। इसमें मूत्र की धारा का कुछ अंश दुग्ध के समान श्वेत होता है। इसे कफज प्रमेहों में शुक्रमेह या पिष्टमेह (पिष्ट—आटा, उसके द्रव के समान श्वेत) नाम दिया गया है। इसमें स्निग्ध द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। अंग्रेजी में इसे लाइप्यूरिया कहा जाता है। स्नेह (फैट) की प्रवृत्ति एक वातज प्रमेह में भी होती है। इसमें वात का प्रकोप होने से रसायनियाँ भंगुर और विदीर्ण हो जाती हैं। इसमें मूत्र की धारा आदि से अन्त तक संपूर्ण ही दुग्ध के समान श्वेत होती है। आयुर्वेद में इसे वसामेह तथा अंग्रेजी में काइलयूरिया कहा जाता है। उभय मतों से यह विकृति असाध्य है।

अतियुक्त (जिनका अतियोग हुआ है ऐसे) कफ-प्रकोपक द्रव्यों में यदि कदाचित् गुरु-गुण का अति प्रमाण हो तो प्रमेह का स्वरूप भिन्न होता है। शरीर के उपयोग में आया न होने से यह द्रव्य मूत्र में निकलता है। इस मूत्र को कुछ काल पात्र में रहने दें तो यह गुरु द्रव्य अपनी गुरुताजन्य अधोगमनशीलता के कारण नीचे बैठ जाता है। इस प्रमेह में कभी मूत्र सारा ही आविल

१—तथा चेष्टा के आधिक्यवश मधुर द्रव्य (ग्लायकोजन, अपर ओज) का ओषजन के साथ मिलकर दहन (ऑक्सिडेशन) हो जाने से वह मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होने के लिए शेष नहीं रह जाता।

(मलिन, गदला, गाढ़ा, सान्द्र) होता है। इसे आयुर्वेद में सान्द्रमेह कहा जाता है। कभी-कभी सान्द्रता इतनी होती है कि आइसक्रीम ही समझ लें। आविलता (मलांश) किंचित् न्यून हो तो गुरु द्रव्य नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ द्रव रह जाता है। संधान द्रव्यों को थोड़ी देर पड़ा रहने दें तो उनका जैसा स्वरूप होता है उसके साम्य से--अर्थात् ऊपर स्वच्छ (प्रसाद-सदृश) भाग तथा नीचे सान्द्रभाग रहने से इस प्रमेह को सान्द्रप्रसादमेह या सुरामेह कहा जाता है। यह गुरु द्रव्य शरीर के उपयोग में आता तो शरीर के रक्त, मांसादि धातुओं की पुष्टि करता--उन्हें अपने स्वभाव के कारण पुष्ट कर गौरव प्रदान करता। अंग्रेजी में दोनों रोगों को आल्ब्यूमिनयूरिआ कहते हैं। डाक्टरी मत से इसमें वृक्कों के मूत्रोत्सर्जक स्रोत विकृत होने से रस-रक्तगत आल्ब्यूमिन उनमें से क्षरित हो जाता है--वैसे ही जैसे बड़े छिद्रोंवाली चलनी में से स्थूल द्रव्य भी नीचे आ जाता है। यह विकृति (नेफ्राइटिस) जीर्ण हो जाए तो नव्य मत से असाध्य होती है। आयुर्वेद में सान्द्रमेह तथा सान्द्र-प्रसादमेह नाम से वर्णित आल्ब्युमिन-यूरिआ साध्य कोटि में रखा गया है। आयुर्वेद मत से कफप्रकोप तथा उसमें भी सविशेष कुपित गुरु-गुण एवं नवीन प्रत्यक्षानुसार दोष के स्थान-संश्रय के आश्रय भूत अवयव वृक्क-इन दो वस्तुओं को दृष्टि में रखते हुए इस विकार की संप्राप्ति (उत्पत्ति) यों समझी जा सकती है कि प्रकुपित हुए गुरु-गुण के अधोगमनरूप स्वभाव का ही यह परिणाम होता है कि गुरुद्रव्य वृक्क के मूत्रोत्सर्जक स्रोतों को पीडनवश विद्ध कर उनके पार पहुँच जाता है और इस प्रकार मूत्र का अंश बनता है। एक उपमा से इस बात को यों समझ सकते हैं कि यह कुर्ता जिसे मैं पहने हूँ, कोई दस सेर भार सहन कर सकता है। इस पर चालीस सेर भार रखकर उठाया जाय तो यह चर्र बोल जाएगा--भाराधिक्यवश उसमें छिद्र होकर भारी (गुरु) द्रव्य नीचे आ पड़ेगा। गुरु द्रव्यों की अधोगमनशीलता के कारण वृक्क के मूत्रोत्सर्जक स्रोतों की यही वैकारिक स्थिति होती है। सो, चिकित्सा का प्रथम लक्ष्य कफकारी द्रव्यों का परिवर्जन तथा विपरीत-गुण द्रव्यों का सेवन होना चाहिए। साथ ही कफ को समावस्था में लानेवाले अन्य दीपन पाचनादि उपचार भी होने चाहिए।

शरीर-धातुपोषक गुण एक अन्य प्रकार से भी मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता है। नव्य मत से धात्वंशभूत वयोवृद्ध प्रोटीनों का यत्किंचित् पचन होकर उसका मल-भूत यूरिआ सदैव अमुक प्रमाण में मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता रहता है। कभी धात्वंश का पचन अति प्रमाण में हो (यथा अनशनकाल में) तो उसका परिणाम-भूत यूरीआ अधिक मात्रा में मूत्रमार्ग से प्रवृत्त हुआ करता है। मूत्र में दौर्गन्ध्य विशेष हो तो इस स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

कदाचित् गुरुगुण का अतिमात्र सेवन हुआ हो और प्रकुपित कफ का स्थान-संश्रय प्राणवह स्रोतों में हो तो मुख और नासास्रोत से जो कफ प्रवृत्त होता है वह अधिक सान्द्र (घन, गाढ़, मूर्त) होता है। इसे **कफष्ठीवन** नाम दिया गया है। इस कफ में भी नवीन प्रत्यक्षानुसार म्युसीन नामक प्रोटीन प्रधान द्रव्य होता है। धात्वग्नियों का साम्य आदि अनुकूल परिस्थिति होती तो यह द्रव्य रसधातु के अंश के रूप में शरीर धातुओं के आशयों में जा एवं उनके उपयोग में आकर उनका पोषण-तर्पणादि प्राकृत कर्म करता। इस विवरण से यह भी बात प्रसंगवश समझी जा सकती है कि आयुर्वेद में धारण-पोषण-तर्पणादि कर्म रस धातु के भी कहे हैं तथा कफ के भी। प्रश्न हो सकता है कि इन समान कर्मों को करनेवाले दो द्रव्य न मानकर एक ही द्रव्य की कल्पना प्राचीनों ने क्यों न की? इसका उत्तर यह है कि हम जिसे कफ कहते हैं वह रस धातु का अंशभूत रहकर धारण-पोषणादि कर्म करता है। धात्वग्नि दुर्बल हों, पुरुष श्रम न्यून करता हो, उसके स्रोत यथावत् विवृत (चौड़े) न हों अथवा अन्य परिस्थितियाँ जिनका उल्लेख प्राचीनों ने कफ के प्रकोप के कारणों के रूप में किया है, वे विद्यमान हों तो कफ अधिक प्रमाण में बनता है तथा आमाशय, उदरधरा कला, फुप्फुसधरा, हृदयधरा,[1] श्लेष्मधरा आदि के आशयों में संचित होता है, या तत्-तत् बहिर्मुख स्रोत (बहिर्द्वार) से बाहर निकलता है। सामान्यतया जब कफ की पोषक आहारादि सामग्री का समयोग हो तो यह कफ उतने ही प्रमाण में बनता है जितना श्लेषण, क्लेदन आदि के लिए आवश्यक होता है। सम या विषम उभय अवस्थाओं में उत्पन्न यह कफ शरीर धातुओं का पोषण विशेष नहीं करता। किंतु, जैसा कि ऊपर कहा, इसके धातुपोषणादि कर्म तभी व्यक्त होते हैं, जब यह रस-धातु का अंश होकर रहता है। रस और कफ को पृथक् द्रव्य मानने के लिए इनके अन्य कर्मों की पृथकता भी कारणभूत है ही। यथा—रस सर्व शरीर में अनुधावन कर उसका पोषणादि करता है, कफ का समवायि कारण (उपादान) है, इत्यादि।

सम्भव है, कदाचित् कफवर्धक अतियोगयुक्त द्रव्य ऐसे हों, जिनमें पिच्छिल गुण अधिक रहा हो। ऐसे द्रव्यों के अतियोग का परिणाम यह होता है कि शरीर के द्रव धातुओं में पैच्छिल्य (तन्तुमत्ता, फाइब्रिनोजिनेशन) का स्वभाव

१—वस्तुतः उदरधरा, फुप्फुसधरा तथा हृदयधरा कला श्लेष्मधरा कला के ही भेद हैं। इन में जो द्रव रहता है वह इन अवयवों की चेष्टा के समय होने वाले घर्षण से रक्षा करता है। श्लेष्मधरा कला का यह लक्षण इन पर भी घटित होने से इन्हें भी श्लेष्मधरा ही कहना संगत है।

अधिक हो जाता है। ऐसे कफ-प्रकोप से आक्रान्त रुग्णों में योनिमार्ग आदि से जो रक्त प्रवृत्त होता है, उसमें स्कन्दन का स्वभाव होने से वह निकलते ही जम जाता है। ऐसे रक्त को 'मांसपेशीप्रभ' यह उपमा दी गयी है। इन पुरुषों को विसर्प या अग्निदग्ध व्रण हो तो जो स्फोट (छाले, वेसाइकल्स) बनते हैं वे फूट जाएँ या भूल से फोड़ डाले जाएँ तो जो द्रव प्रवृत्त होता है वह व्रणित स्थान से अनायास बह नहीं जाता, जैसा कि सामान्यतया स्फोटों में देखा जाता है; किन्तु निर्गत लसीका (सीरम) गुरु और पिच्छिल गुणों के कारण जमकर भारी, चकत्ते जैसी और स्थिर होती है। अंगुली या संदंश यन्त्र (चिमटी) आदि से हिलाने से ही स्थानभ्रष्ट होती है। स्कन्दन का कारण द्रव्य भी नव्यमत से फाइब्रिन नामक प्रोटीन ही है। यह भी अनुकूल परिस्थिति होती तो रस-धातु के अंश-रूप में रह कर शारीर धातुओं के पोषणादि प्राकृत कर्म करने में प्रयुक्त होती।

कफ के प्रमुख गुणों में एक मन्द है। यद्यपि आहारौषध भी इसके प्रकोपक हैं; परन्तु भल्लातक आदि तीक्ष्ण (शरीर के द्रव द्रव्यों का वेग बढ़ानेवाले) द्रव्यों का जैसा प्रभाव देखा जाता है, वैसा मन्द गुणवीर्ययुक्त द्रव्यों का नहीं देखा जाता। मन्द गुण का प्रकोप विशेषतया आनूप (जलप्राय, डैम्प क्लाइमेट वाले) देशों में जल, स्थल तथा वायु के प्रभाव से होता है। इसके कारण शरीर के समस्त स्रोतों में द्रव द्रव्यों की गति मन्द (स्लगिश) होकर अग्निमान्द्य, गौरव, आलस्य आदि तत्तत् परिणाम होते हैं।

इस प्रकार कतिपय उदाहरण देकर हमने यह समझाने का प्रयास किया है कि आयुर्वेद में जिन रोगों को कफज कहा जाता है उनमें कफ के सब गुणों का समान प्रकोप नहीं होता। निदान के अनुसार अमुक-अमुक गुण का विशेषतया प्रकोप (वृद्धि) होता है। सो, चिकित्सा में भी उसी गुण के विपरीत गुण का यथावत् सेवन कराने पर लक्ष्य देना चाहिए। इस प्रकार विचार किए बिना जिस-किसी कफकारक द्रव्य का सेवन छुड़ा दिया जाएगा तो कफ के प्रकोप पर यत्किंचित् शामक प्रभाव पड़ेगा इसमें संशय नहीं; पर संभव है जिस गुण का ह्रास करना अभीप्सित नहीं है, उसका भी ह्रास होकर शरीर को उसके क्षय के परिणामों का भोग होना पड़े।

इन पृष्ठों में किए विवरण से एक और बात समझी जा सकती है। आयुर्वेद में जिसे कफ नाम दिया गया है, वह द्रव्य नवीन प्रत्यक्षानुसार अनेक प्रकार का है। धारण-पोषणादि कर्म, विकार, प्रकोपादि कारण, चिकित्सा इत्यादि के साम्य से इन सर्व द्रव्यों को कफ इस एक श्रेणी में आयुर्वेद में समाविष्ट किया गया है।

एक और बात प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समझ लेनी चाहिए। कफ नाम से लोक में सामान्यतया मुख या नाक से निकलनेवाला पिच्छिल द्रव्य-विशेष ही

गृहीत होता है। इस लोक-व्यवहार से आयुर्वेद को समझने में उपयोगी एक तत्त्व ग्रहण किया जा सकता है। और वह यह कि कफ का प्रकोप शरीर के किसी भी भाग में किसी भी रूप में हुआ हो, प्राणवह स्रोतों में कफ के प्रकोप को देखकर उसका अनुमान किया जा सकता है। कारण, प्रकुपित हुए कफ, वात, पित्त तीनों दोषों का स्थान-संश्रय अवयव-विशेष में होने से निजनाम-प्रसिद्ध तत्-तत् रोग होते हैं, यह सत्य है; तथापि सर्व अवस्थाओं में सर्व दोष सारे शरीर और समस्त स्रोतों में संचरण के स्वभाववाले होने से उनका प्रभाव शेष अवयवों और स्रोतों पर भी पड़ता ही है। परिणामतया, प्रकुपित दोष का स्थानसंश्रय जिनमें नहीं हुआ है, ऐसे अवयवों, आशयों और स्रोतों में भी उनके प्रकोप के लक्षण यत्किंचित् भी प्रमाण में लक्षित होते ही हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कफ ने चाहे जिस अवयव में स्थानसंश्रय कर रोग-विशेष उत्पन्न किया हो, उसके प्रकोप का परिज्ञान प्राणवह स्रोतों में प्रकुपित और मुख या नासिका से प्रवृत्त कफ को दृष्टि में रख कर किया ही जा सकता है। प्रकोप के समान शरीर के किसी भी अवयव में कफ का क्षय और साम्य भी इस कफ के प्रमाण को लक्ष्यमें रखकर सरलता से जाना जा सकता है। वृद्ध वैद्य कफ की परीक्षा इस कफ को दृष्टिगत रख कर ही करते हैं। सो, यह कफ संकेत है—सिगनल है, शरीर में कफ के साम्य, क्षय या वृद्धि को जानने का। सो, कफज रोगों में कफ का स्थान और स्वरूप पृथक्-पृथक् शास्त्र में निर्दिष्ट होने पर भी आयुर्वेद की परम्परा विच्छिन्न हो जाने से लोक में कफ नाम केवल बलगम के लिए प्रचलित रह गया और आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त के उपहास्य का हेतु बन गया।

किंबहुना, कफ के अंशांश-विकल्प आदि को चित्त में रख कर जैसी स्पष्टता ऊपर की गयी है, उसी पद्धति से पित्त और वात के विषय में भी विशदता जान लेनी चाहिए। अन्त में यह भी समझ लेना चाहिए कि पित्त और वात ये संज्ञाएँ भी समान गुण-कर्म-चिकित्सा आदिवाले अनेक-अनेक द्रव्यों के वर्गों की हैं, तथापि लोक में यकृत् से स्रुत होनेवाले हरित-पीत द्रव्य-विशेष के लिए तथा प्रायः अधोमार्ग से प्रवृत्त होनेवाले द्रव्यविशेष के लिए इन संज्ञाओं का (पित्त और वात इन शब्दों का) क्रमशः प्रयोग रूढ़ रह गया है। उसका हेतु यही है कि पित्तवर्गीय द्रव्यों के साम्यादि के ज्ञान के लिए यह याकृत पित्त एवं वातवर्गीय द्रव्यों की त्रिविध अवस्थाओं को समझने के लिए अधोद्वार से प्रवृत्त यह वायु संकेत-रूप है। उपसंहार के रूप में दिए वात-पित्त-कफ के स्वरूप के द्योतक इस सूत्र को विद्यार्थी सदा स्मरण रखें तो रोगों के निदान और चिकित्सा को आगम-काल (अध्ययन-काल) तथा व्यवसाय-काल दोनों कालों में यथावत् समझने का मार्ग उनके लिए परिष्कृत हो जाएगा।

कफ-नानात्मज रोगों तथा उनके सम्बन्ध में उपयोगी समझे गए इतने विवरण के पश्चात् अब चालीस पित्तनानात्मज रोगों का उल्लेख क्रम-प्राप्त होने से किया जाता है।

पित्त-नानात्मज रोग

पित्त-विकारों के सामान्य लक्षण--

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा--औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा, यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं च पित्तस्य कर्माणि। तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१५[1]

पित्त-नानात्मज रोगों का निर्देश अनुपद (तत्काल पीछे) किया जायगा। परन्तु पित्त-नानात्मज रोग इतने ही नहीं हैं। निर्दिष्ट रोग तो अल्पबुद्धि विद्यार्थियों के मार्गदर्शनार्थ प्रदत्त उदाहरण मात्र हैं। यत्सत्यं, पित्तविकार असंख्य हैं। तथापि, पित्त के स्वाभाविक स्वरूप और वैकारिक कर्म के परिचायक अमुक नियत लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक किंवा सम्पूर्ण संख्या में एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग में उपलब्ध हों तो निःसंशय पित्त-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगों का यहाँ किंवा शास्त्र में अन्यत्र उल्लेख न किया गया हो उनका भी परिज्ञान इन लक्षणों (इन गुण-कर्मों) को दृष्टि में रखकर इसी परिपाटी से करना चाहिए। संसृष्ट (द्वंद्वज) या सन्निपतित (त्रिदोषज) रोगों में भी पित्त के प्रकोप का निर्णय इन्ही लक्षणों को देखकर करना चाहिए।

पित्त के स्वरूप-द्योतक लक्षण (गुण) अधोलिखित हैं--१. उष्णता। २. तीक्ष्णता (दाह और पाक का स्वभाव, किंवा आशु-कारिता[2]) ३. द्रवत्व

१--अ. सं. सू. २०, अ. हृ. सू. १२।५१-५२ तथा तथा काश्यप-संहिता सू. २७।३४-४६ में भी ये लक्षण तथा नानात्मज रोगों का उल्लेख देखिए।

२--तीक्ष्ण गुण के दोनों ही अर्थ तन्त्रकारों ने किये हैं। उसे दाहपाककर भी कहा है, और मन्द का विरोधी भी। दोनों ही धर्म पित्त में प्राकृत होने से दोनों का यहाँ ग्रहण किया है। काश्यप ने तैक्ष्ण्य गुण ही दिया है।

(पित्त में द्रव के आकर्षण का स्वभाव--ऑस्मोटिक प्रेशर--विशेष होने से उसमें इस गुण का अनुमान किया गया है; यथा, महास्रोत में याकृत पित्त अधिक होने से[1] मल में द्रव का आधिक्य और उसका प्रमाणातिशय होता है; इसी कारण व्रण, मुख, त्वचा आदि में भी तत्तत् रूपमें द्रव-द्रव्य का आधिक्य होता है); ४. ईषत् (किंचित्) स्निग्धता; ५. कफ-प्रकोप के सूचकशुक्लवर्ण तथा वात-प्रकोप के सूचक अरुणवर्ण से भिन्न पीत-हरितादि वर्णान्तर; ६. विस्र (आम, कच्ची मछलियों जैसी; गुजराती में खोरो) गन्ध, (पित्त-प्रधान पुरुषों के केश, त्वचा, पहने हुए या पोंछने के वस्त्र आदि में इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है); ७. कटु (तिक्त) तथा अम्ल रस; ८. सरत्व (मलों, विशेषतया पुरीष का अनुलोमन--अपने बहिर्मुख की ओर समभाव से गति; इसका कारण पित्त का द्रव गुण होता है)। पित्त में ये स्वाभाविक गुण होने से उसका प्रकोप होने पर आगे कहे दृष्टान्त-भूत, अथवा इनसे भिन्न शास्त्र में अनुपदिष्ट, किंवा अन्य दोषों से संयुक्त कोई भी पैत्तिक विकार होगा तो उसमें पित्त के आगे कहे कर्म, जो कि उल्लिखित गुणों का प्रकोप होने के ही परिणाम-भूत हैं, अवश्य पाए जाएँगे।--

१. दाह--एकाङ्ग, सर्वाङ्ग, हृत्कण्ठ आदि अन्तरवयवों या त्वचा आदि बहिरवयवों में जलन-सी होना; (अंग्रेजी में कॉज़ेल्जा या थर्मैल्जा);

२. उष्णता--सर्वाङ्ग, अर्धाङ्ग या एकाङ्ग में उष्णता सम (नॉर्मल) से अधिक होना;

३. पाक--अन्नपान का जठराग्नि द्वारा तथा रस धातु का धात्वग्नियों द्वारा अतिशय पाक होना; परिणामतया रस-क्षय होने से धातुओं की क्षीणता आदि विकार होना; नव्य मत से जठराग्नि के प्रकोप का साम्य लवणाम्ल के प्रकोप--हायपरक्लोरहाइड्रिया से तथा धात्वग्नियों के प्रकोप का साम्य विशेषतया हायपर थायरॉयडिज्म तथा इन्सुलीन के मात्राधिक्य से देखा जा सकता है। प्रथम विकार के लक्षण प्राचीनोक्त रस-क्षय के लक्षणों--हृत्कम्प आदि-

---

१--पित्ताधिक्यवश मल में द्रवत्व और उसके कारण प्रमाण का आधिक्य होता है। प्रवृत्ति भी सुख से, समयपर और अहोरात्र में अनेक वार होती है। अतः रोगी और कभी चिकित्सक भी समझता है कि, मलशुद्धि सम्यक् हो रही है। परन्तु इतर लक्षण देखकर विरेचन की उपयुक्तता का निर्णय करना चाहिए। विशेषतया, यहाँ इस बात को लक्ष्य में रखना चाहिए कि पित्तप्रकोप में तो विरेचन को ही सर्वोपरि उपचार माना गया है। अतः सर्व प्रकार से विरेचन विधेय होता है।

से सविशेष मिलते हैं। प्राचीनों ने तो अत्यग्नि (जाठराग्नि का प्रकोप) के लक्षणों में धातु-क्षय की भी गणना की है। उनके मत से वह सत्य है। कारण, आयुर्वेद में धात्वग्नियों का बल जठराग्नि के आश्रित होने से जठराग्नि का प्रकोप होने पर धात्वग्नियों का भी प्रकोप होना बुद्धिगम्य है। नव्य मत से परीक्षा करनी चाहिए कि हायपरक्लोरहाइड्रिया के साथ थायरॉक्सिन, इन्सुलीन आदि का प्रकोप--हायपरसिक्रीशन--होता है, या नहीं ? पाक का अन्य अर्थ नवीनों का इन्फ्लेमेशन तथा व्रण आदि में स्थित धात्वंश का पूय-रूप में परिणमन है।

४. स्वेद---पित्त के द्रव गुण के कारण शरीर में क्लेद का आधिक्य होने से उसके विशोधन के हेतु मलक्षेपणकर्मा वायु की क्रिया से स्वेद में भी वृद्धि हो जाती है--अंग्रेजी में हायपरहाइड्रोसिस ;

५. क्लेद--रस, रक्त, मल, मूत्र, त्वचा, मुख आदि में तत्-तत् द्रव्य के रूप में द्रवत्व की अधिकता होना। स्मरण रहे, क्लेद और स्नेह इन दो गुणों में परस्पर भिन्नता है। क्लेद द्रवत्व के कारण और स्नेह मुख्यतया कफ के कारण होता है। यथा, मुख में द्रवत्व लालास्राव के कारण तथा स्निग्धता बोधक कफ (म्युकस) के कारण होती है। त्वचा में क्लेद (आर्द्रता--भीनापन) स्वेद के कारण तथा स्निग्धता मज्जा के स्नेह के कारण होती है। नवीनों ने भी त्वचा में स्निग्धता का कारण स्वेद से भिन्न, सिबेशस ग्लेण्ड्स से स्रुत होनेवाला स्निग्ध-द्रव्य-विशेष (सीबम) को बताया है। प्राचीनों ने इसका सम्बन्ध मज्जा धातु के साथ माना है ;

६. कोथ--सड़ना, गलना ; पक्वाशय में पुरीष तथा मूत्र एवं व्रणों में धात्वंश आदि में पूतिभाव--प्युट्रफेक्शन--होना ;

७. कण्डू (खुजली, इच)[1] ;

८. स्राव--व्रण, मुख, मल, त्वचा आदि से लसीका-प्रभृति तत्-तत् द्रव-द्रव्य का अति स्राव ;

१—कामला (जॉण्डिस, इक्टरस) में आधुनिकों ने कण्डू (त्वचा में खुजली) एक लक्षण बताया है, तथा इसका कारण पित्त (बाइल) बताया है। प्राचीनों ने कामला के लक्षणों में इसका उल्लेख नहीं किया है। यों भी यह कामला का कोई नियत (इनवेरीएबल) लक्षण नहीं है। कण्डू लक्षण कफ-प्रकोप में होता है, यह प्रसिद्ध है। पर यहाँ तथा काश्यप संहिता में दिए पित्त के कर्मों में कण्डू की भी गणना है। कामला में अनिर्दिष्ट तथापि कई रोगियों में प्रत्यक्ष इस लक्षण का ग्रहण इस प्रकरण से हो सकता है। कण्डू का प्रमाण जितना अधिक होगा, कफ का प्रकोप उतना ही अधिक समझना चाहिए, कारण यह कफ का मुख्य लक्षण है।

९. राग--उल्लिखित गौर तथा अरुण से भिन्न विविध वर्णान्तर एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में एवं मल, मूत्र, लसीका, योनि आदि मार्गों से प्रवृत्त रक्त इत्यादि में दृष्टिगत होना ;

१०. मुख आदि में तिक्त[१] या अम्ल रस का स्वाद ;

११. आम (विस्र) गन्ध--पित्त के पूति गुण (कोथ या सड़ाँद के स्वभाव) के कारण यह लक्षण होता है ; पर्याय--दौर्गन्ध्य या वैगन्ध्य ;

१२. शरीर-शैथिल्य--अङ्गसाद ; अंग्रेजी में लेसीट्यूड ;

१३. मूर्च्छा--आँखों के आगे अँधेरा छाना (तम)--इस स्थिति से ले कर मोह (कॉमा) एवं यथार्थ मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त कोई भी अवस्था होना ;

१४. मद--नशा-सा प्रतीत होना ; पित्त के तीक्ष्ण--मन्द-विरोधी--गुण के कारण बुद्धि के अधिष्ठानों में जानेवाले रस-रक्तवह स्रोतों में बाह्य द्रव्य का वेग तथा प्रमाण अधिक हो जाने से यह स्थिति होती है ; नवीनों का हायपर-टेन्शन या हाई ब्लडप्रेशर ;

१५. कोठ--शीतपित्त-सदृश मण्डल[२] ।

पित्तनानात्मज रोग[३]--

पित्त का प्रकोप होने पर यों तो उल्लिखित लक्षणों और कर्मोंवाले असंख्य रोग हो सकते हैं तथापि इनमें जो चालीस रोग चिकित्सा-व्यवसाय में सविशेष देखे जाते हैं, व्यवसायोपयुक्त होने से उनका उल्लेख किया जाता है ।

१. ओष--सर्वाङ्ग में स्वेद और अरतियुक्त तीव्र दाह ;

२. प्लोष--अग्नि के असह्य ताप के समीप बैठे हों ऐसी व्यथा ;

३. दाह--प्रादेशिक (एकाङ्गगत, लोकल) जलन ;

४. दवथु--चक्षु आदि इन्द्रियों से तीव्र ऊष्मा की प्रवृत्ति का भास। पर्याय--ऊष्मायण ;

५. धूमक, धूमायन या धूमोद्गार--शिर, ग्रीवा, नासिका, कण्ठ और तालु से धूम (गरम धुँए) की प्रवृत्ति की प्रतीति ;

६. अम्लक--अम्लोद्गार। अन्नपान के अम्लपाक (विदग्धाजीर्ण) के

१--कटु का अर्थ पित्त-प्रकोप के प्रसंग में तिक्त किया जाता है। यथा देखिए--अ. हृ. सू. १२।५१-५२ पर अरुणदत्त--कटुकः तिक्तको रसः, 'कषाय तिक्तमधुरं वातादिषु सुखं क्रमात्' इति वचनात् ।

२--काश्यप ने लाघव की भी गणना इस प्रकरण में की है ।

३--देखिए--च. सू. २०।१४ ; शा० पू०७।११६-१२१ ; अ. सं. सू. २० ; काश्यपसंहिता--सू. २७।३४-३७ ।

कारण हुए उत्क्लेशवश, अर्थात् मलक्षेपणकर्मा वायु विदग्ध अन्न को निकटवर्ती मार्ग मुख से बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, उसके कारण, विदग्ध --अजीर्ण-वश सेन्द्रिय अम्लों (ऑर्गेनिक एसिड्स) के रूप में परिणत--अन्न के अम्ल उद्गार ;

७. विदाह--हाथ, पैर, अंसमूल (काँख) आदि में विविध दाह। विदाह का अर्थ अम्लपाक भी होता है ; वह भी पित्त नानात्मज विकार है ; परन्तु उसका ग्रहण अम्लोद्गार तथा अन्तर्दाह से हो जाता है ;

८. अन्तर्दाह--कुक्षि, हृदय तथा कण्ठ में शूल-सहित दाह। पर्याय--कोष्ठदाह, हृत्कण्ठ-कुक्षिदाह ; अंग्रेजी में हार्ट-बर्न ; पायरोसिस ; वॉटर ब्रैश[1] ;

९. अंसदाह--कन्धों में दाह ;

१०. ऊष्माधिक्य--शरीर के ऊष्मा में वृद्धि ;

११. अतिस्वेद--स्वेद पित्त (भ्राजक पित्त) का स्थान है। प्राचीनों ने भ्राजक पित्त का कर्म शरीर के ऊष्मा का नियन्त्रण करना कहा है। पित्त के अनेक स्थानों में एक स्वेद है। स्वेद और भ्राजक पित्त दोनों त्वगाश्रित होने से स्वेद भ्राजक पित्त का ही स्थान होना चाहिए इसमें विवाद नहीं हो सकता। नव्य मत की सहायता से कह सकते हैं कि यह त्वगाश्रित भ्राजक पित्त अपने ऊष्मा से स्वेद का बाष्पीकरण करके शरीरोष्मा का नियमन करता है। अति-स्वेद (हाईपरहाइड्रोसिस) का एक स्मरणीय परिणाम यह होता है कि जिस हस्तपादतल आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में अतिस्वेद होता है, वह स्थान अतिशीत हो जाता है। सर्वाङ्गशैत्य के कारण गम्भीर परिणाम होते हैं ;

१--ओष आदि का यहाँ दिया अर्थ अष्टाङ्गसंग्रह में दिए इनके अधोलिखित लक्षणों के आधार पर है--

हृदादौ शूलवद्दाहो योऽन्तर्दाहः स कीर्तितः।
पाणिपादांसमूलेषु संतापो विविधस्तु यः॥
स विदाह इति प्रोक्तो,दाहः प्रादेशिकस्तु यः।
अग्न्यर्चिषेव निःस्वेदः स प्लोषः परिकीर्तितः॥
ओषः सर्वाङ्गिकस्तीव्रो दाहः स्वेदारतिप्रदः।
दवथुश्चक्षुरादिभ्यस्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते॥
मुखौष्ठतालुषु दवश्चाम्लोद्गिरणमम्लकः।
धूमायनं शिरोघ्राणकण्ठतालुषु धूमकः॥ अ. सं. सू. २०

इसी प्रकरण में संग्रहकार ने कफरोग-विशेष **स्तैमित्य** का अर्थ प्रमीलक (तन्द्रा आदि के कारण आँख मिची-सी रहना) बताया है--**प्रमीलकस्तु स्तैमित्यम्।**

१२. अङ्गगन्ध--त्वचा, मुख, मल, मूत्र, प्रस्वेद, अँगोछा, वस्त्र आदि में दौर्गन्ध्य। दुर्गन्धयुक्त मूत्र का अर्थ यह है कि प्रवृत्ति के पश्चात् लगभग तत्काल ही मूत्र में कोथ (प्युट्रिफेक्शन) हो दुर्गन्ध छूटने लगती है;

१३. अङ्गावदरण--गुद, ओष्ठ, जिह्वा आदि में चीर (चीरे, फिशर) पड़ना। संग्रहकार ने इस क्रम पर अङ्गावयव-सदन यह पाठान्तर दिया है। इसका अर्थ है--सर्वाङ्ग किंवा एकाङ्ग का साद (शैथिल्य; चेष्टा की अप्रवृत्ति; लेसीट्यूड);

१४. शोणितक्लेद--रक्त में द्रवांश का आधिक्य। यह स्थिति पाण्डु रोग में रक्त धातु (रक्तकण) का क्षय होने से, विशेषतया उपद्रव रूप में साथ ही शोथ होने से होती है। लोक व्यवहार में इसे 'लहू का पानी हो जाना' कहते हैं; संग्रहकार ने शोणितस्य कृष्णतावदौर्गन्ध्यतनुत्वानि क्लेदः इस व्याख्या द्वारा तनुत्व नाम से रक्त में द्रवत्व के साथ कृष्णता और दौर्गन्ध्य का भी क्लेद शब्द से ग्रहण किया है; तनुत्व=पतलापन;

१५. मांसक्लेद--मांस धातु में द्रवांश का अधिक होना; परिणामतया शरीर का बल और पुष्टि-रूप मांस धातु के कर्मों का ह्रास होने से शरीर-दौर्बल्य; पेशियाँ शिथिल और पोची हो जाना। संग्रहकार ने क्लेद का अर्थ मांस में कृष्णता तथा दौर्गन्ध्य किया है;

१६. त्वग्दाह--यहाँ मांसदाह पाठान्तर है;

१७. त्वगवदरण--त्वचा में चीर पड़ना;

१८. चर्मदलन (पर्याय--चर्मावदरण)--त्वचा के छिलके उतरना (एक्सफोलिएटिव डर्मेटाइटिस); अथवा चर्मदल नामक रोग, जिसमें हस्त-पादतल में कण्डू, पीड़ा, ओष तथा चोष होते हैं--स्युर्येन कण्डुव्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति--सु० नि० ५।१०। चक्रपाणि ने त्वगवदरण तथा चर्मदलन का अर्थ दोनों रोगों में भेद दर्शाते हुए यह बताया है कि केवल बाह्य त्वचा का फटना त्वगवदरण तथा छहों त्वचाओं का फटना चर्मदलन कहाता है;

१९. रक्तकोठ--त्वचा पर शीतपित्त के समान आकार के परन्तु अधिक रक्तवर्ण मण्डल उत्पन्न होना;

२०. रक्तविस्फोट--त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्तवर्ण या रक्तपूर्ण छाले (वेसाइकल्स, ब्लिस्टर्स) पड़ना;

२१. रक्तपित्त--अश्मरी आदि स्थूल कारणों के विना केवल पित्त की तीक्ष्णता से रक्त दुष्ट होने से मुख, नासा, नेत्रपक्ष्म (पलक), गुद, योनि, त्वचा

आदि किसी मार्ग से रक्त की प्रवृत्ति होना[१]। यहाँ उस रक्तपित्त रोग का ग्रहण है जिसमें इतर दोषों का संपर्क न हो ;

२२. रक्तमण्डल--त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्तवर्ण दाग (चकत्ते) पड़ना ;

२३. हरितत्वम्--त्वचा या श्लेष्मकला की हरितता। यह हलीमक रोग में होती है ;

२४. हारिद्रत्व--त्वचा या श्लेष्मकला हरिद्रावर्ण होना। यह कामला आदि रोगों में याकृत-पित्त-गत रंजक द्रव्य के आधिक्य से होता है। नेत्र, मूत्र तथा पुरीष की हरित-हारिद्रवर्णता का आगे उल्लेख पृथक् किया है ;

२५. नीलिका--त्वचा या श्लेष्मकला पर नीलवर्ण (श्यामवर्ण) मण्डल या दाग (काले धब्बे) होना ;

२६. कक्षा (कक्ष्या)--कक्षा (बगल) में होनेवाले मांसधातु तक पहुँचे स्फोट (कचनारी ; गुजराती में काँखबिलाड़ी)। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इसमें रस-ग्रन्थियों का शोथ और पाक होता है ;

२७. कामला--रक्त का क्षय हो कर पित्त की अति पुष्टि होने से (पाण्डु रोग के अनुबन्ध रूप में) अथवा कफ-कृत मार्गावरोध के कारण पित्त का संचय-प्रकोप होकर यह होती है ;

२८. तिक्तास्यता--मुख का रस (स्वाद) कडुआ होना। यह याकृत पित्त के कारण होता है ;

२९. लोहितगन्धास्यता--मुख में रक्त का स्वाद प्रतीत होना। शार्ङ्गधर ने लोहगन्धास्यता विकार लिखा है। उसका अर्थ मुख में धातु का गन्ध (रस) प्रतीत होना, जिसे अंग्रेजी में 'मेटलिक टेस्ट' कहते हैं। स्मरण रहे, लोह शब्द का अर्थ लोहा प्रसिद्ध है, परन्तु आयुर्वेद तथा इतर प्राचीन वाङ्मय में इसका अर्थ धातुमात्र है। लोहे के लिए अयस् शब्द है ;

३०. पूतिमुखता--मुखदौर्गन्ध्य तथा श्वास में दुर्गन्ध आना ;

३१. तृष्णाधिक्य--अतितृषा (पॉलीडिप्सिआ या एक्सेसिव थर्स्ट) ;

१--गुजराती में रक्तपित्त शब्द महाकुष्ठ (लेप्रसी) के लिए प्रचलित है। वह शास्त्रीय नहीं, पर शास्त्रशुद्ध है। कारण, कुष्ठों में तीन दोष तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका (सीरम) ये सात दोष-दूष्य होते हुए भी दोषों में पित्त का तथा दूष्यों में रक्त का प्राधान्य होता है। पित्त का भी दुर्गन्ध (पूति) गुण विशेष प्रकुपित होता है, जिससे शरीर में कोथ होकर तत्तत् विकार होते हैं। नव्य मत से ऐसा शरीर रोग-बीजों के लिए विशेष गम्य (ससेप्टिबल) होता है।

३२. अतृप्ति--अति क्षुधा, अत्यग्नि, भस्मक, (बुलीमिया, एक्सेसिव मॉर्बिड हंगर) ; बार-बार और प्रभूत अन्नपान का सेवन करने पर भी तृप्ति या संतोष न होना ;

३३. आस्यविपाक--मुखपाक (स्टॉमेटाइटिस ; स्टॉमा=मुख) ;

३४. मलपाक--(फॉरिंजाइटिस) ;

३५. अक्षिपाक--(कंजंक्टिवाइटिस--आँख आना)। अक्षिपाक का एक प्रकार शुष्काक्षिपाक (ज़ेरोफ्थेल्मिया) है। वह अपनी शुष्कता आदि लक्षणों के कारण वात-प्रधान है। नवीन मत से विटामीन 'ए' का हीनयोग उसमें होता है ;

३६. गुद्पाक--बच्चों में इस विकार को अहिपूतन कहते हैं। (प्रॉक्टाइटिस ; प्रॉक्टा=अधरगुद, एनस) ;

३७. मेढ़्पाक--शिश्न का शोथ ; (पेनाइटिस) ;

३८. जीवादान--गुद, शिश्न, योनि आदि मार्गों से शुद्ध रक्त का निर्गमन। रक्तपित्त में पित्त-दूषित रक्त की प्रवृत्ति होती है तथा जीवादान में शुद्ध रक्त जिसे जीवशोणित कहते हैं, उसकी प्रवृत्ति होती है, यह दोनों में भेद है ;

३९. तमःप्रवेश--तम ; आँखों के आगे अन्धकार छाना ; तिमिर। गुजराती में तिमिर का ही अपभ्रंश तम्मर शब्द तमःप्रवेश के लिए प्रसिद्ध है। नेत्ररोग-विशेष की वाचक तिमिर संज्ञा से यह भिन्न है ;

४०. हरितहारिद्र-नेत्र-मूत्र-वर्चस्त्व--नेत्र (आँख की श्लेष्मकला, मूत्र तथा पुरीष हरित या हरिद्रावर्ण होना। हरितवर्ण याकृत पित्त के कोथ के कारण होता है ; हारिद्रवर्ण याकृत पित्त के रंजक-द्रव्य विशेष से होता है। नेत्रादि की हारिद्रवर्णता कामला में तथा हरितता हलीमक रोग में होती है। पैत्तिक प्रमेहों में भी ये विकार लक्षित होते हैं। बच्चों में पुरीष की हरित-हारिद्रवर्णता (हरे-पीले दस्त, जो अजीर्ण-वश होते हैं) सुविदित है।

इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ च० सू० २०।१४

इस प्रकार अपरिसंख्येय भी पित्त-विकारों में केवल चालीस सुप्रसिद्ध पित्त-नानात्मज रोगों का उल्लेख अल्पबुद्धि विद्यार्थियों के मार्गदर्शनार्थ किया गया है। अन्य पित्त-विकारों का विचार इसी परिपाटी से किया जा सकता है।

काश्यपसंहिता में चालीस पित्तविकारों में वमन, ज्वर तथा अङ्गशीरण (अङ्ग झड़ जाना) विशेष लिखे हैं। वमन में वान्त द्रव्य पीतवर्ण, तिक्ताम्लरस हो तो वमन पित्तकृत समझनी चाहिए। वान्त द्रव्य पिच्छिल (तन्तुमान्) हो

तो इसे कफज वमन समझना चाहिए। मिथ्या (शुष्क) वमन जिसमें वमन के लिए किए जानेवाले प्रयत्न का शब्द उच्च हो परन्तु प्रवृत्ति किसी द्रव्य की न हो तो उसे वातिक वमन (वात की प्रतिलोमगति से हुई वमन) मानना चाहिए ;

ज्वर—ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना--अ० हृ० चि० १।१६--सामान्य या अधिक ऊष्मा पित्त के बिना हो नहीं सकता और ऊष्मा के बिना ज्वर नहीं हो सकता ; अतः ज्वर का कारण पित्त ही है। शेष लक्षणों में प्रधान दोष-विशेष को लक्ष्य में रखकर ज्वर का दोषानुसार भेद किया जाता है। ज्वर में पित्त के इस प्राधान्य को लक्ष्य में रखकर ही संसृष्ट या संनिपतित ज्वरों में पित्त का उपचार प्रथम करने का (देखिए--सु० उ० ३९। २९४ ; सु०उ०४०।१६१) एवं तरुण ज्वरों में तिक्त रस के सेवन का दोष-पाचनवर्ग में विधान है। (देखिए च० चि० ३।१४२)

अङ्गशीरण--यह प्रसिद्ध है ; कुष्ठादि रोगों में होता है।

शार्ङ्गधरोक्त पित्त-नानात्मज रोग--

शार्ङ्गधर ने भी चालीस ही पित्तनानात्मज रोग दिए हैं। परन्तु वे लोक में अधिक देखे जानेवाले, अतएव ज्ञातव्य होने से नीचे दिए जाते हैं--

१. धूमोद्गार (दुर्गन्धयुक्त ऊर्ध्ववात ; ऑफेन्सिव इरक्टेशन ; बेल्चिंग ऑफ फाउल-स्मेलिंग गैस) ;

२. विदाह ; ३. उष्णाङ्गता--शरीर किंवा योनि, गुद आदि स्रोतों का स्पर्श उष्ण होना ; ४. मतिभ्रम--चित्त विक्षिप्त होना ; निश्चय न कर पाना ; ५. कान्तिनाश--प्रभाशून्यता ; ६. कण्ठशोष-गला सूखना। ७--मुखशोष ;

८. अल्पशुक्रता--परिणाम में रति की इच्छा, शक्ति, संतान आदि की अल्पता ; ९. तिक्तस्यता--मुख का रस कड़ुआ होना ; १०. अम्लवक्रता--मुख का रस अम्ल होना ; ११. अतिस्वेद ;

१२. अङ्गपाक--मुख, गुद, शिश्न, अपत्यपथ--योनि, नेत्र आदि का पाक ; १३. क्लम—आयास विना श्रम ; एग्ज़ॉशन, १४. त्वचा आदि की हरितता ; १५. अतृप्ति ; १६. त्वचा आदि की पीतता,

१७. रक्तपित्त—अपत्यपथ, गुद, नासिकाइ त्यादि मार्गों से रक्तस्राव ;

१८. अङ्गों में चीर पड़ना--यह स्थिति वात से भी होती है ; यहाँ पित्तवश पड़नेवाले चीरों का ग्रहण है ; १९. मुख में लोह (धातु) का रस होना ; (मेटलिक टेस्ट) ; २०. शरीर आदि में दौर्गन्ध्य ; २१. मूत्र की पीतता ;

२२. अरति--पित्त-प्रकोपवश धातुओं का क्षय, रस-रक्त में उष्णत्व आदि के कारण हुई ग्लानि या बेचैनी। बहुत वार यह पूर्व-सेवित अन्न-पान अत्यग्नि-वश जीर्ण होने के अनन्तर आमाशय रिक्त होने पर होती है और यत्किंचित् खा लेने पर शान्त हो जाती है। अरति की व्यथा लेकर आए रोगी को प्रश्न कर यह स्थिति जान लेनी चाहिए जिससे निदान शुद्ध होकर चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ हो जाए ;

२३. पुरीष की पीतता ; २४. वस्तुएँ पीतवर्ण दीखना ; २५. नेत्रों की (नेत्रों की श्लेष्मकला की) पीतता ; २६. दन्तों की पीतता ;

२७. शीत आहार, देश (स्थान), शयन, आसन आदि की इच्छा ; २८. नखों की पीतता ;

२९. तेजोद्वेष--प्रकाश तथा चमकीली वस्तुएँ न देख सकना ; फोटोफोबिया ; ३०. अल्पनिद्रता ; ३१. कोप--चिड़चिड़ापन तथा क्रोधाधिक्य ; ३२. अङ्गसाद ;

३३. मल भिन्न (फटा हुआ, खण्डशः प्रवृत्त होनेवाला या शिथिल--द्रवाधिक) होना ;

३४. अन्धता--नेत्रों की दर्शन-शक्ति के विकार ; ३५. उच्छ्वास की उष्णता ; ३६-३७. मूत्र तथा मल की उष्णता ; ३८. तमोदर्शन --तम, तिमिर ; ३९--आँखों के आगे पीतवर्ण मण्डल (धब्बे) दिखाई देना ; अथवा त्वचापर पीतवर्ण-मण्डल दीख पड़ना ; ४०. निःसहत्व-सहिष्णुता--क्षमाशीलता--न्यून होना।

पित्तविकारों पर एक दृष्टि

आधुनिक प्रत्यक्ष की सहायता से उल्लिखित पैत्तिक विकारों का विचार करें तो विदित होगा कि अधिकांश रोगों में याकृत पित्त (बाइल) या तो पित्त-प्रकोपक शास्त्रोक्त कारणों से प्रकुपित होता है--अधिक प्रमाण में बनता है ; किंवा यकृत् के पित्तवह स्रोतों (बाइल केपीलरीज से आरम्भ कर पित्तप्रसेक के ग्रहणी में खुलनेवाले मुख-पर्यन्त) का अवकाश मुख्यतया कफ से अवरुद्ध हो जाने से उसकी अनुलोम गति--ग्रहणी में निर्गमन--समीचीन नहीं होती। इस द्वितीय अवस्था में अवरुद्ध हुए पित्त की प्रतिलोम गति होकर अन्त को वह रस-रक्त के प्रवाह में संमिश्रित हो शरीर के विभिन्न अवयवों में जाकर तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करता है। यह प्रतिलोम-गमन एवं रस-रक्त में संमिश्रण तथा स्थान-संश्रय कभी याकृतपित्त के रञ्जकवर्णों (बाइल पिगमेण्ट्स) का होता है, कभी उसके अंगभूत लवणों (सॉल्ट्स) का; कभी उसका स्वरूपतः अर्थात् स्वयं याकृत पित्त

का इस प्रकार प्रसर होता है। उसके अपने वर्ण के कारण नख, दन्त, मल,मूत्र त्वचा, स्वेद, लाला, नेत्र, शुक्र, बहिःप्रवृत्त रक्त--इनका वर्ण पीत हो जाता है। अथवा याकृत पित्त का पाक पूर्ण न होने से वह स्वयं हरित-वर्ण होता है तथा नखादि को भी हरित-वर्ण कर देता है। रस-रक्त में ये द्रव्य अधिक होने से लाला-स्राव में भी प्रकृत्या इनका प्रमाण अधिक होता है। इनका रस तिक्त होने से लालारस भी तिक्तरस होता है; परिणामतया पित्त-प्रकोप में मुख का रस तिक्त होना एक लक्षण है।

यह याकृत पित्त महास्रोत में अपकर्षणी गति को उद्दीप्त करता है, जिससे तद्गत अन्न और मल का प्रवाह द्रुत (वेगवान्) हो जाता है। परिणाम में, पक्वाशय की पुरीषधरा कला में उनके द्रवांश का शोषण उतने प्रमाण में नहीं हो पाता, जिससे पुरीष में द्रव का आधिक्य होता है। पुरीष की द्रवाधिक्यवश हुई शिथिलता पैत्तिक विकारों में एक है।

श्रम का कारण धातुओं में तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) की कर्मवश उत्पत्ति और संचय है। पित्त-विकारों में क्लम (श्रम किए विना श्रम-थकावट) एक लक्षण है। नव्य मत से पित्त की व्याख्या करनी हो और इसे अनेक द्रव्यों का एक वर्ग मानना हो तो पित्तवर्गीय द्रव्यों में इस तक्राम्ल की भी गणना करनी चाहिए।

अम्लोद्गार, अन्तर्दाह आदि लक्षण विदग्धाजीर्ण, अम्ल पित्त तथा अत्यग्नि रोगों में होते हैं। विदग्धाजीर्ण (एसिड डिस्पेप्सिआ) में पाचक-पित्त विशेष लवणाम्ल (हायड्रोक्लोरिक एसिड) का क्षय (हायपोक्लोरहाइड्रिया) विशेषतया कारणभूत होता है। 'विशेषतया' इस लिए कि, विदाह कभी-कभी स्वरूपतः विदाही द्रव्यों के सेवन से होता है। ये विदाही द्रव्य दो प्रकार के होते हैं। प्रथम, राई, खट्टे अचार आदि पदार्थ, जिनका विदाहजनक स्वभाव मुख, नासिका आदि के संयोगमात्र से प्रतीत हो जाता है। द्वितीय, ऐसे द्रव्य जिनका अजीर्णवश विदाह या अम्लपाक होने से अम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह आदि लक्षण होते हैं। इन द्वितीय जाति के द्रव्यों से होनेवाले अजीर्ण में भुक्त अन्नपान के विदाह (अम्लपाक) से पीडित रोगी के उत्क्लिष्ट (आमाशय से संगृहीत) द्रव्य की परीक्षा (गेस्ट्रिक एनेलिसिस) करें तो उसमें अन्नपान का कोथ (प्युट्रिफेक्शन) होने के कारण उत्पन्न हुए सेन्द्रिय अम्ल (तक्राम्ल--लेक्टिक एसिड; शुक्ताम्ल--एसिटिक एसिड; नवनीताम्ल--ब्यूटिरिक एसिड आदि ऑर्गेनिक एसिड्स) ही अधिकांश रोगियों में पाए जाते हैं। इसी से ऐसे रोगियों को जम्बीर (नींबू), तक्र, टमाटर आदि द्रव्य इस भावना से दिए जाएँ कि ये दीपक-पाचक हैं, तो वे अपने अङ्गभूत सेन्द्रिय अम्लों के कारण विकार में वृद्धि ही करते हैं। इनमें जम्बीर तथा तक्र तो अम्ल होने से स्वरूपतः विदाही द्रव्यों के उदाहरण हैं। टमाटर

अम्लविपाकी होने से विदाह तथा, प्रतिश्याय, कास, श्वास, कफज शोथ आदि कफ-प्रधान रोगों में वर्जनीय है। टमाटर के सम्बन्ध में इस विषय की प्रतीति के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि, मधुर से मधुर टमाटर भी राँधे जाने पर अम्ल रस ही हो जाते हैं। इसी प्रकार इनका आमपच्यमानाशय में पाक होने पर अम्ल विपाक होने का अनुमान किया जा सकता है। यों भी विपाक की परीक्षा द्रव्य के कर्म को देखकर करने का आयुर्वेद में विधान है। सो, उल्लिखित रोगों में टमाटर से होनेवाली इस विक्रिया को अर्थात् रोग न हो तो उत्पन्न करना तथा विद्यमान हो तो उसमें वृद्धि करना इस कर्म को स्वयं देख कर भी टमाटर का विपाक अम्ल होने का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

आमाशयगत पाचक पित्त-विशेष--लवणाम्ल का क्षय या हायपोक्लोर-हाइड्रिया का उल्लिखित विपरिणाम इस कारण होता है कि, लवणाम्ल रोगजन्तुओं का विनाशक (उत्तम एंटिसेप्टिक) है। यह क्षीण हो तो रोगजन्तुओं को अपनी वृद्धि और रोगजनन का अनुकूल अवसर सुलभ हो जाता है। इन रोगजन्तुओं में सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति करनेवाले कोथ-कारक जन्तु भी एक हैं। सो, इस आनुकूल्य के कारण कोथ-कारक जन्तु कोथ द्वारा सेन्द्रिय अम्ल उत्पन्न करते हैं। इन सेन्द्रिय अम्लों में एक तक्राम्ल भी होता है। सो, यह पूर्वोक्त क्लम तथा यहाँ कथित अम्लपाक रोग उत्पन्न करता हुआ दो प्रकार से पित्तवर्ग में गणनीय है। अम्लपाक के अङ्गभूत शेष सेन्द्रिय अम्लों को भी इसी प्रकार पित्तवर्गान्तर्गत समझना चाहिए।

तक्राम्ल पित्तवर्गीय है तो उसका कुछ प्राकृत कर्म भी होना चाहिए। वस्तुतः नव्य प्रत्यक्षानुसार अन्यत्र नहीं तो अपत्यपथ में इसका प्राकृत कर्म विदित भी हुआ है। अपत्यपथ या योनि में डॉडरलीन्स बेसिल्लस नामक उपकारी जीवाणु होते हैं। ये इस मार्ग में स्वभावतः रही द्राक्षाशर्करा (ग्लायकोजन) को तक्राम्ल में परिणत करते रहते हैं। यह तक्राम्ल बाह्य जीवाणु, वायरस तथा फूई का नाशक होता है। यह जब तक उचित प्रमाण में बनता रहता है तब तक जीवाणुओं के आक्रमण का प्रभाव अपत्यपथ पर हो ही नहीं पाता। तक्राम्ल का क्षय होने पर इन जीवाणुओं का आक्रमण सफल हो अपत्यपथ में पाक होकर पिच्छिल द्रव-विशेष का स्राव होता है। इसे संहिताकारों ने श्लेष्मला योनि तथा नए लेखकों ने श्वेत प्रदर (ल्युकोरीआ) नाम दिया है। श्लेष्मला योनि में चरक ने दो योजनाओं में तक्र की उत्तरबस्ति का विधान किया है। वह उक्त सम्प्राप्ति को देखते नव्य मत से भी अभिनन्दनीय है।

विदग्धाजीर्ण की प्रयोगशाला-परीक्षा से जैसे उसमें अजीर्णवश अन्न के विदाह से उत्पन्न सेन्द्रिय अम्लों की उपस्थिति पायी जाती है वैसे ही आयुर्वेदमत से वैद्य

जन जिस रोग का निदान अम्लपित्त करते हैं, उसमें भी आमाशय-गत द्रव्यों की परीक्षा (गेस्ट्रिक एनेलेसिस) करने से सेन्द्रिय अम्ल पाए जाते हैं। मेरे पास संहिता का कोई प्रमाण नहीं है, पर मेरी कल्पना है कि, जैसे अतिसार या प्रवाहिका जीर्ण हो जाए तो उसकी चिकित्सा तथा उदर्क (परिणाम, साध्यासाध्यता) भिन्न हो जाने से उसे ग्रहणी यह भिन्न नाम आयुर्वेद में दिया गया है वैसे विदग्धाजीर्ण ही जीर्ण (पुराना, क्रॉनिक) हो जाए तो उसकी चिकित्सा की दिशा तथा उदर्क में भेद हो जाने से उसे अम्लपित्त यह भिन्न नाम दिया गया है।

अम्लोद्गार तथा हृत्कण्ठदाह (अन्तर्दाह) अत्यग्नि (हाईपरक्लोरहाइड्रिया, हायपरएसिडिटी) से भी होना संभव है। परन्तु इन लक्षणों वाले अधिकांश रोगियों में उक्त दो कारण ही देखे जाते हैं, यह स्मरण रखना चाहिए। इस सचाई पर चित्त आकृष्ट करने की आवश्यकता इस बात से प्रतीत होती है कि, अम्लोद्गार तथा हृत्कण्ठदाह के कारणभूत इस अत्यग्नि पर आधुनिक चिकित्सा के ग्रन्थों में वक्तव्य के आधिक्यवश इतना स्थल घिरा होता है, अथ च, उसके अनुसार भाषणों में भी उसपर इतना भार दिया जाता है कि, इन लक्षणोंवाला रोगी उपस्थित होने पर तरुण चिकित्सक का ध्यान इसी कारण पर जाता है। विदग्धाजीर्ण और अम्लपित्त के विषय में वक्तव्य विशेष न होने से वे उपेक्षित-से रह जाते हैं। उदर-शूल के कारणभूत रोगों तथा अन्य कतिपय रोगों के विषय में भी ऐसे ही कारणों से तरुण चिकित्सक मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं।

अम्लपाक और लवणाम्ल का प्रकरण निकला है तो विद्यार्थी का ध्यान एक और सामान्य-सी वस्तु के प्रति आकर्षित कर दूँ। क्रियाशारीर में अवस्थापाक के प्रकरण में द्वितीय अवस्थापाक आया है। उसे भी अम्लपाक कहते हैं। वह आमाशय में समग्र अन्नपान का अम्ल रस के साथ संयोग होने से होता है, जिसमें समूचा अन्नपान इस रस की अम्लता से अम्ल हो जाता है। अन्नपान, पच्यमानाशय या ग्रहणी में पहुँचता है तो इस अम्लता के परिणामस्वरूप ही वहाँ पाचक पित्तों का स्राव होता है। नव्य प्रत्यक्षानुसार यह अम्लरस लवणाम्ल या हाईड्रोक्लोरिक एसिड है। इसके संयोग से होनेवाला अम्लपाक समावस्था में हो तो यह एक प्राकृत क्रिया है, जब कि अग्निमन्दता आदि के कारण अजीर्ण-विशेष (विदग्धाजीर्ण) में हुआ अम्लपाक एक रोग है, यह दोनों स्थितियों में भिन्नता है। यह लवणाम्ल भी पित्तवर्गीय एक द्रव्य है। पाचक पित्त को यदि पित्तजातीय द्रव्यों का एक उपवर्ग मानें तो उसमें लवणाम्ल का समावेश करना चाहिए।

आयुर्वेद-मत से जिनकी गणना धात्वग्नियों में करनी चाहिए ऐसे तीन अन्तःस्रावों को पैत्तिक विकारों के प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। ये तीन द्रव्य हैं--इन्सुलीन, थायरॉक्सीन तथा एड्रीनलीन। थायरॉक्सीन चुल्लिका

ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्तःस्राव का नाम है। इसके प्रकोप या स्रावाधिक्य को अंग्रेजी में हायपरथायरॉडिज्म कहा जाता है। हृद्द्रव (हृत्कम्प, पेल्पिटेशन), पुरुष को खड़ा कर हाथ दिगन्तसम और हथेली प्रसारित रखने को कहा जाए तो अंगुलियों का कम्पन (जो पुरुष को धूप में खड़ा रखा जाए तो उसकी छायामें विशेष स्पष्टतया दृग्गोचर होती है), एवं धातुपाक (मेटाबॉलिज्म) की दर बढ़ने के कारण धातुओं का भी पचन (दहन, ऑक्सिडेशन) होकर उनका क्षय, तथा परिणामतया शरीर की कृशता––ये हायपरथायरॉयडिज्म के प्रमुख चिह्न हैं। आयुर्वेद में रसक्षय के चिह्न यही कहे हैं [1]।

इन्सुलीन का प्रकोप या स्रावाधिक्य सामान्यतया पाया नहीं जाता। मधुमेहियों की चिकित्सा करते हुए कदाचित् सूची-बस्ति (इंजेक्शन) द्वारा अधिक मात्रा जाने पर ही प्रकोप के लक्षण पाए जाते हैं। ये लक्षण अधोलिखित हैं–– क्षुधा, स्वेद, मानसिक आवेगों पर नियन्त्रण का अभाव (शार्ङ्गधर का निःसहत्व), सर्वाङ्गसाद और मूर्च्छा। संभव है, सूचीबस्ति के विना भी प्रकोपक कारणों से इन्सुलीन का स्राव अधिक हो जाता हो, जिससे शरीर में संचित शक्ति (मेद, मांस आदि धातुओं में स्थित दहन-योग्यद्रव्य) का ताप तथा चेष्टा के उत्पादन में व्यय हो जाता हो और मनुष्य कृश-शरीर हो जाता हो। पित्त-प्रकृति पुरुषों में पित्त का सर्वदा प्राबल्य होने से उनकी स्वाभाविक कृशता का यह निदान हो सकता है। चुल्लिका ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्तः स्राव की अति प्रमाण में सूचीबस्ति से इस प्रकार की कृशता पायी जाती है। उसका अतिप्रकोप (हाइपरथायरॉयडिज्म) होने से तो कृशता होती ही है, यह ऊपर कहा जा चुका है। पूर्वकथित प्रकार से शक्त्युत्पादक द्रव्य क्षीण (न्यून) हो जाने से नाडीसंस्थान को सविशेष क्षति होती है। उचित प्रमाण में दहनीय द्रव्य न मिलने से वह (नाड़ीसंस्थान) पदे-पदे क्षुभित होता है। अत एव पित्तप्रकोप में तथा पित्त-प्रकृति पुरुषों में शीघ्र कोप तथा क्षोभ (चिड़चिड़ापन, झुंझलाहट) विशेष रूप में पाए जाते हैं। इन विकारों का उल्लेख पित्तनानात्मज विकारों में ऊपर किया ही है।

पित्तप्रकृति पुरुषों तथा पित्तविकारों में क्षोभ का कारण याकृत-पित्त के वर्ण (रञ्जक द्रव्य), लवण अथवा स्वयं याकृत-पित्त की अधिकता भी हो सकता है। अतएव क्षोभ विशेष दृष्टिगोचर हो तो विरेचन से पित्त की शुद्धि होकर मानस शान्त हुआ देखा जाता है।

१––देखिए–च० सू० १७।६४ ; सु० सू० १५।९ ; अ. हृ. सू. ११।१७।

एड्रीनलीन का स्राव भय या शौर्य के आवेग होने पर तदनुरूप चेष्टाओं के उत्पादनार्थ विशेष प्रमाण में होता है। शरीर में इसका प्रकोप इतना हो जाय कि उससे रोगोत्पत्ति हो, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

क्रियाशारीर में हमने कहा है कि पित्त के प्राकृत कर्मों पर दृष्टिपात करें तो शरीर में रासायनिक परिवर्तनों के कारणभूत नवीनों द्वारा प्रत्यक्षीकृत जो भी द्रव्य हैं, उन्हें निम्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। १---हॉर्मोन्स या अन्तःस्राव, २---एन्ज़ाइम-रासायनिक क्रिया के योगवाही द्रव्य, ३---ऐसे द्रव्य जो इनमें किसी श्रेणी में नहीं आते ; ये दो हैं, याकृत-पित्त तथा लवणाम्ल। तुलना को पूर्णता तक ले जाना हो तो इनमें किसी भी एक या अनेक द्रव्यों का प्रकोप या प्रमाणाधिक्य आयुर्वेद-मत से पित्तप्रकोप कहा जाएगा। पूर्ण निर्णय के लिए अधिक परिश्रम की तो आवश्यकता है ही, साथ ही यह भी दृष्टि में रखना योग्य है कि, किसी बात में नवीन मत हमारा साथ न देता हो तो इस विचार-सरणि को छोड़ नहीं देना चाहिए। कारण, संभव है आधुनिक चिकित्साशास्त्र अपनी पद्धति से प्रत्यक्ष करता हुआ भविष्य में उल्लिखित विचारधारा की पोषक नवीन सचाइयों को हमारे सामने उपस्थित कर दे।

नवीन मत से आयुर्वेद का पित्त अनेक द्रव्यों का वर्ग होते हुए भी आयुर्वेद-निर्दिष्ट पित्त-नानात्मज रोगों पर लक्ष्य दें तो एक बात निश्चित प्रतीत होती है कि, प्रायः रोगों में याकृत-पित्त, उसके वर्ण (रञ्जक द्रव्य) और लवणों का संचय और प्रसर कारणभूत है। एक अहोरात्र में सौ तोला (दो पाइण्ट) याकृत-पित्त तत्-तत् द्वार से बाहर निकलना चाहिए। किसी भी कारण इसकी प्रवृत्ति इससे अल्प हो तो उक्त विकार होने की संभावना होती है। अतएव, अनुमान यह है कि, जिसे हम पित्त का प्रकोप कहते हैं उसमें भले पित्तजातीय (पित्तवर्गीय) द्रव्यों में किसी एक किंवा अनेक का प्रकोप होता हो तथापि या तो सबका कारण याकृत-पित्त का प्रकोप होता है यद्वा याकृत-पित्त का प्रकोप इन सबका सहचारी होता है। नवीनों का मत है कि, याकृत-पित्त की उत्पत्ति रक्तकणों (आयुर्वेद का रक्त धातु) के विघटन के कारण होती है। संभव है, पित्त के प्रकोपक कारण रक्त के आश्रयभूत यकृत्-प्लीहा में रक्त के विघटन की क्रिया में वृद्धि कर याकृत-पित्त की उत्पत्ति का प्रमाण बढ़ा देते हों। कोई भी स्थिति हो, याकृत-पित्त का शरीर में त्वचा की पीतता आदि के रूप में प्रकोप देखकर शरीर में पित्त के प्रकोप का निदान किया जाता है। इससे इस याकृत-पित्त को शरीर में पित्त या पित्तों की क्षय, वृद्धि और साम्य इन तीनों अवस्थाओं का सूचक चिह्न या सिगनल समझना चाहिये। कम से कम परंपरागत वैद्य तो इस पित्त को दृष्टि में रखते हुए ही पित्त के प्रकोप का अनुमान करते हैं तथा चिकित्सा का

पर्यवसान इसी की समावस्था आने पर होता है। इसी कारण पित्त के अनेक प्रकार होते हुए भी लोक-व्यवहार में एकमात्र याकृत-पित्त के लिए पित्त शब्द का प्रयोग रूढ़ रह गया।

दोषों के वर्गीकरण का प्रयोजन

पित्त-नानात्मज रोगों का प्रकरण समाप्त करने के पूर्व दोषों के वर्गीकरण-विषयक विचार-सरणि के सम्बन्ध में एक स्पष्टता कर देना योग्य है। किसी वस्तु को एक मानना किंवा उस के अनेक भेद करना भेत्ता के दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। फिर भेद करना ही हो तो किस प्रकार भेद करना यह भी भेत्ता के दृष्टिबिन्दु के अनुसार होता है। चरक ने यही कहा है--

भेत्ता ही भेद्यमन्यथा भिनत्ति ॥ च० वि० ६।४

भारतवर्ष, भारतवर्ष के रूप में एक है, यह सर्वसम्मत है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इसके अनेक भेद किए जा सकते हैं और किए जाते हैं। राज्यों की दृष्टि से एक भेद ; निम्नोन्नत भूमियों-नदियों आदि की दृष्टि से अन्य भेद, खनिजों तथा कृषिजात धान्यों को ध्यान में रखकर तीसरा भेद, भाषाओं को लक्ष्य में रखकर चतुर्थ भेद--इस प्रकार अनेक दृष्टियों से अनेक भेद होते हैं। दोषों को आयुर्वेद की दृष्टि से एक मानने और नवीन मत से प्रत्येक दोष को एक-एक वर्ग मान कर उनकी व्याख्या करने में यही दृष्टिभेद लक्ष्य में रखना चाहिए।

प्राचीनों ने सर्वत्र वात, पित्त, कफ के लिए एकवचन का ही प्रयोग किया है। सुश्रुत ने तो एक स्थल पर वायु और पित्त के लिए कण्ठरव से कहा है कि वे एक ही हैं[1]। इतना होते हुए भी जब हम दोषों के वर्गीकरण की बात कहते हैं तो उसका प्रयोजन यह होता है कि यदि नवीनों की परिभाषा में त्रिदोष-सिद्धान्त को समझना हो तो प्रारम्भ में ही यह मानना उचित होगा कि, प्राचीनों ने जिन वात-पित्त तथा कफ को एक-एक द्रव्य माना है वे प्रत्येक आधुनिक-मत से अनेकानेक द्रव्यों के वर्ग हैं। इस तुलना का अभिप्रेतार्थ मिश्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के चित्त में व्यामोह (कन्फ्यूशन, द्विविधा) उत्पन्न न हो यह है। कई वार देखा गया है कि प्राचीन और अर्वाचीन-मत को इस प्रकार की तुलना द्वारा परस्पर निकट लाया जाय तो शरीर या मन में होनेवाली अमुकामुक प्राकृत क्रियाओं को किंवा उनमें होनेवाले तत्-तत् विकार या रोग को अधिक सम्पूर्णता से समझा

१--देखिए--यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः॥
--सु० नि० १।११

जा सकता है। बहुत वार प्राकृत या विकृत क्रियाओं (फिनोमिना) को केवल प्राचीन या केवल अर्वाचीन शास्त्र की दिशा से समझना वैसा सुगम नहीं होता। इस प्रकार उभय पद्धतियों से रोग के स्वरूप को समझ लिया जाए तो चिकित्सा भी उभय पद्धतियों से (संसृष्ट पद्धति से) करने से प्रायः सम्पूर्णता की प्राप्ति होती है। इस विषय को समझने के लिए हॉकी के खेल का उदाहरण लिया जा सकता है। एक ही फॉरवर्ड अपने क्षेत्र से प्रतिपक्षी के गोल तक गेंद को ले जाना चाहे तो उसे कदापि सिद्धि नहीं मिल सकती। सब फॉरवर्ड खिलाड़ी मिलकर आगे बढ़ें तभी लक्ष्यवेध हो सकता है। इतना ही नहीं, शीघ्र और सरलता से हो सकता है। यही सत्परिणाम उभय मतों से रोग को समझने से हो सकता है। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि, सर्वत्र प्राथम्य रोग को समझने में आयुर्वेद की संप्राप्ति को आयुर्वेद की विचार-सरणि को और उपचार में आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धति को ही देना चाहिए।

पिछले वाक्य से यह भी फलितार्थ समझा जा सकता है कि, दोषों के वर्गीकरण का आशय[1] आयुर्वेद को नव्य-मत से समझना, उसकी सत्यता दर्शाना एवं विश्वसनीयता बढ़ाना नहीं है। आयुर्वेद तो सच पूछो तो अपने मूल वेद-चतुष्टय के समान स्वतःप्रमाण है। आयुर्वेद को आयुर्वेद के वचनों से ही समझने का प्रयास करना चाहिए। और इस दृष्टि से दोषों के विषय में प्रसक्त सिद्धान्त आयुर्वेदानुसार यही है कि दोष प्रत्येक एक ही है। वैसे ही जैसे गेहूँ छोटा, बड़ा, लाल, श्वेत, उत्तम-गुण, या अधम-मध्यम-गुण या देश-भेद से इतर भिन्नतावाला होता हुआ भी अन्त को गेहूँ ही है। नवीन संज्ञाओं में प्रत्येक भले अनेकविध हो तथापि आयुर्वेद-मत से प्रत्येक दोषान्तर्गत प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति समान ही महाभूतों से होती है, अतएव समान रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाववाले द्रव्यों से प्रत्येक भेद की पुष्टि (साम्य) और प्रकोप होता है। विपरीत रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाव (कर्म) वाले, आहारौषध द्रव्य, विहार, देश और काल से उनका क्षय होता है। प्रकोप या क्षय होता है तो सबका एक साथ प्रकोप या क्षय होता है, साम्य होता है तो वह भी प्रत्येक दोष के प्रत्येक भेद का एक साथ होता है। प्रत्येक का प्रकोप या क्षय होने पर समान ही लक्षण होते हैं। इनमें प्रकोपजन्य श्लेष्मज तथा पित्तज नानात्मज विकारों का उल्लेख ऊपर कर आए हैं।

१—स्मरण रहे—दोषों को नव्य मत से समझने की यह दृष्टि आयुर्वेद के नवीन लेखकों में बहुत पूर्व से है। उनके ग्रन्थ प्रकाशित होने के पश्चात् हरिवंश-पुराण का वह प्रसिद्ध पद्य भी प्रमाणत्वेन उपलब्ध हुआ है, जिसमें दोषों के वर्ग-रूप होने की बात है—कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्त-वर्गे च शोणितम्।

अब प्रसंगोपात्त वातनानात्मज रोगों का उल्लेख और अपेक्षित वैशद्य किया जाता है।

वात-नानात्मज रोग

वात-विकारों के सामान्य लक्षण--

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथा--स्रंसभ्रंशव्याससंगभेदसादहर्षतर्षकम्पवर्तचालतोदव्यथाचेष्टादीनि। तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१२[1]

आगे वात-नानात्मज अस्सी रोगों का निर्देश किया जाएगा। परन्तु इन रोगों को भी कफ-नानात्मज या पित्त-नानात्मज रोगों के समान निदर्शन-मात्र मानना चाहिए। वात-नानात्मज रोगों की संख्या हो ही नहीं सकती। तथापि, वात (वायु) के स्वाभाविक स्वरूप तथा वैकारिक कर्मों के सूचक अमुक नियत चिह्न हैं। ये चिह्न थोड़े, बहुत या सभी, एक देश अथवा समस्त शरीर में दृष्टिगोचर हों, तो निर्विकल्प वात-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगों का यहाँ किंवा इस या अन्य संहिता में अन्यत्र उल्लेख न किया गया हो, उनका भी निश्चय इन चिह्नों को दृष्टिगत रख कर ही करना चाहिए। इसी पद्धति से संसृष्ट या संनिपतित रोगों में भी वातज लक्षणों तथा कर्मों का विश्लेषण एवं उनके तर-तम भाव का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वात के स्वरूप के द्योतक लक्षण, जिनका परिचय क्रियाशारीर में भी कराया जा चुका है, अधोलिखित हैं :--

१. रौक्ष्य--त्वचा, केश, मल, जिह्वा आदि की रूक्षता--उनमें स्निग्ध-विपरीत गुण का दर्शन ;

१--च० चि० २८।२०-२३ ; अ० सं० सू० २० ; अ० हृ० सू० १२।४९-५१ ; तथा काश्यपसंहिता सू० २७।१८-३३ भी द्रष्टव्य हैं। इन स्थलों से विकृत वात के कर्मों का यहाँ ग्रहण किया है।

२. शैत्य--त्वचा, मल, मूत्र, शरीरावयव, तथा रस-रक्त का स्पर्श शीत होना एवं इनके ऊष्मा की सम से न्यूनता, जिसका माप ताप-मापक से तथा तत्-तत् लक्षण से हो सकता है ; एवं अग्नि की मन्दता ;

३. लाघव--शरीरावयवों तथा समस्त शरीर की कृशता--उनमें भार की न्यूनता ; मन में भी हलकापन--क्षुद्रता ;

४. विशदता--अवयवों, मल, मूत्र, स्वेद, लाला, कफ, लसीका--सीरम--आदि में पैच्छिल्य-विपरीत गुण का दर्शन ; तन्तुमत्ता न होना, प्रत्युत इनका प्रत्येक अवयव पृथग्भूत होना ; परिणामतया रक्तादि शीघ्र न जमना ;

५. गति--हाथ-पैर, ग्रीवा, हृदय आदि एकाङ्ग किंवा समस्त शरीर में स्पन्दन--किंचित् चलन, या कम्प, या आयाम--खेंच, या आक्षेप--पछाड़, जैसी अपस्मार आदि में होती है, या खञ्जता--लंगड़ापन आदि के रूप में गति-भेद, अथवा हृदय, प्लीहा, अन्त्र, पेशी आदि अन्तरवयवों का स्थानान्तर-गमन ;

६. अमूर्त्तता--अदृश्यता, केवल अपने कर्मों से गम्य होना ; कफ या पित्त के सदृश प्रत्यक्षोपलब्धि न होना ; अथवा अमूर्तता का यह अर्थ किया जा सकता है कि कई बार जिस अवयव में कोई वातिक रोग होता है उसमें कोई प्रत्यक्ष (दृश्यमूर्त) परिवर्तन नहीं होता--परन्तु विकार होता है। जैसे आयाम --खेंच--वायु का हाथ-पैर आदि में संचलन ये संज्ञावह स्रोतों --सेन्सरी नर्व फाइबर्स--में विकृति से हों, तो आयाम आदि प्रत्यक्ष नहीं होते--केवल रोगी को उनकी प्रतीति होती है। चेष्टावह स्रोतों में विकृति हो, तो आयाम आदि पर-प्रत्यक्ष भी होते हैं ;

७. अनवस्थितत्व--अस्थिरता, लक्षणों का नियम न होना, लक्षणों का विषम होना, यथा--आर्तव का अनियमित होना, अग्नि विषम होना, मल-प्रवृत्ति के स्वरूप-संख्या आदि में नियम का अभाव ; विचार (निश्चय) की भी अस्थिरता इत्यादि के रूप में अस्थिरत्व।

प्रत्येक दोष के जो भी गुण निश्चित किए गए हैं वे उसके कर्मों को देख कर, कर्मों का परिज्ञान कराने के लिए किए गए हैं। गुणों के कर्मों की भूमिका में सुश्रुत ने कहा है--

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः।

सु० सू० ४६।५१४

शुण्ठी-मरिचादि बाह्य द्रव्यों एवं वातादि शारीर द्रव्यों के जो उष्ण-शीतादि गुण बताए गए हैं उनका ज्ञान द्रव्यों के विभिन्न कर्म देख कर अनुमान से होता है। वायु पर यह तथ्य (अनुमान-गम्यता) सविशेष लागू होता है। कारण, वह अदृश्य है।

वायु के प्रकोप का स्वरूप

पित्त और कफ के शास्त्रोक्त गुण शरीर में वृद्धि को प्राप्त होते हैं तब इन दोनों दोषों की वस्तुतः वृद्धि होती है। परन्तु वायु के प्रकोप का स्वरूप कुछ भिन्न है। जब हम कहते हैं कि वायु की वृद्धि या प्रकोप हुआ है, उस काल स्वयं वायु की वृद्धि नहीं होती, प्रत्युत शरीर के एक देश में या संपूर्ण शरीर में रूक्षत्वादि गुणों की वृद्धि हो जाती है। वायु का प्रमाण तो वही रहता है। परन्तु, सर्व शरीर में अपने प्राकृत कर्म करने के लिए संचरण करता हुआ वायु जब रूक्षत्वादि गुणयुक्त अवयवों, स्रोतों या आशयों में पहुँचता है, तो अपने स्थान-संश्रय के लिए अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कर वहीं स्थिर हो जाता है, परिणामतया तत्तत् विकार को जन्म देता है। तात्पर्य---जो आहार, औषध, विहार, देश या काल वायु के प्रकोपक कहे जाते हैं वे यत्सत्यं वायु के प्रमाण में वृद्धि नहीं करते। वे शरीरावयवों में वायु के स्थान-संश्रय के लिए रूक्षत्वादि गुणों के उत्पादन के रूप में उचित भूमिका या क्षेत्र तैयार कर देते हैं।

वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते ॥ च० सू० १२।७

जिन आहारौषध-द्रव्यों, विहारों, देश किंवा काल को वात का प्रकोपक कहा जाता है वे साक्षात् वात की वृद्धि, संचय और प्रकोप नहीं करते। किन्तु, शरीरावयवों पर क्रिया कर उन्हें रूक्ष (कृश, शुष्क, क्षीण, स्निग्ध-गुण-रहित), लघु (हलके, न्यून भारवाले), शीत (न्यून ऊष्मावाले), दारुण (कठिन, मृदु-विपरीत), खर (स्पर्श में खर, जैसे ककोड़े के फल का स्पर्श होता है वैसे स्पर्शवाले), विशद (पैच्छिल्य-विपरीत-गुणयुक्त) तथा शुषिर (रन्ध्रयुक्त, छिद्रयुक्त, अल्प घनत्ववाले) कर देते हैं। शरीरान्तर-संचारी वायु जब संचार करता-करता इन गुणोंवाले अवयवों में आता है, तो समान गुण-योगवश स्थान-संश्रय के अनुकूल स्थल मिल जाने से इनमें आश्रय कर लेता है---न्यूनाधिक भाव से इनमें स्थिर हो जाता है---इन अवयवों में टिक जाता है। इस स्थिति के कारण इन स्थानों में उसकी शनैः-शनैः वृद्धि हो कर प्रकोप होता है। इसके विपरीत---

वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणाम्। तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते[1] ॥ च० सू० १२।७

१---इन वचनों की स्पष्टता के लिए इन पर चक्रपाणि की टीका भी देखिए।

जिन आहारौषध-द्रव्यों, विहार, देश एवं काल को वायु का प्रशमन करनेवाला कहा जाता है वे भी साक्षात् वायु को शान्त करते हों, सो बात नहीं। किन्तु शरीरावयवों के संपर्क में आ कर वे उन्हें (शरीरावयवों को) स्निग्ध–स्नेहयुक्त, गुरु (पुष्ट और भारवान्), उष्ण (सम किंवा सम से अधिक ऊष्मावाले)[1], श्लक्ष्ण (मसृण, पॉलिश किए फर्नीचर के समान स्पर्शवाले), मृदु (पीड़नीय, दबाने से दब जाएँ ऐसे), पिच्छिल (तन्तुमान् लेसदार, लुआबवाले) तथा घन (घन संघातवाले, कॉम्पैक्ट) बना देते हैं। अपने प्राकृत कर्म करने के लिए शरीर में विचरण करता हुआ वायु जब इन गुणोंवाले अवयवों को प्राप्त होता है, तो ये गुण उसके विपरीत होने से, अर्थात् उसके स्थान-संश्रय के लिए अनुकूल न होने से, किंबहुना प्रतिकूल होने के कारण वायु इनमें स्थिर नहीं होने पाता---आसन नहीं जमा पाता। इन गुणों के पोषक आहारादि का नित्य सेवन करने के परिणाम-स्वरूप शरीरावयवों में भी इन गुणों का समत्व हो, तो उल्लिखित नियमानुसार ऐसे अवयवों में, किंवा ऐसे शरीरों में वायु का प्रकोप होना संभव नहीं होता--वायु के रोग होने की संभावना नहीं रहती। कदाचित् किसी कारणवश वात के प्रकोप के अनुकूल गुणों की शरीरावयवों में पुष्टि होने से उनमें वायु की वृद्धि और प्रकोप हो चुका हो, तो भी स्निग्धत्वादि-गुण-विशिष्ट आहार आदि का सम्यक् सेवन करने से शरीरावयवों में वात-गुण-विपरीत इन गुणों का साम्य हो कर उल्लिखित परिपाटी से वायु शान्ति को प्राप्त होता है, एवं वात-रोगों की निवृत्ति होती है।

शरीर के स्रोत (अवकाशयुक्त स्थान) भी अवयव-विशेष होने से वायु के प्रकोप और प्रशम संबन्धी उक्त नियम इन पर भी घटित होता ही है। तथापि, दोषों से रोगोत्पत्ति स्रोतों की तत्-तत् प्रकार से दुष्टि होने से ही होती है। अतः संहिताकारों ने स्रोतों की दुष्टि का उल्लेख पृथक् किया है। स्रोतों में भी वात-प्रकोपक द्रव्यादि सेवन से रूक्षत्वादि गुणों का प्रकोप हो कर ही वायु के संचय, वृद्धि और प्रकोप (रोगजनन सामर्थ्य) उत्पन्न होते हैं। तथाहि--वातव्याधि-चिकित्सिताध्याय में वातप्रकोप के कारणों का निर्देश कर उसका परिणाम बताते महर्षि अग्निवेश ने लिखा है--

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्॥
च० चि० २८।१८

१.—शीताङ्ग (कॉलेप्स) में जो द्रव्य दिये जाते हैं, उनसे कुछ काल के लिए ऊष्मा अधिक कभी-कभी १००°, १०२° फा० तक भी हो जाता है। उससे इस विषय की विशेष प्रतीति होगी।

रिक्तानीति तुच्छानि, स्नेहादिगुणशून्यानीत्यर्थः ।। चक्रपाणि

अर्थात्--वात-प्रकोपक पदार्थों के संपर्क से शरीर के स्रोत रिक्त नाम स्निग्धत्वादि गुणों से रहित हो जाते हैं--उनमें तद्विपरीत रूक्षत्वादि गुणों की पुष्टि हो जाती है। ऐसे स्रोतों को अपने स्थान-संश्रय से व्याप्त कर बलवान् वायु एकाङ्ग और सर्वाङ्ग में विविध लक्षणों वाले विविध रोगों को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार रूक्षत्वादि गुणयुक्त अवयवों में स्थान-संश्रय कर वृद्धि को प्राप्त हुए वायु का जो प्रकोप होता है, उसे स्वतन्त्र प्रकोप कहा जाता है। वायु के प्रकोप का द्वितीय कारण आवरण होता है। इसके कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। इन आवरणों के कारण हुए प्रकोप को वायु का परतन्त्र प्रकोप कहते हैं। वायु के प्रकोप का प्रथम कारण, जिसमें शरीरावयवों में लघु, रूक्ष आदि गुणों का प्रकर्ष (आधिक्य) हो जाता है, उसीका अपर नाम धातुक्षय (सारक्षय) है। इस प्रकार वायु के प्रकोप के संक्षेप में दो कारण हैं--धातुक्षय एवं आवरण।

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा ।। च० चि० २८।५९

जो हो, शरीरावयवों में अपने प्रकोप के अनुकूल उक्त गुणों का प्रकोप होने का परिणाम यह होता है कि, शरीर के किसी भी भाग में अथवा समस्त शरीर में वायु का प्रकोप हो तो उसमें वात-प्रकोपजन्य नीचे लिखे विकार अवश्य पाए जाएँगे--

१. स्रंस--संधि-शैथिल्य ; अस्थि, पेशी, स्नायु, अन्त्र, हृदय आदि की संधियों की शिथिलता-वश किंचित् च्युति, अथवा एक-दूसरे पर चढ़ जाना। अस्थि-संधियों की किंचित् च्युति--स्थानभ्रंश को अंग्रेजी में सबलक्सेशन कहते हैं ;

२. भ्रंश--संधिच्युति, (डिसलोकेशन) ;

३. व्यास--विस्तार (चक्रपाणि) ; अपने घटक धात्वंश का क्षय तथा दौर्बल्य होने से हृदय, अन्त्र, रस-रक्तवह-स्रोत आदि में इस प्रकार विस्तार (डायलेटेशन) प्रसिद्ध है। अन्त्रों के विस्तार को अंग्रेजी में 'मेगाकोलन' कहते हैं। अन्त्रों के स्थल-विशेष पर होनेवाले आध्मान के लिए गुल्म यह विशेष नाम है। सिराओं का फुलावा सिराकौटिल्य या सिरापूरण (वेरीकोसिस, वेरीकोस्ड वेन्स) नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर तथा अधर गुद की सिराओं के घटक मांसधातु की क्षीणता होने से वे रस-रक्त के यत्किंचित् भी पीड़न से फूल जाती हैं। इस रोग को अर्श कहा जाता है। इस प्रकार नव्य प्रत्यक्षानुसार भले अर्श सिराओं के फुलावे या पूरण से होते हों तथापि इस पूरण का भी मूल मांसधातुमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) की क्षीणता होने से आयुर्वेद में अर्शों को मांस का ही अंकुर

कहा जाता है। अतएव अर्श की चिकित्सा के प्रकरण में इस मांसक्षय के उपचार रूप में स्वयं मांस रस का किंवा समान गुणवाले यूषों (शिम्बीधान्यों के क्वाथों) का विधान प्राचीनों ने किया है। आमाशय आदि आशय इस प्रकार धातुक्षय-वश फूल जाएँ तो इसे नवीनों ने एटॉनी (टोन का नाश) नाम दिया है। अष्टाङ्ग-हृदय में इस प्रकरण में आये व्यास का अर्थ हेमाद्रि ने तो चक्रपाणि के समान असंकोच ही किया है; पर अरुण ने इसका अर्थ दिया है--आक्षेप आदि रोगों में अङ्गों की जो पछाड़ होती है वह;

४. संग--इसके दो अर्थ हैं--मूत्र, पुरीष प्रभृति मल सप्रमाण बने हों, उनका क्षय न हुआ हो, तो भी प्रवृत्ति (निर्गमन) न होना (रिटेन्शन); एवं वाणी आदि की अप्रवृत्ति;

५. भेद--संज्ञावह स्रोतों के दोषाक्रान्त होने से फाड़े जाने की-सी वेदना (कटिंग पेन); इस प्रकार की विविध मिथ्या वेदनाओं को अंग्रेजी में पेरास्थीशिआ कहते हैं; अथवा त्वचा, गुद, अर्श, जिह्वा आदि का भेदन--उनमें चीर पड़ना;

६. साद--शैथिल्य, हाथ-पैर आदि में अपनी क्रिया करने के प्रति प्रीति और सामर्थ्य न होना (लेसीटयूड);

७. हर्ष--रोमाञ्च या झणझणी। पाद-हर्ष आदि पदों में हर्ष शब्द का पिछला अर्थ (नमनेस, टिंगलिंग) अभिप्रेत होता है। हर्ष का रति की इच्छा विशेष होना (रिरंसा) यह अर्थ भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। राजयक्ष्मा में धातुक्षय और वात का प्रकोप होने से यह लक्षण प्रादुर्भूत होता है, ऐसा तन्त्रकारों ने कहा है;

८. तर्ष--तृषा; वायु के प्रकोप में अन्य शारीर धातुओं के सदृश जलधातु का भी क्षय (उदकक्षय, डीहाइड्रेशन) हो जाने से उसके पूरण के निमित्त तृषा के रूप में स्वभावतः जलधातु के ग्रहण की इच्छा और रुचि होती है। कभी तरुण या जीर्ण प्रतिश्याय किंवा उसके उपद्रव रूप में नासा-स्रोत, गल, कण्ठ आदि में हुई मांसवृद्धि (नासार्बुद, गिलायु-टॉन्सिल-आदि[1]) के कारण प्राण के गमनागमन का मार्ग प्रतिरुद्ध हो जाने से रोगी प्राण के ग्रहण के निमित्त मुख खुला रखे तो बाह्य वायु के स्पर्श से मुख, तालु, क्लोम ये पिपासा-स्थान शुष्क होनेके परिणाम स्वरूप भी तृषा होती है। रोगी अज्ञानवश जलपान करता है तो उससे इन विकारों के आदि कारणभूत कफ और आम की सुतरां वृद्धि होकर विकार बढ़ते ही जाते हैं;

१--मधुर रस के अतियोग के लक्षणों में च० सू० २६।४३ में इन विकारों को मांसाभिवृद्धि कहा है।

९. स्पन्दन (चाल)--किंचित् चलन ('स्पदि किंचिच्चलने' धातु); किंचित् कम्पन; स्फुरण, (फड़कना);

१०. कम्प--कम्पन, वेपथु, वेपथुवात। मांस-सूत्रों के किसी पुंज-समुदाय-के स्पन्दन या स्फुरण को अंग्रेजी में फाइब्रिल्लेशन कहते हैं। हृदय में उसके प्रकोष्ठों के मांस-सूत्रों का प्रणाश (डीजेनेरेशन) होने से यह होता है। अधिक स्पन्दन को कम्प (ट्रेमर) कहते हैं। यह सर्वाङ्ग में होता है तथा हाथ-पैर आदि एकाङ्ग में भी (प्रादेशिक) होता है। हाथ के कम्प को अंग्रेजी में 'रायटर्स क्रैम्प' कहते हैं। नाम का कारण यह है कि पहले समझा जाता था कि, यह कम्प लेखकों को अति लेखन के कारण हुए सतत श्रम के कारण होता है। चलन और भी अधिक हो तो उसे आक्षेप (कन्वल्शन) कहते हैं;

११. वर्त--पुरीष, मूत्र, पित्त, रस-रक्त आदि का वर्तुलीभवन; वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप और स्थान-संश्रय इन मलों में होने से उनका पिण्डीभाव। इसके परिणाम-स्वरूप इन द्रव्यों के अपने-अपने स्रोतों में वायु की क्रिया का मार्ग प्रतिबद्ध होने से उसका प्रकोप होता है, जिससे तत्-तत् नाम से अभिहित शूल के वेग होते हैं। इनका कुछ विचार पहले किया जा चुका है;

१२. तोद--सुई चुभने की सी व्यथा (प्रिकिंग सेन्सेशन)। यह भी पेरास्थीशिआ का एक प्रकार है;

१३. व्यथा--प्रादेशिक (स्थानीय) अरति (लोकल डिस्कम्फर्ट);

१४. चेष्टा--वायु का प्रकोप होनेसे मन का वायुकृत कर्म उत्साह (प्रयत्न) बढ़ जाने से अति चेष्टा होती है। अपतन्त्रक (हिस्टीरिआ) आदि के वेग होने के पूर्व यह लक्षण देखा जाता है। रोगी 'यह करूँ, वह करूँ' इस प्रकार अति प्रवृत्तिमय हुआ पाया जाता है;

१५. वेष्टन--अङ्गों में मरोड़े जाने की सी अनुभूति। यह लक्षण विशूचिका में जङ्घा में होता है। अंग्रेजी में इसे क्रैम्प कहते हैं। पेशियों के सहसा और तीव्र संकोचवश यह प्रतीत होती है। प्रवाहिका में महास्रोतस् में यह अनुभव होता है। उसका भी स्वरूप नवीनों ने यही बताया है। संचित कफ के कारण महास्रोत में होनेवाली अनुलोमनी गति (पेरिस्टाल्सिस) में अन्तराय होने के कारण इस क्रिया के कारणभूत समान तथा अपान वायु प्रकुपित होते हैं। प्रकुपित हो तीव्र संकोच और तज्जन्य शूल-विशेष के रूप में वह विकृत क्रिया करता है;

१६. खरता--त्वचा, जिह्वा, मल, अर्श आदि के अंकुर इत्यादि का स्पर्श खुरदरा (कर्कोटकफल-सदृश) होना;

१७. परुषता--त्वचा आदि कर्कश होना;

१८. विशदता--त्वचा, कफ, मल आदि में तन्तुमत्ता-विपरीत गुण होना ;

१९. सुषिरता--शरीरावयवों में सच्छिद्रता, घनत्व की न्यूनता। धातु-क्षयवश पोरोसिटी, रेअरीफेक्शन, नेक्रोसिस, फुप्फुसों में केविटी, कोषों--शरीर परमाणुओं --में वेक्युओल्स-नामों से आधुनिकों ने इस सुषिरता का उल्लेख किया है। इसका विवरण पहले किया जा चुका है ;

२०. श्यावारुणवर्णता--त्वचा, ओष्ठ, नेत्र (नेत्र के वर्त्म या पलक का अन्दर का भाग), नेत्र की चतुर्दिक् त्वचा ; मल आदि का वर्ण श्याव (राख या सलेटी जैसा), किंवा अरुण होना। वर्ण के साथ वायवी छाया का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए[1]। वायवी छाया (टिन्ट) रूक्ष, श्यावारुण तथा प्रभारहित होती है। श्यावारुणवर्णता या वायवी छाया का अर्थ नव्य-मत से हृदय की मन्दता के कारण रस-रक्त की शुद्धि समीचीन न होने से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की अधिकता (सायनोसिस) समझना चाहिए। आयुर्वेद-मत से पक्वाशय में तृतीय अवस्थापाक में उत्पन्न वायु की अधिकता ही इसका कारण है। चिकित्सा की शुद्धि की दृष्टि से यह मत समझ लेना चाहिए। नव्य-मत से यह छाया तथा वर्ण हृदय-दौर्बल्य के द्योतक हैं, अतएव अरिष्टभूत हैं। चरक में भी कहा है--

वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥

च० इ० ७।१३

वायवी छाया मृत्यु किंवा भारी संकट की सूचक होती है ;

२१. कषाय-विरसमुखत्व--मुख का रस (स्वाद) कषाय--कसैला या विरस--फीका, स्वादमात्र के अभाववाला--होना ;

२२. शोष--अङ्गविशेष, यथा पेशी आदि क्षीण और दुर्बल हो जाना--एट्रॉफी ; किंवा अवयव-विशेष के शरीर-परमाणुओं का शोष ; राजयक्ष्मा में मांस धातु का क्षय सविशेष होने से, उसमें भी उरःस्थल की पेशियाँ अधिक प्रभावित होने से पर्शुकाएँ उभरी हुई दीखती हैं ; शरीर का गौरव--भार--मांस पर विशेष आश्रित होने से भार न्यून हो जाता है। राजयक्ष्मा के लक्षणों में भार की कमी (लॉस ऑफ वेट) नाम से नवीनों ने जो लक्षण बताया है वही भार की कमी के भी हेतुभूत मांस-क्षय का नामोल्लेख कर प्राचीनों ने कहा है। कभी-कभी हाथ-पैर, अंस (कन्धा) आदि की पेशियों का शोष होता है। इन अवयवों में वेदना, पंगुता आदि व्यथा ले कर आए रोगियों में दोनों पक्षों की परस्पर तुलना कर परीक्षा करनी चाहिए कि व्यथित अवयव की पेशियों की क्षीणता तो नहीं है ;

१--वायवी तथा अन्य छायाओं और प्रभाओं के स्वरूप तथा परिणाम के ज्ञान के लिए देखिए--च० इ० ७।१०-१५।

२३. शूल--उदर, पार्श्व, हृदय, शिर आदि में भाला (छुरा) भौंकने की-सी पीड़ा ; स्टैबिंग पेन ;

२४. सुप्ति--अवयव-विशेष का संज्ञानाश। रुई के तन्तु, मयूरपिच्छ, किसी कागज का कोना आदि फेरने का अनुभव न हो तो इसे स्पर्शनाश (एनेस्थीशिया) कहते हैं ; पीड़न या दबाने से असह्य वेदना होती हो तो इसे पीड़नाक्षमता (टेन्डरनेस) कहते हैं। सुप्ति कभी-कभी एक ही आसन (पोश्चर) से देर तक बैठे रहने से हुए हर्ष के साथ भी होती है। यह कुछ ही क्षण रहती है। स्पर्शनाश तथा यह सुप्ति रक्तक्षय या रक्त की अनुपलब्धि (एनीमिआ) के कारण होती है। कारण, स्पर्शज्ञान अपनी सिराओं में सम्यक् प्रमाण और प्रकार से बहते हुए रक्त के कारण होता है[1]। सुप्ति कभी सिराओं के पीड़नवश होती है, जैसे एक ही आसन पर चिरकाल बैठे रहने से या कोई अवयव कुछ काल दबा रहने से प्रादेशिक सिराओं का पीड़न होने से रस-रक्त का संवहन सप्रमाण न होने के कारण कुछ क्षण के लिए सुप्ति (गुजराती-खाली, हिन्दी सुन्न होना, सुनबहरी) होती है, सर्वजन प्रत्यक्ष है। किंवा सुप्ति वात-प्रकोपवश सिराओं (आर्टीरिओल्स) का संकोच हो जाने से भी होती है। कुष्ठ, वातरक्त आदि रोगों में विकृति की संप्राप्ति यह पिछले प्रकार की होती है ;

२५. संकोच--अङ्ग-विशेष सिकुड़ जाना--संकुचित हो जाना ; यथा, संधिबन्धनों की विकृति होने से संधियाँ संकुचित हो वक्र हो जाना ; पृष्ठवंश के संधिबन्धनों के वैकल्य के कारण और कदाचित् अस्थियों में सौषिर्य (सच्छिद्रता, नेक्रोसिस--इसका भी कारण वायु ही है, यह वायु के गुणों में सौषिर्य के पाठ सिद्ध है) होने से, पुरुष आगे की ओर झुक जाता है, इसे विनाम (ड्रूपिंग एटीच्यूड) यह विशेष नाम दिया गया है। संकोच कभी त्वचा में हो तो वह स्थान-स्थान पर विदीर्ण हो जाती है--इसे वली या त्वक्-संकोच कहते हैं। गर्भस्थिति होने पर उसके पीड़नवश उदर की त्वचा इस प्रकार विदीर्ण (भिन्न) हो कर फैलती है। प्रसवोत्तर पुनः पूर्वावस्था में आती है तो लम्बी वलियाँ उदर के दोनों ओर तथा वंक्षण पर दिखाई देती हैं। इन्हें आयुर्वेद में किक्किस तथा अंग्रेजी में स्ट्रायी ग्रेवीडेरम कहते हैं। (स्ट्राया=रेखा ; स्ट्रायी बहुवचन ; ग्रेविड=सगर्भ)। ये वलियाँ स्त्री को कभी गर्भस्थिति हो चुकी है इस बात की गमक होती हैं। हाथ-पैर आदि का शोथ होने पर भी त्वचा आभ्यन्तर पीड़नवश फैलती है। शोथ (उत्सेध) शान्त होने लगे तो यह फैली हुई त्वचा सिकुड़नों (संकोचों, झुर्रियों)

१--देखिए सु० शा० ७।१४।

के रूप में दिखाई देती है। जिसने इस शोथ को पहले देखा नहीं वह पुरुष भी इन सिकुड़नों को देख कर कह सकता है कि शोथ अब न्यून हो रहा है ;

२६. स्तम्भ--हाथ, पैर आदि में आकुञ्चन-प्रसारण आदि चेष्टाओं का नाश (स्तब्धता) ; इसी प्रकार विविध अवयवों के रस-रक्तवह स्रोतों, महास्रोत आदि का भी स्तम्भ हो कर तत्तत् परिणाम होते हैं। यथा, हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों का तीव्र और सहसा स्तम्भ हो तो तीव्र हृद्ग्रह (एन्जाइना), महास्रोत में हो तो उदरशूल (कॉलिक), गवीनियों में हो तो अश्मरीशल (रीनल कॉलिक), पित्त-प्रसेक में हो तो पित्ताश्मरीशूल (यह नाम आधुनिकों की बिलिअरी कॉलिक संज्ञा की अनुकृति में रखा गया है), बुद्धीन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठानों का तर्पण करनेवाले मस्तिष्कगत रस-रक्तवह स्रोतों में हो तो स्थान-भेद से तत्तत् अङ्ग की संज्ञाओं और चेष्टा का नाश (अङ्गवध, पक्षाघात ; लकवा, वध स्वल्प हो तो उसे अथवा उसके पूर्वरूप को अंग्रेजी में पेरेसिस कहते हैं तथा वध पूर्ण कक्षा को पहुँचा हो तो इसे पेरेलिसिस कहा जाता है)। स्तम्भ कभी पेशियों का भी होता है, जैसे मन्यास्तम्भ (राई नेक, टॉर्टिकॉलिस) में ; विशूचिका में जङ्घा की पेशियों का इसी प्रकार स्तम्भ होता है ; महास्रोत आदि मल-विसर्जक स्रोतों में स्तम्भ होने के परिणामस्वरूप मल शरीर में ही संचित रह जाते हैं, जिससे शरीर में जकड़ाहट-सी प्रतीत होती है। स्तम्भवश हुई इस प्रतीति को भी स्तम्भ या स्तब्धता नाम दिया गया है। एवं शरीर में इस या अन्य कारण से दोषों का संचय हो जाए इसे भी स्तब्धता कहा जाता है। साम-निराम भेद से स्तब्ध दोष दो प्रकार के होते हैं--साम स्तब्ध दोष तथा निराम स्तब्ध दोष ;.

२७. खञ्जता--एक पैर लंगड़ाना। इसी का एक भेद कलायखञ्ज (लेथायरिज्म) होता है, जिसमें चलते समय भूतल पर टिकाया हुआ पैर काँपता है तथा आगे रखने के लिए बढ़ाया पैर लंगड़ाता है। खञ्जता किंवा पंगुता का एक भेद रोगज फक्क (लक्षणसूचक नाम अंग्रेजी में--इन्फेन्टाइल पेरेलिसिस ; सूक्ष्म विकृति सूचक पर्याय--एन्टीरिअर पॉलिओमायलाइटिस) होता है ;

२८. पंगुता--दोनों पैर लँगड़ाना ;

२९. प्रलाप (डिलीरिअम)--ज्वर में भी उपद्रवतया प्रलाप हो तो वह ज्वर की तीक्ष्णता से भी हो सकता है, एवं वायु के प्रकोप से भी हो सकता है। वायु के प्रकोप से हो तो मल-वातानुलोमन औषध, बस्ति आदि उपचार तथा वायु को शान्त करनेवाले द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए। बहुधा नव्य-मत का अनुसरण करते हुए चिकित्सक ज्वरोष्मा पर ही ध्यान देते हैं। प्रलाप में कितनी ही वार ज्वर उतना तीक्ष्ण नहीं होता ;

३०. ग्रह--हाथ, पैर, शिर आदि जकड़ जाना, उनमें पकड़े या जकड़े जाने (दबोचे जाने) की प्रतीति। यह प्रतीति हृदय आदि अन्तरवयवों में भी होती है। हृदय में यह व्यथा हो तो उसे हृद्ग्रह (एन्जाइना पेक्टोरिस) कहते हैं। इस व्यथा का आयुर्वेदिक नाम अत्यन्त सूचक है। इसमें शूल होता है, परन्तु वह नियत (इनवेरीएबल, सभी रोगियों में अवश्य पाया जानेवाला) लक्षण नहीं है--प्रायोभावी है। परन्तु ग्रहण (सीज़र, कॉम्प्रेशन) इस रोग का नियत (प्रत्यात्म) लक्षण है। अतः आयुर्वेद में दिया गया रोग का हृद्ग्रह नाम अन्वर्थक है ;

३१. कुब्जता--शरीर का कुबड़ापन (हंप बैक)। यह स्थिति नव्य प्रत्यक्षानुसार कई बार यक्ष्मा के जीवाणुओं द्वारा पृष्ठवंश की अस्थियों तथा संधियों में सौषिर्य होने से (उनके खाये जाने से) एवं उनमें हुए व्रण से आक्रान्त अवयवों का रोपण होते हुए आसपास के अवयवों के साथ संधान हो जाने से होती है। कुब्जता या विनाम के दिशा-भेद से भिन्न-भिन्न नाम आधुनिकों ने दिए हैं। सामने विनाम को कायफोसिस या हंप-बैक कहते हैं तथा पार्श्व में झुक जाने को स्कोलिओसिस कहा जाता है ;

३२. निद्रानाश--मन के अनवस्थित होने (अस्थिरता, चाञ्चल्य) के कारण यह होता है। अंग्रेजी में इन्सॉम्निआ ; या स्लीपलेसनेस ;

३३. शोथ--बाहु, मुख आदि अङ्गों में उत्सेध (सूजन) ; लोक में मेद के कारण हुए फुलावे को, जिसमें शरीर पुष्ट होते हुए भी सामर्थ्य उतना नहीं होता, वायु के कारण हुआ फुलावा कहने का प्रचार है। इसके अतिरिक्त शोथ नाम से प्रसिद्ध रोग भी तत्तल्लक्षणयुक्त हो तो वातज होता है ;

३४. शुक्रनाश तथा ३५. गर्भनाश--शुक्र का नाश होने से उसकी पूर्ति के लिए प्राप्त रसधातु का व्यय शुक्र की पुष्टि में ही हो जाता है। अति व्यवाय (मैथुनातियोग) ; स्वप्न में किंवा मुष्टिमैथुनादि कारणों से पुरुष के शुक्र का नाश चालू ही रहे किंवा नाश (क्षय) के कारणभूत वात-प्रकोप का यथावत् उपचार न हो--शुक्र का बृंहण करनेवाले आहारौषध तथा विहार का उपयोग न किया जाए, तो रस-धातु शुक्र का ही पूर्ण पोषण करने में समर्थ नहीं होता। परिणामतया, शुक्र की पुष्टि के अनन्तर, शुक्राशयों में आए रसधातु के शेषांश से जिसका पोषण होता है, वह ओज भी पोषक रस प्राप्त न होने के कारण पुष्ट नहीं हो पाता। तात्पर्य, ऐसी परिस्थितियों में शुक्रनाश शब्द से ओजोनाश भी गृहीत समझना चाहिए। शुक्रक्षय तथा ओजःक्षय के परिणामों का प्राचीनों ने शुक्रावृत वात, शुक्रगत वात, शुक्रक्षय तथा ओजःक्षय नाम से वर्णन किया है। रतिसुख की इच्छा न होना या न्यून होना, व्यवाय का सामर्थ्य न्यून होना, (मैथुनाशक्ति, इम्पो-

टेन्सी), अल्पता के कारण शुक्र की चिरकाल से च्युति, किंवा शुक्र की शीघ्रच्युति (शीघ्रपतन, प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन, अर्ली डिस्चार्ज), मैथुन का सामर्थ्य न्यून होने या शुक्रच्युति में उक्त विकृति होने से स्त्री को (संतोष-सौमनस्य) न होने से गर्भस्थिति न होना (निष्फलत्व-स्टरिलिटी) ; गर्भ-धारण न होने पर भी शुक्र का क्षय होने के परिणामस्वरूप ही गर्भ का स्राव या पात हो जाना (मिस्केरेज या एबॉर्शन) अथवा गर्भ का चिरकाल धारण होना किंवा गर्भ होकर मर जाना ये सब शुक्रक्षय के व्यवसाय में स्मरणीय परिणाम हैं। शुक्रक्षय की इस प्रकार गर्भस्थिति न होना, गर्भ का स्राव, पात, प्रसवोत्तर नाश आदि में परिणति होने से प्राचीन वैद्य निष्फलता[1] (स्टरिलिटी) की अवस्था में स्त्री के साथ पुरुष के भी शुक्रक्षय की चिकित्सा करते थे। नव्यमत से भी शुक्र में पुंबीजों का अभाव (एस्पर्मिया), पुंबीजों की संख्या न्यून होना (ऑलिगस्पर्मिआ), पुंबीजों में गति का वेग (मोटाइलिटी) न्यून होना, या गति होते हुए भी वह सीधी दिशा में न होकर वर्तुल होना--इन विकृतियों में शुक्र गर्भधारण के योग्य नहीं होता। निष्फलता के केसों में कोई ३०-४० प्रतिशत पुरुष की कारणता होती है। पुंबीज उत्पन्न होकर अकालमें ही उनकी मृत्यु हो जाए---अणुवीक्षण के नीचे वे मृत ही दिखाई दें--यह भी स्थिति शुक्रनाश की होती है ;

वात-प्रकोप से गर्भनाश के अनेक स्वरूप हैं। इनमें एक नवीन विद्यार्थी को भी सरलता से समझ में आनेवाला गर्भनाश वह है जिसमें गर्भ की पूर्ण वृद्धि और पुष्टि होने पर भी वात-प्रकोपक कारणों के सेवनवश गर्भ के निष्क्रमण के मार्गों का संकोच होने से गर्भ नियन्त्रित (पीडित, दबा हुआ) होने से रस-रक्त का संवहन न होने के कारण उसकी मृत्यु होती है। यह स्थिति न आए इस हेतु गर्भिणी को अन्तिम मासों में मल और वात का अनुलोमन करने के लिए मुख-मार्ग से एरण्डतैल आदि मलवातानुलोमन-द्रव्यों का उपयोग कराया जाता है ; उदावर्त के नाशार्थ फलवर्ति दी जाती है, प्रसव के पूर्व निरूह तथा अनुवासन

१--शुक्रक्षय के दो परिणामों—मैथुनाशक्ति तथा निष्फलत्व---में भेद करना चाहिए। सम्भव है, पुरुष उभय पक्षों की तृप्ति करने में समर्थ हो, परन्तु प्रजोत्पादन का सामर्थ्य उसके शुक्र में न हो। इसे निष्फलता (स्टरिलिटी) कहते हैं। दूसरी ओर हो सकता है वह मैथुन में न्यूनाधिक या सर्वथा अशक्त हो, परन्तु किसी प्रकार योनिमुख में शुक्र पहुँच जाए तो प्रजोत्पत्ति हो सकती है। इसे मैथुनाशक्ति (इम्पोटेन्सी) कहते हैं। एक ही पुरुष में दोनों विकृतियाँ होना भी सम्भव है। निष्फल शब्द का प्रयोग चरक ने---शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे—च० चि० २८।६८ इस शुक्रावृत्त वात के लक्षण में किया है।

बस्ति दी जाती है एवं योनि में वातघ्नौषधसिद्ध पिचु रखे जाते हैं। वात का अतिशय प्रकोप होकर नियन्त्रित हो (दब कर) मृत गर्भ की लीन यह विशेष संज्ञा है[1]। वात-प्रकोपवश होनेवाले एक अन्य गर्भनाश को (शुष्क हुए गर्भ को), अवस्थाभेद से नैगमेष-नामक बालग्रह (भूत) द्वारा अपहृत गर्भ तथा नागोदर कहा जाता है[2]। नागोदर में वात का प्रकोप होता है, अतः गर्भ शुष्क होने पर भी अपत्यपथ से रक्तप्रवृत्ति (रक्तदर्शन) नहीं होती है। शुष्क गर्भ का ही एक भेद होता है, जिसमें कारण पित्त का प्रकोप होता है। पित्त प्रकोपवश गर्भ का पोषक रक्त भी दुष्ट हो अपत्यपथ से प्रवृत्त होता है। परिणामतया, गर्भ का पोषण न होने से वह शुष्क हो जाता है। इसे उपविष्टक नाम दिया गया है। वातिक गर्भनाश से इसका ग्रहण नहीं होता[3]। चरक ने दोषभेद से शुष्क हुए गर्भों को ये दो नाम दिए हैं। सुश्रुत ने दृष्टशोणित और अदृष्टशोणित दो विशेषणों से इन विकृतियों का पृथक् उल्लेख किया है[4]। दोष तथा लक्षण-भेद से यह भिन्नतया निर्देश चिकित्सा के भेद के लिए है। डल्हन ने इन्हें गर्भशोष या शुष्क नाम दिए हैं तथा काश्यप का वचन भी उद्धृत किया है। गुजराती में ये 'छोड़' नाम से प्रसिद्ध हैं। संग्रहकार ने लिखा है और लोक में प्रसिद्धि भी है कि, शुष्कगर्भ को जब यथावत् पुष्टि मिलती है तभी वह सम्यक् आप्यायित हो

---

१. देखिए—वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः। सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते—सु० शा० १०।५७; लीयते श्लिष्यति; स्रोतसां गर्भनिर्गममार्गाणां वातोपद्रवेण संकोचादिना गृहीतत्वात्; व्यापद्यते विनश्यति डल्हन। इसी प्रकरण में आगे सुश्रुत ने तथा संग्रहकार ने इसे लीन नाम दिया है।

२. देखिए—च० शा० ८।२६; सु० शा० १०।५७; च० शा० २।८-१०। इन प्रकरणों की तुलना करने से विदित होगा कि भूतहृत गर्भ में दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। प्रथम तो गर्भ की तीव्र आकांक्षा आदि प्राचीनोक्त तथा नवीनोक्त कारणों से गर्भ न होते हुए भी गर्भ के लक्षण होना (मिथ्या गर्भ—फॉल्स प्रेग्नेन्सी; स्पूरिअस प्रेग्नेन्सी; स्पूरिएसिस); इसमें उष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यों के आकस्मिक सेवन आदि कारणों से आर्तव-प्रवृत्ति होकर गर्भ के लक्षण लुप्त हो जाते हैं। इसके लिए कहा है कि लोक इस स्थिति को भूतहृत गर्भ कहते हैं (च० शा० २।६-१०)। दूसरे भूतहृत गर्भ में वास्तविक गर्भ होते हुए भी वह कभी कारणवश शुष्क हो जाता है। इसका 'लीनवत् प्रतीकार' करने का उपदेश है (सु० शा० १०।५७)।

३. देखिए—च० शा० ८।२६।

४. देखिए—सु० शा० १०।५७।

पूर्णता को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनेक वर्षों के बाद भी कभी-कभी स्त्री को प्रसव होता है[1]। स्मरण रहे, मूढ गर्भ इन गर्भों से भिन्न है, उसमें गर्भ की स्थिति ऐसी होती है कि उसका निर्गमन दुष्कर होता है।

गर्भनाश का एक अन्य उदाहरण योनिव्यापत् रोगों में (स्त्री-रोगों में) निर्दिष्ट पुत्रघ्नी योनि है। इस में दो स्थितियाँ होती हैं। या तो, गर्भस्थिति होने पर पुनः-पुनः गर्भ का स्राव या पात (हिस्ट्री ऑफ़ रिपीटेड एबॉर्शन्स एंड मिस्केरेजेस; हेबीच्युअल एबॉर्शन) हो जाता है। इस में वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप होने से गर्भ-पोषक रक्त की उससे दुष्टि होकर गर्भ शुष्क (क्षीण) होने से उसका स्राव या पात होता है[2]। रक्त की वात से इस दुष्टि के कारण ही गुजराती में इसका अन्वर्थक नाम 'कोठे रतवा' (कोष्ठ--गर्भाशय--में रक्त तथा वात का प्रकोप) है। सुश्रुत ने इस दुष्टि का कारण पित्तवश रक्त की दुष्टि माना है। वह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। पुत्रघ्नी योनि या 'कोठे रतवा' नाम से हुई विकृति में दूसरी स्थिति यह होती है कि--बच्चे उत्पन्न हो-होकर कास-श्वास-प्रधान संततज्वर (ब्रांकोन्यूमोनिया), वमन-अतिसार एवं कार्श्य (मेरेस्मस, शोष) इनमें एक या अनेक रोगों से उनकी वार-वार मृत्यु होती है। वृद्धत्रयी में 'स्थितं स्थितं हन्ति पुत्रम्' तथा 'जातंजातंपुत्रम्', शब्दों द्वारा दोनों विकृतियों का उल्लेख किया गया है;

३६. रजोनाश (आर्तव-नाश, एमेनोरिआ)--दोषों से आर्तववह स्रोतों अर्थात् अन्तःपुष्प या स्त्री-बीज का वहन करनेवाले स्रोतों (फेलोपिअन टच्यूब्स, सेल्पिक्स, ओवीडक्ट, या यूटेराइन टच्यूब्स) का मार्ग आवृत होने से--नाम तदन्तर्गत अवकाश (विवर, ल्यूमेन) न्यून हो जाने से आर्तव का नाश होता है। दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः--सु. शा. २।२१। यहाँ वात-प्रकोपवश आर्तववह स्रोतों का स्तम्भ (संकोच) होने से हुआ 'रजोनाश' अभिप्रेत है। प्रौढ वय में वयः-स्वभाववश वायु का प्रकोप होने से रजोनाश (क्लाइमेक्टरिक्स; मेनोपॉज़) होता है। नव्यमत से आर्तववह स्रोतों में विवर न्यून होने का परिणाम यह होता है कि, स्त्री-बीज का कवच, जो परिपक्व और स्त्री-बीज से उन्मुक्त हो अन्तःस्राव-विशेष उत्पन्न करता है, जिससे एक ओर स्तन्योत्पत्ति के लिए स्तनों की पुष्टि होती है, तथा दूसरी ओर गर्भ के धारण-पोषण के लिए गर्भाशय की पुष्टि होती है, वह कवच ही पुष्टि के लिए अवकाश न्यून होने से

---

१. देखिए—तौ (उपशुष्कक-नागोदरौ) तु मातुराहारतेजसाऽल्पेनाप्यायमानौ यदा पुष्टौ स्यातां तदा वर्षगणैरेपि प्रमदा प्रसूयत एव--अ० सं० शा० ४

२. देखिए--च० चि० ३०।२८। २. देखिए—सु० उ० ३८।१३।

सम्यक् पुष्ट नहीं हो पाता। परिणामतया, गर्भाशय में 'रस-रक्त' का संचय सम्यक् हो नहीं पाता। इसी से आर्तव भी नष्ट या न्यून प्रमाण में प्रवृत्त होता है।

रजोनाश में वायु प्रकारान्तर से भी कारण हो सकता है। रज (आर्तव) तथा स्तन्य रसधातु के उपधातु हैं। वातप्रकोपवश इतर धातुओं के समान अन्न-रस और रसधातु का भी क्षय होने से उनके उपधातु स्तन्य और आर्तव की यथावत् पुष्टि नहीं हो पाती। रजोनाश की रुग्णा उपस्थित होने पर इन तथा अन्य कारणों का पूर्ण विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए ;

३७. गर्भ आदि की विविध विकृतियाँ (विविध मॉन्स्टर्स) ;

३८. गर्भ का अतिकाल धारण ;

३९. शिर, नासिका, नेत्र और जत्रु (अंससन्धि) का संकोचवश अन्दर धँस जाना या वक्र हो जाना। इन अवयवों की घटक मांसपेशियाँ वातप्रकोपवश क्षीण (एट्रॉफीड) होने के परिणामस्वरूप में यह संकोच या वक्रता (संधि टेढ़ी हो जाना, पर्करिंग) होती है ;

४०. केशों की भूमि फटना ;

४१. शङ्खभेद (कनपटी फटना) ; ललाटभेद ; नव्यमत से हेक्सामीन नामक द्रव्य पक्वाशय में कोथवश उत्पन्न हो अपने स्वभाववश शिर की अन्तर्गत केशवाहिनियों को व्यात्त (विस्तृत) करता है। परिणामतया, उनमें रस-रक्त का प्रमाण वृद्धि को प्राप्त होता है। उसके पीडनवश यह भेद (शिरोवेदना विशेष) होता है ;

४२. घ्राणेन्द्रिय का नाश--इसमें वात की कारणता होने से ही वैद्यजन षड्बिन्दु तैल आदि स्निग्धोष्ण कल्पों का नस्यतया व्यवहार करते हैं, और सिद्धि-लाभ भी करते हैं ;

४३. अक्षिव्युदास--नेत्रगोलक टेढ़ा हो जाना (गुजराती में बाड़ी आँख)। अंग्रेजी में इसे स्ट्रेबिस्मस, स्क्विंट या क्रॉस आई कहते हैं। नेत्रगोलक को चारों ओर से बन्धन में रख कर सीधे प्राकृत स्थिति में रखनेवाली पेशियों में एकाध का वध (पेरेलिसिस) या दौर्बल्य के कारण श्रम (थकावट) होने से साद (शैथिल्य) हो तो उसका परिणाम यह होता है कि संमुखवर्ती पेशी प्रबल हो जानेसे आँख उस ओर खिच जाती है। दोनों आँखें एक लक्ष्य पर स्थिर नहीं हो पातीं। पेशी-विशेष का वध होने से रोग हुआ हो तो व्युदास निरन्तर रहता है। साद के कारण हो तो बीच-बीच में थकावट उतर जाने पर कुछ समय के लिए आँखें ठीक लगती हैं। संप्राप्ति को देखते इस रोग में एकाङ्गवीर आदि पक्षाघात का उपचार कर देखना चाहिए ;

४४. छाती में अवरोध प्रतीत होना। यह दो प्रकार से हो सकता है। या तो आम-पच्यमान-पक्वाशय में अवरुद्ध वायु का साक्षात् पीड़न छाती (प्राण-वह स्रोतों) पर होता है; किंवा वायु प्रसृत हो अपस्तम्भ (श्वासनलिका) में पहुँच उस का स्तम्भ करता है। दोनों कारणों से श्वासकृच्छ्र-सा हो कर अवरोध की प्रतीति होती है। वात-प्रकृति (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्टवाले) स्त्री-पुरुषों को अपतन्त्रक--हिस्टीरिआ-- के वेग के समय यद्वा कभी उसके विना भी कण्ठ में अवरोध-सा प्रतीत होता है। उसे अंग्रेजी में 'ग्लोबस हिस्टेरिकस यह विशेष संज्ञा दी गई है;

४५. ग्रीवा का स्तम्भ--ग्रीवा की पेशियों का स्रंस (किंचित् चलित हो एक-दूसरे पर चढ़ जाना) या स्तम्भ--स्थिरता--हो जाने से यह विकार होता है। इसी से बेलन आदि फेरने से वेदना तथा स्तब्धता की निवृत्ति हुई देखी जाती है। कभी वातप्रकोपक आहार आदि निदान (रोग-कारण) का बल अधिक हो तो प्रादे-शिक स्वेदन तथा वायु के शोधन-शमन आभ्यन्तर उपचार भी करणीय होते हैं;

४६. ओष्ठ, कर्ण, कटि, दन्त आदि का फटना;

४७. पैर, पार्श्व, श्रोत्र, नेत्र और छाती में पीड़ा--पार्श्वशूल, गृध्रसी आदि रोगों में, प्लुरिसी, वृद्ध अस्थिका पीडन आदि नवीनों द्वारा सुप्रचारित रोगों पर ही चिकित्सक का ध्यान सविशेष जाता है। इनमें वायु की कारणता को लक्ष्य में रख मलवातानुलोमन पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता;

४८-५३. श्रम, भय (भीरुता) शोक, मोह (तन्द्रा और मूर्च्छा के मध्य की स्थिति), दैन्य (अपने को हीन, किसी प्रकार से अशक्त मानना; इन्फीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स), मनोभ्रम (चित्त की अनवस्थितता; किसी चिन्त्य विषय पर मन को स्थिर न कर सकना; उसके कारण किसी क्रिया पर भी चित्त की स्थिरता न होना--घड़ी-घड़ी में पहले कार्य को पूर्ण किए विना दूसरे कार्य में जुट जाना; निश्चय (बुद्धि) करने का सामर्थ्य भी न होना इत्यादि)। भय या भीरुता (फोबिआ) के अनेक रूप हैं। रोगी को कोई प्रत्यक्ष विकार नहीं होता। केवल एक या अनेक प्रकार की शङ्काओं (भयों) से उसका मन आक्रान्त रहता है; यथा ऊँचे स्थान पर चढ़ने का भय, रास्ता पार करने का भय प्रभृति। संतत ज्वरों (टायफॉयड) या अन्य चिरकारी रोगों के कारण रस-रक्त-मांस-शुक्र आदि धातुओं का क्षय होने से तत्संबद्ध हृदय भी दुर्बल होता है। हृदय दुर्बल होने के कारण तदाश्रित मन भी भीरु हो जाता है। प्रायः मांसमय आहार से भीरुता दूर होती है;

५४. वाणी की कर्कशता--रोष और क्षोभ के कारण वाणी में कटुता; अथवा उनके विना भी वाणी या स्वर में मार्दव का अभाव होना;

५५. त्वचा की रूक्षता ;

५६. कृशता--धातुओं, विशेषतया मांसधातु की क्षीणता ;

५७. शरीर के वर्ण की कृष्णता--यह कभी प्रादेशिक होती है, यथा नेत्रों के चारों ओर, ललाट पर , मण्डलों (दागों, धब्बों) के रूप में मुख आदि पर ; कभी संपूर्ण मुख, छाती आदि कृष्णवर्णाक्रान्त होते हैं। यह स्थिति कभी मल्ल-विष (आर्सेनिक-पॉयज़निंग) प्रोकेन आदि से भी होती है ;

५८. उष्ण आहार, विहार देश, काल और औषधपर प्रीति--इनके सेवन की इच्छा। आयुर्वेद तथा आधुनिक दोनों मतों से रुचि ही से प्रायः हिताहित पदार्थों का निर्णय हो जाता है। उष्ण आहारादि वातशामक द्रव्यों की इच्छा वातरोगों में होना स्वाभाविक है ;

५९-६०. बल की न्यूनता और उसके कारण कर्म में अनुत्साह--वातप्रकोप वश धातुओं के क्षीण होने का यह स्वाभाविक परिणाम होता है। पुरुष में पीतता या शरीर की कृशता न देखी जाए तो क्रमशः रक्तक्षय तथा मांस-क्षय की व्यावृत्ति कर शुक्र के क्षय का विचार व्यवसाय में करना चाहिए ;

६१. मल गाढ़ होना--वात के प्रकोप का निदान करने में वृद्ध वैद्य इस लक्षण पर सविशेष ध्यान देते हैं। मल कभी समस्त ही ग्रन्थिमय किंवा गाढ़-शुष्क होता है, कभी उसका आगे का कुछ भाग ग्रन्थिभूत या शुष्क होता है। ये स्थितियाँ पुरीष के वर्त (पिण्डीभाव) और वायु की उत्पत्ति के तारतम्य की गमक हैं। निसर्गोपचारक मल की इन स्थितियों को देखकर निदान करते हैं कि पक्वाशय में मल शुष्कता को प्राप्त होने का अर्थ है कि, वह शुष्कता के प्रमाण के अनुसार न्यूनाधिक काल पक्वाशय में रहा ; उतने काल उसका कोथ (प्युट्रि-फैक्शन-सड़ाँद) हुआ ; कोथ के प्रमाण और काल के अनुसार उसमें न्यूनाधिक विष (टॉक्सिन्स) उत्पन्न हुए ; एवं ऐसा मल जितने काल पक्वाशय में रहा उतने काल उसमें उत्पन्न विष शरीर में प्रसृत हो रोगोत्पत्ति करते रहे। उनके मत से पक्वाशय में इस प्रकार उत्पन्न हो प्रसृत विष ही रोगोत्पत्ति तथा वार्धक्य के उत्पादन में कारण हैं। आयुर्वेद पक्वाशय में उत्पन्न द्रव्यों को वायु इस जाति या वर्ग में संनिवेशित करता है। उसके लिए बस्ति की सर्वोपरिता निसर्गोपचारकों के सदृश ही आयुर्वेदाभिमत है। केवल निरूह-बस्ति का एकमात्र प्रयोग आयुर्वेद-संमत नहीं है। कारण अनुवासन-बस्ति न करते हुए केवल निरूह का उपयोग आयुर्वेद में वात-प्रकोपक माना गया है। शाक-भाजी का अतियोग भी आयुर्वेद में वात-प्रकोपक अतएव गर्ह्य माना गया है।

६२. आनाह--कब्ज, कॉन्स्टिपेशन ; इसके दो भेद हैं--आमज तथा पुरीषज। आधुनिकों ने आनाह को प्रायः रोगों का मूल कहा है तो आयुर्वेद में

आनाह के भी हेतुभूत वेगावरोध को प्रज्ञापराध के प्रकरण में सर्व रोगों का मूल कहा है। कब्ज के लिए प्राचीन नाम आनाह है। इसी नाम का प्रयोग करना चाहिए। मलबन्ध आदि संज्ञाएँ नवीन हैं। आनाह शब्द में बन्ध अर्थ की ही नह् (णह्) धातु है;

६३. बद्धोदर—मल ग्रथित हो अतिवृद्धि को प्राप्त हो जाए तो यह स्थिति देखी जाती है; कई वार बद्धगुदोदर का अधिक गम्भीर कारण मानकर शस्त्रक्रिया की जाती है और अवरोध का कारण ग्रथित मल या गण्डूपद कृमि दृष्टिगोचर होते हैं। कृमि को अधिकांश रोगों में कारणतया स्मरण न करने से किंवा ग्रथित मल का आहरण करने के लिए यथावत् बस्ति, स्वेदन आदि न करने से मल शुद्धि न होने के कारण ही अवरोध के गम्भीर कारणों पर चिकित्सक का चित्त जाता है;

६४. भ्रम—भ्रम या चक्कर के नवीनों ने दो भेद किए हैं। एक, जिसमें बाह्य पदार्थ रोगी को अपने चारों ओर घूमते दीखते हैं। इसे 'डिज़ीनेस' नाम दिया है। द्वितीय, 'गिडीनेस' जिसमें अपना शरीर, मुख्यतः शिर, रोगी को चारों ओर घूमता प्रतीत होता है। रजःपित्तानिलाद् भ्रमः—सु. शा. ४।५६।—अर्थात् भ्रम के तीन कारण हैं। प्रथम रजोगुण, जिसका उल्लेख भ्रम-प्रधान रोग हाईपरटेन्शन के प्रकरण में 'इमोशन' (मानसिक आवेश) के नाम से आधुनिकों ने किया है। द्वितीय पित्त, जो अपने तीक्ष्ण (आशु) गुण के कारण बुद्धीन्द्रियों के स्थान शिर में रस-रक्त का प्रमाण तथा वेग (वेलोसिटी) बढ़ा कर भ्रम को उत्पन्न करता है। यहाँ वात का अधिकार होने से केवल वातज भ्रम का ग्रहण है। रजोगुण से हुआ भ्रम तो चिन्ता, रोष, ईर्ष्या आदि मनोभावों के आवेश का इतिहास होने से सुगमता से समझा जा सकता है। वात के प्रकोप का एक कारण श्रम होने से रोगी लेटा हो तो उठ बैठे, बैठा हो तो खड़ा हो, खड़ा हो तो चलने लगे, चलता हो तो दौड़ने लगे—इन स्थिति-परिवर्तनों में हुए श्रम से यदि भ्रम का वेग हो तो समझना चाहिए कि यह वातिक भ्रम है। विश्रान्ति-दशा में भी भ्रम हो तो उसे पैत्तिक समझना चाहिए। रक्तदाब का विचार करते हुए यह दोष-दृष्टि चिकित्सकों को रखनी चाहिए। इससे चिकित्सा शुद्ध और मूलगामी होगी।

वात का प्रकोप दो प्रकार से होता है, यह सिद्धान्त है। भ्रम के प्रकरण में उसका विचार करना चाहिए। वात का प्रकोप धातुक्षय से होता है तथा आवरण से। एवं वातिक भ्रम का प्रथम प्रभेद वह होता है जिसमें रस-रक्त का क्षय होने से बुद्धीन्द्रियों के अधिष्ठानों में उनका प्रमाण तथा वेग न्यून हो। नवीनों ने इसे 'एनीमिआ' से

होनेवाला भ्रम कहा है। यह 'लो ब्लड प्रेशर' में होता है। कदाचित् मांसधातु का क्षय हो तो तद्घटित हृदय और धमनियों में रस-रक्त को व्यान-वायु की प्रेरणा से आगे धकेलने की क्रिया (शक्ति) न्यून हो जाने से भी रस-रक्त का प्रमाण और वेग बुद्धीन्द्रियों में अल्प हो जाता है। प्राचीनों ने इसे धमनी-शैथिल्य या शिराशैथिल्य नाम दिया है। ऐसी स्थितियों में तीक्ष्णोष्ण, रस-रक्त की वृद्धि करनेवाले औषधाद्युपचार करने चाहिए।

वात-प्रकोप का द्वितीय कारण आवरण होता है। नवीनों ने बताया है कि रक्तदाब की अधिकता में धमनिकाओं (आर्टीरिओल्स) का स्तम्भ होता है। आयुर्वेद-मत से यह स्तम्भ विशेषतया वयः-स्वभाववश (वार्धक्य के कारण) प्रकुपित हुए वायु के कारण होता है। इस स्तम्भ (कॉन्ट्रेक्शन) के कारण शरीर को रस-रक्त पहुँचानेवाले व्यान-वायु के मार्ग (क्रिया) में अवरोध (आवरण)[1] होने के कारण वह प्रकुपित होता है---अपनी संकोचात्मक क्रिया अधिक बल से करने के लिए उद्दीपित (स्टिम्युलेटेड) होता है। इसी बल के कारण रक्तदाबमापक यन्त्र में पारद ऊँचे चढ़ता है। इसी बल के कारण बुद्धीन्द्रियों के अधिष्ठान--शिर में--रस-रक्त अधिक प्रमाण और अधिक वेग से पहुँचते हैं, जिससे भ्रम होता है। व्यान-वायु के मार्ग में यह आवरण कई रुग्णों में धमनियों में खरत्व (आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) के कारण धमनियों की स्थिति-स्थापकता क्षीण होने से भी होता है। नवीनों ने इस खरत्व का कारण धमनियों में केल्शियम का संचय बताया है। खरत्व एक वार हो जाए, तो इसका उपचार संभव नहीं है। तथापि पुरुष की प्रकृति देख कर उसमें धमनी-खरत्व तथा उससे होनेवाले पक्षाघात आदि वात-विकारों की पहले से संभावना कर उसकी चर्या में अभ्यङ्ग आदि स्रोतों के मार्दवकर उपायों की योजना करानी चाहिए, जिससे वात की वृद्धि होने ही न पाए;

६५. म्लानता--रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होने से तथा उनके कारण मन भी क्षीण हुआ होने से शरीर अप्रसन्न (मुर्झाया हुआ-सा) दिखाई देना। म्लान शब्द में हर्षक्षय अर्थ की म्लै (म्ला) धातु है।

वात-विकारों के स्वरूप-द्योतक गुण-कर्मों के इन उदाहरणों के उपसंहार-रूप में तन्त्रकार कहते हैं कि, इन विकारों के अतिरिक्त निदान और स्थान के भेद से वायु विविध रोगों को उत्पन्न करता है।

१--अवरोध शब्द में रुध् (रुधिर्) धातु है। पाणिनि ने इसका अर्थ आवरण दिया है।

वात-नानात्मज रोग--

विशेष कर वात-नानात्मज रोगों के विषय में कहा जा सकता है कि उल्लिखित लक्षणों और कर्मों वाले वातज रोग यों तो संख्यातीत हो सकते हैं; तथापि सामान्य बुद्धि के विद्यार्थी को चिकित्सा में मार्गदर्शन कराने के प्रयोजन से प्राचीनों ने लोक में सविशेष देखे जानेवाले वात-नानात्मज अस्सी रोगों का निर्देश किया है। ये रोग अधोलिखित हैं।--

१. नखभेद--नख फटना; अथवा खर-परुष होना;

२. विपादिका--तीव्र वेदना-सहित हस्त-पादतल का फटना; पाद-दारिका; बिवाई[1];

३. पादशूल--पैर (फुट) में वेदना;

४. पादभ्रंश--पद-निक्षेप (कदम) जिस स्थल पर करना हो, उससे भिन्न स्थल पर होना; पैर डगमगाना;

५. पादसुप्ति--पैरों का चेष्टानाश, किंवा स्पर्शाज्ञता;

६. वातखुड्डता--गुल्फवात (गिट्टे में वेदना--टॅलेल्जा), अथवा संधिवात (संधियों में वातकृत वेदना तथा शोथ)[2]। गुल्फवात को अन्यत्र वातकण्टक भी कहा है;

७. गुल्फग्रह--गुल्फ-संधि में शोथ और शूल हो कर निष्क्रियता अथवा उनके विना भी जकड़ाहट की प्रतीति;

८. पिण्डिकोद्वेष्टन[3]--जाँघ में मरोड़ की-सी वेदना; यह वेदना मन्या-स्तम्भ के समान पेशियों के स्वल्पमात्र एक दूसरे पर चढ़ने से होती है; किंवा

१--नानात्मज रोगों का यह उल्लेख चरक के अनुसार है। अतः विपादिका का लक्षण उसीके अनुसार लिया है। सुश्रुत ने दाह-प्रधान पैत्तिक विपादिका का निर्देश किया है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं है। प्रत्यक्ष में वातिक तथा पैत्तिक उभयविध विपादिका--विर्चिचिका देखी जाती है। सो, इन रोगों से पीड़ित रोगियों में चिकित्सा दोष का निदान कर करनी चाहिए।

२--मूल नाम खुडवातता के इन अर्थों के लिए देखिए--च० चि० २८।७३ पर चक्रपाणि।

३--स्मरण रहे, जैसे तिक्त और कटु शब्द सदृश होते हुए भी क्रमशः तीखे और कड़वे के वाचक न हो कर कड़ुए और तीखे के अर्थ में संस्कृत वाङमय में प्रयुक्त हुए हैं; वही स्थिति पिण्डिका और जङ्घा शब्दों की है। पिण्डिका का अर्थ पिण्डली नहीं, जाँघ का पीछे का मांसल भाग है। एवं जङ्घा का अर्थ जाँघ नहीं, पिण्डली (काफ) है।

उनके सहसा संकोच के कारण भी होती है। दूसरी स्थिति बहुत वार शीत जल में तैरते हुए समय देखी जाती है। तैराक कठिन परिस्थिति में आ पड़ता है;

९. गृध्रसी--यहाँ गृध्रसी-शूल ही केवल वातज होने से अभिप्रेत है; कफज भेद विवक्षित नहीं है;

१०. जानुभेद--घुटनों में फटने की-सी वेदना;

११. जानुविश्लेष--जानुसंधि का शैथिल्य और उसके कारण आकुंचन-प्रसारण प्रभृति कर्म में कठिनाई होना; यद्वा जानु-संधि विश्लिष्ट हो गई हो--ऊपर के भाग से पृथक् हो गई हो ऐसी प्रतीति; कभी ऐसी प्रतीति विष के उपयोग से भी देखी जाती है;

१२. ऊरुस्तम्भ--ऊरुओं का वातप्रकोपवश स्तब्ध--सकष्ट-चेष्टायुक्त-हो जाना। आम, मेद और कफ से होनेवाला रोग-विशेष यहाँ विवक्षित नहीं है;

१३. ऊरुसाद--जाँघों का शैथिल्य--कर्म में अनुत्साह;

१४. पांगुल्य--दोनों पैर लूले होना; बालकों में होनेवाला रोगज फक्क-रोग (इन्फेंटाइल पेरेलिसिस; एंटीरीअर पॉलिओमायलाइटिस; या केवल पॉलिओ; बाल पक्षाघात) भी इसका एक भेद है। वैद्यों को इसमें वात को लक्ष्य में रख स्वेदन-स्नेहनादि वातप्रत्यनीक उपचार करने चाहिए;

१५. गुदभ्रंश--गुद बाहर निकलने की प्रवृत्ति (प्रोलेप्स एनाई); पितृपक्ष से स्नायु-बन्धनों का दौर्बल्य किंवा मातृपक्ष से मांसधातु का दौर्बल्य संतान को प्राप्त हुआ हो, तो गुदभ्रंश किंवा अन्य भ्रंश हुए देखे जाते हैं। रचना-शारीर में पितृज-मातृज आदि अवयवों के प्रसंग में वाचक जान चुके हैं कि संतान को प्राकृत-विकृत स्नायु पिता से तथा मांसधातु माता से प्राप्त होती है। अर्थात् ये अवयव माता-पिता में जैसे होते हैं वैसे संतति को प्राप्त होते हैं। गुदभ्रंश पीड़ित रोगी में माता-पिता के विभिन्न अवयवों के भ्रंश का इतिहास पूछना चाहिए। प्रश्न-परीक्षा में स्मरण रखने की बात यह है कि गुदभ्रंश पीड़ित अपत्य के माता-पिता में स्नायु या मांस दुर्बल हों, तो उन्हें भी गुदभ्रंश ही हो सो बात नहीं। प्रायः अन्य अवयव का भ्रंश होता है। यथा; माता में गर्भ-धारणादि कारणों से दुर्बल हुआ गर्भयन्त्र भ्रंश का पात्र हो सकता है और स्त्री को गर्भाशय-ग्रीवा (सर्विक्स) या गर्भाशय बाहर निकलने की व्यथा हो सकती है। पिता में इसी प्रकार अन्त्र-स्खलन, मन्यास्तम्भ, गुदभ्रंश या फ्लैटफुट (पादतल की मध्यवर्ती कमान सीधी होना) हो सकता है। माता-पिता का इतिहास जानने का कारण यह है कि कुलज या आदिबलप्रवृत्त रोग सुसाध्य नहीं होते। गुदभ्रंश आनाह (कब्ज), अर्श, प्रवाहिका, या गुद पर हुए शस्त्र कर्म के कारण भी हो सकता है। आनाह में इसकी उत्पत्ति मलप्रवृत्ति के लिए प्रवाहण

(जोर लगाने) के परिणाम रूप में होती है। अतिसार-प्रवाहिका चिरकाल रहे, तो गुद के दौर्बल्य की भी परिणति गुदभ्रंश में हो सकती है ;

१६. गुदार्ति--चीर (फिशर) आदि न होते हुए भी गुद-प्रदेश में वेदना ;

१७. वृषणोत्क्षेप--वृषण ऊपर चढ़ जाना। गर्भ के प्रारम्भिक मासों में वृषण ग्रन्थियाँ उदर-गुहा में रहती हैं। पिछले मासों में वृषण-कोष में उतर आती हैं। कभी सर्वथा नहीं उतरतीं, कभी आधे मार्ग तक आ कर रह जाती हैं। अंग्रेजी में इन्हें "अनडिसेंडेड टेस्टीज़' कहते हैं। उदर गुहा की उष्णता अधिक होने से पुंबीज जीवित नहीं रह सकते। परिणामतया निष्फलत्व (स्टरिलिटी) से पुरुष पीड़ित होता है। कदाचित्, इस वैकल्य का वर्णन यहाँ प्राचीनों ने किया है ;

१८. शेफस्तम्भ--शिश्न स्तब्ध (अमृदु, जकड़ा हुआ) होना ; उसके कारण व्यवाय-कृच्छ्र ;

१६. वंक्षणानाह--वंक्षण (जाँघ के मूल) में जकड़ाहट अथवा फुलावा होना ; कदाचित् अन्त्रवृद्धि के पूर्व होनेवाले वंक्षणगत आध्मान का यहाँ निर्देश है;

२०.. श्रोणिभेद--कमर फटना ;

२१. विड्भेद--पुरीष का फटना। इस विकार में पुरीष की प्रवृत्ति एक साथ ही संपूर्ण नहीं हो जाती। वायु के कारण पुरीष विभक्त हो जाता है। परिणामतया, या तो एक ही वेगोत्सर्ग के समय रह-रह कर थोड़ा-थोड़ा शिथिल या ग्रथित मल प्रवृत्त होता है ; किंवा मल प्रवृत्ति के वेग अहोरात्र में अनेक होते हैं, जिनमें प्रत्येक समय एक या अधिक छोटी-बड़ी ग्रन्थि प्रवृत्त होती है ;

२२. उदावर्त--वेगधारणवश किंवा मलों का वर्त (पिण्डीभाव) हो जाने से मलों की प्रवृत्ति न होना, अपरंच प्रतिलोम गति हो कर उदावर्त या वेगधारणनिषेध के अध्यायों में[1] वर्णित विभिन्न लक्षण मल-भेदानुसार होना। आर्तव क्षीण न हो तथापि उसकी इस प्रकार प्रवृत्ति न होने का नाम ही योनि-व्यापत्--प्रकरण (स्त्री-रोगाधिकार) में उदावर्ता योनि (डिसमेनोरिआ) दिया है। इस रोग को, प्राचीन नाम होते हुए भी निष्प्रयोजन कष्टार्तव यह नया नाम दिया गया है ;

२३. खञ्जत्व--एक पैर का लँगड़ापन[2] ;

१--देखिए--च० सू० ७--न **वेगान्धारणीयाध्याय** तथा सु० उ० ५५--**उदावर्त-प्रतिषेधाध्याय**।

२--नानात्मज रोगों में परिगणित कई रोगों का विवरण ऊपर आ ही गया है। अतः यहाँ विस्तार नहीं किया है।

२४. कुब्जता--कुबड़ापन ;

२५. वामनत्व--ऊँचाई न्यून होना ; ठिंगनापन ; अंग्रेजी में ड्वार्फिज्म। सुश्रुत ने जन्मबलप्रवृत्त रोगों में वामनत्व की भी गणना की है, जिसका अर्थ यह है कि गर्भिणी सगर्भावस्था में दुष्ट आहार-विहार करती हो, तो संतति वामनत्व आदि किसी रोग से पीड़ित होती है। नव्य मत से यह पिट्यूइटरी नामक निःस्रोत-ग्रन्थि की क्रिया की हीनता से होनेवाला रोग है। इन्ही रोगों में पंगुता की भी आचार्य ने गणना की है। जन्मबलप्रवृत्त पंगुता काश्यप का गर्भज फक्क रोग तथा नवीनों का रिकेट्स है[3]। स्मरण रहे, रिकेट्स अस्थियों का सम्यक् पुष्ट न होना जिसका प्रमुख लक्षण है, ऐसे रोग-विशेष का नाम है। शोष-पीड़ित या कृश बालकों को गौणी वृत्ति से या भूल से रिकेट्स-पीड़ित माना जाता है ;

२६. त्रिकग्रह--पृष्ठवंश का नीचे का भाग--त्रिकास्थि से सूचित प्रदेश--जकड़ा जाना। आमवातप्रकृतिक पुरुषों में यह प्रायः होता है और अल्पमात्र कारण से इसके वेग हो आते हैं। कई दोषों और रोगों के लिए अथवा नव्य-मत से कई रोगबीजों के लिए अमुक अवयव सविशेष गम्य होते हैं, इसका एक उदाहरण त्रिकग्रह है। त्रिक प्रदेश में स्थित स्नायु (संधिबन्धन) सुदृढ़ होते हुए भी शरीर के इतर स्नायुओं की अपेक्षया आमवात (रूमेटिज्म) के विशेष प्रिय स्थल हैं ;

२७. पृष्ठग्रह--पृष्ठ की पेशियों तथा स्नायुओं में प्रकुपित वात का स्थान-संश्रय होने से उनकी स्तब्धता ;

२८. पार्श्वावमर्द--पार्श्वों में वेदना। यह कदाचित् वात-प्रकोपवश पार्श्वों की पेशियों तथा नाड़ियों में होनेवाला शूल है। इस तुलना का प्रयोजन यह है कि नवीन मत से यहाँ किंवा शरीर के इतर भागों में मायेल्जा, न्यूरेल्जा (पर्शुकान्तरालवर्ती पेशियों के शूल की विशेष संज्ञा--प्लुरोडायना) निदान हो, तो भी आयुर्वेद-मत से उन्हें वात-विकार मान कर तथा उसकी भी सामता-निरामता की परीक्षा कर उपचार किया जाए, तो चिकित्सा मूलगामी और स्थायी तो होती ही है, उसके आशुकारी होने में भी संशय नहीं। ड्राई प्लुरिसी में विशेषोपचार भी करने चाहिए ;

२९. उदरावेष्ट--पेट में मरोड़ (ऐंठन) की-सी प्रतीति ; प्रवाहिका में संचित कफ से हुए आवरण के कारण अपान-वायु का प्रकोप (संकोचात्मक प्राकृत-कर्म की वृद्धि) होती है, तो यह लक्षण सुव्यक्ततया देखा जाता है ;

३०. हृन्मोह--हृदय में घबराहट हो कर भ्रम, तम, स्वेद और मूर्च्छा (कोमा)। यहाँ उन्माद यह पाठान्तर है ;

३१. हृद्द्रव--हृदय का स्पन्दन जो सामान्यतया अप्रतीयमान होता है वह प्रतीति के साथ होना; पेल्पिटेशन। इसमें भी वायु की कारणता को दृष्टि में रख वायु के शमन-शोधन उपचार किए जाएँ, तो चिकित्सा त्वरित फलदायी, मूलगामी और स्थायी होती है। साथ ही तमाखू आदि निदान हों तो उनका परिवर्जन भी कराना चाहिए;

३२. वक्ष-उद्घर्ष (वक्षोधर्ष)--छाती में (विशेषतः हृदय में) कोई कुछ घिसता हो (या विलोता हो इत्यादि) प्रकार का अनुभव;

३३. वक्ष-उपरोध--छाती में (छाती के अवयवभूत हृदय, कण्ठ आदि में) अवरोध की प्रतीति होना;

३४. वक्षस्तोद--छाती में तोद--सुई चुभने की-सी प्रतीति; प्रिकिंग सेन्सेशन;

३५. बाहुशोष--बाहु की एक अथवा अनेक पेशियों की शुष्कता (एट्रॉफी) होना। इसके कारण वेदना, विशेषतया चेष्टा के समय कम्प-प्रभृति लक्षण होना;

३६. ग्रीवास्तम्भ--ग्रीवा की पेशियों या स्नायुओं के स्रंस अथवा स्थिरता (स्तब्धता, संकोच) के कारण ग्रीवा की चेष्टा न्यूनाधिक नष्ट हो जाना; राई नेक, टॉर्टीकॉलिस;

३७. मन्यास्तम्भ--ग्रीवा की मन्या नामक पेशी (अंग्रेजी में स्टर्नो-मेस्टॉयड) का उक्त प्रकार से स्तम्भ;

३८. कण्ठोद्ध्वंस--स्वर की विकृतियाँ;

३९. हनुभेद--हनु (जबड़े) में भेद--टूटने की-सी वेदना। यहाँ अष्टाङ्गसंग्रह में हनुस्तम्भ पाठान्तर है;

४०. ओष्ठभेद--वातप्रकोपवश ओष्ठ में फटने की-सी वेदना किंवा ओष्ठ में चीर पड़ना;

४१. अक्षिभेद--आँख में भेदनवत् वेदना। संग्रह में तालुभेद पाठान्तर है। उसका अर्थ तालु में वेदना-विशेष किंवा चीर (फिशर) या छिद्र होना है;

४२. दन्तभेद--दन्त में भेदनवत् वेदना; किंवा वातकृत अस्थिक्षय के कारण दन्त का भी क्षय होने से दाँत आधे में से टूट जाना;

४३. दन्तशैथिल्य--दन्तवेष्ट (मसूड़े) का घटक धातु वातप्रकोप के कारण क्षीण हो जाने से उसके कारण दाँतों का ग्रहण दृढ़ता से न होने से दाँत शिथिल (ढीले, किंचित् चल) हो जाना;

४४. मूकता--वाणी का नाश;

४५. वाक्संग--वाणी की प्रवृत्ति न होना। वाणी के अभाव के आधुनिकों ने दो भेद किए हैं। कण्ठ (स्वरतन्त्री) की स्तब्धता आदि प्रादेशिक कारणों

से वाणी का अभाव हो, तो इसे 'एफोनिया' (फोन=शब्द) कहा जाता है। मस्तिष्क के केन्द्र की विकृति से हो, तो इसे 'एफेजिया' कहते हैं। प्रथम भेद प्राचीनों का वाक्संग है। संग शब्द से सूचित है कि इस विकार में वाणी होती तो है, पर उसकी प्रवृत्ति (प्रादुर्भाव) नहीं होता। इससे ध्वनित है कि मूकता के समान इसमें वाणी का नाश (लोप) नहीं होता, केवल उसकी प्रवृत्ति का निरोध होता है, जो प्रादेशिक विकृतियों की कारणता दर्शाता है। शेष, मूकता में वाणी का लोप ही होता है, जो दूरगामी कारण--वाणी के अधिष्ठान या मस्तिष्कगत केन्द्र--की विकृति का सूचक है। यहाँ मूकत्व तथा गद्गदत्व यह पाठान्तर है ;

४६. कषायास्यता--मुख का रस कषाय (तुरा, कसैला) होना (या विरस होना--कोई स्वाद ही न होना) ;

४७. मुखशोथ--मुख सूखना ; रसादि धातुओं के समान तथा उनके साथ अब्धातु का भी क्षय (उदकक्षय--डीहाईड्रेशन) होने से मुख-तालु-गल और क्लोम (शुष्कक्लोमगलाननः) ये पिपासास्थान--जिनमें पिपासा की प्रतीति होती है ऐसे स्थान--शुष्कता अनुभव करते हैं। परिणामतया रोगी को तृषा लगती है। प्रतिश्याय, नासार्बुद आदि में प्राणवायु के गमनागमन का मार्ग अवरुद्ध होने से ये पिपासास्थान मुख से श्वास लेने से बाह्य वायु के स्पर्श से शुष्क हो जाते हैं। तब भी रोगी मुखशोषवश पिपासा से पीड़ित होता है। वातज मुखशोष तथा तृषा का यह स्वरूप समझ लेना चाहिए। सामान्यतया इन रोगों का नाम लेते ही पित्त की स्मृति हो आती है ;

४८. अरसज्ञता--किसी रस का अनुभव-बोध, ज्ञान-न होना। वात के प्रकोप के कारण अन्य दोष-धातु आदि के समान तथा उनके साथ रसनागत रस-बोधन के हेतुभूत बोधक कफ का भी क्षय होता है। परिणामतया पुरुष रस का ग्रहण नहीं कर पाता। स्मरण रहे, अभिनव क्रिया-शारीर में कहा है कि लालारस गृहीत अन्नपान को अपने में घोल लेता है, तभी गृहीत द्रव्य रसनेन्द्रियगत रसग्राही संज्ञासूत्रों के संसर्ग में आते हैं। इस मत से अभिभूत हो वैद्यजन लालारस को ही बोधक कफ मानने को प्रेरित होते हैं। परन्तु ये दोनों द्रव्य भिन्न हैं। लाला में जो केवल कफ ग्रन्थियों द्वारा स्रावित तन्तुमान् पदार्थ --म्युक्स--होता है, वही आयुर्वेद का बोधक कफ है। इसकी तथा लाला की वृद्धि के नाम भी आयुर्वेद में पृथक् हैं। बोधक कफ की अतिवृद्धि, अतएव अतिप्रवृत्ति को कफष्ठीवन, श्लेष्मोद्गिरण आदि तथा लाला की अतिवृद्धि तथा अतिप्रवृत्ति को लालाप्रसेक, केवल प्रसेक, हृल्लास आदि नाम तन्त्रकारों ने दिये हैं;

४९. घ्राणनाश--गन्धाज्ञता ; गन्ध का ग्रहण न होना : सुगन्ध-दुर्गन्ध तथा द्रव्यों के पृथक् गन्धों की प्रतीति न होना। यह विकार वातज है। इसीसे षड्बिन्दु तैल के नस्य आदि वातशामक उपचारों से वैद्यजन इसका सफल उपचार करते हैं ;

५०. कर्णशूल--पाकादि न होते हुए भी कान में तीव्र वेदना ;

५१. अशब्दश्रवण--शब्द न होते हुए विविध शब्द सुनाई देना। इसीको कर्णनाद (टिनीटस) भी कहते हैं। कर्णगूथ (कान का मैल) पटह (पद) से टकराने से, शुष्क अथवा शोष के कारण विदीर्ण पटह मध्यकर्णगत अस्थियों पर टकराने से मध्यकर्ण को आभ्यन्तर कर्ण से जोड़नेवाले द्वार (फिनेस्ट्रा ऑवेलिस) पर स्थित कला में केल्शियम का निक्षेप हो कर खरता आ जाने से तथा ऐसे ही कारणों से यह होता है। तीनों विकार शुष्कता और खरता को देखते हुए वातिक ही कहे जाने चाहिए ;

५२. उच्चैःश्रुति--'ऊँचा सुनना' नाम से प्रसिद्ध विकार। इसमें रोगी अल्प शब्द सर्वथा सुन नहीं सकता ; ऊँचे से कही बात को सुनता है। रोगि-भेद से उच्चता के तरतमभाव में भेद होता है--कोई कितना ऊँचा सुनता है, कोई कितना ऊँचा। बहुत वार रोगी का ध्यान हो, तो अपेक्षया नीचे स्वर से कही बात भी वह सुन सकता है। प्रायः रोगी धीमे कही बात सुन नहीं पाते, पर वक्ता के ओष्ठ की चेष्टा को देख वर्ण, शब्द और वाक्य की कल्पना कर लेते देखे जाते हैं। इसे 'लिप-रीडिंग' कहा जाता है। उच्चैःश्रुति वयःपरिपाक से आती है ; वार्धक्य में विशेष देखी जाती है। कभी एक कान में होती है, कभी दोनों कानों में ;

५३. बाधिर्य--शब्दमात्र सर्वथा न सुनाई देना ;

५४. वर्त्मस्तम्भ ; ५५. वर्त्मसंकोच--वर्त्मस्तम्भ में वर्त्म (पलक) बन्द नहीं होती--आँख सदा खुली रहती है। इसके कारण अश्रु जो निमेष के समय वर्त्म द्वारा पीड़ित हो नासिका और गल-मार्ग की ओर प्रवाहित हो जाते हैं वे अब पीड़नाभाववश उन मार्गों से न जाने के कारण संचित हो रोगी के गाल पर ही पड़ते रहते हैं (एपीफोरा)। परिणामतया, त्वचा पर सदा क्लेद (भीनापन) बना रहने से छाजन (पामा, अकौता) या अन्य कुष्ठ रोग हो जाते हैं। सुश्रुत ने इसीको वातहतवर्त्म नाम दिया है, जिसमें हत=क्रियाशक्तिशून्य, पेरेलाइज्ड। अंग्रेजी में इसे 'लेगॉ-फ्थेल्मस' कहते हैं। यह विकृति प्रायः अर्दित की अङ्गभूत होती है। वर्त्म-संकोच में वर्त्म (पलकें) हत हो सदा मिची रहती हैं। अंग्रेजी में इसे 'टोसिस' कहते हैं। माधव ने सुश्रुत का वातहतवर्त्म की व्याख्या करनेवाला पद्य उद्धृत

किया है। उसका एक पाठान्तर मधुकोषकार ने दिया है। उसके अनुसार वातहतवर्त्म चरक का वर्त्म-संकोच है। यह पाठान्तर टीकाकार को मिला होगा। परन्तु उसका उल्लेख निष्प्रयोजन है। माधव ने नेत्र रोगों के प्रकरण में कुञ्चन नामक चरक-सुश्रुत द्वारा अनिर्दिष्ट नामवाला रोग दे कर तन्त्रान्तर से उसका लक्षण दिया है। वह चरक का वर्त्म-संकोच ही है। काश्यप ने नानात्मज रोग चरक के अनुसार ही बताए हैं। इन दोनों रोगों के निर्देश में भी उसने चरक का अनुसरण किया है;

५६. तिमिर--आँखों के आगे छोटे-छोटे काले धब्बे फिरते दिखाई देना अथवा पूर्ण अन्धकार छा जाना। द्वितीय स्थिति मूर्च्छा के पूर्व रूप में भी होती है। उसके लिए गुजराती में तिमिर का अपभ्रंश 'तम्मर' शब्द ही प्रयुक्त होता है। इस तिमिर के लिए आयुर्वेद में कहीं अन्धकार-वाचक ही 'तम' शब्द का भी प्रयोग होता है। यह तम संज्ञा कभी तमकश्वास के अर्थ में व्यवहृत हुई भी देखी जाती है। तिमिर शब्द नेत्रों के पटलों के रोगों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उसका यहाँ ग्रहण नहीं है;

५७. नेत्रशूल--पाकादि न होने पर भी आँख दुखना;

५८. अक्षिव्युदास--पुतली फिर जाना;

५९. भ्रूव्युदास--भौंह टेढ़ी हो जाना;

६०. शङ्खभेद--शङ्ख-प्रदेशों में--कनपटी में--शंकुवत् तीव्र वेदना होना; वातप्रकोपवश इन्द्रियाधिष्ठान शिर में जानेवाले रस-रक्तवह स्रोतों का व्यास (विस्तार, डायलेटेशन) हो जाता है। परिणामतया, उनमें रस-रक्त का आयात अधिक होता है। मस्तिष्क शिरःकपाल जैसे स्थितिस्थापकता-रहित कठिन अवयव से वेष्टित होने से अधिक प्रमाण में आए रस-रक्त से हुए पीड़न को शिरःकपाल अपने ऊपर नहीं लेता। संपूर्ण पीड़न मस्तिष्क पर ही आ पड़ता है। परिणामतया, शिर में तीव्र वेदना की प्रतीति होती है। ऐसे समय में शङ्ख-प्रदेश पर --कान के आगे स्थित--धमनियों का विस्तार तथा उनमें स्पन्दन की सविशेष प्रतीति अंगुलियों के स्पर्श से रोगी या परीक्षक कर सकता है तथा आरम्भक दोष का सम्यक् निदान कर सकता है। नव्य मत से यह व्यास पक्वाशय में कोथवश उत्पन्न हिस्टेमीन--नामक द्रव्य के प्रभाव से होता है। सो, यह द्रव्य भी वातजातीय द्रव्यों की श्रेणी में परिगणनीय प्रतीत होता है। शङ्ख तथा शिर में वातकृत वेदना एक अन्य कारण से भी होती है। कफ-वात प्रधान प्रकृति या विकृति वाले पुरुष शीत वायु से पूर्ण प्रदेश (केले की बगीची, शीतऋतु में घर के बाहर रेलवे की यात्रा आदि) में जाते हैं, तो शीत-वात के स्पर्श से उनकी शिरस्त्वचा (स्कैल्प) में सूक्ष्म शोथ हो कर वेदना हो आती

है। इन दृष्टान्तों को देखने से विदित होगा कि रोग-परीक्षा में कारणों की कैसी सूक्ष्म मीमांसा करना आवश्यक होता है ;

६१. ललाटभेद--ललाट में फाड़े जाने की-सी वेदना ; बहुधा यह प्रतिश्यायगत कफ से ललाटास्थियों में स्थित वाताशय पूर्ण होने से --आयुर्वेद के शब्दों में कफ द्वारा वायु आवृत होने से--होती है। प्रतिश्याय एक ही ओर हो तो वेदना भी उस ओर के ललाटार्ध में होती है, और अर्धावभेदक (आधासीसी) की शङ्का कराती है। प्रतिश्याय पैत्तिक हो, तो प्रातःकाल के अनन्तर जैसे-जैसे दिन चढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाह्य उष्णता की वृद्धि होने से शारीरिक पित्त की भी वृद्धि होती है। परिणामतया, ललाटार्ध में वेदना भी बढ़ती जाती है और सूर्यावर्त की भ्रान्ति कराती है। दोनों दशाओं में प्रतिश्याय की चिकित्सा से रोग-निवृत्ति होती है। ललाट में वेदना कभी नेत्रों के विकार से भी होती है। उपनेत्र लगाने से वह सुस्थित हो जाती है। अधिमन्थ (ग्लॉकोमा) आदि कारणों से भी ललाटभेद होता है ;

६२. शिरोरोग--शिरःशूल नाम से यह आजकल के लेखकों में प्रसिद्ध है। शूल तीव्र शंकुस्फोटनवत् वेदना का नाम है। शिरोवेदना या 'हेड-एक' के लिए प्राचीनों ने शिरोरोग शब्द का ही व्यवहार किया है। सुश्रुत में इस नाम से ही इसका निदान तथा चिकित्सा बतानेवाले दो अध्याय हैं। सो, इस शुद्ध संज्ञा को ही लेखकों तथा चिकित्सकों को अपनाना चाहिए। शिरोरोग पर कुछ वक्तव्य शङ्खभेद तथा ललाटभेद के प्रकरण में दिया जा चुका है ;

६३. केशभूमिस्फुटन--केशों की भूमि--केश जहाँ त्वचा पर फूटे दिखाई देते हैं वह प्रदेश , वहाँ की त्वचा--फटना ;

६४. अर्दित--मुख का वध, फेशियल पेरेलिसिस ; इसीका एक प्रकार 'बेल्स पाल्सी' आधुनिक विज्ञान में वर्णित है ; फेशियल नर्व का कितना प्रदेश दोषाक्रान्त है, इस भेद से ये दो भेद किए गए हैं ;

६५. एकाङ्गरोग ; ६६. सर्वाङ्गरोग--ज्वरादि रोगों के उष्णत्व, शीतत्व आदि लक्षण एकाङ्ग में व्याप्त होना ; किंवा सर्वाङ्ग में व्याप्त होना। रोग भले दोषान्तरारब्ध हो तथापि उसकी व्याप्ति एक और अमुक अङ्ग-विशेष में होना यद्वा सर्वाङ्ग में होना वात ही के अधीन है। कारण, दोष, धातु, मल वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् (चक्रपाणि)। सर्वाङ्गरोग के स्थान पर चरक में कहीं पक्षवध (पक्षाघात) यह पाठान्तर है ; काश्यप ने भी पक्षवध ही दिया है। ऐसी स्थिति में एकाङ्गरोग का अर्थ प्रकरणान्तर में आया एक हाथ या एक पैर का वध (मॉनोप्लीगिआ) लेना युक्त होगा ;

६७. आक्षेपक--हाथ, पैर, ग्रीवा आदि पटकना, कन्वल्शन्स; यह अपस्मार आदि रोगों का अङ्गभूत भी होता है, कभी स्वतन्त्र भी होता है;

६८. दण्डक--शरीर दण्डवत् स्तब्ध (अक्कड़, रिजिड) होना; दण्डापतानक;

६९. तम--वात-प्रकोपजनित तमक श्वास, या वातज मूर्च्छा, यहाँ श्रम (चेष्टा किए विना भी थकावट) पाठान्तर है;

७०. भ्रम--चक्कर, अथवा स्मृतिभ्रंश, मतिभ्रम, आदि;

७१. वेपथु--हाथ-पैर, ग्रीवा आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग का कम्प;

७२. जृम्भा--जमुहाई;

७३. हिक्का--हिचकी; अर्श, उदावर्त आदि कारण से प्रतिलोम हुए वायु के कारण यह होती है। संग्रह में यहाँ ग्लानि पाठान्तर है; उसका अर्थ हर्ष का अभाव है;

७४. विषाद--मनोभङ्ग, उत्साहाभाव, डिप्रेशन;

७५. अतिप्रलाप--डिलीरिअम। पहले कहा जा चुका है कि, ज्वरों में प्रलाप पित्तकृत (तीव्रोष्मा से उत्पन्न) भी हो सकता है, पर वात भी उसमें हेतु होना सम्भव है। यहाँ वातप्रकोपजनित अति प्रलाप का निर्देश है;

७६. रौक्ष्य--एकाङ्ग या सर्वाङ्ग रूक्ष होना;

७७. पारुष्य--एकाङ्ग, सर्वाङ्ग, मल या वाणी आदि में कर्कशता होना;

७८. श्यावारुणावभासता--त्वचा, श्लेष्मकला, मल आदि श्याव (राख के वर्ण के) या अरुण (गुलाबी) से होना;

७९. अस्वप्न--निद्रानाश (इन्सोम्निआ)। निद्रा का एक अद्भुत विपर्यय आधुनिकों ने प्रत्यक्ष किया है। इसमें रोगी सुषुप्त दशा में ही जाग्रत् जैसी चेष्टा करता है, पर उसका उसे सर्वथा ज्ञान नहीं होता। यह चेष्टा कभी-कभी कई मील घुड़सवारी जैसी भी होती है, पर सब निद्रावस्था में ही। इसे 'साम्नेम्बुलिज्म' नाम दिया गया है;

८०. अनवस्थितचित्तता--मन तथा बुद्धि एक विषय, एक कार्य या एक निश्चय पर स्थिर न रहना;--

इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः॥ च० सू० २०।११

वातविकार यत्सत्यं अगणित हैं। तथापि मन्दबुद्धि विद्यार्थियों के व्यवहार के लिए तथा विपुलबुद्धियों के मार्गदर्शनार्थ प्रसिद्धतम--लोक में प्रायः देखे जानेवाले, प्रायोभावी--ये अस्सी वात-नानात्मज रोग हमने यहाँ उपनिबद्ध किए हैं।

काश्यप ने कुछ रोगों का परित्याग कर अधोलिखित रोगों की गणना वातनानात्मज रोगाधिकार में विशेष की है--

वातकण्टक--गुल्फ अर्थात् पाद और जङ्घा (लेग) की संधि में वेदना। पैर उल्टा-सीधा पड़ने से यह होता है, ऐसा कहा गया है। शीतस्थल पर खुले पैर चलने से भी यह होता देखा गया है। गुल्फवात और वातकण्टक में भेद अन्वेषणीय है;

विड्ग्रह--मल विबद्ध हो जाना;

पक्षवध--पक्षाघात; पाठान्तर रूप में चरक में यह आया है;

वन्ध्यात्व--स्त्री-दोष से अनपत्यता;

पाण्ढ्य--पुरुष के दोष से अनपत्यता; निष्फलत्व। इन दो विकारों का कुछ विचार ऊपर सामान्य-प्रकरण में कर आए हैं;

प्रतिश्याय--जुकाम। चरक ने भी प्रतिश्याय में वायु को ही कारण कहा है। देखिए--संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु--च. चि. २६।१०५।--दोष अपने-अपने प्रकोप के कारणों से शिर में घनीभूत हो स्थान-संश्रय किए हुए हों तो वृद्धि को प्राप्त हुआ वायु प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। राजयक्ष्मा के प्रकरण में प्रतिश्याय से यक्ष्मा की उत्पत्ति बताते यही बात निरुक्तिपूर्वक अधिक स्पष्ट कही है --

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा।
मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति॥

च० चि० ८।४८

--पुरुष का शिर वायु से परिपूर्ण हो, ऐसी स्थिति में नासिका के मूल में स्थित कफ, पित्त या रक्त कुपित हो, वायु के प्रति श्याय (गमन) करता है--रोगोत्पत्ति करने में वायु को सहकार देता है। इसी से इस रोग का नाम प्रतिश्याय है। प्रतिश्याय में वायु की इस कारणता को लक्ष्य में रख कर ही सिद्ध वैद्य मलवातानुलोमन; वायु की वृद्धि मल से होती है, उस की भी पुष्टि अन्न-पान से होती है, अतः अन्नपान का त्याग--लङ्घन--इत्यादि मूलगामी उपचारों की योजना करते हैं। प्रसिद्ध भी है--जिसे पेट साफ आता हो उसे प्रतिश्याय हो नहीं सकता।

शार्ङ्गधरोक्त वात-नानात्मज विकार---

अन्य-दोषारब्ध नानात्मज रोगों के समान शार्ङ्गधर-निर्दिष्ट वात-नानात्मज रोग भी आविष्कृततम--चरकोक्त वातनानात्मज रोगों की अपेक्षया लोक में अधिक दृष्टिगोचर होनेवाले हैं। अतः व्यवसायोपयुक्त होने से उनका भी उल्लेख किया जाता है।--

१. आक्षेपक ; २. हनुस्तम्भ--मुख खुला या बन्द रह जाना ; ३. ऊरुस्तम्भ ;

४. शिरोग्रह--इसका यह लक्षण प्रसिद्ध है--

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः शिराः।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः॥

वायु रक्तानुबद्ध हो शिर को धारण करनेवाली शिराओं को (पेशियों तथा स्नायुओं को) रूक्ष, वेदनायुक्त तथा कृष्णवर्ण कर देता है। इस विकार को शिरोग्रह कहा जाता है। यह असाध्य है ;

५. बाह्यायाम--समस्त शरीर बाहर (पीछे) की ओर अकड़ और मुड़ जाना ; ऑपिस्थोटॉनोस (ऑपिस्थो--पीछे) ;

६. अन्तरायाम--शरीर अन्दर (सामने) की ओर अकड़ और मुड़ जाना; एम्प्रोथॉटोनोस (एम्प्रोस्थेन--आगे की दिशा में) ; बाह्यायाम--अन्तरायाम का एक नाम--इन में शरीर धनुर्वत् वक्र तथा स्तब्ध होने से धनुःस्तम्भ भी है ;

७. पार्श्वशूल--पार्श्वशूल के विषय में पहले किए विचार से विदित होगा कि, इसमें नवीनोक्त अनेक रोगों--मायेल्जा, प्लुरोडायना, न्यूरेल्जा, ड्राई प्लुरिसी--आदि का समावेश है। पार्श्वशूल से केवल ड्राई प्लुरिसी का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है। कई आमपक्वाशयगत वातविकारों के लक्षण-रूपमें भी पार्श्वशूल का उल्लेख प्राचीनों ने किया है ;

८. कटिग्रह--कटि शूलयुक्त तथा स्तब्ध (चेष्टा जिसमें हो न सके ऐसी, किंवा जिसमें चेष्टा सकष्ट होने से उसका करना दुःसह हो ऐसी) होना ;

९. दण्डापतानक (दण्डक)--इसमें शरीर स्तब्ध और दण्डवत् सीधा होता है ; ऑर्थोटॉनोस। नवीनों ने अपतानकों का एक अन्य भेद दिया है--प्लुरोथॉटोनोस। इसमें शरीर दक्षिण या वाम पार्श्व में स्तब्ध हो जाता है ; (प्लुरोथेन--एक पार्श्व में)। इसे पार्श्वापतानक संज्ञा दी जा सकती है ;

१०. खल्ली--पैर, जङ्घा, ऊरु और ऊरुमूल एवं कर तथा करमूल में वेष्टन तथा मर्दनवत् पीड़ा होना ; गृध्रसी और विश्वाची दोनों रोग एक साथ होना। कदाचित्, दोनों रोग एक ही पक्ष में हों और तीव्र शूल के कारण चेष्टा-नाश भी हो तो परीक्षक त्वरया पक्षाघात का निदान कर बैठता है। पक्षाघात में चेष्टा के साथ संज्ञा का भी नाश होता है यह विशेष होता है[1] ;

१--गुजराती में पादसुप्ति के लिए 'खाली' शब्द है। प्रमत्त विद्यार्थी खल्ली का अर्थ पादसुप्ति कर देते हैं।

११. जिह्वास्तम्भ --जिह्वा की स्तब्धता होकर भोजन तथा भाषण में सामर्थ्य न होना ;

१२. अर्दित[1] ; १३. पक्षाघात;

१४. क्रोष्टुशीर्ष--वातरक्त रोग अथवा वात और रक्त इन दोष-दूष्यों के संमूर्छन (संयोग) से हुआ जानुसंधि का वेदनावान् शोथ। दूष्य जानने का प्रयोजन, इसका आमवात से भेद समझना है। आमवात में उष्ण-तीक्ष्ण उपचार होता है, जो रक्त में विपरीत होने से क्रोष्टुशीर्ष के लक्षणों की वृद्धि ही करता है। (क्रोष्टा=शृगाल, उसके शीर्ष के सदृश इसमें जानुसंधि हो जाती है, अतः यह नाम दिया गया है) ;

१५. मन्यास्तम्भ ; १६. पङ्गुता ; १७. कलायखञ्जता ;

१८. तूनी ; १९. प्रतितूनी--तूनी में तीव्र वेदना पक्वाशय तथा मूत्राशय में किसी एक आशय से किंवा दोनों आशयों से आरम्भ होकर गुद-द्वार या मूत्र-द्वार की ओर जाती है। लक्षण-साम्य से इसे गवीनी आदि में अवरुद्ध अश्मरी या शर्करा के आवरणवश हुआ शूल--रीनल कॉलिक--समझा जाता है। प्रतितूनी में इसके विपरीत गुदद्वार या मूत्रद्वार से तीव्र वेदना आरम्भ होकर उल्लिखित आशयों की दिशा में जाती है। यह कदाचित् मल की ग्रन्थियों के आवरण से हुए अपानवायु के प्रकोप के कारण हुआ शूल--नवीनों का इन्टेस्टाइनल कॉलिक--है। मल की ग्रन्थियाँ वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप होने से मल की शुष्कता और वर्त (पिण्डीभाव) होने से हुई हों तो इस विकार को वात-नानात्मज विकार समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में वात को, उसमें भी विशेषतया स्नेहन-प्रधान उपचार द्वारा उसके रूक्षगुण को, समावस्था में लाने का प्रयास करना चाहिए। ग्रन्थियाँ बनने में कारण यह भी सम्भव है कि, महास्रोत में--आम-पच्यमान-पक्वाशय में--कफ का प्रकोप हो, विशेषतया उसका मन्द गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ हो, तो महास्रोत की अन्नपान, मल और वायु का अनुलोमन करनेवाली अपकर्षणी गति (पेरिस्टाल्सिस) मन्द-स्लगिश--हो जाती है। परिणामतया, मल को कुछ अधिक काल पक्वाशय में रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में वायु तथा अग्नि सम हों तो भी उन्हें मल के द्रवांश के शोषण का समय अधिक मिलता है, जिससे मल शुष्क हो ग्रथित हो जाता है। कई पुरुष दूध

१--गुजराती में अर्दित को अडदियो वा (उर्द से संबन्ध रखनेवाला वायु) कहते हैं। कदाचित् इसका कारण माष का उपनाह है, जिसका उपचार-क्रम में प्राचीनों ने विधान किया है। संभव है, कहीं माष का आभ्यन्तर प्रयोग भी होता हो।

अथवा केले के सेवन से मल की ग्रन्थियाँ बन जाने की व्यथा लेकर आते हैं, उनमें विक्रिया की संप्राप्ति उक्त प्रकार की ही होती है। कभी पित्त का भी अनुबन्ध मल की ग्रन्थियाँ बनने में हेतु हो सकता है। पित्त का तीक्ष्णोष्ण गुण वृद्धि को प्राप्त हो तो वह अन्नपान तथा मलगत क्लेद (द्रव) को शुष्क कर देता है। वायु विक्रिया को और बढ़ा देता है। यह ग्रथित मल अपान के मार्ग में--क्रिया में--आवरण (अन्तराय) उपस्थित करता है--इससे वह कुपित होता है--अपना संकोचात्मक प्राकृत कर्म अधिक वेग और अधिक बल से करने लगता है। इसी से शूल होता है। उदर में होनेवाले शूल में दोषों का इस प्रकार पृथक् विचार किया जाए तो चिकित्सा मूलगामी होती है। विना समझे मॉर्फिया की सूचीवस्ति दी जाए तो उससे वेदना तो शान्त हो जाएगी पर विबन्ध होकर रोग-कारण की सुतरां वृद्धि होने से रोग भी बढ़ता जाएगा। आयुर्वेद में चिकित्सा उसी को कहते हैं जो एक रोग को नष्ट करे पर दूसरे को उत्पन्न न करे[1]। अन्य शूलों में भी आयुर्वेद की यह दृष्टि ध्यान में रखनी चाहिए;

२०. खञ्जता, २१. पादहर्ष--पैरों में झणझणी या सुप्ति; २२. गृध्रसी;

२३. विश्वाची--पैरों में जैसे गृध्रसी होती है, ऐसी ही हाथ में व्यथा होना विश्वाची कहलाता है। इसमें मीडिअन आदि नाड़ियों में वेदना होती है। हाथ में वेदना हो तो अंस-संधि आदि के साथ विश्वाची को भी ध्यान में रखना चाहिए। वेदना का स्थानसंश्रय तथा अङ्गुष्ठ और तर्जनी के मध्य तत्-तत् नाड़ी के स्पर्शगम्य शोथ से विश्वाची का निदान सुकर होता है;

२४. अप (व) बाहुक--बाहुशोष; बाहु की एक या अधिक पेशियों का शुष्क (एट्रॉफीड) हो जाना;

१--देखिए : या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत्॥
--सु० सू० ३५।२३

एक व्याधि को शान्त करते हुए अन्य व्याधियों की उत्पत्ति के उदाहरण रूप में टीकाकार ने कृश का बृंहण करते हुए अग्निसाद (अग्निमान्द्य), प्रमेह, अतिसार आदि का एवं स्थूल का अपकर्षण (कृश करना), अथवा प्रमेह की चिकित्सा में अपतर्पण करते हुए यक्ष्मा, वातरोग आदि की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

पेनिसिलीन आदि नवाविष्कृत औषध आत्मसात् करने का विचार करते हुए आयुर्वेद के इस सूत्र को ध्यान में रखना होगा। ये औषध एकाध रोग को नष्ट करते होंगे, पर पीछे कई वार विविध विक्रिया और प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, इस बात को भुलाना न होगा।

२५. अपतानक--गर्भिणी का आक्षेपक रोग ; एक्लेम्प्सिआ या प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिआ ;

२६. व्रणायाम--अभिघातज आक्षेप ; टिटेनस । आजकल तो आयाम-मात्र व्रणज माना जाता है। प्राचीनों ने केवल क्षिप्रमर्म में आघात से आयाम होने का निर्देश किया है ;

२७. वातकण्टक; २८. अपतन्त्रक--नवीनों का हिस्टीरिया ;
२९. अङ्गभेद--किसी अङ्ग में भेदनाकार वेदना किंवा चीर पड़ना ;
३०. अङ्गशोष--अङ्गविशेष शुष्क हो जाना[1] ;

३१. मिन्मिनत्व--अनुनासिक उच्चार। सुश्रुत ने जन्मबलप्रवृत्त रोगों में इसकी गणना की है। कभी टॉन्सिल के शस्त्रकर्म आदि में 'इंटरनल लेरिंजिअल' नामक नाड़ी की क्षति होने से भी यह विकृति हो सकती है ;

३२. विक्लता--गद्गदवाक्यता ;

३३. प्रत्यष्ठीला; ३४. अष्ठीला--नाभि से नीचे होनेवाली मल, मूत्र तथा वायु के मार्गों की अवरोधक ग्रन्थि-विशेष के ये दो नाम हैं। इनमें वेदनायुक्त को प्रत्यष्ठीला, तथा वेदना-रहित को अष्ठीला या वाताष्ठीला कहा जाता है। अष्ठीला का अर्थ प्रायः प्रॉस्टेट की वृद्धि माना जाता है। परन्तु आगे यथा-प्रकरण देखेंगे कि इस वृद्धि के लक्षण मूत्राघाताधिकारोक्त मूत्र-ग्रन्थि से पूर्णतया सादृश्य रखते हैं, अष्ठीला से नहीं ;

३५. वामनत्व (बौनापन) ; ३६. कुब्जता;

३७. अङ्गपीड़ा; ३८. अङ्गशूल; ३९. अङ्गसंकोच; ४०. अङ्गस्तम्भ ४१, अङ्गरूक्षता ; ४२. अङ्गभङ्ग ;

४३. अङ्ग-विभ्रंश--हस्तपादादि बाह्य अवयवों में; हृदय, यकृत्, पक्वाशय आदि अन्तरवयवों में तथा प्राणवह, रस-रक्तवह आदि स्रोतों में पीड़ा (पीडनवत् वेदना), शूल प्रभृति होना। इनमें संकोच--पर्कारिंग--प्रायः अङ्ग-विशेष के घटक धात्वंश का क्षय होने से और बहुधा उसका स्थान योजक तान्तव धातु (फाइब्रस टिश्यु) द्वारा ग्रहण कर लिया जाने से होता है। यथा--महाकुष्ठों में हस्तपादादि में, यक्ष्मा में अंस, पार्श्वादि में तथा आधुनिकों द्वारा प्रत्यक्षीकृत

१---तन्त्रकार ने यहाँ अङ्गमात्र के भेद , शोष, पीड़ा, शूल, संकोच, स्तम्भ, रूक्षता, भङ्ग तथा विभ्रंश को एक साथ ही गिना दिया है। पृथक् अङ्गों के भेदादि दर्शाए नहीं हैं। अष्टाङ्गसंग्रह सू० २० में इस प्रकार निर्दिष्ट विकारों को **महाविकार** तथा नखभेद, शङ्खभेद, कण्ठोपलेप, हृत्कण्ठदाह आदि अवयव-भेद से निर्दिष्ट विकारों को **क्षुद्र विकार** नाम दिया है।

यकृत् के सिरोसिस में यकृत् में यह स्थिति हुई देखी जाती है। सिरोसिस में प्रोटीनों का हीनयोग होने से यकृत् में उनका ह्रास होता है, उनका स्थान स्नेह ले लेता है। इसे 'फैटी डिजेनेरेशन' कहते हैं। इस प्रकार यकृत् के रुग्ण-प्रदेश में अपने मूल धातु का नाश होने से उसके प्राकृत कर्म करने का कार्य यकृत् के अन्य प्रदेश अपने ऊपर ले लेते हैं। परिणामतया, अधिक कार्य के निर्वाह के लिए इन प्रदेशों की उपचिति (स्थूलता) होती है। इस प्रकार यकृत् के ये प्रदेश वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस वृद्धि की विशेषता यह होती है कि कुछ प्रदेश उल्लिखित सम्प्राप्ति के अनुसार संकुचित तथा कुछ वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य, यह वृद्धि विषम होती है--स्पर्श करने से समूचा यकृत् सम भाव से बढ़ा हुआ प्रत्यक्ष नहीं होता। भङ्ग=टूटने की-सी वेदना, अङ्गभङ्ग=शरीर टूटना; विभ्रंश=स्थानच्युति--अन्तरवयव कभी स्थान-च्युत हो नीचे लटक आते हैं, यथा आमाशय, स्थूलान्त्र का अनुप्रस्थ (ट्रान्सवर्स) भाग क्ष-किरण-परीक्षा में नीचे आए देखे जाते हैं। इसे 'टोसिस' कहा जाता है। हृदय की भी कभी यह विकृति होती है। वृक्कों की स्थानभ्रष्टता प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त नाभि (अन्त्र), मन्या आदि पेशियों के स्थानभ्रंश का निर्देश ऊपर कर ही आए हैं। इन सब में अवयवों के धात्वंश--गुरुता, स्नेह आदि गुणों--का वायु के प्रकोपवश क्षय हो जाने से भ्रंश होता है; अतः वायुविकारों में इसका पाठ किया गया है;

४४. विड्ग्रह--पक्वाशय के स्तम्भवश पुरीष की अप्रवृत्ति--मलसंग;

४५. बद्धविट्कता--पुरीष शुष्क हो जाना;

४६. मूकता; ४७. अति जृम्भा; ४८. अत्युद्गार--ऊर्ध्ववात;

४९. अन्त्रकूजन--पेट में गुड़गुड़ी; इसे अँग्रेजी में गर्गलिंग या बॉर्बोरिग्माई कहते हैं;

५०. वातप्रवृत्ति--अधोवायु की अतिप्रवृत्ति;

५१. स्फुरण--अङ्ग (पलक, कोई पेशी, हृदय आदि) फड़कना;

५२. शिराओं का पूरण--वात-प्रकोपवश आम-पक्वाशय के घटक धात्वंश-मांसधातु--का क्षय होने से जैसे वह दुर्बल हो जाता है, परिणामतया सम्पूर्ण स्रोत किंवा उसका एक देश अन्तर्गत वायु को ऊर्ध्वाधोद्वार के प्रति सम्यक् प्रवृत्त नहीं कर सकता, अतः संचित वायु उतने प्रदेश को पूर्ण कर गुल्म नामक रोग की उत्पत्ति करता है, वही स्थिति शिराओं में (रस-रक्तवह स्रोतों में) हो तो शिरापूरण होता है। कभी ये शिराएँ कुटिलीभूत (टेढ़ी-मेढ़ी) दिखाई देती हैं। इस स्थिति को शिराकुञ्चन यह विशेष नाम दिया गया है। शिराओं का दौर्बल्य कुलज हो सकता है। उपवैद्य (कंपाउंडर), धीवर आदि जिन्हें चिरकाल खड़े रहना

पड़ता है उनकी जानुसंधि के पीछे तथा नीचे की शिराओं में यह विकृति प्रायः देखी जाती है। जलोदरादि रोगों में उदर की शिराएँ इसी प्रकार पूर्ण हुईं (फूलीं) देखी जाती हैं। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार यकृत् में अवरोध होने से इन शिराओं का रस-रक्त प्राकृत मार्ग--यकृत्--में होकर पूर्णतया जा नहीं सकता, जिससे ये (उदर की) शिराएँ पूर्ण हुई दिखाई देती हैं। अर्शों के अंकुर नव्य-मत से इसी संप्राप्ति के अनुसार फूली हुई शिराएँ होती हैं। आयुर्वेद में इन्हें मांसांकुर कहा है। इसकी व्याख्या यों की जा सकती है। धातु-उपधातु आदि की पुष्टि के प्रकरण में कहा गया है कि रक्त धातु की पुष्टि के अनन्तर उसके (रक्त के) प्रसादांश से एक ओर मांस की पुष्टि होती है तो दूसरी ओर कण्डराओं तथा सिराओं की पुष्टि होती है। इसका अर्थ यह है कि, मांसधातु और शिराओं (रस-रक्तवह स्रोतों--ब्लड वेसल्स) में रचना का कुछ साम्य है। आधुनिकों ने बताया है कि, सिराओं के अनेक मण्डलों (कोट्स) में एक मांस-धातुमय (मस्क्युलर) होता है। इसके बलाबल पर ही रस-रक्तवह स्रोतों (शिराओं) तथा उनके भी प्रभव-स्थानभूत हृदय का बलाबल और उनकी क्रिया अवलम्बित है। हृदय को तो प्राचीन और अर्वाचीन दोनों मतों में मांसपेशीमय कहा गया है। सो, माता-पिता का हृदय तथा शिरा मांस-धातु की दुर्बलतावश दुर्बल होना एवं संतान में किसी कारण इस धातु का क्षीण होना इत्यादि कारणों से निश्चय है कि, सन्तान का हृदय और शिराएँ भी दुर्बल होंगी। परिणाम-तया, अल्पमात्र वात-प्रकोप, रक्त-प्रकोप, पित्त-प्रकोप या पीड़न, चिरकाल खड़ा रहना आदि के आगे नत हो जाएँगे। इस प्रकार पराजित हुई शिराएँ गुल्म के सदृश फूली हुई दिखाई देती हैं। सर्व शरीर की शिराएँ किसी कारण दुर्बल हों, उनमें भी अधर या उत्तरगुद की शिराओं में दोषों का स्थान-संश्रय हो जाए तो इन स्थानों की ये शिराएँ आध्मात हो जाती हैं--फूल जाती हैं। इन्ही को अर्श, गुदांकुर आदि नाम दिये गए हैं। नवीनों ने भले इन्हें शिराओं का जाल कहा हो, प्राचीनों ने तो इन शिराओं के भी दौर्बल्य के कारण को दृष्टि में रखकर इन्हें मांसांकुर यह अन्वर्थक नाम दिया है। ऊपर जो विवरण मैंने दिया है, उससे प्रतीत होगा कि, शिराओं के फूल जाने का कारण उनके घटक मांसधातु की क्षीणता और तज्जनित दुर्बलता ही है। इसी कारण अर्श का उपचार करते हुए आहार के प्रकरण में मांस-रस तथा तत्समगुण मुद्गादि शिम्बीधान्यों के यूषों का विधान प्राचीनों ने किया है। मांसरस तथा यूष मांसधातु की वृद्धि करते हैं, प्राचीन-अर्वाचीन उभय-मत से इस वस्तु का प्रतिपादन क्रियाशारीर के ग्रन्थों में विज्ञ वाचक देख सकते हैं, इस प्रकार चिकित्सा करते हुए भी अर्शोरोग में मांस-धातु के पोषण को चिकित्सक दृष्टि में रखें इस विचार से भी इन्हें मांसांकुर यह उपयुक्त

ही नाम प्राचीन तन्त्रकारों ने दिया है। अन्यथा, शवच्छेद द्वारा तथा आर्ष दृष्टि से जिन्होंने तत्-तत् अति सूक्ष्म पदार्थों को प्रत्यक्ष किया उन आचार्यों को अर्शों में शिराओं की पूर्त्ति कारणरूप में दृष्टिगोचर न हुई होगी, यह बात मानी नहीं जा सकती। अस्तु, इतना प्रासंगिक परन्तु व्यवहारोपयुक्त विवेचन कर अब हम शार्ङ्गधरोक्त अगले वात-नानात्मज रोगों का प्रकरण पुनः आरम्भ करते हैं ;

५३. कम्प ;

५४. कार्श्य--कृशता। बालकों की कृशता को बाल-कार्श्य यह विशेष नाम दिया जा सकता है। सामान्यतया इसके लिए बालशोष शब्द प्रचलित है। शोष यक्ष्मा का भी नाम होने से बालकों के यक्ष्मा के लिए ही यह संज्ञा (बालशोष) सुरक्षित रखनी चाहिए। अँग्रेजी में जिसे 'मैरेस्मस' कहते हैं, उसके लिए बाल-कार्श्य शब्द रखना उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ वातज कृशता का निर्देश है। बालकों में किंवा अन्यों में कृशता इतर दोषों से भी होना संभव है। चिकित्सा करते हुए दोष का निदान प्रथम कर लेना चाहिए ;

५५. श्यावता---त्वचा, कला, मल आदि का वर्ण ईषत् कृष्ण होना ;

५६. प्रलाप ;

५७. क्षिप्रमूत्रता--मूत्र की वार-वार प्रवृत्ति। इसमें प्रमाण न्यून हो सकता है, अधिक भी। नव्य-मत की सहायता लेते हुए मूत्र के प्रमाणाधिक्य का विचार करना हो तो वृक्कगत मूत्र-स्रावी स्रोतों के जो उत्तरांश मूत्रगत क्लेद (द्रव) का पुनः शोषण--ग्रहण--करते हैं, वात-प्रकोपवश उनके मुखों का संकोच हो जाने से वे योग्य प्रमाण में क्लेद का ग्रहण नहीं कर सकते। यह भी संभव है कि इन स्रोतों का पूर्व भाग जो मूत्र का क्षरण करता है उसके मुखों का वात के कारण ही व्यास (विस्तार) हो जाने से मूत्र के क्लेदांश का स्राव ही अधिक प्रमाण में होता है। इस स्राव की मात्रा जितनी होती है, उतने प्रमाण में नीचे के भाग क्लेद का शोषण नहीं करते। कारण, उनके प्राकृत कर्म में वृद्धि नहीं होती, वे पहले जितना ही द्रव-शोषण करते हैं। इस प्रकार स्थिति कोई भी हो, वातप्रकोपवश चाहे क्लेद का स्राव अधिक हो, चाहे क्लेद का पुनर्ग्रहण न्यून हो दोनों स्थितियों में मूत्र का प्रमाण बढ़ जाता है। परिणामतया, चिकित्सा दोनों दशाओं में वायु को अनुलक्षित कर की जानी चाहिए। यथा, मूत्राधिक्य में घरेलू औषध के रूप में यवानी (अजवायन) का प्रयोग किया जाता है और वह वायु का शामक-अनुलोमक होने से ही गुणावह भी होता है। अतिसार में मल के द्रवत्व के ये दो कारण सुगम्य हैं ; अर्थात्--या तो दोष-विशेष के प्रकोप के कारण आम-पक्वाशय में क्लेद या द्रवत्व अधिक रहता है अथवा उसका ग्रहण

न्यून होता है। दोनों स्थितियों में द्रवाधिक्य होकर अति द्रव मल प्रवृत्ति होती है। यही स्थिति बहुमूत्र में समझनी चाहिए ;

५८. निद्रानाश ; ५९. स्वेदनाश--स्वेदवह-स्रोत--नव्य प्रत्यक्षानुसार अपने वाहक स्रोतों समेत स्वेद-ग्रन्थियाँ--वात के प्रकोप के कारण संकुचित या कृश हो जाएँ, किंवा स्वेद की पुष्टि के लिए स्वेदवह स्रोतों में रस-रक्त पहुँचानेवाले रस-रक्तवह स्रोतों का संकोच होकर स्वेद-पोषक रस-रक्त अल्पप्रमाण में स्वेदवह स्रोतों को प्राप्त हो तो स्वेदनाश होता है। अँग्रेजी में एन्हायड्रोसिस। शीत देश या काल में त्वचा पर बाह्य शीत वायु के स्पर्श से वातप्रकोप हो त्वचा के रसरक्तवह एवं स्वेदवह स्रोतों का संकोच हो जाता है। परिणामतया, शीत देश तथा काल में स्वेदक्षय होता है। स्वेदक्षय की यह सम्प्राप्ति सुविदित है। अपने प्रकोपक कारणों से शरीर में वात का प्रकोप हो तो ज्वर आदि में इन रस-रक्त तथा स्वेदवह स्रोतों का इसी प्रकार संकोच हो स्वेदनाश होता है। किसी भी कारण स्वेदनाश हो उसका स्मरणीय परिणाम यह होता है कि, शरीर के क्लेद को उचित प्रमाण में बाहर निकालने के लिए मूत्र का प्रमाण बढ़ जाता है। दूसरी ओर उष्ण देश-काल में या शरीर में उष्णता की वृद्धि से स्वेदाधिक्य (हाइ-परहाइड्रोसिस) हो तो मूत्र का क्षय (न्यून प्रमाण) होता है। परिणामतया, विशेषतया उष्ण देशों में मूत्र में अधिक घनत्व--मूर्तत्व--होने से सिकता, शर्करा या अश्मरी (पथरी) का प्रादुर्भाव होता है ;

६०. दुर्बलत्व--वात प्रकोपवश धातुओं का क्षय होने से उनके बल का ह्रास। बल के तीन अर्थ हैं--(१) शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक श्रम करने का सामर्थ्य ; (२) रोगों के प्रतिकार का सामर्थ्य, जिसे क्षमता भी कहा जाता है, तथा आधुनिक चिकित्सा में जिसका पर्याय 'इम्युनिटी' कहा जा सकता है[1] ; (३) रोग तथा औषध के बल को सहन करने का सामर्थ्य। इनमें एक या अनेक का नाश दुर्बलत्व कहा जाता है। प्रथम प्रकार के बल के नाश के लिए अशक्ति, 'जेनरल डेबिलिटी' आदि पर्याय हैं ;

६१. बलक्षय--ओज का नाश।[2] ओज सर्व धातुओं का सार होता है।

१--बल का प्रथम अर्थ सुप्रसिद्ध है। बल का द्वितीय अर्थ इस वचन से विदित होगा--**बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्**--च० चि० ३-१६७। यहाँ बल को दोषों का निग्रह करनेवाला कहा है। यह बल धातुओं की सम्यक् पुष्टि का ही परिणाम होता है।

२--**तदेव (ओजः एव) बलमित्युच्यते**--सु० सू० १५।१९ आदि में कार्य-कारण का अभेद मान कर ओज को बल कहा गया है।

वात प्रकोपवश सर्व धातुओं का क्षय होने से उनके सारभूत ओज का भी क्षय होता है। ओज:क्षय के परिणामों का उल्लेख आगे दोषादि के क्षय के प्रकरण में देखेंगे।

६२. शुक्र की अति प्रवृत्ति। शुक्र का अर्थ कभी आर्तव भी होता है। वह यहाँ भी लें, तो आर्तव की अतिप्रवृत्ति भी यहाँ गृहीत है। वातप्रकोपवश शुक्र और आर्तव के धारक अवयवों के धात्वंश क्षीण (शिथिल) होने से वे शुक्र तथा आर्तव को सम्यक् धारण नहीं कर सकते। अतः उनकी च्युति होती रहती है। आर्तव की अतिप्रवृत्ति में वात की इस प्रकार कारणता तो स्मरणीय है ही, शुक्र की अतिप्रवृत्ति --विशेषतया स्वप्नावस्था में शुक्रपात--में भी वायु की इस हेतुता को स्मरण रखा जाए, तो चिकित्सा मूलगामी, त्वरित और निश्चित होती है। स्वप्नदोष में मल-वातानुलोमन, दीपन-पाचन औषधों का उपयोग करना चाहिए। वायु के साम्य का अन्य परिणाम यह होता है कि उससे नियन्त्रित मन भी अचंचल होता है। यत्सत्यं, मानस रोगमात्र में मन को सुस्थित करने के लिए वायु को वश में लाना आवश्यक है;

६३. शुक्र की कृशता--शुक्र का प्रमाण अल्प होना, उसका पतलापन या उसमें पुंबीजों की न्यूनता;

६४. शुक्रनाश--शुक्र सर्वथा न होना, उसमें पुंबीज एक भी न होना (एज़ूर्स्पर्मिआ, एस्पर्मिआ);

६५. अनवस्थितचित्तता--चित्त की अस्थिरता;

६६. काठिन्य--एक अथवा अनेक अन्तरवयव या बहिरवयव कठिन होना;

६७. विरसास्यता-६८. कषायास्यता--मुख का स्वाद विरस (फीका) या कषाय होना;

६९. आध्मान; ७०. प्रत्याध्मान--पच्यमान तथा पक्वाशय में वायु का संचय एवं तज्जन्य लक्षण आध्मान तथा आमाशय में वायु का संचय तथा तदुत्थ विकार प्रत्याध्मान कहाता है; मीटिऑरिज्म या टिंपेनाइटिस;

७१. शीतता--शरीरोष्मा की न्यूनता, त्वचा आदि अवयवों का स्पर्श शीत होना किंवा नीचे दिए लक्षणों वाला शीतवात होना--

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च।
शिरोऽक्षिवेदनाऽलस्यं शीतवातस्य लक्षणम्॥

रसरत्नसमुच्चय

शरीरावयव हिमवत् शीतल, रोमांच तथा ज्वरयुक्त होना, शिर और नेत्रों में शूल एवं आलस्य ये शीतवात के लक्षण हैं। कई वार वात-कफ प्रकृति (न्यूरॉटिक) पुरुषों में विशेषतया हस्तपादतल में अति प्रस्वेद हो कर वे शीत

रहते हैं। इनकी शीतता का यह कारण चिकित्सा-शुद्धि के लिए स्मरणीय है। विशेषतया कृमि-रोग में हस्त-पाद शीतल तथा कोष्ठ (धड़) उष्ण होता है;

७२. रोमहर्ष--रोमांच; त्वचा के रोम खड़े होना;

७३. भीरुता--मिथ्या-अकारण-भयों तथा आशङ्काओं की प्रवृत्ति;

७४. तोद;

७५. कण्डू--खुजली। कण्डू प्रधानतया कफ का विकार है। पित्त-नानात्मज रोगों में भी तन्त्रकारों ने इस विकृति का उल्लेख किया है। यहाँ शार्ङ्गधर ने वात-नानात्मज रोगों में कण्डू की गणना की है। वायु के प्रकोप से त्वचा रूक्ष हो जाए, घर्षण से त्वचा से वर्तियाँ उतरें, छोटे-छोटे छिलके त्वचा पर छाए हों, दारुणक (गुजराती-खोड़ा), किटिभ (सोरायसिस) आदि रूक्ष गुण प्रधान रोग हों, एवं रोमान्तिका (खसरा), त्वग्गत मसूरिका (चिकन पॉक्स, गुजराती-अछबड़ा), मसूरिका आदि रोग या व्रणमात्र अच्छे होने को आएँ तब उनके शुष्क छिलके विद्यमान हों--इन तथा ऐसी ही अन्य स्थितियों में होती कण्डू का कारण वायु होता है। अतएव, मसूरिका आदि में रोगी खुजला कर रोग के उपद्रव बढ़ा न दे, इस प्रयोजन से यह स्निग्ध उपचार किया जाता है कि--पूयहरत्वादि गुण युक्त नीम के सोटे से घोट कर मक्खन छिछड़ोंवाली त्वचा पर पुनः-पुनः लगाया जाता है। कण्डू-ग्रस्त रोगी में इस रीति से दोष-भेद देखना चाहिए;

७६. रसाज्ञता--किसी रस की प्रतीति न होना;

७७. शब्दाज्ञता--शब्द का श्रवण न होना या उच्चैः श्रुति;

७८. प्रसुप्ति--अवयवविशेष में झणझणी या न्यूनाधिक काल के लिए स्पर्श की संज्ञा का अनुभव न होना;

७९. गन्धाज्ञता--घ्राणनाश;

८०. दृष्टि का क्षय--दृष्टि की अल्पता (ह्रास)-सम्बन्धी विविध विकार। वार्धक्य में दृष्टि का विशेष प्रकार का विकार होता है। 'बयालीस' वर्ष के आस-पास होने से इसे गुजराती में 'बेताला' कहते हैं--अंग्रेजी में प्रेसबायोपिआ। ऐसे प्रत्यक्ष विकार के अतिरिक्त भी वार्धक्य में या अन्य वय में वात प्रकृति पुरुषों में वात प्रकोपवश दृष्टि शक्ति की अल्पता देखी जाती है।

रक्त-प्रकोपज रोग

प्रथम अध्याय में हम कह आए हैं कि सुश्रुत ने रक्त को धातु एवं दूष्य मानते हुए भी तथा उसकी दुष्टि में भी वातादि दोषों को ही कारण मानते हुए

भी रक्त का कहीं दोषवत् व्यपदेश (कथन) किया है। चरक ने इस प्रकार कण्ठरव से (स्पष्टाक्षरों में) तो रक्त को दोष नहीं कहा है तथापि उसके (रक्त के) प्रकोप से होनेवाले रोगों का निदान-चिकित्सा समेत उल्लेख उसी प्रकार किया है, जैसे पृथक् दोषों से उत्पन्न नानात्मज रोगों का। स्थान-स्थान पर रोगों के विचार में किसी-किसी रोग में रक्त की कारणता भी आचार्यों ने कही है। रोगों के वर्गीकरण के इस प्रकरण में चरकोक्त रक्त-प्रकोपज रोग भी चिकित्सोपयुक्त होने से उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं। अगले अध्याय में हम रक्तप्रकोपज रोगों का निर्देश कर प्रकरणोपात्त धातुज तथा स्रोतोदुष्टिजन्य रोगों का नामतः तथा लक्षणतः निर्देश करेंगे। रक्तज रोगों के सदृश धातुज तथा स्रोतोदुष्टिज रोगों में भी यद्यपि दुष्टि वातादि दोषों से ही होती है, ऐसा आचार्यों ने स्पष्ट कहा है तथापि विषय के वैशद्य के लिए इन रोगों को भी आचार्यों ने स्थान अर्थात् तत्तत् धातु और स्रोत का रोग कहा है।

चतुर्थ अध्याय

रक्तप्रकोपज, धातुज मार्गानुसारी तथा स्रोतोदुष्टिजन्य रोग

अथातो व्याधिभेद-विज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

रक्तप्रकोपज रोग[1]

रक्तदुष्टि में पित्त का प्राधान्य--

रक्तप्रकोपज रोगों का नामोल्लेख करने के पूर्व चिकित्सोपयोगी एक तथ्य समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि सिद्धान्त यह है कि, रक्तदोषज रोग तीनों ही दोषों से रक्त की दुष्टि होने से होते हैं तथापि तीनों में पित्त का प्राधान्य है। सू० २१।२५ में सुश्रुत ने कहा है कि, जो अहिताहार विहार पित्त के प्रकोपक हैं वही रक्त को भी प्रकुपित करते हैं। सू० २४।१० में चरक ने शरत्काल को रक्त का प्रकोपक कहा है। यह काल पित्त का भी प्रकोपक है। आगे चिकित्सा-क्रम (लाइन ऑफ ट्रीटमेण्ट) बताते हुए चरक ने विरेचन, रक्तमोक्षण प्रभृति रक्तपित्तहरी क्रिया करने का ही आदेश दिया है। ये बातें रक्त की दुष्टि में पित्त के प्राधान्य की ख्यापिका हैं। डह्लन ने तो उक्त स्थल की टीका में पित्त-प्रकोपक हेतुओं से ही रक्त का भी प्रकोप होने में कारण स्पष्ट शब्दों में कहा है--पित्तस्य शोणितसमानत्वात्--नाम पित्त के गुण रक्त के समान--उससे मिलते-जुलते हैं। पित्त रक्त का मल है, अतः दोनों के गुणों में साम्य होना विस्मयावह नहीं है। चक्रपाणि ने दुष्ट रक्त का साम्य पित्त के सदृश बताया है।

इनमें डह्लन का मत अधिक आचार्याभिमत प्रतीत होता है। होता यह है कि, जैसे प्रकृत्यारम्भक दोष इतर दोषों के प्रकोप को अपने विरोधी गुणों से दबाए रखता है, वैसे ही रक्त अपने उष्णत्वादि गुणों से वात तथा कफ को शान्त किए रहता है, जिससे इन दो दोषों के प्रकोपक कारणों का सेवन असाधारण प्रमाण में न हो तब तक इनसे (वात तथा कफ से) रक्त की दुष्टि सविशेष नहीं होती। शेष तुल्यगुण पित्त से ही रक्त की दुष्टि-विक्रिया विशेषतया होती है। अतएव

१--देखिए--च० सू० २४।११-१७; च० सू० २८।११-१३; सु० सू० २४।६; काश्यप-संहिता पृ० ३१।

चिकित्सा में भी रक्त के शोधन-शमन के समान पित्त के शोधन-शमन को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। रक्त और पित्त के सादृश्य का शास्त्राधार से अधिक विचार छठे अध्याय में साध्यासाध्यता के प्रकरण में किया गया है।

आगे जिन रोगों का निर्देश किया जा रहा है, उनका निदान-चिकित्सा प्रकरण में पृथक् उल्लेख तन्त्रकार करेंगे। स्वरूप (लक्षणों) की दृष्टि से ये रोग अत्यन्त भिन्न से प्रतीयमान होने पर भी सबमें एक साम्य यह है कि, इनमें रक्त दूष्य होता है, अतएव उसका विस्रावण सबमें प्रायः आवश्यक होता है। कुष्ठ, विसर्प, रक्तपित्त, मद, भ्रम (बहुधा रक्तदाब की अधिकता) आदि रोगों की पृथक् चिकित्सा बताते हुए तन्त्रकारों ने इन सर्व रोगों में रक्तमोक्षण तथा विरेचनादि संशोधनों का उपचारतया उल्लेख बहुत भार देकर किया है। इन रोगों में द्वितीय साम्य यह है कि, इनमें प्रधान दोष, जैसा कि ऊपर कहा है, प्रायः पित्त होता है। प्रधान दोष एक ही होते हुए भी रोग भिन्न होने में हेतु यह है कि, किसी रोगमें पित्त के किसी गुण का प्रकोप होता है तो किसी रोग में किसी का। इस प्रकार पित्त एवं अन्य भी दोषों के पृथक्-पृथक् गुण के प्रकोप के अनुसार रक्त की दुष्टि से पृथक् रोगों का होना संभावित होता है। इतनी आवश्यक भूमिका के अनन्तर अब रक्तदुष्टि जन्य रोगों का नाम निर्देश करते हैं।——

रक्तदुष्टिजन्य रोग——

१. मुखपाक——मुख आ जाना, मुखमें छाले पड़ना, अंग्रेजी-स्टॉमेटाइटिस (स्टामा——मुख)। पाक कभी-कभी इतना अल्प होता है कि, जिह्वा आदि पर उसके रक्तिमा आदि लक्षण दिखाई नहीं देते। पूछने पर रोगी इतना ही कहता है कि वह कटु (तीखी) वस्तुएँ मुख में नहीं रख सकता। यह परीक्षा स्तनपान करानेवाली माताओं में विशेषतः करनी चाहिए। कारण संभव है, पित्त-प्रकोप स्वल्प होने से माता के विशाल शरीर में विभक्त हो वह उसके शरीर के विभिन्न अवयवों में जितने प्रमाण में पहुँचता है उससे उत्पन्न लक्षण स्वल्पमात्र हों। परन्तु शिशु के लघु और सुकुमार शरीर में स्तन्य द्वारा पहुँचकर उतना ही दोष व्यक्त रोग की उत्पत्ति का हेतु हो सकता है। उदाहरणतया, जिस पित्तप्रकोप से माता को इतनी ही व्यथा हुई है कि वह मुख में कटु वस्तुएँ सहन नहीं कर सकती, वही दोष शिशु के शरीर में जाकर ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त रोगों को जन्म दे सकता है। इस स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए क्षीराद (माता का दूध पीनेवाले) अथवा क्षीरान्नाद शिशुओं की माता की सूक्ष्म परीक्षा करने में प्रमाद न करना चाहिए। साथ ही, रोग का कारण यदि माता का दोष-दूषित स्तन्य हो तो उसकी भी शास्त्रानुसार परीक्षा कर——कौन से दोष से स्तन्य दूषित है एवं आरम्भक दोष का कौनसा गुण सविशेष प्रकुपित है इस

बात का निदान कर--तदनुरूप माता का भी उपचार करे। क्षीराद तथा क्षीरान्नाद शिशु की चिकित्सा में निदान-परिवर्जन-रूप चिकित्साङ्ग का अर्थ इस दृष्टि से विचार करें तो, कुछ विशेष होता है, यह स्मरण रखना कौमारभृत्य के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। मुखपाक के विषय में एक और स्मरणीय बात कह दूँ। पित्तप्रकृति या पित्तानुबद्ध प्रकृतिवाले पुरुषों में वार-वार होने वाले मुखपाक--गाल का अन्दर का भाग, जिह्वा इत्यादि पर व्रण होना---का कारण बबूल की दातून भी हो सतका है। इनमें प्रकृत्या त्वचाके समान मुख की कला भी मृदु और सुकुमार होती है। बबूल के रेशे जैसी कठिन वस्तु के यत्किंचित् घर्षण से भी कला छिल कर मुखपाक हो जाता है। इनमें किसी उपचार से लाभ नहीं होता। बबूल के स्थान पर वट-जटा की दातून आदि से ही रोग के वेग होने बन्द होते हैं। स्मरण रहे वट की दातुन में पुराने मैल को उखाड़ने, मुख को शुद्ध करने तथा दन्तवेष्टों को दृढ़ करने का भी अपूर्व गुण है ;

२. अक्षिराग--नेत्रों में--नेत्र की श्लेष्मकला में--रक्तिमा। यह क्रिया नवीनों के हाई ब्लड प्रेशर की अङ्गभूत होती है, उसके विना भी होती है तथा पित्तप्रकोप से भी होती है। पित्तप्रकृति पुरुषों का लक्षण बताते हुए स्वल्पमात्र कारण से इनके नेत्र रक्त हो जाने का उल्लेख आचार्य ने निम्न शब्दों में किया है--क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि--अ० हृ० शा० ३।९४। इनके नेत्र क्रोध, मदिरापान और सूर्य के ताप से--कभी धूप में फिरने का प्रसंग आने से--रक्तवर्ण हो जाते हैं। इस लक्षण का उपयोग पुरुष के प्रकृति-निर्णय, उसके द्वारा रोग-विनिश्चय तथा भावी पित्तप्रधान रोगों से बचने के लिए उपयुक्त सूचना देने के लिए उत्तमतया किया जा सकता है। यहाँ अक्षिपाक यह पाठ भेद है। उसका अर्थ है आँख आ जाना ; कंजंक्टिवाइटिस ;

३. पूतिघ्राणास्यगन्धिता---नासिका तथा मुख से दुर्गन्धयुक्त वायु का निर्गमन। सु० उ० २२।७-८ तथा च० चि० २६।११३ में इसे पूतिनस्य या पूतिनास यह पर्याय (नामान्तर) दिया है ;

४. गुल्म--महास्रोत, हृदय आदि में दोषों के प्रभाव से वायु का गोलाकृति संचय (वायुगोला) ; अथवा रक्तगुल्म ;

५. उपकुश--पित्त के प्रकोप और रक्त की दुष्टि होने से दन्तवेष्टों (दन्तमांस, मसूड़ों) में दाह और पाक तथा उनके परिणाम-स्वरूप दन्तचाल (दाँत हिलना) ; दबाने से रक्तस्राव, तथा मन्द वेदना ; रक्तस्राव के अनन्तर दन्तवेष्ट फूल जाना तथा मुख में दौर्गन्ध्य--ये लक्षण जिस रोग में हों उसे उपकुश कहते हैं। (देखिए---सु० नि० १६।२१-२२)। कोई लेखक इसका साम्य नवीनों के पायोरिया से बताते हैं।

६. विसर्प--त्वचा पर प्रसरणशील कोई भी विकार ; जिसमें प्रायः छोटे-बड़े स्फोट (छाले) हों। प्रायः विसर्प का अर्थ नवीनों का एरिसिपिलास किया जाता है। परन्तु वह तो विसर्प के एक भेद--क्षत विसर्प--नाम से अभिहित है। वस्तुतः विसर्प एक रोग-वर्ग है, जिसमें आधुनिकों के अनेक रोगों का समावेश है। इन सब में पूर्वोक्त विसर्पणशीलता का साम्य होता है। मसूरिका-रोमान्तिका भी विसर्प के ही भेद हैं। परन्तु उनमें कुछ वैशिष्टच होने से तन्त्रकारों ने उनका पृथक् परिगणन किया है ;

७. रक्तपित्त--अश्मरी, अर्बुद आदि निज या आगन्तु कारण न होते हुए शरीर में पित्त के प्रकोपवश रक्त की दुष्टि हो जाने से--उसमें तीक्ष्णोष्णत्वादि गुणों की वृद्धि हो जाने से--नासिका, मुख, गुद, शिश्न इत्यादि मार्गों से जो रक्तस्राव होता है, उसे रक्तपित्त कहते हैं। नकसीर, यदि उसका कारण नाक में अंगुली चलाने से हुआ क्षत, आघात आदि न हों तो, रक्तपित्त रोग का प्रविदित उदाहरण है। रस-रक्तवह स्रोतों में पित्त के कारण पाक होकर वे खाए जाते हैं, साथ ही रक्त के स्कन्दन की क्रिया भी यथावत् नहीं रहती। परिणामतया, प्रथम कारण से रक्त की प्रवृत्ति होती है, तथा द्वितीय कारण से प्रवृत्त हुए रक्त का निर्गमन-सातत्य होता है। गुजराती में महाकुष्ठ (लेप्रसी) के लिए रक्तपित्त शब्द है। आयुर्वेद में महाकुष्ठ के लिए रक्तपित्त पर्याय नहीं है, तथापि प्रधान दोष-दूष्य को देखते महाकुष्ठ के लिए किसी आचार्य ने रक्तपित्त शब्द की योजना की हो तो वह असंगत नहीं। आयुर्वेद के रक्तपित्त के समान महाकुष्ठ में भी पित्त दोषपात्र होता है। भिन्नता इतनी है कि, रक्तपित्त में पित्त के दाहपाककर एवं रक्त के वेग तथा प्रमाण में वृद्धि (आशुकारिता) करनेवाले तीक्ष्ण गुण का प्रकोप होता है जब कि महाकुष्ठ में पित्त के पूति (दौर्गन्ध्य) गुण का प्रकोप होता है। स्थानसंश्रय का भेद भी दोनों के भिन्नत्व में कारण है। महाकुष्ठ में दोषों का प्रथम आश्रय त्वचा में होता है, रक्तपित्त में स्थानसंश्रय स्रोतों में होता है। शेष लक्षणादि भी भिन्न होते हैं। आधुनिकों के स्कर्वी, हीमोफीलिआ, कलर-ब्लाइंडनेस, हाई ब्लड-प्रेशर के कारण किसी मार्ग से हुआ रक्तस्राव इत्यादि रक्तस्राव की प्रधानतावाले रोगों का वर्ग आयुर्वेद का रक्तपित्त है ;

८. प्रमीलक--तन्द्रा ; गुजराती में घेन ; ड्राउज़ीनेस ;

९. विद्रधि--शरीर के अन्तरवयवों में या बाहर सपूय व्रण (एब्सेस) होना। ये प्रमेहों के परिणामस्वरूप प्रमेहजनक दोष से रक्तदुष्टि होने से एवं अन्य कारणों से भी होती हैं ;

१०. रक्तमेह--यह रक्तपित्त का ही भेद है। इसमें रक्तप्रवृत्ति मूत्रद्वार से होती है। अंग्रेजी हीमेच्यूरिया ;

११. (रक्त) प्रदर--यह भी स्थानभेद से नामभेद को प्राप्त हुआ रक्तपित्त ही है। रक्तप्रदर की पाश्चात्य संप्राप्ति, जिसमें अन्तःस्रावों के वैषम्य को कारण माना गया है, कुछ भी हो, वैद्य तो इसमें रक्त और पित्त का शमन करनेवाले अर्थात् रक्त की तीक्ष्णोष्णता को शान्त करनेवाले तथा अपने कषाय रस, पैच्छिल्य आदि गुणों से रक्त के स्कन्दन को--नवीनों की आर्तव-सम्बन्धी मरम्मत की अवस्था--स्टेज ऑफ रिपेअर को-सुधारनेवाले औषधों का उपयोग करके ही अधिक यश (साफल्य) उपार्जन करते देखे जाते हैं। वैद्यों को भी इसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

रक्तप्रदर का एक अन्य कारण संभावित है। आर्तव रस-धातु का उपधातु है। सो रक्त के प्रकोप के कारणों में परिगणित अत्यादान (तृप्ति से अधिक खाना) इत्यादि रस तथा कफ की वृद्धि करनेवाले कारणों से जैसे रसधातु की अति पुष्टि होती है, वैसे उसके उपधातु आर्तव का भी प्रमाण बढ़ जाता है--स्त्री रक्तप्रदर से पीड़ित होती है। अत्यादान आदि निदानों की प्रश्न-परीक्षा से उपलब्धि एवं प्रश्न-परीक्षा से ही इस बात का विनिश्चय; जैसे रुग्णा कभी उपवास पर रहे तो रक्त प्रवृत्ति अल्प होना, इस रीति से अत्यादान-रूप कारण का निर्णय कर तदनुरूप लङ्घनादि उपचार किया जाए तभी रोग निर्मूल होता है, अन्यथा नहीं;

१२. वातरक्त--प्रायः इसे नवीनों का गाउट (गठिया) माना जाता है। वात और रक्त के प्रकोप से किंवा स्वयं वातरक्त रोग के अङ्गरूप में क्रोष्टुशीर्ष नामक जानुसंधि का शोथ होता है। इसका अपेक्षित विचार शार्ङ्गधरोक्त वातनानात्मज रोगों के प्रकरण में कर आए हैं;

१३. वैवर्ण्य--विवर्णता, त्वचा, श्लेष्मकला आदि पर नील, पीत आदि विविध वर्ण न्यूनाधिक प्रदेश में प्रादुर्भूत होना;

१४. अग्निसाद--अग्नि की मन्दता। यद्यपि रक्त और पित्त की वृद्धि से अग्नि दीप्त होती है, यही आपाततः (प्रथम क्षण में) प्रतीत होता है, तथापि प्रत्यक्ष में इन दो की वृद्धि से अग्नि मन्द हुई भी देखी जाती है। उधर, पित्त की अति वृद्धि से अग्नि की दीप्ति होकर अत्यग्नि और भस्मक रोग भी होते देखे जाते हैं तथा शास्त्र में वर्णित हैं। रक्त की सप्रमाण स्थिति भी शरीर में अग्नि के संरक्षण के लिए आवश्यक है। इसीलिए स्राववश रक्त का अति क्षय होने पर होने वाले परिणामों में अग्नि की अति मन्दता का भी निर्देश शास्त्रकारों ने किया है[1]। रक्त के क्षय से अग्नि मन्द होना निसर्गसिद्ध है भी। कारण,

---

१--देखिए--धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति --सु० सू० १४।३७

अग्नि पित्त के आश्रित होती है, और पित्त रक्त का मल है। सो रक्ताशयों में रक्त धातु, उपधातु तथा मल के पोषण के लिए रस धातु का जो प्रमाण उपलब्ध होता है, उसका अधिकांश क्षीण हुए रक्त के ही पूरण में व्यतीत हो जाने से उपधातु और मल (पित्त) के पूरणार्थ उसका यथेप्सित (अभीष्ट) प्रमाण रह नहीं जाता। इस प्रकार पित्त का पोषण यथावत् न होने से अग्नि भी, स्राव इत्यादि कारणों से रक्त-धातु के क्षीण हो जाने पर स्वभावतः मन्द हो जाती है। तात्पर्य, रक्त और पित्त का क्षय हो तो अग्नि मन्द होती है तथा इनकी ही वृद्धि हो तो अग्नि प्रदीप्त ही होनी चाहिए और अत्यग्नि तथा भस्मक रोगों में उसकी दीप्ति होना शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों से सिद्ध भी है। ऐसी स्थिति में यहाँ तथा अन्यत्र पित्त एवं रक्त की वृद्धि से अग्नि के मन्द होने का जो उल्लेख किया है वह स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। रक्त और पित्त की वृद्धि होने पर परिणामों का यह वैप-रीत्य इस बात पर अवलम्बित है कि वृद्धि पित्त की होने पर भी उसके किस गुण-विशेष का प्रकोप हुआ है। तथाहि, यदि वृद्धि पित्त के तीक्ष्णोष्ण गुणों की हो तो पाक-स्वभावी इन गुणों के कारण पाक क्रिया प्रदीप्त होती है। परिणाम में, अग्नि प्रदीप्त हुई पाई जाती है। दीप्ति के तारतम्यानुसार उसके अत्यग्नि (तीक्ष्णाग्नि) तथा भस्मक नाम होते हैं। परन्तु वृद्धि पित्त के द्रव और तदाश्रित सर गुण की हो तो यह द्रवत्व अग्नि को मन्द करनेवाला होने से इस प्रकार की पित्त-वृद्धि और उससे हुई रक्त की दुष्टि में अग्नि मन्द हुई पाई जाती है। पित्त में द्रव गुण की वृद्धि से रक्त में भी द्रव गुण की वृद्धि होती है, जिसके कारण उपद्रव रूप में शोथ आदि लक्षण होते हैं, उसे पित्त-नानात्मज रोगों में शोणित-क्लेद (लहू का पानी हो जाना) यह नाम-विशेष दिया गया है। पित्त के द्रवत्व के कारण होनेवाले अग्निमान्द्य को लक्ष्य में रखकर ही ग्रहणी प्रकरण में कहा है—कट्वजीर्णविदा-ह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्—च० चि० १५।६५। अर्थात्, अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ पित्त अग्नि को अपने द्रवत्व से आर्द्र कर उसे उसी प्रकार मन्द कर देता है जैसे जल संतप्त हो, उसमें अग्नि का उष्णत्वादि धर्म हो, तथापि उसे बाह्य अग्नि पर छोड़ा जाय तो वह अपने द्रवत्व गुण के कारण उसे बुझा देता है[1]। आधुनिकों ने भी

१—स्पष्टता के लिए आवश्यक होने से इस प्रकरण पर चक्रपाणि की टीका उद्धृत की जाती है। पैत्तिकग्रहण्यां पित्तस्याग्निसमानतया वर्धनमेव युक्त-मित्याशंक्य पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निहननं क्रियते इति दर्शयन्नाह—आप्लावयद्धन्त्य-नलमिति। आप्लावनं द्रवेणार्द्रीकरणम्। उष्णस्यापि द्रवतया अग्निनिर्वापणे दृष्टान्तमाह—जलं तप्तमित्यादि।

अन्न-पान के साथ गए द्रव-द्रव्यों के इस अग्निमान्द्यकर स्वभाव का प्रत्यक्ष किया है। उनका तो यहाँ तक मत हुआ है कि जिस अत्यधिक चबाने का एक समय प्रबल प्रचार था वह भी प्रत्यक्ष अवगुणकारी ही है। कारण, बहुत चबाने से लालारस का अति संयोग होने से अन्न में द्रवगुण का आधिक्य हो जाता है और इस प्रकार हुआ द्रवाधिक्य भी पचन-क्रिया को उसी प्रकार विघ्नित करता है जैसे जल आदि पेय द्रव्यों के अतियोगवश हुआ अन्नपान का द्रवाधिक्य। किसी भी कारण अन्नपान में द्रवगुण की अधिकता हो, उसका साक्षात् परिणाम यह होता है कि आमाशय द्रवाधिक अन्नपान को उसका पचन संपूर्ण हो उतने काल तक अपने अन्दर धारण नहीं कर रखता। द्रवप्राय अन्नपान को अमुक समय के पश्चात् पच्यमानाशय में धकेल देने का उसका स्वभाव होने से इतने अवधि में पाक पूर्ण न हुआ हो तो भी अन्नपान पच्यमानाशय में पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार द्रवाधिक्यवश आमाशय में तो पचन की क्रिया असम्पूर्ण रहती ही है, पच्यमानाशय में भी उसका पाक पूर्ण नहीं होने पाता। कारण, पच्यमानाशय में पाक की परिपूर्णता आमाशय में हुए पाक की पूर्णता पर अवलम्बित होती है। इस विषय का विवरण तथा अति चर्वण के अनौचित्य पर पाश्चात्य विद्वानों के वचन विज्ञ वाचक मेरे आयुर्वेदीय क्रियाशारीर में देख सकते हैं। द्रव-द्रव्यों का अग्नि कर्म पर यह विपरीत परिणाम होने से विदग्धाजीर्ण (एसिड डिस्पेप्सिआ) आदि अजीर्ण-विकारों में रोगी को भोजन के एक घण्टा आगे और एक घण्टा पीछे जल तथा अन्य पेय द्रव्य छुड़ाकर रोगमुक्त किया जा सकता है;

१५. पिपासा--उष्ण-तीक्ष्ण गुणों की वृद्धि से शरीर के क्लेद का दहन होने का यह परिणाम होता है। अम्लपित्त आदि रोगों में आम-पच्यमानाशय में दाह होने से उसके परिणामस्वरूप भी तृषाधिक्य होता है;

१६. गुरुगात्रता--शरीर में भारीपन (सेन्स ऑफ हेवीनेस, सेन्स ऑफ वेट) प्रतीत होना;

१७. संताप--शरीरोष्मा की अधिकता;

१८. अतिदौर्बल्य; १९. अरुचि;

२०. शिरोरोग--शिरोवेदना; शिर की सामान्य वेदना (हेडेक) के लिए शिरःशूल शब्द भाषा-ग्रन्थों में रूढ़ हो गया है; शूल तीव्र वेदना-विशेष का ही नाम है। रक्तप्रकोप में रक्त का प्रमाण बढ़ने से तथा दुष्ट पित्त के कारण उसका वेग बढ़ जाने से शिर में रस-रक्त सविशेष प्रमाण में और अधिक वेग से जाता है। परिणामतया, उससे हुए पीड़न के कारण शिरोरोग होता है;

२१. अन्नपान का विदाह--अम्लपाक, विदग्धाजीर्ण। आमाशय में अम्ल पाचक पित्त के संयोग से समग्र अन्नपान अम्ल हो जाता है। इससे

पाक की इस अवस्था को ही अम्ल अवस्थापाक कहा जाता है। इस प्राकृत पाक की भी अम्ल पाक या विदाह संज्ञा है। वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। किन्तु इस अम्ल पित्त का प्रकोप (वृद्धि; हायपरक्लोरहाइड्रिया, अत्यग्नि) से जो विकार-रूप अम्लत्व हो जाता है उसे यहाँ विदाह कहा गया है। इसके अतिरिक्त अजीर्ण-विशेष--विदग्धाजीर्ण--में अजीर्ण के अङ्ग रूप में जो विभिन्न सेन्द्रिय अम्ल (ऑर्गेनिक एसिड्स) बनते हैं उनका भी विदाह पद से ग्रहण होता है। व्यवसायोपयुक्त यह तथ्य यहाँ पुनः ध्यान पर ला देना आवश्यक है कि विदाह तथा उसके कारण अम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह आदि विकारों से पीड़ित रोगी आने पर बहुधा नवीन चिकित्सक प्रथम प्रकार के विदाह को मन में लाते हैं, जब कि अधिकांश रोगी विदग्धाजीर्ण से ही पीड़ित होते हैं। विदग्धाजीर्ण ही जीर्ण (पुराना) और कृच्छ्रसाध्य हो कर अम्लपित्त संज्ञा धारण करता है;

२२. तिक्ताम्लोद्गार--क्रियाशारीर में वाचक पढ़ आए हैं कि आमाशय में जो अम्ल अवस्थापाक होता है उसकी अम्लता के परिणाम रूप में पच्यमानाशय में पित्त का स्राव होता है। नवीन प्रत्यक्ष से विदित हुआ है कि पच्यमानाशय में किसी भी अम्ल का प्रवेश हो; यह अम्ल भले ही किसी प्रकार सीधा पच्यमानाशय में प्रविष्ट करा दिया जाए, परिणाम में वहाँ पित्त का उदीरण--विशेष प्रमाण में स्रवण-- होता है। आयुर्वेद में अम्ल द्रव्यों को पित्त-प्रकोपक कहा है उसका एक रूप यह है। अस्तु, इस प्रकार उदीरित पित्तों में याकृत पित्त भी एक होता है। पुरुष पित्त-प्रकृति हो, अथवा / और वह पित्त-प्रकोपक पदार्थों का अति-सेवन करता हो तो उसके यकृत्-प्लीहा में पित्त की वृद्धि और संचय सविशेष प्रमाण में हुआ होता है। आमाशय के अम्ल अवस्थापाक, विदाह आदि कारणों से उत्पन्न अम्लों के संयोग से ऐसे पुरुषों में उदीरित याकृत पित्त की राशि भी बहुत होती है। इस पित्त का रस तिक्त होने से उद्गार या वमन भी तिक्त होता है। विदग्धाजीर्ण तथा अम्लपित्त में निकले द्रव्य में अम्लता और तिक्तता का तारतम्य देख कर आहारौषध का निश्चय करना अधिक गुणावह होता है।

प्रसंगवश यह भी कह दूँ कि कदाचित् पुरुष कफप्रकृति हो, अथवा / और कफ-प्रकोपक आहार-विहार का अतियोग करता हो, तो उसके शरीर में कफ का संचय विशेष होता है। ऐसे पुरुष को विदाह हो, तो उसमें उदीरित अम्ल द्रव्यों से संरक्षण के लिए आमाशय में क्लेदक कफ का स्रवण विशेष प्रमाण में होता है। परिणामतया, ऐसे पुरुषों के उद्गार, ष्ठीवन, वमन आदि में कफ की मात्रा अधिक होती है। शेष वात-प्रकृति या वात-प्रकोपक आहार-विहार का अतियोग करने वाले पुरुषों में अम्लपित्त के साथ वात का अनुबन्ध होता है;

२३. क्लम--एग्ज़ोशन;

२४. क्रोध-प्रचुरता--चिड़चिड़ापन, अतिक्रोध। बुद्धि के अधिष्ठान-भूत शिर में रस-रक्त का वेग और प्रमाण बढ़ जाने से यह स्थिति होती है। नवीन मत से विचार करें तो धात्वग्नि-विशेष (एड्रीनलीन) की वृद्धि होने से यह विक्रिया होती है। क्रियाशारीर के अध्येता जानते हैं क्रोध और हर्ष, शौर्य और भय पित्त के कर्म हैं और नव्य मत से परीक्षा करते हुए ये कर्म एड्रीनलीन के होते हैं। पित्त के साथ इस द्रव्य के अन्य भी साम्य हैं ही। नवीन मत से एड्रीनलीन के प्रकोप का विनिश्चय हुआ हो, तो भी वैद्य को तो उसे पित्त का प्रकोप मान कर ही विरेचनादि शोधन-शमन उपचार करने चाहिए, यही इस समन्वय का मनोगत आशय है;

२५. बुद्धि-वैकल्य--शिरोरोग, क्रोधाधिक्य, भ्रम तथा आगे कहा मद ये सर्व एक ही मूल की विभिन्न शाखाएँ हैं। सर्व में बुद्धि तथा इन्द्रियों के अधिष्ठानों में रस-रक्त का प्रकोप होता है;

२६. लवणास्यता--मुख का रस लवण-नमकीन-होना;

२७. स्वेद--स्वेदाधिक्य से उसके हेतुभूत भ्राजक पित्त का भी क्षय होता है। परिणाम में जिस हस्तपादतल आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में अति स्वेद होता है वहाँ शैत्य भी होता है। कई रोगी शैत्य की ही व्यथा ले कर आते हैं। उनमें इस कारण का भी विचार करना चाहिए;

२८. शरीरदौर्गन्ध्य--पित्त तथा कफ से रक्त की दुष्टि हो, तो दोनों का कोथ का स्वभाव एवं पूति गुण होने से शरीर, मुख, नासिका, कक्षा, वस्त्र, मल, मूत्र, पूय आदि में दौर्गन्ध्य होता है। मूत्र निकले उस काल तो उसमें दौर्गन्ध्य नहीं होता, पर पूति स्वभाववश कुछ क्षण से ले कर न्यूनाधिक काल में दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। शवच्छेदगृहों में रक्त, पित्त तथा कफ प्रधान रोगों से, यथा महाकुष्ठ, कैंसर आदि से, पीड़ित पुरुषों के शव शीघ्र कुथित हो जाते हैं, यह कार्यकर्ताओं का अनुभव है। तदनुसार शवच्छेद के कार्य में योग्य उपाय किए जाते हैं;

२९. मद--नशा-सा रहना;

३०. कम्प--हस्त आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में कम्पन;

३१. स्वरक्षय--कण्ठ में रक्त और पित्त के कारण पाक (लेरिंजाइटिस) का यह परिणाम होता है;

३२. तन्द्रातियोग; ३३. निद्रातियोग;

३४. अति तमोदर्शन--आँखों के आगे वार-वार अति प्रमाण में तथा बहुत काल तक अन्धेरा छाना;

३५. कण्डू; ३६. अरु(षू)--फोड़े, गण्ड, गुजराती में गूमड़े; अंग्रेजी--बॉयल;

३७. कोठ--शीतपित्त (छपाकी, अर्टीकेरिआ, गुजराती शीलवा) में जैसे मण्डल प्रकट होते हैं वैसे मण्डल ;

३८. पिडका--पिटिका, कण्डूयुक्त या कण्डूरहित फुन्सियाँ; अंग्रेजी में फरन्कल्स, इनसे युक्त रोग को फरन्कुलोसिस कहते हैं। कभी-कभी लगभग आलपीन की घुण्डी के प्रमाण की और रक्तवर्ण पिडकाएँ भी देखी जाती हैं। ये पित्त की तीक्ष्णतावश केशिकाओं के अति स्वल्प विदीर्ण होने से उनमें से रक्त बिन्दु का क्षरण और संचय होने से बनती हैं। ये रक्त-पित्त का एक प्रभेद हैं। उष्ण काल में प्रायः देखी जाती हैं। पिडका का एक भेद यौवन में मुखादि पर होनेवाली यौवन-पिडका (एक्नी) है।

३९. कुष्ठ--विभिन्न त्वग्रोग, स्किन-डिसीज़ ;

इनमें अचार आदि तीक्ष्णोष्ण द्रव्यों के योग से वृद्धि का एवं विरेचन (पित्तहर) से इनके बैठ जाने का इतिहास प्रायः पाया जाता है ;

४०. चर्मदल--कुष्ठ-भेद, जिसमें हस्तपादतल में दाह, कण्डू आदि होते हैं ; ४१. दद्रू ; ४२. पामा--अकौता, छाजन, एग्ज़ीमा नामों से प्रसिद्ध रोग ; ४३. श्वित्र--श्वेत कुष्ठ या 'ल्युकोडर्मा' नाम से प्रसिद्ध त्वग्रोग ; ४४. रक्त मण्डल--त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्त वर्ण धब्बे होना। त्वचा की केशिकाएँ विस्तृत होने से ये होते हैं। अंग्रेजी--हीमेंजिओमा ;

४५. तिलकालक--त्वचा पर छोटे-बड़े तिल (मोल) होना ; ४६. पिप्लु--त्वग्विकार विशेष ; ४७. न्यच्छ--लाञ्छन नाम से प्रसिद्ध त्वग्रोग ४८. व्यङ्ग--प्रायः धूप में फिरने से मुख आदि की त्वचा पर प्रकट होनेवाले वर्ण-नाशयुक्त मण्डल। स्मरण रहे, यद्यपि शास्त्र में रक्तदोषों के विविध प्रकार दर्शाए हैं तथापि लोक में इन कण्डू, गण्ड, पिडका-प्रभृति त्वग्विकारों के लिए ही रक्त-दुष्टि, लहू की खराबी आदि रक्त-प्रकोप-सूचक नाम प्रसिद्ध हैं ; ४९. नीलिका--त्वचा तथा मुखादि की श्लेष्म-कला पर नील (कृष्ण) वर्ण दाग होना;

५०. इन्द्रलुप्त--शिर, दाढ़ी आदि के बाल बीच-बीच में खाए जाना ; गुजराती में ऊँदरी ;

५१. गुदपाक--शिशुओं के गुदपाक के लिए अहिपूतन यह विशेष संज्ञा है ; प्रॉक्टाइटिस ;

५२. मेढ्रपाक--शिश्नपाक ; पेनाइटिस[1]। ये सर्वपाक पित्त-प्रकृति एवं रक्तसार पुरुषों को अधिक होते हैं, यह उपयोगी तथ्य ध्यान में रखना चाहिए ;

१--मुखपाक के लिए स्टॉमेटाइटिस, गुदपाक के लिए प्रॉक्टाइटिस, मेढ्रपाक के लिए पेनाइटिस, दन्तवेष्टपाक के लिए जिंजिवाइटिस, मज्जपाक के→

५३. प्लीहा--रक्त तथा पित्त की वृद्धि और उसका अपने एक आश्रय प्लीहा में संचय होने से हुई प्लीहावृद्धि ;

५४. रक्तार्श--रक्तस्रावी अर्श, जिनका कारण रक्त-प्रकोप होता है। रक्तस्राव पैत्तिक अर्शों में भी होता है और रक्त प्रकोपजन्य अर्शों में भी। चिकित्सा-भेद की दृष्टि से दोनों में भेद जानना उपयुक्त है। दोनों में भेदक लक्षण यह है। रक्तप्रकोपजन्य रक्तस्रावी अर्शों में मल ग्रथित (शुष्क, ग्रन्थि-भूत, गाँठों के रूप में) हो तो उसके प्रवर्तन के लिए प्रवाहण करते समय अर्श के अंकुरों का ग्रन्थियों से घर्षण हो कर उनमें क्षत होता है। इसी कारण से उनमें रक्त-प्रवृत्ति होती है। रक्तस्रावी अर्शों का कारण पित्त-प्रकोप हो तो प्रकुपित पित्त के तीक्ष्णोष्ण गुणों से रक्त का प्रमाण तथा वेग तो बढ़े होते ही हैं, साथ ही अंकुरों के सिराजाल भी खाए जाते हैं, रक्त के स्कन्दन का स्वभाव भी न्यून हो जाता है। परिणामतया रक्त की प्रवृत्ति अंकुरों के पित्त-कृत क्षत होने से होती है। इनमें मल से घर्षण का प्रश्न यों भी उपस्थित नहीं होता। कारण, प्रकुपित पित्त के द्रव गुण के कारण पैत्तिक अर्श से पीड़ित रोगियों में मल द्रव--शिथिल--ही होता है। आयुर्वेद-मत से यह भेद दर्शा देने की आवश्यकता का कारण यह है कि प्रायः नव्यमताभिभूत चिकित्सक रक्त-स्रावी अर्श का कारण एक ही समझते हैं--ग्रथित मल द्वारा हुए घर्षण से सिराओं का क्षत (व्रणित) होना। रक्तस्रावी अर्शों के आयुर्वेद-मत से और प्रत्यक्षाविरुद्ध ये दो भेद व्यवसाय की दृष्टि से जानना उचित है। रक्त-प्रकोप-जन्य अर्शों में मल और वायु का अनुलोमन और द्रवीकरण ही प्रमुख चिकित्सा है, जबकि पित्तप्रकोपोत्थ अर्शों में पित्त का शोधन-शमन एवं रक्त के स्कन्दन का स्वभाव बढ़ाने वाले कषायादि गुण युक्त द्रव्यों का सेवन ही विधेय होता है ;

५५. रक्तार्बुद--यह आधुनिकों का सार्कोमा समझा जाता है। कारण सार्कोमा रक्तवाहिनियों द्वारा फैलता है, अतः वे विकृत और दुर्बल हो कर विस्तृत

←--लिए ऑस्टिओमायलाइटिस, गलपाक के लिए फेरिंजाइटिस, अक्षिपाक के लिए कंजंक्टिवाइटिस शब्द सर्वसम्मत हैं। इनके परस्पर साम्य को देखते समझा जा सकता है कि 'आइटिस' प्रत्यय-सूचित इन्फ्लेमेशन के लिए आयुर्वेद में पाक यही पद अनुरूप पर्याय है। सो, इन्फ्लेमेशन का भाषान्तर करते हुए शोथ, प्रदाह आदि भिन्नार्थक शब्दों का उपयोग समीचीन नहीं। शोथ का अर्थ उत्सेध (स्वेलिंग) है, प्रदाह का अर्थ जलना है। शल्यतन्त्र में व्रणों के लक्षण में इन्फ्ले-मेशन के अर्थ में संरम्भ संज्ञा भी आई है। वह भी अपनायी जा सकती है। तथापि, अन्यत्र सर्वत्र तन्त्रकारों ने पाक शब्द का ही व्यवहार किया है।

हो जाती हैं और उनका जाल इस अर्बुद के आन्तर भाग में व्याप्त देखा जाता है ;

५६. विचर्चिका--जैसे पादतल में चीर पड़ना तथा कण्डू आदि सहचारी लक्षण होना विपादिका कहाता है वैसे लक्षण हस्ततल में होना विर्चाचिका कहाता है (देखिए--सु० नि० ५।१३)। हस्ततल के अतिरिक्त शरीर के अन्य अवयवों पर होनेवाले चीर आदि को भी विर्चाचिका ही कहते हैं। चरक में श्याववर्ण की, कण्डूयुक्त, अतिस्रावबाली कफ प्रकोप से रक्त की दुष्टि होने से हुई पिडकाओं को विर्चाचिका कहा है। इस लक्षण का साम्य नवीनों के वीपिंग या वेट एग्ज़ीमा से स्पष्ट प्रकट है ;

५७. उपजिह्वा--कफ-कृत रक्त-दुष्टि से जिह्वा के ऊपर तथा उसके मूल में जिह्वा के सदृश आकार के शोथ को उपजिह्वा या उपजिह्विका कहते हैं (देखिए--च० सू० १८।१६ तथा च० चि० १२।७७)। वर्णन से यह कण्ठच्छद का पाक (एपिग्लोटाइटिस या एपिग्लोटाइडाइटिस) प्रतीत होता है[1] ;

१--**उपजिह्वा** की गणना काश्यप ने की है। मूल में दर्शित स्थानों में इसका जो जिह्वा के मूल में उसके ऊपर हुआ शोथ यह लक्षण दिया है उसे देखते यह कण्ठच्छद (एपीग्लॉटिस) का पाक प्रतीत होता है। स्वस्थ कण्ठच्छद के लिए भी यह संज्ञा चलाई जा सकती है। आयुर्वेद में प्राकृत और विकृत दोनों अवयवों के लिए एक ही संज्ञा रखने का प्रचार है। यथा--उदर, ग्रहणी, गलशुण्डी (यूव्युला) आदि नाम उभयविध अवयवों के हैं। मूत्रग्रन्थि शब्द इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त प्रॉस्टेट का है। वह प्राकृत प्रॉस्टेट के लिए अपनाया जा सकता है। इन संज्ञाओं को देखते उपजिह्वा पद एपीग्लॉटिस के लिए व्यवहार में लाना संगत प्रतीत होता है।

प्रसंगवश दो शब्द **अधिजिह्विका** के लिए भी लिख दूँ। इसे आधुनिकों का रेन्युला माना जाता है। सु० नि० १६।३८ पर मुख-रोगाधिकार में अलास का जो लक्षण दिया है, उससे तुलना करने से अलास ही नवीनों का रेन्युला एवं ब्लैण्डिन्स गैंग्लिऑन प्रतीत होता है। अधिजिह्विका जिह्वाधरीय लालाग्रन्थि (सबलिंग्वल) के शोथ का नाम है। शोथ होने पर ये ग्रन्थियाँ आगे उभर कर जिह्वा की पुत्रिका-सी प्रतीत होती हैं। पूर्वोक्त तर्क के अनुसार यह अधिजिह्विका पद भी स्वस्थ सबलिंग्वल ग्लैण्ड के लिए चलाया जा सकता है। व्याकरणानुसार भी सबलिंग्वल और जिह्वाधरीय शब्दों का जो अर्थ है वह अधिजिह्विका शब्द से भी निकल आता है। अधिजिह्विका के लक्षण के लिए देखिए--सु० नि० १६।५२ तथा उस पर डल्हन और गयी की टीका।

५८. कामला ; ५९. मशक--मस्से (वॉर्ट्स) नाम से प्रसिद्ध क्षुद्र-रोग, जो पैर-हाथ शिश्न, अपत्यपथ, पक्ष्म आदि पर प्रायः देखे जाते हैं ;

६०. अङ्गमर्द--अङ्ग स्फुटन--शरीर टूटना ;

६१. दाह ; ६२. श्रम--आयास किए बिना श्रम (थकावट) प्रतीत होना ; ६३. अक्षिरोग--आँख दुखना। आँख आए बिना अथवा उसके साथ दोनों स्थितियों में अक्षिरोग हो सकता है ; ६४. स्रोतों का पूतिभाव--मल, मूत्र, स्वेदादि के बहिर्मुख स्रोतों में मल के दुर्गन्धयुक्त होने से दौर्गन्ध्य।

इन रोगों के सिवाय रक्त-प्रकोपज अन्य भी रोग होते ही हैं। उनके ज्ञान का सामान्य नियम यह है कि जो साध्य रोग शीत या उष्ण, स्निग्ध या रूक्ष, तीक्ष्ण या मृदु आदि उपचारों से चिकित्सित होने पर भी शान्त न हों, उन्हें रक्त-प्रकोपज ही मानना चाहिए। तात्पर्य, वातादि दोषों को लक्ष्य में रख कर वात के लिए उष्ण-तीक्ष्णादि, कफ के लिए रूक्ष-उष्ण आदि तथा पित्त के लिए शीत-रूक्ष आदि उपचार किए गए हों तथापि सिद्धि न मिले तो इस प्रकार की गयी अथवा स्वयं हो गयी उपशयानुपशय-परीक्षा से सिद्ध हो जाता है कि रोग के कारण वातादि दोष नहीं हैं। यों देखा जाए तो जैसा कि अनेकशः कहा जा चुका है--रक्त की दुष्टि भी वातादि दोषों से ही होती है, अतः उल्लिखित वातादि दोषों को दृष्टि में रख कर किए गए उपचारों से उनसे दूषित रक्त भी समावस्था को प्राप्त हो कर तदुत्थित रोग भी शान्त हो ही जाने चाहिए; तथापि अनुभव-सिद्ध सत्य का प्रकाशन करते हुए आचार्य यहाँ प्रतिपादन करते हैं कि वातादि दोषों से रक्त की दुष्टि हो कर रोग उत्पन्न हुए हों, तो उनकी चिकित्सा केवल वातादि दोषों के साम्य को दृष्टि में रख कर चिकित्सा की जाए तो सफल नहीं होती। आश्रयभूत रक्त की विशेष चिकित्सा भी उनमें करणीय होती है। अतएव यह नियम स्मरण रखना चाहिए कि शीतोष्णादि उपचारों से जिस रोग में सिद्धि न प्राप्त हो उसे रक्त-प्रकोपज मान कर दोष और दूष्य दोनों को दृष्टि में रख कर निर्दिष्ट चिकित्सा करनी चाहिए[1]।

रक्त-प्रकोपज एक रोग : आधुनिकों का हाईब्लड प्रेशर--

रक्त-प्रकोपज रोगों की इस नामावली में आए प्रायः रोगों के विषय में विशेष वक्तव्य होने से और सामान्य बुद्धि के चिकित्सक को व्यवहार में सौकर्य हो इस

१--देखिए--च० सू० २४।११-१७ पर चक्रपाणि की टीका। टीका के अन्त में चक्रपाणि लिखता है--प्रवृद्धशोणिताश्रयास्तु वातादय आश्रयप्रभावान्न स्वचिकित्सामात्रेण प्रशाम्यन्ति।

हेतु से भी निदान-चिकित्सा के प्रकरण में उनका पृथक् उल्लेख तन्त्रकारों ने किया है। सामान्य चिकित्सा-पद्धति सब की एक है--रक्त और पित्त का संशोधन--रक्त के संशोधनार्थ रक्त-विस्रावण एवं पित्त के संशोधनार्थ विरेचन ; तथा इनका शमन इत्यादि। चिकित्सा और निदान के साम्य से इनको एक वर्ग 'रक्त प्रकोपज रोग' में परिगणित करना विशेषतया चिकित्सा की दृष्टि से उपयुक्त ही है। इन में एक रोग जिसका आयुर्वेद में अन्यत्र विस्तार से उल्लेख नहीं, पर आज जिसका जानना बहुत आवश्यक है वह है आधुनिकों का हाई ब्लड प्रेशर या हाईपरटेन्शन। मेरा नम्र मत है कि अनेक लक्षणों के रूप में इस रोग का उल्लेख प्राचीनों ने इस प्रकरण में यथेष्ट प्रमाण में कर दिया है। इन रोगों में आए तम, शिरोरोग, रक्तपित्त (नासिका आदि मार्गों से रक्त-स्रुति), क्रोध-प्राचुर्य, बुद्धिवैकल्य, नेत्रों की रक्तता, मद आदि विकार ; अति भोजन आदि से उत्पत्ति ; नवीनोक्त संप्राप्ति के अनुसार हाई ब्लड प्रेशर की अन्त में मद, मूर्च्छा, संन्यास तथा पक्षाघात में परिणति ; इस क्रम और इन रोगों के इसी क्रम से निकट संबन्ध के द्योतनार्थ जिस अध्याय में इन रक्तप्रकोपज रोगों के निदान-लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख हुआ है उसी अध्याय में एकदम आगे मद, मूर्च्छा आदि रोगों के निदान और चिकित्सा का निर्देश ; एवं हाई ब्लड प्रेशर की नवीनोक्त चिकित्सा से साम्य रखनेवाला विरेचन, उपवास (विशेष कर निदानोक्त लवण का परिवर्जन) और रक्त मोक्षण ये सब बातें इस बात की द्योतक हैं कि आधुनिकों का हाई ब्लड प्रेशर भी प्राचीनों ने इसी प्रकरण में समाविष्ट कर दिया है।

रक्त की वृद्धि से रक्तप्रकोप हो कर जो लक्षण होते हैं उनका रक्तवृद्धि के लक्षणों--रक्ताङ्गता, रक्तनेत्रता तथा सिरा (धमनी) पूर्णता--के नाम से निर्देश करते हुए भी प्राचीनों ने 'हाई ब्लड प्रेशर' का उल्लेख कर दिया प्रतीत होता है। इसके विपरीत रक्तक्षय के लक्षणों में कथित 'सिराशैथिल्य' नवीनों के 'लो ब्लड प्रेशर' या 'हायपोटेन्शन' का वाचक प्रतीत होता है। यह सिरा-शैथिल्य मांसक्षय के लक्षणों में भी अभिहित है। इसका तात्पर्य यह है कि मांस धातु की क्षीणता से शरीर के अन्य मांस-धातुमय अवयवों के सदृश मांसमय हृदय तथा सिरा-धमनी भी दुर्बल हो जाते हैं। हृदय को तो प्राचीनों ने मांसमय कहा ही है, सिरा और धमनी भी मांस धातु से गाढ़ संबन्ध रखती हैं, ऐसा प्राचीनों ने प्रत्यक्ष किया होगा। इसीसे रस धातु से क्रमशः रक्त आदि धातुओं की पुष्टि का क्रम बताते हुए कहा है--रक्त के प्रसादभूत अंश से मांस धातु की पुष्टि होती है, साथ ही कण्डराएँ (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ (सिरा और धमनी) भी पुष्ट होती हैं। इसका अर्थ यह है कि--मांस, स्नायु और सिरा-धमनियों

में कुछ साम्य होना प्राचीनों को अभीष्ट है। नव्य मत से इसकी व्याख्या कथंचित् यों की जा सकती है कि सिरा-धमनियाँ जिन मण्डलों (कोट्स)[1] से बनी हैं, उनमें मांसमय मण्डल मुख्य है। कारण, इसी के बलाबल पर सिराओं और धमनियों का स्वरूप तथा बल (स्वकार्यक्षमता) अवलम्बित है। इसीसे अर्श के प्रकरण में प्रत्यक्षानुसार अर्श सिराओं के फूले हुए भाग होते हुए भी उनके फुलाव में हेतुभूत मांस धातु के दौर्बल्य को दृष्टि के समक्ष रख कर इन्हें आयुर्वेद में मांसांकुर ही कहा है। अतएव चिकित्सा में भी शरीर में मांस धातु को सम और सबल बनाने के लिए समान द्रव्य मांस-रस का किंवा समानगुण शिम्बिधान्यों के यूषों का विधान अर्श की चिकित्सा के प्रकरण में प्राचीनों ने किया है।

अस्तु। हृदय और सिराओं (ब्लडवेसल्स) के मांसमय मण्डल के दुर्बल होने का परिणाम यह होता है कि वे शिथिल हो जाती हैं--उनका संकोच का गुण तथा स्थितिस्थापकता प्राकृत प्रकार की नहीं रह जाती। परिणामतया, रस-रक्त का वहन वेग और प्रमाण में न्यून होता है। रक्त क्षीण हो, तो भी सिराशैथिल्य होता है। आधुनिकों ने भी 'एनीमिआ' को 'लो ब्लडप्रेशर' का प्रमुख कारण कहा है। इसकी तुलना किसी नगर में वॉटर-वर्क्स द्वारा पहुँचाए जानेवाले पानी से की जा सकती है। पानी न्यून हो तो 'प्रेशर' भी न्यून होता है---इस कारण ऊपर की मंजिलों पर पानी न पहुँचना आदि विपरिणाम होते हैं। उधर, पानी पहुँचानेवाले पम्प का ही ज़ोर किसी कारण न्यून हो जाए तो भी उसका 'प्रेशर' कम हो कर यही विपरिणाम होते हैं। यही स्थिति क्रमशः रक्तक्षय तथा मांसक्षय से होनेवाले सिराशैथिल्य या 'लो ब्लड प्रेशर' में होती है। इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रख तदनुरूप उपचार करना चाहिए।

सिरापूर्णता आयुर्वेद-मत से पित्त और वात दोनों से हो सकती है। वात के प्रकोप में भी कफ-प्रकोप का कारण होना संभव है। रक्त-प्रकोप के निदान में संतर्पण की गणना तथा चिकित्सा में उपवास का निर्देश रक्त प्रकोप में कफ-प्रकोप भी एक कारण है इस बात को सूचित करते हैं। संक्षेप में रक्तदाब की अधिकता होने में कफ की कारणता की व्याख्या करता हूँ।

पित्त प्रकुपित हो, तो मन्द गुण-विरोधी तीक्ष्ण (आशु) गुण की वृद्धि सिराओं

१---नेत्रशारीर में शालाक्य में नेत्र के विभिन्न कोट्स को प्राचीनों ने मण्डल कहा है। महास्रोत, सिरा आदि के कोट्स के लिए भी यही संज्ञा अपनायी जा सकती है। नेत्रशारीर में आए पटल बाह्य आलोक का वहन करनेवाले पर्दे या माध्यम हैं।

में (धमनियों में) हो कर वेगाधिक्य तथा रक्तदाबाधिक्य होता है। रक्त प्रकोप में वात की कारणता इस प्रकार होती है कि प्रकुपित वात का स्थान-संश्रय नव्योक्त धमनिकाओं (आर्टीरिओलस) में हो कर उनका स्तम्भ (संकोच, कॉन्ट्रेक्शन) होता है। सर्व शरीर को रस-रक्त पहुँचानेवाला व्यान वायु अपने मार्ग (क्रिया) में आए इस आवरण के कारण प्रकुपित होता है—अपनी संकोचात्मक प्राकृत क्रिया अधिक बल-पूर्वक करने लगता है। यह संकोचाधिक्य ही रक्तदाब-मापक-यन्त्रों में पारद या सुई को ऊँचे चढ़ा देता है तथा रक्तदाब की अधिकता को सूचित करता है। यही प्रकोप बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठान शिर में जा कर भ्रम-मद आदि विकारों को उत्पन्न करता है। कभी वात प्रकोपवश धमनियों में खरत्व (आर्टीरिऑस्क्लेरोसिस) हो तब भी व्यान वायु आवरणवश प्रकुपित होता है और यही विपरिणाम होते हैं।

हाई ब्लड प्रेशर का कारण कफ हो तो प्रथम कफ के प्रमुख गुण मन्द के प्रभाव से रस-रक्त का वहन मन्द होता है। इससे आवृत व्यान वायु कुपित होकर पूर्व लिखित प्रकार से रक्तदाब को बढ़ा देता है। रक्तदाब अधिक होने में किस दोष का प्रकोप कारणभूत है और कितने अंश में इसका निर्णय जिसका अति सेवन किया गया हो उस दोष-प्रकोपक आहार, विहार आदि तथा वय आदि से कौन से दोष का प्रकोप संभाव्य है यह जानकर एवं प्रत्यक्ष तथा प्रश्न परीक्षा से और अन्त को उपशयानुपशय-परीक्षा से देख लेना चाहिए कि शरीर में किस दोष का प्रकोप हुआ है। तदनुरूप पित्त, वात या कफ जिस भी दोष का प्रकोप हुआ हो उसे लक्ष्य में रख पृथक् उपचार करना चाहिए।

इस विषय में अधिक वक्तव्य इन रोगों के प्रकरणों में करेंगे।

धातुज रोग[1]

रोगमात्र दोषों के वैषम्य से होते हैं। अतः सामान्यतया दोष-प्रकोप के लक्षणों का निर्देश सविस्तार कर देने से उनके उपचार की दिशा समझी जा सकती है। तथापि विस्तार के लिए अवयव-विशेष में दोष-विशेष के प्रकोप से होनेवाले लक्षणों के समुदाय को ज्वर, अतिसार आदि तत्तत् नाम देकर आचार्यों ने उनके निदान-लक्षण-चिकित्सा बताए हैं। इसमें हेतु विषय का विशदीकरण ही है। ये दोष ही तत्तत् धातु में स्थान-संश्रय करते हैं तो उनमें जो विक्रिया होती है, उसका कारण तो तत्तत् दोष ही होता है, तथापि स्थान को प्राधान्य देकर तत्तत् धातु के नाम पर रोगों को रसज, रक्तज आदि नाम प्राचीनों ने दिये हैं। इन

१—च० सू० २८।८-२२ ; सु० सू० २४।८-१०।

धातुओं में भी विशेषतया चिकित्सा की भिन्नता (रक्तविस्रावण प्रभृति) इत्यादि को लक्ष्य में रखते हुए रक्त में कुछ वैशिष्ट्य प्राचीनों ने देखा, अतः रक्तज रोगों का वर्णन इतर धातुज रोगों के साथ करके भी पृथक् एक अध्याय (विधि-शोणितीय) के रूप में उनका पृथक् पृथक् उल्लेख तन्त्रकारों ने किया है। विशेष होने से रक्तज रोगों का रोगों के वर्गीकरण के क्रम में प्रथम उल्लेख कर अब हम शेष धातुज रोगों का निर्देश करते हैं।

दोष-भेद से धातुज आदि रोगों में लक्षणों की भिन्नता--

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ च० सू० २८।८

तत्र रसेत्यादौ प्रकुपितानां दोषाणामित्यनियमेन रसे कुपितो वायुर्वा पित्तं वा श्लेष्मा वा, संसृष्टा वा अश्रद्धादीनि कुर्वन्ति। सत्यपि दोषभेदेऽत्राश्रयस्याभेदादाश्रयप्रभावेणैवाश्रद्धादयो भवन्ति; परं दोषभेदेऽश्रद्धादावेव वातादिलिङ्गं विशिष्टं भवति ×× ॥

--चक्रपाणि

इन रस आदि स्थानों में--धातुओं, उपधातुओं, मलों, स्रोतों, आशयों किंवा उदरादि अवयव-विशेषों में--दोष-प्रकोपवश होनेवाले रोगों का उल्लेख तन्त्रकारों ने किया है। इस प्रकरण में किस दोष से कौन विकार होता है, इस प्रकार नामतः निर्देश नहीं किया गया है। इससे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि वात, पित्त, कफ पृथक्, संसृष्ट (दो मिलित) या समस्त (तीनों मिलित) इन रोगों को उत्पन्न करते हैं। यों प्रत्येक रोग या लक्षण की उत्पत्ति में दोष का भेद होता है तथापि उनका अश्रद्धा आदि स्वरूप तो आश्रय-भेद से ही होता है। अर्थात्--किसी भी दोष से रस धातु की दुष्टि हो तो अश्रद्धा (अन्न की कांक्षा न होना) यह लक्षण होता है। शुक्र या अन्य धातु, उपधातु आदि की दुष्टि हो तो यह लक्षण नहीं होता।

तथापि इन अश्रद्धा आदि आश्रय-भेद से हुए रोगों में तत्तत् दोष के कारण तत्तत् लक्षण-भेद भी होता ही है। चिकित्सा में उसे दृष्टि में रखकर उपचार-भेद करना चाहिए।

नवीन चिकित्सा के प्रचार से सुप्रचलित एक सामान्य रोग का उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करता हूँ। गलपाक या फॅरिंजाइटिस जैसा कि नाम से सूचित है, गल में हुए पाक (इन्फ्लेमेशन) से होता है। परन्तु प्रत्येक गलपाक समान नहीं होता। किसी में वेदना अधिक होती है, उत्सेध (सूजन) स्वल्प

होता है, रक्तिमा भी विशेष नहीं होती। अन्य में उत्सेध विशेष होता है, वेदना उतनी नहीं देखी जाती। किसी में रक्तिमा प्रमुख लक्षण होता है, वेदना तथा उत्सेध वैसे नहीं होते। तीनों प्रकारों में अन्य भी लक्षण-भेद होता ही है। रोग तीनों प्रभेदों में एक ही होते हुए भी लक्षणों में जो भिन्नता देखी जाती है, उसमें वातादि का भेद ही हेतु होता है। हम फेरिन्जाइटिस को भले आधुनिक दृष्टि से पहचानें, तथापि उनमें लक्षण-भेद का कारण आयुर्वेद की दृष्टि से समझ लें तो हमारा निदान और चिकित्सा अधिक मूलगामी, शुद्ध एवं यशस्वी सिद्ध होंगे। लक्षण-भेद में वेदना आदि वातप्रकोप-विशेष होने से होते हैं, उत्सेध आदि कफ-प्रकोप के आधिक्य के कारण होते हैं, तथा रक्तिमा, दाह आदि पित्त-प्रकोप सविशेष होने से होते हैं। अन्य रोगों में भी इसी प्रकार दोष-भेद से लक्षण-भेद जानकर तदनुरूप चिकित्सा-भेद करना चाहिए।

धातु आदि स्थानों में रोगोत्पत्ति का कारण—स्रोतोरोध—

संप्राप्ति के प्रकरण में देखेंगे कि रोगमात्र की उत्पत्ति में प्रकुपित हुए दोषों का स्थान-संश्रय (स्थान विशेष पर टिक जाना) एक कारण होता है। इस स्थानसंश्रय का कारण यह होता है कि जहाँ रोग उत्पन्न हुआ है उस अवयव-विशेष के स्रोत दोष-विशेष के प्रकोप के कारण विकृत हुए होते हैं। स्रोत की विकृति किसी भी दोष के कारण हो, परिणाम सब का एक ही होता है, और वह यह कि उस स्रोत के वाह्य द्रव्य के अयन या वहन में अवरोध उपस्थित हो जाता है। अवरोध के प्रसिद्ध अर्थ से सूचित होता है उस प्रकार वाह्य द्रव्यों के मार्ग में कोई मूर्त द्रव्य रास्ता रोक कर अड़ जाता हो, ऐसी स्थिति सर्वदा नहीं होती। होता यह है कि, दोषों के प्रभाव के कारण स्रोतों में रस, रक्त, मल आदि वाह्य द्रव्य का अयन या गमन जिस वेग से और जितने प्रमाण में होता है उस वेग तथा उस प्रमाण में न्यूनता आ जाती है। कभी संपूर्ण अवरोध भी होता है इसी को आयुर्वेद में स्रोतोरोध, स्रोतोवैगुण्य, स्रोतोदुष्टि आदि नाम दिए गए हैं। वायु के प्रकोप के प्रकरण में इसी को वायु का आवरण नाम दिया गया है। रोध या अवरोध शब्द में रुध् (रुधिर्) धातु है, उस का अर्थ धातुपाठ में पाणिनि ने आवरण दिया है। उससे आयुर्वेद की इस प्रसिद्ध संज्ञा का अर्थ समझने में सौकर्य हो सकता है।

लघुवाग्भट ने अत्यन्त स्पष्ट पदों में यह वस्तु अधोलिखित पद्य में कही है :

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥

अ० हृ० नि० १।२३

× × रसायनीः नाडीः × × ॥ अरुण तथा हेमाद्रि[1]

रोगमात्र में उसकी उत्पत्ति की संप्राप्ति यह होती है कि, जिस स्थान में रोग उत्पन्न होनेवाला है उस स्थान के स्रोतों में कुपित हुए दोष प्रथम स्थानसंश्रय करते हैं। पश्चात् शरीर में तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य, दोष-जनित विकृति का प्रभाव प्रथम स्रोतों पर होता है। दोषमात्र से हुई विकृति का परिणाम बहुधा स्रोतोरोध के रूप में होता है। इस स्रोतोरोध के कारण उस स्रोत के वाह्य द्रव्य का रोध के स्थान पर संचय, वृद्धि और प्रकोप होता है।

स्रोतोरोध, स्रोतोदुष्टि, स्रोतोवैगुण्य जिस भी नाम से इसे पहचाने, इसका स्वरूप दोषभेद से भिन्न होता है। पहले भी कहा जा चुका है, आवश्यक होने से पुनः कहता हूँ। कफ के प्रकोप से वाह्य द्रव्य की गति (अयन) मन्द होती है; साथ वायु या पित्त का प्रकोप हो तो पित्त, मल, मूत्र, रस-रक्त जो भी वाह्य हो उसका क्लेदांश शुष्क हो कर या कफ के प्रभाव से रस-रक्त का स्कन्दन हो कर ये द्रव्य द्रवत्व त्याग कर मूर्त (घन) रूप प्राप्त करते जाते हैं। ये घन द्रव्य इन द्रव्यों के वहन में कारणभूत व्यान आदि वायुओं को प्रकुपित करते हैं। वे (व्यानादि वायु) अपनी संकोचात्मक क्रिया अधिक बल से करने लगते हैं। इसी से विभिन्न कोष्ठगत शूल होते हैं। कफ से कभी-कभी लेप भी हो सकता है, जैसे श्वास-कास में प्राणवह स्रोतों का या अरुचि-अग्निमान्द्य आदि में आम-पच्यमानाशय का। कभी कफका परिणाम स्रोतों के घटक शरीर-परमाणुओं की अतिपुष्टि के रूप में भी होता है। इससे स्रोतों का विवर न्यून होकर वाह्य द्रव्य का वहन असम्यक् होता है। कफ से हृदय आदि अवयवों की धमनियों के मण्डल (कोट) में मेद का संचय (एथेरोमा) तथा अन्य परिणाम होते हैं। वायु से स्रोत में स्तम्भ, खरत्व, शुष्कता, भङ्गुरता आदि होते हैं। पित्त से आभ्यन्तर मण्डल (कला) में पाक (शोथ) होता है। परिणाम सब का एक होता है---वाह्य द्रव्य का वहन प्राकृत प्रमाण में और प्राकृत वेग से हो नहीं पाता।

१---रसायनी शब्द रसवह स्रोतों के लिए भी प्रयुक्त होता है, साथ ही मार्ग-मात्र के अर्थ में भी इसका व्यवहार होता है। उदाहरणतया, च० वि० ५।६ में स्रोतों के जो सामान्य नाम दिये हैं उनमें रसायनी का उल्लेख है। यों भी तन्त्र-कारों ने भिन्न-भिन्न रोगों की जो संप्राप्ति दी है, उसमें केवल रसवह स्रोतों के वैगुण्य का निर्देश नहीं है; पुरीषवह, मूत्रवह, रसवह, स्वेदवह इत्यादि भिन्न-भिन्न स्रोत रोगभेद से दूषित होते हैं। इसे देखते भी रसायनी शब्द यहाँ मार्गमात्र के वाचक के रूप में ग्राह्य है। इसी दृष्टि से दोनों टीकाकारों ने इसका पर्याय नाड़ी ही दिया है।

रसायन द्रव्य रस अर्थात् वाह्य गतिशील द्रव्य के अयन को सुधारते हैं। इसी से वे रोगनिवृत्ति और आयु की अनुवृत्ति (चिरायु-संपादन) में समर्थ होते हैं। दोषभेद से रसायन द्रव्य भिन्न होता है। कोई वात के लिए उपयुक्त होता है, कोई कफ के लिए, कोई पित्त के लिए। जिन द्रव्यों को वातघ्न आदि कहा जाता है, वे यत्सत्यं स्रोतोदुष्टि को दूर करके स्रोतोदुष्टिरूप संप्राप्ति का भङ्ग करके ही वातज आदि रोगों को नष्ट करते हैं, यह मूल सत्य यहाँ समझ लेना चाहिए। धन्वन्तरि ने और भी स्पष्ट कहा है:

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥

सु० सू० २४।१०

प्रकुपित हो शरीर में विचरण करते दोषों का स्रोतों के वैगुण्य के कारण जहाँ भी संग (अवरोध) होता है, वहीं रोगोत्पत्ति होती है।

रसादि धातुओं, उदर-हृदयादि अवयवों, आमाशय-पच्यमानाशय आदि आशयों किंवा प्राणवह-पुरीषवह आदि स्रोतों में दोषों का स्थानसंश्रय होने का कारण क्या है, इस बात का प्रसंगोपयुक्त होने से निर्देश कर अब हम देखेंगे कि रसादि धातुओं में दोष का स्थानसंश्रय होने के क्या परिणाम होते हैं, अर्थात् रसज आदि रोग कौन से हैं? पहले जो कह आए हैं कि इन रसज आदि धातुज रोगों के होने में आश्रय अर्थात् जिस धातु में दोषों ने स्थानसंश्रय किया है वह (धातु) विशेष महत्व रखता है, उस बात को यहाँ पुनः स्मरण कर लेना चाहिए।

रसज (रस-प्रदोषज) रोग—

१. अन्नाश्रद्धा—अन्नद्वेष, अन्नपान के प्रति तिरस्कार;

२. अरोचक—अरुचि (एनेरॉविशआ); अन्नद्वेष में क्षुधा हो सकती है, पर अन्न के सेवन की इच्छा नहीं होती—उसका देखना, उसकी बात करना भी पसन्द नहीं पड़ता। तथापि इसमें रुचि का नाश होना नियत नहीं। साथ अरोचक—अरुचि—न हो तो रोगी को आग्रह कर खिलाया-पिलाया जाए तो वह खा लेता है, उसके स्वाद को समझता, पसन्द करता तथा सराहता भी है। अरुचि में क्षुधा होती है, अन्नके प्रति प्रीति होती है—पूर्वोक्त प्रकार से विद्वेष नहीं होता; परन्तु मुख में रखने पर उसकी रुचि का बोध नहीं होता—अन्न रोगी को स्वादु नहीं लगता। परिमाणतया, वह खा नहीं सकता, खाए तो वमन आदि

विकारों की सम्भावना होती है।[1] अन्नाश्रद्धा का ही एक मृदु रूप अनन्नाभिलाष है ;

३. आस्यवैरस्य, मुखवैरस्य या केवल वैरस्य--मुख का जो रस या स्वाद सदा रहता है उस से विपरीत, भिन्न होना। कफ के कारण रसदुष्टि हो तो मुख में मधुर रस प्रतीत होता है,पित्त के कारण हो तो तिक्त या अम्ल तथा वात के कारण हो तो विरसता फीकापन-होता है ; कफ और पित्त दोनों से लवण रस होता है (आस्य--मुख) ;[2]

४. अरसज्ञता--रस की प्रतीति न होना।[3]

आमाशय में स्वयं कफ का प्रकोप हो--वहाँ रहनेवाला क्लेदक कफ वृद्धि को प्राप्त हो तब तो उसके संसर्ग से रस की दुष्टि हो कर तत्तत् लक्षण होते ही हैं, अन्य दोषों का आमाशय में स्थानसंश्रय हो तो भी स्थान के प्रभाव से कफ का प्रकोप होता है। यह आयुर्वेद का सामान्य सिद्धान्त है कि दोष अपने प्राकृत स्थान से भिन्न स्थान पर जा कर कुपित हो तो उस स्थान के दोष को, अर्थात् वह स्थान जिस दोष का स्वाभाविक स्थान है उसे भी प्रकुपित कर देता है। यहाँ रसज दोषों के प्रकरण में भी रस के एक भेद अन्नरस का स्थान आमाशय है। इस में कफ के कोप से तो कफप्रधान लक्षण होंगे ही, पित्त और वात भी रस को दुष्ट करेंगे तो रस के स्थान आमाशय में कफ का भी यत्किंचित् प्रकोप स्वभावतः होगा। नव्य मत से कहना हो तो पित्त से (लवणाम्ल आदि में) श्लेष्मकला को हानि न हो इस निमित्त क्षोभ (इरिटेशन) होकर कफ (म्यूकस) का स्राव सविशेष होगा। इसी को आयुर्वेद में आमाशय-गत कफ का प्रकोप कहा है। अम्लपित्ती कफ-प्रधान द्रव्यों का अतिसेवन करता हो तो उसमें कफ का अनुबन्ध होकर तदनुरूप लक्षण होते हैं। यही स्थिति आमाशय में वात का स्थान-संश्रय होने पर भी जाननी चाहिए।

१--अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याऽभ्यवहरणं भवत्येव परन्त्वनिच्छा ; अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः।

—च० सू० २८।९-१० पर चक्रपाणि

अरोचकस्त्वाहारेच्छायां सत्यामन्नस्य मुखप्रवेशनेऽस्वादुत्वावबोधः।

—सु० सू० २४।९ पर चक्रपाणि

अन्नाश्रद्धा अन्नविद्वेषः ॥ —उक्त स्थल पर डह्लन

२--आस्यवैरस्यमुचितादास्यरसादन्यथात्वम्।

—च० सू० २८।९-१० पर चक्रपाणि

३--अरसज्ञता रसाप्रतिपत्तिः। —उक्त स्थल पर चक्रपाणि

उभय प्रकार से आमाशय में क्लेदक कफ का प्रकोप हो तो उसका परिणाम यह होता है कि, शरीरान्तर्गत शेष कफ-स्थानों में स्थित कफ, जो आयुर्वेद-मतानुसार आमाशय-गत कफ से अपनी पुष्टि प्राप्त करते हैं, वे भी अति पुष्ट या कुपित हो जाते हैं। कफ के स्थान के भेद से तत्तत् परिणाम होते हैं; यथा, सर्व शरीर में, विशेषकर इच्छा के स्थान हृदय में रस की कफ-कृत दुष्टि होने से अन्न द्वेष, मुखस्थ बोधक कफ के कोप से अरुचि एवं आस्य-वैरस्य, संधिगत श्लेषक कफ कुपित होने से आगे कहा अङ्गमर्द इत्यादि विकार होते हैं;

५. हृल्लास--लालास्राव (थूँक) अधिक आना; अंग्रेजी--सेलिवेशन। यह स्थिति कभी रात्रि को ही विशेष होती है। विरेचन या अतिसार के पूर्व जैसे अधोवात की प्रवृत्ति प्रभृति लक्षण होते हैं वैसे हृल्लास और उत्क्लेद (उत्क्लेश, वमन की आशङ्का, नॉशिया) वमन के क्रमिक पूर्वरूप होते हैं। आमाशय में क्लेदक कफ की वृद्धि होने पर मलक्षेपणकर्मा वायु प्रकुपित होता है--आमाशय-गत दोष को बाहर निकालने का अपना कर्म अधिक बल से करने लगता है। इसी के सूचक रूप में हृल्लास और उत्क्लेश होते हैं। डह्लन ने उत्क्लेद का भी हृदयोत्क्लेद नाम से 'हृल्लास' शब्द से ग्रहण किया है; कभी-कभी, विशेषतया शिशुओं में हृल्लास ही विशेष लक्षण या रोग होता है। उनमें आमाशय में क्लेदक कफ की वृद्धि की कारणता का अनुमान कर वमन-लङ्घन करा देना उपयुक्त होता है। हृल्लास कभी कृमि-कोष्ठ से भी होता है। उस कारण को भी स्मरण रखना चाहिए। शेष विषादि कारण प्रकरणान्तर में आएँगे। पर्याय-प्रसेक, लालाप्रसेक;

६. अग्निमान्द्य या मन्दाग्नि अथवा अग्निनाश–क्लेदककफ से अग्निस्थान –पाचक पित्तवह स्रोतों के मुख--आवृत होने से अग्नि दुर्बल होना; डिस्पेप्सिआ;

७. अविपाक--या अजीर्ण। यह रसदुष्टिजन्य अग्निमान्द्य का परिणाम होता है। अत्यशन, अध्यशन प्रभृति विषमाशनों के कारण भी हो सकता है। ऊपर जैसे अरुचि आदि के भेद समझे हैं वैसे मन्दाग्नि तथा अजीर्ण का भेद भी समझ लेना चाहिए। मन्दाग्नि में केवल अग्नि के बल की सूचना है। पुरुष इस विकार की विद्यमानता में भोजन न करे या अग्निबल आदि को ध्यान में रखकर करे तो अजीर्ण की बात ही खड़ी नहीं होती। उधर, अग्नि मन्द न हो तो भी अत्यशन, अध्यशन आदि कारणों से अजीर्ण हो सकता है। इस में भोजन पचकर जिस रूप में परिणत होना चाहिए उस रसरूप को प्राप्त होता नहीं, किन्तु दोष-भेद से विभिन्न रूपों को प्राप्त होता तथा तदनुसार विविध नाम धारण करता है। अन्नद्वेष, अरुचि आदि हों तो सामान्यतया अग्नि मन्द ही होती है, परन्तु दोनों का समकाल (एक साथ) होना कोई निश्चित बात नहीं। यथा अग्नि सम्यक् होते

हुए भी किसी दुर्घटना के श्रवण के कारण अन्नद्वेष हो या किसी बीभत्स वस्तु के दर्शन से अरुचि हो इस अवस्था में अन्नपान का सेवन करना ही पड़े तो अग्नि बलवान् होने से अजीर्ण-लक्षण विशेष प्रमाण में उत्पन्न हुए विना अन्नपान का परिपाक सम्यक् हो भी जाता है। इन सब भेदों का पार्थक्य समझ रखना चाहिए ;

८. तृप्ति या सौहित्य--अन्नपान का सेवन न करें तो भी ऐसा भास होना जैसे पेट भर कर खाया हो। ऊपर कही संज्ञाओं से इस तृप्ति को भी भिन्न समझना चाहिए। क्षुधानाश इन सब से भिन्न रोग है। अग्नि मन्द न हो तो भी अप्रिय-समाचार-श्रवण आदि कारणों से क्षुधा नष्ट हो सकती है। क्षुधा (भूख) न लगी हो और खा लिया जाए तो विकार-विशेष उत्पन्न किए विना वह पच भी जाता है ;

९. अङ्गमर्द--शरीर टूटना ; १०--तन्द्रा ; ११--गौरव ; १२--अङ्गसाद--शरीर शिथिल (ढीला-ढाला) प्रतीत होना ; अनुत्साह ;

१३. स्रोतोरोध--मार्गावरोध। अन्नवह, आमाशय, प्राणवह आदि स्रोतों में कफ स्व-रूप में रहता हुआ अवरोध उपस्थित करता है, किंवा अपने मन्द गुण के प्रभाव से स्रोतों में वाह्य द्रव्य की बहिर्मुख की ओर होनेवाली गति को मन्द कर देता है। परिणामतया विशेषतया वायु का क्लेद-संशोषण-कर्म तथा अनुबन्ध रूप में पित्त का उष्ण गुण के प्रभाव से उत्पन्न रूक्षण कर्म अपना प्रभाव दिखाता है। परिणाम यह होता है कि वाह्य द्रव्य न्यूनाधिक घन (मूर्त, कठिन) स्वरूप को प्राप्त हो अपने अनुगामी वाह्य द्रव्य के मार्ग में अन्तराय (अवरोध, आवरण) उत्पन्न करता है। आवरणवश प्रादेशिक वायु प्रकुपित होता है, जिससे शूलादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिनका उल्लेख अनेक वार किया जा चुका है। कफ के समानगुण मेदोधातु का स्थान-संश्रय स्रोतों में हो कर भी अवरोध एवं तज्जन्य परिणाम होते हैं,

१४. हृद्रोग (हृदयरोग)--रस दो प्रकार का होता है--अन्नरस तथा रस धातु। अन्न रस दुष्ट हो तो उसके स्थान आम-पच्यमान-पक्वाशय दूषित होते हैं। परिणामतया संनिकटवर्ती हृदय पर उनका साक्षात् प्रभाव--पीडन-आदि के रूप में होता है। अथवा अन्नरस की दुष्टि में हेतुभूत प्रकुपित दोष प्रसृत होकर भी हृदय और उसके रसवह स्रोतों को दुष्ट कर रोगोत्पत्ति कर सकते हैं। नव्यमत से इस पिछली संप्राप्ति की कथंचित् व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि--उदरगत अवयवों तथा हृदय दोनों में सौम्य और आग्नेय दोनों प्रकार के नाड़ीसंस्थान (क्रमशः पैरासिम्पेथेटिक और सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम) के नाड़ीसूत्र अभिव्याप्त होते हैं। पचन-तन्त्र में किसी भी स्वरूप की विकृति हो

उससे उभयविध नाड़ीसूत्र क्षुभित होते हैं कभी कोई, कभी कोई। ये क्षुभित हुए नाड़ीसूत्र हृदयगत नाड़ीसूत्रों को भी क्षुभित करते हैं, जिससे दोनों प्रकार के नाड़ी-संस्थानों में जिसके सूत्र आक्रान्त हुए हों उसके क्षोभ या प्रकोप (स्टिम्युलेशन) के लक्षण प्रकट होते हैं।

कभी रसधातु भी दोषों से दूषित हो सकती है। उसका स्थान तो स्वयं हृदय होता है। सो स्थानी (स्थानस्थ) रस की दोषकृत दुष्टि का प्रभाव उसके स्थान हृदय पर भी होता है। इस प्रकार रस दो प्रकार का होने से हृद्रोगों की उत्पत्ति भी एक या दोनों रसों की दुष्टि होने से होती है;

१५. पाण्डुरोग--रस दुष्ट होने से उत्तर धातु रक्त की पुष्टि सम्यक् न होने के कारण पाण्डुरोग होता है;

१६. कृशता (कार्श्य, कृशाङ्गता)--अन्नद्वेष, अरुचि, अग्निमान्द्य आदि कारणों से रस का क्षय होने से रक्त के समान इतर धातुओं का भी क्षय होकर प्रकृत्या शरीर कृश होता है। पर्याय--शोष;

१७. क्लैब्य--मैथुनाशक्ति तथा निष्फलत्व; धातुक्षय के अन्तर्गत शुक्रक्षय का यह स्वाभाविक परिणाम है;

१८. अकाल में वलि--वार्धक्य का वय आने के पूर्व ही त्वचा पर झुर्रियाँ (रिंकल्स) पड़ना;

१६. अकाल-पलित--असमय में बाल श्वेत होना--पकना;

२०. ज्वर; २१. तम--तिमिर; आँखों के आगे अन्धेरा छाना, या श्वास;

२२. ग्लानि--हर्षक्षय, शरीर म्लान होना, . . . इत्यादि।

रक्तज (रक्त-प्रदोषज) रोग--

रक्तज रोगों का उल्लेख ऊपर किया ही है। तथापि तन्त्रकारों ने धातुओं की दुष्टि से होनेवाले रोगों के इस प्रकरण में संक्षेप के प्रयोजन से जिन रोगों का उल्लेख किया है, उनका पुनरुल्लेख करते हैं :--

१. कुष्ठ; २. विसर्प; ३. पिडका; ४. मशक (मस्से); ५. नीलिका ६. तिलकालक (तिल, अंग्रेजी--मोल); ७. न्यच्छ (लांछन); ८. व्यङ्ग; ६. इन्द्रलुप्त; १०. विद्रधि; ११. प्लीहा (वृद्धि); १२. (रक्त) गुल्म; १३. (रक्त) अर्श; १४, (रक्त) अर्बुद; १५. पिप्लु; १६. दद्रु; १७. चर्मदल; १८. श्वित्र; १६. पामा; २०. कोठ; २१. रक्तमण्डल (लाल-लाल चकत्ते त्वचा पर पड़ना, आधुनिकों के होमेंजिओमा?); २२. रक्तपित्त; २३. रक्तप्रदर; २४. गुदपाक; २५.

शिश्नपाक; २६. आस्य (मुख) पाक; २७. कामला; २८. वातरक्त; २९. अङ्गमर्द....इत्यादि।

मांसज (मांस-प्रदोषज) रोग—

मांस धातु की दोषकृत दुष्टि होने से अधोलिखित रोग होते हैं। —

१. अधिमांस—मांस पर मांस के अंकुर निकलना जैसे व्रण का रोहण होते हुए धात्वंश कभी त्वचा के पृष्ठ से ऊपर निकल आता है और तब उसका लेखन करना पड़ता है। किंवा[1]—अधिमांस का अर्थ यहाँ दन्तमांसगत रोग-विशेष लिया जा सकता है। व्यवसाय में उपयोगिता तथा आयुर्वेद के सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के प्रयोजन से इसका लक्षण यहाँ बताया जाता है। —

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्छोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः॥

सु० नि० १६।२५

हनु के पश्चिम (अन्तिम) दाँत में, जिसे अंग्रेजी में थर्ड मोलर कहते हैं, जिस ही को बीस-पच्चीस वर्ष की वय के आस-पास उत्पन्न हुआ होने से विस्डम-टूथ भी कहा जाता है, उसमें—उसको वेष्टित करनेवाले दन्त-मांस में[2]—कफ के प्रकोपवश होनेवाला अति वेदनावान् लालास्रावी, तथा अति उत्सेध (स्वेलिंग, सूजन)-युक्त जो शोथ होता है, उसे अधिमांस (या अधिमांसक) कहते हैं।

लक्षण देखने से स्पष्ट है कि प्राचीन शालाक्य-विदों का यह अधिमांस नवीनों का 'विज्डम टूथ' है। प्रायः पुरुषों में यह दन्त संपूर्णतया दन्तमांस का बन्धन छोड़ कर अन्य दन्तों के सदृश पूर्ण अनावृत (खुले) शिखर वाला नहीं हो जाता। साथ ही समय-समय पर तीव्र वेदना से रोगी को विकल करता रहता है। अठारह-बीस वर्ष की वय के पश्चात् आमरण, दन्तशूल की व्यथा लेकर आए रोगी में प्रथम

१—सुश्रुतोक्त मांसदोषज रोगों की गणना में आगे आए मांससंघात के डह्लन ने दो अर्थ किये हैं—सामान्य मांससंघात, किंवा मांसतान-संज्ञक मुखगत रोग-विशेष। उसी रीति से अधिमांस के भी उभय अर्थ लेना संगत प्रतीत होता है।

२—मूल प्रकरण में अधिमांस का पाठ दन्तमांसगत रोगों में आया है। उससे यह रोग दन्त का नहीं, उसे वेष्टित करनेवाले दन्तमांस (मसूड़े, गम) का ही मानना चाहिए। अधि उपसर्ग ऊपर और अधिक (—वृद्धि) का वाचक प्रसिद्ध हैं। सो उसे ध्यान में रख अधिमांस का अर्थ होगा—दन्तमांस की ऊपर की ओर वृद्धि।

कल्पना इस अधिमांस की करनी ही चाहिए। परीक्षा की पूर्णता के लिए रोगी का मुख खुलवाना चाहिए।

अधिमांस का लक्षणभूत यह शोथ आयुर्वेद-मत से कफ के प्रकोप से होता है। सो, इसका बुद्धिगम्य और आयुर्वेदीय शालाक्यतन्त्र-विदों का स्वानुभूत उपचार लङ्घन द्वारा कफ का शमन, वमन द्वारा कफ का शोधन और कोष्ण लवण-जल के गण्डूष द्वारा कफ का लेखन ही है। यह उपचार मूलगामी होने से त्वरित गुणकारी होता है। इसका अवलम्बन किया जाए साथ ही केला, दूध आदि अभिष्यन्दी अन्नपानों के त्याग के रूप में निदान-परिवर्जन कराया जाए तो अधिमांस की व्यथा के पुनरुद्भव का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

चिकित्सा-व्यवसाय में इस व्यथा से पीड़ित रोगी प्रायः आते हैं। उसमें नवीन तन्त्र विशेष गुणावह न होने से तथा आयुर्वेदीय उल्लिखित उपचार सर्वथा उपयुक्त होने के कारण यहाँ उसकी दिशा दिखा दी है।

अथवा--त्वचा, गल, तालु, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षिवर्त्म (पलक), शिश्न, योनि, नाभि--इन अवयवों में जो अर्श होते हैं उन्हें भी स्पष्ट ज्ञान के लिए गुदवलियों में होनेवाले प्रसिद्ध अर्श से पृथक् अधिमांस यह संज्ञा तन्त्रकारों ने दी है।

अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः। च० चि० १४।५

×× गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्॥

च० चि० १४।६

२. मांसार्बुद--अंग्रेजी पर्याय--मायोमा ;

३. अर्श--चरक में इस प्रकरण में इसे कील कहा है। आयुर्वेद में अर्शों को मांसांकुर ही कहते हैं। यहाँ और भी स्पष्ट पदों में दोनों तन्त्रकारों ने इसकी गणना मांसदोषज रोगों में कर दी है। प्राचीनों ने अर्शों को सिरांकुर न कहकर मांसांकुर क्यों कहा, इसकी स्पष्टता पहले की जा चुकी है। यहाँ पुनः कह दूँ कि, दोषों के कारण सिराओं के मांसमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) की दुष्टि और तज्जन्य नैर्बल्य के कारण ही यत्किंचित् भी दबाव आने पर सिराएँ फूल जाती हैं। इतर उपचारों के साथ मांसधातु को दोषरहित तथा सबल बनाना अर्शों में कर्त्तव्य है, यह यहाँ पुनः स्मरण कर लेना चाहिए ;

४. अधिजिह्वा (अधिजिह्विका) ; ५. उपजिह्वा (उपजिह्विका) ; ६. उपकुश--रक्त-प्रकोपज रोगों के अधिकार में इन तीन रोगों का विचार कर आए हैं ;

७. गलशुण्डी (गलशुण्डिका, कण्ठशुण्डी)--गल (फेरिंक्स)[1] में प्रकृत्या

१--गल संज्ञा के अर्थ-निर्णय के लिए देखिए--आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

एक शुण्डाकृति अवयव लटकता है। इसे गलशुण्डी (यूव्युला) कहते हैं। इसकी वृद्धि को भी यही नाम दिया गया है। अंग्रेजी में इससे बढ़कर लटकने को एन्लार्ज्ड यूव्युला तथा पाक को यूव्युलाइटिस कहते हैं। बढ़कर लम्बी हो गयी गलशुण्डी, रोगी सोया या लेटा होता है उस काल, गल के पिछले भाग के सम्पर्क में आती और क्षोभ उत्पन्न करती है। परिणामतया, कास के वेग उत्पन्न करती है। सो कास के रोगी में प्रश्न-परीक्षा द्वारा (कास के वेग लेटने पर आते हैं क्या? यह प्रश्न करके) इस रोग को स्मरण कर लेना चाहिए। स्मरण रहे, रात को सोते समय होनेवाले कास के वेग इनसे कुछ अंश में भिन्न हैं। वे रात्रि की निश्चेष्टता तथा वातावरण की सौम्यता से कफ का प्रकोप होने के किंवा आम-पच्यमानाशय उदरवातपूर्ण हों तो प्राणवह स्रोत पर उनका पीड़न होने के, संक्षेप में क्रमशः कफज और वातज कास के सूचक हैं। उपचार तीनों में पृथक् होता है;

८. गलशालूक (कण्ठशालूक)--गल (गले) में अन्दर मांस के अंकुरों से व्याप्त बड़े बेर के गुठली-जितनी, खर, देखाव में छोटे-छोटे काँटों से वेष्टित, अतएव शालूक (कमल के कन्द) के तुल्य स्वरूपवाली, कफप्रकोप से होनेवाली, स्थिर, घुर्घुर ध्वनियुक्त तथा उच्छ्वास में अवरोध उत्पन्न करनेवाली और केवल शस्त्रोपचार-साध्य ग्रन्थि को गलशालूक या केवल शालूक कहते हैं (सु० नि० १६।५१, च० चि० १२।७५); कदाचित् नवीनों का 'हर्पेटिक टॉन्सिलाइटिस';

९. अलजी; १०. गण्डमाला--हन्वस्थि की संधि, मन्या, कक्षा, कूर्परसंधि आदि स्थलों पर होनेवाली ग्रन्थियों की अपची और अलजी संज्ञाएँ हैं। अपक्व का नाम अलजी और पक्व को अपची कहते हैं। यही ग्रन्थियाँ गले में धारण की जानेवाली माला के स्थान पर--हन्वस्थि के नीचे, तथा छाती पर--हों तो माला के सादृश्य से उन्हें गण्डमाला (प्रचलित नाम कण्ठमाला) कहते हैं[1]। नव्य मत से ये प्रायः यक्ष्मा के जीवाणुओं के आक्रमणवश हुई रसग्रन्थियों की वृद्धियाँ हैं। कदाचित् संनिकर्ष के कारण इन्हीं से रोग फुफ्फुसों के शिखर में संक्रान्त हो जाता है, ऐसा एकीय मत है। अंग्रेजी संज्ञा--स्क्रॉफ्यूला;

११. गण्ड--बड़े-बड़े फोड़े (गुजराती गुमड़े, अंग्रेजी बॉयल्स) या गण्ड-माला के सांनिध्य से गलगण्ड (पाश्चात्यों का गॉयटर);

१२. पूतिमांस--मांस में कोथ (सड़ांद) और दौर्गन्ध्य होकर उसका पात (गल कर गिर जाना);

१--देखिए--सु० नि० ११।१०-१२ पर गयदास तथा डल्हन की टीकाएँ और इसी ग्रन्थ में आगे इन रोगों के प्रकरण।

१३. मांससंघात--मांस की प्रादेशिक वृद्धि (उत्सेध) ; किंवा इसी नाम का तालुगत-रोग-विशेष। इसमें तालु के अन्तर्गत मांस कफ से दुष्ट होकर उसका जो वेदनारहित संघात बनता है, उसे मांससंघात कहते हैं। (देखिए सु० नि० १६।४४)। सुश्रुतोक्त मांस-प्रदोषज रोगों की टीका में डह्लन ने इस शब्द से मांसतान नामक रोग निर्दिष्ट माना है। तीनों दोषों का प्रकोप होकर क्रमशः गल का अवरोध करनेवाला, लटकता हुआ, विस्तारवान्, अति कष्टप्रद तथा अन्त में प्राणहारी जो शोथ होता है उसे मांसतान कहते हैं (देखिए--सु० नि० १६।६२) ;

१४. ओष्ठ-प्रकोप--ओष्ठरोग ; पृथक् तथा संनिपतित दोषों, रक्त, मांस, मेद और अभिघात (आघात) इन कारणों से हुए कुल आठ ओष्ठ-रोगों को ओष्ठ-प्रकोप नाम दिया गया है। (इस संज्ञा, इसके भेदों तथा लक्षणों के लिए देखिए सु० नि० १६।४-१२) ;

इन निर्दिष्ट रोगों के सिवाय अन्य रोग--ये मांस-प्रदोषज रोग हैं।

मेदोज (मेदोदोषज-मेदःसंश्रय) रोग--

मेदोधातु में दोषों का स्थानसंश्रय होने पर स्थान-प्रभाव से नीचे लिखे रोग-विशेष होते हैं। --

चरक कहता है कि, प्रमेह के पूर्वरूप तथा 'अष्टौनिन्दितीय' अध्याय[1] में कहे मेदस्विता (अति स्थौल्य) के दुष्ट लक्षण मेदोधातु की दुष्टि से होते हैं। उनका उल्लेख पीछे करेंगे। प्रथम सुश्रुत के स्पष्ट शब्दों में दिये रोगों का निर्देश करते हैं। --

१. मेदोग्रन्थि--सु० नि० १।२६ में मेदोगत वात के लक्षणों में ग्रन्थियों की गणना है। वही ये ग्रन्थियाँ होनी चाहिए। उनका लक्षण बताते कहा है कि--मेदोगत वात से हुई ग्रन्थियाँ मन्द वेदना वाली तथा व्रण-भाव को प्राप्त न होनेवाली होती हैं। सु० नि० ११।३ तथा ७ और इनकी डह्लन तथा गयदास की टीकाओं में मेदोग्रन्थि के लक्षण सविस्तर बताए गये हैं। उन्हें यहाँ स्मरण करना चाहिए। उस अध्याय में वर्णित षड्विध ग्रन्थियों में मेद की दुष्टि से हुई मेदोग्रन्थि यहाँ गृहीत है। कदाचित् ये मेदोग्रन्थियाँ आधुनिकों की रस-ग्रन्थियों (लिम्फ-ग्लैंड्स) की उस वृद्धि का नाम है जो दारुण (घातक, फेटल)

१--च० सू० २१ अध्याय में अतिस्थूल-अतिकृश, अतिदीर्घ (बहुत ऊँचा) -अतिह्रस्व, अतिकृष्ण--अतिगौर, अतिलोमा-अलोमा इन आठ को निन्दित कहकर उनमें भी अतिनिन्दित अति स्थूल-अतिकृश के निदानादि का निरूपण किया है। इस अध्याय को अष्टौनिन्दितीय अध्याय नाम दिया है।

नहीं होती। इसे मृदु (बिनाइन) कहते हैं। रसग्रन्थियों की दारुण वृद्धि कदाचित् आयुर्वेदोक्त कफज ग्रन्थि-विसर्प है। इसे अंग्रेजी में हॉजकिन्स डिसीज़ लिम्फेडीनोमा या स्यूडोल्युकीमिआ कहते हैं। नवीनों का लाइपोमा अर्बुद नाम से आगे निर्दिष्ट है ;

२. मेदोज वृद्धि--एक या दोनों फलकोशों (अण्डकोशों, सुष्कों) में--उनके प्रमाण में--दोष, मूत्र या अन्त्र किसी के संसर्ग से हुई वृद्धि की वृद्धि यह विशेष संज्ञा है। इनमें मूत्रवृद्धि फलकोश में अब्धातु (जल) के संचय से हुई वृद्धि का नाम है। इसके लिये अंग्रेजी का हाइड्रोसील शब्द प्रचलित है। वृद्धि के अनेक प्रकारों में यहाँ प्रकरण-वश मेदोज वृद्धि का ग्रहण है। यह कदाचित् नवीनों की श्लीपद-सदृश फलकोश की त्वचा की स्थूलता का नाम है ;

३. गलगण्ड--नवीनों द्वारा दर्शित चुल्लिका-ग्रन्थि (थायरॉयड) की वृद्धि ; गॉयटर ;

४. मेदोऽर्बुद--अर्बुदों के नाना भेद हैं, उनमें प्रकरणवश मेद के संचय से हुए अर्बुद का यहाँ ग्रहण है। अंग्रेजी नाम--लायपोमा ;

५. मेदोज ओष्ठ-प्रकोप--वातादि दोष-दूष्य तथा अभिघात भेद से आठ प्रकार के ओष्ठ रोग होते हैं[१]। इन्हें ओष्ठ प्रकोप भी कहते हैं। इन में मेदोज यहाँ गृहीत है ;

६. मधुमेह--वातज मधुर प्रमेह को चरक ने मधुमेह नाम दिया है तथा सुश्रुत ने क्षौद्रमेह। क्षौद्र और मधु पर्याय हैं। सुश्रुत ने मधुमेह संज्ञा स्वीकारी है, पर अन्य अर्थ में। प्रमेहमात्र प्रतीकार न होने पर या मिथ्या प्रतिकार हो उस स्थिति में मधुर प्रमेह के रूप में परिणत एवं शरीर पिडकाक्रान्त हो जाता है तथा अन्य लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इस स्थिति को मधुमेह नाम सुश्रुत ने दिया है[२]। मेदोज रोगों का यह प्रकरण सुश्रुत-मत से दिया जा रहा है, सो यहाँ मधुमेह शब्द व्यापक अर्थ में ही लेना चाहिए ;

७. अति स्थौल्य--अति मेदस्विता ;

८. अति स्वेद-- इत्यादि।

प्रमेहों के पूर्वरूपों को ऊपर मेदोदोषज कहा है। प्रकरण-पूर्ति के लिए इनका निर्देश करते हैं[३]।

१--देखिए--सु० नि० १६।४-१२ तथा इन पर टीका-द्वय।

२--देखिए--सु० नि० ६।२४-२७ ; सु० चि० १२।६ तथा इन पर डल्हन और गयदास की टीकाएँ।

३--देखिए--च० नि० ४।४७ ; सु० नि० ६।५ तथा टीकाएँ ; अ० हृ० नि० १०।३८-३९ ; माधवनिदान तथा मधुकोश।

१. केशों की जटिलता--प्रमेहों में कफ, मेद और स्वेद प्रधान दोष-दूष्य होते हैं। इनके पैच्छिल्य के कारण[1] केश भी पिच्छिल होकर परस्पर व्यामिश्र हो जाते हैं--एक दूसरे से उलझ जाते हैं। रोग का प्रभाव (स्वभाव) भी केशों की जटिलता आदि में कारण माना जाता है। बाहर की धूलि भी इन पिच्छिल केशों में स्वाभाविक ही सविशेष संसक्त होती है। इससे उनकी जटिलता में और वृद्धि होती है। कंघी से बाल सँवारते समय इस जटिलता का अनुभव होता है ;

२. केशों की अतिवृद्धि--प्रमेहों में शरीर में मलांश की वृद्धि बहुत होती है। सो मलभूत केशों की वृद्धि भी स्वभावतः होती है। स्वस्थ पुरुषों की अपेक्षया, किंवा अपनी ही स्वस्थ अवस्था की तुलना में पुरुष को दाढ़ी जल्दी करनी पड़ती है तथा केश शीघ्र कटाने पड़ते हैं। इन दशाओं से केशों और नखों की अति वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है ;

३. नखों की अतिवृद्धि--इसके भी कारण केशों की अतिवृद्धि के समान ही हैं। स्मरण रहे, अग्नियों की मन्दता आदि हेतुओं से केशों और नखों की अतिवृद्धि ये लक्षण राजयक्ष्मा के भी पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) होते हैं। नखों की अति वृद्धि भी अन्य पुरुषों की अपेक्षया अथवा अपनी ही स्वस्थ अवस्था की तुलना में नख अधिक शीघ्र काटने पड़ने से सूचित होती है ;

४. मुखमाधुर्य--मुख का रस मधुर होना। दोष-दूष्य प्रायः मधुर-रस होने से मुख में माधुर्य प्रतीत होता है ;

५. हस्तपादतल-दाह--हथेली तथा तलुओं में दाह (जलन)। नव्य मत से मधुमेह में कार्बोहाइड्रेटों का दहन अपूर्ण रह जाने से, उनके दहन की पूर्णता पर जिनका दहन अवलम्बित है उन स्नेहों का भी दहन यथावत् नहीं होता। परिणामतया, उनके अपूर्ण पाकवश आम या अर्धपक्व द्रव्य--एसीटोन आदि उत्पन्न हो शरीर में प्रसृत होते हैं। इनके अम्ल--पित्तवर्गीय--होने से हस्तपादतलादि में दाह की अनुभूति होती है ;

६. हस्तपादसुप्तता--एक या दोनों हाथों और पैरों में सुप्ति--स्पर्शनाश या झणझणी--होना ;

७. मुखतालुकण्ठशोष--प्रमेहों में प्रधान दोष बहुद्रव श्लेष्मा बताया गया है[2]। इन रोगों में जो प्रकुपित दोष-दूष्य मूत्रमार्ग से निकलते हैं वे द्रवरूप हों

१--देखिए--केशों की जटिलता तथा वृद्धि और नखों की वृद्धि की विशदता के लिए टीकाएँ।

२--बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः —च० नि० ४।६।

तभी मूत्रमार्ग से उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। अतः इनका प्रवर्तक वायु श्लेष्मा को भी बहुद्रव (अति द्रवगुणयुक्त) बना देता है। इसीसे प्रमेह-मात्र में आविलता--मलिनता, उनके प्राकृत रासायनिक स्वरूप में रूपान्तर--तो होती है, साथ ही क्लेद् या द्रव धातु की भी अति प्रवृत्ति होने से प्रभूतता (मूत्र के वेगों तथा प्रमाण में आधिक्य) भी होकर ये दो प्रमुख लक्षण होते हैं।

तत्राविलप्रभूतलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति

सु० नि० ६।६

मूत्र की इस प्रभूतता के कारण शरीरगत अब्धातु का क्षय (उदक-क्षय, डीहाइड्रेशन) होने से मुखादि में शोष, पिपासा प्रभृति लक्षण होते हैं। नवीनों ने केवल मधुमेह के प्रकरण में अतिद्रव-प्रवृत्ति (डायबिटीज़ इनसिपिडस) का अनुबन्ध बताया है। प्राचीनों ने प्रमेहमात्र में मूत्र में द्रवाधिक्य की लक्षणतया गणनो की है।

८. पिपासा--अति तृषा। इसका विचार ऊपर किया है;

९. आलस्य; १०. अहर्निश तन्द्रा; ११. अङ्गसाद--अङ्गों में शैथिल्य; १२. शरीरावयवों में स्निग्धता, पिच्छिलता, चिक्कणता तथा गुरुता--प्रमेहारम्भक दोष-दूष्य प्रायः स्निग्धादि गुणयुक्त होने से शरीरावयवों में स्निग्धता, पिच्छिलता तथा गुरुता करते हैं। पिच्छिलता का केशों पर प्रभाव ऊपर दर्शाया है। त्वचा पर स्निग्धता होने से स्नानोदक शरीर पर टिकता नहीं तथा ऐसा प्रतीत होता है जैसे अभ्यङ्ग किये शरीर पर जल डाला गया हो। गुरुगुणयुक्त दोष-दूष्यों के संचय के कारण शरीर में गौरव और उसके कारण सर्वदा तन्द्रा, अङ्गसाद और आलस्य शरीर एवं मन को अभिव्याप्त किये रहते हैं;

१३. शरीर में मलों का संचय; १४. शरीर के मलद्वारों में मलाधिक्य (उपदेह; मलाढ्यत्व)--आँख, नाक, कान, शिश्न, चर्म आदि में तत्-तत् मल अधिक होना; अतएव इन स्थलों पर कण्डू तथा त्वग्रोग होना;

१५. शरीरावयवों में दाह तथा सुप्तता;

१६. शरीर (त्वचा) और मूत्र पर पिपीलिकाओं (चिऊँटियों) तथा भ्रमरों (मक्खियों) का अभिसरण--शरीर तथा मूत्र में माधुर्य आदि प्रिय गुण होने से इन प्राणियों का उनके उपभोगार्थ आकर बैठना;

१७. शरीर में आम गन्ध--कच्चे द्रव्यों में सड़ांद होने से जो मछलियों की-सी दुर्गन्ध आती है, उसे आम या विस्र-गन्ध कहते हैं। दुर्गन्धयुक्त प्रस्वेद जिन्हें आता हो उनके केश तथा वस्त्र धुले न हों तो उनमें जो उग्र दुर्गन्ध पाई जाती

है उसे विस्र-गन्ध कहते हैं। प्रमेहारम्भक दोष-दूष्य कोथ-स्वभावी होने से उनमें दुर्गन्ध गुण उदित होकर प्रमेह के पूर्वरूप में शरीर (त्वचा), मल, मूत्र, वस्त्र प्रभृति में दुर्गन्ध का आविर्भाव होता है;

१८. तालु गल, जिह्वा, नेत्र, कर्ण, हृदय (छाती), प्राणवह स्रोतों और दंतों पर अतिशय मलोत्पत्ति; इस लक्षण से स्पष्ट है कि जिन स्त्री-पुरुषों के दन्तादि में मल, दुर्गन्ध आदि चिह्न पाये जाएँ उनमें नव्यमताभिभूत हो केवल मुख के स्वस्थवृत्त (ओरल हाईजीन) पर लक्ष्य न दे शरीरगत दोषों के निवारण के प्रति भी ध्यान देना चाहिए। सं० १४ में कहे पूर्वरूप का यहाँ विवरणमात्र है;

१९. मू. में मधुरता, शुक्लता तथा अन्य दोषों (विकृतियों) का दृष्टिगोचर होना;

२०. श्वास--क्षुद्र श्वास यहाँ अभिप्रेत है। अति मेदस्विता आदि के कारण रोगी को न्यूनाधिक श्रम से हाँफ चढ़ जाती है। इसे क्षुद्रश्वास कहते हैं। अंग्रेजी--शॉर्ट ब्रेथ;

२१. अतिस्वेद--शरीर में क्लेद का आधिक्य होने से स्वेद की अति प्रवृत्ति;

२२. शयन (लेट रहना), आसन (बैठ रहना) और स्वप्न (निद्रा) के रूप में सुख की इच्छा--निष्क्रियता के प्रति अभिरुचि। तन्द्रा, निद्रा आदि पूर्वरूपों की ही यह व्याख्या है;

२३. शरीर की स्थूलता--शरीर में गुरुता की ही यह विवृति है;

२४. शीतप्रियत्व--शीतल जल, स्थान आदि की अभिलाषा। दाह, पिपासा, शोष आदि के कारण यह पूर्वरूप होता है।

मेदोज (मेदःसंश्रय) रोगों में अष्टौनिन्दितीयाध्यायोक्त मेदस्विता के दोषों की भी गणना चरक ने की है। सो, प्रकरण की पूर्त्ति के लिए उनका भी नामतः निर्देश यहाँ किया जाता है।

मेदस्विता (अतिस्थौल्य)[1] के दोष--

१. आयुर्ह्रास--आयु अल्प होना। अति मेदस्वी पुरुष में मेद का ही उपचय (पुष्टि) होता है, रसादि अन्य धातुओं की पुष्टि वैसी नहीं होती। अतः उसकी आयु का ह्रास होता है;

२. जरोपरोध--जरा (वृद्धावस्था) शीघ्र आविर्भूत होकर उसके कारण जीवन में विघ्न उपस्थित होना। मेद के शिथिल, सुकुमार और गुरु होने से

१--देखिए--च० सू० २१।४-१०।

जरावस्था के लक्षण शीघ्र प्रकट होते हैं। शिथिलता का अर्थ यह है कि मेद के शैथिल्यवश मेदस्वी पुरुष के स्फिक् (नितम्ब, चूतड़), उदर, स्तन (छाती) आदि ढीले, लटकते और चल (हिलते) होते हैं।

जवोपरोध--यहाँ 'जवोपरोध' यह पाठान्तर है। उसका अर्थ है, किसी भी कार्य में गति न्यून होना;

३. कृच्छ्रव्यवायता--व्यवाय (मैथुन) में कष्ट होना; अनेक कारणों से उभय पक्ष को सन्तोष न होना। इतर धातुओं के समान शुक्र का भी प्रमाण स्वल्प होने से तथा उसका मार्ग मेदो धातु से आवृत होने से यह विक्रिया होती है। शुक्र का मार्ग मेद से आवृत होने का अर्थ यह है कि शुक्र का प्रादुर्भाव करनेवाले स्रोत (वृषण-ग्रन्थियों में स्थित सेमीनिफेरस ट्युब्यूल्स) पर मेद का पीड़न होने से स्रोतों की शुक्रोत्पादन की क्रिया सम्पूर्ण भाव से नहीं होती। अति मेद के कारण व्यवाय की क्रिया दुष्कर होती है। इस क्रिया के लिए भी मार्ग शब्द का व्यवहार किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है;[1]

४. दौर्बल्य--धातुओं के विषम होने से उनमें, परिणामतया शरीर में दौर्बल्य (जेनरल डेबिलिटी, अशक्ति) तथा कर्म में अनुत्साह होता है। धातुओं का बल एवं उत्साह उनके सम प्रमाण पर ही आश्रित होता है। वे क्षीण हों तो उनका बल भी अल्प ही होता है;

५. दौर्गन्ध्य--मेद दुष्ट (दोषाक्रान्त) होने से दुर्गन्धयुक्त होता है, स्वभाव से भी वह आमगन्धि होता है। इन दो कारणों से तथा मेदस्वी पुरुष में स्वेदाधिक्य भी होने से और इस स्वेद में भी अनुभवसिद्ध दुर्गन्ध गुण होने के कारण--इस प्रकार सब मिलाकर तीन कारणों से मेदस्वी पुरुष में दौर्गन्ध्य होता है;

६. स्वेदाबाध (स्वेद की कष्टप्रदता)--मेद के साथ समान-गुण श्लेष्मा का संसर्ग होने से, मेद के स्यन्दनशील (द्रव-स्वभाव) होने से, मेद और श्लेष्मा दोनों के आधिक्यवश, शरीर की गुरुता के कारण तथा मेदस्वी पुरुष परिश्रमासहिष्णु होने से स्वेदाबाध नाम स्वेद की कष्टप्रदता होती है। तात्पर्य यह है कि श्लेष्मा द्रवगुण होने से तथा उसका भी मेदस्वी पुरुष में अनुबन्ध होने से द्रव धातु स्वेद की वृद्धि होती है। स्वेद मेद का ही मल होने से मेद का आधिक्य (बहुत्व) होने से मलभूत स्वेद भी स्वभावतः अधिक बनता है। शरीर गुरु और परिश्रमासहिष्णु होने से यत्किंचित् भी परिश्रम करने से उक्त कारणों से स्वेद हो आता है और बड़ा कष्ट उपजाता है;

१—वायु के प्रकोप के दो कारणों में एक उसके मार्ग का आवरण है। वहाँ मार्ग का अर्थ प्रायः क्रिया ही होता है।

७. अतिक्षुधा, ८. अतिपिपासा--तन्त्रकार ने इन दो विकारों का कारण यह बताया है। मेदस्वी पुरुष की प्रथम तो अग्नि ही तीक्ष्ण होती है, इससे उसकी क्षुधा और पिपासा तीक्ष्ण होती है। दूसरे, वायु का बाह्यमार्ग मेद से आवृत होने से वह कोष्ठ में ही घिर जाता है। परिणामतया, कोष्ठ में उसकी प्राकृत क्रिया वृद्धि को प्राप्त होती है--वह कोष्ठ में ही संचार करता हुआ अग्नि को प्रदीप्त कर देता है और उसे शोषित भी कर देता है। इस कारण आहार शीघ्र जीर्ण हो जाता है और पुरुष को अन्नपान की अति इच्छा होती है।

मेदस्वी पुरुष में क्षुधा-पिपासा के अति योग का बुद्धिगम्य कारण यह प्रतीत होता है कि तत्तत् कारण से मेदस्वी पुरुष में मेद की अति वृद्धि होती है--शेष धातुओं की पुष्टि नहीं हो पाती। परन्तु उनको अपने पोषण के लिए अन्नपान की आवश्यकता तो रहती है। सो यह आवश्यकता क्षुधा-पिपासा के आधिक्य के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार स्थूल पुरुष में ये आयुर्ह्रास आदि आठ निन्दित लक्षण (दोष) होते हैं।

अस्थिज (अस्थिदोषज) रोग--

१. अध्यस्थि--अधिक अस्थि होना। कदाचित् इसका अर्थ किसी अस्थि के एक देश की अधिक वृद्धि होना है। कभी अर्बुद भी होता है;

२. अधिदन्त--एकाध दन्त अधिक होना। आयुर्वेद-मत से दन्त और नख अस्थि के ही उपधातु और मल होने से अस्थियों के दोषदूषित होने में इन दोनों का भी दोषाक्रान्त होना परिगणित है;

३. अस्थितोद--अस्थि में सुई चुभने की-सी वेदना। अस्थिगत वात में आचार्य ने यह लक्षण विशेष दिया है। इस विकार में वायु का प्रकोप अस्थिधातु में होने के कारण उसके धात्वंश का क्षय होकर वायु के गुण सौषिर्य (छिद्रयुक्तता), लघुता आदि प्रव्यक्त होते हैं। सौषिर्य में तारतम्य-भेद से रोग में स्वरूप-भेद होता है। कभी अस्थि धातु के संघात में घनत्व अल्प हो जाता है। अंग्रेजी में इसे रेअरीफेक्शन कहते हैं। रञ्जन किरणों (एक्स-रे) से देखने से आसपास की स्वस्थ अस्थि और शुषिर अस्थि का स्वरूप-भेद स्पष्ट दिखाई देता है। विकार अधिक बढ़ जाए तो घनत्व का ह्रास अधिक हो जाता है। इसे नेक्रोसिस कहते हैं। रोग की और भी वृद्धि होने पर स्पष्ट कोटर पड़ जाते हैं। इनके कारण अस्थि में भंगुरता आ जाती है। आयुर्वेद-मत से वात की इस कारणता को लक्ष्य में रख वातक्षयकारी घृतों तथा रसों का सेवन कराना चाहिए। यह क्षीणता यक्ष्मा के जीवाणुओं से और कभी उनके बिना भी होती है;

४. अस्थिशूल--अस्थि में तीव्र वेदना। नव्य प्रत्यक्षानुसार अस्थि में विकार होने से कभी अस्थि-धरा-कला (पेरीऑस्टिअम) दोषाक्रान्त होने से तथा कदाचित् अस्थि-विवरान्तर्गत मज्जा धातु रुग्ण होने से भी अस्थियों में शूल होता है।

५. अस्थिभेद--अस्थियों में उल्लिखित कारणों से भेदनाकार (वे टूट रही हों ऐसी) वेदना, किंवा उक्त कारणों से ही उनका अल्पमात्र कारण से टूट जाने का स्वभाव। बार-बार और। अथवा स्वल्प कारण से अस्थिभङ्ग का इतिहास हो तो अस्थिदोष की (अस्थियों की क्षीणता की) कल्पना प्रथम करनी चाहिए ;

६. कुनख--निदानस्थान अध्याय १३ में सुश्रुत ने क्षुद्ररोग नाम से रोगों का एक वर्ग दिया है। इस वर्ग में कुनख भी एक है। पित्त और वात प्रकुपित हो, नख के मांस में (नख जिस पर स्थित रहता है, उस मृदु धातु में--नख के 'बेड' में)--नख और चर्म के अन्तराल में स्थानसंश्रय कर, पाक, शोथ, दाह और वेदना उत्पन्न करें तो इस रोग को चिप्प, अक्षत या उपनख (अंग्रेजी में ह्विटलो) कहते हैं। इसमें रक्त और मांस दूषित होते हैं। पाक अतिशीघ्र होता है। तन्त्रान्तर में इसीको अंगुलीवेष्टक (गुजराती अपभ्रंश--आंगल-पेडा) भी कहा है[1]। चिप्प रोग में हो दोषों का प्रकोप स्वल्प हो, अभिघात के कारण नख दूषित हो रूक्ष, खर, परुष तथा स्वाभाविक श्वेत वर्ण से भिन्न वर्ण का हो जाए तो इसे कुनख या कुलीन कहा जाता है ;

७. केश, लोम, श्मश्रु और नखों की दुष्टि से होनेवाले विविध रोग--शिर के बालों को केश, मुख के बालों को श्मश्रु तथा त्वचा के शेष स्थानों के बालों को लोम या रोम कहते हैं। केश, श्मश्रु, रोम तथा नख अस्थि के मल माने गए हैं। सो अस्थि दोषाक्रान्त होने से उनके मलों के भी इन्द्रलुप्त (बाल गिर जाना) आदि विकार होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी अस्थिदोषज रोग होते हैं।

मज्जज (मज्जदोषज) रोग---

मज्जा के दोषाक्रान्त होने से अधोलिखित रोग होते हैं। -

१. तमोदर्शन--आँखों के आगे अन्धेरी छा जाना ;

२. मूर्च्छा--चैतन्य का नाश ;

३. भ्रम--चक्कर, अंग्रेजी में गिडीनेस, डिजीनेस, वर्टिगो ;

१---इन लक्षणों के लिए देखिए---सु० नि० १३।२१-२३, इन पर **डल्हन** तथा **गयदास** की टीकाएँ ; च० चि० १२।८८ ; **माधव निदान**, क्षुद्ररोगाधिकार तथा मधुकोष-टीका।

४. पर्वों (अस्थि-संधियों) पर विशाल मूलवाले व्रण होना। शिवदास सेन ने विशाल मूल का अर्थ किया है गहरे विस्तारवाले;

५. पर्वों में वेदना;

६. पर्वों में गौरव--मज्जा दूषित होने से--विशेषतया उसमें विद्रधि होने से, अस्थियों पर भी प्रभाव होकर पर्वगत ये लक्षण होते हैं। चरक ने लिखा है कि मज्जवाही स्रोतों (मज्जा को पोषक रस-रक्त पहुँचानेवाली केशिकाएँ) आघातादि से दूषित होने से मज्जदोषज रोग होते हैं। यही स्रोत नव्य प्रत्यक्षानुसार अस्थियों में भी रस-रक्त पहुँचाते हैं। सो इन स्रोतों के आघातादिवश शोथयुक्त होने के कारण जैसे मज्जा का पोषण रुक जाता है, वैसे अस्थियों को भी पोषण मिलना बन्द हो जाता है। परिणामतया, वे प्रणष्ट (मृत) हो जाती हैं। अस्थियों के जितने अंश का पोषण रुकता है उतना ही भाग मृत होकर शेष अस्थि से वियुक्त हो जाता है। शल्य तुल्य होने से यह मांस और त्वचा में व्रण उत्पन्न करता है। इसका मुख ऊपर छोटा तथा अन्दर अस्थिखण्ड के आकार के अनुसार स्थूल होता है। इसी स्थिति का यहाँ निर्देश है। इस रोग को प्राचीनों ने मज्जविद्रधि तथा नवीनों ने 'ऑस्टिओमायलाइटिस' कहा है।

७. नेत्राभिष्यन्द--आँख आना। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई रोग मज्जा के दूषित होने से होते हैं।

शुक्रज (शुक्रप्रदोषज) रोग--

शुक्र के दोषदूषित होने से नीचे लिखे विकार होते हैं:--

१. क्लैब्य--ध्वजोत्थान (शिश्न की दृढ़ता) न होना या होने पर भी व्यवाय में शक्ति न होना; षण्ढता। भ्रमवश इस विकार के लिए ध्वजभङ्ग शब्द लोक में प्रचलित हो गया है। सत्य यह है कि, सुश्रुत ने जिसे उपदंश कहा है तथा जिसे 'सॉफ्ट शैंकर' 'एलोपैथी में कहते हैं उसी को चरक ने ध्वजभङ्ग कहा है;

२. अप्रहर्ष--स्त्रियों के प्रति आकर्षण न होना;

३. शुक्रमेह--दिवस में या रात्रि में स्वप्न में शुक्रपात; अथवा प्रमेह-विशेष;

४. शुक्राश्मरी--शुक्र बँधकर उससे मार्ग रुद्ध होना;

५. शुक्रदोष--दोषों से शुक्र आक्रान्त होकर तत्तत् रोग होना। सु० शा० २।३-४ में तथा च० चि० ३०।१३३-१४५ में इनके लक्षण तथा आगे चिकित्सा कही है। शुक्रावृत वात, शुक्रगत वात आदि शीर्षकों से भी शुक्र-दोषों का उल्लेख हुआ है। इनका विचार प्रकरणानुसार किया जाएगा। कुछ निर्देश अगली संख्या में हुआ है;

६. विविध गर्भ विकार--गर्भ स्थिति न होना, यदि हो तो उसका पात या स्राव होना; या पूर्ण मासिक प्रसव हो तो शिशु रोगी, क्लीब, अल्पायु किंवा विरूप (विकृत आकृतिवाला, मॉन्स्टर) होना। इस प्रकार दोषदूषित शुक्र गर्भस्राव आदि के कारण स्त्री को तथा आदिबलप्रवृत्त रोगों की पात्रता आदि के कारण संतति को पीड़ित करता है।--

शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्।

च० सू० २८।१९

पहले कह आए हैं कि, अनपत्यता की व्यथा लेकर आई स्त्री में प्राचीन-नवीन उभय मत से बहुत बार पुरुष भी दोषपात्र होता है।

इनके अतिरिक्त अन्य कई रोग शुक्रदोष से होते हैं।

इन प्रकरणों में आगे आचार्यों ने इन्द्रियादि में स्थानसंश्रय कर कुपित हुए दोषों से उत्पन्न रोगों का भी निर्देश किया है। उनका भी उल्लेख यहाँ किया जाता है।

इन्द्रियाश्रित रोग--

इन्द्रियों नाम इन्द्रियायतनों में अर्थात् सूक्ष्म शरीर की अङ्गभूत सूक्ष्म इन्द्रियों के आश्रयभूत, स्थूल इन्द्रियगोलकों में, जिन्हें इन्द्रियाधिष्ठान भी कहा जाता है, उनमें दोषों का स्थान-संश्रय हो तो नीचे लिखे इन्द्रियाश्रित रोग होते हैं।

१. इन्द्रियोपघात--जो इन्द्रियाधिष्ठान दोषाभिभूत हो उसका पूर्ण विनाश; तथा उसके कारण--

२. इन्द्रिय की अप्रवृत्ति--उस इन्द्रिय-विशेष की अपने कार्य की शक्ति पूर्णतया विनष्ट होना; अथवा--

३. इन्द्रियोपताप--इन्द्रियाधिष्ठानों में किंचित् वैकल्य (रचनात्मक विकृति) होना; तथा उसके कारण--

४. इन्द्रिय की अयथाप्रवृत्ति--जिस इन्द्रिय में विकृति हो उसकी प्राकृत क्रिया यथावत् न होना।

मलायतन-दोषज रोग--

मलायतनों में नाम विभिन्न मलों, उनके आशयों (अधिष्ठानों) एवं उनके बहिर्मुख स्रोतों (बहिर्द्वारों) में दोषों का प्रकोप हो तो नीचे लिखे रोग होते हैं।--

१. त्वग्दोष--त्वचा के विभिन्न रोग, जिन्हें कुष्ठ तथा प्रचलित भाषा में रक्तदुष्टि आदि कहा जाता है।

२. मलों का भेद--अपने आशय में बहिः प्रवृत्ति के लिए उद्यत मल एक ही बार में समग्र न निकल कर खण्डित हो, थोड़ा-थोड़ा करके प्रवृत्त होना। चक्रपाणि

कहता है--यह (विशेषतया) पुरीष में होता है। इसमें या तो मलप्रवृत्ति की संख्या में वृद्धि हो जाती है, थोड़ा-थोड़ा प्रायः शुष्क और ग्रथित मल वार-वार आता है; अथवा संख्या में वृद्धि नहीं होती, परन्तु एक ही बैठक में थोड़ा-थोड़ा करके प्रायः शिथिल मल देर तक प्रवृत्त होता रहता है। मल-प्रवृत्ति में पूर्वापेक्षया बहुत समय लगता है। इसे विड्भेद कहते हैं। यह स्वतन्त्र रोग भी होता है, वातातिसार आदि का अङ्गभूत (लक्षण-रूप) भी होता है। इससे पीड़ित कई व्यक्ति घण्टों टट्टी में बैठे रहते हैं--अखबार बाँचने, बीड़ी पीने आदि में काल-क्षेप करते हैं।

३. मलों का शोष--अग्नि (पित्त) या वायु के प्रभाव से पुरीष, मूत्रादि मल शुष्क होकर अल्प (क्षीण) हो जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति नहीं होती या अल्प होती है। इसी को आगे इन शब्दों में कहा है;

४. मलों का संग--कर्ण, नासा, मुख, नेत्र, स्वेदवह स्रोत, शिश्न, अपत्य-पथ आदि से मलों की प्रवृत्ति न होना; अथवा--

५. मलों की अति प्रवृत्ति--यथा पित्त से मल या स्वेद में द्रवत्व आकर इन मलों की अति प्रवृत्ति होना इत्यादि;

६. मलों की दुष्टि--मलों के जो प्राकृत वर्ण आदि होते हैं, उनमें दोषों के प्रभाव से अन्यथाभाव होना; यथा कफ से पुरीष की श्वेतता, स्निग्धता आदि होना। इसी कारण--

७. मलों की अयथाप्रवृत्ति--मलों का जितने प्रमाण में, जितनी संख्या में, जिस वेग से तथा जैसे स्वरूप में (उनकी जिन प्राकृत गुणों से युक्त होकर प्रवृत्ति होनी चाहिए उन गुणों सहित) प्रवृत्ति न होना।

स्नायु-आदि-संश्रित दोषज रोग--

स्नायु, सिरा या कण्डरा इनमें एक या अनेक में दोषों ने प्रकुपित हो स्थानसंश्रय किया हो तो स्तम्भ (अवयव-हाथ, पैर आदि-अकड़ जाना), संकोच, खल्ली, स्नायु आदि पर ग्रन्थि, स्फुरण और सुप्ति ये रोग पुरुष को पीड़ित करते हैं।

मार्गाश्रित रोग[1]

धातुओं के समान ही दोषों का स्थानसंश्रय उदर आदि अवयवों में होकर उस-उस अवयव के रोग होते हैं। इनका वर्णन आगे स्थान-संश्रय के प्रकरण

१—देखिए—च० सू० ११।४८-४९; च० सू० २८।३१-३३; अ० हृ० सू० १२।४३-४९ तथा इनकी टीकाएँ; माधवनिदान, पञ्चनिदान पद्य पाँचवाँ, मधुकोष टीका।

में किया जायगा। स्थानभेद से रोगों का एक वर्गीकरण मार्गानुसारी रोग नामक है। रोगों की साध्यासाध्यता जानने तथा चिकित्सा में भेद के प्रयोजन से रोगों का यह वर्गीकरण किया गया है, और इसी कारण इसका जानना आवश्यक है। इस वर्गीकरण का अर्थ, भेद तथा प्रत्येक वर्ग में होनेवाले रोगों का नामतः निर्देश करने के पश्चात् प्रयोजन का उल्लेख करना सुबोधता की दृष्टि से उपयुक्त होगा।

दोषों के विषय में ज्ञातव्य वस्तुओं के प्रकरण में एक विषय दोषों की गति का उल्लेख आगे व्याख्या-सहित किया जाएगा। इसमें गति शब्द के दो अर्थ हैं; यथा--१. दोषों की अवस्था या प्रकार; तथा २. शरीर में दोषों का गमन या संचरण[1]। इस दूसरे अर्थ में गति शब्द शरीर के ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः प्रदेश में दोषों के संचार को बतलाने के लिए प्रयुक्त होता है; साथ ही एक परिभाषित (शास्त्रीय) अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है, जिसके लिए मार्ग या अयन संज्ञा का भी व्यवहार होता है।

दोषों के विशेष स्थान--

कोष्ठ किंवा मध्यकाय में दोषों का एक-एक विशेष स्थान बताया गया है। प्रत्येक दोष का एक-एक विशेष स्थान होने का आशय क्रियाशारीर में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक दोष का जो मुख्य स्थान कहा जाता है वह उस दोष का मूल या उद्भव-स्थान है। यहीं से प्रसृत हो (शरीर में फैलकर) और प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म स्थान में जाकर प्रत्येक दोष समावस्था में अपने प्राकृत कर्म करता है, एवं वृद्धि और क्षय को प्राप्त होकर क्रमशः प्रकोप तथा प्राकृत कर्मों की मन्दता के कारण तदनुरूप तत्तत् रोगों को उत्पन्न करता है। दोष प्रकुपित हो शरीर के किसी भी अवयव में स्थानसंश्रय करके रहा हो उसे तत्तत् उपाय से कोष्ठान्तर्गत अपने-अपने विशेष स्थान में लाया जाता है। पश्चात् बस्ति आदि संशोधन उपचारों से दोष को निकटवर्ती बहिर्मुख स्रोत से बाहर निकाल दिया जाता है--उसका संशोधन किया जाता है। इस उपाय से दोष के मूल का ही उच्छेद होने से रोग के पुनः होने का भय नहीं होता--

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीनां सर्वेषां मूलमिष्यते।
जितेऽत्र जायते तेषां कृत्स्ननाशो यथा रुहाम्॥

सु० नि० १।८ पर गयदास-धृत तन्त्रान्तर-वचन[2]

१--देखिए--च० सू० १७।११२-११८; तथा मधुकोष--उल्लिखत स्थल।

२--व्याख्या के लिए इसी पद्य के ऊपर गयदास की टीका तथा च० सू० २०।१३, १६ और १९ में क्रमशः बस्ति, विरेचन और वमन की तर्क-संगत उपयोगिता दर्शाते तन्त्रकार के वचन देखिए।

इसके सिवाय कई कारण हैं, जिनके वश हो दोष कोष्ठ से शरीर के विभिन्न अवयवों में और शरीरावयवों से कोष्ठ में आते हैं। इन कारणों का उल्लेख इस प्रकरण के अन्त में किया जायगा।

तीन रोगमार्ग--

त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा, मर्मास्थिसंधयः, कोष्ठश्च ॥

च० सू० ११।४८

रोगों की साध्यासाध्यता का ज्ञान इत्यादि प्रयोजनों से शरीर में दोषों के संचरण और स्थानसंश्रय को दृष्टि में रखकर शरीर के तीन विभाग किये गए हैं[1]। इन विभागों को दोषों की गति या संचरण का आधार[2] होने से मार्ग यह विशेष नाम दिया गया है। ये रोगमार्ग तीन हैं--शाखा, मर्मास्थिसन्धि तथा कोष्ठ। शाखा शब्द हाथ तथा पैर के लिए अन्यत्र प्रसिद्ध है[3]। पर यहाँ इसका परिभाषित अर्थ विशेष में व्यवहार हुआ है। शाखा शब्द का यहाँ अर्थ है--रक्तादि छ धातु तथा त्वचा। त्वचा शब्द से तदन्तर्गत रस धातु भी गृहीत है। हृदयस्थायी रस धातु का हृदय के आश्रयभूत कोष्ट शब्द से ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार यकृत्प्लीहाश्रित रक्त का ग्रहण भी कोष्ठ से ही होता है। शाखा को बाह्य रोगमार्ग कहा जाता है।

मर्म तथा अस्थिसंधियाँ मध्यम रोगमार्ग कहा जाता है। मर्म बस्ति, हृदय, शिर आदि रचनाशारीर में प्रसिद्ध हैं। अस्थिसंधि शब्द से उनपर निबद्ध शिरा, स्नायु, कण्डरा, धमनी, कूर्चा आदि का भी ग्रहण होता है[4]। मर्मों तथा अस्थिसंधियों में हुआ रोग कृच्छ्रसाध्य होता है यह सामान्य धर्म (समान धर्म) होने से दोनों का ग्रहण एक साथ किया गया है[5]।

आमाशय, अग्न्याशय (पच्यमानाशय, क्षुद्रान्त्र का आरम्भिक $\frac{2}{3}$ भाग), पक्वाशय (क्षुद्रान्त्र का अन्तिम $\frac{1}{3}$ भाग, तथा उत्तरगुद अधरगुद सहित स्थूलान्त्र--

---

१—देखिए—वृद्धा दोषाः कदाचित् कोष्ठं कदाचिच्छाखाः कदाचिन्मर्मास्थिसंधीनाश्रित्य रुजन्ति। मर्मास्थिसंधिषु गतिः कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा। —माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ पर मधुकोष।

२—देखिए—शाखादीनामाधारत्वम्, न कारणत्वम्।

—अ० हृ० सू० १२।४३ पर हेमाद्रि।

३—अंग्रेजी में—एक्स्ट्रिमिटी या लिम।

४—देखिए—अ० हृ० सू० १२।४७-४८ तथा उस पर अरुणदत्त की टीका।

५—देखिए—पहले धृत मधुकोष-टीका।

पचन होकर अन्न रस की उत्पत्ति तथा रसमल-विवेक महास्रोत के जिस भाग में होता है उसे पच्यमानाशय आदि नाम दिये गए हैं। रसमल-विवेक होकर रस का ग्रहण होने के अनन्तर शेष पक्वांश जिस प्रदेश में रहता है, उसे पक्वाशय कहा जाता है), मूत्राशय (सम्पूर्ण मूत्रयन्त्र), रक्ताशय (रक्त की उत्पत्ति, प्रसादन तथा संग्रह के स्थानभूत यकृत्प्लीहा), हृदय, उण्डुक (सीकम) और फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहे जाते हैं। इसी को शरीरमध्य (धड़, मध्यकाय), आम-पक्वाशय, महास्रोत तथा महानिम्न भी कहा जाता है। नवीन लेखकों ने 'महान् स्रोत' इस व्याकरण-सिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रखकर मुख से गुद पर्यंत मार्ग के लिए महास्रोत शब्द का प्रयोग प्रचलित किया है। वस्तुतः यह शब्द स्रोतोमय और स्रोतों के अति व्यापक होने से महान् संपूर्ण मध्यकाय के लिए आयुर्वेद में प्रयुक्त हुआ है। इस विषय का अधिक विचार स्व० डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी कृत अंग्रेजी ग्रन्थ 'आयुर्वेदीय शारीर' में देखिए। यह कोष्ठ आभ्यन्तर रोग-मार्ग कहा जाता है।

मार्गाश्रित रोग—

१. गण्ड (फोड़े), पिडका, अलजी, अपची (आधुनिकों के अपक्व और पक्व रसग्रन्थियों के शोथ), चर्मकील (त्वचा के मस्से), अधिमांस, मषक (मस्से), कुष्ठ, व्यङ्ग, अर्बुद आदि रोग तथा बहिर्मार्गगत विसर्प, श्वयथु (शोथ), गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी (या शाखागत) कहे जाते हैं।

यहाँ विसर्प-प्रभृति के लिए 'बहिर्मार्गगत' विशेषण का तात्पर्य यह है कि ये रोग अन्तर्मार्गों में—मध्यममार्ग तथा कोष्ठ में—भी होते हैं। यहाँ केवल उल्लिखित बहिर्मार्ग (बाह्य रोगमार्ग) में हुए विसर्पादि रोग ग्राह्य हैं। शेष दो मार्गों में ये रोग हुए हों तो उनकी गणना उन मार्गों के रोगों में होती है।

अर्श के प्रकरण में कहा जायगा कि यह गुद-मार्ग की तीन वलियों में होता है। इनमें जो अर्श का अंकुर बाहर की वली (चक्र) में हो, वह शाखानुसारी (शाखा-गत) तथा शेष ऊपर की दो वलियों में हो वह कोष्ठगत कहलाता है[1]।

१—देखिए—**अर्शों बहिर्वल्याश्रितं शाखागतम्, अन्यच्च कोष्ठगतम्**—च० सू० ११।४९ पर **चक्रपाणि**। आगे अर्श के प्रकरण में हम देखेंगे कि अर्श की आश्रयभूत तीन वलियों में सबसे बाहर की वलि आधुनिकों द्वारा वर्णित तीन पेशियों से बना चक्र है, जिसे गुदद्वार कहते हैं। इन तीन पेशियों के नाम ये हैं—स्फिंक्टर एनाई एक्स्टर्नस, स्फिंक्टर एनाई इंटर्नस तथा लिवेटर एनाई। म० म० गणनाथसेन जी ने इन्हें क्रमशः गुदसंकोचनी बाह्या, गुदसंकोचनी आभ्यन्तरा→

२. पक्षाघात, अपतानक, अर्दित, शोष (धातुक्षय),[1] राजयक्ष्मा; अस्थियों, अस्थिसंधियों तथा त्रिक में शूल और ग्रह (स्तब्धता, चेष्टाभाव); गुदभ्रंश एवं शिर, हृदय, बस्ति आदि मर्मों में हुए रोग, मध्यम-मार्गानुसारी (या मध्यम-मार्गगत) रोग कहे जाते हैं।

३. ज्वर, अतिसार, छर्दि (वमन), अलसक (विषूचिका-विशेष, जिसमें दोषों का संचय विषूचिका के समान ही होता है, परन्तु उनकी ऊर्ध्व या अधोमार्ग से वमन तथा अतिसरण के रूप में प्रवृत्ति नहीं होती; कोलेरा सिक्का, ड्राई कॉलेरा), कास, श्वास, हिक्का, आनाह (कब्ज), उदर, प्लीहा आदि रोग एवं अन्तर्मार्गगत (आभ्यन्तर रोगमार्ग में हुए) विसर्प, श्वयथु, गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि रोग कोष्ठानुसारी (या कोष्ठगत) कहे जाते हैं।

गुल्मों में बहिर्मार्गगत गुल्म वह है जो बाहर त्वचा को धकेलकर उभरा हुआ दीख पड़ता है तथा पककर बाहर की ओर ही फूटता है। इससे भिन्न गुल्म कोष्ठगत कहा जाता है।

शाखानुसारी रोगों को धातुगत तथा शेष दो को मार्गानुसारी या मार्गगत रोग भी कहते हैं।

रोग-मार्गों के ज्ञान का प्रयोजन—

रोग-मार्गों के ज्ञान के प्रयोजन संक्षेप में दो हैं—रोगों की साध्यासाध्यता[2] आदि का ज्ञान; तथा मार्गभेदानुसार चिकित्सा में भिन्नता[3]।

रोगों की साध्यासाध्यता के प्रकरण में आचार्य ने रोगमार्गों का भी विचार

←तथा पायुधारिणी ये अर्थवाहक नाम दिये हैं। नव्य मत से गर्भ में शरीरावयवों की उत्पत्ति के मूलभूत प्रजनन-चर्मों से उत्पन्न होने वाले अवयवों में मुख और गुद बाह्य चर्म से उत्पन्न होते हैं; शेष सम्पूर्ण महास्रोत मध्य चर्म से। अतः गुद-द्वार का शाखागत रोगों के आश्रय रूप में किया गया निर्देश नव्य मत से भी यथार्थ ही प्रतीत होता है।

१—शोष शब्द धातुक्षय तथा राजयक्ष्मा दोनों के लिए आते हैं। प्रकरणानुसार योग्य अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।

२—देखिए—च० सू० ११।४८ पर चक्रपाणि—**एतच्च मार्ग-भेदकथनं तदाश्रितव्याधीनां सुखसाध्यतादिज्ञानार्थम्।**

३—विस्तार के लिए देखिए—माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५, मधुकोष-टीका, एवं वहाँ उद्धृत मूल वचनों पर टीकाएँ।

किया है[1]। सुखसाध्यता के लक्षणों में आचार्य ने एक लक्षण यह बताया है कि रोग एक ही मार्ग में प्रसृत हो, विशेषतः हृदय-प्रभृति मर्म स्थानों में स्थित न हो (यथा, आमवात में हृदय-दौर्बल्य के रूप में) तो रोग सुखसाध्य होता है। आगे कष्टसाध्य का एक लक्षण बताया है कि रोग मर्म, सन्धि आदि में विद्यमान हो तथापि चारों चरणों की पूर्ण[2] संपत्ति न हो, किंवा रोग दो मार्गों में स्थित हो परन्तु उसे हुए बहुत काल न बीता हो तो वह कृच्छ्रसाध्य होता है। असाध्यों में याप्य[3] का लक्षण-निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा है--याप्य रोगों में रोग गम्भीर नाम उत्तरोत्तर धातुओं में प्रविष्ट होता हुआ मेद आदि पर्यन्त पहुँचा होता है, अनेक धातुओं में संश्रित होता है एवं मर्मों और अस्थिसंधियों में स्थित होता है। असाध्यों में प्रत्याख्येय (अनुपक्रम, अचिकित्स्य होने से त्याज्य) रोग के लक्षण बताते आगे तन्त्रकार ने कहा है--रोग यदि तीनों मार्गों में प्रविष्ट हो तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। इस प्रकार मार्गों का निर्देश रोगों की साध्यासाध्यता के ज्ञान में उपयोगी होता है।

रोगमार्गों के परिज्ञान का अन्य प्रयोजन मार्गभेद से चिकित्सा की भिन्नता ऊपर बताया है। कतिपय उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जाता है--

१. वात की चिकित्सा में रूक्ष उपचार वात के वर्धक होने से विरुद्ध (कॉण्ट्रा-इंडिकेटेड) होते हैं। परन्तु वात का स्थानसंश्रय यदि आमाशय में हो तो, आमाशय कफ तथा आम का स्थान होने से प्रथम स्थान और स्थानी दोष (कफ और आम) को दृष्टि में रखकर लङ्घन आदि रूक्ष उपचार करने चाहिए। पश्चात् वात को दृष्टिगत रख स्वेदन तथा स्निग्ध उपचार करना चाहिए। इसी प्रकार प्रकुपित हुए कफ की चिकित्सा में स्निग्ध उपचार विरुद्ध (दोष तथा रोग की वृद्धि करनेवाले) होते हैं, यह नियम है। तथापि, प्रकुपित कफ का स्थान-

---

१--देखिए--च० पू० १०१७-२०

२--चिकित्सक, परिचारक, औषध और रोगी--ये चार चिकित्सा के चरण (पाद) कहे जाते हैं। इनके गुण इसी ग्रन्थ में आगे कहे जाएँगे।

३--याप्य का लक्षण आगे आयगा ही। अर्थ-प्रतिपत्ति के लिए संक्षेप में लक्षण यह समझना चाहिए कि आहार, विहार, देश (जलवायु), काल (ऋतु), औषध जब तक रोग-विरोधी रहें तबतक जो रोग शान्त रहे, और रोग के अनुकूल आहारादि का संयोग होते ही जिसके लक्षण ऊभर आएँ, उस रोग को याप्य कहा जाता है। जैसे कई स्त्री-पुरुषों को चौमासे या शीतकाल में श्वास (या पहले कभी लगे प्रहार के स्थल पर वेदना) के वेग हो आते हैं। शेष सम्पूर्ण वर्ष ससुख व्यतीत होता है। अतः श्वास को याप्य रोग कहा जाता है।

संश्रय यदि पक्वाशय में हुआ हो तो पक्वाशय वात का स्थान होने से स्थानी दोष वात तथा उसके आशय (स्थान) को लक्ष्य में रखते हुए प्रारम्भ में स्नेहन कराना चाहिए, पश्चात् कफ को ध्यान में रख उष्ण स्वेदादि उपचार करने चाहिए[1]। यथा, प्रवाहिका में आरम्भक (रोगोत्पादक) दोष पक्वाशय में संचित हुआ कफ होता है। इसके स्थान पक्वाशय को लक्ष्य में रख शुण्ठी-क्वाथ में एरण्ड तैल आदि की योजना की जाती है।

स्थानी दोष की चिकित्सा में एक कारण यह होता है कि, रोग का आरम्भक दोष कोई भी हो, वह अन्य दोष के स्थान में पहुँचा हो तो स्थानी दोष का भी प्रकोप हो ही जाता है, यह आयुर्वेद का अनुभवसिद्ध नियम है। यथा, प्रवाहिका में ही संचित दोष कफ अपनी मन्दता तथा पिच्छिलता से आम-पक्वाशय में वायु की मल, वात आदि का अनुलोमन करनेवाली क्रिया (पेरिस्टाल्टिक मूवमेण्ट) के मार्ग में अवरोध उपस्थित करता है--विशेषतया अपने मन्द गुण के प्रभाव से उसे मन्द कर देता है। इस अवरोध या आवरण के कारण वायु का प्रकोप होता है। किसी दोष के प्रकोप का अर्थ (स्वरूप) होता है--उसके प्राकृत कर्म का अतिशय (आधिक्य)। प्रवाहिका में पक्वाशय में संचित कफ के कारण हुए आवरणवश वात का प्रकोप होने में स्थिति यह होती है कि, उसकी मलवातानुलोमनी संकोचात्मक क्रिया अधिक तीव्रता से होने लगती है। इस संकोचातिशय के कारण ही प्रवाहिका में शूल-विशेष होता है। इस प्रकार प्रवाहिका में शूल की संप्राप्ति का स्वरूप यह होने से बुद्धिसंगत उपचार यही होना चाहिए कि शूल के मूलभूत कफ का निर्हरण (संशोधन) अभया, एरण्डतैल आदि के मात्रावत् सेवन से कर दिया जाए। ऐसा न कर, अहिफेन-सत्त्व (मॉर्फिया) से शूल की निवृत्ति की जाए, किंवा संग्राहक द्रव्य दिये जायँ तो शूल तथा द्रवमलप्रवृत्ति तो कदाचित् शान्त हो जायगी परन्तु दोष अन्दर ही रहकर ग्रहणी, ज्वर प्रभृति विकारों को उत्पन्न करेगा। इस विषय का अधिक विचार आगे अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी-अधिकार में किया जायगा।

स्थानी दोष तथा आशय को लक्ष्य में रखकर प्रथम की जानेवाली इस चिकित्सा के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्थानी दोष की चिकित्सा ऐसी होनी चाहिए कि, स्थानस्थ (उस स्थान पर आया) दोष कुपित न हो जाए--

स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः॥

च० सू० १४।१९ चक्रपाणि-धृत तन्त्रान्तर वचन

२. विषम ज्वरों की संप्राप्ति कायचिकित्सकों तथा धान्वन्तरीयों (शल्य

१--देखिए--च० सू० १४।१९।

चिकित्सकों) ने भिन्न-भिन्न बताई है[१]। इनमें कायचिकित्सकों का मत है कि, दोष तत्-तत् धातु में स्थित हो विषमज्वर के तत्-तत् भेद को उत्पन्न करते हैं। यथा, दोष रस-रक्तगत हों तो सतत ज्वर को तथा मांस-धातुगत हों तो अन्येद्युष्क को उत्पन्न करते हैं, इत्यादि[२]।

३. तिमिर, पाण्डुरोग, गुल्म और उदर रोगों में कफ प्रकुपित हो तो भी वमन नहीं कराना चाहिए।

४. चरक-संहिता के व्रण-चिकित्साधिकार में अग्निकर्म के प्रकरण में अग्निकर्म (दाह, कॉटराइजेशन) का अविषय दिखाते हुए कहा है--व्रण यदि स्नायुओं अथवा मर्म पर हुआ हो तो अग्निकर्म न करना चाहिए[३]।

४. रोगमार्ग के ज्ञान की उपयोगिता संशोधन की दृष्टि से भी है। संशोधन करने के पूर्व उन्हें कोष्ठ में अपने-अपने मुख्य स्थान पर लाना होता है। दोषों को कोष्ठ में न लाया जाए तो उनके शरीर में इतर मार्गों में ही स्थित रह जाने से पुनः प्रकोप होकर रोगोत्पत्ति होती है। कोष्ठ में लाने के लिए स्नेहन और स्वेदन ये दो पूर्व कर्म करने होते हैं। स्नेहन से दोष क्लिन्न (द्रवीभूत, लिक्विफाईड, शिथिल) होते हैं। परिणामतया, वे शुष्क और संसक्त हों--किसी स्रोत में चिपटे रहे हों तो क्लेदवश वहाँ से पृथक् होते हैं। स्वेद से उनका पाक होता है। पाक का अर्थ है कि बहिर्द्वार से निकलने के पूर्व अग्नियों की क्रिया से उनका जो अन्तिम रूप बनना चाहिए वह बनना। अपक्व दोषों, अन्नपान, मलों तथा रोगों की आयुर्वेद में आम यह विशेष संज्ञा है। आम (या साम) दोष तथा मल कफ-सदृश होने से शरीर के स्रोतों और आश्रयों में संसक्त और स्थिर रहने के स्वभाववाले होते हैं। इस दशा में और निराम (या पक्व) दशा में भी शरीर में स्थिर हो रहे हुए दोषों को स्तब्ध यह विशेष नाम दिया गया है। स्तब्ध दोष साम हों तो लङ्घन, स्वेदन आदि से उन्हें निराम (पक्व) किया जाता है। पक्व दोषों में संसक्ति का स्वभाव न होने से वे अपनी स्वाभाविक दिशा में कोष्ठ में अपने मुख्य स्थान के प्रति स्वतः गति करने लगते हैं। तभी उन्हें वमनादि

१—देखिए—इदानीं भोजभालुकिपुष्कलावतप्रभृतीनां शल्यतन्त्रविदां मतेन विषमज्वरोत्पत्तिमभिधाय कायचिकित्साविदामग्निवेशादीनां मतेन धातुस्थानैर्दोषैर्विषमज्वराणामुत्पत्तिं दर्शयति--दोष इत्यादि ॥

—सु० उ० ३९।६६ पर डल्हन

विस्तार आगे विषमज्वर के प्रकरण में देखें।

२—देखिए—सु० उ० ३९।६७-६८ तथा उस पर डल्हन की टीका।

३—देखिए—च० चि० २५।१०६।

द्वारा शुद्ध कर दिया जाना चाहिए। कोष्ठ में पहले संचित मल (कफ आदि) की शुद्धि प्रथम होने पर शाखाओं में स्थित मल आशय (अवकाश, रिक्त--शून्य--स्थान) उपलब्ध होने से कोष्ठ के प्रति उसकी गति सुलभ हो जाती है।

पहले कह आए हैं, संशोधनात्मक चिकित्सा दोषों की मूलोच्छेदकरी होने से रोगों की अपुनर्भवकर चिकित्सा है। यह मूलगामी चिकित्सा तभी संभव है जब रोगमार्गों का ज्ञान होने से हमें विदित हो कि दोष संप्रति कोष्ठ में है, शाखाओं में है या मर्मास्थि संधियों में है?

कोष्ठों और शाखाओं में दोषों के गमनागमन के हेतु[1]—

दोष तत्तत् कारणवश इन तीनों रोगमार्गों में संचरण किया करते हैं। इनके संचार के हेतुओं का निर्देश संप्राप्ति का विषय है। तथापि प्रकरण की पूर्त्ति के लिए यहाँ उनका संक्षेपतः उल्लेख किया जाता है।

नीचे लिखे हेतुओं से दोष कोष्ठ से नाम कोष्ठ में अपने-अपने संचयस्थान से शाखाओं में (शाखाओं में तथा कोष्ठ के बाहर स्थित मर्मास्थि संधियों में) जाते हैं।--

१. व्यायाम--व्यायाम तथा कठिन परिश्रम से हुए क्षोभ से दोष शाखाओं में अपने स्थान से पृथक् हो शाखाओं में जाते हैं;

२. अग्नि की तीक्ष्णता--तीक्ष्ण अग्नि के प्रभाव से दोष विलीन (शिथिल और सूक्ष्म) हो कोष्ठ ही में संसक्त न रह शाखाओं में जाते हैं;

३. अहित-सेवन--अहित अर्थात् दोषों की अभिवृद्धि करनेवाले आहार-विहार आदि के अतियोग से दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में गमन ऐसे ही होता है जैसे जलाशय में जल अति वृद्धि को प्राप्त हो जाए तो अपनी मर्यादा का अति-क्रमण कर बाहर जाता है;

४. वायु का चलत्व--वायु का चल (गतिमत्त्व) स्वभाव दोषों को एक स्थान से स्थानान्तर पर ले जाने में हेतु है। वायु के इस कर्म के विषय में अधिक वक्तव्य अपेक्षित नहीं है। इतना ही स्मरण करा देना आवश्यक है कि, वायु प्रकुपित हो तो अन्य धर्मों के साथ उसका यह चलत्व स्वभाव, जिसके कारण वह शरीर में दोषों और मलों का विक्षेपण करता है, वह भी वृद्धि को प्राप्त करता है। अतः रोग का हेतु इतर दोषों का प्रकोप हो तो भी वायु का प्रकोप उसमें कारणतया अवश्य रहता है। सो चिकित्सा में भी रोगमात्र में वायु को समावस्था में लाने पर सविशेष ध्यान देना चाहिए।

१--देखिए--च० सू० २८।३१-३३ तथा इन पर चक्रपाणि-टीका।

कोष्ठ से शाखाओं में (शाखाओं तथा कोष्ठ के बाहर स्थित मर्मास्थि संधियों में) गए ये दोष रोग उत्पन्न कर सकें इतने प्रमाण में कुपित हों तो पूर्वरूपादि क्रम से तत्काल रोग का प्रादुर्भाव होता है। अन्यथा दोष अल्प होने से (उनका प्रकोप अल्प होने के कारण) उनका बल अल्प हो तो शाखाओं में ही रह प्रकोप करनेवाले अन्य हेतुओं की प्रतीक्षा करते हुए, रोगोत्पत्ति में विलम्ब करते हैं--प्रकोपक हेतु प्राप्त होने पर पूर्ण प्रकुपित हो कालान्तर में रोगोत्पत्ति करते हैं। प्रकुपित हुए ये दोष भी तभी रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जब उनको अनुगुण (अनुकूल) देश (जलवायु, क्लाईमेट, आबोहवा) और काल प्राप्त हो जाए।

नीचे लिखे कारणों से दोष शाखाओं को छोड़कर कोष्ठ में (कोष्ठान्तर्गत अपने उद्भव स्थान में) आते हैं।--

१. वृद्धि--अहित-सेवन से हुई वृद्धि से जैसे दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में गमन होता है, वैसे यह वृद्धि विपरीत दिशा में गति का भी कारण है;

२. विष्यन्दन--दोषों का विलयन, द्रवीभाव, लिक्विफैक्शन। दोष द्रव हों तो वे स्वभावतः कोष्ठ के प्रति गति करते हैं। संशोधन-चिकित्सा में स्नेहन उपचार यही क्रिया करते हैं;

३. पाक--दोषों का परिपक्व होना। जैसे फल परिपक्व हो तो काल आने पर स्वयं अपने वृन्त (डंडी) से च्युत हो जाता है किंवा स्वल्प प्रयत्न से तोड़ा जा सकता है, वैसे ही परिपक्व (निराम) दोषों में स्वयं ही शरीर से वियुक्त (पृथक्) होने के लिए कोष्ठ के प्रति गमन का एवं वहाँ से निकटवर्ती बहिर्मुख स्रोत (गुद, मुख आदि द्वार) से निकल जाने का स्वभाव होता है। ज्वरादि रोगों में उपचारतया प्रयुक्त लङ्घन, स्वेदन, दीपन-पाचनादि कर्म दोषों का परिपाक कर उनमें स्वतः प्रवृत्त होने का यह स्वभाव उत्पन्न कर देते हैं।

परिपाक से दोषों के सुगमता से प्रवृत्त होने (शरीर से बाहर निकलने) के इस स्वभाव को तन्त्रकार ने एक स्मरणीय उपमा से समझाया है। वे कहते हैं--

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः।
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्ययाः॥

च० चि० ३।१४८

अर्थात्--जैसे आम (अपक्व, कच्चे) फलों से उनके स्वरस छूटना दुष्कर होता है, वैसे ही, सर्वशरीर की सूक्ष्म सिरा, धमनी, स्नायु, त्वचा आदि में अनुप्रविष्ट, साम होने से संसक्त (स्वभाववश चिपटकर रहे हुए) तथा अप्रचलनशील एवं धातुओं में गम्भीरतया लीन दोषों का वमनादि उपायों द्वारा निर्हरण असुकर (दुष्कर, कठिन) होता है। इस अवस्था में, साम दोष शाखाओं को छोड़ अपने

संचयस्थान में आकर उपस्थित न हुए हों ऐसी स्थिति में, उनके संशोधन का प्रयास करने से विविध विपरिणाम होते हैं।

४. स्रोतोमुख-विशोधन--दोषों का वहन करनेवाले स्रोतों में कोई अवरोधक हो तो उसके दूर कर देने से मार्ग स्वच्छ हो जाता है और दोष अपनी स्वाभाविक गति करने लगते हैं। स्रोतों की यह शुद्धि लङ्घन, स्नेहन-स्वेदन, दीपन-पाचन, संशोधन आदि से होती है। इस प्रकार शुद्ध होनेवाले स्रोतों में मुख्यतया गणनीय स्रोत दोषों के कोष्ठान्तर्गत अपने-अपने स्थान हैं। दोषों की परिपक्वता के लक्षणों का उदय हुआ देख, स्नेहन, स्वेदनादि से शरीर में दोष परिपक्व हो कोष्ठाभिमुख गति करने को उद्यत हो गये हैं, यह ज्ञान होते ही दोषभेद से यथायोग्य संशोधन दिया जाता है। कोष्ठगत दोषों की शुद्धि होने से उनके मुख--उनकी कला में स्थित छिद्र, जिनसे दोष स्रुत हो इन आशयों में आते हैं--शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मार्ग शुद्ध हो जाने से पक्व हुए दोषों को कोष्ठ में आने का अवकाश सुलभ हो जाता है।

आधुनिक भौतिकशास्त्र की दृष्टि से भी इस वस्तु को समझा जा सकता है। भौतिकशास्त्र और तदनुसारी क्रियाशारीर में भी कहा जाता है कि, द्रव-द्रव्य तथा उन द्रव-द्रव्यों में घुले हुए घन द्रव्य जिस कला (पर्दे, मेम्ब्रेन) के आरपार जा सकते हों उसे (उस कला को) मध्य में रखकर दोनों ओर ऐसे द्रव द्रव्य रखे जाएँ जिनमें घन और द्रव द्रव्यों का प्रमाण परस्पर समान न हो तो कुछ ही काल में स्थिति यह होगी कि, या तो द्रव जिस ओर अधिक हो उस ओर से दूसरी ओर कुछ प्रमाण में चला जाएगा, या घन भाग कला के जिस ओर अधिक प्रमाण में होगा, उसके दूसरी ओर कुछ अंश में चला जाएगा, या दोनों क्रियाएँ होंगी। परिणाम यह होगा कि कालान्तर में दोनों ओर घन और द्रव द्रव्यों का प्रमाण (कॉन्सेन्ट्रेशन) परस्पर समान हो जाएगा।

रोगों की संप्राप्ति तथा चिकित्सा को समझने की दृष्टि से यह विषय बड़ा उपयोगी है। यहाँ आवश्यकता हो तो किसी आप्त से इसे पुनः समझ लेना चाहिए। जिस ओर घन द्रव्यों का प्रमाण अधिक हो उधर (उन द्रव्यों में) दबाव (प्रेशर) अधिक है, ऐसा माना जाता है। कई आहार, औषध द्रव्यों में पीड़न (दबाव) के आधिक्य का कारण यह होता है कि उनमें महास्रोत या शरीरान्तर्गत अन्य स्रोतों के अन्दर प्रवेश का स्वभाव (पेनिट्रेबिलिटी) न्यून होता है। परिणाम यह होता है कि इनका प्रवेश कला में और उसके द्वारा शरीर में शीघ्र न होने से कला के दोनों ओर घनत्व-द्रवत्व का प्रमाण सम रखने के प्रयोजन से कला में से अधिक द्रव आकृष्ट होता है, यहाँ तक कि स्रोत के अन्तर्गत स्थित आहार या औषध द्रव्य तथा कला के उस पार स्थित रस-रक्त में घनत्व-द्रवत्व का प्रमाण

परस्पर सदृश हो जाता है। औषध-द्रव्यों में विरेचन कल्पों में यह स्वभाव होता है। इनके इस स्वभाव के कारण महास्रोत में अधिक द्रवत्व आ जाता है। इसका पीड़न पच्यमानाशय और पक्वाशय पर होने से वह उद्दीपित हो, उसकी अपकर्षणी गति (पेरिस्टाल्सिस) बढ़ जाती है और विरेचन होता है। अवयव-भेद से इस प्रकार द्रवत्व की वृद्धि होकर मूत्र-विरेचन आदि तत्तत् परिणाम इन द्रव्यों के सेवन से होते हैं। दूध में रही प्रोटीन भी इसी प्रकार स्वयं कला में प्रविष्ट नहीं होती। अतः कला से जल का आकर्षण करती है। यह जल अन्त को उदर के अन्य अवयवों से आकृष्ट होकर महास्रोत की दिशा में आता है। दूध के इस गुण का लाभ जलोदर में लिया जाता है। वृद्ध वैद्य जलोदरी को केवल दूध पर रखते हैं, जिससे विरेचन औषध के विना भी अथवा अभया-सदृश स्वल्प विरेचन से अपेक्षित प्रमाण और संख्या में द्रव मल प्रवृत्ति जलोदर के रोगी को होती है और वही इस रोग में परम कर्त्तव्य होता है--नित्यमेनं विरेचयेत्। किसी क्रूरकोष्ठ रोगी में या वातकफप्रकोपक देश-काल में तीव्र विरेचन भी देना पड़ता है।

महास्रोत में रस-रक्तान्तर्गत द्रव अंश तथा तदन्तर्गत दोषों के ग्रहण और त्याग करनेवाले स्रोतों के मुख की शुद्धि होने का उपर्युक्त परिणाम अब नव्य मत से समझा जा सकता है। वमन, विरेचन और बस्ति द्वारा महास्रोत में स्थित दोषों की शुद्धि कर दी जाए, उधर शरीर के इतर भागों में स्थित दोष भी परिपक्व होने से कोष्ठाभिमुख गति के लिए उन्मुख (उद्यत) हों तो परिणाम यह होता है कि महास्रोत में दोषों का शोधन हो जाने से दबाव (प्रेशर) न्यून हो जाता है। इसके कारण स्वभावतः रस-रक्त में घुले हुए दोष आकृष्ट हो महास्रोत में आते हैं। अगली वार दिए संशोधन द्रव्य से कोष्ठ में उपस्थित हुए इस दोष की शुद्धि हो जाती है। यह शुद्ध (निर्हृत) दोष भी पूर्वकथित रीति से शाखाओं से कोष्ठ की दिशा में आनेवाले अपने अनुगामी दोष के लिए स्थान खाली कर देता है। इस प्रकार शरीर संपूर्ण शुद्ध न हो जाए तब तक संशोधन द्रव्य दिया जाता है।

विरेचन को पित्तहर उपक्रम में श्रेष्ठ कहा जाता है--विरेचनं पित्तहराणाम्। यह पित्त तो यकृत्प्लीहा में रहता है। विरेचन की उसपर क्रिया कैसे होती है, यह वस्तु व्याख्या के विना विद्यार्थी के लिए समझना दुष्कर होता है। पित्त की विरेचन से शुद्धि भी उल्लिखित प्रकार से ही होती है। विरेचन से पच्यमानाशय (ग्रहणी) में रहे द्रव्य की पक्वाशय में गति होने से यह आशय कुछ रिक्त हो जाता है, जिससे उसमें दबाव (प्रेशर) भी उतने प्रमाण में अल्प हो जाता है। परिणाम में चतुर्दिक् स्थित अन्य अवयवों के समान पित्त-प्रसेक (कॉमन बाइल डक्ट), पित्ताशय (गॉल ब्लैडर) तथा यकृत् में दबाव पच्यमानाशय के दबाव की तुलना

में बढ़ जाता है। पित्तप्रसेक आदि अवयवों में प्रमाण वास्तव में वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, परन्तु पच्यमानाशय में दबाव कम होने के कारण ही पित्तप्रसेक आदि अवयवों में दबाव यथापूर्व होता हुआ भी अधिक हो जाता है। उक्त रीति से अधिक दबाववाले पित्तप्रसेक प्रभृति अवयवों से पित्त आकृष्ट हो न्यून दबाववाले पच्यमानाशय में क्षरित होता है, जहाँ पहुँचने पर विरेचन द्रव्य की क्रिया से उसका निर्हरण होता है। आयुर्वेद में इस प्रकार विरेचन-मात्र को पित्तहर कहा है। तथापि, आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कई द्रव्यों में पित्त के संशोधन का यह स्वभाव विशेष होता है। इन द्रव्यों को कॉलेगॉग यह पृथक् संज्ञा दी गई है। कई द्रव्य जल की ही प्रवृत्ति सविशेष कराते हैं। उन्हें हाइड्रेगॉग नाम दिया गया है। प्रयोजन-भेद से इन द्रव्यों का उपयोग होता है। यथा, प्राचीनकाल से ही पाण्डुरोग तथा कामला में विशेषतया पित्त-विरेचक होने से कटुरोहिणी (कटुकी) का उपयोग अद्यावधि होता है।

पित्तविरेचन के इस उदाहरण के समान ही आयुर्वेद-मत से इतर दोष भी अपने-अपने द्वार से बाहर निकलते हैं।

शिरोविरेचन-द्रव्यों की ऐसी ही क्रिया शिर पर होती है। इनका उद्धूलन (फूँकना) नासिका में किया जाता है। प्रयोग-स्थल पर हुए क्षोभवश नासास्रोत से पुष्कल द्रव प्रवृत्ति होती है। इससे इस स्रोत की कला में पीड़न न्यून हो जाता है। परिणाम यह होता है कि, इस प्रदेश में स्थित सिराजाल में पीड़न कला की तुलना में अब अधिक हो जाने से उधर से द्रव आकृष्ट हो नासास्रोत में आता है और बाहर निकल जाता है। नासास्रोत की सिराजाल का सम्बन्ध पुरःकपाल में स्थित वाताशयों (साइनसों) के सिराजाल से होता है, उनका भी सम्बन्ध सारे मस्तिष्क में परिव्याप्त होकर रहे हुए सिराजालों से होता है। इन सिराजालों का भी सम्बन्ध तर्पक कफ (सेरीब्रो-स्पाइनल फ्लुइड) को उद्वहन (धारण) करनेवाले आशयों (वेण्ट्रीकल्स) से होता है। शिरोविरेचन द्रव्यों की क्रिया से पिछले-पिछले स्रोत में पीड़न बढ़ता जाता है। परिणामतया, वेण्ट्रीकल्स से आरम्भ कर द्रव उत्तर-उत्तर स्रोत में आकर अन्त को नासास्रोत में आता और वहाँ से बाहर निकल जाता है।

कामला में बन्दाल (देवदाली) का इस प्रकार शिरोविरेचन रूप में उपयोग होता है। इसके हिम या कषाय का उपयोग करने का विधान है। कागज की नली आदि से सूक्ष्म चूर्ण नासिका में फूँकना अच्छा होता है। इससे एक तो औषध का अच्छा प्रमाण कार्य-प्रदेश पर जाता है। हिम या कषाय में कार्यकारी तत्त्व चूर्ण जितने प्रमाण में नहीं आ सकता, यह समझी जा सके ऐसी बात है।

दूसरे, द्रव द्रव्य कभी गले में उतर जाने से तीव्र पाक तथा तज्जन्य लक्षण होते हैं। बन्दाल के नस्य से जो द्रव-प्रवृत्ति होती है, उसमें सिराजाल से आया रस भी होता है। इस रस में मिश्रित (घुला हुआ) याकृत पित्त का वर्ण-द्रव्य और लवण भी और कभी स्वयं याकृत पित्त भी होता है। इस द्रव के साथ उसकी भी प्रवृत्ति होती है। कामला में दिये इस नस्य से प्रभूत पीतवर्ण स्राव होता है।

शिरोविरेचन द्रव्यों की क्रिया का जो स्वरूप ऊपर बताया है, उससे समझा जा सकता है कि, इसका सीधा प्रभाव तर्पक कफ पर होता है। सो मोह, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार आदि में यथावश्यक तीव्र शिरोविरेचनों का उपयोग कर देखना चाहिए।

इतने प्रासंगिक विवेचन के पश्चात् अब दोषों की शाखा से कोष्ठ में गति का अगला और अन्तिम कारण देखते हैं।

५. वायु का निग्रह--ग्रन्थ के आरम्भ में वायु से रोगमात्र की उत्पत्ति की संभावना का विचार हमने किया है। प्रस्तुत प्रकरण में भी ऊपर कहा है कि, वायु का प्रकोप होने के कारण दोष कोष्ठ से शाखाओं में जाते हैं। इन सचाइयों से सीधा बोध यह ग्रहण किया जा सकता है कि इस वायु को यदि निगृहीत (नियन्त्रित, समावस्था को प्रापित) किया जाय तो उससे शाखाओं में प्रक्षेपित दोष भी, अब वायु के प्रभाव में न रहने से, अपनी स्वाभाविक गति को प्राप्त होते हैं--शाखाओं को छोड़कर कोष्ठ में आने लगते हैं। निदान-चिकित्सा में वायु के महत्त्व के विषय में ग्रन्थ के आरम्भ में हम जो कह आये हैं उसकी पुष्टि में इस प्रकरण में आया यह आप्तवचन प्रस्तुत किया जा सकता है। वाचक वायु के प्रभाव को इस प्रकरण में भी पुनः समझ लें और आत्मसात् कर लें।

रोगमार्गों के विषय में अपेक्षित वक्तव्य समाप्त हुआ। रोगों के वर्गीकरण के प्रसंग से अब इस अध्याय के शीर्षक में निर्दिष्ट अगले वर्ग 'स्रोतोदुष्टि जन्य रोग' का विचार करते हैं।

स्रोतोदुष्टिजन्य रोग

जैसे धातु, मल, स्थान या मार्ग दोषों के आश्रय और रोगों के स्थान-संश्रय के पात्र हैं वैसे ही स्रोत या शरीरान्तर्गत अवकाशमय अवयव भी। रोगों के निदान और चिकित्सा में सौकर्य की दृष्टि से आचार्यों ने शरीरगत मुख्य-मुख्य स्रोतों की पृथक् गणना कर उनकी व्याप्ति, दुष्टि एवं क्षति के लक्षण तथा उपचार बताए हैं। इस प्रकार धातुगत, मार्गगत आदि वर्गों के समान स्रोतोगत रोगों का पृथक् ही वर्ग तन्त्रों में उपवर्णित प्राप्त होता है। आयुर्वेद में स्रोतों का जो महत्त्व बताया है उसे देखते यह यथार्थ भी है।

आरोग्य तथा अनारोग्य में स्रोतों का स्थान--

शरीर की क्रिया एवं आरोग्य में जो पद वात-पित्त-कफ तथा उनके साम्य का है वही स्रोतों का भी है। शरीर में जितने भी भाव (जिनकी उत्पत्ति और स्थिति हो ऐसे द्रव्य रूप या अद्रव्यरूप पदार्थ) हैं उनकी उत्पत्ति-स्थिति किंवा विनाश स्रोतों के विना हो नहीं सकता--सर्वे हि भावाः पुरुषेनान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति। च० वि० ५।३

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर के अध्ययन से विदित हुआ होगा कि यह शरीर दोष, धातु और मल इन तीन के समवाय से बना है। ये तीन इसके समवायी या उपादान कारण हैं। वहीं जीवच्छरीर में इनकी उत्पत्ति या पुष्टि का क्रम बताते कहा गया है कि रस-रक्तादि क्रम से अन्नरस प्रत्येक धातु की पुष्टि करता है। पुष्टि के इस क्रम में प्रत्येक धातु के साथ उसके उपधातु तथा मल की भी पुष्टि होती है। दोष नाम से अभिहित वात-पित्त-कफ मल-विशेष ही हैं। सो धातुओं की उत्पत्ति या पुष्टि के क्रम में ही उपधातुओं, दोषों और मलों की भी पुष्टि होती रहती है। अन्य शब्दों में कहना हो तो शरीर के सर्व पदार्थ, किंबहुना सम्पूर्ण शरीर की पुष्टि इन धातुओं के क्रम में ही होती है। धातुओं की पुष्टि को लक्ष्य में रखकर कहा गया है---

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥
च० चि० ८।३९

तात्पर्य--अन्नरस का पचन कर शरीर के धातुओं की--साथ ही उक्त क्रमानुसार उपधातुओं, दोषों एवं मलों की--पुष्टि के लिए उनकी अपनी-अपनी अग्नि आवश्यक होती है। साथ ही, प्रत्येक धातु तथा उसके उपधातु आदि की समभाव से पुष्टि हो इस हेतु उन्हें अन्नरस यथावत् पहुँचानेवाले अपने-अपने स्रोतों की आवश्यकता होती है।

इससे सिद्ध है कि, जबतक जठराग्नि, धात्वग्नि और भूताग्नि अविकृत रहें तथा धातुवाही स्रोत स्वस्थ (अवरोध, दुष्टि या वैगुण्य-रहित) रहें तब ही तक धातु आदि से बने शरीर के एक-एक अवयव की पुष्टि अव्याहत होती रहती है।--तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्--च० वि० ५।७। 'सर्वे हि भावा......' इत्यादि पूर्व-धृत वचन में तन्त्रकार ने जो बात कही है, उसी का विस्तार यहाँ धातु-पोषणक्रम में प्रतिपादन में किया है[1]। किंबहुना,

---

१--च० सू० २८।३ वचन आयुर्वेदीय क्रियाशारीर का मूल स्तम्भ कहा→

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते, पुष्यन्ति न च धातवः॥
च० चि० ८।२९

तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्॥
च० वि० ५।७

× × × अहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च॥
अ० हृ० शा० ३।४२

पुरुष विषमाशन करे--अन्नपान के सेवन के शास्त्रोक्त नियमों का उल्लङ्घन कर आहार का सेवन करे, एवं विपरीत विहार (चेष्टा) आदि करे तो उसके दोष प्रकुपित होकर अपना अनुलोम (प्राकृत) मार्ग छोड़, उन्मार्ग में गमन करते हुए स्रोतों में पहुँचते हैं तथा उनमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्रोतों का अवरोध होने से विविध रोगों की उत्पत्ति होती है तथा धातुओं की पुष्टि नहीं होती। ये ही स्रोत हिताहार विहारादि के सेवन से विशुद्ध रहें--उनका मध्यगत विवर या अवकाश जैसा होना चाहिए वैसा रहे--तो ये (स्रोत) आरोग्य के कारण होते हैं।

स्रोत शब्द का सामान्य तथा विशेष अर्थ--

अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में सौकर्य को लक्ष्य में रखकर कायचिकित्सकों तथा शल्यचिकित्सकों ने स्रोत शब्द का स्वल्प भिन्न अर्थों में व्यवहार किया है। चरकादि कायचिकित्सकों ने अवकाशमय अवयव-मात्र को स्रोत यह संज्ञा दी है, जबकि सुश्रुतादि शल्यतान्त्रिकों ने अवकाशमय अवयवों के एक देश के अर्थ में इस संज्ञा का सीमित व्यवहार किया है[1]। इसे मतभेद न समझकर इसका इतना ही आशय समझना चाहिए कि कायचिकित्सा के ग्रन्थों का अर्थ करते हुए स्रोत शब्द का व्यापक अर्थ लेना चाहिए तथा शल्यतन्त्र के वचनों का अनुशीलन करते हुए उसका मर्यादित अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथम चरक वचनानुसार स्रोत शब्द का अर्थ देखते हैं। स्रोत का अधो-निर्दिष्ट लक्षण प्रसिद्ध है--

---

←--जा सकता है। वहाँ प्राकृत शरीर का विशेषण आया है--**अनुपहतसर्वधातूष्म-मारुतस्रोतः**--जिसमें सर्व धात्वग्नि, वायु तथा स्रोत अविकल--प्रकृतिस्थ--हैं ऐसा। यह वचन भी इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है।

१--देखिए--**न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः॥**
च० वि० ५।३ पर **चक्रपाणि**

स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ च० वि० ५।३

तात्पर्य--अपने-अपने अग्नियों के ऊष्मा की क्रिया रसधातु पर होकर उसका परिपाक होते हुए जो धातु तथा मल बनते हैं उनका अभिवहन-- नाम एक स्थान से अन्य स्थान पर गमन--जिन मार्गों द्वारा होता है उन्हें स्रोत कहते हैं। दोष भी मल-विशेष ही होने से उनका भी अभिवहन इन स्रोतों द्वारा ही होता है। मन की पुष्टि भी हृदयस्थायी रस द्वारा होती है[1], सो उसका भी इन्द्रिय के प्रदेश में गमन इन स्रोतों से ही होता है।

इन स्रोतों के अनेक पर्याय हैं। तथाहि--

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति॥ च० वि० ५।९

स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, वाहिनी, रसवाहिनी, नाड़ी (नाली), पथ, मार्ग, शरीरछिद्र, संवृतासंवृत,[2] अयन, स्थान (अधिष्ठान), आशय, क्षय, निकेत --ये सब शरीर के धातुओं के (अभिवहन करनेवाले) दृश्य या अदृश्य अवकाशों (पोले स्थानों) के नाम हैं। इन सब शब्दों से स्रोतों का निर्देश शास्त्र में हुआ है।[3]

१--आयुर्वेद में तो मन की इस प्रकार पुष्टि की बात कही नहीं है। परन्तु छान्दोग्योनिषद् ५।१ में कहा है--**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः।** पाक के अनन्तर अन्न के तीन भाग हो जाते हैं। स्थूलतम भाग पुरीष होता है, मध्यम भाग शरीर के धातु-उपधातु तथा सूक्ष्मतम भाग मन।

मन की पुष्टि तथा क्षय (निःसारता) का यह उल्लेख प्रत्यक्ष-सिद्ध है। विभिन्न जीर्ण रोगों में शारीर धातुओं की क्षीणता के साथ मन भी क्षीण और दीन हो जाता है।

उपनिषद्-वाक्य में आए मांस का अर्थ धातु लिया है। सु० शा० ४।६ में 'मांस' शब्द इस व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

२--हृदय, महास्रोत, सिरा, धमनी आदि की क्रिया देखें तो वे एक निश्चित कालक्रम से संकुचित तथा विकसित होते हैं। इस क्रिया को लक्ष्य में रखकर ही इन्हें संवृतासंवृत संज्ञा दी गयी है।

३--अ० स० शा० ६ भी देखें।

सुश्रुत ने धमनी व्याकरण अध्याय (शा० ९) के आरम्भ में सिरा, धमनी और स्रोतों में अभेद माननेवाले काय-चिकित्सकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है। उसकी टीका में डल्हन ने अधोलिखित तन्त्रान्तर-वचन द्वारा पूर्व पक्ष की व्याख्या की है।

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः ।। इत्यादि
सु० शा० ९।३ पर

अर्थात् पञ्चमहाभूतमय होते हुए भी शरीर के जो अवयव आकाश महाभूत की अधिकता होने से अवकाशमय होते हैं उनको सिरा, स्रोत, मार्ग, ख (छिद्र) धमनी, नाड़ी, आशय इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

जैसा कि आगे देखेंगे, सुश्रुत ने सिरा और धमनी को छोड़ शेष सर्व आकाशीय अवकाशों को स्रोत कहा है। स्रोत शब्द का यह मर्यादित अर्थ लें तो भी स्रोतों की संख्या और विस्तार अपरिमित है। काय-चिकित्सकों की पद्धति का अनुसरण करते हुए सिराओं और धमनियों का भी समावेश स्रोतों में किया जाए तो इन स्रोतों की संख्या और विस्तार असाधारण हो जाएगा। इसी से कोई आचार्य पुरुष (जीवच्छरीर) को स्रोतों का ही समुदाय मानते हैं। कई कहते हैं, स्रोतों के वाह्य द्रव्य, पोष्य अवयव, आश्रय का स्थान तथा स्रोत जिनसे बने हैं वे द्रव्य—ये सब स्रोतों से भिन्न हैं, अतः पुरुष को केवल स्रोतोमय नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता, स्रोतों की संख्या अति बहु होने से उन्हें अपरिसंख्येय कहना संगत है। कोई आचार्य कहते हैं, स्रोत संख्येय हैं—उनकी गणना करना संभव है[1]।

सुश्रुत मत से स्रोत का लक्षण—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ।। सु० शा० ९।१३

हृदय आदि मूल स्थानों (उद्भव स्थानों) से शरीर में प्रसृत हुए जो अवकाश हैं, सिरा[2] और धमनी को छोड़कर शेष उन सबको स्रोत कहा जाता है।

१—देखिए च० वि० ५।४

२—शल्यचिकित्सा के ग्रन्थों में सिरा-धमनी के सिवाय अवकाश-वाचक सब शब्द तथा काय-चिकित्सा आदि के ग्रन्थों में मार्ग-वाचक शब्दमात्र अनेक प्रकार से भिन्न अनेक अवकाशमय मार्गों के लिए व्यवहृत हुए हैं। तथापि, आधुनिक प्रत्यक्षानुसार ग्रन्थ रचना करते हुए सिरा, धमनी, रसायनी, आशय आदि संज्ञाओं का एक-एक अर्थ निश्चित कर एक मार्ग के लिए एक ही शब्द का व्यवहार करना उपयुक्त है। इससे घोटाले की संभावना न रहेगी।

स्रोतों के प्राथमिक भेद : बहिर्मुख तथा अन्तर्मुख[१]---

स्रोतों के प्रथम दो भेद होते हैं--दृश्य या बहिर्मुख स्रोत तथा अदृश्य या अन्तर्मुख स्रोत। अन्तर्मुख स्रोतों को अन्तःस्रोत, जीवितायतन या योगवह स्रोत भी कहते हैं।

दो नासापुट (घ्राण), दो नेत्र, दो कर्ण, एक मुख, एक गुद (पायु), एक मूत्रप्रसेक (मेढ्र, शिश्न) इन नौ प्रत्यक्ष स्रोतों को दृश्य या बहिर्मुख स्रोत कहते हैं। स्त्रियों में दो स्तन तथा एक आर्तववह ये तीन दृश्य स्रोत अधिक होते हैं। अध्यात्म-ग्रन्थों में पुरुषों के नौ प्रत्यक्ष स्रोतों को 'नव द्वार' कहा जाता है।

स्रोत यों असंख्य होते हुए भी स्रोतों के इन प्राथमिक भेदों के अवान्तर भेद शल्यतान्त्रिकों और कायचिकित्सकों ने पृथक्-पृथक् बताए हैं। शल्यतान्त्रिकों ने जिन स्रोतों के हृदयादि स्थूल मूलों का वेध होने से तत्तत् चिन्तनीय वेदनाएँ होती हैं[२] उन्हें दृष्टि में रखकर स्रोतों के ग्यारह युग्म बताए हैं तथा उनके मूल के वेध से होनेवाले परिणाम और उनकी चिकित्सा का निर्देश किया है[३]।

कायचिकित्सकों (चरक तथा वाग्भट) ने जिन स्रोतों की दोष-प्रकोपजनित दुष्टि (विकृति) होने से स्मरणीय परिणाम होते हैं[४], ऐसे तेरह स्रोतों का नाम निर्देश कर उनकी दुष्टि के हेतु-लक्षण-चिकित्सा का प्रतिपादन किया है[५]।

१---देखिए : सु० शा० ५।६, १०; अ० सं० शा० ६; अ० हृ० शा० ३।४०-४१ तथा इनकी टीकाएँ।

२---शा० ६।१२ में सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है---**येषु अधिकारः**, जो हमारे प्रतिपाद्य हैं, उन्हीं स्रोतों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इन पद्यों का डल्हन कृत विस्तृत विवरण द्रष्टव्य है।

३---देखिए---सु० शा० ६।१२ तथा उस पर डल्हन की टीका।

४---स्रोतों की असंख्यता का ऊपर कहे प्रकार से निरूपण कर आगे तेरह स्रोतों का उल्लेख करते हुए भूमिका-रूप में चरक ने स्पष्ट कहा है---**कतिचित् प्रकारान्**---यहाँ कुछ ही आवश्यक भेद बताए जा रहे हैं। इनके विवरण से बुद्धिशाली विद्यार्थी अन्य स्रोतों की दुष्टि को भी समझ सकता है, और मन्दबुद्धि के व्यवहार के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। (देखिए : च० वि० ५।५ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका)। समझा जा सकता है, कि चरक और सुश्रुत के बताए स्रोतों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अपरंच, अन्य प्रकरणों में अन्य भी स्रोत तंत्रकारों ने बताए ही हैं; जसे---सु० उ० ५३।३ में **स्वरवह स्रोत** (कण्ठ), सु० नि० १।८३ में **शब्दवह स्रोत** इत्यादि।

५---देखिए : च० वि० ५।५-२८।

पाँचवाँ अध्याय

आदिबलप्रवृत्तादि रोग-वर्ग तथा अन्य वर्गीकरण

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं चतुर्थमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

आदिबलप्रवृत्तादि रोग-वर्ग तथा अन्य वर्गीकरण[1]

रोगों के आध्यात्मिक आदि तीन वर्ग--

सुश्रुत ने रोगों के प्रथम आध्यात्मिक आदि तीन भेद बताकर अनन्तर इन्हीं के सात भेद बताए हैं। यह वर्गीकरण अधिक व्यापक है, यद्यपि पहले कहे गये और आगे कहे जानेवाले वर्गीकरण का ही प्रकारान्तर से इसमें उल्लेख हुआ है।

जीवच्छरीर को होनेवाले दुःख-संज्ञक रोगों के प्रथम तीन विभाग हैं: आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

आध्यात्मिक रोग--आत्मा का अर्थ है मन-सहित शरीर, नाम जीवित प्राणि-शरीर[2]। आत्मा में रोगोत्पत्ति करनेवाले वात-पित्त-कफ ये शारीर दोष तथा रजस्-तमस ये मानस दोष अध्यात्म कहाते हैं। इनसे होनेवाले शारीर-मानस-रोगों को आध्यात्मिक कहा जाता है।

१--देखिए : सु० सू० २४।४--७, तथा इन पर डल्लन और चक्रपाणि की टीकाएँ।

२--आत्मा का अर्थ टीकाकारों ने यह दिया है : **आत्मशब्देन समनस्कं शरीरमुच्यते**--डल्लन ; **आत्मशब्देन शरीरं भण्यते**--चक्रपाणि। इससे आध्यात्मिक शब्द का अर्थ समझा जा सकता है। आयुर्वेद में आत्मा से किस का ग्रहण करना अभीष्ट है, यह भी इससे स्पष्ट है। प्राचीन वाङमय में सर्वत्र आध्यात्मिक का अर्थ 'जीवच्छरीर से संबन्ध रखनेवाला' यही है। आत्मा का अर्थ केवल जीवात्मा रूढ हो जाने से भाषा ग्रन्थों तथा लोक में आध्यात्मिक का अर्थ 'पारलौकिक' प्रसिद्ध हो गया है। उसके लिए आधिदैविक शब्द है। यह अर्थ-भेद प्राचीन वाङमय पढ़ते हुए स्मरण रखना चाहिए।

आधिभौतिक रोग---भूत का अर्थ है पृथिवी, वायु आदि बाह्य महाभूत, अथवा प्राणी। इन उभयविध भूतों से होनेवाले आगन्तु[1] रोगों को आधिभौतिक रोग कहते हैं।

आधिदैविक रोग--देव नाम विभिन्न अमानुष योनियों से होनेवाले, किंवा दैव (पूर्व-जन्मकृत कर्म) से होनेवाले रोगों को[2] आधिदैविक कहा जाता है।

इन्हीं तीन को अधिक विशद करने के प्रयोजन से पुनः अधोलिखित सात भेदों में विभक्त किया गया है: आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त, संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त, तथा स्वभावबलप्रवृत्त। इनमें प्रथम तीन नाम आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त तथा दोषबलप्रवृत्त आध्यात्मिक के भेद हैं; संघातबलप्रवृत्त या आगन्तु आधिभौतिक का पर्याय है तथा कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त और स्वभावबलप्रवृत्त का समावेश आधिदैविक में होता है। कोई टीकाकार स्वभावबलप्रवृत्त क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा आदि व्याधियों की गणना आध्यात्मिक वर्ग में करते हैं।

अब इन सात भेदों के लक्षण, उपभेद तथा उदाहरण देखते हैं।

आदिबलप्रवृत्त रोग

वातादि-दोषदूषित शुक्र-शोणित (पुंबीज–स्त्रीबीज) में दोषों के कारण रहे रोगजनक स्वभाव से हुए रोगों को आदिबलप्रवृत्त रोग कहते हैं। इस शब्द में आदि पद का अर्थ है---शुक्र और शोणित का संमूर्च्छन (संयोग, फ्युशन) होने पर हुआ जीव का संयोग। यह शरीर में चैतन्य और उसके कारण उसकी (शरीर की) वृद्धि और पुष्टि का हेतु होता है। इस 'आदि' या शुक्रशोणित-संयोग में माता-पिता के शरीर में स्थित रोग भी शुक्र और शोणित द्वारा संक्रान्त होकर आए होते हैं तथा गर्भ-शरीर में संचरित होते हैं।

आदिबलप्रवृत्त रोगों की असाध्यता--

इन रोगों को चरक ने कुलज[3] नाम दिया है। वेद में इन्हें

१—आगे सु० सू० २४।६ में संघातबलप्रवृत्त रोगों को आधिभौतिक कहा है। वहीं उनका पर्याय आगन्तु दिया है।

२—देवाः सुराः सुरयोनयश्च--सु० सू० २४।४ पर डल्हन; दैवं प्राक्तनं कर्म, तदधिकृत्य वर्तत इत्यधिदैवम्; तत्र भूतमित्याधिदैविके व्युत्पत्तिमिच्छामः सु० सू० २४।७ पर चक्रपाणि।

३—प्रमाण इसी प्रकरण में आगे देखिए।

क्षेत्रिय[1] कहा गया है। लोक में इनके लिए आनुवंशिक (अंग्रेजी--हेरेडिटरी) आदि शब्द प्रचरित हैं।

आदिबलप्रवृत्त या कुलज रोगों के ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि कुलज रोग असाध्य होते हैं। प्रमेहों के प्रकरण में अत्रि-पुत्र ने कहा है--

जातः प्रमेही मधुमेहिनो[2] वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्॥

च० चि० ६।५७

× × बीजदोषादिति प्रमेहारम्भकदोषदुष्टवीजजातप्रमेहित्वात् × ×॥ चक्रपाणि

प्रमेह रोग-पीड़ित माता-पिता का अपत्य प्रमेही हो तो उसका रोग साध्य नहीं होता। कारण, वह प्रमेह के उत्पादक दोषों से दूषित बीज से उत्पन्न हुआ होता है। (इस प्रकार रोगी पुरुष का जितना वय होता है उससे भी अधिक वय उस रोग का होने से रोग चिरकारी--पुराना एवं गम्भीर होने के कारण असाध्य हो जाता है।) केवल प्रमेह की बात नहीं, अन्य भी जो रोग कुलज होते हैं वेभी इसी प्रकार असाध्य (याप्य किंवा प्रत्याख्येय) होते हैं।

कुलजता के ज्ञान से निदान की शुद्धि में भी सहायता होती है, विशेषतया व्यवसाय के आरम्भ में अपरिपक्व बुद्धि के चिकित्सक को। यथा, क्षय एक कुलज रोग है। कोई रोगी जीर्ण प्रतिश्याय, कास, श्वास, अरुचि, धातुक्षय (शरीर की क्षीणता, कृशता), रक्तष्ठीवन आदि न्यूनाधिक लक्षण लेकर आया

१--अथर्ववेद के भाष्य में **क्षेत्रिय की व्युत्पत्ति** सायणाचार्य ने इस प्रकार दी है।--**क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतः क्षयकुष्ठादि रोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते**--अथर्व कां० २, अ० २, सू० ८, मं० १ पर; **क्षेत्रियाणां क्षेत्रात् परक्षेत्रात् मातापितृशरीरादागतानां कुष्ठापस्मारग्रहण्यादिरोगाणाम्**--अथर्व २।१।४।५ पर। अर्थात् '(पर) क्षेत्रात् आगतः' यह क्षेत्रिय की व्युत्पत्ति है। (गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य कृत व्याधि-विज्ञान से।) वेद में अन्यत्र इन्हें **जायान्य** भी कहा गया है।

२--मधुमेह शब्द यहाँ प्रमेह के लिए प्रयुक्त हुआ है, इस विषय में विस्तृत ऊहापोह चक्रपाणि की टीका में देखिए।

हो तो उसके अमुक स्वजनों के विषय में प्रश्न करना चाहिए कि उनकी मृत्यु तो नहीं हुई, और हुई है तो मृत्यु का कारण क्या था ? यदि उत्तर 'क्षय' मिले तो प्रस्तुत रोगी में भी क्षय किंवा उसके पूर्वरूप का निदान किया जा सकता है। कई बाल-बुद्धि रोगी यह नहीं जानते कि उनके पिता आदि को क्या रोग था। वे इतना कहते हैं कि वे दीर्घ काल शय्यावश रहे थे, शरीर अति क्षीण हो गया था, कास, श्वास थे, मुख से रक्त पड़ता था, इत्यादि। इनमें दो-तीन या सभी लक्षणों का निर्देश वे करते हैं। उससे क्षय की संभावना सुगमता से कोई भी चिकित्सक कर सकता है।

आदिबलप्रवृत्ति या कुलजता के ज्ञान के लिए अनुभवी चिकित्सक नीचे लिखे स्वजनों की मृत्यु किंवा वे जीवित हों तो उनकी वर्तमान प्रकृति-विकृति के विषय में प्रश्न-परीक्षा करना उचित समझते हैं : पिता, माता, ताया, चाचा, सगे या चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई-बहिन ; मामा, मासी, फूफी।

पद्य में आए 'बीजदोषात्' पद की जो व्याख्या चक्रपाणि ने दी है उससे तथा आगे दिये जानेवाले मूल वचन से स्पष्ट होगा कि, पिता-माता से स्वयं रोग संतान में संक्रान्त नहीं होता, किन्तु रोग के आरम्भक दोष से हुई दुष्टि शुक्र-शोणित द्वारा संतति में आती है। नवीनों का भी यही मत है, यह हम आगे देखेंगे।

स्वभावतः आदिबलप्रवृत्त रोगों के दो भेद होते हैं : मातृज या शोणितज तथा पितृज या शुक्रज। आदिबलप्रवृत्त रोगों के उदाहरण ये हैं—कुष्ठ अर्श, प्रमेह, क्षय, अपस्मार, ग्रहणी, श्वित्र[1] आदि। कुष्ठों में फिरङ्गकुष्ठ का भी ग्रहण समझना चाहिए।

१—सुश्रुत ने इन रोगों के उदाहरण **कुष्ठार्शःप्रभृतयः** दिए हैं। डह्लन ने प्रभृति से अन्य रोगों का ग्रहण करते लिखा है—**प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादयः**। इस गणना में ऊपर धृत सायण-भाष्य में दिए अपस्मार और ग्रहणी भी ले लिए हैं। भगवान् मनु के आगे दिए पद्य में ऐसे रोगों की गणना में आए श्वित्र का भी यहाँ ग्रहण कर लिया है।

रोग-पीड़ित कुलों में विवाह का निषेध—

मैथुन के अधिकार (प्रकरण) में आचार्यों ने रोग-पीड़ित स्त्री या पुरुष के साथ मैथुन का निषेध किया है। भगवान् मनु ने रोग-पीड़ित कुलों से मैथुन के प्रायिक मूल विवाह-संबन्ध का ही प्रतिषेध कर दिया है। देखिए :

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ →

रोग की नहीं, दोषजनित दुष्टि की ही कुलजता--

प्रकृतियों के प्रकरण में आया आयुर्वेद का यह सिद्धान्त वाचकों को विदित होगा कि : शुक्र और शोणित के संमूर्च्छन (एकीभाव, फर्टिलाइज़ेशन) के समय इन दोनों की जो प्रकृति होगी--अर्थात् इनमें जिस दोष का आधिक्य होगा, उस दोष के आधार पर ही भावी संतति की प्रकृति का निर्माण होगा--उसके शारीरिक स्वरूप तथा मानसिक स्वभाव की रचना प्राधान्येन उस दोष के अनुसार ही होगी। रोगी की परीक्षा करते हुए प्रकृति की परीक्षा प्रथम करनी होती है। इसका कारण तन्त्रकारों ने यह बताया है कि, प्रकृति का आरम्भक (उत्पादक) दोष अपने इतर-दोष-विपरीत गुणों से उन्हें दबाए रहता है--कदाचित् उनके प्रकोपक अहिताहार-विहार, औषध, देश और काल का सेवन हो भी जाए तो उन दोषों का प्रकोप उतना नहीं होने देता।

← हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

मनुस्मृति अ० ३

—कोई कुल उच्च एवं गौ-बैल, बकरी, भेड़, धन और धान्य से समृद्ध हों, तो भी यदि उनमें धर्मानुकूल क्रिया-कलाप न होता हो, उनमें पुरुष संतान न होती हों, उनमें स्वाध्याय और प्रवचन का प्रचार न हो, उनमें शरीर पर बड़े-बड़े लोम हों, किंवा उनमें अर्श, क्षय (राजयक्ष्मा), आमय (आम-विकार, ग्रहणी-विकार), अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठ इनमें कोई रोग हो, तो इनमें विवाह न करना चाहिए।

वस्तुतः क्षय आदि रोगों को राष्ट्र में प्रसृत होने से अटकाने का यही सर्वोत्तम उपाय है। प्राचीन आर्य इन नियमों का कितनी दृढ़ता से पालन करते होंगे, इसका सूचक एक पद्य मनुस्मृति से दिया जाता है।--

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि।
न त्वेवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

--कन्या ऋतुमती होने पर भले आमरण पितृ-गृह में रहे, परन्तु गुणहीन के साथ तो उसका पाणिग्रहण कभी न कराना चाहिए।

आजकल कुछ ऐतिहासिक कारणों से लोकों की दृष्टि में भिन्नता आ गयी है, और विशेषतया कन्या को अविवाहित रखना ठीक नहीं समझा जाता। रोगिष्ठ, जराजीर्ण भी पुरुष या स्त्री का विवाह कर दिया जाता है। इसमें सुधार की आवश्यकता है, यह कहना अस्थाने न होगा।

रोगी स्त्री-पुरुष को आजीवन विवाह न करने देने के नियम में किसी को निर्दयता की गन्ध आ सकती है। परन्तु एक ओर एक व्यक्ति का अवास्तविक→

प्रकृति के निर्माण में यद्यपि तात्कालिक ऋतु आदि की भी कारणता होती है तथापि मुख्य कारण तो प्रकृति-निर्माण में शुक्र-शोणित या पुंबीज-स्त्रीबीज की मूल प्रकृति ही होती है। एवं ऋतु, देश आदि शेष कारण भी शुक्र-शोणित पर क्रिया करते हुए ही अपना प्रभाव दर्शाते हैं। इस प्रकार प्रकृति के रूप में पिता-माता में प्रधानतया स्थित दोष भी संतति में संक्रान्त होता है, जिससे सामान्यतया संतति को भी उस दोष से आरब्ध (उत्पादित) रोग होने की संभावना होती है, जिस (दोष) के रोग उसके माता-पिता में प्रायः होते हैं। परन्तु क्षय, कुष्ठ आदि रोगों में यह विशेषता होती है कि वे उपचार न होने से या मिथ्योपचारवश कालक्रम से गम्भीर (उत्तरोत्तर धातु में अनुप्रविष्ट) होते हुए अन्त को शुक्र-शोणित में और उनके द्वारा संतान में संक्रान्त हो जाते हैं। रोगों के संक्रमण का अर्थ पुनः स्पष्ट कर दूँ, रोगजनक दोष से हुई दुष्टि का संक्रमण ही है।

आदिबलप्रवृत्त या कुलज रोगों के प्रकरण में चिकित्सा की दृष्टि से ज्ञातव्य इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि, पिता-माता तथा संतान दोनों को समान रोग होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि : पिता-माता जिस रोगारम्भक देश में रहते हों, जिस अहिताहार का सेवन करते हों किंवा जिस वेगावरोधादि रोगोत्पादक विहार के अभ्यासी हों, स्वभावतः संतान भी उन अहित आहारादि का सेवन करती है। इनमें वेगावरोध आदि अहित विहार का सेवन बाल्य वय

←हित देखना है और दूसरी ओर समग्र समाज और राष्ट्र के वास्तविक हित का विचार करना है—उसमें प्रसृत होनेवाले यक्ष्मा तथा अन्य कृच्छ्रसाध्य रोगों का समूलोन्मूलन करना है। प्राचीन नीति-शास्त्रों ने इस तथा ऐसे ही अन्य विषयों में दृढ़ता से कह दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

—कुल की रक्षा का प्रश्न हो, तो एक (कुल की अङ्गभूत एक व्यक्ति) की रक्षा का विचार छोड़ दे। ग्राम की रक्षा के लिए कुल को छोड़ दे। देश के लिए ग्राम को छोड़ दे और अपना हित होता हो, तो देश को भी छोड़ दे।

विवाह-विषयक यह विचार राष्ट्र के स्वास्थ्य का विषय होने से तो आयुर्वेद से संबद्ध है ही, इसका विशेष संबन्ध आयुर्वेद और वैद्य के साथ इस कारण भी है कि—आचार्यों ने वर और कन्या की परीक्षा और उनके विवाह का कार्य कौमार-भृत्य का ही बताया है। देखिए :

अथाऽस्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति॥ सु० शा० १०।५३

के अज्ञानवश देखादेखी होता है। इस प्रकार अहिताहार-विहारादि के साम्य से पिता-माता जिन रोगों से पीड़ित हों उन्हीं से अपत्य का भी पीड़ित होना संभाव्य होता है।

गर्भ के मातृज तथा पितृज अवयव--

आदिबलप्रवृत्त रोगों के प्रकरण में एक और वस्तु को स्मरण किया जा सकता है। गर्भ या संतान के शरीरावयवों के विषय में आचार्यों ने कहा है कि: शरीरावयवों में कुछ मातृज नाम माता के शोणित से बनते हैं और कुछ पितृज होते हैं। अवयवों के मातृज और पितृज होने का फलितार्थ यह है कि, माता या पिता के बीजों से गर्भ के जो अवयव बनते हैं उनका स्वरूप, उनका स्वास्थ्य तथा उनका अस्वास्थ्य माता-पिता के अवयवों के स्वरूप आदि के अनुसार होता है। इस दृष्टि से रचनाशारीर में आए हुए गर्भ के मातृज तथा पितृज अवयवों की यहाँ पुनः स्मृति करा देना उचित होगा।

गर्भ (सन्तान) के पितृज अवयव ये हैं--केश, श्मश्रु, लोम, अस्थि, नख, दन्त, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र आदि स्थिर (मृदु-विपरीत) अवयव। गर्भ के मातृज अवयव ये हैं--मांस, रक्त मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, त्वचा, क्लोम, वृक्कद्वय, बस्ति, पुरीषाधान, (उण्डुक-सीकम), आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, वपा, वपावहन आदि मृदु अवयव[1]।

सो माता के ये अवयव कुलज रोगाक्रान्त होंगे तो संतान में भी ये अवयव रुग्ण होंगे। यही स्थिति पितृज अवयवों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यह बात तो सरलता से समझ में आ सकती है; परन्तु कभी-कभी धातु-विशेष की रुग्णता से उस धातु की प्रधानता वाला माता या पिता का अमुक अवयव रुग्ण होता है, परन्तु संतान में वही अवयव किंवा उस धातु के आधिक्य वाला अन्य कोई अवयव

१--देखिए--सु० शा० ३।३३; च० शा० ३।१२-१३। यद्यपि प्रत्येक अवयव में माता-पिता दोनों का अंश होता है, तथापि '**व्यपदेशस्तु भूयसा**--' जिस द्रव्य में जिस उपादान का आधिक्य होता है उसके नाम पर उस कार्य द्रव्य को नाम दिया जाता है (अ० हृ० सू० ९।२)--इस आयुर्वेद-प्रसिद्ध नियम के अनुसार इस प्रकरण में भी जिस अवयव में माता का अंश अधिक होता है, उसे मातृज तथा जिसमें पिता का अंश अधिक होता है, उसे पितृज कहा गया है। अ० हृ० शा० ४-५ की टीका में **अरुणदत्त** का यह वचन प्रमाणभूत है--**अस्मिन् देहे अनेकसामग्रीकेऽपि यन्मृदु वस्तु तन्मातृजम्। मातुराधिक्येन कारण-भाव इत्यर्थः॥**

रुग्ण हो सकता है। उदाहरणतया, पुत्र को मांस धातु के दौर्बल्यवश गुदभ्रंश (प्रोलेप्स एनाई) हो तो परीक्षा करने से माता में इसी धातु के आधिक्य वाले तथा सुविदित कारणों से अधिक रोगपात्र अपत्यपथ, गर्भाशय-ग्रीवा या गर्भाशय का भ्रंश (प्रोलेप्स) होता है, या स्वल्प से श्रम से इनके भ्रष्ट होने की संभावना होती है; किंवा गर्भाशय के स्थान-सम्बन्धी विविध विकार होते हैं। कदाचित् पिता को फ्लैट-फुट नामक स्नायु-दौर्बल्यजनित विकार हो तो बच्चे को गुदभ्रंश, नाभिभ्रंश आदि हो सकते हैं। सो रोग-परीक्षा के प्रसंग में रोगी के माता-पिता के रोगों की परीक्षा करते हुए उनके तत्तत् अवयव की प्रकृति-विकृति की परीक्षा भी चित्त में रखनी चाहिए।

बीज द्वारा प्रकृति की अवतारणा का प्रकार—

आयुर्वेद में शुक्रधरा कला को सर्वशरीरव्यापिनी कहा है, उसका आशय इस प्रकरण में समझ में आ सकता है। शरीर के प्रत्येक अवयव में स्थित वंशानुगत एवं माता-पिता द्वारा अर्जित (एक्वायर्ड) प्रकृति, उसके स्वरूप तथा क्रिया की विशेषता एवं उनकी रचना या क्रिया सम्बन्धी विकृति (वैकल्य या रोग) अपत्य में उतरते हैं। माता या पिता के कान की किनारी पर अणी हो वह भी संतति में देखी जाती है, इतने से समझा जा सकता है कि कितनी साधारण-सी प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ भी संतति में संक्रान्त होती हैं। यही प्रकार प्रत्येक प्राकृत या वैकृत वस्तु के पिता और माता से संक्रमण में होता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि, भले पुंबीज और स्त्रीबीज की उत्पत्ति अपनी-अपनी बीज-ग्रन्थियों से होती हो तथापि शरीर के प्रत्येक स्थूल अवयव तथा उसके घटक सूक्ष्म परमाणुओं (कोषों, सेल्स) के साथ इन बीजों का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होता है, जिसके द्वारा उनकी रचना तथा क्रिया प्राकृत एवं विकृत रूप में प्रथम इन बीजों में (पुंबीज और स्त्रीबीज में) संक्रान्त होती है और वहाँ से अपत्य में उतरती है। कम से कम शरीरावयवों और पुंबीज-स्त्रीबीज के इस सम्बन्ध को देखते हुए शुक्र को सर्व शरीरगत कहने में कोई असंगति नहीं है। प्राच्य-पाश्चात्य उभय मत से इस विषय के अधिक विश्लेषण की आवश्यकता है।

यहाँ हमने शुक्र के स्थान-निर्देश तथा प्रकृति की अवतारणा के प्रसंग में स्त्री-शुक्र का भी उल्लेख किया है। स्त्रियों में भी शुक्र होता है, यह आयुर्वेद-सिद्धान्त है। वह (स्त्री-शुक्र) भी सर्वव्यापी तथा पुरुष-शुक्र के सदृश प्रकृति और विकृति का वाहक होता है यह समझ लेना चाहिए।

संतान में माता और पिता की प्रकृति-विकृति का वहन (संचरण) कैसे होता है, इसका विवरण चरक ने मुख्यतया मातृज तथा पितृज अवयवों का निर्देश कर

उनकी विकृति बताने के प्रसंग में[1] किया है। इनमें प्रथम स्थल की टीका में चक्रपाणि ने पहले प्राकृत स्थिति का निरूपण किया है, पश्चात् मूल वचनों की व्याख्या की है। वह कहता है--

मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम् ॥ च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणि

मनुष्य (नर या नारी) का बीज विविध अंगों के बीजभागों का समुदाय-रूप होता है। रचना की इस विशेषता के कारण ही वह बीज (गर्भ-बीज, फर्टिलाइज्ड ओवम) अपने--पिता-माता के--समान आकृति-प्रकृति वाले विविध अंगों के समुदाय-रूप पुरुष को उत्पन्न करता है।

बीजभाग का अर्थ है--बीज में स्थित बीज का वह भाग (अंश) जिससे बीज किसी अङ्ग-विशेष की रचना करता है। ऐसे अनेक बीजभागों के मिलने से सम्पूर्ण बीज बना होता है।

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते ॥ च० शा० ३।२३

किसी अङ्ग का उत्पादक बीजभाग उपतप्त हो तो संतान का वह अङ्ग-विशेष या तो बनता नहीं, या उसमें कुछ विकृति होती है। परिणाम का यह भेद इस बात पर अवलम्बित है कि बीजभाग में विकृति कितने प्रमाण में है। विकृति यदि बीजभाग के किसी अवयव में हो तो संतान के उस समग्र अवयव में विकृति या उसका अभाव नहीं होता किन्तु उस अंश-विशेष का ही कोई विकार पाया जाता है[2]।

आदिबलप्रवृत्त (कुलज) रोगों के वहन के विषय में इतनी स्पष्टता कर देनी आवश्यक है कि : कुष्ठादि कुलज रोग तभी संतान में संचरित होते हैं जब रोग-जनक दोष तथा रोग अत्यधिक होने से उत्तरोत्तर धातुओं में अनुप्रविष्ट हो अन्ततः उनसे शुक्र और शोणित दुष्ट हो चुके हों। अन्यथा, माता-पिता भले कुष्ठादि-रोग-पीड़ित हों, उनकी संतति कुष्ठादि पीड़ित नहीं होती। देखिए :

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥
सु० नि० ५।२८

१--देखिए : च० ३।२३ ; च० शा० ४।३०--३१।

२--च० शा० ३।२४ ; च० शा० ४।३०--३१ ; च० चि० १४।५ ; सु० नि० ५।२८ तथा इन पर चक्रपाणि और डल्हन की टीकाएँ।

पद्य की टीका करता हुआ डल्हन कहता है कि : कुष्ठ से शुक्र-शोणित अर्थात्--पुंबीज-स्त्रीबीज उपहत (नष्ट) हो गया हो तो प्रजा होती ही नहीं। परन्तु बीज केवल उपतप्त (रोगग्रस्त) हो तो प्रजा तो होती है, पर उसमें उपताप के प्रमाण के अनुसार रोग-बाधा होती है[1]।

शारीरस्थान में चरक ने आरम्भ में मातृज-पितृज अवयवों के अपत्य-शरीर में संक्रमण के विषय में सामान्य नियम का उल्लेख कर आगे स्त्री और पुरुष की लिङ्गोत्पत्ति-सम्बन्धी कुछ स्पष्टता की है। मातृज तथा पितृज आदिबलप्रवृत्त रोगों पर वह घटित होने से उसका तात्पर्य यहाँ देना आवश्यक है।

स्त्रीबीज या पुंबीज में क्रमशः माता तथा पिता द्वारा प्राप्त होनेवाले जिस-जिस अङ्गावयव को बनानेवाला बीज-भाग रोगाक्रान्त (उपतप्त) होता है उस-उस अङ्गावयव में विकृति--रचना में वैकल्य या प्राकृत क्रिया में वैषम्य--होता है। बीज-भाग में ऐसा कोई रोग का सम्बन्ध न हो तो उससे उत्पन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग में (अङ्ग के अवयव-भूत प्रत्यङ्ग में) ऐसी कोई विकृति नहीं पाई जाती। तथाहि--

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात् ॥

च० शा० ३।२३

बीज इति शुक्रशोणिते। बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्तको भागो बीजभागः ॥ चक्रपाणि

आगे लिङ्ग-सम्बन्धी विकृति की व्याख्या करते तन्त्रकार कहते हैं[2]।

शुक्र-शोणित (पुंबीज-स्त्रीबीज) की विकृति दो प्रकार की होती है। उसके परिणाम भी दो प्रकार के देखे जाते हैं। एक स्थिति यह हो सकती है कि, रोगारम्भक दोष से उपतप्त हुआ पुंबीज या स्त्रीबीज अथवा दोनों उपहत (नष्ट) हो गए हों। इस दशा में स्त्री-पुरुष का समागम होकर शुक्र-शोणित का संमूर्च्छन होने पर भी गर्भ-लाभ नहीं होता[3]। दूसरी स्थिति नीचे लिखे अनुसार होती है--

---

१—पहले उद्धृत पद्य 'शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्' में दुष्टि का यह व्यापक अर्थ लेना उत्तम होगा। च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणि ने यह पद्य उद्धृत किया है। वहाँ इसकी व्याख्या भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

२—देखिए : च० शा० ४।३, ३०—३१ तथा इन पर चक्रपाणि की टीका।

३—'न तु कार्त्स्न्येन दूषयन्ति' इति वचनेन, कार्त्स्न्येन दुष्टौ गर्भजन्मैव न भवतीति दर्शयति। बीजे इति कृत्स्न एवारम्भके बीजे। बीजभागे वेत्यवयव-बीजस्यैकदेशे। —च० शा० ४।३० पर चक्रपाणि

दुष्टि के प्रमाण-भेद से परिणाम-भेद--

स्त्री दोषों के प्रकोपक कारणों का अति सेवन करे, परिणामतया उसके दोष प्रकुपित हो शरीर में प्रसृत होते हुए आर्तव (स्त्रीबीज) और गर्भाशय में पहुँचे, परन्तु आर्तव और गर्भाशय को पूर्णतया दूषित न करें--ऐसी स्थिति में स्त्री को गर्भस्थिति तो होती है[1], परन्तु गर्भ में जितने मातृज अवयव होते हैं उनमें से एक या अनेक अवयवों में विकृति होती है। विकृति कितने और किन अवयवों में होती है इसमें कारण यह होता है कि, स्त्रीबीज के अंशभूत जिस-जिस अवयव के घटक बीज में विकृति होती है गर्भ-शरीर के उस-उस अवयव में विकृति पाई जाती है। विकृति यदि अवयव-विशेष के घटक बीज के एक भाग में हो अर्थात् उस अवयव के किसी भाग का निर्माण करनेवाले बीजभाग में विकृति हो, तो उस अवयव के उस भाग-विशेष में ही रचनात्मक या क्रियात्मक विकृति होती है--

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति॥ च० शा० ४।३०

उदाहरणतया--स्त्री के आर्तव (सर्व-शरीरारम्भक स्त्रीबीज) में गर्भाशय को बनानेवाला भाग (गर्भाशय-बीज भाग=गर्भाशयजनक बीज-भाग) अतिशय दोषाक्रान्त होता है तब जो स्त्री संतति उत्पन्न होती है वह वन्ध्या होती है। गर्भाशय अर्थात् गर्भयन्त्र का जनक बीज-भाग मातृबीज में इतना दोषोपहत होता है कि स्त्रीबीज के अन्तर्गत अन्य समस्त शरीरावयवों के उत्पादक भाग निर्दोष होने से संतति में शेष सर्व शरीरावयव तो उत्पन्न होते हैं, परन्तु गर्भाशयजनक बीज-भाग अत्यन्त दोषोपहत होने के कारण ही उसके स्त्री-संतान में गर्भयन्त्र का (अन्तःफल, आर्तववह स्रोत, स्त्रीबीज, गर्भाशय और अपत्यपथ इन सबका, अथवा इनमें एक या अनेक का) निर्माण ही यथावत् नहीं होता। परिणामतया स्त्री संतति वन्ध्या होती है। परन्तु--

स्त्री के आर्तव (स्त्री-बीज) में गर्भाशयजनक बीजभाग पूर्णतया दोषदूषित न हुआ हो, किन्तु उसका एक अवयव दोषोपहत हुआ हो तो उस दोषोपहत बीज-भागावयव से स्त्री के गर्भयन्त्र के अङ्गभूत जिस अवयव का निर्माण प्राकृत अवस्था में होता है वह अवयव स्त्री-संतति में उत्पन्न नहीं होता। परिणामतया, जो स्त्री संतान होती है वह पूतिप्रजा होती है। पूतिप्रजा का अर्थ है ऐसी स्त्री जिसके

१--इस प्रसंग में मधुकोष का यह वचन भी द्रष्टव्य है : दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपघातादपत्यजनकम्; किंतु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम्--मा० नि०, कुष्ठ नि०, श्लो० ३० पर मधुकोष।

अपत्य होकर भी गर्भ में ही किंवा बाहर आकर मर जाते हों। कोई टीकाकार पूतिप्रजा का अर्थ ऐसी प्रजा (सन्तान) वाली स्त्री करते हैं जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग क्लिन्न नाम अत्यधिक अब्धातुवाले होने से शोथ, कोथ (सड़ांद) आदि रोगों से पीड़ित हों। एवमेव--

स्त्री के आर्तव (स्त्रीबीज) में एक ओर ऊपर निर्दिष्ट उदाहरण में कहे प्रकार से गर्भाशयजनक बीजभागावयव अति दोषोपहत हो, दूसरी ओर स्त्री-बीज में स्त्रीत्व के व्यञ्जक (सूचक) स्तन, उपस्थ, रोमराजि आदि अवयवों के जनक बीजभागावयव भी साथ ही दोष-दूषित हों तो जो संतति होती है उसका आकार-प्रकार अधिकांश स्त्री के समान होता है परन्तु उसमें स्त्री के संपूर्ण लक्षण नहीं होते। ऐसी व्यक्ति को वार्त्ता (पाठान्तर-रान्ता) कहते हैं। (यह हीजड़ों-नपुंसकों-यूनक्स का एक प्रकार है। इसमें न पुरुष के लक्षण सम्पूर्ण होते हैं, न स्त्री के; तथापि स्त्री के चिह्न अधिक देखे जाते हैं)।

इसे 'स्त्री-व्यापत्' कहते हैं। अब पुरुष-व्यापत् का विवरण देखिए।

स्त्री-व्यापत् के सदृश ही पुरुष-व्यापत् में भी बीजभाग अर्थात् शुक्रयन्त्र-जनक बीजभाग अतिशय दूषित हो तो जो पुरुष संतति होती है वह वन्ध्य होती है। परन्तु, शुक्रयन्त्र-जनक बीज-भाग का एक अवयव नाम शुक्रयन्त्र के किसी एक अंश का निर्माण करनेवाला बीजभाग दूषित हो तो जो पुरुष संतति होती है वह पूतिप्रजा होती है। इसका अर्थ स्त्री-व्यापत् के समान ही समझना चाहिए। यदि बीज की विकृति अधिक हो--शुक्रयन्त्र के अवयव का जनक बीजभाग तो दूषित हो ही, साथ ही पुरुषत्व के व्यञ्जक अवयवों के जनक बीजभाग भी अति दोषाक्रान्त हों तो जो संतति होती है उसमें पुरुष के लक्षण संपूर्ण नहीं होते, किन्तु उसकी आकृति-प्रकृति पुरुष से अधिक मिलती-जुलती होती है। ऐसे (नपुंसक) को तृणपुत्रिक (पाठान्तर-तृणपूलिक, तृणपूलीक) कहा जाता है। यह पुरुष-व्यापत् का वर्णन हुआ।

टीकाकार चक्रपाणि अन्य विद्वानों का मत दर्शाते कहते हैं कि, वार्ता और तृणपुत्रिक में व्यवाय की इच्छा तो होती है परन्तु उसका सामर्थ्य (मैथुन-शक्ति) नहीं होता।

अर्श की आदिबलप्रवृत्ति--

माता-पिता के बीज की सम्पूर्ण किंवा अवयव-विशेष या उसके भी एक देश की दोष-कृत दुष्टि के परिणामों की इस व्याख्या से अन्य अवयवों की रचनात्मक या कर्मात्मक विकृतियों और रोगों की आदिबलप्रवृत्ति (कुलजता) का स्वरूप

समझा जा सकता है। अर्श के प्रकरण में स्वयं तन्त्रकार ने इसकी व्याख्या की है[1]। तथाहि :

गुदज अर्शों के दो प्राथमिक भेद तन्त्रकार ने बताए हैं--सहज (जन्मजात) तथा जन्मोत्तरकालज। इनमें सहज अर्शों की उत्पत्ति का कारण दर्शाते तन्त्रकार आगे कहते हैं--

तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्॥
च० चि० १४।५

ऐसे शुक्रशोणित (पुंबीज-स्त्रीबीज), जिनमें अर्श की अधिष्ठानभूत गुदवलियों का उत्पादक बीजभाग अर्श के जनक दोषों से दूषित हो, सहज अर्शों की उत्पत्ति में कारण हैं।

गुदवलिजनक बीजभाग के उपतप्त (दोष-दूषित) होने के दो कारण हैं--(१) माता-पिता का अहिताहार-विहार, जो शुक्र-शोणित के गुदवलि-रूप भाग-विशेष का प्रदूषित करनेवाला हो। तथा (२) सहज अर्शों से पीड़ित पुरुष का पूर्वकृत ऐसा कर्म, जिसका परिणाम सहज अर्शों की ही विशेषतया उत्पत्ति करे। यह कर्म यदि दुर्बल हो तो माता-पिता के अपचार (अहिताहार-विहार) के साथ मिलकर गुदवल्यारम्भक बीजभाग को दूषित कर सहज अर्शों की उत्पत्ति में कारणभूत होता है। यह पूर्वकृत कर्म यदि बलवान् हो तो माता-पिता के अपचार के बिना भी सहज अर्शों को उत्पन्न करता है।

सहज अर्शों की उत्पत्ति में जो यह कारणों की मीमांसा की है वह अन्य सहज रोगों पर भी घटित होती है।

तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्। च० चि० १४।५

बीज, बीजभाग तथा बीजभागावयवों का ऊपर जो उल्लेख किया है वह क्रमशः आधुनिकों के स्त्रीबीज-पुंबीज (ओवम तथा स्पर्मेटाज़ोआ), उनके भी अङ्गभूत एवं प्रकृति और विकृति के वाहक क्रोमोसोम नामक सूत्र-विशेष तथा इन सूत्रों के भी घटक जेन नामक कण जिनमें प्रत्येक एक-एक वस्तु की संतान में अवतारणा का कारण होता है, उनका स्मरण कराता है। विद्वज्जन इस विषय में अधिक विचार कर सकते हैं।

कुलज रोगों के विषय में एक स्पष्टता ऊपर की है कि: रोगारम्भक दोष उत्तरोत्तर धातुओं में प्रविष्ट (गम्भीर) होता हुआ अन्त को शुक्र-शोणित को उपतप्त कर चुका हो तभी इनके संमूर्च्छन से हुए गर्भ या संतति में कुलज रोग संचरित होता है। दूसरी स्पष्टता इनके विषय में यह करने योग्य है कि, उत्पन्न होने के

१--च० चि० १४।५ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका।

साथ ही संतान में कुलज रोग देखे नहीं जाते। किन्तु, कालक्रम से दुष्टि के अभिव्यक्त होने पर, अर्थात् अहिताहार--विहार के सेवन से उसके अधिकतर कुपित हो व्यक्तावस्था में आने पर ही रोग के लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। प्रमेह के प्रकरण में कुष्ठ का उदाहरण देते हुए मधुकोषकार ने प्रमेह की कुलजता की एतद्विषयक व्याख्या करते कहा है :--

नहि प्रमेहिणा जात इत्येतावता जातमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि, कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्त्या, यथा कुष्ठिजातस्य कुष्ठम्॥

माधवनिदान, प्रमेह निदान, २२ पर मधुकोष

आदिबलप्रवृत्त (कुलज) रोग नव्य-मत से---

आधुनिकों ने भी अनेक रोगों को कुलज (हेरेडिटरी) कहा है। ऊपर धृत आर्ष वचनों में कहा है कि, रोग स्वयं नहीं, परन्तु उसके आरम्भक दोष से हुई दुष्टि ही अपत्य में संचरित होती है। नवीनों ने भी कतिपय रोगों के सम्बन्ध में यही बात कही है। वे कहते हैं कि, संतान में तत्-तत् रोग के उपसर्ग (संक्रमण) को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षया अल्प कारण से ग्रहण करने की प्रवृत्ति (झुकाव) होती है। इसे वे टेन्डेन्सी, डायाथिसीस, ससेप्टिबिलिटी आदि नाम देते हैं। इनमें कुछ रोगों के विषय में नवीनों का मत दिया जाता है :--

प्राइस ने राजयक्ष्मा के विषय में अपनी संहिता में लिखा है : राजयक्ष्मा के उपसर्ग (संक्रमण, छूत) के प्रति धातुओं की गम्यता (रोगोत्पत्ति की अधिक संभाव्यता) एक निश्चित सत्य है। राजयक्ष्मा की आदिबलप्रवृत्ति, यदि इसका अर्थ पुंबीज या स्त्रीबीज द्वारा राजयक्ष्मा के जीवाणु का गर्भशरीर में संक्रमण हो, तो यह शेष प्रश्न ही है। राजयक्ष्मा के सहज (जन्मजात) कुछ रोगी, जिनका आप्त-कृत वर्णन उपलब्ध है उनमें संक्रमण सम्भवतः रुग्ण (यक्ष्मी) अपरा से गर्भ के रस-रक्त में होता है[1]।

१—*Inheritance*—Inheritance of tissue susceptibility to infection by tuberculosis is a definite fact. But inheritance of tuberculosis is problematical, if by this is meant the transmission of tubercle bacilli in spermatozoon or in the ovum. In the few cases of "Congenital tuberculosis" that have been authentically described, the transmission has probably been from a diseased placenta to the blood of the foetus. Vide : A Text-Book of the Practice of Medicine, by F. W. Price (1950 edition), P. 46.

उसी पृष्ठ पर आगे कारणों की मीमांसा करते ये तन्त्रकार कहते हैं : राजयक्ष्मा के हेतुओं में निश्चय से मुख्य इसके उपसर्ग के प्रति धातुओं की आदि बल-प्रवृत्त (कुलज, वंशानुगत) गम्यता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया है। गम्यता का यथार्थ स्वरूप विदित नहीं हुआ है तथापि इसका अस्तित्व चिकित्सा-शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों में एक है[1]।

प्राइस ने अधिक विस्तार से इस विषय का उल्लेख करते पुनः कहा है : कुलप्रवृत्तिः राजयक्ष्मा निश्चित ही कई कुलों में असाधारण प्रमाण में पाया जाता है। क्योंकि बीज द्वारा यक्ष्मा के जीवाणुओं का गर्भ में साक्षात् संक्रमण असंभवप्राय है, अतः दो संप्राप्तियाँ इस विषय में सम्भव प्रतीत होती हैं। (१) यक्ष्मी वंश में उत्पन्न हुए बच्चों में राजयक्ष्मा के प्रति अपेक्षया अधिक गम्यता (आक्रमण की पात्रता) या न्यून क्षमता होती है। इसे यक्ष्मा की प्रवृत्ति कहते हैं; अथवा (२) जीवन के आदि काल में वे यक्ष्मी माता-पिता के संसर्गवश प्रभूत मात्रा में संक्रमण के पात्र होते हैं[2]।

विद्वान् लेखक ने आगे साध्यासाध्यता के प्रकरण में आरम्भ में ही कुल-प्रवृत्ति का विषय लिया है और कहा है : कुल में यक्ष्मा का इतिहास सविशेष हो तो प्रायः रोग असाध्य होता है, यद्यपि इसके अपवाद भी देखे जाते हैं[3]।

ऊपर आयुर्वेदीय तन्त्रकारों तथा भगवान् मनु ने यक्ष्मा की कुलज प्रवृत्ति का उल्लेख कर यक्ष्मी कुलों में विवाह का जो निषेध किया है वह आधुनिकों के प्रत्यक्ष से संवाद रखता है, यह उक्त वचन से सिद्ध है। इसी की पुष्टि के लिए प्राइस का

१—Among *other aetiological factors* the chief is undoubtedly the *inherited tissue susceptibility* to infection, already referred to. The exact nature of this susceptibility is not known, but its existence is one of the cardinal facts of clinical medicine. Vide ibid, P. 46.

२—*Heredity.*—Pulmonary tuberculosis certainly occurs with undue frequency in certain families Since the direct transmission of the tubercle becillus to the infant is extremely rare, two explanations seem possible—(1) Children born of tuberculous stock may inherit an increased susceptibility or diminished resistance, the tuberculous diathesis ; or (2) they may contract tuberculosis on account of their exposure to massive infection in early life. Vide ibid, P. 1249.

३—A marked family incidence generally suggests an unfavourable course, though this rule is not invariable. Vide, ibid, P. 1267.

साध्यासाध्यता के ही प्रकरण में आया यह वचन भी देखिए : जिनमें यक्ष्मा की वृद्धि स्थगित हो गई हो ऐसे आतुरों में विशेषतया स्त्रियों में, विवाह के कारण प्रायः स्वास्थ्य गिर जाता है एवं यक्ष्माक्रान्त स्थलों में अधिकतर वेग से रोग के प्रसर को अवकाश मिलता है[1]।

गर्भस्थिति का यक्ष्मा पर प्रभाव—

कई स्त्रियों में कदाचित् विवाह और उसके परिणामस्वरूप हुई गर्भस्थिति के पश्चात् यक्ष्मा शान्त हुआ भी पाया जाता है। अतएव बहुत से चिकित्सकों की यह मान्यता हो गयी जानी जाती है कि : यक्ष्मी स्त्रियों का विवाह न हुआ हो, तो विवाह करा देना और विवाह हुआ हो, तो गर्भस्थिति करा देना श्रेयस्कर होता है। ऐसी रुग्णाओं में आत्यन्तिक (हमेशा के लिए) रोग-निवृत्ति हुई हो, तो इसके कारण की मीमांसा नव्य-मत से यों की जा सकती है। राजयक्ष्मा के शस्त्रोपचारों का मुख्य लक्ष्य फुप्फुस के यक्ष्माक्रान्त प्रदेश पर बाहर की ओर से दबाव डालना होता है। इस दबाव का पहला परिणाम यह होता है कि, रुग्ण प्रदेश पर दबाव पड़ने से तदन्तर्गत जीवाणु, पूय आदि क्लिन्न द्रव्य श्वास-पथ द्वारा बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार उनको विकृति उत्पन्न करने का अवकाश उपलब्ध नहीं होता। दूसरा परिणाम इस पीड़न का यह होता है कि, श्वसन (श्वासक्रिया) में फुप्फुस में जितना पीड़न (प्रेशर) होता है उसकी अपेक्षया यह कृत्रिम दबाव अधिक होने से पीड़ित प्रदेश श्वसन-क्रिया में संकुचित-विकसित नहीं होने पाता, किन्तु विश्रान्त (विश्राम की अवस्था में स्थित) रहता है। रुग्ण अवयव या शरीर के पुनः नीरोग होने के लिए, विशेषतया व्रणित अवयव के आरोग्य के लिए विश्राम आवश्यक है, यह सुविदित है। अस्थिभग्न (फ्रेक्चर), शाखाओं में हुए व्रण (जैसे हाथ में हुए व्रण में गोफणाबन्ध द्वारा हाथ को विश्रान्ति देना) आदि में विश्राम का उपयोग सर्वजन-प्रत्यक्ष है। यक्ष्मा में व्रणित या या क्षत फुप्फुस-प्रदेश को विश्राम देने के लिए शस्त्रोपचार किया जाता है। उसका महत्त्व इससे समझा जा सकता है। व्रणित, भग्न, क्षत आदि स्थानों को विश्राम दिया जाय, तो रोपण में भाग लेने वाले तत्त्वों को अपनी क्रिया करने में सुगमता होती है।

राजयक्ष्मा के शस्त्रोपचारों में एक में उदरधराकला (पेरीटोनिअम) में वायु-पूरण है। इसे न्यूमोपेरीटोनिअम या संक्षेप में पी० पी० कहा जाता है। उदर

१—Marriage often leads to a break-down in arrested cases, especially in women, and induces more rapid spread of active lesion. Vide, ibid. P. 1267.

में पूरित यह वायु श्वासपटल (डायाफ्राम) पर दबाव डालता है। श्वासपटल फुफ्फुसों को पीड़ित करता है। यह पीड़न पर्याप्त हो, तो श्वास-क्रिया में होने-वाला संकोच-विकास नहीं होता, और रुग्ण प्रदेश को विश्राम मिलता है, जिससे उसके रोपण का कार्य सुस्थित होता है। इस पी० पी० से हुए पीड़न का जो प्रभाव यक्ष्माक्रान्त प्रदेश पर होता है ठीक वही प्रभाव गर्भ और गर्भाशय के कारण हुए पीड़न का होता है। परिणामतया, सगर्भावस्था में रुग्णा को कुछ स्वास्थ्य-लाभ सा होता है। क्षत या व्रण यदि स्वल्प हो, तो नवमासिक विश्राम में उसका पूर्ण रोपण कदाचित् हो जाए तो रुग्णा को आत्यन्तिक लाभ होता है। परन्तु, प्रायः रुग्णाओं में व्रण या क्षत प्रदेश व्यापी होने से प्रसव के के पश्चात् पीड़न सहसा लुप्त हो जाने से बड़े वेग से रोग की वृद्धि होने लगती है। सगर्भावस्था में गर्भ के पोषण में एवं प्रसव के अनन्तर स्तन्यपान में रुग्णा के धातुओं का उपयोग होने से उसके धातु क्षीण होने से क्षमता (रोग-प्रतीकार-शक्ति) का ह्रास होने के कारण रोग में भूयसी वृद्धि होती है। अतएव, नवीनों में एक कहावत इस आशय की प्रवृत्त है कि, रुग्णा यदि कुमारी हो, तो उसे विवाहित न होने दो, विवाहित हो, तो व्यवाय न करने दो, व्यवाय हो, तो गर्भ-स्थिति न होने दो, गर्भस्थिति हुई तो उसे समाप्त कर दो, गर्भ पूर्णमासिक अवतीर्ण हुआ हो, तो उसे स्तन्यपान न करने दो। तात्पर्य, चिकित्सक के पास रुग्णा इनमें किसी भी दशा में आ सकती है, और उसे अगली अवस्था में पहुँचने न देना रुग्णा के उपचार की सफलता के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद में यक्ष्मा के चार कारणों में एक धातु-क्षय को बताया है। उसीकी यह प्रकार-विशेष से व्याख्या है।

कदाचित् विवाह, व्यवाय आदि से राजयक्ष्मी स्त्री-पुरुष के कादाचित्क स्वास्थ्य का हेतु यह भी हो सकता है कि, परस्पर प्रेमालाप, नियमित उत्तम आहार, व्यवाय-जनित मानस सुख आदि के परिणाम-स्वरूप जो सुखपूर्ण मनः-स्थिति होती है उससे भी आरोग्य-लाभ में सहायता मिलती हो। राजयक्ष्मा के निदान-चिकित्सा प्रकरण में हम देखेंगे कि प्राचीन-नवीन उभय मत से संतुष्ट मनःस्थिति का अनुकूल परिणाम रोग पर होता है।

अस्तु। प्राइस का मत देख कर अब हम वैसे ही एक प्रामाणिक तन्त्रकार बोमॉण्ट का मत यक्ष्मा की कुलज प्रवृत्ति के विषय में देखते हैं।

कुल-प्रवृत्ति--राजयक्ष्मा निर्विवाद वंशों में पाया जाता है। कई विरल दृष्टान्तों में बच्चे जन्म से ही यक्ष्मी होते हैं[1]।

१—*Heredity*—The disease undoubtedly occurs in families, and in some rare instances infants may be born with tuberculosis. Vide, Medicine by Beaumont (1953). P. 155.

यक्ष्मा पर दाम्पत्य का प्रभाव दर्शाते बोमॉण्ट ने लिखा है--दाम्पत्यजनित संक्रमण एक अत्यन्त सत्य खतरा है। अब तक इसका महत्त्व पूरा आँका नहीं नहीं गया था[1]।

हृदय तथा रसरक्तवह स्रोतों के अनेक विकार, जिनमें कई को आज सामान्य जनता भी जान गयी है, आधुनिकों ने आदिबलप्रवृत्त माने हैं।

धमनी-प्रतिचय की आदिबलप्रवृत्ति--

कफ-नानात्मज बीस विकारों में चरक ने धमनी-प्रति (वि) चय नामक एक रोग की गणना की है। टीकाकार ने इसका पर्याय धमनी-उपलेप दिया है। उपलेप का अर्थ स्रोतों में मलों का संचय प्रसिद्ध है। रोग कफज होने से इस संज्ञा का वाच्यार्थ यह होना चाहिए कि : जिस रोग में धमनियों में--धमनियों के मण्डलों में[2]--कफवर्गीय शरीर-पोषक द्रव्य का संचय हो जाए उसे धमनी-प्रति (वि) चय कहा जाता है। कफ शब्द का अर्थ है रस-धात्वन्तर्गत वह द्रव्य जिसका धात्वग्नियों की मन्दता आदि कारणों से धातुओं ने अपने पोषणादि कार्यों में उपयोग न किया हो। यह द्रव्य कभी मूत्रादि मार्गों से बाहर भी निकल सकता है, कभी श्लेष्मधरा कला आदि में अति संचित हो कर शोथ आदि लक्षण भी उत्पन्न कर सकता है। आधुनिकों ने कुछ रोग बताए हैं, जिनको धमनी-प्रतिचय कह सकते हैं।

एक रोग जिसको धमनी प्रति (वि) चय कहा जा सकता है वह है--डिफ्यूज हाइपरप्लास्टिक स्क्लेरोसिस। पहले इसके पदों का शाब्दिक अर्थ देख लें। स्क्लेरोसिस का अर्थ है किसी भी अवयव का किसी भी कारण से हुआ काठिन्य। नेत्रबुद्बुद के श्वेत कठिन मण्डल का अंग्रेजी में नाम इसी अर्थ के कारण 'स्क्लेरा' है। अब हाइपरप्लास्टिक का अर्थ देखें। किसी अवयव का स्थायी उत्सेध (वृद्धि) जिसमें उसके परमाणुओं--कोषों--की वृद्धि होती है, परिणामतया समग्र अवयव का परिमाण बढ़ जाता है, उसके दो भेद आधुनिकों ने किए हैं।

१--Conjugal infection is a very real danger, which has been under-estimated in the past. Vide, ibid, P. 155.

२--नेत्रबुद्बुद (नेत्रगोलक) के रचनाशारीर में सुश्रुत ने उसके पाँच मण्डल और कुछ पटल बताए हैं। इनमें मण्डल आधुनिकों के विभिन्न कोट्स हैं तथा पटल प्रकाश की किरणों को गुजरने देनेवाले माध्यम। यहाँ कोट के लिए आए मण्डल शब्द को धमनी, सिरा, महास्रोत आदि अन्य अवयवों के घटक कोट्स के लिये भी व्यवहार में लाना चाहिये। प्रायः लेखक कोट्स के लिए स्तर आदि संज्ञाओं का उपयोग करते हैं।

एक, जिसमें अवयव के परमाणुओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है तथा द्वितीय जिसमें परमाणुओं के परिणाह (विस्तार) में वृद्धि होती है, संख्या में नहीं। दोनों का परिणाम एक ही होता है--समग्र अवयव की प्रमाण-वृद्धि। पहले भेद को हाइपरप्लाज़िया कहते हैं तथा दूसरे को हाइपरट्रॉफी। पाक (इन्फ्लेमेशन) में होनेवाला उत्सेध जो अस्थायी होता है, वह इन दोनों से भिन्न है। हाइपर-प्लाज़िया के कारण काठिन्य होने से उसे हाइपरप्लास्टिक कहते हैं। डिफ्यूज़ का अर्थ है व्यापक। यह रोग बहुत व्याप्त होता है; बहुधा समस्त धमनी-संस्थान में हुआ पाया जाता है, अतः इसे डिफ्यूज़ यह विशेषण दिया गया है।

यह विकार छोटी धमनियों, धमनिकाओं (आर्टीरिओल्स) तथा मध्यम प्रमाण की धमनियों में होता है। छोटी धमनिओं और धमनिकाओं के आभ्यन्तर मण्डल (इण्टिमा) में हाइपरप्लाजिया होता है; एवं प्रकोष्ठीया धमनी (रेडियल आर्टरी) आदि मध्यम-प्रमाण की धमनियों के मध्यमण्डल (मीडिया) की हाइपरट्रॉफी होती है। आगे धमनिकाओं के मण्डलों में स्नैहिक वैरूप्य (फैटी डीजेनेरेशन) भी हो जाता है। कभी-कभी एथीरोमा भी साथ ही होता है। इन रोगों का वर्णन अनुपद (ठीक पीछे) करेंगे।

इन विक्रियाओं का परिणाम यह होता है कि धमनियाँ स्थूल और स्पर्श में कठिन हो जाती हैं। उनका अन्तर्गत विवर (ल्यूमेन) न्यूनाधिक अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध या आवरण के कारण व्यान वायु का प्रकोप होता है। प्रकुपित हुआ व्यान वायु हृदय और धमनी-संस्थान के संकोच-बिकासकालिक दबाव को बढ़ा देता है--उच्च रक्तदाव को उत्पन्न करता है। शेष परिणामों के लिए मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

इस रोग के विषय में प्राइस ने अपनी संहिता में कहा है: 'कुलक्रमागत शरीर-प्रकृति का इस रोग में महत्त्व है। कारण, कई रोगियों में इस रोग की सारे वंश में अति व्याप्ति देखी जाती है[1]।' आयुर्वेद में शारीर और मानस प्रकृति को कुलज माना है। विचार कर देखना चाहिए कि किस दोष की प्रकृति में यह रोग होना आयुर्वेद-मत से सम्भव है।

फैटी डीजेनेरेशनमें धमनियों के मण्डलान्तर्गत मांस-सूत्र लुप्त हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर पहले स्नेहों का संचय होता है,[2] पश्चात् रोपण की क्रिया होकर

१—The inherited constitution is of great importance as shown by the high familial incidence in certain cases. Page 1111.

२—किसी भी स्थान में स्नेहों का इस प्रकार संचय होना भी कुल-प्रवृत्ति-जन्य होता है। प्राइस कहता है: Heredity is a factor (P. 1024)।→

इन स्नेहों के स्थान पर सौत्र धातु (फाइब्रस टिश्यु) आ जाता है। परिणामतया, धमनियाँ दुर्बल और भंगुर हो जाती हैं। यह विकार प्रायः सभी धमनियों में होता है। यह रोग उच्च रक्तदाब तथा उल्लिखित डिफ्यूज़ हायपरप्लास्टिक स्क्लेरोसिस का परिणाम होता है। अति पाण्डु आदि अन्य भी कारण होते हैं।

एथीरोमा या एथीरोस्क्लेरोसिस धमनियों के आभ्यन्तर मण्डल का रचनात्मक विकार है। इसमें इस मण्डल में मूल धातु विध्वस्त होकर उसके स्थान पर प्रथम स्नेहों का संचय होता है, पश्चात् चूने के लवण संचित हो जाते हैं। चूने का जमाव कभी-कभी इतना होता है कि प्रत्यक्ष पट्टी (प्लेक) आदि के रूप में देखा जा सकता है। इसी से मिलते-जुलते दो विकार हैं, जिनमें क्रमशः आभ्यन्तर मण्डल में सौत्र धातु का तथा हायेलीन नामक द्रव्य का स्थान-संश्रय मूल धातु के स्थान पर हो जाता है। एथीरोमा विशेषतया बड़ी, स्थितिस्थापक और मांसप्रचुर धमनियों में होता है। महाधमनी में प्रायः अधिकतम दृष्टिगोचर होता है। हृदय और मस्तिष्क की धमनियों पर इसका प्रभाव सर्वोपरि स्मरणीय होता है।

धमनियों की स्थितिस्थापकता नष्ट होने से तथा उनमें भंगुरता आदि उत्पन्न हो जाने से पूर्वोक्त प्रकार से रक्तदाब की अधिकता, रक्तस्राव, पक्षाघात आदि विकार होते हैं। मस्तिष्क के स्रोतों में क्षत और रक्त का स्कन्दन या स्राव होने से पक्षाघात आदि परिणाम होते हैं। हृदय के रसरक्तवह स्रोत (कॉरोनरी आर्टरीज़) इस रोग से आक्रान्त होने से हृद्ग्रह (एन्जाइना पेक्टोरिस), हृद्गतिस्तम्भ, सहसा मृत्यु आदि होते हैं।

यह रोग परिहाणि (क्षीयमाण) अवस्था का है। रस-रक्तवह स्रोतों (धमनियों) में स्थिति-स्थापकता न्यून होने से वे यथायोग्य प्रमाण में शरीरावयवों में रस-रक्त पहुँचा नहीं पाते। परिणामतया वे क्रमशः क्षीण और वृद्ध होते जाते हैं। अतः अंग्रेजी में कहावत है कि : पुरुष का वय उतना ही होता है जितना उसकी धमनियों का[१]।

इस रोग का आर्टीरिओस्क्लेरोसिस नाम भी प्रसिद्ध है। पहले इस दशा को ही रक्तदाब की वृद्धि का कारण समझा जाता था। अब यह मत हुआ है कि जिन रोगों का इस प्रकरण में निर्देश किया गया है उन तथा अन्य कुछ रोगों के

←हृदयधरा कला आदि जिन स्थलों में सामान्यतया मेद होता है उसमें मेद का आधिक्य होना (फैटी इन्फिल्ट्रेशन) भी कुलज रोग है। वही लेखक इस रोग के प्रकरण में लिखते है : Heredity is certainly a factor (P. 1026).

१—A man is only as old as his artereis.

परिणामस्वरूप रक्तदाब होता है एवं उनके सिवाय भी रक्तदाब होता है। पहले को परतन्त्र (सेकंडरी) तथा दूसरे को स्वतन्त्र (एसेन्शल या प्राइमरी) कहते हैं। द्वितीय प्रकार में किसी अज्ञात कारण से परिसरीय धमनियों तथा धमनिकाओं में स्तम्भ हो जाता है। परिणामतया, रस-रक्तवह अवयवों की क्रिया में अवरोध होने से हृदय आदि अपनी क्रिया विशेष बल-पूर्वक करते हैं। यही अधिक प्रयुक्त बल रक्तदाबमापक यन्त्र में पारद को ऊँचा चढ़ाकर उच्च रक्तदाब की सूचना देता है। आयुर्वेद मत से परिसरीय स्तम्भ का कारण वायु समझकर तदनुरूप शोधक-शामक उपचार करने चाहिए।

परिणाम में होनेवाले खरत्व, पक्षाघात आदि को देखते यह विकार (एथीरोमा) आयुर्वेद-मत से वातप्रकृति पुरुषों में संभावित है। प्रकृति कुलज होने से यह विकार भी कुलज होना सिद्ध है। अतएव प्रकृति देखकर इस रोग की अनुत्पत्ति के लिए आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त के पालन की उपयोगिता भी स्वतः सिद्ध है। इस रोग को लक्ष्य में रखकर प्राइस ने कहा है: 'धमनियों का घटक धातु जो कुलक्रम से मिला है वही हीन कोटि का होना सम्भव है। कई घरानों में घर के सभी पुरुषों में अमुक वय आने पर इस रोग के प्रादुर्भाव के चिह्न प्रायः देखे जाते हैं। इस वस्तु को दृष्टि में रखते आदिबलप्रवृत्ति का इस रोग में प्रभाव स्पष्ट है[1]।'

इस रोग के अन्य भी कारणादि तन्त्रकारों ने बताए हैं। उनका विवरण मूल ग्रन्थों में देखना चाहिए।

तन्त्रकार ने यहाँ धमनियों का घटक धातु माता-पिता से ही हीन कक्षा का प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इस प्रत्यक्षाश्रित तर्क से मेरी धारणा है, अर्श, जो कुलज या आदिबलप्रवृत्त होता है, उसमें भी कारण सिराओं के घटक मांसमय मण्डल की कुलक्रमागत दुर्बलता ही होना सम्भव है। जैसा कि, पहले कहा है, माता-पिता का जो अहिताहार-विहार उनमें अर्श आदि रोगों को उत्पन्न करता है वही बच्चों को भी संस्कारवश प्राप्त होने से भी उनमें माता-पिता के सदृश ही रोग होने की संभावना होती है।

इसी रोग से मिलता-जुलता एक रोग (मॉङ्कबर्ग्स मीडिअल स्क्लेरोसिस) होता है। इसमें मांसपेशीगामी बड़ी धमनियों के मध्यमण्डल में वार्धक्यवश

१—The quality of the arterial tissue that has been inherited may be poor, and a tendency to the development of atheroma at about the same age is often seen in all the members of certain families, thus showing the influence of heredity in the production of the condition. P. 1113.

स्थितिस्थापक तथा मांसमय धातु के स्थान पर चूने के लवणों का संचय हो जाता है। और्वी (फीमोरल) धमनियों में यह सविशेष देखा जाता है। नीचे के भाग में पोषण अटक जाने से उसमें कर्दम-विसर्प (गेंग्रीन) हो जाता है तथा अङ्गच्छेद आवश्यक हो जाता है।

स्वतन्त्र उच्च रक्तदाब का निर्देश ऊपर किया है। यह भी नव्य मत से कुलज विकार है। प्राइस ने लिखा है: कतिपय रोगियों के कुलों में बड़ी संख्या में इस रोग से पीड़ित व्यक्ति देखे जाते हैं, जिससे व्यक्त है कि कुलक्रमागत शारीर-मानस प्रकृति का इसके निदान में महत्वपूर्ण भाग है[१]।

आयुर्वेद-मत से इस रोग की सम्प्राप्ति ऊपर दी है। उससे ज्ञात होगा कि, वात-प्रकृति पिता-माता आदि से अपत्य में संक्रान्त होने से उस प्रकृति के पुरुषों में ही इतर वातज रोगों के सदृश यह रोग भी होने की संभावना होती है।

हृद्रोगों की आदिबलप्रवृत्ति--

उल्लिखित रोगों के परिणाम रूप में एवं अन्य कारणों से भी हृदय के दो प्रसिद्ध रोग हृद्ग्रह[२] (एन्जाइना पेक्टोरिस) एवं हृच्छूल[२] (कॉरोनरी थ्राम्बोसिस) होते हैं। इनमें हृद्ग्रह के विषय में प्राइस ने लिखा है: 'मेरे मत में आदिबलप्रवृत्ति एक निश्चित कारण है। इस बात की सिद्धि में एक हेतु यह है कि हृदय और रस-रक्तवह स्रोतों के अपध्वंसात्मक रोग (डिजेनेरेटिव चेन्जिज) कुछ वंशों में विशेष प्रमाण में होते हैं[३]।' आगे साध्यासाध्यता के प्रकरण में भी लेखक ने आदिबलप्रवृत्ति को स्मरण किया है।

१—An inherited constitution is an important factor, as revealed by the high familial incidence in certain cases. Vide, Medicine by Price. P. 1139.

२-२—एन्जाइना पेक्टोरिस में भी शूल होता है, परन्तु विशेष लक्षण तो ग्रह (छाती को किसी ने जकड़ रखा हो ऐसी प्रतीति; सेन्सेशन ऑफ ऑप्रेशन और कान्स्ट्रिक्शन) होता है। कभी-कभी वेदना विना भी केवल यही लक्षण होता है। दूसरी ओर, कॉरोनरी थ्राम्बोसिस में शूल मुख्य और नियत चिह्न होता है। जकड़ाहट होती है, परन्तु कदाचित् ही। अतः एन्जाइना पेक्टोरिस के लिए आयुर्वेद का हृद्ग्रह और कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस (कॉरोनरी ऑक्लूझन) के लिए हृच्छूल मानना उपयुक्त समझा है।

३—Heredity is, in my opinion, certainly a factor, one of the reasons for this being that cardio-vascular degenerative changes are more prone to occur in certain families. P. 1045.

हृच्छूल के आधे से अधिक रोगियों में हृद्ग्रह का इतिहास होता है। अन्य कारणों में उच्च रक्तदाब आदि की गणना है। इन बातों को लक्ष्य में रखते कह सकते हैं कि हृच्छूल में भी आदिबलप्रवृत्ति होती है। उभयमत से इन रोगों में कुलज प्रवृत्ति के निर्देश का आशय यह है कि : आयुर्वेद-मत से ग्रह और शूल वातप्रकोप के कर्म माने गये हैं। सो पूर्वजों में इन तथा पूर्वोक्त अन्य रोगों का इतिहास हो, पुरुष वातप्रकृति हो तो उसके स्वस्थवृत्त में ऐसी चर्या का समावेश चिकित्सक को पहले से ही करा देना चाहिए जिससे इन रोगों की उत्पत्ति ही न हो। हो तो मृदु हो और सहसा प्राणहरी न प्रमाणित हो। रोग का प्रादुर्भाव हो गया हो तो वात को, एवं किसी दोष का अनुबन्ध हो तो उसे भी लक्ष्य में रखकर उपचार करना चाहिए।

इस प्रकरण को पूर्ण करने के पूर्व आयुर्वेद और पाश्चात्य पद्धति के संवाद (समन्वय) में उपयोगी अन्य एक तथ्य की ओर वाचकों का चित्त आकृष्ट कर देना चाहता हूँ। आयुर्वेदोक्त प्रत्येक महाभूत, प्रत्येक दोष, दोषों का प्रत्येक भेद एवं आयुर्वेदोक्त प्रत्येक रोग, ऐसा प्रतीत होता है नव्योक्त एक-एक वस्तु नहीं है। किन्तु समान स्वरूप आदि वाले अनेक-अनेक द्रव्यों के वर्ग हैं। यहाँ धमनीप्रतिचय नाम से कहे रोग का साम्य नव्योक्त अनेक रोगों से है, यह हमने ऊपर देखा है। इससे कल्पना होती है कि : आयुर्वेदोक्त धमनी-प्रतिचय या धमनीविचय रोग नवीनों के अनेक रोगों का समुदाय है। इनका दोष-दूष्यादि क्रम से विचार कर आयुर्वेदीय अनुत्पत्तिकर तथा उत्पन्न होने पर चिकित्सात्मक उपचार निश्चित करने चाहिए। भेदों के नाम संचित द्रव्य के अनुसार मेदो-विचय (फैटी डिजेनेरेशन) आदि घड़ लेने चाहिए। अस्तु।

परस्पर सम्बद्ध इन हृदय-विकारों का विचार समाप्त कर अब हम नवीनोक्त अन्य कुलज रोगों का विचार करते हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से जिसे वात-प्रकृतिजन्य विकार कह सकते हैं ऐसा एक रोग नवीनोक्त 'एन्जीओन्यूरॉटिक एडीमा' है। इसमें केशिकाओं से रस के निर्गलन (पर्मिएबिलिटी छनना) का कार्य अधिक हो जाता है। परिणामतया, त्वचा में और उसके नीचे स्थान-स्थान पर वर्तुल उत्सेध (शोथ) हो जाता है। इसके निदान के विषय में प्राइस आरम्भ में ही लिखता है : कुलज प्रवृत्ति एक स्मरणीय वस्तु है। ऑस्लर ने एक वंश का विवरण दिया है, जिसमें पाँच पीढ़ियों से यह रोग चला आया था, और बाईस व्यक्ति इससे पीड़ित हुए थे। रुग्ण व्यक्ति प्रायः अस्थिर (नर्वस) प्रकृति के होते हैं[१]।

१—Heredity is an important factor. Osler reported the case of a family in which five gererations had been affected,→

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में नाड़ी-संस्थान के अन्य कतिपय कुलज रोगों का उल्लेख किया गया है। जैसे, एक रोग में वय उपस्थित होने पर सुषुम्णा-काण्ड का अपध्वंस (डिजेनेरेशन) होने लगता है, दूसरे में धम्मिल्लक (सेरीबेल्लम) की क्षीणता होने लगती है। अन्य रोगों में अन्य अवयवों में इसी प्रकार विकृति होती है। सब में पक्षवध आदि नाना परिणाम होते हैं।

आधुनिक विज्ञान में प्रकृति का विचार—

इस प्रकरण के आरम्भ में हमने कहा है कि : आयुर्वेद-मत से रोग के अनुकूल दोष-प्रकृति ही माता-पिता से अपत्य-शरीर को प्राप्त होती है। दोषारब्ध प्रकृतियों के लक्षणों पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि प्रत्येक प्रकृति में अमुक निश्चित प्रकार के शारीर-मानस लक्षण होते हैं। पर्सनेलिटी नाम से आधुनिकों ने इनका उल्लेख किया है। प्रकृति-जनक दोष से उत्पादित शारीर-मानस लक्षणों के निरूपण के अतिरिक्त रचना-शारीर के प्रकरणों में ही आयुर्वेद के आचार्यों ने रस-रक्तादि धातुओं एवं मन की सारासारता का भी विचार किया है। इनके अगणित भेद हैं, यह लिख कर विद्यार्थियों के मार्ग-दर्शनार्थ प्रत्येक मानसकाय (मानसी प्रकृति) के कुछ-कुछ भेदों के लक्षण आचार्यों ने दिये हैं। प्रकृति, धातुसारता एवं मन की सारासारता इन सबके उल्लेख में आचार्यों का मनोगत आशय यही है कि, प्रत्येक शारीर-मानस प्रकृति अमुकामुक रोगों की संभावना दर्शानेवाली होती है। अतः आहार, विहार, परिस्थिति आदि का चुनाव ऐसा होना चाहिए कि संभावित रोग उत्पन्न न होने पाएँ। उत्पन्न ही हो जाएँ तो उनका बल अल्प हो।

मन की असारता : मानस-रोगों का प्रथम हेतु—

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में प्रत्येक दोष के प्रत्येक भेद तथा प्रत्येक धातु की सारासारता का मन पर प्रभाव मैंने दिखाया है। दिग्दर्शनार्थ यहाँ एक-दो उदाहरण देता हूँ :—

उन्मादाधिकार में उन्माद के कारणों का निरूपण कर अत्रिपुत्र लिखते हैं :—

> तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा
> बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
> स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि
> प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ च० चि० ९।५

←involving 22 members. ××× Those attacked are usually of a nervous disposition. Vide, Medicine by Price, P. 1146.

इसका आशय यह है कि, दोष भले प्रदुष्ट हो जाएँ परन्तु मन पर उनकी क्रिया होकर अन्त में बुद्धि, हृदय और मनोवह स्रोतों की दुष्टि और उनमें दोषों का स्थानसंश्रय होकर मन उन्माद के लक्षणों से ग्रस्त हो इसके लिए एक बड़ी शर्त्त है और वह यह कि, पुरुष अल्पसत्त्व होना चाहिए--उसमें सत्त्वगुण के लक्षण न्यून होने चाहिए ; तभी दुष्ट दोषों का प्रभाव उस पर होता है। जो पुरुष सत्त्ववान् होते हैं वे सर्व प्रकार से संकटों को अपने मनोबल के कारण आप ही सहते हैं। ऐसी व्यक्तियों के मन पर भय, शोक आदि को उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं होता--

सत्त्ववान् सहते सर्वं, संस्तभ्यात्मानमात्मना। सु०सू०३५।३८

इसके विपरीत तामस प्रकृति के पुरुष घड़ी-घड़ी भय, शोकादि मनोभावों के भोग होते रहते हैं--संनिहितभयशोकलोभमाना; (च० वि० ८।११६)। अतः वे मद, उन्माद, अपतन्त्रक, अपस्मार-प्रभृति विभिन्न मानस रोगों के सहज ही में ग्रास हो जाते हैं।

धातुओं की दृष्टि से मानस रोगों का विचार करते हुए सर्वोपरि स्मरणीय शुक्रधातु है। धन्वन्तरि ने शुक्र का पहला ही गुण धैर्य बताया है। डल्हन ने धैर्य का अर्थ बताया है शौर्य, और कहा है कि : क्लीब पुरुष शुक्र की क्षीणता के कारण ही अधीर होते हैं। विशेषतया शुक्र की उपचिति के कारण ही सर्वसार व्यक्तियों के लक्षणों में एक लक्षण यह भी है कि वे सर्व कार्यों में आत्म-विश्वास-सम्पन्न--सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्यया: (च० नि० ८।१११) होते हैं। मैं समझता हूँ आधुनिक मनोविज्ञान में सुपीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स के जो लक्षण कहे हैं उनका कारण शुक्रसारता तथा इन्फीरिऑरिटी कॉप्लेक्स का कारण हीनशुक्रता ही है।

शुक्रसारता--मन के सार में प्रमुख हेतु--

शुक्र (वृषणग्रन्थियों का बहिःस्राव तथा अपरओज या वृषणग्रन्थियों का अन्तःस्राव) के इस महत्त्व की प्रतीति अब आधुनिक वैज्ञानिकों को भी होने लगी है, इस विषय का एक वचन प्रस्तुत करता हूँ।

सर्जरी में नोबल-पुरस्कार पानेवाले डॉ० एलेक्सिस केरल अपने युगान्तर-कारी ग्रन्थ 'अज्ञात मानव' (मैन ध अननोन) में लिखते हैं--

'अन्य सभी ग्रन्थियों की अपेक्षया वृषणग्रन्थि मन की शक्ति और गुणों पर अधिक गहरा प्रभाव डालती है। संक्षेप में, महान् कवि, कलाकार और सन्त, इतना ही नहीं विजेता भी, अत्यधिक कामुक होते हैं। प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों में भी बीज-ग्रन्थियों के आहरण से उनकी मानसिक स्थिति में अमुक परिवर्तन हुए देखे

जाते हैं। स्त्रियाँ अन्तःफलों के आहरण के पश्चात् तटस्थ वृत्ति की हो जाती हैं एवं अपनी बौद्धिक कर्तृत्वशक्ति और आचार-विषयक भावना से अंशतः रहित हो जाती हैं। क्लैब्य-जनन (खस्सी) के अनन्तर पुरुषों के शारीर-मानस स्वरूप में भी न्यूनाधिक लक्ष्य परिवर्तन होते हैं। Heloise के उत्कट प्रेम और बलिदान के होते हुए भी Abelard ने जो इतिहास-विदित भीरुता दर्शायी उसका मूल कदाचित् उसका निर्दय अङ्गच्छेद था। प्रायः सभी महान् कलाकार बड़े 'प्रेमी' थे। उत्साह, प्रतीत होता है, बीजग्रन्थियों की विशिष्ट अवस्था पर अवलम्बित है। प्रेम अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता तो मन को उद्दीप्त करता है। Beatrice यदि Dante की पत्नी हो जाती तो Divine Comedy कदाचित् लिखी न जाती। महान् रहस्यवादी प्रायः सॉलोमन के गीत के शब्दार्थों का उपयोग करते थे। संभव है, उनकी अतृप्त कामवासना उन्हें अधिक वेग से त्याग और पूर्ण बलिदान का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करती होगी। श्रमजीवी की पत्नी अपने पति की याचना प्रतिदिन कर सकती है। परन्तु, किसी कलाकार या दार्शनिक की पत्नी को इतनी वार याचना करने का अधिकार नहीं है। यह सुविदित है कि काम का अतियोग बुद्धि के व्यापार में बाधक होता है। संभवतः, बुद्धि को अपने उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए सम्यक् परिपुष्ट वृषणग्रन्थियाँ तथा कामेच्छा का अल्पकालिक निरोध दोनों की आवश्यकता होती है। जीवच्छरीर के व्यापारों में कामवेग के अत्यधिक महत्त्व पर भार देकर फ्रायड ने ठीक ही किया है। तथापि, उसका प्रत्यक्ष प्रधानतया रोगियों से सम्बन्ध रखता है। उसके निगमनों (निष्कर्षों) को व्यापक बनाकर स्वस्थ स्त्री-पुरुष पर भी उन्हें लागू न करना चाहिए। जिन्हें बलिष्ठ नाड़ी-संस्थान तथा अपने ऊपर प्रभुत्व (आत्म-संयम) प्राप्त हुआ है ऐसे व्यक्तियों पर लागू न करने का ध्यान तो विशेषतया रखना चाहिए। काम के वेगों का निरोध करने से दुर्बल, भीरु तथा चल-मानस स्त्री-पुरुष अधिकतर अस्वस्थ हो जाते हैं, यह सत्य है; परन्तु बलिष्ठ पुरुष इस प्रकार के संयत जीवन के अभ्यास से अधिक बली ही हो जाते हैं[1]।'

१—The testicle, more than any other gland, exerts a profound influence upon the strength and quality of the mind. In general, great poets, artists, and saints, as well as conquerors are strongly sexed, the removal of the genital glands, even in adult individuals, produces some modifications of the mental state. After exterpation of the ovaries, women become apathetic and lose part of their intellectual activity or moral sense. The personality of men who have undergone castration→

शुक्र के संरक्षण की या अन्य शब्दों में ऊर्ध्वरेता होने के परिणामों की एक आधुनिक द्रष्टा द्वारा की गयी यह एक स्मरणीय व्याख्या है।

सत्त्व या मन का बलाबल प्रत्येक चेतनापुरुष (लिङ्ग शरीर) में भिन्न-भिन्न होता है। जन्म-जन्म के संस्कारवश उसमें न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक है। सत्त्व या लिङ्ग शरीर को किस प्रकृति या सार वाला शरीर मिला है, इस बात से सत्त्व के बलाबल में भिन्नता आना भी स्वाभाविक है। कारण, सत्त्व तो कर्त्ता है, उसे साधनभूत शरीर जैसा मिलता है उसके अनुसार उसका बलाबल भिन्न हो जाता है। यन्त्रवित् कैसा भी हो, यन्त्र का भी उत्तम होना आवश्यक है। सो, शुक्र की सारता मनोबल की वृद्धि करनेवाली होती है तथा असारता उसमें ह्रास उत्पन्न करती है। मन की पुष्टि आहार के अधीन है, यह उपनिषद्वचन है। आहार-शक्ति वातादि प्रकृतियों पर अवलम्बित है और यह प्रकृति माता-पिता

←is altered in more or less marked way. The historical cowardice of Abe'lard in face of the passionate love and sacrifice of He'loise was probably due to the brutal mutilation imposed upon him. Almost all great artists were great lovers. Inspiration seems to depend on a certain condition of the sexual glands. Love stimulates mind when it does not attain its object. If Beatrice had been the mistress of Dante, there would perhaps be no Divine Comedy. The great mystics often used the expressions of Solomon's song. It seems that their unassuaged sexual appetites urged them more forcibly along the path of renouncement and complete sacrifice. A workman's wife can request the services of her husband every day. But the wife of an artist or of a philosopher has not the right to do so often. It is well known that sexual excesses impede intellectual activity. In order to reach its full power, intelligence seems to require both the presence of well-developed sexual glands and the temporary repression of the sexual appetite. Freud has rightly emphasized the capital importance of sexual impulses in the activities of consciousness. However, his observations refer chiefly to sick people. His conclusions should not be genralised to include normal individuals, especially those who are endowed with a strong nervous system and mastery over themselves. While the weak, the nervous, and the unbalanced became more abnormal when their sexual appetites are repressed, the strong are rendered still stronger by practising such a form of ascetism. Vide, Man, the unknown. (P. 137–38)

की प्रकृति के अनुसार ही प्रायः होती है। इस प्रकार शरीर का स्वरूप मन को प्रभावित करता है। इसीलिए मन एवं मानस रोगों के प्रसङ्ग में प्रकृति, सार आदि का विचार करना उपयुक्त हो जाता है। मन का भी प्रभाव इसी प्रकार शरीर पर पड़ता है। शरीर और मन एक दूसरे के अनुसारी--एक दूसरे से प्रभावित होनेवाले--होते हैं: शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम्--च० शा० ४।३६।

मानसिक रोगों के कारणों के दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम जिनमें कोई शारीर कारण होता है, जैसे नाड़ीसंस्थान के किसी विभाग में हुआ अर्बुद, नाड़ीसंस्थान या उसे रस-रक्त पहुँचानेवाले स्रोतों की फिरङ्गजन्य विकृति आदि। द्वितीय, जिनमें ऐसा कोई कारण (ऑर्गेनिक विक्रिया) नहीं होती। मानस-रोगियों की बहुत बड़ी संख्या इस द्वितीय वर्ग की ही होता है। इनमें मनोबल की न्यूनता, या अति उत्साह (एग्ज़ाल्टेशन) आदि मानस प्रकृति-विशेष ही मनोरोगों का आदि हेतु हुआ करता है। शारीर रोगों के समान मानस रोगों की आदि-बल-प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी स्थिति यही होती है कि: स्वयं रोग अपत्य में नहीं उतरता, किन्तु रोग के ग्रहण के अनुकूल विशिष्ट शारीर-मानस प्रकृति या स्वरूप ही पिता-माता आदि पूर्वजों से अपत्य शरीर में उतरता है[1]। इस प्रकार मानसरोगों की कुलज प्रवृत्ति एक नियत कारण होते हुए भी रोग जन्म से ही देखे नहीं जाते। अलबत्ता, उसकी झाँकी कभी-कभी स्वभाव-विशेष को परिचय देनेवाले लक्षणों के रूप में हो जाती है। जैसे श्लेष्मोन्माद (मेलन-कॉलिया) जिसे होना हो, वह पुरुष प्रायः निश्चल, निश्चेष्ट बैठ रहने के स्वभाव वाला हो सकता है। यही स्थिति अन्य रोगों के विषय में भी समझनी चाहिए।

किंबहुना, मानस रोगों के कारणों में नियततम एक कारण आदिबलप्रवृत्ति (हेरेडिटी) है। इसका तात्पर्य यह है कि: रोगों के प्रति रोगियों का जन्म से ही झुकाव (प्रवणता) हुआ करता है। परिस्थिति-विशेष (एनवायर्नमेण्ट) आने पर रोग की अभिव्यक्ति होती है। परिस्थितियों में आर्थिक संकट सहसा आ पड़ना आदि मानस कारणों एवं पाण्डुरोग, तारुण्य (प्युबर्टी), रजोनिवृत्ति (क्लाइमेक्टरिक, मेनॉपॉज़) आदि शारीर कारणों की गणना है। इन्हें 'स्ट्रेस' (आयास) नाम दिया गया है। आदिबलप्रवृत्ति तथा परिस्थिति कैसे संयुक्त होकर मानसरोग को उत्पन्न करती हैं इसका उत्तम उदाहरण प्राइस ने दिया है। एक पुरुष के माता-पिता दोनों कफोन्माद (मेलनकॉलिया) से ग्रस्त थे।

१—The signs of a transmissible tendency to same mental disorder may not be actual illness, but only a special kind of personality. Medicine by Price, P. 1882.

पत्नी की मृत्यु से अत्यन्त विषण्ण हो उसने डूबकर आत्मघात का प्रयास किया। यह प्रयास निष्फल रहा पर ठण्ढ लगने से उसे श्वास-कासप्रधान संनिपात (न्यूमोनिया) हो गया। इसमें उसे प्रलाप हो गया। यह बकते हुए कि उसे अपनी पत्नी के पास जाना ही चाहिए वह खिड़की से नीचे कूद पड़ा और मर गया।

आयुर्वेद-मत से ऊपर उन्माद की जो संप्राप्ति दी है उससे विदित होगा कि उन्माद की अभिव्यञ्जक परिस्थितियों में विशेष गणनीय दोषों का प्रकोप है।

अपतन्त्रक की कुलज प्रवृति—

मानसरोगों में अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) प्रसिद्ध है। सामान्य जन इसके एक ही लक्षण आयाम (खेंच) से परिचित हैं। परन्तु आधुनिकों ने इसका अति विस्तृत अध्ययन कर बताया है कि: कोई भी शारीर या मानस विकार जिसके नाम-रूप का रोगी को परिचय हो उससे रोगी पीड़ित हो सकता है। इस प्रकार उसमें पक्षवध के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। नानाविध भी इन लक्षणों का मूल एक ही होता है कि रोगी अमुक फल की आकांक्षा से इन्हें अभिव्यक्त कर रहा होता है, यद्यपि उसे स्वयं अपने इस मनोरथ का ज्ञान नहीं होता। लक्षणों में एक विस्मरणशीलता भी होती है। रोगी को लगे कि अमुक वस्तु की स्मृति कष्टप्रद है तो वह उसे अज्ञानतया भुला देता है। ऐसा ही एक लक्षण असत्यशीलता है। इसे नवीनों ने 'सूडोलॉजिया फेन्टेस्टिका' यह विशेष संज्ञा दी है। उसे लगे कि अमुक प्रसंग पर सत्य बोलने से हानि और/अथवा असत्य बोलने से लाभ है तो वह अज्ञानतया सत्य को छुपाता और असत्य बोलता है। कभी-कभी यह प्रवृत्ति अपराध की सीमा तक पहुँच जाती है। इस प्रकार वैकारिक असत्यशील पुरुषों का लेखा रखकर पता लगाया गया है कि, स्वस्थ पुरुषों के जितने स्वजन मानस-आरोग्यशालाओं में थे उनसे पाँचगुणा अधिक इन असत्यशीलों के थे। एवं इनके पूर्वजों में छठा (छः में एक) मानस-रोगसे पीड़ित था। इससे इस रोग में कुछ कुलज प्रवृत्ति होने की संभावना की जाती है।

वातप्रकृति पुरुषों के लक्षण प्रायः इन 'हिस्टेरिक पर्सनेलिटी' के व्यक्तियों से मिलते हैं। वातप्रधान रोगों में भी इस वर्ग के रोगियों को होनेवाले रोगों की गणना प्रायः आयुर्वेदकारों ने की है।

अपस्मार की आदिबलप्रवृति—

प्रकरण के आरम्भ में आदिबलप्रवृत्त रोगों की श्रेणी में हमने अपस्मार का उल्लेख किया है। आधुनिक नवीनतम शोधों ने प्राचीनों के इस दर्शन का सुन्दर समर्थन किया है।

अपस्मार के अनेक प्रकार से भेद आधुनिकों ने किये हैं। इनमें एक विभाजन में इस रोग के दो भेद किये गए हैं। एक, जिसमें मस्तिष्क के किसी प्रदेश में कोई रचनात्मक विकृति हो जाती है, किंवा रस-रक्त में यूरिआ (यूरीमिआ) या गर्भावस्था-सहज विष (एक्लेम्प्सिआ) आदि विषद्रव्य प्रसृत हो जाते हैं। कारण का ज्ञान होने से इसे परतन्त्र (सिम्प्टोमेटिक) अपस्मार कहा जाता है। द्वितीय, भेद के कारण का स्पष्ट ज्ञान अबतक नहीं हो सका है। इसे स्वतन्त्र (एसेन्शल या ईडिआॅपेथिक) अपस्मार नाम दिया गया है। इसीको केवल 'अपस्मार' (एपिलेप्सी) भी समझा और कहा जाता है।

अपस्मार के ये तथा अन्य प्रकार से किए विभाजनों के अनुसार जितने भी भेद हैं उन सबकी निर्भ्रान्त परीक्षा मस्तिष्क में स्वभावतः होनेवाली विद्युत्तरङ्गों में भिन्नता देखकर की जा सकती है। जिस यन्त्र से विद्युत्तरङ्गों का मापन किया ज़ाता है उसे इलेक्ट्रो एन्केफेलोग्राम (संक्षेप--ई० ई० जी०) कहते हैं। नाड़ी-अणुओं में क्रियामात्र के समकाल होनेवाली स्वाभाविक तरङ्गों तथा अपस्मार के वेग के समय होनेवाली तरङ्गों के स्वरूप-भेद का उल्लेख अपस्मार के अधिकार में करेंगे। यह भिन्नता वेग के समय हुई देखी जाती है। कई रोगियों में वेगान्तर में भी तरङ्ग-भेद देखा जाता है, जिसका अर्थ यह है कि वेग अपगत होने पर भी वे अर्धवेगावस्था (सबक्लिनिकल एटेक) में रहते हैं।

अपस्मार के उल्लिखित दोनों भेदों के विप्रकृष्ट (रीमोट) कारणों का विचार करते हुए प्रथम उल्लेखनीय मस्तिष्क की स्वरूप-विकृति है। इसके पश्चात् स्मरणीय कुलज प्रवृत्ति है। इस पर अब उतना ध्यान दिया नहीं जाता, तथापि यह सत्य निर्विवाद है कि : अपस्मारियों की अच्छी बड़ी संख्या की परीक्षा करते हुए किसी निकट के स्वजन को भी यह रोग होने का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त लेनॉक्स ने इन दिनों इलेक्ट्रो-एन्केफेलोग्राम से जो प्रत्यक्ष किया है उससे विदित हुआ है कि : अपस्मारियों के माता, पिता या दोनों के मस्तिष्क की विद्युत्तरङ्गों में प्रायः अत्यधिक अप्राकृतिक भिन्नता पायी जाती है। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि स्वयं अपस्मार अपत्य-शरीर में अवतीर्ण न होता हो तो भी मस्तिष्क-वल्क (कॉर्टेक्स) के अणुओं की क्रिया का किसी प्रकार का चाञ्चल्य उतरता होगा, जो अबतक अविदित अन्य कारणों के सहकार से अपस्मार को अभिव्यक्त करने में भाग लेता होगा[१]।

१—Of remote causes of the liability in addition to organic disease of the brain *heredity* is the most important. While this factor is regarded much less seriously now than formerly, the fact remains that in a still considerable proportion of cases, a→

कुलज प्रवृत्ति के अतिरिक्त अपस्मार के अन्य सहकारी कारणों का विशद ज्ञान न होते हुए भी एक अद्भुत सत्य इसके विषय में जाना गया है। वह यह कि : वेग के समय अपस्मारी का रक्त निकाल उसकी लसीका (सीरम[1]) परीक्ष्य प्राणियों में प्रविष्ट की जाए तो उनमें भी अपस्मार के आक्षेप (झटके) होने लगते हैं। आवेगकाल में अपस्मारियों की लसीका का ऐसा प्रभाव देखा नहीं जाता। इसका आशय यह है कि : वेगकाल में वेग का कारणभूत कोई वैकारिक द्रव्य रोगियों के शरीर में उत्पन्न हो जाता है।

अपस्मार और अपतन्त्रक की कुलज प्रवृत्ति के विषय में एक और विलक्षण सत्य विदित हुआ है। यह ऊपर कहा ही है कि : ये रोग तो नहीं, परन्तु इनके प्रति प्रवणता (झुकाव) पूर्वजों से अपत्य-शरीर में अवतीर्ण होती है। जाना गया है कि, पूर्वजों में अपस्मार या अपतन्त्रक ही रहे हों सो बात नहीं, किन्तु कतिपय रोगों का वर्ग है, जिनमें कोई भी पूर्वजों को होना सम्भव है। संतानों को भी इन में से कोई भी रोग हो सकता है। इन रोगों में एक श्वास है।

श्वास की आदिबलप्रवृत्ति —

आयुर्वेद-मत से तो श्लैष्मिकादि प्रकृतियाँ मुख्यतया शुक्र-शोणित-प्रकृति के अनुसार बनतीं और अपत्य-शरीर में संक्रान्त होती हैं। इन के ज्ञान का मुख्य प्रयोजन यह बताया गया है कि : प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप अल्पमात्र कारण से होता है ; परिणामतया तद्रुत्थ रोग होने की संभावना उस प्रकृतिवाले

←history of epilepsy in a near relative is obtained. Moreover, recent electro-encephalographic observations by Lennox suggest that in the parents (one or both) of epileptic subject abnormally wide fluctuations in the rhythm of the brain potentials are unduly comman, and it may be that whole epilepsy as such is not inherited, some instability of cortical cell function may be inherited, which, in combination with other factors leads to the appearance of epilepsy under certain (as yet unknown) circumstances. Vide, Medicine by Price, P. 1743.

१—लसीका शब्द का व्यवहार कई लेखक लिम्फ के लिए करते हैं। लिम्फ तथा उसके सदृश प्लाज्मा और टिश्यु-फ्लुइड के लिए आयुर्वेद में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। लसीका शब्द 'सीरम' का वाचक है। देखिए शरीरगत अब्धातु के विविध रूपों का उल्लेख करते अग्निवेश ने कहा है : **यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीका शब्दं लभते**-च. शा. ७।१५। इससे लसीका शब्द का उक्त अर्थ होना सिद्ध है।

पुरुष में विशेष रहती है। इस प्रकार विकृति-जनक प्रकृति का ही अवतरण होने से प्रकृत्यारम्भक दोष से होनेवाला कोई भी रोग पूर्वजों को हो तो वही या अन्य कोई भी रोग संतान को होता है यह सिद्ध सत्य है। श्वास आदि रोगों की पारस्परिक कुलज प्रवृत्ति के आधुनिकोक्त विवरण का विचार करते हुए प्रकृति-विषयक इस सचाई को स्मरण रखना चाहिए। किंबहुना, रेकर्ड रखने की आधुनिक पद्धति की सहायता से इसे अधिक व्यापक रूप से अन्य प्रकृत्यारब्ध रोगों के वर्गों पर भी लागू कर गवेषणा करनी चाहिए।

श्वास की कुलजता के विषय में आधुनिकों के मत का सार यह है: श्वास निश्चित ही वंशानुगत रोग है। अन्य रोगों की अपेक्षया इसकी कुलप्रवृत्ति की प्रतिशतकता अधिक है। साक्षात् रोग नहीं उतरता, किन्तु असत्त्वसारता तथा तज्जन्य अस्थिरता संतति में उतरती है। पूर्वजों में किंवा कुल के अन्य स्त्री-पुरुषों में नीचे लिखे रोगों में कोई दृष्टिगोचर होता है--श्वास, अपस्मार, अपतन्त्रक, अर्धभेद (मिग्रेन), नाड़ीसंस्थान की कार्यविकृति (न्यूरॉसिस), अथवा--शीतपित्त, पामा (अकौता, छाजन, गुजराती--खरजुआ, अंग्रेजी--एग्ज़ीमा), हे-फीवर इत्यादि एलर्जी (द्रव्यविशेष की असहिष्णुता से होनेवाले रोग)। कई विद्वान् एलर्जी की ही आदिबलप्रवृत्ति होना मानते हैं[1]।

रक्तस्राव तथा वर्णान्ध्य की आदिबलप्रवृत्ति--

रक्तस्राव की प्रवृत्ति के नवीनों द्वारा प्रत्यक्षीकृत कुछ प्रकार हैं जो कुलज हैं। इनमें एक हीमोफीलिआ है। इसकी कुलज प्रवृत्ति में एक विलक्षणता

१—*Heredity*—Asthma certainly runs in families. The heredity is not always direct, the nervous instability sometimes being evidenced in other generations by migraine, epilepsy or hysteria. The view that hypersensitiveness to certain proteins is inherited is now discredited, and it is believed that an unduly irritable bronchial centre is the factor transmitted by heredity. Medicine, by Price. (P. 1207)

Heredity—In higher percentage : attacks usually commence at early age, often in 'nervous' families, other members exhibiting epilepsy, migraine, neurosis, or, with allergic manifestations, urticaria, eczema, hay fever. etc. Vide, A synopsis of Medicine, by Sir Henry Tidy, 10th edition, Get. 1954 (P. 690).

Asthma often runs in families, the allergic diathesis being inherited. Medicine, by Beaumant, P. 138.

है कि यह कन्याओं द्वारा उतरता है अर्थात् रोगी पुरुष की कन्याओं की संततियों को ही होता है; परन्तु केवल पुरुष संतान इससे आक्रान्त होते हैं। स्वल्प-मात्र कारण यथा खरोंच, ब्रश से दन्तवेष्ट घिस जाना आदि से भी रक्तस्राव होता है। रक्तस्राव अधिक नहीं परन्तु अविरत होता रहता है और साध्य नहीं होता। यह और अद्भुत बात है कि, जीवन के प्रथम वर्ष में यह रोग व्यक्त नहीं होता, अन्यथा नाभि-नाल से ही असाध्य रक्तस्रुति होकर शिशु की मृत्यु हो जाए।

यूरोप के कुछ राजवंशों में इस रोग का प्रसार होने से इसे प्रमाण से अधिक प्रसिद्धि मिल गयी है। इस कारण इसके सदृश ही लक्षणों वाले कतिपय रक्तस्राव-प्रधान रोगों को भी भूल से हीमोफीलिया समझ लिया जाता है। इनमें रोग वंशानुगत होता है, पर उसमें उल्लिखित विलक्षण आदिबलप्रवृत्ति का वृत्तान्त नहीं होता। यह उनकी भेदक परीक्षा है। क्षत से होनेवाले रक्तस्राव को उचित समय में अटका देने के लिए जो प्राकृत विविध सामग्री होती है, उसी में किसी द्रव्य की आदिबलप्रवृत्त क्षीणता (न्यूनता) इसमें कारणभूत होती है। रक्तवहस्रोतों (केशिकाओं) में रचनात्मक विकृति भी इसके एक भेद में पाई जाती है।

जन्मोत्तरकालज कामला आदि रोग-विशेषों से होनेवाली रक्तस्राव की प्रवृत्ति उल्लिखित आदिबलप्रवृत्त रोगों से भिन्न है। इन सब रोगों का समावेश आयुर्वेद-मत से रक्त-पित्त में किया जा सकता है। पित्त और वात से दूषित रक्त को आयुर्वेद में शीघ्र न जमनेवाला (अस्कन्दि) कहा है। इसके विपरीत कफ-प्रधान रक्त पिच्छिल (तन्तुमान्) तथा चिरस्रावी (मन्दगति से जिसका स्रवण हो ऐसा) अतएव स्कन्दन की अनुकूलता वाला होने से जमकर मांसपेशी के सदृश प्रतीत होनेवाला होता है। प्रकृति से ही रक्त में अमुक दोष का प्राधान्य होने से उसमें स्कन्दन का स्वभाव उत्तम न होने के कारण रक्तस्रावी रोग होना आयुर्वेद शास्त्रीय दृष्टि से सिद्ध है। इसे अन्वीक्षण द्वारा आधुनिक विज्ञानोक्त उक्त रोगों के सदृश दृढ़ भित्ति पर स्थापित करना चाहिए।

इस विषय में समन्वयोपयोगी होने से एक सत्य का निरूपण करता हूँ। लघु वाग्भट ने रक्तपित्त के पूर्वरूपों में लिखा है: नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् (अ० हृ० नि० ३।६)—अर्थात् रोगी नील-हरित, रक्त और पीत वर्णों का भेद परख नहीं पाता। इसे आधुनिकों ने वर्णान्ध्य (कलर-ब्लाइण्डनेस) कहा है तथा इसकी भी आदिबलप्रवृत्ति हीमोफीलिया के सदृश विलक्षण स्वभाव की बताई है। हीमोफीलिया स्पष्ट ही रक्तपित्त-विशेष है। आयुर्वेद में वर्णान्ध्य की रक्तपित्त-वर्ग में स्थापना तथा नव्यमत से दोनों की सुसदृश आदिबलप्रवृत्ति से कल्पना होती है कि—इन रोगों में

कुछ साम्य होना चाहिए। इस कल्पना के निर्देश में हेतु यह है कि, प्रायः वर्णान्ध्य-रोगी, विशेष कर यदि उनकी वृत्ति का साधन रेलवे, मोटर-ड्राईविंग आदि हों, जिनमें वर्णों का शुद्ध विवेचन सर्वोपरि आवश्यक होता है, इस विलक्षण रोग के कारण अकाल में ही नौकरी से निकाल दिए जाते हैं। इनमें रक्तपित्तहर उपचार आयुर्वेद-मत से कर देखने चाहिए।

वातरक्त की आदिबलप्रवृत्ति--

वातरक्त (गाउट) भी नव्य मत से आदिबलप्रवृत्त रोग है। प्राइस कहता है: वातरक्त आदिबलप्रवृत्त रोग होने के पक्ष में अति प्रबल प्रमाण मिलता है; कारण ५० से ८० प्र० श० रोगियों में पूर्वज वातरक्ती होने का वृत्तान्त पाया जाता है। सम्पन्न पुरुषों में ७५ प्र० श० एवं आरोग्यशाला में प्रविष्ट रोगियों में ५० प्र० श० के कुल में वातरक्त होने का इतिहास प्राप्त हुआ था (ए० बी० गैरड)। इससे सिद्ध है कि: यह रोग मुख्यतया वंशानुगत है, परन्तु अर्जित भी होना संभव है। स्वयं रोग का अवतरण नहीं होता, किन्तु इसके प्रति प्रवणता ही संतति में उतरती है; रोग-व्यक्ति (प्रादुर्भाव) के अन्य कारण उत्पन्न होने तक अनभिव्यक्त दशा में रहता है (लेवेलिन)। यह रोग मध्यवय--३५ से ५० वर्ष की अवस्था तक--का है। परन्तु प्रबल आदिबलप्रवृत्त प्रवणता हो तो अति तरुणों में--यहाँ तक कि शालेय विद्यार्थियों में भी--हो सकता है[१]।

आयुर्वेद में भी वातरक्त को आढ्यवात (आढ्य=धनाढ्य) कहा है, यह तथ्य यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कई सुलभ-दुर्लभ रोग आदिबलप्रवृत्त होने का प्रत्यक्ष आधुनिकों ने किया है। इनमें विशेष स्मरणीय महाकुष्ठ (लेप्रसी) और कैंसर हैं। इस विषय का अधिक अनुसन्धान नवीनों द्वारा लिखे ग्रन्थों में

१—The evidence in favour of gout being an hereditary disease is very strong, as a history of a gouty ancestry can be obtained in 50 to 80 percent of the cases. A history of gout in the family was obtained in 75 percent. of well to do patients and in 50 percent of hospital patients. (A. B. Garrod). This evidence suggests that the disease is chiefly hereditary but may be acquired. It is not the disease which is inherited, but only the predisposition to it, and the disease may lie latent until it is evoked by other causes (Llewellyn). It is a disease of middle life—between the ages of 35 and 50—but it may occur much youger, even in school-boys who have a strong hereditary taint. Vide, Medicine by Price, P. 493.

या गुरुमुख से किया जा सकता है। आदिबलप्रवृत्त रोगों का इतना विवरण पूर्ण कर अब इस विभाग के अन्य रोगों का विचार किया जाता है।

जन्मबलप्रवृत्त रोग

पिता-माता के शुक्र-शोणित दुष्ट न हों तथापि, सगर्भावस्था में माता किसी प्रकार का अहिताहार-विहार करे तो जो रोग संतति को होते हैं, उन्हें जन्मबल-प्रवृत्त कहते हैं। इस वर्ग के उदाहरण ये हैं--पंगु (चलने के सामर्थ्य से रहित), जात्यन्ध (जन्म से दृष्टि की विकृतिवाला), बधिर, मूक (वाक्शक्ति-रहित), मिन्मिन (अनुनासिक उच्चारवाला), वामन (अति ह्रस्व शरीरवाला ; ठिगना, बौना) ; कुब्ज (कुबड़ा), खञ्ज (लंगड़ा), कुणि (विकृत हस्तवाला), जड़ (बुद्धिशून्य), विकृत नेत्रादि इन्द्रियोंवाला या इन्द्रिय रहित[1] इत्यादि।

जन्मबलप्रवृत्त रोग निदान-भेद से दो प्रकार के हैं--रसकृत तथा दौहृदापचारकृत।

गर्भ की सम्यक् पुष्टि, आरोग्य आदि की दृष्टि से सर्व रसों के सम अभ्यास की आवश्यकता गर्भिणी के लिए सविशेष बताई गयी है। एक रस के अतिसेवन के विपरिणाम तन्त्रकारों ने बताए हैं। साथ ही अन्य अहित द्रव्यों के अतियोग के अनिष्टों का भी निर्देश उन्होंने किया है। इन अतियोगों से होनेवाले जन्मजात रोगों को रसकृत रोग कहा जाता है।

गर्भ के सम्बन्ध से माता को चतुर्थ मास से ऐसे रस, रूप आदि के सेवन की इच्छा होती है, जिनकी पहले इच्छा न होती थी। इन इच्छाओं को दौहृद दौर्हृद, या दोहद कहा जाता है। चतुर्थ मास में गर्भ के मन का अधिष्ठान-भूत हृदय बन जाता है अतः वह अपने पूर्व जन्म में सेवित सुखद वस्तुओं की इच्छा करने लगता है, ऐसा माना जाता है। इस इच्छा की पूर्ति न होना या अनभिवाञ्छित पदार्थ की उपलब्धि होना दौहृद का अपचार कहा जाता है। इसके कारण हुए रोगों को दौहृदापचारकृत रोग कहते हैं। दौहृद का अपचार अत्यधिक हों तो गर्भ की मृत्यु भी होना सम्भव हैं।

रसकृत रोग--

गर्भ को हानि पहुँचानेवाले अहिताहारविहार का तन्त्रकारों ने सविस्तर

१--सु. सू. २४।५ के अतिरिक्त जन्मबलप्रवृत्त रोगों के उदाहरण सु. शा० ३।१८ एवं शा० सु० २।५१ में देखिए। रसकृत रोगों की आगे दी सूची को ध्यान में रख इन रोगों की और भी पूर्त्ति की जा सकती है।

निर्देश किया है[1]। प्रकरण के वैशद्य के लिए उसे यहाँ उद्धृत करते हैं।—

माता यदि उत्कट (टेढ़े-मेढ़े) या विषम (ऊँचे-नीचे) कठिन आसन और शय्या का उपयोग करे; वात, मूत्र तथा पुरीष के वेगों का अवरोध करे; दारुण तथा अनभ्यस्त परिश्रम या व्यायाम करे; तीक्ष्णोष्ण आहारौषधद्रव्यों का अतियोग करे एवं प्रमिताशन (एक ही रस का अति सेवन, या आवश्यक से न्यून राशि में भोजन) करे तो गर्भ कुक्षि में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है; उस का अकाल में स्रंसन (गर्भस्राव) होता है; अथवा वह शोष को प्राप्त होता है—पहले वर्णित किसी प्रकार से शुष्क हो जाता है; आघात या प्रपीडन (कुक्षिपर दबाव) से, किंवा पुनः पुनः गढ़े, कुँए या प्रपातों के अवलोकन से अकालपात होता है; अत्यधिक झटकेवाली सवारियों और अति अप्रिय वृत्तान्तों के अतिश्रवण का भी यही विपरिणाम होता है; नारी यदि सर्वदा उत्तान (ऊर्ध्वमुख) सोने के शील-वाली हो तो नाभिनाड़ी गर्भ के कण्ठ को वेष्टित कर देती है (वेष्टनवश शिशु की मृत्यु हो जाती है); उसका शील यदि अनावृत (खुले) स्थान में सोने का हो या वह रात्रि में इतस्ततः संचरणशीला हो तो माता तथा गर्भ राक्षसादि भूतयोनियों के आक्रमण का सुलभ विषय हो जाने से बच्चा उन्मत्त (भूतोन्माद-पीड़ित) होता है; स्त्री वाचिक तथा कायिक कलह के शीलवाली हो तो संतान अपस्मारी होता है; गर्भस्थिति होने पर भी वह व्यवाय-शील (मैथुनासक्त) रहे तो अपत्य अप्रियदर्शन, निर्लज्ज किंवा स्त्रैण (स्त्रीवश या स्त्रियों के सदृश आचरण-वाला) होता है; स्त्री सर्वदा शोकासक्त रहे तो संतान भीरु, अपचित (क्षीण, निर्बल शरीरवाला) किंवा अल्पायु होता है; निरन्तर मनमें दूसरों के अहित का विचार करती रहे तो बालक भावी जीवन में दूसरों को कष्ट देने में आनन्द मानने-वाला, ईर्ष्यालु या स्त्रैण होता है; चौरकर्म में मग्न रहे तो शिशु आयास-शील (निरर्थक यद्वा तद्वा परिश्रम करनेवाला), अतिद्रोही या कर्मशून्य होता है; वह क्रोधशीला हो तो संतान चण्ड (गरम स्वभाव के कारण पत्नी, आश्रित आदि को घबरा देनेवाली, वायोलेंण्ट), औपधिक (छुपा रह कर दूसरों का अहित करनेवाला) तथा असूयक (अन्यों के गुणों को दोष मानने और वैसा प्रचार करने के स्वभाव वाला) होता है; वह सदा सोने के शीलवाली हो तो कुमार तन्द्रालु (सदा सुस्त), जड़मति या मन्दाग्नि होता है; वह दिवानिद्राशीला हो तो बालक भी अपने जीवन में निद्राशील होता है; वह नित्य मद्य-सेवन करती हो तो बालक पिपासालु, अल्पस्मृतिमान् अथवा अस्थिर मनवाला होता है; वह गोह के मांस का सेवन

१—इस विषय के विवरण के लिए देखिए: च० शा० ४।१५-१९; सु. शा. ३।१८–२९; अ० हृ० शा० १।५२-५४।

प्रायः करती हो तो बालक शर्करामेही,[१] अश्मरी-पीडित या शनैर्मेही[२] होता है; शूकर के मांस का सेवन प्रायः करनेवाली हो तो बच्चा रक्तनेत्रों वाला, क्रथन[३] अथवा अति परुष (रूखे कठिन-स्पर्श) रोमवाला होता है ; माता मत्स्यमांसादन-शीला हो तो कुमार में निमेष (आँख झपकना) का काल दीर्घ होता है या उसकी आँखें स्तब्ध (न झपकनेवाली) होती हैं ; वह दूध को छोड़ शेष मधुर रस का नित्य सेवन करती हो तो कुमार जीवन में प्रमेह-पीडित, मूक किंवा अति मेदस्वी होता है ; वह नित्य अम्ल रस का उपयोग करनेवाली हो तो बालक रक्तपित्त, त्वग्रोग या अक्षिरोगों से पीड़ित होता है ; लवण रस का नित्योपयोग करती हो तो कुमार को वली (वार्धक्य–सूचक त्वक्संकोच, झुर्रियाँ) तथा पलित (बाल-पकना, ग्रे हेअर) अकाल में हो आते हैं अथवा उसे खालित्य (गंज, टाँट निकलना) रोग होता है ; वह सर्वदा कटुरस का सेवन किया करती हो तो शिशु दुर्बल, अल्पशुक्र या अनपत्य (संतान-रहित) होता है ; माता नित्य तिक्त रस का सेवन करती हो तो बालक शोषी (शोष-रोगी) बलहीन अथवा कृश (क्षीण धातुओं-वाला) होता है ; गर्भिणी नित्य कषायरस का विशेष सेवन करती हो तो कुमार श्याव (धूसर वर्ण), आनाही (कब्ज से पीड़ित) किंवा उदावर्ती होता है[४]। किं बहुना,

---

१—मूत्र-गत द्रव्य घनत्व प्राप्त कर वालुका-सदृश आकार के हो मूत्रमार्ग से प्रवृत्त हों तो इस विकार को **सिकतामेह** (सिकतारेती) कहते हैं ; वे ही कुछ अधिक स्थूल हो स्वल्प गुटिकाकार हो जाएँ तो इसे **शर्करामेह** कहते हैं ; वे और भी स्थूल हो मार्गावरोधादि विक्रिया उत्पन्न करें तो रोग को **अश्मरी** (पथरी) कहते हैं।

२—प्रवाहिका में मलप्रवृत्ति के संम्बन्ध में जो लक्षण होते हैं वही मूत्र प्रवृत्ति-के संवन्ध में दिखाई दें, नाम—मूत्र थोड़ी-थोड़ी देर पीछे, अल्प-अल्प, वेग विना, कठिनाई से (बल करने पर), कफयुक्त तथा पिच्छिल (तन्तुमान्) हो तो इस रोग को **शनैर्मेह** कहते हैं।'

३—**क्रथनमकस्मादुच्छ्वासावरोधः, तद्वानपि क्रथन इत्युच्यते—चक्रपाणि** श्वास का सहसा अवरुद्ध हो जाना **क्रथन** कहा जाता है। तद्युक्त रोगी को भी क्रथन कहते हैं। विशेषतः कोष्ठगतवात में कभी-कभी देखते हैं रोते-रोते या हँसते-हँसते बच्चे का साँस ऊँचे चढ़ जाता है और वैसा ही रह जाता है। श्यावता (सायनोसिस) आदि वात प्रकोप के लक्षण व्यक्त हो जाते हैं। बड़े होने पर भी कभी-कभी एक श्वास में लम्बी बात कहते-कहते यह स्थिति देखी जाती है। वातानुलोमन उपचार से स्थिति सुधर जाती है।

४—देखिए : च० शा० ८।२१।

यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति ॥ च० शा० ८।२१

रोग-निदान प्रकरण में जिस-जिस रोग का जो-जो निदान (उत्पादक हेतु) कहा है उस-उस का अति सेवन गर्भिणी करे तो उस-उस निदान से उत्पन्न होनेवाले विकारों से प्रायः पीड़ित होनेवाले सन्तान को जन्म देती है[1]

लघु वाग्भट ने दोष-प्रकोपक आहारों को लक्ष्य में रख इस विषय का विवेचन करते कहा है कि ; गर्भिणी यदि वातल आहारों का प्रायः सेवन करती हो तो बालक कुब्ज, अन्ध, जड़ या वामन होता है ; पित्तल आहारों के अतियोग से खल्वाट या पिङ्गल तथा श्लेष्मल द्रव्यों के अति सेवन से श्वित्री या पाण्डुरोगी होता है। देखिए : अ. हृ. शा. १।४८।

विहार-विशेष गर्भिणी के लिए अनुपशय हो तो उसके भी अतियोग के ऐसे ही विपरिणाम होते हैं। यथा—वह दिवा निद्राशील हो तो बालक भावी जीवन में निद्रालु होता है ; अञ्जन का अतियोग करे तो अन्ध, रोदनशीला हो तो विकृत-दृष्टि ; स्नान-लेपादि का अतियोग करे तो दुःखशील (सौकुमार्य के कारण बात-बात में कष्ट माननेवाला) ; तैलाभ्यङ्गशीला हो तो कुष्ठरोगी (त्वग्रोगी), नखों का अतिकर्तन (दाँतों से ?) करती हो तो कुनख-रोगी, दौड़-दौड़ करने क स्वभाववाली रहे तो चञ्चल, अति हास्यशील हो तो श्याव-वर्ण दन्त, ओष्ठ, तालु और जिह्वावाला, अति भाषणशीला हो तो प्रलापी, अतिशब्द-श्रवण (रेडियो आदि सारे दिन-रात सुना करना)-शीला हो तो बधिर, कंघी आदि से केशों का लेखन बहुत किया करे तो खल्वाट एवं माता मारुत (प्रवात ; बाह्य या पंखे की हवा) या अर्थहीन श्रम का अतियोग करे तो बालक भविष्य में उन्मत्त (वातल, वात-रोगाक्रान्त) होता है[2]।

१—इस विषय का कौमारभृत्य की दृष्टि से स्मरणीय एक छोटा सा परन्तु व्यवसायोपयोगी उदाहरण देता हूँ। प्रसव में कितनी ही वार शिशु का श्वसन शीघ्र चालू नहीं होता और न्यूनाधिक प्रयास करना पड़ता है। इस में कारण प्रायः माता का सगर्भावस्था में प्रतिश्याय-श्वास-कासादि जनक आहार-विहार का अतियोग होता है। इसके कारण अधिक उत्पन्न कफ शिशु के कण्ठ तथा प्राणवह स्रोतों का अवरोध करता है।

२—देखिए : सु० शा० २।२५। यहाँ यद्यपि ऋतुमती का प्रकरण है तथापि आगे गर्भिणी-व्याकरणाध्याय में इस प्रकरण का भी अतिदेश **पूर्वोक्तानि च परिहरेत्** (सु० शा० १०।३) वचन द्वारा किया है। अतः यह प्रकरण सगर्भा पर भी घटित होता है।

इन प्रकरणों में आचार्यों ने जिन रोगों का निर्देश किया है, संभव है, उनसे भिन्न भी रोगों की जन्मबलप्रवृत्ति का उल्लेख उन-उन रोगों के प्रकरण में किया हो। सूचीमुखी योनि ऐसे रोगों में एक है। शेष प्रकरणों का भी इस दृष्टि से अनुसंधान किया जाना चाहिए। चरक ने इस योनि की संप्राप्ति देते कहा है—

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन्।
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥
च० चि० ३०।३२

मातृदोषादिति-मातुर्गर्भकाले वातप्रकोपहेतुसेवारूपापचारात्—
चक्रपाणि

सूचीवक्त्राऽतिसंवृता॥ सु० उ० ३८।१६

अतिसंवृता अत्यर्थसंकुचितमुखी— डल्हन

स्त्री अपनी माता के गर्भ में रही हो उस काल माता ने यदि वातप्रकोपक आहार-विहारादि का अतिसेवन किया हो तो परिणाम में रूक्ष गुण का प्रकोप हो जाता है। यह रूक्ष गुण स्त्री (संतान) की योनि के द्वार (मुख) को अणु नाम अति संकुचित कर देता है। वातप्रधान इस योनिव्यापत् को सूचीमुखी या सूचीवक्त्रा योनि कहते हैं। यह नवीनों का 'इन्फेन्टाइल यूटेरस' आदि विकारों में पाया जानेवाला 'पिन-पाइण्ट ऑस' प्रतीत होता है। एक अर्जित रोग भी ऐसा होता है, इसमें द्वार पर व्रण हो कर रोहण होते हुए जो सौत्रिक धातु बनता है वह प्रमाणातीत होने से योनि का मुख रुद्ध हो जाता है। वह इससे भिन्न है। 'पिन-पॉइण्ट ऑस' तथा सूचीमुखी इन दोनों नामों का साम्य भी द्रष्टव्य है। (ऑस=आस्य, मुख)।

दौहृदापचारकृत रोग—

पूर्व-निर्दिष्ट प्रकरणों में आचार्यों ने दौहृद के पूरण पर अत्यन्त भार दिया है। यह भी कहा है कि: किस-किस पदार्थ की इच्छा होने से किस-किस गुण-अवगुणशाली संतान की संभावना की जा सकती है। प्राचीन वाङ्मय में भी दौहृद की पूर्ति का उल्लेख आता है, यथा रामायण में सीतादेवी का। आधुनिक विज्ञान के ग्रन्थों में ऐसा कुछ पाया नहीं जाता। लोकों में भी दौहृद होने की कुछ बात देखने-सुनने में नहीं आती। तथापि प्राचीन मत इस विषय में संक्षेप में यह है—

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिण एव वा॥
सु० शा० ३।५१

वात का प्रकोप और तज्जन्य अत्यन्त रौक्ष्य हो अर्थात् गर्भ के शरीर धातुओं को उपचित करने के सामर्थ्य की माता के रस धातु में न्यूनता हो तो, किंवा दौहृद की पूर्त्ति न की जाए तो संतान कुब्ज, कुणि (हाथ रचनात्मक वैरूप्य या कर्मात्मक वैकल्य वाला होना), पङ्गु, मूक या मिन्मिन (ण) होता है।

रसधातु में गुरुता (नव्य मत से मांसादि का पोषक मुख्यतया प्रोटीन), स्निग्धता (स्नेहद्रव्य, फैट) इत्यादि गुण न हो तो उसे रूक्ष कहा जाता है। यह वात के प्रकोपवश होता है तथा स्वयं वात-प्रकोप का निदान (मूल कारण) भी होता है। माता के रस धातु में इस वातप्रकोपवश गर्भ-शरीर का पूर्ण पोषण न होने से उल्लिखित विक्रियाएँ होती हैं। प्राचीन दर्शनानुसार दौहृद के अवमानन से भी यही विपरिणाम होते हैं। इसीसे प्राचीन आचार्य नियम कर गए हैं––

सा यद्यदिच्छेत् तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः॥
च० शा० ४।१७

सगर्भा स्त्री जिन-जिन भी पदार्थों की इच्छा व्यक्त करे, उन सब की पूर्ति करनी चाहिए। किन्तु पात, स्राव, वैरूप्य आदि के रूप में गर्भ को हानि पहुँचाने वाली इच्छाओं की पूर्ति न करे। तथापि––

तीव्रायां तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थना-विनयनार्थम्॥ च० शा० ४।१८

अभिलषित गर्भोपघातकर वस्तु की इच्छा अदम्य हो तो उसे भी उसका वारण करनेवाले हित पदार्थों से संमिश्र करके या हित कल्पना के रूप में दे, जिससे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हो जाने से इच्छा की शान्ति हो जाए। इच्छा को इस प्रकार शान्त न किया जाए तो––

प्रार्थनासंधारणाद्धि वायुः प्रकुपितोऽन्तः शरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्य-मानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात्॥ च० शा० ४।१९

××× इच्छाविघातश्च मनःक्षोभादिकरभयादिवद् वातप्रकोपको भवति। आपद्यमानस्येत्यनेन गर्भस्यातितरुणत्वेन मनागपि वात-क्षोभासहत्वं दर्शयति। वैरूप्यविनाशविकल्पस्तु वातप्रकोपप्रकर्षा-पकर्षकृतो ज्ञेयः॥ चक्रपाणि

वह अतृप्त (निगृहीत, सप्रेस्ड) इच्छा भय आदि भावों के सदृश मन को विक्षुब्ध कर वायु को सुतरां प्रकुपित कर देती है। गर्भ जो अभी बन रहा होता

है, वह इसी कारण अति सुकुमार होने से वात के इस प्रकोप को सहन नहीं कर पाता। अतएव प्रकोप के प्रमाण के आधिक्य या न्यूनता के अनुसार उसकी या तो गर्भाशय में ही मृत्यु हो जाती है या कुब्जता प्रभृति शारीर तथा जड़ता प्रभृति मानस विकारों से वह पीड़ित होता है। अतः;--

अहितानाहारविहारान् प्रजासंपदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्॥

च० शा० ८।२१

यों तो सर्वदा ही स्त्री को तथा औरों को भी अहिताहार विहार से बचना चाहिए, परन्तु स्त्री यदि प्रजा-संपत् (सर्वगुण संपन्न प्रजा की प्राप्ति) की इच्छा रखती हो तो उसे और उसके पति को भी अहित आहार-विहार का विशेषतया परिवर्जन करना चाहिए।

गर्भ की विकृतियों का कारण-समुच्चय--

चरक-संहिता के शारीरस्थान के अतुल्यगोत्रीय शारीर नामक द्वितीय अध्याय में, विशेषतया गर्भोत्पत्ति-संबन्धी प्रश्नोत्तर सुन्दर उपजातियों में आए हैं। इनमें एक प्रश्न है?--

कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते
हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियां वा॥

च० शा० २।२८

प्रश्न है--कभी-कभी स्त्री को सर्प-वृश्चिकादि विकृत आकृति की हीनाङ्गी (एकाध अवयव की न्यूनतावाली), अधिकाङ्गी या विकलेन्द्रिय (इन्द्रिय-विशेष की जड़ता--मन्दता--वाली) सन्तति होती है। इसका कारण क्या है? उत्तर देते स्वयं तन्त्रकार कहते हैं--

बीजात्मकर्माशय कालदोषै-
र्मातुस्तथाहार विहारदोषैः।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः
संस्थानवर्णेन्द्रिय वैकृतानि॥
वर्षासु काष्ठाश्म घनाम्बुवेगा-
स्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव
गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः॥

च० शा० २।२९-३०

बीज (शुक्र और शोणित ; पुंबीज-स्त्रीबीज), गर्भस्थ जीव के अपने पूर्व-जन्म के कर्म, योनि-सहित गर्भाशय और काल इनकी विकृति एवं माता के आहार-विहार इन से प्रकुपित हुए वातादि शारीर दोष मिल कर शरीर के आकार, वर्ण और इन्द्रिय में वैरूप्य (रचनात्मक या कर्मात्मक विकृति) उत्पन्न करते हैं।

वर्षाकाल में नदी के प्रवाह में खेंचे जाते वृक्ष पर लकड़ी, पत्थर तथा जल का वेग इन तीन की क्रिया होकर जैसे उस की (वृक्ष की) विकृति अर्थात् स्वरूप-हानि होती है वैसे तीनों दोष मिल कर शरीरावयवों के आकार आदि में विकृति उत्पन्न करने में हेतु होते हैं।

सु० शा० २।५०–५२ में सुश्रुत ने भी गर्भों की विकृति का हेतु स्त्री-पुरुष के विशेषतया स्त्री के पापकर्म, गर्भगत जीव के प्राक्तन कर्म, वातादि दोषों का विशेषतया वात का प्रकोप एवं दौहृद की पूर्ति न होना इन वस्तुओं को ही कहा है[1]।

हृदयकार ने दोष-प्रकोपवश गर्भ में होनेवाली इन विकृतियों में एक स्मरणीय विकृति योनि का अभाव या विकृति (वियोनि) बताया है। यहाँ योनि शब्द गर्भ-यन्त्र के अर्थ में आया है। योनिव्यापत् इत्यादि संज्ञाओं में इस शब्द का यह व्यापक अर्थ प्रसिद्ध है। गर्भयन्त्र की विकृति का विस्तृत विवेचन अन्तःफल (ओवरी) न होना, गर्भाशय का अभाव, गर्भाशय के स्वरूप में विभिन्न विरूपताएं होना, योनि का अभाव इत्यादि रूपों में नवीनों ने बताया है। उनका प्रत्यक्षाश्रित विवरण आधुनिक ग्रन्थों और गुरुओं से जानना चाहिए। हृदयकार का उक्त वचन यह है :—

वियोनिर्विविधाकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः॥

अ० हृ० शा० १।६

१—देखिए—सर्पवृश्चिक कूष्माण्ड विकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम्॥
गर्भो वात प्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पंगुर्मूको मिन्मिन एव वा॥
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृते।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात्॥

सु० शा० २।५०–५२

पुरुष के पूर्वकर्म इस प्रकार वर्तमान शरीर में रोग का कारण बनते हैं और ये पूर्वकर्म आत्माधिष्ठित लिङ्ग-शरीर द्वारा इस शरीर में अवतीर्ण होते हैं। विशेषतया इसी कारण आत्मा को चिकित्सा-प्रधान इस तन्त्र में स्थान दिया गया है। इस प्रकार हुए रोगों को **कर्मज** रोग कहा गया है।

बीज-दोष से शिशु को विकृति होने का उत्तम उदाहरण भी नव्य मत से यह दिया जा सकता है कि : फिरङ्ग पीड़ित माता के जीवित सन्तान के नेत्र, नासामध्य, दन्त, ओष्ठ, त्वचा आदि में अमुक जन्मजात वैरूप्य देखा जाता है। गर्भाशय-दोष के उदाहरण रूप में भी फिरङ्ग एवं पूयमेह उदाहरणतया प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पूयमेहाक्रान्त गर्भाशय या योनि से प्रसव काल में बाहर आते शिशु के नेत्रों में पूय का संक्रमण हो जाए तो दुःसाध्य अभिष्यन्द हो जाता है। इसीसे आधुनिक कौमारभृत्यों ने नियम बना दिया है कि : शिशुमात्र के नेत्रों में प्रसव के तत्काल पश्चात् अभिष्यन्दहर सिल्वरनाइट्रेट के हलके घोल के बिन्दु टपका देने चाहिए।

शरीरावयवों की रचनात्मक विकृतियों के लिए अंग्रेजी में राक्षस-वाचक 'मॉन्स्टर' शब्द प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण में अशोक वाटिका में सीता देवी को वेष्टित कर बैठी राक्षसियों के जो विविध आकार वर्णित किए हैं वे इन 'मॉन्स्टरों' के ही उदाहरण हैं। आधुनिक कौमारभृत्य में भी इनके पर्याय सुलभ हैं। जन्मबलप्रवृत्त रोगों को अंग्रेजी में 'कन्जेनिटल' कहते हैं।

जन्मबलप्रवृत्त पंगु, वामन तथा जड़ : एक स्पष्टता :—

जन्मबलप्रवृत्त रोगों के उदाहरणों में एक जात्यन्ध है। इस संज्ञा का प्रयोग सुश्रुत ने (सु० सू० २४।५) में इन रोगों की व्याख्या करते हुए किया है। जन्मोत्तरकालज समान लक्षणवाले रोग से उन्हीं लक्षणोंवाले जन्मबलप्रवृत्त रोगों की पृथक्ता दर्शाने के लिए जन्मवाचक जाति शब्द का व्यवहार जात्यन्ध शब्द के अनुकरण में किया जा सकता है। इस प्रकार जन्म से पंगु आदि को जातिपंगु या जन्मपंगु आदि नाम दिए जा सकते हैं।

ये जातिपंगु आधुनिकों के 'रिकेटी' प्रतीत होते हैं। गर्भिणी को अस्थि-पोषक सामग्री पर्याप्त न मिलने से या अस्थिधात्वग्नि के दौर्बल्य से यह होता है। नव्य मत से इसमें जीवनीय डी का हीनयोग प्रमुख कारण होता है। शरीर में जाकर जीवनीय डी अस्थिपोषक सामग्री का सफल उपयोग कराता है। कभी अस्थिपोषक सामग्री सम प्रमाण में अन्नपान में हो तथापि पच्यमानाशय में कफ का लेप होने से उसका रसवह स्रोतों द्वारा ग्रहण नहीं हो तो भी शिशु की अस्थियाँ तथा दन्त पुष्ट नहीं होते।

इसी प्रकार जन्म-वामन नवीनों के 'ड्वार्फ' प्रतीत होते हैं। पिट्युइटरी के अस्थिपोषक अन्तःस्राव की क्षीणता होने से यह होता है। एवं जाति-जड़ नवीनों के क्रीटिन होने संभव है। क्रीटिनिज्म चुल्लिकाग्रन्थि (थायरॉयड) के पूर्ण कार्यक्षम न होने से होता है।

जातिपंगु आदि रोगों का साम्य नवीनोक्त रोगों के साथ दर्शाने में प्रयोजन यह है कि : पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के प्रचार के परिणाम-स्वरूप प्रायः बाल-रोगियों का निदान रिकेट्स, क्रीटिनिज्म आदि नामों से उपलब्ध होना संभव है। इन रोगों की अनुत्पत्तिके लिए प्रथम तो शिशुको अन्नपान तथा औषध द्रव्योंके रूप में सर्वधातुपोषक द्रव्य सम प्रमाण में मिलें इस दिशा में प्रयास होने चाहिए। एतदर्थ सर्व रसों के सम अभ्यास का जो सूत्र प्राचीन आचार्य कह गये हैं उसका अनुसरण किया जाए तो आधुनिकों के प्रोटीन आदि का साम्य भी सिद्ध हो जाता है। साथ ही जिस रस या द्रव्य की सविशेष स्वस्थ रुचि हो उसकी पूर्त्ति की जाए तो तत्काल विशेषतया आवश्यक द्रव्य की भी उपलब्धि माता और शिशु को हो जाती है। दूसरी आवश्यक वस्तु यह है कि : सर्वधातुपोषक सामग्री अन्नपान में होने पर भी माता के शरीर में और उसके द्वारा गर्भस्थ शिशु के शरीर में सम प्रमाण में पहुँचे इस दृष्टि से माता का पच्यमानाशय कफ से अवरुद्ध न होना चाहिए। कफ का अवरोध होने से उदीरित[1] पाचक पित्तोंका पच्यमानाशय में वहन सम्यक् नहीं होता ; अपरंच, पचने पर अन्न का रसवह स्रोतों द्वारा ग्रहण भी यथावत् नहीं होता। प्रसवोत्तर जब शिशु क्षीरप (क्षीराद), क्षीरान्नाद किंवा अन्नाद होता है, उस काल भी सर्वरसाभ्यास एवं आमपच्यमानाशय का कफादि दोषों से अभिभूत न होना ये दोनों नियम मातृ-शरीर तथा शिशु-शरीर के लिए अवश्य-स्मरणीय तथा अवश्य अनुसरणीय होते हैं। परन्तु यदि उक्त रोग हो चुके हों और--

बालरोगी क्रीटिन, ड्वार्फ आदि नवीन संज्ञाओं से रोग की निश्चिति लेकर आए तो आयुर्वेद-मत से उनके उपचार का प्रयास, विशेषतया अनुसन्धान की दृष्टि से, किया जा सकता है। सुश्रुत ने शा० १०।६८-७० में तथा अन्य आचार्यों ने भी यथास्थान बालकों के शरीर, मेधा, बल और बुद्धि की अभिवृद्धि करनेवाले --कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः--प्राशादि का विधान किया है। इन द्रव्यों की उक्त रोगों में उपयोगिता की परीक्षा कर देखनी चाहिए। युगानुसार इनमें से ब्राह्मी, वचा, कुष्ठ (प्रतिनिधि-अकरकरा, या मरेठी), शंखपुष्पी आदि निर्दिष्ट द्रव्य लेकर एवं उस्तखुद्दूस आदि इन प्रकरणों में अनिर्दिष्ट द्रव्य भी मिला घृत और मधु से संयुक्त कर प्रत्येक मात्रा में दो-चार बार सोने की अँगूठी आदि

१--भोजनकालिक दोषों की वृद्धि जो अन्नपचन के प्रयोजन से तथा शरीरस्थ अन्य दोषों के साम्य के लिए होती है, उसे विकार-सूचक प्रकोप नाम न देकर उदीरण नामान्तर तन्त्रकारों ने दिया है। पचन के प्रकरण में इसी संज्ञा का व्यवहार लेखकों को करना चाहिए।

घिसने के रूप में सुवर्ण का भी संयोजन कर बच्चे को दे सकते हैं। केवल सुवर्ण का इस प्रकार घासे के रूप में उपयोग पुत्रघ्नी योनि (बच्चे उत्पन्न हो-होकर शोष आदि रोगों से उनकी मृत्यु होना) में गुणकारी देखा गया है। व्यवसायी चिकित्सक इसका व्यवहार कर देखें।

जन्मबलप्रवृत्त रोगों के विषय में इतना विवरण कर अब अग्रिम विभांगान्तर्गत दोषबलप्रवृत्त रोगों का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

दोषबलप्रवृत्त रोग

जैसा कि नाम से सूचित है इस वर्ग में उन रोगों की गणना होती है, जो वात-पित्त-कफ इन शारीर दोषों एवं रजस्-तमस् इन मानस दोषों के बल से अर्थात् उनका प्रकोप या क्षय के रूप में वैषम्य होकर शरीर एवं मन में रोगजनन-सामर्थ्य के उत्पन्न होने से होते हैं।

दोषबलप्रवृत्त रोगों के दो प्रभेद हैं: १. मिथ्याहार-विहार से दोषों का प्रकोप होकर जिनकी साक्षात् उत्पत्ति होती है, वे रोग तथा, २. प्रकुपित हुए दोषों से पूर्वोत्पन्न रोगों से जिनकी उत्पत्ति होती है। चरक ने इन पिछले प्रकार के रोगों का उदाहरण सविस्तर अधोलिखित प्रसिद्ध पदों में दिया है:

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते।
तद्यथा ज्वरसंतापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते॥
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च॥
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते।
प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः कासात् संजायते क्षयः॥
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते[1]॥

च० नि० ८।१६-१९

शोषश्चापीत्यत्र श्वासश्चापीति पाठान्तरम्॥

कभी-कभी एक रोग अन्य रोग की उत्पत्ति में निदान का कार्य करता हुआ देखा जाता है। अर्थात्--जैसे प्रज्ञापराधवश किए अहिताहार-विहारादि से तत्तत् रोग उत्पन्न होते हैं वैसे एक रोग से अन्य रोग उत्पन्न होता है। जैसे--ज्वर के संताप से रक्त-पित्त होता है--आमाशय, नासिका, गुदमार्ग आदि द्वारों

१--ये पद्य माधव निदान में भी उद्धृत हैं। उन पर मधुकोष तथा आतङ्क-दर्पण टीकाएँ द्रष्टव्य हैं।

से रक्त का स्राव होता है। कभी रक्तपित्त से ज्वर हो जाता है। ज्वर और रक्तपित्त दोनों से राजयक्ष्मा (पाठान्तर में--श्वास) हो जाता है। प्लीहा की अभिवृद्धि (सब ओर वृद्धि) से उदर (प्लीहोदर तथा उसका परिपाक होने पर जलोदर) हो जाता है। उदर रोग से शोथ होता है। अर्शों से मल तथा वात का विबन्ध और उदावर्तन एवं उनके परिणामस्वरूप अतिमात्र दोष-संचय होकर कष्टकारी उदर किंवा गुल्म रोग होता है। प्रतिश्याय से कास और कास से रसरक्तादि धातुओं एवं ओज प्रभृति उपधातुओं का क्षय होता है। यह धातूपधातुओं का क्षय शोष (राजयक्ष्मा) का कारण बनता है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पति में कारण--

पूर्वोत्पन्न रोगों से रोगोत्पत्ति के इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि निदान-प्रकरण में जो प्रज्ञापराधादि कारणत्रय बताया जाएगा उससे भिन्न यह चतुर्थ कारण है। तन्त्रकार ने रोग रोग के निदान होते हैं ऐसा न कहकर रोग निदान के रोगोत्पत्ति-रूप प्रयोजन (अर्थ) के करनेवाले होते हैं ऐसा कहा है, उसमें तात्पर्य यही है कि :

रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोतीति ॥

मधुकोष

ज्वरकारणान्येव हि उष्णादीन्यतिमात्राणि ज्वरमभिनिर्वर्त्य रक्तपित्तमपि कारणान्तरवर्धितशक्तीनि जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम् ॥

चक्रपाणि

पूर्वोत्पन्न रोग जब अन्य रोग को उत्पन्न करता है उसमें स्थिति यही होती है कि, पूर्व रोग की उत्पत्ति के जो कारण होते हैं उनका ही अतियोग चालू रहे तो उनकी रोगजनक शक्ति बढ़ जाती है--उपबृंहित हो जाती है। जैसे, जिन उष्ण-तीक्ष्णादि कारणों से ज्वर की उत्पत्ति होती है वे ही विद्यमान रहें तो उनकी शक्ति में वृद्धि होने से वे रक्तपित्त की उत्पत्ति में भी कारण होते हैं। जैसा कि आगे देखेंगे, इस प्रकार एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति में एक कारण चिकित्सा का अप्रशस्त होना होता है। यथा, इसी ज्वर में क्वीनाइन का प्रयोग करने से क्वीनाइन की उष्णवीर्यता के कारण कभी नासिका से रक्तस्राव (नकसीर) होता है। कभी निर्गुण्डी के उपयोग से भी यह परिणाम होता देखा जाता है। संततज्वर-विशेष (टायफॉयड) में मुखपाकादि लक्षणों से पच्यमानाशय में भी पित्तप्रकोप की संभावना कर तदनुरूप उपचार न किया जाए तो रोग में भूयसी वृद्धि होकर गुदमार्ग से रक्तस्रुति होती है।

स्वयं तन्त्रकार के शब्दों में इस प्रकार रोगोत्पादक कारण के सविशेष सेवन से एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होने की बात समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा। पित्तातिसार की परिणति रक्तातिसार में होती है, यह विषय प्रतिपादित करते महर्षि अग्निवेश कहते हैं :

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते।
पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम्॥
कुर्याद्रक्तातिसारं तु, रक्तमाशु प्रदूषयेत्।
तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्॥

च० चि० १९।७३-७४

पित्तातिसार का जो उपचार कहा गया है उसका अनुसरण न कर रोगी यदि पित्तल अन्नपान का सेवन करता रहे तो उसका पित्त और भी प्रकुपित होकर रक्त को भी दूषित कर रक्तातिसार को उत्पन्न करता है। इसमें ज्वर, तृष्णा, शूल, विदाह (अन्तर्दाह) तथा विकट गुदपाक ये सहचारी लक्षण होते हैं[1]।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि रक्तातिसार यद्यपि पित्तातिसार के अनन्तर होता हुआ यहाँ कहा गया है, तथापि कारण पहले से ही अतिमात्रा में विद्यमान हो तो प्रारम्भ से भी रक्तातिसार हो सकता है।

इसी विषय का अन्य एक उदाहरण तन्त्रकार के शब्दों में देखिए। कामला के एक भेद कोष्ठशाखाश्रित कामला की उत्पत्ति पाण्डुरोग से होती बतलाते तन्त्रकर्त्ता कहते हैं :—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥

च० चि० १६।३४

पाण्डुरोगी ही पित्तल अन्नपानादि का अत्यधिक सेवन करे तो उसका पित्त सुतरां प्रकुपित होकर रक्त और मांस को भी दग्ध कर कोष्ठशाखाश्रित कामला को उत्पन्न करता है।

रोग के लक्षण देकर अन्त में मुनि कहते हैं :—

कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥

च० चि० १६।३६

१—सु० उ० ४०। ११६ पर प्रायः यही शब्द सुश्रुत ने दिए हैं।

कोष्ठशाखाश्रित कामला में पित्त अधिक कुपित होता है। इस कामला के विषय में भी स्मरण रखना चाहिए कि यह भी पाण्डुरोग के बिना भी प्रारम्भ से ही हो सकती है।

अतिसार-प्रवाहिका से ग्रहणी रोग की उत्पत्ति बताते सुश्रुत ने भी कहा है :—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्॥
सू० उ० ४०।१६७

अतिसार तथा प्रवाहिका शान्त हो गये हों, परन्तु उसके दोष तथा शक्ति पूर्णतया समावस्था में न आ गये हों, अग्नि भी मन्द हो ऐसी स्थिति में भी रोगी अहिताहार-विहार करता रहे तो ग्रहणी और अधिक दूषित होकर ग्रहणीरोग (प्रसिद्ध नाम संग्रहणी) उत्पन्न होता है।

इस रोग के विषय में भी जानना चाहिए कि अतिसार और प्रवाहिका के बिना भी, एवं वे शान्त न हुए हों तो भी उल्लिखित कारणों के अतियोग से ये रोग होते हैं। दूसरी बात स्मरणीय यह है कि पूर्वाचार्यों ने प्रवाहिका का वर्णन अतिसार-विशेष के रूप में ही किया है। अतः यहाँ अतिसार शब्द से प्रवाहिका का भी ग्रहण किया है। प्रत्यक्ष में भी प्रायः प्रवाहिका (अमीबिक डिसेण्ट्री) की ही परिणति ग्रहणी में होती है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति के चरकोक्त उदाहरणों में ये तथा अन्य रोग भी स्पष्टता की दृष्टि से बढ़ाए जा सकते हैं।

अर्श, अतिसार तथा ग्रहणी-रोग की परस्पर कारणता—

रोग अनेक हों, परन्तु उनकी उत्पत्ति का कारण एक (समान) ही हो तो कारणों का अतियोग होने पर विद्यमान रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति होती है, इस विषय का उत्तम उदाहरण अर्श, अतिसार और ग्रहणी-विकार हैं। ग्रहणी-विकार शब्द के दो अर्थ हैं :—संग्रहणी नाम से लोक में प्रचलित तथा शास्त्र में जिसे ग्रहणी कहा है वह रोग एवं जाठराग्नि के दोषों से अभिभूत होने से होनेवाले मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि तथा विषमाग्नि ये विकार। इनकी परस्पर कारणता तथा तीनों के मूल की एकता को लक्ष्य में रखकर कही गयी लघु वाग्भट की यह इन्द्रवज्रा वैद्यों में प्रसिद्ध है :—

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः।
सन्नेऽनले सन्ति, न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्॥
अ० हृ० चि० ७।१६४

अर्थात्--अर्श, अतिसार और ग्रहणी-विकार ये प्रायः एक-दूसरे के निदान-भूत--एक दूसरे की उत्पत्ति में कारणभूत--हैं। अग्नि मन्द हो तो ये तीनों होते हैं। अग्नि प्रदीप्त हो तो उत्पन्न होने नहीं पाते--किंवा हुए हों तो अग्निदीपक उपचार करने से शान्त हो जाते हैं। अतः इन रोगों में अग्नि की रक्षा विशेषतया करे। इन रोगों का कारण एक होने से ही चिकित्सा-विधि में भी एक रोग के अधिकार में कहे योग अन्य रोगों की चिकित्सा में भी व्यवहृत होते हैं।

पद्य में इन रोगों की परस्पर कारणता के लिए 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि पूर्व-लिखित एक रोग से उत्पन्न अन्य रोगों के सदृश अर्श आदि ये रोग भी एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं, परन्तु इनकी स्वतन्त्र उत्पत्ति भी होती है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति के उदाहरण देते हुए आचार्य ने प्रतिश्याय से कास तथा अन्त में शोष का उत्पन्न होना बताया है। इससे व्यवसायोपयुक्त एक-दो बातें यहाँ जान ली जा सकती हैं। प्रतिश्याय के प्रकरण में हम देखेंगे कि यह रोग वात-प्रधान होता है--वायु का उदावर्त तथा मल और वायु का विबन्ध होने से होता है। मल और वायु की शुद्धि सम्यक् हो तो यह रोग हो नहीं सकता। उपचार में भी मल और वायु के अनुलोमन पर ही प्रथम ध्यान देना चाहिए। प्रतिश्याय वातप्रधान रोग होने से इससे जो कास होता है वह भी वातप्रधान अतएव शुष्क होता है। शुष्क कासपीड़ित रोगी की परीक्षा करते हुए, इसी कारण, प्रतिश्याय होने की परीक्षा प्रश्न द्वारा अवश्य करनी चाहिए। प्रकुपित वायु की रूक्षता से प्राणवह स्रोतों में स्थित कफ शुष्क हो जाता है। शुष्क कफ का मुख तथा नासाद्वार की ओर गमन यथावत् न होने से उसे बाहर निकालनेवाला वायु आवृत हो कुपित होता है--संसक्त कफ को बाहर निकालने के लिए कास के वेगों के रूप में प्रयत्न करने लगता है। अतः शुष्क कास में मल और वात के अनुलोमन के अतिरिक्त कफ को द्रव और मृदु करनेवाले विभिन्न लवण, क्षार तथा मधुयष्टी आदि द्रव्यों की योजना की जानी चाहिए।

शोष अथवा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र हो तो भी प्रतिश्यायपूर्वक होता है। यह संप्राप्ति अन्य जीर्णज्वरों--यथा सूतिकाज्वर, ग्रहणीजन्य ज्वर (एमीबाएसिस) आदि से भेदक परीक्षा के लिए उत्तम है। ये ज्वर प्रतिश्यायपूर्वक नहीं होते।

प्लीहावृद्धि से उदर होने का निर्देश यहाँ किया है। प्लीहावृद्धि और प्लीहोदर में भेद यह है कि प्लीहा की वृद्धि चाहे कितनी भी हो परन्तु उदर (एण्टीरिअर एब्डॉमिनल वॉल) का उत्सेध (फुलावा) न हो तो इसे उदर नहीं कहते। उदर का उत्सेध होने पर ही रोग को उदर कहते हैं।

उदर से शोथ होता है यह यहाँ कहा है। दूसरी ओर स्वयं शोथ से उदर भी होता है। इन दोनों रोगों में पूर्वोत्पन्न एक रोग के अनन्तर दूसरा रोग भी उत्पन्न हो गया हो तो चिकित्सा की शुद्धि के लिए मूल रोग का ज्ञान आवश्यक होता है। इसकी परीक्षा पहले कौन रोग हुआ था इस वस्तु के ज्ञान से हो सकती है।

अर्श से उदावर्त आदि होकर उदर तथा ग्रहणीरोग होते हैं। किं बहुना, ग्रहणीरोग या अग्निविकृति से पीड़ित रोगी की परीक्षा करते हुए उसे अर्श है या नहीं इस बात का प्रश्न अवश्य करना चाहिए। रोगी को स्वयं अर्श न हो तो उसके माता-पिता, अग्रज आदि पूर्वजों को अर्श था या नहीं, इस बात के परिज्ञान से सहज अर्शों की प्रवृत्ति का ज्ञान होता है और तदनुरूप चिकित्सा के मार्ग की शुद्धि होती है। प्रसंगवश यह भी लिख दूँ कि अग्नि की मन्दता आदि विकारों से पीड़ित रोगी का इतिहास देखते हुए उसे अग्नि को मन्द करनेवाले रोगों में विशेषतया प्रवाहिका तथा कफप्रधान संतत ज्वर-विशेष (मुख्यतया नवीनों का टायफॉयड) तो नहीं हुआ था यह प्रश्न भी करना चाहिए।

रोगों का संकर तथा उनकी अनुत्पत्ति का उपाय[1]--

एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होते हुए दो स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो प्रथम रोग रोगान्तर को उत्पन्न कर शान्त हो गया होता है अथवा पूर्व रोग स्वयं भी शान्त नहीं हुआ होता और इतर रोग का हेतु भी बनता है--इतर रोग को उत्पन्न करता है :--

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥
च० सू० ८।२१

इस प्रकार पूर्वापर दोनों रोगों की विद्यमानता या व्याधि-संकर होता है। यह व्याधि-संकर बड़ा कष्टदायी और कष्टसाध्य होता है। इस व्याधिसंकर की उत्पत्ति के कारण दो हैं--प्रयोग (चिकित्सा) की शुद्धि नाम शास्त्रानुसारिता न होना तथा स्वभाव से ही रोगों की परस्परोत्पादकता। यथा--

आमातिसार में अतिसार के रूप में प्रवृत्त होते हुए दोष की उपेक्षा करना--उसे प्रवृत्त होने देना, इतना ही नहीं प्रवृत्ति यथावत् न होती हो किंवा सकष्ट होती हो तो अभया आदि द्वारा उनका प्रवर्तन--यही औषध होता है[2]। स्तम्भन

१--देखिए: च. सू. ८।२०-२३ तथा इन पर चक्रपाणि-टीका; सु० उ० ४०।१६८।

२--तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्।
कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम्॥ च० चि० १९।२१

से--प्रवृत्ति को अहिफेन आदि कल्प देकर रोक देने से--आमदोष अन्दर ही रहकर एवं प्रसृत होकर शूल, आनाह, आध्मान, ग्रहणी, ज्वर आदि रोगों को उत्पन्न करता है[1]। यह आमातिसार की शास्त्रोक्त शुद्ध चिकित्सा है। इसका अनुसरण न कर स्तम्भन किया जाए तो अतिसार तो कदाचित् शान्त हो जाए पर दोष शरीर में ही रह जाने से ग्रहणी आदि रोग नए उत्पन्न हो जाएँगे। इसे ऊपर के पद्य में प्रयोगापरिशुद्धि कहा गया है। अजीर्ण के किसी भी भेद से जो अतिसार होता है--कच्चे, हरे-पीले, दुर्गन्धयुक्त दस्त होते हैं--उसे आमातिसार कहते हैं। इसी प्रकार दोषज अतिसारों में भी मल या दोष साम हों तो उन्हें आम-वातातिसार आदि नाम दिए गए हैं। शुद्ध चिकित्सा उनमें भी पूर्वलिखित होती है।

प्रयोग की शुद्धि में रोग संपूर्ण निवृत्त न हो जाए तबतक पथ्यापथ्य के नियमों के पालन की भी गणना की जानी चाहिए। अतिसार से ग्रहणी की उत्पत्ति होने का पूर्वोद्धृत पद्य में निर्देश कर आगे सुश्रुताचार्य कहते हैं :--

तस्मात् कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा।।

सु० उ० ४०।१६८

अन्य रोग उत्पन्न न हो जाएँ इस हेतु अतिसारी को विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया है उस पुरुष) के समान तबतक परीहार---पथ्यापथ्य-सम्बन्धी नियंत्रण--करना चाहिए जब तक उसके दोष एवं शक्ति प्राकृतावस्था में न आ जाएँ। चिकित्सा के तीन अङ्गों में निदान-परिवर्जन नाम से इस परीहार या अपथ्य के त्याग का भी निर्देश तन्त्रकारों ने किया है। अतः इसे भी प्रयोग या चिकित्सा के अन्तर्गत यहाँ ग्रहण किया है।

निदान-परिवर्जन समेत चिकित्सा की शुद्धि से ही एक रोग दूर होता है तथा अन्य नवीन रोग उत्पन्न नहीं होने पाता।

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं, योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्।।

च० चि० ८।२३

शुद्ध प्रयोग उसी का नाम है जो विद्यमान व्याधि को शान्त करे, एवं नवीन

१--तेषूपेक्षैव भेषजम्।। अ. हृ. चि. ९।३

नतु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे।
विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहुन्।।

च. चि. १९।१९

व्याधि को उत्पन्न न करे। वह प्रयोग (चिकित्सा) विशुद्ध नहीं कहा जा सकता जो (पूर्व रोग को शान्त करे या न करे परन्तु) अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करे।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र द्वारा संशोधित नवीन औषधों को आत्मसात् करते हुए शुद्ध वैद्यों द्वारा इस पद्य में कही कसौटी प्रायः प्रस्तुत की जाती है। वह यथार्थ ही है। देखते हैं--त्वरित रोग-निवृत्ति की लालसा में लगा आज का जन-समाज तथा चिकित्सक-समाज इन नवाविष्कृत औषधों से कदाचित् एक रोग को शान्त करता है, पर प्रायः नए-नए रोगों को जन्म देता है। परिणामतया, इन औषधों से साध्य रोगों के सम्बन्ध में आज जितना वाङ्मय पाया जाता है उससे अधिक वाङ्मय इनके विपरिणामों, उनकी चिकित्साओं तथा उनके प्रयोग के सम्बन्ध की चेतावनियों पर होता है। कठिनाई यह है कि चिकित्सक-वर्ग इस परिस्थिति को स्वयं समझता है, पर इन औषधों का प्रचार इतना विपुल हो गया है कि रोगी इन्हीं औषधों की माँग करता चिकित्सक के पास आता है और वह चिकित्सा में इन औषधों का उपयोग न करे तो अन्य चिकित्सक के द्वार पर जाता है।

दोषबलप्रवृत्त रोगों के द्वितीय भेद के कारणभूत मिथ्याहार-विहार विषयक वक्तव्य आगे निदान-प्रकरण में आएगा ही। अतः उसे छोड़ आगे इनके शास्त्रोक्त भेद देखते हैं।

आमाशय-समुत्थ तथा पक्वाशय-समुत्थरोग--

तेऽपि द्विविधाः-आमाशयसमुत्थाः पक्वाशयसमुत्थाश्च ॥

सु० सू० २४।५

आमाशयसमुत्था नाभेरुपरिजाः कफपित्तजन्या वा। पक्वाशय-समुत्था नाभ्यधोगता वातजन्या वा ॥ चक्रपाणि

द्वे रोगानीके आशयभेदेन-आमाशयसमुत्थं पक्वाशयसमुत्थं चेति ॥

च० वि० ६।३

आमाशयसमुत्थत्वेन आमाशयाश्रयाः कफपित्तजाः सर्वे गदा गृह्यन्ते, पक्वाशयसमुत्थग्रहणेन सर्वे वातजाः। एवं सर्वविकारावरोधः ॥

चक्रपाणि

इन दोषबलप्रवृत्त रोगों के आशय-भेद से दो भेद हैं--आमाशयसमुत्थ नाम आमाशय में जिनका आरम्भ हुआ है ऐसे रोग तथा पक्वाशयसमुत्थ नाम जिनका आरम्भ पक्वाशय में हुआ है ऐसे रोग।

यहाँ आशय का अर्थ है वह अवयव जिसमें रोगारम्भक दोष ने प्रथम स्थान-संश्रय किया है। वैसे तो शरीर में अवयव अनेक हैं परन्तु चिकित्सा में उपयोगिता

की दृष्टि से दोषों का प्रथम उद्भव जिन अवयवों या आशयों में होता है उन्हीं को दृष्टि में रखकर रोगों के यहाँ दो अनीक या वर्ग बना दिए गए हैं--आमाशयोद्भव तथा पक्वाशयोद्भव।

यहाँ आमाशय का अर्थ है, महास्रोत का नाभि से ऊपर का भाग जिसमें आम का आश्रय होने से पच्यमानाशय भी परिगणित है। पक्वाशय का अर्थ है नाभि से नीचे का भाग, जिसमें मुख्यतया स्थूलान्त्र का समावेश होता है। आम-पच्यमानाशय में उद्भूत रोगों का ही निर्देश दोषानुसार करना हो तो कह सकते हैं कि इस वर्ग में उन रोगों का समावेश है जो कफ या पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं। कारण, दोषों का स्थान बताते हुए आमाशय को कफ का तथा पच्यमानाशय को पित्त का प्रधान स्थान पूर्वाचार्यों ने कहा है। इसी प्रकार पक्वाशयोद्भूत रोगों का ही नामान्तर है--वे रोग जिनमें मुख्य प्रकोप वायु का होता है; कारण, वायु के प्रकोप और प्रसर का मुख्य स्थान पक्वाशय को ही बताया गया है।

आशय-भेद से रोगों के वर्गीकरण का प्रयोजन--

उक्त स्थानों को दोषों का मुख्य स्थान कहने का प्रयोजन यह है कि कफादि दोषों की प्राकृत पुष्टि प्रथम इन्हीं स्थानों पर होती है, पश्चात् उनका ग्रहण होकर शरीर के इतर स्थानों पर वहन होता है और अन्य स्थानों पर स्थित तत्तत् दोष की भी पुष्टि होती है। दोषों का चय-पूर्वक प्रकोप भी अपने-अपने प्रकोपक आहार ग्रहण करने से इन्हीं स्थानों पर प्रथम होता है। यहीं से उनका प्रसर तथा शरीर के इतर अवयवों में स्थान-संश्रय होकर रोगोत्पत्ति होती है। उपचार करते हुए स्नेहन और स्वेदन से रोग के आश्रयभूत अवयव-विशेष से दोष को मुक्त करके अपनी उत्पत्ति के मूल स्थान पर लाया जाता है। इसके अनन्तर यथादोष वमन, विरेचन या बस्ति द्वारा इनका संशोधन किया जाता है। देखिए :

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीनां सर्वेषां मूलमिष्यते ।
जितेऽत्र जायते तेषां कृत्स्ननाशो यथा रुहाम् ।।

सु० नि० १।५।८ पर डल्हन धृत तन्त्रान्तर-वचन ।

अर्थात्--दोषों का जो एक-एक अपना स्थान कहा है उसे इन का मूल समझना चाहिए। कारण, जैसे मूल का उच्छेद कर देने से वृक्ष-वनस्पतियों का नियत उच्छेद होता है वैसे इन मूलभूत स्थानों पर दोषों का उपर्युक्त संशोधनात्मक, आगे कहा जानेवाला संशमनात्मक तथा पथ्यापथ्य इस पर्याय नाम से प्रसिद्ध निदान-परिवर्जनात्मक त्रिविध उपचार कर दिया जाए तो रोग मूलोच्छिन्न हो जाता है। साथ ही उसकी पुनरुत्पत्ति का भी कोई कारण नहीं रह

जाता। इन मूल स्थानों को लक्ष्य में रखकर की गयी उक्त त्रिविध चिकित्सा को ही आयुर्वेद-मत से मूलगामी चिकित्सा कहा जा सकता है।

आयुर्वेद-दृष्टचा मूलगामी चिकित्सा के अङ्गभूत-संशोधन का विवरण ऊपर किया है। संशमनात्मक चिकित्सा भी आशय-भेद से भिन्न होती है। उदाहरणतया--

शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनक्रिया ॥

च० नि० ८।३१

आमाशय कफ और पित्त का स्थान है। अतः सामान्यतया इन दोषों का प्रकोप होकर उन से उत्पन्न होनेवाले रोगों की प्रथमोत्पत्ति आमपच्यमानाशय में होती है। परन्तु वायु का स्थानसंश्रय आमाशय में हुआ हो तो भी स्थानीय दोष कफ और पित्त का भी यत्किञ्चित् प्रकोप होता ही है। परिणामतया, चिकित्सा का आरम्भ स्थानीय दोष को (वह आशय जिस का मूल स्थान है उस दोष को) लक्ष्य में रखकर किया जाता है। अथवा यों कह सकते हैं कि स्थान को दृष्टि में रख कर आयुर्वेद-मत से आरम्भिक चिकित्सा में भेद होता है।

कफ और पित्त द्रव और स्निग्ध धातु हैं; अतः ये लङ्घनसाध्य हैं। कफ में द्रवत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्वादि गुण सविशेष होने से उस में लङ्घन स्वभावतः अधिक काल करना आवश्यक होता है। साथ ही, प्रकोप का प्रमाण जितना होता है उतना ही लङ्घन-काल भी दीर्घ होता है। पित्त में ये गुण अल्पतर होते हैं, साथ ही उसके तीक्ष्ण गुण के कारण भी लङ्घन की मर्यादा स्वभावतः न्यून होती है; अतः कफ की अपेक्षया पित्त में लङ्घन-काल अल्पतर होता है। कफ तथा पित्त की इस लङ्घन-साध्यता को लक्ष्य में रखकर ही पूर्वाचार्यों ने यह मत निर्धारित किया है:--

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत् ॥

च० चि० ३।२८३ पर चक्रपाणि धृत तन्त्रान्तर वचन।

एक-दो प्रसिद्ध रोगों का उदाहरण देकर आमाशयोत्थ रोगों की लङ्घन-साध्यता का स्वरूप कुछ स्पष्ट देख लें।

आमाशयोद्भव रोगों में वमन का अन्तर्भाव सरलता से समझ में आ सके ऐसी वस्तु है। इस की चिकित्सा का प्रथम सूत्र बताते आचार्यों ने कहा है--

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजां विहाय संशोधनं वा कफपित्तहारि॥

च० चि० २०।२०

× × लङ्घनमल्पदोषविषयं शोधनं च बहुदोषविषयम्। संशोधन-शब्देन चेह विरेचनवमने द्वे अपि गृह्येते × ×[1] ॥

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु ॥
सु० उ० ४९।१५

'बलिनः' इति वाक्यशेषः ॥ डल्हन

वमनमात्र में आमाशय का उत्क्लेश कारणभूत होता है। अतः वातिक को छोड़ शेष सर्व वमनों में रोगी बली हो अर्थात् लङ्घन को सहन कर सकता हो तो लङ्घन ही कराना चाहिए। परन्तु दोष कदाचित् अधिक हो तो दोष-भेद से वमन-विरेचन द्वारा उन का संशोधन कर देना चाहिए।

वायु के प्राकृत कर्मों में एक दोषों का बहिःक्षेपण है--क्षेप्ता बहिर्मलानाम् आमपच्यमानाशय में कफ और पित्त का संचय हुआ हो तो उसे निकटवर्त्ती द्वार मुख से बाहर निकालने के प्रयोजन से वायु की जो क्रिया होती है उसे उत्क्लेश कहा जाता है।

वमन के उदाहरण के अनन्तर अब रोगों में प्रधान ज्वर की आमाशय-समुत्थता तथा तदाश्रित लङ्घन-साध्यता संक्षेप में देखते हैं।--

तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमपतर्पणं वा, ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात् ॥ च० नि० १।३६

× × × आमाशयसंबन्धेन वातोऽपि मनाग् लङ्घनीयः स्थानापेक्षया भवतीति भावः। वचनं हि--'स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च' इति ॥ चक्रपाणि

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥
च० चि० ३।१३९[2]

१--इस विषय का मूल सुश्रुत का अधोलिखित वचन है--

वमीषु बहुदोषासुच्छर्दनं हितमुच्यते।
विरेचनं वा कुर्वीत यथादोषोच्छ्रयं भिषक् ॥ सु० उ० ४९।१६

२--विशेष तथा पूर्ण स्पष्टता के लिए इन स्थलों की चक्रपाणि तथा शिवदास सेन की टीकाएँ; च० चि० ३।१३९-१४३; सु० उ० ३९।१००-१०६; अ. हृ. चि. १।१-३, २१-२४ तथा इन पर **चक्रपाणि, डल्हन, अरुण** तथा **हेमाद्रि** की टीकाएँ देखिए। आगे ज्वर-प्रकरण में भी यह विषय सविस्तर दिया गया है।

आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत् ।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात् कुर्वीत लङ्घनम् ॥

अ० हृ० चि० १।१

ज्वर की संप्राप्ति के प्रकरण में देखेंगे कि ज्वरारम्भक दोष कोई भी हो उसका प्रथम प्रवेश आमाशय में होता है। वहाँ वह अग्नि को अभिभूत एवं मार्गों को आवृत कर, पश्चात् रस धातु के साथ संयुक्त हो ज्वरोत्पत्ति के लिए सर्व शरीर में प्रसृत होता है। इस प्रकार ज्वर आमाशय-समुत्थ होने से उसके पूर्वरूपों का प्रादुर्भाव होने पर किंवा ज्वर के लक्षणों का उदय होने पर रोगी बली हो तथा दोषों का प्रमाण विशेष हो तो लघुता के लक्षणों का आविर्भाव न हो तबतक लङ्घन (उपवास) करना चाहिए। परन्तु ज्वर यदि धातुक्षय, राजयक्ष्मा, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक या श्रम इन कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो लङ्घन न करना चाहिए। कारण, लङ्घन वायु का प्रकोपक एवं धातुक्षयकारी होने से इन हेतुओं से उत्पन्न ज्वरों में विरुद्ध (कॉन्ट्रा-इंडिकेटेड) होता है। इन ज्वरों में भी दोष का प्रवेश आमाशय में होकर ज्वर की उत्पत्ति हुई होने से स्थान के संबन्ध से, लङ्घन के समान गुणवाला परन्तु वायु को प्रकुपित एवं धातुओं को क्षीण न करनेवाला लघ्वशन (हलका, दोष-विपरीत भोजन) करना चाहिए। परन्तु यदि वायु साम हो तो निरामता उत्पन्न हो तबतक लङ्घन ही करना चाहिए।

विषय के विशदीकरण की दृष्टि से आवश्यक होने से साम तथा निराम वायु का विचार किंचित् प्रस्तुत करता हूँ। वायु के प्रकोप के दो कारण संक्षेप में आचार्यों ने कहे हैं--धातुक्षय और मार्गावरण--वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा (च. चि. २८।५९)। इनमें धातुक्षय से वायु का प्रकोप हुआ हो तो वह रूक्ष (गुरुत्व-स्निग्धत्वादि गुणरहित) होने से निराम होता है। ज्वर की उत्पत्ति इस वायु से हुई हो तो आमाशय के संबन्धवश लघ्वशन करना चाहिए। द्वितीय कारण मार्गावरण से वायु का प्रकोप हुआ हो तो वह प्रायः साम होता है। उसमें लङ्घन ही विधेय है। अलबत्ता लङ्घन की मर्यादा कफ जितनी न होनी चाहिए। देखिए :

अनिलशब्देन निरामानिलग्रहणम्। किंवा क्षयानिलशब्देन धातुक्षयकुपितानिलग्रहणम्। यदुक्तम्--'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा' (च० चि० २८।५८) इति। यस्तु मार्गावरणेन वायुः कुप्यति स आवरक-धर्मितया प्रायेण सामो भवति। तत्र च लङ्घनं मात्रया

कर्तव्यमेव। यदुक्तम्--'सामे वातेऽपि लङ्घनं कुर्यादेव मलपक्त्यर्थं युक्त्या, न तु यथा कफे' इति॥ च० चि० ३।१३६ पर चक्रपाणि

जैसा कि आगे ज्वर की चिकित्सा के प्रकरण में देखेंगे दोष साम होने के कारण तथा उससे अग्नि अभिभूत एवं मन्द हो गया होने से स्वयं औषध का भी इस काल में पूर्वाचार्यों ने निषेध किया है। कारण, अग्नि की मन्दता से औषध का परिपाक न होने से वह आम रह जाता है। परिणामतया शरीर में आम की वृद्धि ही होती है, जो ज्वर को और बढ़ाता है।

आमाशय-समुत्थ रोगों के चिकित्सा-सूत्र के रूप में यहाँ मुख्य होने से केवल लङ्घन का उपदेश शास्त्रकार ने किया है। इसे उपलक्षण समझना चाहिए। दोषों को निराम और सम करनेवाले अन्य भी उपचारों का ग्रहण लङ्घन शब्द से यहाँ करना ही चाहिए।

आमाशय-समुत्थ रोगों के सदृश ही पक्वाशय-समुत्थ रोगों की चिकित्सा में भी बस्ति आदि विशेष होता है। यथा रक्तातिसार या रक्तप्रवाहिका में पिच्छाबस्ति। मुख से औषध दिया जाय तो उसका पच्यमानाशय में ही पचन हो सर्व शरीर में प्रसर होने पर अति अल्प मात्रा रोग के अधिष्ठान पक्वाशय में जाती है। अतः पिच्छाबस्ति और वह भी कुछ कालपर्यन्त अन्दर स्थिर रहे इस दृष्टि से दी गई हो तो रोग में निश्चित तथा त्वरित लाभ होता है। नवीनों ने भी इन रोगों में प्रत्यक्ष किया है कि: सल्फाग्वायनीडीन, थैलाज़ोल, एन्ट्रोवायोफॉर्म तथा अन्य द्रव्य मुख से प्रायः लाभ नहीं करते; परन्तु इन्हीं द्रव्यों की स्थिर बस्ति (रिटेन्शन् एनीमा) से नियत और त्वरित गुण होता है। ये द्रव्य छः आठ, बारह घण्टे और कभी-कभी आवश्यकतानुसार चौबीस घण्टे भी रखे जाते हैं।

स्थान-भेद से रोगों के उल्लिखित दो भेद तथा इस भेदन (विभजन) की चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगिता दर्शा कर दोषबलप्रवृत्त रोगों के संबन्ध में तन्त्रकार का इसी प्रकरण में आया अन्य वक्तव्य अब देखते हैं।

दोषबलप्रवृत्त रोगों के पुनः दो भेद--

दोषबलप्रवृत्त रोगों के पुनः दो प्रभेद किए जाते हैं--शारीर और मानस। इन भेदों का विचार पहले किया जा चुका है। यद्यपि शारीर रोग भी अनन्तर काल में मानस रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा मानस रोगों से भी पीछे से शारीर रोग उत्पन्न होते हैं तथापि शारीर रोग शारीर दोषों के वैषम्य से और प्रथम शरीर में उत्पन्न होते हैं, पश्चात् मन में उपताप या व्यथा उत्पन्न करते हैं; इसी प्रकार मानस रोग प्रथम मानस दोषों के वैषम्य से और मन में उत्पन्न होते हैं, पश्चात्

शारीर दोषों का भी वैषम्य होकर शारीर रोगों को उत्पन्न करते हैं। उपचार में भी शारीर रोगों में शारीर दोषों का तथा मानस रोगों में मानस दोषों का मुख्यत्वेन करना चाहिए।

जैसा कि अध्याय के आरम्भ में कह आए हैं अबतक वर्णित तीन भेदों आदि-बलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त तथा दोषबलप्रवृत्त में कहे रोगों का समावेश आध्यात्मिक इस एक वर्ग में किया जाता है। अब अगले भेद संघातबल-प्रवृत्त का विवरण करते हैं।

संघातबलप्रवृत्त रोग

रोगों के वर्गीकरण के आरम्भ में रोगों के दो प्रमुख भेदों--निज और आगन्तु--का उल्लेख किया जा चुका है। शारीर या मानस दोषों का प्रकोप प्रथम होकर जो रोग होते हैं उन्हें निज कहा गया है तथा प्रहार, पतन, दंश आदि बाह्य कारणों से जो रोग होते हैं उन्हें आगन्तु कहा गया है। इन आगन्तुओं का ही एक भेद संघातबलप्रवृत्त रोग होते हैं[1]।

जो आगन्तु रोग शरीर, मन और वाणी से दुर्बल पुरुष को अपने से इन में किसी भी प्रकार से बलवत्तर पुरुष के साथ कायिक, वाचिक या मानसिक कलह करने से, किंवा पतन (गिरना) आदि कारणों से होते हैं[2] उन्हें संघातबलप्रवृत्त कहते हैं।

संघातबलप्रवृत्त रोग कारण-भेद से दो प्रकार के होते हैं। १--शस्त्रकृत--अर्थात् शस्त्र, प्रहार, पीडन (दबना, कुचलना) आदि हिंसा-प्रधान क्रियाओं से होते हैं ऐसे रोग[3]। तथा २--व्यालकृत--दुष्ट प्राणियों के दंश आदि से जो

१--देखिए; **आगन्तव इति आगन्तुविशेषा इत्यर्थः। अपरागन्तूनां भूतादीनामाधिदविकेऽभिधानात्--चक्रपाणि।** आगन्तु का अर्थ यहाँ आगन्तु-विशेष है। कारण, भूतादि से होनेवाले आगन्तु रोगों की गणना आधिदैविक रोगों में की है। अतः यहां संघातबलप्रवृत्त शब्द से सभी आगन्तुओं का ग्रहण नहीं होता।

२--देखिए: **दुर्बलस्य बलवद्विग्रहादिति आगन्तुकारणविशेषोपलक्षणम्; तेन पतनादिजन्यानापि ग्रहणम्--चक्रपाणि।**--मूल में दुर्बल का बलवान् के साथ कलह होना, यह जो कारण कहा है वह उपलक्षण (अपना तथा अन्य वस्तुओं का भी ग्रहण कराने वाला) है। अतः इस शब्द से पतन आदि अनुक्त कारणों से होनेवाले संघातबलप्रवृत्त रोगों का भी ग्रहण होता है।

३--**शस्त्रकृता इत्यत्र शस्त्रस्य हिंसकमात्रोपलक्षणतया अतिरिक्ताभिघात-पीडनादिकृताश्च गृह्यन्ते--चक्रपाणि।**--शस्त्र शब्द हिंसार्थक **शसु** धातु से→

होते हैं वे रोग। व्याल शब्द संस्कृत भाषा में व्याघ्र तथा हिंसक प्राणी दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। यहाँ द्वितीय अर्थ ग्राह्य है। मूल में हिंसक प्राणियों के लिए प्रयुक्त 'दुष्ट' इस विशेषण के दो आशय हैं-- उनका कोपाविष्ट होना तथा / अथवा उनका सविष होना[१]।

संक्षेप में द्वितीय भेद से उन सर्व रोगों का अभिधान होता है जिनके विवरणार्थ पूर्वाचार्यों ने आयुर्वेद के अष्ट अङ्गों में एक पृथक् अङ्ग विषतन्त्र या अगदतन्त्र की रचना की है। प्रथम भेद का विस्तार शल्यतन्त्र में हुआ है।

संघातबलप्रवृत्त रोगों को आधिभौतिक रोग भी कहा जाता है। इस शब्द में भूत का अर्थ है--प्राणी। उनसे होनेवाले होने से इन्हें आधिभौतिक कहते हैं।

संघातबलप्रवृत्त रोगों के विषय में इतना संक्षिप्त निर्देश कर अब अगले वर्ग कालबलप्रवृत्त की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

इस प्रकरण में आए आदिबलप्रवृत्त तथा जन्मबलप्रवृत्त रोगों का भेद समझने में ओष्ठभेद (हेअरलिप) उत्तम उदाहरण है। माता-पिता के फिरङ्ग के कारण पुत्र का ओष्ठ फटा हो तो यह आदिबलप्रवृत्त कहा जाएगा, और ऐसे किसी रोग का इतिहास न हो तो ओष्ठभेद को जन्मबलप्रवृत्त समझना चाहिए।

कालबलप्रवृत्त रोग

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्त ग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः।
सकालः ॥ च० सू० ११।४२

कालः शीतोष्णवर्षलक्षणः षड्ऋतुकः ॥ डल्हन

कालः पुनः परिणाम उच्यते ॥ च० सू० ११।४२[२]

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान (दर्शन) में काल शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा--ज्वरादि रोगों की सामता, निरामता आदि अवस्थाओं के

←-व्युत्पन्न होने से वह, हिंसा जिसका परिणाम हो ऐसी ज्ञानतः-अज्ञानतः की गयी क्रियामात्र का द्योतक है। अतः यहाँ 'शस्त्र' शब्द से कण्ठरव से अनुक्त अभिघात-पीडनादि भी गृहीत हैं।

१--संघात का अर्थ है--आघात। दोनों शब्दों में केवल उपसर्ग का भेद है। आघात का अर्थ प्रहार प्रसिद्ध है। इसी से **डल्हन** ने कहा है--**संघातबल प्रवृत्ता इति प्रहारशक्ति जाताः।**

२--सु. सू. २४।४-७ (चालू प्रकरण) तथा उस पर डल्हन की टीका के अतिरिक्त सु. सू. १।३३-३४ तथा उस पर डल्हन-टीका भी देखिए।

लिए भी काल शब्द का व्यवहार हुआ है। परन्तु रोगों के वर्गीकरण के इस प्रकरण में काल शब्द का प्रयोग कुछ मर्यादित अर्थ में हुआ है।

आगे निदान-प्रकरण में हम देखेंगे कि रोगों का संनिकृष्ट (साक्षात्, सीधा) कारण यद्यपि दोषों का प्रकोप या क्षय है तथापि इनका प्रकोप या क्षय प्रज्ञापराध आदि कारणों से होता है। रोगोत्पत्ति में इन प्रज्ञापराधादि को विप्रकृष्ट (दूर-वर्ती, परोक्ष) कारण कहा जाता है। दोष-वैषम्य के हेतुभूत प्रज्ञापराधादि तीन कारणों में एक परिणाम है[1]। परिणाम का अर्थ है--शीत (सर्दी, ठंड), उष्ण (गर्मी) और वर्षा--ये तीन जिनके क्रमिक लक्षण हैं ऐसी हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओं में किंवा इन्हीं लक्षणोंवाली छ ऋतुओं में विभक्त संवत्सर-रूप काल। इन ऋतुओं के शीत, उष्ण, वात, वर्षा, आतप (धूप), निवात, अन्धकार आदि कारणों से जो ज्वर, व्रण, जाड्य (स्तब्धता) आदि रोग या लक्षण होते हैं उन्हें कालबलप्रवृत्त कहा जाता है। यह संवत्सरात्मक काल प्राकृत हो या वैकृत--दोनों अवस्थाओं में इसमें स्थित रोगोत्पादक शक्ति से इन रोगों के उत्पन्न होने से इन्हें काल-बल-प्रवृत्त कहते हैं[2]। चरक ने जिन रोगों को परिणाम-जन्य कहा है वही सुश्रुत-संहिता में कालबल-प्रवृत्त नाम से अभिहित है, यह वस्तु संक्षेप में समझ लेनी चाहिए।

कालबलप्रवृत्त रोगों के भेद---

तेऽपि द्विविधाः--व्यापन्नर्तुकृताः, अव्यापन्नर्तुकृताश्च ॥

सु० सू० २४।७

अव्यापन्नर्तुकृताः कालस्वभावकृतपित्तादिचयादिकृताः ॥

चक्रपाणि

१--देखिए: च. सू. २०।५; च. सू. १।५४; च. नि. १।३ तथा इनपर चक्रपाणि-टीका।

२--च० सू० १।५४ की विस्तृत टीका में चक्रपाणि ने कहा है--वयोरूप काल का परिणाम (परिपाक) होने से होनेवाले जरा और मृत्युरूप रोग, प्राक्तन कर्मों का परिपाक होने से होनेवाले कर्मज रोग तथा संततादि विषमज्वर--इन्हें भी च० शा० १।११३--११६ में कालज कहा है। उनका परिणामज (काल-बलप्रवृत्त) रोगों में ग्रहण न करना चाहिए। कारण वे वस्तुतः कालज नहीं हैं। काल-विशेष उपस्थित होने पर उनकी अभिव्यक्ति होती है, इतना ही। उनमें वास्तविक कारण प्रज्ञापराध ही है।

प्रत्येक ऋतु के जो शास्त्रोक्त[१] तथा लोकविदित लक्षण हैं उनसे भिन्न लक्षण किसी ऋतु में दृष्टिगोचर हों तो इसे उस ऋतु की व्यापत्ति कहते हैं। लक्षणों की भिन्नता के प्रकारों का निर्देश अनुपद किया जायगा। इसमें किसी भी प्रकार की व्यापत्ति ऋतु-विशेष में देखने में आए तो ऋतु को व्यापन्न ऋतु कहा जाता है।

ऋतु व्यापन्न होने पर तो तत्तत् रोग होना बुद्धिगम्य है, परन्तु अव्यापन्न ऋतुओं में भी रोगोत्पत्ति स्वभावतः होती है। स्वस्थवृत्त में कहा गया है कि: प्रत्येक ऋतु के स्वभावानुसार उसमें अमुकामुक दोष का संचय, प्रकोप और प्रशम हुआ ही करता है। परिणामतया जिस ऋतु में जिस दोष का स्वाभाविक प्रकोप होता है उस ऋतु में उस दोष के प्रकोपवश जायमान रोग अवश्य होते हैं-- किसी को न्यून किसी को अधिक। इसी से पुरुष कितना भी नियमित जीवन व्यतीत करता हो ऋतुओं का परिवर्त्तन होने पर उसे यत्किंचित् शारीरिक व्यथा होती ही है। व्यवहार में इसे ऋतु-परिवर्त्तन का परिणाम माना और कहा जाता है। परन्तु आयुर्वेद के दर्शनानुसार इनका कारण दोषों का ऋतुस्वभाव-जन्य संचय, प्रकोप और प्रशम होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सकों को जनता में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का परिचय कराने की दृष्टि से स्वयं इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रखना एवं अपने आतुरों को इस विषय का बोध कराते रहना चाहिए।

किस ऋतु में किस दोष का प्रकोप होता है और क्यों यह विषय विस्तार से स्वस्थवृत्त के ग्रन्थ में आएगा। यहाँ उपयोगी और स्मरणीय होने से केवल एक पद्य दिया जाता है, जिसमें तत्तत् ऋतु में तत्तत् दोष के निर्हरण का विधान सुश्रुत ने किया है:--

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्॥

सु० सू० ६।३८

ऋतु-स्वभाववश प्रकुपित हुआ दोष रोग-विशेष को उत्पन्न करे इसके पूर्व ही उसका संशोधन-संशमनादि[२] उपचार करना चाहिए। वसन्त ऋतु में

१--अव्यापन्न ऋतुओं के लक्षणों के लिए देखिए: सु० सू० ६।२१-३६। सम्पूर्ण पद्यमाला अत्यन्त सुन्दर, कण्ठाग्र करने योग्य तथा संस्कृत के किसी भी पाठ्यपुस्तक में स्थान ग्रहण कर सके ऐसी है।

२--इस पद्यवाले अध्याय में ही पहले आगे धृत सु० सू० ६।१६ की टीका में डल्हन ने निर्हरण का यह व्यापक अर्थ लेने की सूचना की है।

प्रकुपित श्लेष्मा का, शरद् ऋतु में पित्त का तथा वर्षा में वायु का प्रशमन करना चाहिए।

प्रकोप-काल उपस्थित होने पर ही दोष का यथोचित उपचार करना चाहिए यह नियम यहाँ न समझ लेना चाहिए। किन्तु संचयकाल में भी ऐसी चर्या रखना योग्य है कि जिससे अगली ऋतु में प्रकोप उतना कष्टदायी न हो, साथ ही दोष के स्वस्थान पर संचय से जो रोग होते हैं उनका भी प्रादुर्भाव न हो। आयुर्वेद में दोषों के संचय को प्रथम क्रियाकाल कहा गया है। इसी दृष्टि से तन्त्रकारों ने विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न चर्या का उपदेश किया है। तथाहि :

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्॥ सु० सू० ६।१२

ऋतुओं की व्यापत्ति का अर्थ--

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम्॥

सु० सू० ६।३७

इदानीमध्यायपरिसमाप्तौ व्यापत्संग्रहश्लोकः-स्वगुणैरित्यादि × × ×॥ डल्लन

तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः; हीनस्वलक्षणः (कालः) कालायोगः; यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु (कालः) कालमिथ्यायोगः॥ च० सू० ११।४२[1]

रोगनिदान-प्रकरण में कहे गये प्रज्ञापराधादि विप्रकृष्ट कारणों में कर्म, इन्द्रियार्थ-संयोग तथा काल (ऋतु) के अतियोगादि को रोगों का निदान (कारण) कहा जाएगा। प्रकरणवश यहाँ काल के अतियोगादि का निर्देश किया जाता है--

अव्यापन्न ऋतुओं के जो पृथक् लक्षण (लिङ्ग) या गुण कहे हैं उनका अधिक प्रमाण में होना काल का अतियोग कहा जाता है, जैसे शीतकाल में अति शीत पड़ना। इसके विपरीत, ऋतुओं के यही प्राकृत लक्षण या गुण किसी ऋतु में हीन (स्वल्प) हों तो इसे काल का अयोग कहा जाता है। ऋतुओं के शास्त्रोक्त तथा लोकविदित लक्षण या गुणों से विरुद्ध (विषम, विपरीत) लक्षण या गुण किसी ऋतु में देखे जाएँ तो इसे काल का मिथ्यायोग कहते हैं; यथा, हेमन्त में वृष्टि, वर्षा में शीत होना इत्यादि। इन त्रिविध या छ ऋतुओं में प्रत्येक की तीन

१--च० वि० ३।१० भी प्रमाणतया द्रष्टव्य है।

व्यापत्तियाँ गिनें तो कुल अष्टादशविध व्यापत्तियों से जिन रोगों की उत्पत्ति हो उन्हें व्यापन्नर्तुकृत रोग कहते हैं।

ऋतुएँ अव्यापन्न नाम स्वलक्षणयुक्त हों तो ओषधियाँ (अन्न, धान्य) तथा जल के जो प्राकृत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव होते हैं वे उनमें सुरक्षित रहते हैं। उनका उपयोग करने से अग्नि (पित्त), सोम (कफ) आदि एकादश प्राण, आयु, बल (उत्साह तथा उपचय--पुष्टि), वीर्य (शक्ति) तथा ओज (सप्त धातुओं का सारभूत प्रसिद्ध उपधातु)--इनकी यथावत् पुष्टि होती है और इनका साम्य स्थिर रहता है। परिणामतया शरीर भी नीरोग बना रहता है[1]। वायु, जल, देश और काल में प्राकृत-विपरीत लक्षण दिखाई पड़ें तथा धान्यों और जल पर उनका विकारजनक प्रभाव पड़े इसके पूर्व ही धान्यों, औषध-द्रव्यों और जल का संग्रह कर लेना चाहिए[2]।

व्यापन्न ऋतुओं में देश-कालादि अपने लक्षणों से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनके सेवन से विविध जनपदोद्ध्वंसक रोगों (मरकों) या व्यक्तिगत रोगों का प्रादुर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में पूर्वसंचित अव्यापन्न धान्यों तथा जल का एवं जल का पूर्व-संचय न हो तो उसे उबालकर उपयोग करना चाहिए[2]।

ऋतुव्यापत्ति का कारण---सामुदायिक अधर्म[3]---

देश, काल आदि की व्यापत्ति का कारण प्रजा तथा सरकार का पूर्वजन्म का सामुदायिक अधर्म तथा उससे उत्पन्न अदृष्ट (दैव) किंवा उनका इसी जन्म का

१--देखिए: सु० सू० ६।१५-१८; च० वि० ३।४। चरक-वचन में कहा है कि महर्षि अग्निवेश शिष्यों समेत संचरण करते पाञ्चाल में पहुँचे। वहाँ नक्षत्र, ग्रह, देश, काल आदि के स्वलक्षणों के होते हुए विपर्यय के प्रति संकेत कर अन्नपान के संग्रह इत्यादि का उपदेश किया है। यह बोधक रम्य प्रकरण जिज्ञासु को यहाँ देख लेना चाहिए।

२--देखिए--सु० सू० ६।१५-१८ तथा च. वि. ३।१६-२२। सुश्रुत-वचन की टीका में **डल्हन** ने जल को अव्यापन्न करने का अर्थ उसे क्वथित करना बताया है: **आपश्चाव्यापन्नाः क्वथिताः**। स्मरण रहे, क्वथित जल के अर्धाव-शेष आदि कल्पना-भेद से दोष-विशेष पर पृथक्-पृथक् प्रभाव होता है।

च० वि० ६।६-१५ में चरक ने वायु आदि की व्यापत्ति के लक्षण विस्तार से बताए हैं।

यह समग्र विषय स्वस्थवृत्त के ग्रन्थों में विद्यार्थी अधिक विस्तार से पढ़ेंगे ही।

३--देखिए: च० वि० ३।२३-३२; इन पर **चक्रपाणि** टीका; सु० सू० ६।१६-२० तथा इन पर **डल्हन** टीका।

अधर्म होता है। चरकाचार्य तथा धन्वन्तरि ने इस सामुदायिक अधर्म का स्वरूप बतलाते कहा है कि :

वायु, जल, देश और काल का वैगुण्य (व्यापत्ति) जिसके कारण जनपदोध्वंसक (मरक, एपिडेमिक) रोग होते हैं उसका कारण इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में किया गया अधर्म ही है। और अधर्म में प्रवृत्ति का मूल (कारण) प्रज्ञापराध ही है[1]।

ऐहिक और आमुष्मिक अधर्मों में प्रत्यक्ष होने से ऐहिक अधर्म का स्वरूपतः निर्देश करते तन्त्रकार आगे कहते हैं : देश, नगर, निगम (कस्बे) और जनपद (देहात, ग्राम-प्रदेश) के शासनाधिकारी जब अपने प्रजा-पालन-सम्बन्धी धर्म का उल्लङ्घन कर प्रजा के प्रति व्यवहार करते हैं, उनके आश्रित और उपाश्रित नगर तथा जनपद के कर्मचारी और वाणिज्योपजीवी (वैश्य) शासनाधिकारियों की देखादेखी एवं उनसे मिलकर उस अधर्म में और भी वृद्धि करते हैं, तब इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ यह अधर्म धर्म को दबा देता है--उस पर हावी हो जाता है। जिनका धर्म अधर्म द्वारा अभिभूत कर दिया गया है ऐसे इन देशवासियों को देश, नगर इत्यादि के अधिष्ठाता देवगण भी छोड़ देते हैं। इस प्रकार अधर्म जिनका अभिभूत हो गया है, अधर्म जिनके आचरणों में प्रधानत्वेन स्थित है एवं देवों ने जिनका परित्याग कर दिया है ऐसे इन देशवासियों के प्रति ऋतुएँ भी व्यापन्न हो जाती हैं। परिणामतया मेघ यथाकाल वर्षा नहीं करते, अथवा सर्वथा बरसते नहीं, अथवा विकृत (जलभिन्न द्रव्यों की) वृष्टि करते हैं ; वायु भी प्राकृत स्वरूप में तथा प्राकृत रीति से बहते नहीं ; पृथ्वी भी व्यापन्न अर्थात् हीन लक्षणोंवाली होकर अन्नपान तथा औषध-द्रव्यों को अपने-अपने प्राकृत रस-वीर्यादि की पोषक सामग्री न देनेवाली हो जाती है ; जल सूख जाते हैं ; ओषधियाँ (धान्य तथा चिकित्सोपयुक्त औषध) अपना स्वभाव--प्राकृत रस-गुणादि-युक्तता--का परित्याग कर विकृत हो जाती हैं--रोगमुक्ति का कार्य छोड़ उलटे रोगजनक और रोगाभिवर्धक हो जाती हैं। परिणामतया, आहार, पान, स्पर्श, घ्राण (सूँघना) आदि के रूप में व्यवहार में आनेवाली वस्तुमात्र दूषित हो जाने से जनपदोद्ध्वंसक रोग व्याप्त होकर प्रजा की सामुदायिक विनष्टि का कारण बनते हैं।

अव्यापन्न ऋतुओं में जनपदोद्ध्वंसक रोग[2]—

कभी-कभी ऋतुएँ अव्यापन्न हो अपने शास्त्रोक्त प्राकृतिक लक्षणों और

१—प्रज्ञापराध का लक्षण इसी ग्रन्थ में आगे देखिए।

२—स्थल के लिए देखिए पूर्वतर-प्रकरण।

गुण-कर्मोंवाली अतएव रोगोत्पादन के स्वभाव से रहित--हों तो भी कतिपय कारणों से जनपदोद्ध्वंसक (मरक) रोग जनपदों को पीड़ित करते हैं। यथा, देश कभी कृत्या (शासन या राष्ट्र का विरोधी पुरुष मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग विशेष से सारे राष्ट्र को उच्छिन्न करनेवाली विशिष्ट राक्षसी को उत्पन्न करता है, इसे कृत्या कहते हैं ; ऐसा प्रयोग एक ही पुरुष के मारणार्थ प्रयुक्त हुआ हो तो इसे अभिचार कहते हैं) ; गुरु-सिद्ध-वृद्ध-ऋषि आदि का अभिशाप ; हिंसा के प्रयोजन से विहरण करनेवाली[1] राक्षसादि भूतयोनि, क्रोध अथवा अधर्म इनका पात्र होता है तो समग्र जनपद का उद्ध्वंस हो जाता है।

अथवा---कभी वायु द्वारा विषों किंवा ओषधियों के पुष्पों का गन्ध (गन्धयुक्त विष-द्रव्य अथवा पुष्पों का पराग)[2] देश-विशेष में पहुँचाया जाता है तो लोकों की प्रकृति इत्यादि कुछ भी हो प्रायः समग्र देशवासी कास, श्वास, प्रतिश्याय (जकाम), गन्धाज्ञता, भ्रम, शिरोरुजा, ज्वर, मसूरिका (चेचक), वमन प्रभृति रोगों से उपतप्त होते हैं। इनमें वायु द्वारा विषद्रव्य या ओषधि-पुष्पगन्ध नासारन्ध्र से प्रविष्ट होता है तो कास, श्वास, प्रतिश्याय, गन्धाज्ञता, भ्रम, शिरो-रोग--ये रोग होते हैं। इन विष द्रव्यों का संसर्ग त्वगिन्द्रिय द्वारा हो तो ज्वर और मसूरिका (शीतला) होते हैं। वसन्त ऋतु में आयुर्वेद-मत से ऋतु-स्वभाव-वश हुआ कफ-प्रकोप तत्तत् रोग का कारण होता है। नवीनों ने इनका कारण पराग-कणों का नेत्र, नासिका आदि में प्रवेश होकर उनसे होनेवाला क्षोभ (इरि-टेशन) बताया है। वह कारण जनपदोद्ध्वंसक रोगों में भी समझना चाहिए। यहाँ कहे विष-द्रव्यों का जब तक अन्य उत्तम अर्थ न मिले तब तक कोई विद्वान् विकारी जीवाणुओं तथा उनके उत्पन्न किए विषों का ग्रहण इन शब्दों से करना ठीक समझते हैं।

कभी जनपदोद्ध्वंस का कारण ग्रहों का गर्हित स्थान में स्थित होना अथवा अश्विनी आदि जन्म-काल के नक्षत्रों का किसी कारण दुर्बल होना भी होता है। व्यक्तिगत रोगों में भी ग्रह-नक्षत्रों की यह प्रतिलोमता स्मरण में रखनी चाहिए।

१--उन्माद प्रकरण में भूतोन्माद के तथा कौमारभृत्य में बालग्रहों के विवरण में कहा गया है कि इन भूतयोनियों के आवेश के तीन कारण होते हैं-- **हिंसा** (गम्य व्यक्ति को कष्ट पहुँचाना या उसका मरण उत्पन्न करना) अपनी **पूजा** कराना तथा किसी **अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा**। इनमें यहाँ हिंसा यह प्रथम प्रयोजन ही विवक्षित है।

२--देखिए : **गन्धेन गन्धवद् द्रव्यं सूक्ष्मं गृह्यते। निराश्रयस्य गन्धस्य गत्यभावात्**--सु० सू० ६।१६ पर **चक्रपाणि**।

अथवा--कभी गृह, स्त्री, शय्या, आसन (बैठने के उपकरण--कुर्सी आदि तथा चटाई आदि), यान--डोली, रथ आदि, वाहन--अश्व, हस्ती आदि, रत्न, विभिन्न उपकरण--इनसे सम्बद्ध गर्हित चिह्न तथा निमित्तों का प्रादुर्भाव होने से जनपदोद्ध्वंस होता है। इन कारणों से हुए जनपदोद्ध्वंस में स्थान-परित्याग कर शान्ति कर्म आदि दैवव्यपाश्रय उपचार करना चाहिए[1]।

अव्यापन्न-ऋतुकालिक रोगों का भी मूल : अधर्म[2]--

ऋतुओं की व्यापत्ति का कारण प्रजाजनों का सामुदायिक अधर्म होता है। परन्तु ऋतुएँ अव्यापन्न हों ऐसी स्थिति में जिन उल्लिखित मरकों का प्रादुर्भाव होता है उनकी उत्पत्ति का कारण भी अधर्म ही होता है। ऋतुओं की व्यापत्ति के कारणभूत अधर्म का जो रूप ऊपर दिया है उसे निमित्त बनाकर किंवा अशौच आदि अन्य कारणों को द्वार बनाकर ही राक्षसादि विविध भूतयोनियाँ पुरुषों में आवेश कर पाती हैं। गुरु आदि के शाप से होनेवाले जनपदोद्ध्वंस में भी हेतु अधर्म ही होता है। कैसे? जो स्त्री-पुरुष धर्म से पराङ्मुख हो जाते हैं वे गुरुओं, वृद्धों, सिद्धों, ऋषियों तथा अन्य पूजनीयों की सलाह का तिरस्कार कर अहिताचरण करते हैं। अपने उपदेश का इस प्रकार तिरस्कार होने से गुरु आदि रुष्ट होकर अभिशाप देते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप एक साथ अनेक पुरुष रोगी होते हैं जिनमें बड़ी संख्या मृत्यु का ग्रास होती है।

रोगात्मक कारणों से होनेवाले उल्लिखित जनपदोद्ध्वंसों का कारण तो प्रजाजनों का अधर्म होता ही है, शस्त्रजनित जनपदोद्ध्वंस की उत्पत्ति भी अधर्म ही से होती है। प्रजाजनों में लोभ, क्रोध, मोह और मान की अति प्रवृद्धि हो जाती है तो जो (राज्य आदि) बलवान् होते हैं वे दुर्बलों को दबाने का प्रयास करते हैं। परिणाम में होनेवाली शस्त्राशस्त्रि से आत्मपक्ष-परपक्ष दोनों का भयङ्कर एवं विपुल प्रमाण में संहार होता है[3]।

१--देखिए--सु० सू० ६।२०। इन का विचार अगले रोग-वर्ग की व्याख्या के अन्त में किया गया है :

२--देखिए--च. वि. ३।२५-२७।

३--इन प्रकरणों में अधिकारियों का अपने कर्त्तव्य का पालन न करना, वैश्यों का चोर-बाजार से द्रव्योपार्जन करना एवं लोभ, मोह, क्रोध, मान आदि मानसिक आवेश, पूजनीयों की पूजा न करना इत्यादि को ही **अधर्म** कहा है। इस प्रकरण में ही आगे रोगों के प्रथम अवतार का निरूपण करते हुए इस बात की और भी विशद व्याख्या की है। वाचकों को उससे विदित होगा कि **प्राचीन आचार्यों के मतानुसार धर्म का स्वरूप** क्या था? रोगों के→

चरक-सुश्रुत दोनों के मत उद्धृत कर यहाँ प्रसंगोपात्त जनपदोद्ध्वंस रोगों का निरूपण करते हुए अभिचार, अभिशाप, भूतावेश आदि रोगों का उल्लेख किया गया है। कालबलप्रवृत्त रोगों का प्रकरण होने से इन्हें इस वर्ग के रोग न मानना चाहिए। ये आगे कहे जानेवाले दैवबलप्रवृत्त वर्ग के रोग हैं।

दैवबलप्रवृत्त रोग

दैवबलप्रवृत्त उन रोगों को कहते हैं जो देवों, गुरुओं, सिद्धों तथा गो-ब्राह्मणों का द्रोह करने से--उन्हें हानि पहुँचाने से--होते हैं, किंवा ऋषियों के अभिशाप से होते हैं, किंवा अथर्ववेदोक्त मारणात्मक अभिचार-मन्त्रों[1] के उपयोग से होते हैं अथवा जो उपसर्ग नाम ज्वरादि रोग-पीडित जनों के सांनिध्य से ज्वर आदि औपसर्गिक रोग होते हैं।

इन रोगों के पुनः दो भेद किए जाते हैं--विद्युत् या अशनि से हुए रोग तथा पिशाच आदि योनियों से हुए रोग। लता के रूप में तिर्यक् (तिरछे) गिरनेवाली मेघज्योति को विद्युत् या विद्युल्लता कहा जाता है। मूसल के सदृश स्थूल और सीधे नीचे गिरनेवाली मेघज्योति को अशनि कहते हैं[2]।

इस प्रकार विभक्त दैवबलप्रवृत्त रोगों के पुनः दो प्रविभाग किए जाते हैं--संसर्गज और आकस्मिक। इनमें संसर्ग का प्रसिद्ध अर्थ है--उपसर्ग, ज्वर आदि से पीड़ित रोगियों का सांनिध्य। उससे जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें संसर्गज या औपसर्गिक कहते हैं।

आधुनिकों ने औपसर्गिक रोगों के दो भेद किए हैं। जिन रोगों में रोगी के साथ स्पर्श (कॉन्टेक्ट, कंटेजिअन) रोग के संक्रमण का कारण होता है उन्हें कंटेजिअस कहते हैं। उदाहरण--पूयमेह। व्यवायकालिक स्पर्शवश यह रुग्ण पुरुष से स्वस्थ स्त्री में या रुग्ण स्त्री से स्वस्थ पुरुष में संक्रान्त होता है। पूयमेहिनी योनि से प्रसव के समय गर्भ के नेत्रों में संक्रमण होता है। पूयमेहाक्रान्त

←प्रथमावतार के निरूपण में आचार्य ने जिस पदावली का प्रयोग किया है उससे यह भी विदित हो सकेगा कि समाज में विषमता उत्पन्न होने का कारण लोभ तथा उससे उत्पन्न असत्यभाषण आदि दुष्कर्म ही है। अधिक विवरण **आयुर्वेदीय हितोपदेश** (बैद्यनाथ-प्रकाशन) में उद्धृत इस प्रकरण में जिज्ञासु देख सकते हैं।

१--गुजराती में इन्हें मैली विद्या कहा जाता है।

२--यह समझ नहीं आता कि दैवबलप्रवृत्त रोगों के जो भेद प्रथम किए हैं उन आथर्वण और उपसर्गज के साथ विद्युत्-अशनिकृत तथा पिशाचादिकृत इन वर्गों का क्या संबन्ध है?

पुरुष द्वारा व्यवहार में लाए अंगोछे से मुख पोंछने से कभी नेत्र का संक्रमण होता है। एवमादि कारणों से इस रोग को कंटेजिअस कहा जाता है। ये छूत के रोग नाम से हिन्दी में प्रसिद्ध है। इन्हें गुजराती में चेपी रोग कहते हैं।

कतिपय संक्रामी रोगों में स्पर्श विना ही संक्रमण होता है। कारणभूत जीवाणु इन रोगों में वायु, जल, अन्नपान आदि के साथ वाहित होता है। यथा–राजयक्ष्मा का वहन प्रायः वायु से एवं टायफॉयड का वहन प्रायः दुष्ट पुरीष जिसमें डाला गया हो ऐसे जल से होता है। ऐसे रोगों को इन्फेक्शस कहते हैं।

उभयविध रोग पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को होते तो प्रायः देखे जाते हैं, परन्तु कई बार इनका वेग बहुसंख्यक जन-समुदाय को पीड़ित करता देखा जाता है। इस प्रकार रोग का प्रसार यदि एक राज्य या देश में सहसा उभर आए तो इस प्रसार को एपिडेमिक कहते हैं। रोग यदि बारहों मास किसी प्रदेश में घर किए रहता हो तो इसे एन्डेमिक कहते हैं। यथा––भारत के कतिपय भागों में विषम ज्वर (मलेरिया)। कोई रोग यदि किसी भूखण्ड के बड़े भाग में सहसा उभर आए तो इसे पैन्डेमिक कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ कफ-वातप्रधान ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा, वार फीवर) इसका उदाहरण है।

डल्हन ने अपनी टीका में संसर्गज और उपसर्गज दोनों को संपर्कज रोग माना है, परन्तु उनमें कुछ भेद बताया है। वह कहता है––ज्वरादिरोग-पीड़ित जनों के संपर्क (सांनिध्य, सामीप्य) से जो रोग होते हैं उनका नाम उपसर्गज है तथा जो रोग देव आदि का द्रोह (विद्वेष) करनेवाले पुरुषों के सम्पर्क से होते हैं उन्हें संसर्गज कहते हैं[1]।

आकस्मिक रोग वे हैं जो संसर्ग के विना ही प्राक्तन कर्मों का विपाक होने से होते हैं। इन का कारण प्रत्यक्ष दृश्यमान न होने के कारण इन्हें आकस्मिक कहा गया है।

चक्रपाणि और डल्हन दोनों टीकाकारों ने आकस्मिक रोगों की व्याख्या करते हुए इनके लिए 'संसर्ग के विना ही होनेवाले' इन शब्दों का प्रयोग किया है। इससे एक कल्पना की जा सकती है। संसर्गज तथा आकस्मिक इन दोनों प्रकार

१––देखिए––उपसर्गजा इति उपसृज्यन्त इत्युपसर्गाः, पीड़ितजनसमीपोत्पन्ना ज्वरादयः। ×× संसर्गजा इति देवादिद्रोहकजनसंपर्कजा इत्यर्थः। ×× उपसर्गजसंसर्गजयोरयं विशेषः––उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीड़ितजनसंपर्काद् भवति; संसर्गजाश्च देवादिद्रोहकजनसंपर्काद् भवन्ति। सु० सू० २४।७ पर डल्हन। इस प्रकरण में चक्रपाणि ने संसर्गज का अर्थ औपसर्गिक ही दिया है––अत्र संसर्गजा औपसर्गिकरोगिसंसर्गजाताः।।

के रोगों में पूर्वरूप, रूप और चिकित्सा का साम्य होता है। भेद प्राचीनों द्वारा परिदृष्ट केवल यह है कि कुछ रोगों में संसर्ग का इतिहास प्रत्यक्ष होता है तथा शेष में ऐसा कोई इतिहास उपलब्ध नहीं होता। संभव है--आधुनिकों ने जिन्हें कंटेजिअस कहा है वे प्राचीनों के संसर्गज रोग हैं तथा जिन्हें आधुनिक इन्फेक्शस कहते हैं वे प्राचीनों के आकस्मिक हैं।

ऊपर नव्य मत से कंटेजिअस तथा इन्फेक्शस रोगों के उदाहरण देते हुए हमने जिन रोगों का उल्लेख किया है वे उल्लिखित वर्गों में ही मर्यादित नहीं रहते। टायफॉयड दुष्ट जलपान से भी होता है और रोगी पुरुष के संपर्क में रहने से भी होता है। इसी प्रकार राजयक्ष्मा दुष्ट वायु से भी होता है और रोगपीड़ित पुरुष के सांनिध्य से भी होता है। तात्पर्य--रोगों के ये वर्ग कारण-भेद को दृष्टि में रखकर ही बनाए गए हैं।

प्राचीनों ने संसर्ग से रोगों की उत्पत्ति का दर्शन किया था, आधुनिकों ने संसर्गज के अतिरिक्त आकस्मिक रोगों में भी संक्रमण के स्वरूप का अधिक विशद रूप में दर्शन किया है।

संक्रामक रोग--

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद से लेकर संपूर्ण प्राचीन भारतीय वाङ्मय से इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं--बहुत से विद्वानों ने उनका अभिनन्दनीय संग्रह किया भी है--जिनसे विदित होगा कि प्राचीन आचार्यों को जीवाणुओं का परिज्ञान था। प्रायः राक्षस, कृमि आदि नामों से इन का निर्देश पूर्वाचार्यों ने किया है। जीवाणुओं की बात विवाद्य मानकर छोड़ दें तो भी यह निश्चित है कि--रोगों के संक्रमण का दर्शन प्राचीनों ने किया था। स्वयं आयुर्वेदीय संहिताओं में इसका उल्लेख है। तथाहि :

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सहशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च[1] संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

सु० नि० ५।३३।३४[1]

१--**औपसर्गिकरोगाः शीतलिकादयः--डल्हन। औपसर्गिकरोगाः सामान्याधर्मप्रवृत्ता मसूर्यादयः--गयदास।**--दोनों टीकाकारों ने औपसर्गिक रोग का अर्थ नवीनों का **एपीडेमिक** किया है। गयदास ने इन का विशेषण→

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः।
सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः॥ अ० सं० नि० १४

पुनः-पुनः शरीर का स्पर्श, निःश्वास, सह (एकसाथ बैठ कर) भोजन, सह (एक बिस्तर पर) शयन, सह (एक कुर्सी आदि पर) आसन--बैठना; (अन्य पुरुष के उपयोग किए) वस्त्र, पुष्प और लेप का उपयोग--इत्यादि कारणों से कुष्ठ (त्वचा के रोग, रक्तविकार), ज्वर, राजयक्ष्मा (शोष), नेत्राभिष्यन्द (आँख आना) एवं सामान्य (जनसमुदायगत) अधर्म से होनेवाले मसूरिका--शीतला (चेचक) आदि संचारी (संक्रामक) रोग एक पुरुष से अन्य पुरुष में संक्रान्त होते हैं।

प्रसंग शब्द का अर्थ समागम (व्यवाय, मैथुन) प्रसिद्ध है। उससे भी फिरङ्ग, उपदंश, पूयमेह, यक्ष्मा आदि संचारी रोग होते हैं। परन्तु वह अर्थ स्पर्श शब्द से गृहीत ही है। सो, टीकाकारों का दिया पौनःपुन्य अर्थ यहाँ इस शब्द से ग्राह्य हैं। प्रसंगादिति प्रसंगेन अभ्यासेन कृतात्, पुनः पुनः कृतादित्यर्थः--डह्लन; प्रसंगात् प्रसंगेन कृतादत्यन्ताभ्यासेन कृतादित्यर्थः--गयदास। महाकुष्ठ (लेप्रसी) के विषय में विशेषतः तथा कुछ अंश में यक्ष्मा के विषय में नवीनों का भी प्रत्यक्ष यह है कि--ये रोग चिरकाल के सांनिध्य से होते हैं। सो प्रसंगात् का अर्थ पुनः-पुनः ग्रहण करना ही संगत है।

दूसरी बात। यहाँ रोगी पुरुष से अन्य पुरुष में रोगों का संक्रमण होता है, ऐसा संहिताकार का कथन नहीं है। वह कहता है--एक पुरुष से अन्य पुरुष में ये रोग संक्रान्त (संचारित) होते हैं। वस्तुतः आधुनिकों ने प्रत्यक्ष किया है कि--डिफथीरिआ, टायफॉयड आदि कतिपय रोग कई बार ऐसे पुरुषों से अन्य पुरुषों में संचरित होते हैं जिन में स्वयं उन रोगों के लक्षण होते नहीं। परन्तु उनमें रोगजनक जीवाणु अन्य पुरुषों में रोग उत्पन्न कर सकें ऐसी उत्कट शक्तिवाले (विरूलेंट) होते हैं। इन स्वयं स्वस्थ पुरुषों को वाहक (केरीअर) कहा जाता है। प्राचीनों की योजना में एक-एक शब्द इस प्रकार गूढ़ अर्थ रखता है यह विद्यार्थी को स्मरण रखना चाहिए।

स्वस्थवृत्त के प्रकरण में कई ऐसे आचारों का तन्त्रकारों ने उल्लेख किया है, जो उक्त कारण के सदृश ही रोगों का संचार करनेवाले हेतुओं का निषेध करते हैं। यथा जलाशय, चतुष्पथ (चौराहा) आदि जन-संमर्द के स्थानों में मल

←'सामान्य (बहुजन के) अधर्म से उत्पन्न दिया है। वह इन रोगों के बहुजन-व्यापक या जनपदोद्ध्वंसक (मारक) स्वरूप के प्रति संकेत करता है।

मूत्र, श्लेष्मा, सिंघाणक (नासा-मल) आदि का उत्सर्ग न करना ; हँसते-छींकते-खाँसते समय मुख पर हाथ आदि रखना।

रोगों के संक्रमण के इन असाधारण (प्रति-पुरुषनियत, वैयक्तिक पर्सनल), कारणों के अतिरिक्त कुछ साधारण (सामान्य, बहुजन-संबद्ध) कारण भी होते हैं[1]। इनमें प्रधान राज्याधिकारियों तथा वाणिज्योपजीवियों का अधर्म है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। इनके अतिरिक्त दोष-दुष्ट वस्तुएँ रोगों का प्रसार न कर पाएँ एतदर्थ वसतियों में स्वच्छता के सामान्य नियमों का निर्माण राज्य द्वारा किया जाता है। इन नियमों की अवहेलना से संचारी औपसर्गिक रोग होते हैं। आयुर्वेद के तन्त्रों में इन नियमों का उल्लेख नहीं है। कौटिलीय अर्थशास्त्र (चाणक्य-कृत ; काल-५०० वर्ष ई० पू०) में एक समस्त अध्याय ही इस बात पर है। उसमें मार्ग पर विष्ठा, मृत मूषक आदि डालने तथा अन्य ऐसे ही कार्य करनेवालों के लिए दण्ड-विधान है। इससे अनुमान होता है कि साधारण (संपूर्ण जनता से संबन्ध रखने वाले) रोग-कारणों की निवृत्ति का कार्य पुराकाल में राज्य का उत्तरदायित्व समझा जाता था। आज से पाँच

१——नवीन लेखक पर्सनल हाईजीन के लिए वैयक्तिक, पवलिक के लिए जानपद इत्यादि नव-निर्मित संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। इनके लिए प्राचीन शब्द क्रमशः **असाधारण** तथा **साधारण** हैं। च. वि. ३।१-२ पर आई **चक्रपाणि** की टीका के नीचे दिए अंशों में रोगकेदो हेतु बताए हैं——साधारण और असाधारण। इनमें असाधारण हेतु वह है जिसका संवन्ध प्रत्येक पुरुष से पृथक् होता है। इन का निर्देश वातादि दोषों के प्रकोपक कारणों के रूप में तन्त्रकारों ने अनेक प्रकार से किया है। साधारण कारण वह है जिसका सम्बन्ध बहुजन (जनता, प्रजा) से सामान्य रूप से होता है। जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय में तथा अन्यत्र जो सामुदायिक अधर्म को रोग का कारण कहा है, वह साधारण रोग-कारण है। यह अधर्म वायु, जल, देश और काल को विकृत कर सामुदायिक रोगोत्पत्ति करता है। इस वचन में रोग-कारणों के रूप में आए साधारण और असाधारण शब्दों का व्यवहार रोगानुत्पत्तिकर स्वस्थवृत्त के उक्त दो भेदों के लिए भी किया जा सकता है। **चक्रपाणि** का वचन अधोलिखित है——

द्विविधो हेतुर्व्याधिजनकः प्राणिनां भवति——साधारणोऽसाधारणश्च। तत्रासाधारणं प्रतिपुरुषनियतं वातादिजनकमभिधाय बहुजनसाधारणवातजलदेशकालरूपं साधारणरोगकारणमभिधातुं जनपदोद्ध्वंसनीयोऽभिधीयते। यहाँ आया बहुजन शब्द प्राचीन वाङ्मय में जनता के लिए प्रयुक्त होता रहा है। प्रसिद्ध शब्द **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** इस विषय में प्रमाण हैं।

सहस्र वर्ष पूर्व के खुदाई में निकले मोहन-जो-दड़ों के स्नानगृहों और बड़ी-बड़ी गटरों को देखने से कल्पना होती है कि इन की व्यवस्था का कार्य भी आज के समान शासन या नगरपालिका ही करती होगी।

इसके अतिरिक्त बहुजन के स्वास्थ्य के लिए--विशेषतया रोगों की अनुत्पत्ति (प्रीवेन्शन) के लिए शासन की ओर से बड़े-बड़े यज्ञ किए जाते थे। यज्ञ ऋतु-संधियों में होते थे। कारण यह कहा गया है कि--ऋतु सन्धियों में नाना रोगों का प्रादुर्भाव होता है। उनके निवारणार्थ ये यज्ञ किए जाते थे। तथा हि--

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्माद्दतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋृतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ॥ गोपथ ब्राह्मण, उ० प्र० १।१९

इसी से इन यज्ञों को भैषज्य-यज्ञ ही नाम प्राचीनों ने दिया है।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा[१]--

कालबलप्रवृत्त तथा दैवबलप्रवृत्त रोग-वर्गों में दैववश होनेवाले रोगों के उपचार के लिए चिकित्सा का एक विशेष अङ्ग निरूपित है, जिसे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा कहते हैं। इस चिकित्सा को यह नाम इस कारण दिया गया है कि--जिस दैव या पूर्वकर्म के प्रभाव से रोग-विशेष उत्पन्न हुआ है, चिकित्सा में प्रयुक्त मन्त्रादि उस दैव से विपरीत दैव इसी जन्म में उत्पन्न करते हैं, जो रोग को विनष्ट करता है। अथवा दैव शब्द यहाँ देव तथा अन्य योनियों का वाचक है। बलि आदि से देवगण प्रसन्न होते हैं और अपने प्रभाव से रोगों का अपहरण करते हैं।

दैवबलप्रवृत्त रोगों के लिए ही विशेषतया प्रवर्तित इस दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अङ्ग ये हैं--मन्त्र अर्थात् किसी सिद्ध-पुरुष द्वारा सूचित वाक्य-विशेष का जप

१--देखिए--च. सू० ११।५४ ; सु० सू० ६।२० तथा इन पर **चक्रपाणि** और **डल्हन** की टीकाएँ। सुश्रुत ने इस चिकित्सा का विशिष्ट नाम नहीं दिया है। टीकाकार ने--**ऋतुकोपस्य अधर्मकारित्वात्तत्र दैवव्यपाश्रयं भेषजम्**--कहकर इसका नाम बताया है।

प्रकरण की पूर्ति के लिए कह दूँ कि--चरक ने इस प्रकरण में औषध के तीन प्रकार बताए हैं। दैवव्यपाश्रय के अतिरिक्त शेष दो का नाम है--**युक्तिव्यपाश्रय** तथा **सत्त्वावजय**। औषध तथा आहार की योजना को युक्तिव्यपाश्रय कहते हैं। चिकित्सा नाम से सामान्यतया यही प्रसिद्ध है। अहित अर्थों से मन विमुख रखने को सत्त्वावजय कहते हैं। इसी को **निदानपरिवर्जन** नाम सुश्रुत ने दिया है।

करना ; भिन्न-भिन्न देवों को लक्ष्यकर प्रयुक्त होनेवाले ऐसे मन्त्र तथा उनका प्रभाव लोक-प्रसिद्ध है ; औषध--औषधों का धारण; मणि-मणियों का धारण--विविध रत्न ज्योतिष की दृष्टि से भी विभिन्न ग्रह-नक्षत्रों की बाधा दूर करनेवाले प्रसिद्ध हैं ; इन प्रशस्त औषधों तथा मणियों के धारण आदि को मङ्गल नाम दिया गया है ; देवताओं को बलि-गौ, पशु आदि का प्रदान करना ; उपहार--इन देवों को ही अन्य वस्तुएँ भेंट करना ; होम--इष्ट मन्त्रों से लक्ष, कोटि अथवा प्रयुत आहुतियाँ देना ; नियम--शास्त्रोक्त मौन आदि विधियों का पालन ; प्रायश्चित्त--प्राक्तन कर्मों की शान्ति के लिए प्रयुक्त चान्द्रायण आदि व्रत, अथवा प्रायः का अर्थ होता है तप, और चित्त का अर्थ होता है उसका निश्चय ; तप--शरीर तथा मन को जिससे क्लेश हो ऐसे उपवास--अनशन--आदि का अनुष्ठान, स्वस्तिवाचन (स्वस्त्ययन)--जिन के पाठ से गृह, शरीर आदि का कल्याण हो ऐसे मन्त्रों का ब्राह्मणों से पाठ कराना या स्वयं करना ; शान्तिकर्म--पाठ-पूर्वक जिन की आहुति से, जिन के द्वारा किए गए यज्ञ से गृह आदि में शान्ति हो ऐसे वेदोक्त मन्त्रों से यजन (इज्या) अथवा--शान्ति का अर्थ है इन्द्रिय-विजय; अञ्जलि--देवों, द्विजों तथा गुरुओं के प्रति भक्ति-सहित दो हाथ जोड़ना ; प्रणिपात प्रणाम या नमस्कार--देवादि के प्रति मन में श्रद्धा और आपको प्रणाम करता हूँ इस आशय के वचन-समेत अपने शरीर को पृथ्वी पर न्यूनाधिक नमा देना ; गमन--अपने निवासस्थान से दूर स्थित देवों या सिद्धों के दर्शनार्थ या उनका आशीर्वाद-ग्रहण करने के लिए जाना ; इस श्रेणी में हिन्दू मन्दिर आदि के अतिरिक्त पीर आदि के दर्शनादि के लिए जाना भी प्रख्यात है ; जप--ओंकार सहित ऋग्, यजु या साम के मन्त्रों का अथवा गुरु के दिए अन्य किसी मन्त्र का पाठ--आवृत्ति ; दया--प्राणियों पर कृपा ; दान--अपने सामर्थ्य के अनुसार पात्रों को धनादि देना ; दीक्षा--गुरु से मन्त्र आदि का ग्रहण करना ; अभ्युपगम--गुरु के वाक्य इत्यादि को स्वीकार करना ; एवं इनके अतिरिक्त भी देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं में जीवन को लीन कर देना--और इन सब के साथ रोग यदि जनपदोद्ध्वंसक हो तो स्थानपरित्याग।

एवं साधु भवति। सु० ६।२०

इस चर्या में तत्पर होने से रोगों से मुक्ति होती है।

यहाँ देवों से--देव आदि योनियों एवं सिद्ध पुरुषों के प्रभाव से--रोगों की निवृत्ति होना लिखा है। यह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। आज के युग में ऐसे वृत्तान्तों को एकत्र कर उनका प्राचीन-नवीन उभय मतों से विवेचन करने की आवश्यकता है। इन उपचारों में प्रार्थना दान आदि कइयों का सम्बन्ध मन की शान्ति से है। प्रार्थना और परमार्थ-वृत्ति, मौन और मनन, दान और दया तथा

ऐसे ही कायिक, मानसिक वाचिक कर्म आज तो परलोक के साथ ही संबन्ध रखनेवाली वस्तुएँ मानी जा रही हैं। और वह परलोक भी संदेह का विषय होता जा रहा है। लोकों को पता नहीं प्राचीनों ने इस लोक को, इस जीवन की, इस शरीर की, समाज और राष्ट्र की ही चिन्ता सविशेष की थी। प्राचीनों ने धर्म का जो स्वरूप समझा था मध्यकाल में वह विस्मृत हो गया--रूपान्तरित हो गया। इस लोक में व्यष्टि और समष्टि के अभ्युदय की दृष्टि से भी ये कर्म उतने ही उपयोगी हैं। इन का महत्व समझने के लिए वैदिक धर्म का शुद्ध स्वरूप समझाने की बड़ी आवश्यकता है।

शरीर और मन के स्वास्थ्य के लिए--विशेषतया रोगों की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) के लिए--षड्रसात्मक आहार एवं जीवन में प्रार्थना, शान्ति, दान-दक्षिणा, औदार्य, आतिथ्य आदि परलोक से संबद्ध समझे जानेवाले अनुष्ठानों के प्रचार और आचार का महत्व सर्वोपरि है। आज तो मानसिक आवेशों के समत्व की महत्ता वैज्ञानिक जगत भी समझता जा रहा है। हृदय तथा धमनियों के रोग, उनके कारण अकाल मृत्यु, श्वास, पैत्तिक शूल (आमाशय तथा ग्रहणी के क्षत) मधुमेह, यक्ष्मा आदि प्रायः सर्व रोगों का मूल 'स्ट्रेस' ही को माना जाने लगा है। इसमें चिन्ता, विषाद (फ्रस्ट्रेशन, मनोभङ्ग), मानस आवेशों का विनिग्रह (सप्रेशन) आदि मानसिक आघातों (इमोशनल ट्रॉमा) की गणना होती है। चरक ने अग्र्याधिकार[1] में कहा है--आयास सब से बड़ा अपथ्य है, तथा विषाद सर्वोपरि रोगवर्धक है--आयासः-सर्वापथ्यानाम्--विषादो रोगवर्धनानाम्--च० सू० २५।४०। यहाँ आयास का अर्थ शरीर और मन दोनों पर शक्ति से अधिक आ पड़ने वाला श्रम ही है। सो प्राचीन विज्ञान को अब अर्वाचीन विज्ञान का भी समर्थन प्राप्त हो गया होने से प्राचीनोक्त चर्या को पुनः जीवन में उतारने के पक्ष में प्रबल प्रचार आवश्यक है। आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन का यह एक अङ्ग है।

प्रार्थना से रोगों के उपचार के उदाहरण सर्वत्र प्राप्त होते हैं। वैज्ञानिक विचारणा के लिए उनका प्रमाणभूत संकलन उपयुक्त है। मैं सूरत के एक भक्त गृहस्थ को जानता हूँ। उनको भगन्दर का निदान कर अगले दिन प्रातः शस्त्रकर्म करने का निर्णय किया गया। भक्त ने सारी रात प्रार्थना (भजन) में व्यतीत की। अगले दिन उन्हें शस्त्रोपचार के लिए टेबल पर ले जाया गया तो भगन्दर जैसी कोई वस्तु ही उपलब्ध न हुई।

१--च. सू. २५।३७-४४ में तत्तत् हित-अहित कर्म करनेवाले आहार, औषध या विहार में सर्वोपरि (अग्र्य) वस्तु का उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण को अग्र्याधिकार नाम दिया गया है। दोनों सूत्र इस प्रकरण के हैं।

प्रार्थना से दुःसाध्य रोगों की शान्ति--

प्रार्थना द्वारा स्वयं प्रार्थनाकारी की रोग-निवृत्ति की बात तो समझी जा सकती है, पर अमेरिका में एक आरोग्यशाला (हॉस्पिटल)[१] स्थापित है। इसमें अन्य ही जन प्रार्थना करता है और रोगी का रोग दूर होता है। साधारण रोगों के उपचार की बात नहीं--कैंसर, अस्थियों का यक्ष्मा जैसे दुःसाध्य रोग भी प्रार्थना के इस प्रकार प्रयोग से शान्त होते हैं, वह भी कुछ ही निमेषों में। पूर्व-लिखित डॉ० एलेक्सिस केरल के ग्रन्थ अज्ञात मानव (मैन, ध अननोन) से इस विषय का एक उद्धरण भाषान्तर-सहित वाचकों की प्रतीति के लिए दिया जाता है।

"[२]कुछ आधिदैविक अनुष्ठान शरीर की धातुओं और अवयवों की रचना एवं क्रिया में परिवतन उत्पन्न कर सकते हैं। ये चेतन-गत घटनाएँ अनेक

१--हॉस्पिटल के लिए आरोग्यशाला प्राचीन नाम है।

२--"Certain spiritual activities may cause anatomical as well as functional modifications of the tissues and the organs. These organic phenomena are observed in various circumstances, among them being the state of prayer. Prayer should be understood, not as a mere mechanical recitation of formulas, but as a mystical elevation, an absorption of conciousness in the contemplation of a principle both permeating and transcending our world. Such a psychological state is not intellectual. It is incomprehensible to philosophers and scientists, and inaccessible to them. But the simple seem to feel God as easily as the heat of the sun or the kindness of a friend. The prayer which is followed by organic effects is of a special nature. First, it is entirely disinterested. Man offers himself to God. He stands before him like the canvas before the painter or the marble before the sculptor. At the same time, he asks for His grace, exposes his needs and those of his brothers in suffering. Generally, the patient who is cured is not praying for himself, but for another. Such a type of prayer demands complete renunciation, that is, a higher form of ascetism. The modest, the ignorant, and the poor are more capable of this self denial than the rich and the intellectual. When it possesses such characteristics, prayer may set in motion a strangephenomenon, the miracle.

"In all countries, at all times, people have believed in the existence of miracles, in the more or less rapid healing of the sick at places of pilgrimage, at certain sanctuaries. But after→

परिस्थितियों में देखी जाती हैं। इनमें एक स्थिति प्रार्थना की है। प्रार्थना से किसी मन्त्र-विशेष के यन्त्रवत् जप का ग्रहण यहाँ नहीं है। प्रार्थना का यहाँ अर्थ है आधिदैविक ऊर्ध्वगमन--इस विश्व में ओत-प्रोत तथा उसके भी पार स्थित शक्ति का अनुध्यान और चैतन्य का आत्मसात्करण। यह मनोवैज्ञानिक स्थिति बुद्धिकृत नहीं होती। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की बुद्धि का यह विषय नहीं होती--वे इसे समझ नहीं सकते। परन्तु प्रतीत

←the great impetus of science during the ninteenth century such belief completely disappeared. It was generally admitted, not only that miracles did not exist, but that they could not exist. As the laws of thermodynamics make perpetual motion impossible, physiological laws oppose miracles. Such is still the atittude of most physiologists and physicians. However, in view of the facts observed during the last fifty years this attitude cannot be sustained. The most important cases of miraculous healing have been recorded by the Medical Bureau of Lourdes. Our present conception of the influence of prayer upon pathological lesions is based upon the observation of patients who have been cured almost instantaneously of various affections, such as peritoneal tuberculosis, cold abscesses, osteitis, suppurating wounds, lupus, cancer, etc. The process of healing changes little from one individual to another. Often, an acute pain. Then a sudden sensation of being cured. In a few seconds, a few minutes, at the most a few hours, wounds are cicatrized, pathological symptoms disappear, appetite returns. Sometimes functional disorders vanish before the anatomical lesions are repaired. The skeletal deformations of Pott's disease, the cancerous glands, may still persist two or three days after the healing of the main lesions. The miracle is chiefly characterized by an extreme accelaration of the processes of organic repair. There is no doubt that the rate of cicatrization of the anatomical defects is much greater than the normal one. The only condition indispensable to the occurrence of the phenomenon is prayer. But there is no need for the patient himself to pray, or even to have any religious faith. It is sufficient that someone around him be in a state of prayer. Such facts are of profound significance. They show the reality of certain relations, of still unknown nature, between psychological and organic processes. They prove the objective importance of the spiritual→

होता है, प्राकृत पुरुष भगवान को उतनी ही सरलता से समझ सकते हैं जैसे सूर्य के ताप को या किसी मित्र की अनुकम्पा को। जिस प्रार्थना का शरीर पर परिणाम होता है उसका स्वरूप विशेष होता है। प्रथम तो, यह सर्वथा स्पृहा-रहित (निष्काम) होती है। मानव अपने आप को प्रभु को अर्पित कर देता है। प्रभु के समक्ष वह ऐसे ही स्थित होता है जैसे चित्रकार के सामने केनवास या मूर्तिकार के सामने संगमर्मर। इस स्थिति में वह उसके आशीर्वाद की याचना करता है। अपनी तथा अपने पीड़ित बन्धुओं की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करता है। प्रायशः, रोगी जो रोग-मुक्त होता है अपने लिए नहीं, अन्य के लिए प्रार्थना करता

←activities, which hygienists, physicians, educators, and sociologists have almost always neglected to study. They open to man a new world.

"Miraculous cures seldom occur. Despite their small number, they prove the existence of organic and mental processes that we do not know. They show that certain mystic states, such as that of prayer, have definite effects. They are stubborn, irreducible facts, which must be taken into account. The author knows that miracles are as far from scientific orthodoxy as mysticity. The investigation of such phenomena is still nore delicate than that of telepathy and clairvoyance. But science has to explore the entire field of reality. He has attempted to learn the characteristics of this mode of healing, as well as of the ordinary modes. He began his study in 1902, at a time when the documents were scarce, when it was difficult for a young doctor, and dangerous for his future career, to become interested in such a subject. To-day, any physician can observe the patients brought to Lourdes, and examine the records kept in Medical Bureau. Lourdes is the centre of an International Medical Association, composed of many members. There is slowly growing literature about miraculous healing. Physicians are becomming more interested in these extra-ordinary facts. Several cases have been reported at the Medical Society of Bordeaux by professors of the medical school of the university and other eminent physicians. The Commitee on Medicine and Religion of the New York Acedamy of Medicine presided over by Dr. F. Peterson, has recently sent to Lourdes one of its members in order to begin a study of this important subject." Vide, *Man, The unknown* P. 141 to 143.

है। प्रार्थना की इस पद्धति में संपूर्ण आत्मत्याग अपेक्षित होता है। तप की यह उच्चतर भूमिका है। शालीन, अबुध तथा अकिंचन व्यक्तियों में आत्म-त्याग का यह सामर्थ्य धनिकों और बुद्धिशालियों की अपेक्षया अधिक होता है। प्रार्थना का संयोग जब इन विशिष्टताओं के साथ होता है तो वह एक अद्‌भुत घटना का——एक चमत्कार का सूत्रपात करने में समर्थ होती है।

"सभी देशों में, सभी कालों में चमत्कारों की सत्यता में——तीर्थस्थानों में किंवा पुण्यस्थानों में रोगियों का रोग यत्किंचित् द्रुतगति से शान्त होने में——लोकों का विश्वास रहा है। परन्तु उन्नीसवीं शती में विज्ञान की वेगवती धारा चालू होने के पश्चात् ऐसे विश्वास पूर्ण लुप्त हो गए। यह सामान्यतया माना जाता था कि, न केवल चमत्कारों का अस्तित्व नहीं है, वे शक्य भी नहीं हैं। तापयन्त्र-शास्त्र के प्राकृतिक नियमों के अनुसार जैसे अविरत गति असंभव है वैसे ही क्रिया-शारीर के नियम चमत्कारों के विरोधी हैं। प्रायः क्रियाशारीरविदों और चिकित्सकों का अबतक यही मन्तव्य बना हुआ है। तथापि, गत पचास वर्षों में (स्मरण रहे, पुस्तक का प्रथम संस्करण १९३५ में प्रकाशित हुआ था), जो सत्य प्रत्यक्ष हुए हैं उन को ध्यान में लिया जाए तो यह मन्तव्य टिक नहीं सकता। लोउर्ड्स के मेडीकल ब्यूरो ने चमत्कृत उपचारों के आवश्यकतम वृत्तान्त प्रकाशित किए हैं। वैकारिक परिवर्तनों पर प्रार्थना के प्रभाव के विषय में हमारा वर्तमान ज्ञान उन रोगियों पर हुए प्रत्यक्ष दर्शन पर आश्रित है जो उदरधरा के यक्ष्मा, यक्ष्मी व्रण, अस्थिपाक, पूयस्रावी व्रण, ल्यूपस (त्वचा का यक्ष्मा), कैन्सर आदि विविध रोगों से पीड़ित थे और लगभग तत्क्षण रोग-मुक्त हुए पाए गए। प्रत्येक व्यक्ति में रोगनिवृत्ति के समय होनेवाले परिवर्तनों में अन्य व्यक्तियों से विशेष भेद नहीं होता। प्रायः, लक्षण ये देखे जाते थे। आरम्भ में तीव्र वेदना। इसके पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ की सहसोद्‌भूत प्रतीति। कुछ ही निमेषों में, कुछ मिनटों में अधिक हुआ तो कुछ ही घण्टों में, व्रण पर किण आ जाता है, वैकारिक लक्षण लुप्त हो जाते हैं, क्षुधा का उदय होता है। कभी-कभी रचनात्मक विकृति सुधरने के पूर्व क्रियात्मक विकृति में सुधार हो जाता है। पृष्ठवंश आदि अस्थियों के यक्ष्मा का अस्थि-वैरूप्य या कैंसर-ग्रस्त ग्रन्थियाँ मूल विकार नष्ट होने के भी दो या तीन दिन पीछे तक रह सकते हैं। चमत्कार का प्रमुख लक्षण प्राण्यङ्ग में होनेवाली मरम्मत की प्रक्रियाओं की द्रुततम गति होता है। इसमें संशय नहीं कि, रचनात्मक विकृतियों में व्रणचिह्न (स्कार, सिकेट्रिक्स) के प्रादुर्भाव की जो दर होती है उसकी अपेक्षया इसकी दर अति वेगवत्तर होती है। ये घटनाएँ होने में एक मात्र अपरिहार्य वस्तु प्रार्थना है। परन्तु इसमें आवश्यक नहीं कि

रोगी स्वयं प्रार्थना करे। इतना ही नहीं, रोगी में धार्मिक श्रद्धा हो यह भी आवश्यक नहीं। इतना ही यथेष्ट होता है कि उसके आसपास कोई प्रार्थना की अवस्था में हो। ऐसे तथ्यों का महत्त्व गम्भीर है। इनसे व्यक्त होता है कि मानस तथा शारीर क्रियाओं में परस्पर कोई नियत संबन्ध हैं, जिनका स्वरूप अब तक जाना नहीं गया है। आधिदैविक अनुष्ठान, जिन की अबतक स्वस्थ-वृत्त, कायचिकित्सा, शिक्षण और समाजशास्त्र के विशारदों ने प्रायः सर्वदा उपेक्षा ही की है, उन का यथार्थ महत्त्व इन से सिद्ध होता है। ये तथ्य मानव के लिए नये विश्व का अनावरण करते हैं।

"लोक में चमत्कारों से रोग-शान्ति की घटनाएँ कभी-ही घटती हैं। संख्या में अल्प होती हुई भी ये घटनाएँ ऐसी कुछ शारीर तथा मानस प्रक्रियाओं का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं, जिनके विषय में हम अज्ञान हैं। ये इस बात की निदर्शक हैं कि, साधना की कुछ अवस्थाएँ जिनमें एक प्रार्थना की अवस्था है, उनके निश्चित प्रभाव होते हैं। ये दृढ़ और अविवाद्य सत्य हैं, जिनका विचार किया ही जाना चाहिए। लेखक जानता है कि, चमत्कार रूढ़िवादी विज्ञान से उतने ही दूर हैं जितना रहस्यवाद। ऐसी घटनाओं का अन्वीक्षण परोक्ष-दर्शन या परोक्ष-भाषण से भी अधिक सूक्ष्म है। परन्तु 'सत्' (रीएलिटी) के समग्र क्षेत्र की छानबीन विज्ञान का कर्त्तव्य है। लेखक ने स्वास्थ्य-लाभ की इस पद्धति तथा प्रचलित पद्धति दोनों की विलक्षणताओं को समझने का प्रयास किया है। उसने यह अध्ययन १९०२ में प्रारम्भ किया था। समय ऐसा था जब कि उल्लेख नहिवत् उपलब्ध थे, साथ ही एक युवा चिकित्सक के लिए ऐसे विषय में प्रवृत्त होना दुष्कर एवं उसके भावी जीवन के लिए हानिकर था। आज तो कोई भी चिकित्सक लोउर्ड्स में लाए गए रुग्णों को देख सकता एवं मेडीकल ब्यूरो में रखे उल्लेखों की परीक्षा कर सकता है। लोउर्ड्स अनेक सदस्यों की संख्यावाले अन्तर्राष्ट्रिय मेडिकल असोसिएशन का केन्द्र है। चमत्कारों से स्वास्थ्य-लाभ के विषय में वाङ्मय भी शनैः-शनैः बढ़ता जा रहा है। चिकित्सक भी इस प्रकार के असाधारण तथ्यों के प्रति अधिकतर रुचि दर्शाते जा रहे हैं। बोर्डो की मेडिकल सोसायटी में विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विभाग के प्रोफेसरों तथा अन्य प्रतिष्ठित चिकित्सकों द्वारा कुछ रुग्णों के विवरण भी प्रस्तुत किए गए हैं। न्यूयॉर्क की एकेडेमी आफ मेडिसिन की चिकित्सा तथा धर्म विषयक समिति जिसके अध्यक्ष डॉ० एफ० पीटर्सन हैं, उसने हाल ही में अपने एक सदस्य को इस महत्त्वपूर्ण विषय का अध्ययन करनेके निमित्त लोउर्ड्स भेजा है।"

प्रार्थना—वह भी परकृत—कितना महत्त्व रोग के निर्मूलन में रखती है, इसका उत्तम निदर्शन यह दीर्घ उद्धरण है। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अन्य अङ्गों

का विचार भी वाचक इसी पद्धति से कर सकते हैं। यह सत्य है कि, इस विषय का विपुल विस्तार अर्वाचीनों ने किया है, पर प्राचीनों का एतद्विषयक विचार सूत्ररूप होते हुए भी अधिक गम्भीर है। कालक्रम से अर्वाचीन विद्वान् भी प्राचीनों के मार्ग पर आते जा रहे हैं। आसन, प्राणायाम, गीता, उपनिषद्, रसायन-विधि आदि ने आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि तथा कर्म में स्थान पा लिया है। सो वाचकों को प्राचीनों द्वारा किए इस विषय के ऊहापोह को समझने के लिए मूल ग्रन्थ स्वयं वांचने चाहिए--यथाशक्य मूल भाषा में। ग्रन्थ के गौरव के भय से मैं इस विषय को यहींछोड़कर रोगों के अगले वर्ग स्वभावबलप्रवृत्त पर आता हूँ।

स्वभावबलप्रवृत्त रोग

अन्यत्र[1] किए रोग-विभाग में स्वयं सुश्रुत ने इन्हें स्वाभाविक नाम दिया है। शरीर की प्रकृति या स्वभाव-वश होनेवाले क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा इत्यादि रोगों को स्वभावबलप्रवृत्त या स्वाभाविक रोग कहा जाता है। कारण-भेद से इन के दो भेद हैं। १--कालज--जो क्षुधा, पिपासा आदि प्रयत्न[2] करने पर भी, अपना काल आने पर स्वभावतः आकर उपस्थित होते ही हैं, जिनका उपचार ही शक्य नहीं है, प्रादुर्भाव होने पर अन्न,पान, रसायन आदि के सेवन द्वारा जिन्हें शान्त कर दिया जाता है, अतएव जो याप्य-सदृश होते हैं उन्हें कालज कहते हैं। प्रतिदिन दृश्यमान क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु और निद्रा को ही यहाँ कालज स्वाभाविक रोग कहा है, यह स्पष्टता के लिए कहना आवश्यक है। सामान्यतया क्षुधा होने पर अन्न, पिपासा होने पर पान, निद्रा का वेग होने पर शयन आदि द्वारा इन्हें शान्त किया जाता है, अतः ये एक तरह से याप्य विकार हैं तथापि रसायन-विधि में कहे उपचारों से इन का आत्यन्तिक प्रतीकार भी किया जा सकता है। आत्यन्तिक शब्द का अर्थ यों 'सदा के लिए' होता है, परन्तु सदा के लिए मृत्यु आदि की निवृत्ति शक्य न होने से असाधारण काल-मर्यादा पर्यन्त इन का अप्रादुर्भाव यह अर्थ यहाँ लेना चाहिए। सुश्रुत ने स्वभावव्याधि-प्रतिषेधनीय यही नाम देकर एक संपूर्ण अध्याय (चि. २९) स्वभावबलप्रवृत्त व्याधियों के निवारणार्थ सेवनीय रसायनों के उपदेश के लिए लिखा है। इस में सोम के सेवन का विधान है। अगले अध्याय (निवृत्तसंतापीय नामक ३० वाँ अध्याय) में अन्य रसायन औषधों का निर्देश किया गया है।

१—देखिए—सु० सू० १।२५(४) तथा इन पर डल्हन और चक्रपाणि की टीकाएँ।

२—मूल में **परिरक्षण** शब्द है।

२—अकालज स्वभावबलप्रवृत्त रोग। जो क्षुधा, पिपासा आदि रोग प्रयत्न करने पर भी होते हैं, जिनका आविर्भाव सामान्यकाल आने के पूर्व ही (अकालमें ही) होता है, उन्हें अकालज कहते हैं। इनमें दोषों का वैषम्य कारणभूत होने से इन्हें दोषज भी कहते हैं। इनकी गणना दोषबलप्रवृत्त या निज रोगों में भी की जा सकती है। स्वरूप के साम्य से यहाँ स्वाभाविक रोगों में गणना कर उनके द्वितीय भेद के रूप में इनका इस वर्ग में निर्देश किया गया है। सामीप्य से कालज और अकालज निद्रा, क्षुधा आदि में भेद परखना भी इस शैली से सुगम हो सकता है।

पित्त की प्रवृद्धि एवं श्लेष्मा का क्षय होकर भस्मकाग्नि नाम का रोग होता है। उसमें मध्याह्न आदि नियत काल आने के पूर्व पुनः-पुनः क्षुधा के वेग होते हैं। दोष-वैषम्य से इसी प्रकार तृषा (तृष्णा रोग) भी अकाल में होती है। निद्रा; अकाल में वलि, पलित आदि के रूप में जरा (वार्धक्य) तथा मृत्यु भी इसी प्रकार दोषों के वैषम्यवश अकालज होते हैं। दोषों का यह वैषम्य उन्हें समावस्था में रखने के शास्त्रोक्त प्रयत्न (परिरक्षण) न करने से होता है। अतएव दोष-समुद्भूत अन्य रोगों के सदृश इनका प्रतीकार या उपचार किया जा सकता है। दोष और रोग को लक्ष्य में रखकर इन का यथायोग्य उपचार करना चाहिए।

प्रथम-वर्गोक्त कालज स्वाभाविक रोग भी यों तो दोषज ही होते हैं, जैसे प्रतिदिन प्रत्येक प्राणी में देखी जानेवाली कालज क्षुधा, पिपासा तथा जरा (वृद्धावस्था) पित्तज और निद्रा श्लेष्म-तमोभवा होती है। तथापि, अल्पदोषारब्ध होने से उन्हें दोषज नहीं कहा गया, उसी प्रकार जैसे कोई चावल का केवल एक दाना लेता हो तो अशन की अत्यल्पता के कारण वह अनशन कर रहा है यही कहा जाता है।

दोषज स्वाभाविक रोगों के सदृश इन कालज निद्रा आदि का उपचार भी रसायन-विधि में कहे अनुसार किया जा सकता है, यह ऊपर कहा है। इन प्रकरणों की फलश्रुति में भी कहा है और लोक में प्रसिद्ध भी है कि—तत्तत् औषध के सेवन से पुरुष विना खाए-पिए चिरकालपर्यन्त रह सकता है। जरा और मृत्यु को भी धकेल सकता है। जरा और मृत्यु का निवारण करनेवाले रसायनों के लिए लोक में कायाकल्प शब्द प्रसिद्ध है।

कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त तथा स्वभावबलप्रवृत्त इन तीन व्याधि-वर्गों को आधिदैविक कहा जाता है, यह पहले कह आए हैं।

अत्र सर्वव्याध्यवरोधः। सु० सू० २४।७

इन सात वर्गों में समस्त शारीर-मानस रोगों का अवरोध (अन्तर्भाव) हो जाता है।

छठा अध्याय

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं पञ्चममध्यायं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

आगन्तु आदि चार व्याधि-भेद[1]--

प्रयोजन-भेद से व्याधियों के अनेकधा भेद पूर्वाचार्यों ने किए हैं। इनमें कुछ का उल्लेख गत अध्यायों में कर आए हैं। शेष का इस अध्याय में करेंगे।

संहिता के आरम्भ में सुश्रुत ने रोगों का इन चार वर्गों में विभाग किया है--आगन्तु, शारीर, मानस और स्वाभाविक।

बाह्य अभिघात से हुए रोगों को आगन्तु कहते हैं।

स्वस्थवृत्त में कहे काल-वैषम्य; शरीर, वाणी और मन के विहार (चेष्टा) का वैषम्य; इन्द्रियों का अपने अर्थों के साथ वैषम्य और इन सबसे बढ़कर अन्न पान (आहार) का वैषम्य--इन विषमताओं से जिनकी उत्पत्ति होती है उन शरीर में हुए वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वंद्वज तथा संनिपातज रोगों को शारीर रोग कहते हैं।

अन्नपान आदि के वैषम्य का अर्थ है--अपनी प्रकृति, ऋतु आदि को दृष्टि में रखकर जिन गुण आदि वाले आहार का जिस प्रमाण में, जिन नियमों का अनुसरण करते हुए सेवन करना चाहिए उससे विपरीत प्रकार से सेवन करना। इन नियमों का विवरण स्वस्थवृत्त के ग्रन्थों में किया जाता है। आयुर्वेदीय हितोपदेश में भी संक्षेप से यह विषय लिया है। यह अन्नपान का वैषम्य दोष-वैषम्य का प्रधान हेतु है। अन्नपान का सम्यक् (सम) सेवन किया जाए तो इनके विषम सेवन से होनेवाले रोग नहीं होते; साथ ही देश, काल आदि जिन दोष-वैषम्यकारक अन्य हेतुओं का तन्त्रकारों ने उल्लेख किया है उनका भी अन्नपान के सम्यक् सेवन से अर्थात् देश, काल आदि के गुणों के विपरीत गुणवाले अन्नपान के सेवन से प्रतिकार किया जा सकता है।

दोषों के वैषम्य का अर्थ है--उनका क्षय या वृद्धि। दोषों के क्षय या वृद्धि के विषय में भी पुनः यह जान लेना चाहिए कि तन्त्रकारों ने प्रत्येक दोष के जितने गुण बताए हैं उन सब का प्रकोप या क्षय एक साथ हो सो बात नहीं।

१—देखिए: सु० सू० १।२४-२७ तथा इस स्थल और सु० सू० १।४ पर डल्हन

प्रकोपक या क्षयकारक कारण में दोष-विशेष के जिस एक या जिन अनेक किंवा सर्व गुणों के प्रकोप या क्षय की शक्ति हो उसी एक, अनेक या सर्व गुणों का प्रकोप या क्षय हुआ करता है। और प्रत्येक गुण का यह प्रकोप या क्षय भी उसी प्रमाण में होता है, जिस प्रमाण में प्रकोपक या क्षयकारक कारण में उस गुण के प्रकोप का सामर्थ्य हो। प्रकुपित या क्षीण हुए गुण और उसके प्रकोप या क्षय के प्रमाण एवं उनके स्थान-संश्रय के अनुसार ही शरीर में रोगों की भिन्नता होती है।

सुश्रुत ने यहाँ दोषों के प्रकरण में दूष्य होते हुए भी रक्त का परिगणन किया है। इसका कारण बताते तन्त्रकार ने कहा है कि--सुश्रुत का प्रतिपाद्य विषय शल्यतन्त्र है और शल्यतन्त्र में व्रण प्रधान होता है और व्रण में सर्व दूष्यों में रक्त प्रधान होता है। इसी से सुश्रुत ने इसका यहाँ दोषों के प्रकरण में ग्रहण किया है। इस विषय का बहुत प्रपञ्च पहले कर आए हैं। वहाँ कही एक बात का यहाँ पुनः उल्लेख कर दूँ कि--चरकादि कायचिकित्सकों ने भी कण्ठरव से रक्त की दोषों में गणना भले न की हो परन्तु दोषों के नानात्मक रोगों के सदृश रसज, रक्तज आदि रोगों में रक्तज रोगों की गणना करके भी पुनः पृथक् अध्याय में रक्तज रोगों का परिगणन किया है। इससे सिद्ध है कि उन्होंने भी प्रकारान्तर से रक्त को प्राधान्य दिया ही है। सो, तन्त्रमात्र में इतर-दूष्यापेक्षया रक्त का प्राधान्य अभिमत है। यह सत्य है कि रक्त में वातादि के सदृश स्वयं दुष्टि-कर्तृत्व नहीं होता। रक्तज रोग भी वातादि दोष-दूषित रक्त से होनेवाले रोग ही हैं।

रजस् और तमस् इन मानस गुणों के प्रकोप तथा सत्त्वगुण के क्षय के कारण जो क्रोध, शोक, हर्ष, विषादादि मनोविकार होते हैं, उन्हें **मानस रोग** कहते हैं। क्षुधा-पिपासा प्रभृति देहस्वभावोत्थ रोगों को **स्वाभाविक रोग** कहते हैं।

इन रोग-भेदों का अधिक विवरण पहले कर आए हैं।

वृद्ध-वाग्भटोक्त सात वर्ग[1]

वृद्ध-वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह में रोगों का सात वर्गों में विभाग कुछ नाम-रूप-भेद से इस प्रकार किया है--**सहज, गर्भज, जातज, पीडाज, कालज, प्रभावज, स्वभावज।** सहज आदि प्रत्येक रोग-वर्ग के पुनः दो-दो भेद होते हैं।

कुष्ठ, अर्श, मधुमेह आदि जो रोग तत्तद्रोग-दूषित शुक्र या आर्तव (पुंबीज या स्त्रीबीज) द्वारा अपत्य में संक्रान्त होते हैं उन्हें **सहज** कहते हैं। सहज रोगों के दो भेद ये हैं--**पितृज** नाम पिता से--शुक्र दोष से--संक्रान्त रोग तथा **मातृज**

१—देखिए अ० सं० सू० २२।

किंवा माता से--दोष-दूषित आर्तव (स्त्रीबीज) के कारण हुए रोग। ये सहज रोग सुश्रुत के आदिबलप्रवृत्त रोग हैं।

कुब्जता (कुबड़ापन), पैङ्गल्य (त्वचा, रोम, केश, पुतली पिङ्गलवर्ण--बिल्ली के नेत्र के समान वर्ण के होना), किलास (श्वित्र, श्वेत कुष्ठ) आदि जो रोग गर्भावस्था में माता के किए अपचार से--अहिताहार-विहार से--होते हैं उन्हें गर्भज कहा जाता है। इनके दो भेद हैं--अन्नरसज--गर्भिणी के अहिताहार-विहारवश उसके शरीर में दोषों का वैषम्य होने से रसधातु की विकृति होकर और उसके कारण गर्भ-शरीर में भी दोषों की विषमता होकर उत्पन्न हुए रोग; तथा--दौहृद-विमानज--गर्भिणी को गर्भावस्था में हुई विशिष्ट इच्छाएँ पूर्ण न करने से हुए रोग। गर्भज रोग सुश्रुत के रोग-विभाग में जन्मबलप्रवृत्त नाम से वर्णित हैं।

उत्पत्ति के अनन्तर पुरुष के अपने अपचार से जो रोग होते हैं उन्हें जातज कहते हैं। कारण-विशेष के भेद से इन रोगों के दो भेद होते हैं--संतर्पणज नाम वे रोग जो शरीर की आवश्यकता से अधिक अन्नपान के सेवन से होते हैं; तथा--अपतर्पणज--वे रोग जो शरीर को जिन-जिन गुणों की आवश्यकता है उनका यथावत् प्रमाण में सेवन न होने से होते हैं। आधुनिकों ने तत्तत् विटामीन, एमाइनो एसिड आदि द्रव्यों के अयोग या हीनयोग से होनेवाले रोगों को डेफिशिअन्सी डिसीज़ कहा है। उनका साम्य अपतर्पणज रोगों से देखा जा सकता है। जातज रोगों का उल्लेख सुश्रुत में दोषबलप्रवृत्त नाम से हुआ है।

जो रोग क्षत, भङ्ग, प्रहार, क्रोध, शोक, भय आदि से होते हैं उन्हें पीडाज या पीडाकृत रोग कहते हैं। इनके अधिष्ठान-भेद से दो भेद हैं--शारीर अर्थात्--क्षत, भङ्ग, प्रहार आदि; तथा मानस, यथा--क्रोध, शोक, भय आदि। सुश्रुत-कृत रोग-वर्ग में पीडाज रोगों का निर्देश संघातबलप्रवृत्त नाम से हुआ है। अन्य रोग-विभागों में इन्ही को आगन्तु कहा गया है।

जो रोग शीत, उष्ण और वर्षारूप कालस्वभाव से उत्पन्न होते हैं उन्हें कालज कहते हैं। इनके दो भेद होते हैं--व्यापन्नज, नाम वे रोग जो ऋतुओं की पूर्व-वर्णित व्यापत्ति (अन्यथाभाव) से होते हैं; तथा असंरक्षणज--अर्थात् वे रोग जो ऋतुओं की व्यापत्ति न हो तथापि उनके स्वभाववश दोषों का संचय-प्रकोप होने से होते हैं। ऋतु-स्वभाववश होने वाले रोगों का प्रतिकार ऋतु-चर्या के पालन से होता है। इसी को यहाँ संरक्षण यह नाम दिया है। यह संरक्षण या ऋतुचर्योक्त स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान न करने से जो रोग होते हैं उन्हें असंरक्षणज नाम तन्त्रकार ने दिया है। इन्हें सुश्रुतोक्त रोग विभाग में कालबलप्रवृत्त कहा गया है।

जो रोग देवों या गुरुओं (किसी भी दृष्टि से अपने से बड़ों) का उल्लङ्घन करने से--उनका अनादर करने से--शाप से या आथर्वण (अथर्ववेदोक्त मन्त्र-तन्त्र) आदि से होते हैं उन्हें प्रभावज कहते हैं। इनके दो भेद हैं--ज्वरादि (शरीराधिष्ठान) तथा पिशाचावेशादि (मनोऽधिष्ठान)। सुश्रुत के वर्ग में इनका उल्लेख दैवबलप्रवृत्त नाम से हुआ है।

क्षुधा, पिपासा, जरा आदि देहस्वभाव से होने वाले रोगों को स्वभावज कहते हैं। इनके दो भेद हैं--कालज, या रक्षणकृत रोग--अर्थात् उपाय करने पर भी अपना काल आने पर जिनका वेग हो आए ऐसे रोग ; तथा--अकालज या अरक्षणज--अर्थात् इस प्रकार के क्षुधा आदि रोग, जो दोषों को समावस्था में रखने के उपाय (रक्षण) न करने से दोषों की विषमता होकर अकाल में ही अपना प्रभाव दिखाते हैं। सुश्रुत कृत वर्गीकरण में स्वभावबल-प्रवृत्त नाम से ये वर्णित हैं।

दोषज, कर्मज तथा दोषकर्मज रोग[1]

महाकुष्ठादि कई रोगों के निदान में शास्त्रकारों ने कहा है कि कई वार वे पूर्वभव (पूर्वजन्म) के दुष्कृत के परिणाम रूप में होते हैं। लोक में भी यह प्रसिद्धि है। वर्तमान जन्म के अपचार (रोग-हेतु) से हुए रोगों की दारुणता, चिरकालानुबन्धिता आदि का संबन्ध भी गत जन्म के कर्मों से मानकर रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन कहते सुने जाते हैं कि जबतक कर्मफल का भोग होगा तब तक रोग का कष्ट सहन करना होगा। इस प्रकार रोगों का एक मूल प्राचीन-मत से प्राक्तन कर्म भी हैं। उन्हें दृष्टि में रखकर पूर्वाचार्यों ने तीन वर्गों के रूप में एक अन्य रोग-विभाग किया है। उसका निर्देश किया जाता है।

पुरुष सद्वृत्त तथा पथ्य का पालन करता हो--शास्त्रोक्त आहार-विहार का सेवन करता हो तो भी वह उक्त महाकुष्ठादि रोगों से पीड़ित होता है किंवा जिस ऋतु में ऋतु-स्वभावाधीन जो रोग नहीं होने चाहिए उनसे पीड़ित होता है यथा हेमन्त-शिशिर में रक्तपित्तादि से, वसन्त में वातव्याधि से यद्वा प्रावृट् में श्लेष्मज व्याधि से--इस प्रकार किसी दृष्ट (प्रत्यक्ष) रोग-निमित्त के विना जो रोग होते हैं, जन्मान्तर में किए अशुभ कर्म (दैव) के परिपाक का काल उप-स्थित होने से जो उत्पन्न होते हैं उन्हें कर्मज रोग कहा जाता है। देखिए--

---

१--स्थल : सु० उ० ४०।१६३-६६ तथा डल्हन ; च० शा० १।११६-१७ तथा चक्रपाणि ; अ० सं० सू० २२ ; अ० हृ० सू० १२।५७-५९ तथा अरुण--हेमाद्रि।

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ।।

च० शा० १।११६

इन रोगों को पूर्वापराधज, दैवज, पूर्वकर्मज या अदृष्टकर्मज भी कहते हैं।

जो रोग इसी शरीर से किए ज्ञात या अज्ञात प्रज्ञापराधादि रोग-हेतु के सेवन से होते हैं--अर्थात् शास्त्र में जिस आचार का उपदेश किया है उसका अनुष्ठान न करने से अथवा/और जिसके परित्याग का विधान (प्रतिषेध) किया गया है उसके सेवन से होते हैं उन्हें इस अपचार या रोगारम्भक अहिताहार-विहार के दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर) होने से दृष्टापचारज कहा जाता है। इसी कारण इन्हें प्रत्युत्पन्नकर्मज या दृष्टकर्मज भी कहते हैं। शास्त्रविरुद्ध मिथ्याहार-विहार से हुए दोष-वैषम्य के कारण ये उत्पन्न होते हैं, इस कारण इन्हें दोषज भी कहा जाता है। कभी ये दोषज रोग प्रहार आदि पर-कृत अपचार से भी होते हैं। भेद इतना ही है कि इनमें (इन आगन्तु रोगों में भी) दोष-वैषम्य पीछे से हो जाता है।

कई व्याधि न केवल पूर्वापराध से और न केवल ऐहिक मिथ्याहार-विहार से होते हैं, प्रत्युत दोनों कारणों के संकर (मिश्रत्व) से होते हैं। इन्हें उभयात्मक, उभयज, दृष्टादृष्टकर्मज, कर्मदोषोद्भव या कर्मदोषज कहा जाता है।

कर्मज आदि रोगों का निदान और लक्षण--रोगों के इन तीन भेदों में कर्मज रोगों में दोषों के प्रकोप का कोई कारण, जैसे लघु, रूक्ष आदि द्रव्यों का अतियोग आदि होता नहीं, न ही किसी आगन्तु कारण का इतिहास होता है। दोषज रोग में प्रत्येक दोष का जो लघु, रूक्षादि गुणों वाले द्रव्यों का अतियोग इत्यादि प्रकोपक कारण कहा गया है उसकी उपलब्धि होती है। उससे दोष का प्रकोप होकर रोग उत्पन्न होता है। दोषकर्मज रोग में दोष-प्रकोपक निदान अल्प होता है। उसकी तुलना में रोग के पूर्वरूपों और रूपों (लक्षणों) की संख्या तथा बल पूर्वकर्म के परिपाकवश अत्यधिक होता है। रोग का कष्ट भी बहुत होता है। इसके विपरीत, इन रोगों में कभी यह भी स्थिति होती है कि रोगोत्पादक दोष के प्रकोपक कारणों का अतियोग तथा उसके कारण उस दोष का प्रकोप बहुत होता है तथापि रोग मृदु होता है--उसके पूर्वरूपों और रूपों की संख्या और बल स्वल्प (स्वल्प कष्टकारी) होता है--मृदवो बहुदोषा वा--सु० उ० ४०।१६५।

कर्मज-प्रभृति रोगों का उपचार--इन रोगों में कर्मज रोगों की दोष-व्याधि-प्रत्यनीक जो भी चिकित्सा की जाए वह व्यर्थ होती है। उनकी शान्ति

फलोपभोग द्वारा किंवा प्रायश्चित्त, जप, होम, उपहार, याग, दान, मन्त्र, बलि, देवताराधन गुरु-पूजन आदि द्वारा विशेषतया प्रायश्चित्त द्वारा व्याधिजनक पूर्व-कर्म का क्षय होने से ही होती है। यदुक्तम्--

क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥
च० शा० १।११७

लोक में ऐसे रोगों के वेगों तथा रोगशान्ति के काल का सत्य निर्णय बहुधा ज्योतिष के आधार पर किया जाता है। काल व्यतीत होने पर रोग स्वयं भी शान्त हो जाता है; वेग का काल हो तो हजार उपचार करने पर भी वेग हो आता है या स्थिर रहता है।

दोषज रोग स्नेहन-स्वेदन-वमन आदि के रूप में दोष-व्याधि-प्रत्यनीक आहार, विहार, औषध, देश और काल के सम्यक् सेवन से (विपक्ष-शीलनात्) ही शान्त होता है।

दोष-कर्मज रोग दोष और कर्म दोनों की उक्त चिकित्सा यथावत् करने से शान्त होते हैं।

रोगों का दोष और कर्म की दृष्टि से किया यह विभाग समझने की आवश्यकता इसलिए है कि कर्मज रोगों का कारण समझे विना दोष-व्याधिपरक चिकित्सा की जाए तो उसमें सिद्धि नहीं मिलती। अच्छे-अच्छे निष्णातों को भी चिकित्सा ऐसी स्थिति में सफल नहीं होती। उल्लिखित दैवबलप्रवृत्त उपचारों से सिद्धि मिलती है। कई वार अनुभवी चिकित्सक अपने अनुभव के आधार पर कहता है कि रोग के वेग अब नहीं होंगे, परन्तु ग्रह-गणित आदि से उनके होने का पूर्वज्ञान होता है और वस्तुतः रोग का वेग हो भी आता है। ग्रह-गणित आदि के अनुसार निर्दिष्ट समय पर रोग बिना उपचार या निमित्त-मात्र उपचार से शान्त हो जाता है। समय न आने तक किसी प्रकार शान्त नहीं होता। रोगों में प्राक्तन कर्म की कारणता का सूत्र चिकित्सक की दृष्टि में हो तो वह प्रत्येक रोगी की परीक्षा में ग्रह आदि काल-मान को भी दृष्टि में रखता है। कई सुचिकित्सक रोगी के उपस्थित होने पर दोषों की परीक्षा न कर घड़ी देखकर निर्णय करते हैं कि इस समय किस रोग का काल है। तदनुसार विनिश्चय कर किया उपचार सफल भी होता है। अतः प्रत्येक वैद्य को कम से कम रोगनिदानोपयुक्त ग्रह-गणित आदि का ज्ञान तो प्राप्त करना ही चाहिए। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों की अपेक्षया ज्योतिष आयुर्वेद के व्यवसाय में अधिक उपयोगी है। अतः शक्य हो तो उसका व्यवसायोपयुक्त ज्ञान आयुर्वेद के विद्यार्थी को कराना चाहिए। चिकित्सक स्वयं इस विषय का ज्ञाता न हो तो इसके ज्ञाता की समय-समय पर सहायता उसे लेते रहना चाहिए।

कर्मज रोगों के कारणभूत पूर्वभव-कृत अधर्म का वर्तमान देह में संक्रमण आत्मा द्वारा होता है। आत्मा को निर्विकार मानते हुए भी उसका अस्तित्व इस शास्त्र में मानने का एक कारण कर्मज रोगों की इस प्रकार संक्रान्ति होना है।

दश प्रकार के रोगानीक (रोग-समूह)[1]

विमान-स्थान के छठे अध्याय के आरम्भ में संक्षेप में रोगों के अनेक प्रकार के अनीक (वर्ग, समूह) चरक ने बताए हैं। इनमें एक-दो वर्ग नवीन हैं तथा उनका उपयोग शास्त्र में होता है, अतः उनका और पुनरुक्ति होते हुए भी अन्यों का भी उल्लेख किया जाता है।

प्रभाव-भेद से रोगों के दो वर्ग होते हैं--साध्य और असाध्य। इनके लक्षण इस प्रकरण के अन्त में अधिक विस्तार से बताए जाएँगे।

बल-भेद से रोगों के दो भेद होते हैं--अल्प बल वाले या मृदु, तथा महाबलवान् अर्थात् जिनके पूर्वरूपों एवं रूपों की संख्या और बल अधिक हों ऐसे अर्थात् दारुण। संग्रहकार ने दारुण को अधिमात्र कहा है तथा दोनों के मध्यवर्ती (मध्य-लक्षण) मध्य नामक वर्ग का निर्देश किया है। अन्य तन्त्रकारों ने भी अपने ग्रन्थों में अन्यत्र मध्यबल रोगों का उल्लेख किया ही है। दारुण रोग प्रारम्भ से ही कष्टसाध्य होते हैं। उनका उपक्रम (चिकित्सा) न किया जाए या चिकित्सा मिथ्या हो तो ये अल्पकाल में ही बलवत्तर होकर प्राणहर सिद्ध होते हैं। दारुण रोगों किंवा उनके आरम्भक दोषों के इस स्वभाव को शीघ्रकारिता कहते हैं। मृदु रोग सुखसाध्य होते हैं। नाममात्र यत्न (उपचार) करने से भी उनमें नियत सिद्धिलाभ होता है। इन मृदु और दारुण तथा साध्यासाध्य व्याधियों के ही चार प्रभेद होते हैं, जिनका सलक्षण उल्लेख अनुपद किया जाएगा।

अधिष्ठान (आश्रय)-भेद से रोगों के दो भेद होते हैं : मनोऽधिष्ठान और शरीराधिष्ठान। आशय भेद से रोगों के दो भेद होते हैं : आमाशय-समुत्थ और पक्वाशय-समुत्थ। दोष-भेद से आमाशयाश्रय रोगों में समस्त कफ-पित्तज रोगों का अन्तर्भाव (अवरोध) होता है तथा पक्वाशयाश्रय रोगों में सर्व वातज रोगों का। निमित्त-भेद से रोगों के दो वर्ग होते हैं : स्वधातु-वैषम्य-निमित्त अर्थात् रुग्ण पुरुष के अपने शरीर के धातुओं (दोषों) में वैषम्य होने से हुए तथा आगन्तु-निमित्त।

१—स्थल : च० वि० ६।३ ; च० सू० १८।३७-४१ (मृदु आदि भेद), ४२-४३ (संख्येयासंख्येयत्व) ; तथा चक्रपाणि ; अ० सं० सू० १२ (मृदु आदि भेद)।

दोषों के वैषम्य से हुए शारीर रोगों के वातज आदि नाम प्रसिद्ध हैं। निदान-स्थान के आरम्भ में चरक ने दोषों के आरम्भक महाभूतों के नाम पर पैत्तिक रोगों को आग्नेय, कफज रोगों को सौम्य तथा वातज रोगों को वायव्य नाम दिया है।

साध्यासाध्य भेद से रोगों का वर्गीकरण[1]

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्॥
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥
च० सू० १०।७-८

रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व वैद्य को इस वस्तु की निश्चित परीक्षा कर लेनी चाहिए कि रोग साध्य है या असाध्य ? रोग साध्य हो, चिकित्सक को उपचार का समग्र ज्ञान हो तथा चिकित्सा समय पर की जाए तभी रोग को सिद्ध (शान्त) करने में चिकित्सक को सफलता मिलती है। इसके विपरीत वैद्य असाध्य रोगी की चिकित्सा का प्रयत्न करे तो उसे आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, उसकी विद्या कलङ्कित और यश लाञ्छित होता है, लोक में निन्दा होती है तथा भविष्य में रोगी मिलने की संभावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उसके व्यवसाय को निश्चित धक्का लगता है।

तन्त्रकार ने ऊपर एक सर्वविदित एवं व्यवसायोपयोगी सत्य का सुन्दर शब्दों में उल्लेख किया है। इसी कारण प्रत्येक संहिताकार ने अपनी संहिता के आरम्भ में साध्य-असाध्य रोगों के सामान्य लक्षण बताए हैं। इसके पश्चात् पृथक्-पृथक् रोगों की असाध्यता के लक्षणों एवं सामान्य अरिष्ट (नियतमरण-ख्यापक) लक्षणों का एक साथ निर्देश किया है। इन्हीं प्रकरणों में स्वप्नों से तथा दूत (रोगी के घर पर वैद्य को ले जाने के लिए आए पुरुष) के लक्षणों से असाध्य रोगी की परीक्षा के नियमों का उल्लेख किया है। पश्चात् प्रत्येक रोग की निदान-चिकित्सा के प्रकरण में भी साध्यासाध्यता के लक्षण बताए गए हैं।

१—स्थलः च० सू० १०।७-२२; च० सू० १८-३७-४१; च० नि० ८।३३-३५ तथा चक्रपाणि, सु० सू० १०।६,८; सु०सू० ३५।१८; सु० सू० २३।६-११; १५-१७ तथा डल्हन; अ० सं० सू० २; अ० हृ० सू० १।३०-३५ तथा अरुण-हेमाद्रि।

कालज्ञान नाम से इन सर्व विकीर्ण लक्षणों का संग्रह पुस्तक रूप में मुद्रित उपलब्ध होता है।[१] चिकित्सा में सिद्धि की इच्छा रखने वाले वैद्य को कालज्ञान के लक्षणों का नित्य अनुशीलन करते रहना चाहिए[२]।

चिकित्सा की सिद्धि-असिद्धि की दृष्टि से रोगों के दो विभाग हैं : साध्य तथा असाध्य। इनमें प्रत्येक के पुनः दो भेद होते हैं : साध्य के सुखसाध्य (सुसाध्य) तथा कृच्छ्रसाध्य (कष्टसाध्य, दुःसाध्य या दुश्चिकित्स्य) और असाध्य के याप्य (यापनीय) तथा अनुपक्रम (प्रत्याख्येय, या त्याज्य)। इनमें प्रत्येक के लक्षण देते हैं।

सुखसाध्य रोग के लक्षण--

सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य रोगों के लक्षण संक्षेप में अधोलिखित हैं :--

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात्॥

च० नि० ८।३३, अ० सं० सू० २

सुखसाध्य रोग वे हैं जिनकी शान्ति सरल और स्वल्प उपचारों से एवं स्वल्प काल में होती है। इनके विपरीत कृच्छ्रसाध्य रोग वे होते हैं जिनमें बहुत यत्न करना पड़ता है तथा रोग को शान्त होते बहुत काल लगता है। सुखसाध्यता तथा कृच्छ्र-साध्यता आगे दी गई परिस्थितियों में होती है।

रोग सुखसाध्य तब होते हैं जब--रोगों के हेतु (कारण, निदान), पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) अल्पसंख्यक और अल्पबल हों;

प्रकुपित हुए जिस दोष से रोग उत्पन्न हुआ है दूष्य धातु या मल उसी के समान गुणवाला न हो--न च तुल्यगुणो दूष्यः (च० सू० १०।११); इसी प्रकार रोगी की प्रकृति का आरम्भक (उत्पादक) दोष भी वही न हो जिससे वर्तमान रोग की उत्पत्ति हुई है--न दोषः प्रकृतिर्भवेत् (च० सू० १०।११); एवं देश, काल (ऋतु) और सात्म्य (अभ्यस्त आहार-विहार, औषध आदि) भी रोगारम्भक दोष की वृद्धि के अनुकूल न हों;

रोगोत्पादक दोष एक हो--दोषश्चैकः समुत्पत्तौ (च० सू० १०।१३); वह एक ही मार्ग में प्रसृत हो--गतिरेका (च० सू० १०।१२); विशेषतया

१--स्थल : च० इन्द्रिय स्थान संपूर्ण (बारह अध्याय); सु० सू० २८-३४ अध्याय; ३५ वें अध्याय में दिए आयु के लक्षण; अ० सं० शा० ८-१२ अध्याय; अ० हृ० शा० ५-६ अध्याय में कालज्ञान-विषयक उक्त जानकारी तन्त्रकारों ने दी है। २--देखिए : सु० सू० ३५।३।

हृदय, शिर, बस्ति, कण्ठ आदि मर्मस्थानों में स्थित न हो (यथा--आमवात में हृदय-मर्म में एवं अर्श में गुद-मर्म में दोष का संश्रय होना) ; इसी प्रकार दोष का स्थान-संश्रय अपने प्रधान स्थान में न हो, जैसे वात का पक्वाशय में ;

रोग तरुण--अचिरोत्पन्न--हों, उसे हुए एक वर्ष से न्यून समय हुआ हो[1] ; साथ ही वह उपद्रव-रहित हो ;

रोगापनयन के लिए जो औषध, आहार तथा विहार उपशय-भूत (पथ्य, उपयुक्त) हो उसे, एवं जिस मात्रा में इनके सेवन से रोग-निवृत्ति शक्य हो उस मात्रा में सहन करने का सामर्थ्य शरीर में हों--वह औषधादि उस मात्रा में देने से कोई अपाय (हानि, अवाञ्छित लक्षण) उत्पन्न न हो--देहः सर्वौषधक्षमः (च० सू० १०।१३) ;

रोगी सत्त्वसार (दृढ़, धीर मनवाला) हो ; वह पुरुष हो, युवा हो और जितेन्द्रिय हो--जिह्वादि इन्द्रियों के लौल्य (लोलुपता) से रहित हो ;

रोगी की अग्नि तथा देह सम हो ; चिकित्सा के चारों चरण अपने-अपने गुणों से युक्त हों (पाद-संपद्, चतुष्पादोपपत्ति) ; और इन सबसे बढ़कर--

रोगी के सूर्यादि ग्रह अनुकूल हों--अनुकूल राशियों में तथा उत्तम स्थानों में स्थित हों (ग्रहेष्वनुगुणेषु--अ० हृ० सू० १।३१) और उसकी आयु शेष हो।

आवश्यक होने से इनमें कतिपय लक्षणों की उदाहरणादि द्वारा व्याख्या की जाती है।

रोगों के उत्पादक कारण अल्प हों तो पूर्वरूप और रूप भी अल्प होते हैं, यह सामान्य नियम माना जा सकता है। क्योंकि, कारण-सामग्री की जैसी पूर्णता या अपूर्णता होगी कार्य की निष्पत्ति भी वैसी ही होगी। इस स्थिति में 'हेतुओं का अल्प होना' इतना कहने से ही 'पूर्वरूप और रूप की अल्पता' का भी सामान्यतया ग्रहण हो ही जाना चाहिए। तथापि यहाँ हेतुओं के साथ पूर्वरूप और रूप की अल्पता का भी निर्देश पृथक् किया है। कारण, कभी-कभी रोगोत्पादक कारण अल्प होते हुए भी, रोग कर्मज हो तो पूर्वरूपों और रूपों की संख्या और बल (उत्कटता, दारुणता, जोर) अधिक होता है[2]। इस विषय का अभी ही उल्लेख कर आए हैं।

दूष्यादि रोगारम्भक दोष के अनुकूल न हों--विपरीत-गुण हों--तो रोग सुसाध्य होता है, यह ऊपर कहा है। इसके उदाहरण देते हैं।--

---

१--देखिए : इस प्रकरण के अन्त में दिया सुश्रुत-वचन ; तथा हृदयकार के वचन पर अरुण की टीका।

२--देखिए : अ० हृ० सू० १।३०-३१ पर अरुण।

व्याध्युत्पादक दोष वात हो--रोगी वातव्याधि से पीड़ित हो और जिस देश में उसका वर्तमान निवास है वह मरु (धन्वदेश, ड्राई क्लाइमेट--सूखी आबोहवा--वाला) हो तो रोग सुखसाध्य नहीं होता। कारण, मरुदेश अपने रूक्षता आदि गुणों के कारण शरीर के स्नेह का शोषण करता हुआ वात का प्रकोपक होने से वात में वृद्धि करता है, जिससे रोग में भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार आनूप देश (जलप्राय देश, डैम्प क्लाइमेट--आर्द्र आबोहवा-वाला देश) श्लेष्म-प्रकोपजन्य व्याधि को और बढ़ाता है। इसके विपरीत, यथा आनूप देश में पित्तजन्य रोग हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है। कारण, आनूप देश अपने स्वभाववश शरीर में श्लेष्मा की वृद्धि करता है। वह पित्त के गुणों से विपरीत होने से उसका, परिणामतया तदुत्थ व्याधि का, शमन करने में सहायक होता है।

इसी प्रकार रोगारम्भक दोष और प्रकृत्यारम्भक दोष भिन्न हों तो रोग सुखसाध्य होता है। कारण, प्रकृत्यारम्भक दोष अपने प्रभाव से शेष दो दोषों को दबाए रहता है। किसी कारण इतर दोषों का प्रकोप हो कर तज्जन्य कोई रोग हुआ हो तो प्रकृति-जन्य दोष के प्रभाव से प्रकोप का प्रमाण विशेष बढ़ने नहीं पाता। यथा, पुरुष पित्तप्रकृति हो तो उसे हुआ श्लेष्मोद्भव व्याधि सुख-साध्य होता है।

एवं, ऋतु तुल्य न हो, अर्थात् जिस दोष से रोग हुआ है उसका प्रकोप उस ऋतु में न होता हो तो रोग सुखसाध्य होता है। कारण, ऋतु-स्वभाववश प्रकुपित होने वाला दोष अपने विपरीत गुणों से रोगोत्पादक दोष का प्रशमन करता रहता है, जिससे रोग की बल-वृद्धि होने नहीं पाती। यथा, शरदृऋतु में कफज रोग हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है।

दूष्य दोष-विपरीत हो तो भी रोग सुसाध्य होता है। यथा, श्लेष्मा से रक्त का प्रकोप हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है। रक्त उष्णगुण है और श्लेष्मा शीतगुण। शीतगुण श्लेष्मा के बल का बहुत-सा व्यय रक्त के उष्ण गुण द्वारा प्रशमित कर दिया जाता है। इसी से रक्तप्रकोपज व्याधियों में पित्तप्रकोप ही प्रधानतया होता है, यह हमने रक्तप्रकोपज रोगों के प्रकरण में देखा है।

पित्त और रक्त का परस्पर अनुबन्ध--अग्निदग्ध-प्रकरण में अग्नि, रक्त और पित्त के समानधर्मा होने से अग्निदग्ध-जनित परिणामों का जो उल्लेख किया है वह पित्त और रक्त के परस्पर अनुबन्ध पर उत्तम प्रकाश डालने वाला होने से समग्र उद्धृत करने योग्य है। तथाहि:

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते॥

तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते॥

सु० सू० १२।१७-१८

अग्निदग्ध रोगियों में अग्नि के प्रभाव से रक्त का अत्यधिक प्रकोप हो जाता है। अग्नि और प्रकुपित रक्त दोनों के मेल से पित्त का भी प्रकोप हो जाता है। कारण, तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा। रक्त और पित्त दोनों द्रव्य, रस और वीर्य की दृष्टि से समान हैं। दोनों में अग्नि महाभूत की उल्वणता होती है, दोनों के उत्पादक द्रव्य भी समान होते हैं। रस भी दोनों का समान है--कटु। वीर्य भी पित्त और रक्त का एक ही है--उष्ण। अग्नि का साम्य तो पित्त और रक्त से सिद्ध ही है। इस संप्राप्ति के अनुसार अग्निदग्ध रोगियों में पित्त का प्रकोप हो जाने से तीव्र दाह आदि पित्त-प्रकोप-सुलभ वेदनाएँ, होती हैं, स्वभाववश विदाह होता है--रस-रक्त में अम्लता (एसीडोसिस, एसिडीमिआ) होती है। शीघ्र ही स्फोट (छाले, विसाइकल्स) उत्पन्न होते हैं। ज्वर और तृष्णा से रोगी पीड़ित होता है।

दूष्यादि सभी रोगारम्भक दोष से विपरीत अतएव रोग सुखसाध्य होने का उदाहरण यह है। रोग पित्त के प्रकोप से हुआ हो, मेद, मज्जा आदि दूष्य हों, देश (रोगी का वर्तमान निवास-स्थान) आनूप हो, ऋतु शीत चलती हो और रोगी वातप्रकृति हो तो इन दूष्यादि के शीत-स्निग्धादि गुण रोगोत्पादक दोष के उष्ण-तीक्ष्णादि से विपरीत होने से उसका बल बढ़ने नहीं पाता। परिणामतया, उससे उत्पन्न रोग सुखसाध्य होता है।

रोग तरुण (नवीन) हो तो सुखसाध्य होता है। वैसे तो विभिन्न रोगों की तरुणता, मध्यता तथा जीर्णता की काल-मर्यादा कहीं पृथक् भी कही है; जैसे ज्वर के प्रकरण में सामान्य दोषज ज्वर के लिए कहा है कि--एक सप्ताहपर्यन्त ज्वर तरुण, बारह दिवसों तक मध्य और इसके अनन्तर जीर्ण (पुराण या पक्व) होता है; एवं विषम ज्वर दो सप्ताह के पश्चात् जीर्ण हुआ कहा जाता है, उसके पूर्व मध्य या तरुण होता है; परन्तु सामान्यतया साध्यासाध्यता के विचार में तरुण रोग का अर्थ है जिसे हुए एक वर्ष से न्यून समय हुआ हो; इसके पश्चात् रोग जीर्ण हो जाता है। इसी से कहा है--

परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत्॥

सु० सू० १०।६

परिसंवत्सरोत्थिताः संवत्सरातीताः सर्वर्तुं च महाबला ये तान् परिवर्जयेदिति। यदि ह्येकदोषजास्ते भवेयुरेवं तेषां तद्दोषप्रशमनर्तुषु प्रशमो भवेदल्पता वा, स च न भवति, तेन तेषां त्रिदोषजत्वाधिगमः। अतस्तान् परिवर्जयेत्। अथवा संवत्सरेणोत्तरोत्तरधात्वनुक्रमादसाध्यत्वं प्रायशः। प्रायशो बाहुल्येन, नावश्यतया। तेन केचिद्रक्तगुल्मादयः संवत्सरानन्तरमुपक्रमयोग्या भवन्ति। अर्दितस्तु त्रिभिर्वर्षैः साध्य इति ॥

डह्लन

रोग का प्रादुर्भाव हुए एक वर्ष न बीता हो तो रोग सुखसाध्य होता है। इसमें कारण दो होते हैं। एक तो यह कारण कि, रोग को पूरे बारह मास व्यतीत हो गए हों तथापि न वह शान्त हुआ हो न उसके लक्षणों में मन्दता आई हो तो अर्थापत्ति से इसका अर्थ यह होता है कि प्रकृत रोग त्रिदोषज है। कारण, हम जानते हैं कि तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष का प्रशमन होता है, इस प्रकार संपूर्ण वर्ष में ऋतु-भेद से प्रत्येक दोष के प्रशमन का काल आ ही जाता है। अपने काल में दोष-विशेष का प्रशमन होने से जो रोग उस दोष से उत्पन्न हुआ हो उसकी शान्ति या मन्दीभाव उस ऋतु में होना ही चाहिए। वर्ष की किसी भी ऋतु में यह सुस्थिति देखी नहीं गई इसका अर्थ यही हुआ कि रोग त्रिदोषज है। एक ऋतु में एक दोष शान्त हुआ तो भी शेष दो दोषों का विशेष प्रकोप होगा, जिससे रोग के लक्षणों की उग्रता में कुछ भी हानि न पाई जाएगी। इस प्रकार रोग त्रिदोषज है यह सिद्ध हो गया तो यह भी स्वयं गृहीत है कि रोग कष्टसाध्य या असाध्य होना चाहिए। कारण त्रिदोषज रोग सुखसाध्य नहीं होते।

इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही अन्यत्र कष्टसाध्य या असाध्य रोगों के लक्षणों में कहा है, कि जो रोग सर्वर्तु च महाबलाः—वर्ष की तीनों ऋतुओं में बलवान् बने रहें उनका परित्याग कर देना चाहिए।

एक वर्ष पर्यन्त रोग सुखसाध्य और तदनन्तर दुःसाध्य या असाध्य होने में अन्य हेतु यह भी है कि—अनुपचार या मिथ्याचार से रोग-मात्र उत्तरोत्तर धातु में प्रविष्ट (गम्भीर) होता जाता है। तथाहि—

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥

सु० सू० २३।६

रोगी का उपचार न हो किंवा मिथ्या (विरुद्ध) उपचार हो तो इसका विपरिणाम यह होता है कि—साध्य रोग याप्य में तथा याप्य प्रत्याख्येय

(अनुपक्रम) में परिणत हो जाते हैं और असाध्य अर्थात् कालान्तर-प्राणहर रोग सद्यःप्राणहर हो जाते हैं। कारण ?

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥

सु० सू० २३।१५-१६

अप्रतिकार या मिथ्या-प्रतिकारवश स्वभावतः रोगारम्भक दोष के धातुओं में अवगाहन (प्रवेश) और वहीं अवस्थान के कारण रोग उपचय (पुष्टि, वृद्धि) को प्राप्त होता चला जाता है। परिणामतया, कालक्रम से जिस वृक्ष के मूल गम्भीर तथा दूर-देशव्यापी हो गए हैं तद्वत् यह रोग भी सरलता से उन्मूलन किया जा सकने योग्य नहीं रह जाता।

ऐसा रोग महान् (महादोषवान्) एवं धातुओं में अनुप्रविष्ट अतएव स्थिर हो गया होने से औषधों के वीर्यों (रसादि कार्यकारिणी शक्तियों) को उसी प्रकार व्यर्थ बना देता है जैसे कोई दुष्टग्रह मन्त्रों की शक्तियों को। इसके विपरीत—

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते।
अबद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः॥

सु० सू० २३।१७

जिस रोग में गम्भीरता आदि उक्त लक्षण नहीं होते वह सुखसाध्य होता है, उसी प्रकार जैसे जिसके मूल अभी बद्ध नहीं हुए हैं ऐसा क्षुपक (अतिबालवृक्ष) अनायास उच्छिन्न किया जा सकता है।

अन्यत्र आचार्य ने यही उपमा देते हुए प्रारम्भ में त्वचा (रसधातु में) में उत्पन्न कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्तविकार) का धातुओं में अवगाहन होकर असाध्य होते जाना बताया है। तथाहि—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृद्धिविवर्धितैः॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः॥

सु० नि० ६।२०-२१

कालक्रम से तथा अन्य कारणों से रोगों के दुःसाध्य होने का जो उल्लेख यहाँ किया है उसे उत्सर्ग (नियम—रूल) समझना चाहिए। इसके अपवाद (एक्सेप्शन) भी हैं।

ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्[1] ॥

ज्वर में रोगारम्भक दोष तथा ऋतुस्वभाववश प्रकुपित होनेवाला दोष तुल्य (एक ही) होना, प्रमेहों में रोगारम्भक दोष के गुण दूष्य के तुल्य होना एवं रक्त गुल्म में पुराणता (जीर्णता) उत्सर्गानुसार (उक्त नियमानुसार) कृच्छ्र-साध्यता के लक्षण न होकर सुखसाध्य के लक्षण हैं। इस अपवाद का कारण तत्-तत् रोग का प्रभाव-विशेष है (चक्रपाणि)।

ज्वर-विषयक जो अपवाद यहाँ दिया है उसे एक-दो उदाहरणों से स्पष्ट कर लें। शरद्ऋतु में तीक्ष्ण-वेग-लक्षित विषमज्वर (नवीनों का मलेरिया) का प्रकोप प्रायः होता है। वेग की तीक्ष्णता, वमन, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि कारणों से यह बड़ा कष्टदायक प्रतीत होता है। वेग की तीक्ष्णता से स्पष्ट है कि इसम प्रधान कारण पित्त होता है। वायु का विशेष कर्म अपने चाञ्चल्यवश वेग को तीक्ष्ण और शान्त कर देना है। इसी प्रकार वसन्त ऋतु में प्रतिश्याय-कासयुक्त कफप्रधान मन्द-वेगयुक्त ज्वर-विशेष (नवीनों का इन्फ्लुएंजा) प्रायः लोकों को पीड़ित करता है। इसमें कष्ट के प्राधान्य के कारण ज्वर-वेग भले मन्द हो तथापि तज्जनित आम और स्वयं कफ से वायु का आवरण होने से बड़ा कष्टकर शैथिल्य (अवसाद) और वेदनाएँ होती हैं। दोनों ज्वर यों कष्टदायी होते हुए तुल्य ऋतु में हुए होने से सुसाध्य ही होते हैं।

रक्तगुल्म (कदाचित् नवीनों के गर्भयन्त्र-गत सिस्ट तथा ट्यूमर) के लिए अन्यत्र भी कहा है—मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः (च० चि० ५।१६)। ऐसी मिथ्या-प्रसिद्धि है और चक्रपाणि ने तथा मधुकोष-टीका में विजयरक्षित ने इस आशय का पूर्व पक्ष भी दिया है कि गर्भ और रक्तगुल्म में भेद करना दुष्कर होने से प्रसव-काल व्यतीत होने के अनन्तर गर्भ नहीं है यह निर्धारित हो जाने से रक्त-गुल्म का विनिश्चय हो जाता है। अतः उसके अनन्तर ही चिकित्सा का विधान किया है। इस पक्ष का टीकाकारों ने सम्यक् खण्डन किया है। वह वहीं देखना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी आगे यह विषय आएगा। संक्षेप

१—च० सू० १०-११-१३ पर चक्रपाणि तथा अ० हृ० सू० १।३०-३१ पर अरुण-धृत तन्त्रान्तर वचन।

में, प्रसवकाल के अनन्तर रोग-प्रभाववश रक्तगुल्म चिकित्सा से सुखोच्छेद्य (सुखसाध्य) हो जाता है।

अर्दित तीन वर्ष का (त्रिवर्ष) हो वहाँ तक सुसाध्य होता है, यह उपदेश अर्दित के विषय में है। उसे भी यहाँ कहे उत्सर्ग का अपवाद (एक्सेप्शन) समझना चाहिए। स्मरण रहे अर्दित की असाध्यता के प्रकरण में आए 'त्रिवर्ष' शब्द का यह अर्थान्तर भी किया जाता है कि रोगी के मुख, नासा, और नेत्र इन तीन (त्रि) से जल का--क्रमशः लाला, सिंघाणक तथा अश्रुजल का--स्रवण (वर्ष, वृष्टि) होता हो तो भी अर्दित असाध्य होता है।

रोगों की असाध्यता का प्रकृत कारण दोष का उत्तरोत्तर धातु में अनुप्रवेश बताया है। इससे आयुर्वेद का एक सिद्धान्त पुनः समझा जा सकता है कि नव्य मत कुछ भी हो, आयुर्वेद तो धातुओं का क्रम-विशेष मानता ही है। धातुओं के पोषण में अनेक पक्षान्तर होते हुए भी एक पौर्वापर्य (क्रम) सभी को संमत है। यहाँ निदानाधिकार में भी अप्रतिकृत रोग के आरम्भक दोष का पूर्वापर क्रम से ही धातुओं में प्रविष्ट होना निर्दिष्ट हुआ है। चिकित्सा-प्रकरण में भी कहा जायगा कि लङ्घनादि उपचारों से दोष उत्तर-उत्तर धातु को छोड़कर पूर्व-पूर्व धातु में शेष रहते जाते हैं। विषों के प्रसर के प्रकरण में भी आचार्यों ने धातुओं का यह पौर्वापर्य स्वीकारा है।

सुखसाध्यता की अगली शर्त रोग उपद्रव-रहित होना है। उपद्रवों से रोग की बल-वृद्धि होती है, यह सरलता से जाना जा सकता है।

शरीर सर्व औषधों के वीर्य (क्रिया-शक्ति) को सहन करने में समर्थ हो--औषध लेने से उसे कोई अपाय न हो यह सुखसाध्यता की अगली शर्त है। औषध अपाय-कर्त्ता हो तो उसका उपयोग न होने से रोग साध्य ही नहीं होता, सुख-साध्यता की बात ही क्या? इस विषय के उत्तम उदाहरण के रूप में नवीनों द्वारा आविष्कृत तीक्ष्णवीर्य द्रव्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कितने ही रोगी ऐसे मिलते हैं जिनको ये द्रव्य सह्य नहीं होते--उनकी 'ईडियोसिनक्रेसी' किंवा 'एलर्जी' होती है। परिणामतया देखते हैं--इन नवीन औषधों के लाभों पर जितना वाङ्मय प्रकाशित होता है उससे कुछ कम इनके अपायों पर नहीं प्रकाशित होता। कितनी वार तो रोगी या रोग-जनक जीवाणुओं के लिए औषध सात्म्य हो गया होने से जीवाणुओं और रोग पर कुछ प्रभाव ही औषध-द्रव्य का नहीं होता।

सुखसाध्यता की एक शर्त रोगी का युवा (तरुण, वयःस्थ) होना है। व्रण-प्रकरण में भी आचार्यों ने साध्य व्रण के लक्षणों में इस शर्त को स्थान दिया है[1]।

१--स्थल--सु० सू० २३।३ ; च० चि० २५।३६ तथा इन पर डल्हन और चक्रपाणि।

वहाँ दी इस तथा अन्य प्रकृत गुणों की व्याख्या उपयोगी होने से यहाँ दी जाती है।

तत्र वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववताम् आत्मवतां च सुचिकित्स्याः व्रणाः॥ सु० सू० २३।३

वयःस्थ नाम तरुण, दृढ़ अर्थात् ऐसे पुरुष जिनकी संधि, सिरा और स्नायु गूढ़ हैं--मांसादि धातुओं की पुष्टि सम होने से सन्ध्यस्थि, सिरा आदि जिनमें प्रत्यक्ष दीख नहीं पड़ते ऐसे सुसंहत-सम शरीर, प्राणवान् अर्थात् शक्तिशाली, सत्त्ववान् अर्थात् सत्त्वसारता के कारण किसी भी दशा में घबरा न जानेवाले एवं आत्मवान् नाम जितेन्द्रिय पुरुषों को जो व्रण होते हैं वे सुखसाध्य होते हैं। इतनी प्रतिज्ञा कर प्रत्येक की व्याख्या के प्रसंग में तरुणों के विषय में कहा है--

तत्र वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति। सु० सू० २३।३

वयःस्थ (तरुण) पुरुषों के धातु नवीन होते हैं। अतः उनके व्रण शीघ्र भर आते हैं। इसके विपरीत बालकों के धातु अपूर्ण तथा वृद्धों के क्षीयमाण होते हैं, अतः उनके व्रणों का रोपण शीघ्र नहीं होता।

निज रोगों पर भी यह बात घटित होती है। लोक में यह सत्य प्रचलित भी है। (गुजराती में तरुण के लिए 'चढ़तुं लोही' तथा वृद्ध के लिए 'उतरतुं लोही' पद प्रयोग रूढ़ है)। तरुणों में धातु पुष्ट होने से उनमें बल नाम रोगक्षमता (प्रतिकार-शक्ति) भी ईप्सित प्रमाण में होती है। अतः उनके रोग सुसाध्य होते हैं।

सुखसाध्यता की अन्य शर्त रोगी का पुरुष होना है। स्त्रियाँ भीरु, सुकुमार होने से तीक्ष्ण औषधोपचार न ग्रहण कर सकनेवाली एवं प्रायः अबुध तथा पथ्यापथ्य पालन न करनेवाली और वेगावरोधासक्त होती हैं। अतः उनका रोग दुःसाध्य होता है। इस दृष्टि से स्मरणीय अन्य जनों का उल्लेख आगे सुसाध्य होते हुए भी प्रत्याख्येय रोगियों के प्रकरण में किया जाएगा।

सुखसाध्य रोग की अन्य शर्त सत्त्वसारता है। इसकी व्याख्या आगे आएगी ही। मन बलवान् होने से रोग होते ही नहीं। मन का शरीर पर प्रभाव स्मरण करे तो यह वस्तु सरलता से समझी जा सकती है। मनोदौर्बल्य रोग को बढ़ाने में भी प्रबल हेतु होता है--विषादो रोगवर्धनानाम्। इसके अतिरिक्त निःसारता से साधारण रोग भी गम्भीर समझ लेने से निदान और चिकित्सा में भूल होना तथा उसके कारण रोग कष्टसाध्य होना संभव होता है।

सुखसाध्यता के लक्षण लिखकर अब साध्यता के क्रमप्राप्त भेद रोगों की कष्टसाध्यता (कृच्छ्रसाध्यता, दुःसाध्यता) का लक्षण लिखा जाता है।

कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण——

कृच्छ्रसाध्य रोगों का संक्षिप्त लक्षण ऊपर दिया है कि——इन रोगों में यत्न बहुत करना पड़ता है तथा रोग शान्त होने में समय बहुत लगता है। रोग कृच्छ्रसाध्य तब होते हैं जब——

निदान (रोग-कारण), पूर्वरूपों और रूपों (लक्षणों) का बल मध्यम हो——न सुखसाध्य रोगों के समान मृदु हो, न असाध्य रोगों के समान दारुण हो–निमित्त-पूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले (चरक);

या, काल (ऋतु), प्रकृति, दूष्य (देश और सात्म्य) इनमें कोई एक रोगारम्भक दोष के समान हो——उस दोष की वृद्धि के अनुकूल हो ;

या, रोगी बालक, वृद्ध या गर्भिणी हो——गर्भिणी (गुर्विणी) वृद्धबालानाम् (चरक) ;

या, उपद्रव हों परन्तु उनकी संख्या तथा बल बहुत न हो ;

या, रोग शस्त्रकर्म, क्षारकर्म किंवा अग्निकर्म (दाह) से साध्य हो ;

या, रोग नवीन (तरुण) न हो ; या वह मर्म, सन्धि आदि कृच्छ्र स्थानों में स्थित हो ;

या, वह एक मार्ग में हो तथापि रोगी आदि चारों पादों की संपत्ति पूर्ण न हो ;

या, वह दो मार्गों में स्थित हो तो भी उसे हुए बहुत काल न बीता हो ;

या, वह द्विदोषज (द्वंद्वज) हो।

संक्षेप में——सुखसाध्यता की जो शर्तें कही हैं उनमें कुछ विद्यमान हों और किन्हीं का विपर्यय (विपरीत-स्थिति) विद्यमान हो——इस प्रकार साध्य-असाध्य लक्षणों का सांकर्य हो किंवा रोग शस्त्रादिसाध्य (सर्जिकल केस) हो तो रोग कष्टसाध्य होता है। सांकर्य के अन्य उदाहरण भी कल्पे जा सकते हैं——यथा रोगी युवा हो पर जितेन्द्रिय न हो या स्त्री हो ; जितेन्द्रिय हो पर रोग मर्मस्थानगत हो ; देह भी सर्वौषधक्षम न हो....इत्यादि।

साध्य के इन दो भेदों——सुखसाध्य,कृच्छ्रसाध्य——तथा असाध्य का एक भेद——याप्य, जिनमें उपाय किया जाता है उनके उपाय-भेद से तीन भेद किये जाते हैं—अल्पोपायसाध्य, मध्योपायसाध्य तथा उत्कृष्टोपायसाध्य। असाध्य के द्वितीय भेद का उपाय न होने से ऐसे भेद नहीं किये जाते। अवश्य ही परिणाम-भेद से उनके प्राणहर, वैकल्यकर (शारीर या मानस विकृति ; शारीर रचना-विकृति——डिफॉर्मिटी), सद्यःप्राणहर, कालान्तरप्राणहर आदि कल्पनाएँ (भेद) की जाती हैं।

उपायों के इस त्रिविध भेद का कारण साध्यासाध्यता के जो कारण ऊपर कहे गये हैं, उनके ही बल में भेद होना है। यथा, लक्षण अल्प हो सकते हैं, बहुत

हो सकते हैं तथा शास्त्र में जितने भी लक्षण गिनाए गए हैं वे सब ही विद्यमान हो सकते हैं। उपद्रव की बात लें तो रोग उपद्रवरहित हो सकता है, उपद्रवयुक्त हो सकता है किंवा शास्त्र में जितने भी उपद्रव कहे गए हैं उन सबसे युक्त (यावदुक्तोपद्रवत्व) भी हो सकते हैं। इसी प्रकार साध्यासाध्यता के लक्षणों के भेद का अधिक विचार किया जा सकता है।

अस्तु। साध्य के इन दो भेदों का लक्षण लिखा गया। अब असाध्य के दो भेदों में प्रथम याप्य के लक्षण देखिए।

याप्य रोगों का लक्षण--

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः॥
सु० सू० २३।१०-११

यह भी असाध्य ही का एक भेद है। इससे इतना तो समझा जा सकता है कि--याति नाशेषतां व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञितः (च० नि० ८।३४)--कितना भी प्रयत्न किया जाए याप्य रोग का सर्वथा मूलोच्छेद तो नहीं ही होता। किन्तु प्राक्तन-कर्मवश इसमें पुरुष की आयु शेष होती है, जिसके परिणाम-स्वरूप असाध्य के द्वितीय भेद अनुपक्रम या प्रत्याख्येय के समान याप्य में मृत्यु नहीं हो जाती, परन्तु, जबतक पथ्य आहार, विहार, औषध (देश या काल) के अभ्यास नाम सतत सेवन के रूप में चिकित्सा चालू रहती है तबतक रोगी का जीवन रहता है--रोगी को अल्प सुख या स्वास्थ्य की प्रतीति होती है, रोग दब-सा जाता है; चिकित्सा छोड़ देते ही किंवा यत्किंचित् भी हेतुलाभ होते ही रोग पुनः उभर आता है। इस प्रकार--सुसाध्वपि कृतं येषु कर्म यात्राकरं भवेत् (च० सू० १८।३६)--कितना भी प्रयत्न किया जाए वह यात्राकर (यापनाकर, जीवन के धारणमात्र में समर्थ) ही सिद्ध होता है। इसीसे स्थिति यह होती है कि, जैसे पतनोन्मुख गृह को कौशलपूर्वक लकड़ी आदि के स्तम्भ लगाकर गिरने से बचाया जाता है वैसे चिकित्सा आदि जब तक चलते रहते हैं उनके आश्रय से रोगी भी जीवित रहता है

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं, पथ्यसेवया।
लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशु प्रवर्तकम्॥
च० सू० १०।१७

याप्य रोगों में उल्लिखित स्थिति अधोलिखित कारणों से होती है--इनमें दोष गम्भीर होता है, अर्थात् उत्तरोत्तर धातुओं में पहुँचता हुआ मेद आदि पर्यन्त अनुप्रविष्ट हुआ होता है; वह अनेक धातुओं में स्थित होता है; रोग का स्थानसंश्रय मर्मों और अस्थिसन्धियों में होता है, वह नित्य अनुबद्ध रहता है--रोग के लक्षण क्वचित् न्यूनाधिक दब जाएँ तथापि दोष के प्रकोप के अनुकूल स्थितियाँ रहने से एक तरह से रोग शरीर में विद्यमान रहता[1] ही है; वह द्विदोषज (द्वन्द्वज, किन्हीं दो दोषों से उत्पन्न) एवं चिरकालानुबद्ध (जीर्ण, पुराण) होता है।

प्रत्याख्येय से इसमें यह भेद विशेष होता है कि दोनों के लक्षण प्रायः समान होते हैं; भेद मुख्य यही होता है कि याप्य में आयु शेष होने से रोगी जीवित रहता है, जब कि प्रत्याख्येय में उसकी मृत्यु हो जाती है।

याप्य रोग के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध होने से तमक श्वास (दम नाम से प्रसिद्ध रोग; ब्रॉङ्किअल एस्थमा) को प्रस्तुत किया जा सकता है। रोग के वेग के अनुकूल ऋतु (वर्षा या शीत) आते ही कइयों में इसके वेग प्रतिवर्ष हो आते हैं। शेष समग्र वर्ष रोग दबा रहता है। इसी प्रकार अन्यों में वेग के अन्य कारण होते हैं, जिनके संपर्क से रोग के लक्षणों का उदय हो आता है। विचर्चिका (अकौता; छाजन; अंग्रेजी ऐग्ज़ीमा, गुजराती खरजुआ) में भी रोग के वेग पूर्णिमा--अमावास्या आने पर सामुद्र-जल की वृद्धि के साथ हो आते हैं। इन तथा अन्य याप्य रोगों के अन्य कारणों का प्रत्यक्ष एवं अनुमान इसी आधार पर स्वयं किया जा सकता है।

अब प्रत्याख्येय रोगों के लक्षण देखिए।

प्रत्याख्येय (अनुपक्रम, त्याज्य) रोगों के लक्षण--

परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥

च० नि० ८।३४

१--रोग के लक्षण दब जाने पर भी उक्त प्रकार से रोग को विद्यमान कहने में विषम ज्वर का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। विषम ज्वर का वेग निवृत्त हो गया हो तब भ्रम होता है कि रोग कुछ काल के लिए शान्त हो गया। परन्तु ग्लानि, गौरव आदि लक्षण तो उस काल भी विद्यमान रहते ही हैं--अतः कहना चाहिए कि--**स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति**--विषम ज्वर संपूर्ण शान्त हुए पर्यन्त देह को एक क्षण के लिए भी छोड़ता नहीं। (देखिए--सु० उ० ३९।६३-६४ तथा उस पर डल्हन। यह प्रकरण आगे विषमज्वराधिकार में पुनः सविस्तर देखें)।

संक्षेप में प्रत्याख्येय असाध्य के उस भेद का नाम है जिसमें सर्व प्रकार की चिकित्सा विफल होती है। इसी से यश, अर्थ आदि का विरोधी होने से इसे प्रत्याख्येय (त्याज्य) किंवा अनुपक्रम (अचिकित्स्य) कहा जाता है[1]। यह त्रिदोषजनित एवं तीनों रोगमार्गों में प्रविष्ट होता है। इसमें साध्योक्त लक्षणों से सर्वथा (शत प्रतिशत) विपरीत लक्षण पाए जाते हैं। नीचे लिखे लक्षण पृथक् या मिलित इसके द्योतक होते हैं। तथाहि: इसमें औत्सुक्य (विषयोत्कण्ठा या हर्षोद्रेक), संमोह (धी, धृति, स्मृति आदि मन के ज्ञानों का नाश), तथा अरति (उठना, बैठना आदि किसी भी स्थिति में चैन न होना)––ये लक्षण होते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति की हानि होती है अरिष्ट (नियत-मरण ख्यापक) चिह्नों का आविर्भाव हो जाता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल होता है। निदान, लक्षण आदि सब दृष्टियों से रोग अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त होता है।

प्रत्याख्येय रोग में भी[2] प्रसंगानुसार प्रत्याख्यान करके नाम रोग अच्छा होगा ही इस बात का आश्वासन न देते हुए चिकित्सा करनी चाहिए। आभ्यन्तर वली में हुए असाध्य माने गए अर्शों के लिए कहा गया है––वल्यामाभ्यन्तरायां तु प्रत्याख्याय समाचरेत्। अथवा, मांसतान, अलास प्रभृति मुखरोगों के प्रकरण में कहा है––तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत (सु० चि० २२।८१)। कारण, अनुभव है कि कदाचित् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति।

साध्य होते हुए भी त्याज्य रोगी[3]––

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति ॥

सु० सू० १०।८

नीचे लिखे पुरुषों को, हुए रोग साध्य हों तो भी वे दुश्चिकित्स्यतम (अति दुःसाध्य) होते हैं।

१––प्रत्याख्येय रोगों के लिए ही प्रसिद्धि है––**औषधं जाह्नवी-तोयं वैद्यो नारायणो हरिः।** रोगी शान्ति से परलोक का चिन्तन करता हुआ देहत्याग कर सके यही प्राचीनों के मत से इस स्थिति में अभीष्ट होता है। इसके विपरीत आज जो प्रथा है वह सुविदित है। कई अर्थ-लोलुप चिकित्सक तो मृत्यु के अनन्तर भी इंजेक्शन देते देखे जाते हैं।

२––देखिए: सु० सू० ३५।१८ पर डल्हन

३––स्थल: सु०सू० १०।८; च० वि० ३।५०; अ० हृ० सू० १।३४-३५ तथा इन पर डल्हन, चक्रपाणि, अरुण–हेमाद्रि।

श्रोत्रिय--पौरोहित्य, मन्त्रपाठ, कथावाचन आदि कर्म करने वाले विप्र। अपने कर्म में इन्हें बहुधा वेगधारण करना पड़ता है तथा प्रकृति-विरुद्ध होते हुए भी स्नानादि अनेक बार करना पड़ता है। ज्वर में एवं ज्वरमुक्ति के पश्चात् स्नान परम अपथ्य होता है, स्नान से उसकी वृद्धि होती है। अन्य रोगों में अपथ्यभूत अन्य आहार-विहार श्रोत्रियों को करना पड़ता है। अन्नपान भी बहुधा पर-प्रदत्त गरिष्ठ होता है। उसके काल का भी नियम नहीं रहता। मल-मूत्रादि का वेग धारण करने से शरीर में मलों और दोषों का संचय तथा वात का प्रकोप होता है। इन कारणों से श्रोत्रियों के रोग सुसाध्य नहीं होते।

राजा--ये स्वतन्त्र होने से यत्किंचनकारी, हिताहित आहार-विहार का ध्यान न करने वाले, एवं दुराग्रही होते हैं। इसके अतिरिक्त ये प्रायः सुकुमार भी होते हैं--सुकुमार होने से औषधों के रस, क्रिया के वेग, पथ्यपालन, अपथ्य-वर्जन आदि को सहन नहीं कर सकते। इसी स्वभाव के उच्च शासनाधिकारियों की भी गणना यहाँ समझी जा सकती है।

स्त्री--ये भी लज्जा या कार्यातिपातवश वेगों का धारण करती हैं, रोग के लक्षण संपूर्ण बताती नहीं, भीरु तथा सुकुमार होती हैं जिससे विरेचनादि चिकित्सा इनकी सप्रमाण की नहीं जा सकती। कई स्त्रियाँ तो अपथ्य का परिवर्जन सर्वथा करती नहीं। इन कारणों से इन्हें हुए रोग दुश्चिकित्स्य होते हैं।

बालक--इनका बल (रोगप्रतिबन्धक शक्ति) अल्प होता है, जिससे स्वल्प भी व्याधि का बल इन्हें अधिक पीड़ित करता है। सुकुमार होने से ही विरेचनादि क्रिया इन्हें पूर्णतया दी नहीं जा सकती।

वृद्ध--इनके धातु जीर्ण होने से शरीर दुर्बल होता है। वयःस्वभाववश सभी दोष भी विषम होते हैं। विरेचनादि औषध इन्हें भी इनकी सुकुमारता के कारण यथावत् दिए नहीं जा सकते।

भीरु--भीरु पुरुष अल्पसत्त्व (निःसार मन वाला, मनोबलहीन) होने से उसकी चिकित्सा संपूर्ण नहीं की जा सकती। मन की दुर्बलता से रोग बढ़ते जाते हैं। किं बहुना नवीन-नवीन रोग उत्पन्न होते हैं। यथा--विशेषतया नवीनों ने कहा है कि--पैत्तिकशूल (आमाशय तथा ग्रहणी में क्षत) का मूल मानसिक आघात (स्ट्रेस) ही है। इसके अतिरिक्त भीरु (सत्त्वसारहीन) पुरुष कई वार स्वल्प भी रोग से घबरा कर ऐसा उत्पात करते हैं कि उनका रोग बड़ा समझ लिया जाता है। इस मिथ्या परीक्षावश कभी उग्र औषध दे दिया जाए तो परिणाम अनिष्ट होता है।

राजसेवक--राज्य तथा अन्य कार्यालयों में कार्य करनेवालों के भोजन-काल का नियम नहीं होता ; खा कर सहसा कार्य के लिए भागना पड़ता है ; अधिकारी के समक्ष किंवा कार्यालय में लज्जावश तथा कार्यातिपातवश वेगा-वरोध करना पड़ता है, कई बार तो अन्य साथियों के साथ सह-भोजन में अहित पदार्थों का भी सेवन करना पड़ जाता है। इन तथा अन्य कारणों से राज-सेवकों और अन्य प्रकार की सेवाओं (सर्विसिज़) में पड़े हुए लोकों के रोग दुःसाध्य होते हैं।

कितव--कितव या द्यूतकार (जुआ आदि व्यसनों में मग्न पुरुष) रोगों के उत्पादक तथा अभिवर्धक व्यसनों, वेगविनिग्रह तथा आहार-विहारादि का नियम न होने के कारण इनके रोग विकट होते हैं।

दुर्बल--बालक और वृद्ध के समान दुर्बल पुरुष भी विरेचन, वमन, शस्त्र, क्षारकर्म आदि क्रियाओं को सहन करने में समर्थ न होने से उसकी चिकित्सा कठिन होती है। विरेचन-साध्य रोगों में भी दुर्बल और कृश पुरुषों की अविरेचनीयता का उदाहरण व्यवसाय में उपयोगी होने से यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

विषमाशन-जन्य राजयक्ष्मा की संप्राप्ति के प्रकरण में चरकाचार्य कहते हैं।--पुरुष अत्यधिक विषमाशन (स्वस्थवृत्तोक्त नियमों का उल्लङ्घन कर अन्नपान का सेवन) करता है तो उसके वात-पित्त-कफ ये शारीर दोष विषम हो जाते हैं। परिणामतया--ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसाम् अयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते, तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्रपुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं, नान्यस्तथा शरीरधातुः। स पुरीषोपष्टम्भात् वर्तयति। तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यम्। तथाऽन्येषामतिकृशदुर्बलानाम्--च० नि० ६।११।--विषम हुए दोष समग्र शरीर में अनुसरण करते हुए स्रोतों की गति के द्वारों को आवृत कर लेते हैं। इस स्थिति में पुरुष जो भी अन्नपान ग्रहण करता है उसका अधिकांश मूत्र और पुरीष के रूप में ही परिणत होता रहता है। शरीर के इतर धातुओं की वैसी पुष्टि नहीं होती। इस पुरीष का जो प्राकृत उपष्टम्भ नाम शरीर के धारण का कर्म होता है उसी से पुरुष का जीवन टिका रहता है। अतः राजयक्ष्मी के पुरीष की विशेष रक्षा करनी चाहिए। अन्य कारणों से जो पुरुष अति कृश और दुर्बल हो उनके पुरीष की रक्षा पर भी इन्हीं कारणों से लक्ष्य देना चाहिए।

स्रोतों के दोषकृत अवरोध से मूत्र-पुरीष की सविशेष पुष्टि का स्वरूप यह होता है।--पाचक-पित्तवह स्रोतों का मुख अवरुद्ध होने से उनका सप्रमाण

वहन और ग्रहणी में प्रवेश नहीं होता, जिससे अन्नपान का यथावत् पचन नहीं होता। पक्व होकर अन्नपान का जितना अन्नरस बनता है उसका भी सम्यक् ग्रहण अन्नरसवह स्रोतों से होता नहीं। परिणामतया, पूर्वोक्त अपक्व तथा यह पक्व अन्नपान यथाक्रम पक्वाशय में पहुँचा दिया जाता है। इसके क्लेद भाग से मूत्र की तथा घनभाग से पुरीष की पुष्टि विशेष प्रमाण में होती है यह समझा जा सकता है।

शोषी (यक्ष्मी) तथा अन्य कृशों और दुर्बलों के पुरीष की रक्षा का तात्पर्य यह होता है कि इन्हें यदि अतिसार हो जाए तो उसके स्तम्भन पर ही ध्यान देना चाहिए--अतिसार के सामान्य नियम को दृष्टि में रख उपेक्षा (सरण होते रहने देना, जिससे दोषों की स्वयं प्रवृत्ति होकर समता हो जाए) किंवा प्रवर्तन (सर औषध देकर दोषों का शीघ्र निर्हरण) इत्यादि उपचारों का अवलम्बन न करना चाहिए।

इन पुरुषों को विरेचन देते हुए भी विचार करना चाहिए। प्रश्न-परीक्षा में यह भी पृच्छा प्रत्येक रोगी से करनी चाहिए कि अतिसार किंवा विरेचन की अथवा सामान्य नैत्यक मलप्रवृत्ति की भी उनपर क्या क्रिया होती है। कई रोगी ऐसे मिलेंगे जिन्हें मलप्रवृति आदि के पश्चात् दुर्बलता का अनुभव होता है। तदनुसार औषधोपचार में योजना-भेद करना चाहिए।

वैद्यविदग्ध (वैद्यमानी, वैद्यंमन्य)--अपने को वैद्य समझनेवाला पुरुष वैद्य के निर्देशानुसार औषध-सेवन, पथ्य-पालन तथा अपथ्य-परिवर्जन नहीं करता। इतना ही नहीं, कई बार तो ऐसे व्यक्ति समाज में वैद्य के विरुद्ध प्रचार भी करते हैं। ऊपर कहे तथा आगे कहे जानेवाले दुश्चिकित्स्यों में अन्यों की चिकित्सा हाथ में ले या न लें इन वैद्यंमन्यों को तो दूर से ही छोड़ देना चाहिए। अपयश के सिवाय इनकी चिकित्सा का कोई परिणाम नहीं होता। अतएव प्रायः यशस्वी चिकित्सक भूल से या एक वार भी अपथ्यसेवी या अनिर्देशकारी रोगी को तिरस्कार-पूर्वक औषधालय से निकाल देते हैं। निन्दक।

व्याधिगोपक--लज्जा आदि कारणों से व्याधि के लक्षणों को छुपानेवाले या मिथ्या वृत्तान्त देने वाले रोगियों की परीक्षा में तथा तदनुसार चिकित्सा में भूल होना सर्वथा संभव होता है। आधुनिकों ने मानस रोगों के विचार में ऐसे रोगियों का उल्लेख किया है जो जान-बूझकर (यथा नौकरी से छुट्टी लेने आदि के प्रयोजन से) या अज्ञानतः रोग के लक्षणों का निर्देश करते हैं। अज्ञानतः अपने शरीर में रोगी के लक्षणों का अनुभव (मेलिंगरिंग या फीलिंग) करनेवाले इन व्यक्तियों के आन्तर मन में छपी अव्यक्त इच्छाएँ इन लक्षणों के रूप में व्यक्त होती हैं। ऐसे रोगों का वर्णन 'हिस्टीरिआ' नाम से आधुनिकों ने किया है।

स्वजन-परिजन की अनुकम्पा (समवेदना, सहानुभूति) आकृष्ट करने की निगूढ़ इच्छा से व्यक्त मन की प्रेरणा के बिना भी आन्तर मन की अव्यक्त प्रेरणा उनमें इन लक्षणों को प्रादुर्भूत कराती है। निगूढ़ इच्छाएँ पुरुष-मात्र के मन में इस प्रकार लक्षणों की अभिव्यक्ति नहीं करातीं, किन्तु सत्त्वहीन (दुर्बल मनवाले) पुरुषों के मन ही इस प्रकार आक्रान्त होते हैं। इनकी विशिष्ट मानस प्रकृति को 'हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट' नाम दिया है। हिस्टेरिआ नाम से प्रसिद्ध रोग इस रोग-वर्ग का एक रोगमात्र है। दुनिया का कोई भी रोग, जिसका रोगी को ज्ञान हो, इस प्रकार रोगी में प्रकट हो सकता है। इस वर्ग का विचार आगे यथाप्रकरण किया ही जाएगा।

किसी भी कारण रोग के लक्षणों की परीक्षा यथावत् न हो तो रोग दुश्चिकित्स्य होता है। तथाहि--

मिथ्या दृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

सु० सू० १०।७

जिन रोगों की प्रत्यक्षादि परीक्षा सम्यक् न हुई हो, रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन ने जिनका वृत्त यथावत् न दिया हो तथा जिनका विचार सम्यक् न किया गया हो ऐसे रोग चिकित्सक को विमार्ग पर डाल देते हैं। अतः--एवमविज्ञाता ये रोगास्तान् परिवर्जयेत्--डल्हन--इन तथा अन्य कारणों से जिन रोगों का ज्ञान (परीक्षा) समीचीन न हो उन्हें अपयश दिलाने वाले समझ कर छोड़ दे।

सत्त्वसार पुरुष अपने मनोबल के कारण रोग की व्यथा को हावभाव से किंवा भाषण द्वारा भी व्यक्त नहीं करते। इससे उनके रोग का गाम्भीर्य पूर्ण अवगत नहीं होता। परिणामतया, चिकित्सा यथावत् नहीं होती। व्याधि-गोपक के प्रसंग में उन्हें भी स्मरण किया जा सकता है।

दरिद्र या हीनोपकरण--अर्थकृच्छ्र के कारण जो रोगी औषध, आहार, साधन, देशत्याग (स्थल-परिवर्तन) आदि की व्यवस्था न कर सके उसका रोग कैसे साध्य होगा, यह समझा जा सकता है। तथापि, देखते हैं कई कृपालु चिकित्सक ऐसे पुरुषों से न केवल शुल्क नहीं लेते अपनी ओर से पथ्यादि के लिए पैसे भी देते हैं।

कृपण--धन के लोभ से धन होते हुए भी कई रोगी अपने रोग के लिए द्रव्यव्यय नहीं करते, सो तो ठीक; स्वस्थ होने पर भी चिकित्सक को उसकी दक्षिणा नहीं देते। ऐसे स्वार्थी रोगी की कोई भी चिकित्सक चिकित्सा करना पसंद नहीं करता, यह लोक-व्यवहार प्रत्यक्ष है।

क्रोधशील (चण्ड)--क्रोध स्वयं रोग की वृद्धि का साक्षात् कारण है। इससे मानस दोष कुपित हो मनपर तथा शरीर पर विक्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त क्रोधी पुरुष क्रोध के आवेश में पथ्य का परित्याग एवं अपथ्य का सेवन कर सकता है। इससे भी बढ़कर ऐसे पुरुष कई बार अन्य रोगियों की उपस्थिति में चिकित्सक के विरुद्ध बात कर बैठते हैं जिससे उसका अपयश प्रसृत होता है। कभी ये पुरुष क्रोधावेशवश चिकित्सक का अपकार भी कर सकते हैं। ऊपर कहे हीनसत्त्व (भीरु) पुरुष भी कभी मनोदौर्बल्यवश अपनी व्यथा बढ़ा-चढ़ाकर अन्य रोगियों की विद्यमानता में चिकित्सक को कहते हैं। इससे भी चिकित्सक के विषय में बुरी छाप पड़ने से उसके व्यवसाय की हानि होती है। ऐसे रोगियों में वात की प्रबलता होती है। वात के प्राबल्य से जैसे धातुओं का क्षय होता है वैसे मन तथा उसके अधिष्ठानभूत हृदय का भी क्षय होता है। परिणामतया, वह दुर्बल हो जाता है--सदसद्विवेक नहीं कर पाता। आधुनिकों ने पक्वाशय की विकृति से होनेवाले ऐसे मनोदौर्बल्य का उल्लेख किया है तथा इसे 'कोलन न्यूरॉसिस' नाम दिया है। यह आयुर्वेद-मत से उपर्युक्त संप्राप्ति से विलक्षण साम्य रखता है।

अनात्मवान् (अजितेन्द्रिय)--ये पुरुष अपथ्याचरण करने वाले होने से इनका रोग सुसाध्य नहीं होता।

अनाथ--अनाथ का अर्थ है एकाकी पुरुष। इनका कोई परिचारक न होने से इनका साध्य भी रोग दुःसाध्य होता है; अपरिचारक।

अविधेय--किसी भी कारणवश वैद्य के निर्देश को न पालनेवाला। इसको हुए रोग की कष्टसाध्यता सुव्यक्त ही है।

व्यग्र--व्यग्र या कार्यान्तरासक्त जैसे जनसेवा, विशिष्ट प्रकार की नौकरी या कुछ काल के लिए आ पड़े विवाह इत्यादि कार्यों में निरत पुरुष अपने स्वास्थ्य के संरक्षण पर ध्यान न दे सकने से उनका रोग दुःसाध्य होता है। व्यवसाय में ऐसे पुरुष प्रायः उपलब्ध होते हैं।

गतायु--ज्योतिष के अनुसार किंवा अरिष्ट लक्षणों की उत्पत्ति के कारण जिसकी आयु पूर्ण होने का ज्ञान हो गया है, ऐसे पुरुष में सुसाध्यता के अन्य लक्षण होने पर भी ग्रहों के बल के कारण रोग दुःसाध्य या असाध्य होता है। दूसरी ओर ग्रह अनुकूल हों तो अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न होने पर भी ऐसे रोगी साध्य होते देखे जाते हैं।

शोकातुर--स्त्री-विरह, धनक्षय आदि कारणों से जो शोक-ग्रस्त हो उसके रोग कष्टसाध्य होते हैं। इस विषय में चरक के वचन प्रसिद्ध हैं--विषादो रोगवर्धनानाम्, हर्षः प्रीणनानाम्, शोकः शोषणानाम्, निवृत्तिः

पुष्टिकराणाम्--च० सू० २५।४०--विषाद (मनोभङ्ग) रोगों की वृद्धि करनेवाले कारणों में, हर्ष शरीर के तर्पण के हेतुओं में, शोक धातुओं तथा शरीर को शुष्क करने वाले भावों में एवं निवृत्ति (निःस्पृहता) पुष्टिकारक हेतुओं में सर्वोपरि हैं।

कृतघ्न--उपकार को न स्मरण करनेवाले पुरुष का उपचार करने की वृत्ति चिकित्सक में होना दुर्लभ है। अतः इनके रोग सुसाध्य नहीं होते।

अत्यन्त अधार्मिक---

अपने शत्रु, राजा (शासक) के द्वेषपात्र एवं राजा के द्वेषी--इनके रोग का उपचार भी अपने हाथ में लेना श्रेयस्कर नहीं होता।

इनके रोग दुःसाध्य होते हैं; यही यहाँ अभिप्रेत है। ऐसे व्यक्तियों की चिकित्सा करनी ही हो तो सर्व परिस्थिति अपने ध्यान में रखकर तदनुकूल मार्ग निश्चित करना चाहिए।

सदाऽतुर पुरुष---

कौन-सा व्यवसाय करनेवाले पुरुष सदैव रोगी रहते हैं एवं उनके सदा रोगी रहने का कारण क्या है इस विषय के विवेचन में तन्त्रकार ने जो सत्य प्रस्तुत किए हैं वे चिकित्सा-व्यवसाय में अत्यन्त स्मरणीय हैं एवं रोगों की दुःसाध्यता के उल्लिखित कारणों पर उत्तम प्रकाश डालते हैं। देखिए :---

अथाग्निवेशः सततातुरान्नरान् हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च।
सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः॥

च० सि० १२।२७

अग्निवेश ने गुरु से पूछा--कौन पुरुष सदा रोगी रहते हैं? गुरु ने उत्तर दिया--श्रोत्रिय (वेदपाठी, कथावाचक विप्र), राजसेवक (सरकारी अधिकारी), वेश्या तथा वैश्य।

इनके सदाऽतुर (नित्य रोगी) रहने के कारण बताते हुए गुरु आगे कहते हैं—

द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधात् बहुचिन्तनाद्भयात्॥
नृचित्तवर्त्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना।
सदाऽसनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः॥
सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम्।
अकालनिर्हारविहारसेवितो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते॥

च० सि० १२।२८-३०

ये सबके सब उपस्थित वेग का निग्रह करते हैं तथा यथाकाल भोजन नहीं करते। विशेष में, द्विज (ब्राह्मण) वेदाध्ययन, व्रत, आह्निक (दैनिक पूजा-

पाठ) क्रिया आदि के कारण अपने शरीर के हित की चेष्टा नहीं करते। राज-सेवक (अन्य भी सेवक पुरुष) राजा (अधिकारी) के चित्त की रक्षा करते रहने से--उसे बुरा न लग जाए इसी बात की चिन्ता और तदनुकूल प्रयास करते रहने के कारण, अन्य भी सहयोगियों अथवा कार्य के लिए आए पुरुषों की अनुकूलता-प्रतिकूलता का ध्यान रखने के कारण एवं अति चिन्ता तथा भय के कारण अपने शरीर का विचार नहीं करते। वाराङ्गना (वेश्या) भी राजा या अन्य ग्राहक के चित्त का अनुवर्तन करती हुई, अन्य पुरुषों की भी परिचर्या में लीन रहती हुई तथा शुद्धि (समय-असमय पर और अति मात्रा में स्नानादि) एवं वस्त्रालंकार में तत्पर रहती हुई शरीर के हित का ध्यान नहीं रखती। पण्यजीवी (वैश्य) भी सदासन (सदा बैठकर कार्य करने--सीडेन्टरी हेबिट) के कारण और निरन्तर होनेवाले क्रय-विक्रय के लोभ के कारण उपस्थित वेग का अवरोध करते हैं तथा यथाकाल (क्षुधा का उदय होने पर एवं नियत समय पर) भोजन नहीं करते।

इन लोकों की ही बात नहीं, अन्य भी जो पुरुष असमय पर (वेग उपस्थित हो तब नहीं) मल-विसर्जन, विहार और आहार के सेवन के स्वभाव वाले हों, वे भी इसी प्रकार सदा रोगी रहते हैं।

स्वभावतः दुश्चिकित्स्य आठ महारोग--

असाध्य रोग तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं--लिङ्गासाध्य, उपद्रवासाध्य तथा रिष्टासाध्य। स्वभाव से असाध्य त्रिदोषज विसर्प प्रभृति रोगों में देखे जानेवाले उत्पत्ति-सिद्ध लक्षणों से ही जिनकी असाध्यता जानी जाती है उन्हें लिङ्गासाध्य कहते हैं। (लिङ्ग=लक्षण)। तत्-तत् रोग में तत्तत् उपद्रव होने से जो रोग असाध्य कोटि में पहुँच जाते हैं उन्हें उपद्रवासाध्य कहते हैं। रिष्ट या अरिष्ट (निश्चित मृत्यु-सूचक) लक्षण उत्पन्न होने पर रोगमात्र असाध्य हो जाता है। उसे रिष्टासाध्य कहते हैं।--त्रिप्रकारा व्याधीनामसाध्यता-लिङ्गविशेषयोगात्, उपद्रवविशेषयोगात्, रिष्टविशेषयोगाच्च। तत्र लिङ्गासाध्यता स्वभावासाध्यानां त्रिदोषविसर्पादीनाम् उत्पत्तिसिद्धलिङ्गैरेवासाध्यता। × × रिष्टासाध्यता उपद्रवासाध्यता। × × सु० सू० ३३।४-५ पर चक्रपाणि।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यसाध्यताम्।
रसायनाद् विना वत्स ताञ्छृणवेकमना मम॥

सु० सू० ३३।३

कतिपय रोग हैं जो स्वभाव से ही दुःसाध्य होते हैं। इनमें आगे कहे सामान्य तथा विशेष उपद्रव उत्पन्न हो जाएँ तो ये असाध्य कक्षा में पहुँच जाते

हैं। अवश्य ही, रसायन उपचारों से ये असाध्य व्याधि भी साध्य होते हैं—
रसायनेन ह्यसाध्यो व्याधिरपि प्रायः साध्यते—उक्त स्थल पर डल्हन।

वातव्याधिः[1] प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्॥
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः॥

सु० सू० ३३।४-५

पक्षाघात, अपतानक (धनुःस्तम्भ) आदि महावातव्याधि, प्रमेह (मूत्र-विकार), कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्त विकार), अर्श, भगन्दर, अश्मरी (पथरी) मूढ़गर्भ तथा उदर—ये आठ स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य महारोग हैं। महागदा इति मारणात्मकत्वादसाध्यत्वाच्च महत्त्वमेषामिति—डल्हन। ये मारक स्वभाववाले तथा असाध्य होते हैं, अतः इन्हें महागद (महारोग) कहा गया है।

इन महारोगों में देखे जानेवाले सामान्य तथा प्रतिरोग में विशेष उपद्रव हैं। उपद्रव प्रादुर्भूत हो जाने पर ये रोग दुःसाध्य से असाध्य हो जाते हैं। विशेष उपद्रवों का उल्लेख तत्तत् रोग के अधिकार में करेंगे। यहाँ सामान्य उपद्रवों का उल्लेख करते हैं। उपद्रव का लक्षण इसी अध्याय में अनपद किया जाएगा।

प्राणमांसक्षयः[2] शोषस्तृष्णाच्छर्दिर्ज्वरस्तथा।
अतीसारश्च मूर्च्छा च हिक्का श्वासस्तथैव च॥
एतैरुपद्रवैर्जुष्टान् सर्वानेव विवर्जयेत्॥

सु० सू० ३३।५-६

अर्थात्—उत्साह तथा धातुओं का क्षय, शोष (शुष्कता), तृष्णा (उदक-क्षय), वमन, ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा (कोमा), हिक्का तथा श्वास—ये उक्त आठ महागदों के सर्वसामान्य उपद्रव हैं। इनमें किसी भी रोग में ये उपद्रव उत्पन्न हो जाएँ तो वह रोग असाध्य तथा प्रत्याख्येय हो जाता है। सामान्य

१—**वातव्याधिरत्र महावातव्याधिरभिप्रेतो महच्छब्दलोपात्—डल्हन।** सुश्रुत ने वातरोगों के वातव्याधि और महावातव्याधि ये दो भेद कर दोनों की चिकित्सा पृथक् अध्यायों में—क्रमशः चिकित्सास्थान के चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में दी है। पंचम अध्याय—नाम्ना महावातव्याधिचिकित्सताध्याय में—वातरक्त, अपतानक, पक्षाघात, मन्यास्तम्भ, अपतन्त्रक, अर्दित इत्यादि का उल्लेख हुआ है।

२—**प्राणमांसक्षय उत्साहोपचयक्षय इत्यर्थः—**डल्हन। धातुक्षय कृशता तथा भार में न्यून्यता से गम्य होता है।

इन उपद्रवों के अतिरिक्त प्रत्येक रोग के पृथक् उपद्रव भी हैं। इनका निर्देश प्रत्येक के प्रकरण में होगा।

असाध्य व्याधियों की साध्यता ?–एक विचार––

असाध्य व्याधियों के लिए आयुर्वेद का सिद्धान्त है––नासाध्यः साध्यतां याति––च० नि० ८।३५––जिस रोग को असाध्य कहा गया है वह असाध्य ही रहता है––साध्य हो ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है––असाध्य रोगों का एक ही भेद होता है––असाध्य; उनके अन्य भेद (विकल्प) हो ही नहीं सकते––न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना––च० सू० १०।१०। और इसी कारण चिकित्सा भी साध्य रोगों की ही शास्त्र में उपदिष्ट है, असाध्य रोगों की नहीं-साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते। परन्तु संभव है, स्वशास्त्र या परशास्त्र में कालक्रम से प्रगति होने से असाध्यतया निर्दिष्ट रोग साध्य भी हो जाएँ। वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने अपने 'आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान' के पूर्वार्ध में लिखा है––

'असाध्य माने गए रोग सर्वदा (अनंत समय) के लिए असाध्य नहीं रहते हैं; उनकी चिकित्सा आविष्कृत होने पर वे साध्य हो जाते हैं। जैसे––सुश्रुत ने फलकोष (अण्डकोष) में प्राप्त अन्त्रवृद्धि (हर्निया) को असाध्य बताया है[1] परन्तु आजकल यह रोग शस्त्र-क्रिया से अच्छा किया जाता है (पृ० १३)।'

वैद्यों को इसका विचार करना चाहिए। अन्य भी रोगों को इस प्रकरण में उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। साध्य रोग भी इसी प्रकार साध्यतर हो जाते हैं, यह भी ध्यान में रखना चाहिए।

अनुबन्ध्य-अनुबन्ध (स्वतन्त्र-परतन्त्र अथवा उपद्रव तथा प्रधान रोग)[2]

उपद्रव कॉम्प्लीकेशन का पर्याय नहीं––

चिकित्सा की दृष्टि से इस वर्ग का जानना आवश्यक है। प्रकरण आरम्भ

१––देखिये––सु० नि० १२।६; माधव निदान (वृद्धिनिदान) और उस पर मधुकोष; अ० सं० सू० २२; अ० हृ० नि० ११।२१-३१ तथा उस पर अरुण और तोडर-टीका।

२––**स्थल**––च० वि० ६।८-११, च० चि० २१।४०, च० सू० १९।७ तथा इन पर चक्रपाणि; सु० सू० ३५।१८ तथा डल्हन; अ० हृ० सू० १२। ५९-६३।

करने के पूर्व एक भ्रान्ति का निरसन कर देना उचित प्रतीत होता है। प्रायः समझा जाता है कि इस वर्गीकरण में वर्णित उपद्रव-नामक रोगवर्ग आधुनिकों का 'कॉम्प्लीकेशन' है। परन्तु उपद्रव और कॉम्प्लीकेशन में भेद है।

एक रोग की विद्यमानता में अन्य रोग हो जाए इसे आधुनिकों ने कॉम्प्लीकेशन कहा है। इसमें पूर्व और पर दोनों रोगों में परस्पर साक्षात् संबन्ध होना आवश्यक नहीं। जैसे टायफॉयड हो तब या उसकी शान्ति के पश्चात् मैलेरिया या न्यूमोनिया हो जाना परवर्ती रोग का कॉम्प्लीकेशन कहा जाता है। इसे प्राचीनों ने संकर कहा है। संकर (सांकर्य) का अर्थ तथा उदाहरण पहले बताया जा चुका है।

आधुनिकों के 'सेकंडरी इन्फेक्शन' एवं 'टर्मिनल इन्फेक्शन' की भी गणना प्राचीनों के संकर में की जा सकती है। एक रोगजनक जीवाणु द्वारा उत्पन्न किए रोग के अनन्तर अन्य कोई जीवाणु भी शरीर में रोग उत्पन्न कर दे तो इसे सेकंडरी इन्फेक्शन कहते हैं। यथा——श्लीपद-जनक जन्तुओं के अण्डों तथा बच्चों ने रसवाहिनियों में अवरोध उत्पन्न किया हो तो पूयजनक जीवाणु वहाँ स्थान-संश्रय कर विद्रधि (फायलेरिअल एब्सेस) उत्पन्न करते हैं। इसे सेकंडरी इन्फेक्शन कहते हैं।

टर्मिनल इन्फेक्शन में शरीर किसी क्षयकारी रोग से जीर्ण-शीर्ण और अक्षम (रोग-प्रतीकार शून्य) हो चुका हो और किसी घातक रोग के जीवाणु रोग उत्पन्न कर प्रतिकारहीन शरीर को शीघ्र मृत्यु-वश कर देते हैं। इस प्रकार मधुमेह किंवा सिरोसिस ऑफ ध लिवर से आक्रान्त पुरुष कॉकस नामक जीवाणुओं एवं यक्ष्माणुओं के लिए सुगम्य होता है।

उपद्रव और पूर्वतर रोग में परस्पर संबन्ध होता है। वह यह कि पूर्व रोग की उत्पत्ति के जो कारण (निदान) होते हैं उन्हीं से उपद्रव भी उत्पन्न होता है और प्रायः पूर्व (मुख्य, प्रधान) रोग की चिकित्सा करने से शान्त भी हो जाता है। इतने संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अब इस वर्ग के रोगों का शास्त्रशुद्ध स्वरूप देखिए।

दोषों और रोगों का परस्परानुबन्ध——

शारीरदोषाणामेकाधिष्ठानीयानां संनिपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्। दोषा हि दूषणैः समानाः॥ च० वि० ६।१०

शारीर आदि रोगों के प्रकरण में उनके परस्पर अनुबन्ध का निर्देश करते कहा गया था कि——शारीर दोष वात, पित्त और कफ एक ही अधिष्ठान शरीर

में सहवास करते हैं। इन शारीर दोषों के प्रकुपित करनेवाले कारणों की क्रिया भी तीनों दोषों पर स्वभावतः होती है। दूसरी ओर--

हम जानते हैं कि दोषों में जो शास्त्रोक्त गुण होते हैं उनमें कुछ परस्पर-विरुद्ध होते हैं और कुछ परस्पर समान। दोषों के गुण परस्पर-विरुद्ध एवं परस्पर-समान होने के परिणाम स्मरणीय होते हैं। परस्पर-विरुद्ध गुणों के कारण दोष एक दूसरे को प्रकुपित नहीं होने देते। यथा, कफ में गुरु, पिच्छिल आदि गुण हैं तो वायु में लघु, विशद आदि। इन परस्पर-विरुद्ध गुणों के कारण कफ वायु को और वायु कफ को कुपित नहीं होने देता--समावस्था में रखता है। इसी प्रकार पित्त अपने उष्ण गुण से शीतगुण कफ और वायु को और कफ तथा वायु अपने शीत गुण से पित्त को कुपित नहीं होने देते। शारीर और मानस दोषों के परस्पर-विरुद्ध अन्य गुणों की यह शरीरानुग्रहकारिणी क्रिया इसी प्रकार समझी जा सकती है।

दोषों के परस्पर-सदृश गुणों का परिणाम उनसे होनेवाले रोगों की सहोत्पत्ति के रूप में देखा जाता है। दोषों को प्रकुपित करनेवाले कारण दोषों के विभिन्न गुणों की वृद्धि करते हैं। यह और बात है कि कोई प्रकोपक कारण किसी दोष के संपूर्ण गुणों को प्रकुपित करता है और कोई एक, दो या अधिक गुणों को प्रकुपित करता है। दोष-विशेष के प्रकुपित हुए गुण अन्य दोषों के समान होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए दोष के साथ समान गुणवाले अन्य दोष का भी प्रकोप होता है। अवश्य ही, प्रकोपक कारण में जिस दोष के स्व-सदृश गुणों को प्रकुपित करने का स्वभाव विशेष होगा उसका कोप अधिक प्रमाण में होगा; और जिस दोष के गुणों के साथ प्रकोपक कारण का साम्य न्यून होगा उसका प्रकोप उसी प्रमाण में न्यून होगा। इस प्रकार--

एक ही अधिष्ठान शरीर में सह-वास के कारण एवं प्रकोपक कारणों द्वारा दोषों के समान गुणों का प्रकोप होने के कारण दो या तीनों दोषों का प्रकोप होता है तथा दो या तीनों दोषों के प्रकोप से होनेवाले रोग एक ही काल में प्रादुर्भूत हुए देखे जाते हैं। दो दोषों के रोग इस प्रकार एक साथ एक ही शरीर में हों तो इसे उनका संसर्ग कहा जाता है तथा तीन दोषों से हुए रोगों के समवाय को संनिपात कहते हैं।

संसर्ग या संन्निपातसे हुए रोग कभी एक साथ उत्पन्न होते हैं और कभी आगे पीछे।

संसर्ग और संनिपात की व्याख्या--

गुण-साम्य से प्रकोपक कारणों द्वारा एकाधिक दोषों के प्रकोप की व्याख्या करता चक्रपाणि उक्त वचन की टीका में कहता है--

समानगुणत्वादिति हेतुं विवृणोति--दोषा हीत्यादि। दूषणैरिति हेतुभिः। प्रायो हि शारीराणां वातादीनां समान एव हेतुर्भवति। यथा ह्यम्लं लवणं कटु च पित्तकरम्। तत्राम्लं सकफं पित्तं करोति, लवणं च सपित्तं कफं करोति, कटु तु सवातं पित्तं करोति। तथा--

वसंतः श्लेष्मकारकोऽप्यादानत्वेन वातपित्ते च करोति। वर्षास्वपि पित्तं चीयमानं शरदि प्रकुप्य कफानुगतमेव कुप्यति। तथा ग्रीष्मो वातचयं रूक्षत्वेन कुर्वन् उष्णत्वेन मनाक् पित्तचयमपि करोतीत्यनुसरणीयम् ॥

दोषों के प्रकोपक कारणों और एकाधिक दोषों के गुण परस्पर समान होने से एक ही काल में एक से अधिक दोषों के प्रकोप को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।--अम्ल, लवण और कटु ये तीन रस पित्त-प्रकोपक हैं यह विदित है। इनमें अम्ल-रस गुण-साम्यवश पित्त के साथ कफ को भी प्रकुपित करता है; इसी भाँति लवण रस कफ के साथ पित्त को और कटु रस पित्त के साथ वात को भी प्रकुपित करता है।

समान द्रव्यों से समान दोषों के युगपत् (एक साथ) प्रकोप का उदाहरण देकर अब समान-गुण काल के कारण एकाधिक दोष के प्रकोप को उदाहरण द्वारा विशद किया जाता है।--वसन्त ऋतु श्लेष्म-प्रकोपक रूप में प्रसिद्ध है। परन्तु यह ऋतु आदान (धातुक्षयकारी) होने के कारण रूक्ष-लघु आदि गुणों वाले वात और अल्प स्नेह, लघु आदि गुणयुक्त पित्त को भी प्रकुपित करती है। एवम् वर्षाकाल में पित्त का संचय होकर शरत्काल में प्रकोप (पैत्तिक रोगों के प्रादुर्भाव के रूप में) होता है; परन्तु साथ ही कफ का भी अनुबन्ध होता है। कारण, वर्षा ऋतु में स्वस्थवृत्तोक्त तत्तत्कारणवश अन्नपान का विदाह नाम अम्लपाक होता है--अन्नपान का जरण यथावत् न होकर शुक्त-सदृश विभिन्न अम्ल द्रव्यों में परिणति होती है। विदग्धाजीर्णवश उत्पन्न हुए ये अम्ल द्रव्य उसी प्रकार शरीर में कफ को प्रकुपित करते हैं, जैसे प्रकृत्या अम्ल रसों का सेवन करने से कफ का प्रकोप हुआ करता है। इस प्रकार, शरत्काल में प्रधानतया प्रकुपित पित्त के साथ अनुबन्ध रूप में कफ का भी प्रकोप स्वभावतः होता है। इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में ऋतु की रूक्षता से वायु का संचय शरीर में होता है तो उसके उष्णत्व से यत्किंचित् पित्त का भी प्रकोप होता है। अन्य उदाहरणों की कल्पना इसी प्रकार कर लेनी चाहिए।

स्वतन्त्र और परतन्त्र किंवा अनुबन्ध्य और अनुबन्ध दोष--

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्धः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः[1] ॥ च० वि० ६।११

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि, प्रकोपक द्रव्य, देश या काल से एकाधिक दोष का प्रकोप संभावित होने पर भी प्रधानतया प्रकुपित होनेवाले एक-एक ही दोष का उल्लेख तन्त्रकारों ने किया है। एवं, चिकित्सा भी इस प्रधानतया प्रकुपित हुए दोष को लक्ष्य में रखकर ही बताई गई है। इस प्रकार--

जिस दोष का शास्त्र में निर्दिष्ट अपने प्रकोपक कारणों से प्रकोप हुआ हो तथा शास्त्र में अपने प्रशमनार्थ निर्दिष्ट उपचारों से ही जिसका प्रशमन हो; जिसके प्रकोप के लक्षण व्यक्त हों--संख्या और बल अधिक होने के कारण सुस्पष्ट हों, जिन्हें देखने से सुगमता से जाना जा सके कि ये लक्षण इस दोष के हैं; अतएव जो स्वतन्त्र हो--अपने शास्त्रनिर्दिष्ट प्रकोपकाल में रोग को उत्पन्न करने में प्रधानतया भाग ले उसे अनुबन्ध्य या स्वतन्त्र (प्रधान) दोष कहते हैं। इसके विपरीत--

प्रकोपक हेतु (द्रव्य, देश, काल) प्रधानतया अपने प्रकोपक न होने के कारण जिस दोष का प्रकोप विशष प्रमाण में न हो, अतएव संख्या और बल स्वल्प होने के कारण जिसके लक्षण व्यक्त (स्पष्ट) न हों--अर्थात् जिनको देखकर यह सुगमता से कहा न जा सके कि ये लक्षण इस दोष के प्रकोप के हैं; एवं शास्त्र में निर्दिष्ट प्रकोपक तथा प्रशमन कारणों से जिसका प्रकोप और प्रशमन न हुआ हो, किन्तु पूर्वलिखित स्वतन्त्र दोष के प्रकोपक कारणों से ही गौण रूप में (आनुषङ्गिक रूप म) जिसका प्रकोप हुआ हो और उस प्रधान दोष को दृष्टि में रखकर की गयी चिकित्सा से ही जिसका शमन प्रायशः हो जाए; अतएव प्रकोप और चिकित्सा दोनों में स्वतन्त्र दोष के अधीन होने के कारण जो पराधीन हो--उस दोष को अनुबन्ध, परतन्त्र या अप्रधान कहा जाता है।

जैसे, शरद् ऋतु में पित्त के प्रकोप का ही होना शास्त्र में लिखा और समझाया गया है और उसी के उपचार का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु वर्षाकाल में हुआ जो अम्ल पाक शरद् ऋतु में पित्त के प्रकोप का हेतु है वह कफ को भी यत्किचित् उत्पन्न करता है। एवं, पित्त के शमन की जो चिकित्सा तिक्त घृत आदि के

१--संग्रहकार ने सू० २२ में अनुबन्ध्य और अनुबन्ध शब्द प्रधान और अप्रधान रोगों के लिए भी प्रयुक्त किए हैं। च० सू० १९।७ में आए इन शब्दों की भी एक व्याख्या चक्रपाणि ने यही की है।

रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट हुई है उसी के सेवन से तिक्त रस कफ-प्रत्यनीक होने से कफ का भी प्रशमन होता है। इस उदाहरण में पित्त प्रधान या अनुबन्ध्य तथा कफ अनुबन्धी, अप्रधान या परतन्त्र दोष कहा जाता है।

आगे निदान-प्रकरण में हम देखेंगे कि पञ्च निदानों में एक संप्राप्ति का एक अङ्ग प्राधान्य भी है। इसकी परीक्षा म कुपित दोषों में कौन प्रधान है तथा कौन अप्रधान इस बात की गवेषणा की जाती है। पुनः, कुपित सभी दोषों एवं उनके प्रकोप को प्राप्त गुणों (अंशों) में भी प्रकोप का तरतमभाव (डिग्री) देखा जाता है। यह विषय आगे संप्राप्ति में आएगा ही।

अनुबन्ध्य और अनुबन्ध दोषों के तरतमभाव के समान इन द्विविध दोषों से उत्पन्न अनुबन्ध्य और अनुबन्ध रोगों के भी प्राधान्य-अप्राधान्य एवं तरतम-भाव का विचार चिकित्सा के वैशद्य और वैशारद्य की दृष्टि से किया जाना आयुर्वेद में आवश्यक माना गया है। चरकाचार्य कहते हैं--

तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्।
बुद्ध्वा ततः कर्म समारभेत॥

च० सू० १९।७

यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ मूल या प्रधानभूत दोष किंवा रोग (अनुबन्ध्य) है।

प्रधान तथा अप्रधान व्याधि (उपद्रव)--

अनुबन्ध्य और अनुबन्ध[1] दोषों का विचार कर अब इन द्विविध दोषों से उत्पन्न द्विविध या त्रिविध रोग-वर्ग का विचार क्रमप्राप्त होने से प्रस्तुत किया जाता है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट तीनों ने प्रधान-अप्रधान भेद से होनेवाले इस वर्गीकरण में रोगों के नामों तथा संख्या में कुछ भेद रखा है। सबका समन्वय कर नीचे इस वर्ग का निर्देश करेंगे।--

तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत-किमयमौपसर्गिकः, प्राक्केवलोऽन्यलक्षण इति॥

सु० सू० ३५।१८

किसी भी रोग की परीक्षा करते हुए देखना चाहिए कि अधोलिखित वर्ग के किस भेद में उसकी गणना हो सकती है--अर्थात् प्रस्तुत रोग औपसर्गिक है, प्राक्केवल है या अन्यलक्षण है?

१--स्मरण रहे तन्त्र में अनुबन्ध का अर्थ शुभ या अशुभ आय भी होता है। देखिए : च० सू० १।४२, च० वि० ८।७४, ९१ तथा इन स्थलों पर चक्रपाणि-टीका।

औपसर्गिक या उपद्रव का लक्षण--सुश्रुत ने जिसे औपसर्गिक रोग[1] कहा है उसी को चरक तथा वाग्भट ने और स्वयं सुश्रुत ने भी इसी प्रकरण में उपद्रव कहा है। औपसर्गिक या उपद्रव का लक्षण यह है--

तत्रौपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः ॥ सु० सू० ३५।१८

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः ॥ च० चि० २१।४०

प्रधान या मूल (प्रथम उत्पन्न) रोग की उत्पत्ति के अनन्तर (सामान्यतया) जिसकी उत्पत्ति हो, प्रधान रोग की उत्पत्ति जिस दोष के प्रकोप के कारण हुई हो उसी दोष के प्रकोप से जिसकी भी उत्पत्ति हुई हो (तन्मूल एव सुश्रुत; रोगेण समं तुल्यकारणः-चक्रपाणि) उस अप्रधान रोग को, चाहे वह स्थूल या अणु (छोटा या बड़ा) किसी भी प्रकार का हो, औपसर्गिक या उपद्रव कहा जाता है।

औपसर्गिक शब्द में उप उपसर्ग और गत्यर्थक सृज धातु है। उपद्रव पूर्वोत्पन्न व्याधि के उप=समीप, सृजति=अपने आपको ले जाता है, पूर्व व्याधि से जाकर मिलता है अतः उसे औपसर्गिक नाम दिया गया है। उपद्रव शब्द में भी उप उपसर्ग और गति अर्थ की द्रु धातु है। यह रोग मूल और प्रधान व्याधि के उप=समीप, द्रवति=गमन करता है, अतः इसे उपद्रव कहा जाता है।

मूल व्याधि के पश्चात् हुए (जघन्य-कालजात) रोग को ही उपद्रव कहा जाता है। इस काल-भेद से मूल रोग के साथ उत्पन्न अरुचि आदि रोगों (लक्षणों) का ग्रहण उपद्रव शब्द से नहीं होता। शेष लक्षण--मूल व्याधि के तुल्य कारण तथा चिकित्सा होना--लक्षणों पर भी घटित होता है। वैसे तो उपद्रव रोग-विशेष होता है ऐसा उसके लक्षण में कहा है, और अरुचि आदि लक्षण सामान्यतया रोग नहीं कहाते अतः रोग न होने से ही लक्षणों की भी व्यावृत्ति हो ही जाती --उनका उपद्रवों में ग्रहण न होता। परन्तु कभी-कभी लक्षणों को भी रोग माना जाता है, अतः यह स्पष्टता यहाँ की गयी है।

१--औपसर्गिक शब्द अन्यत्र भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ज्वरादि-रोग-पीड़ित पुरुष के समीप वास से जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें भी औपसर्गिक कहा जाता है। यहाँ उपद्रव के लिए इस संज्ञा का व्यवहार हुआ है। उप उपसर्ग का सामीप्य अर्थ दोनों अर्थों में अभीष्ट है।

अविपाक (अजीर्ण), अरुचि आदि व्यथाएँ सामान्यतया लक्षण नाम से प्रसिद्ध हैं उन्हें कभी-कभी रोग नाम भी दिया जाता है। देखिए :

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः[1] ॥

च० नि० ८।४०

अर्थात् निदान-प्रकरण में विविध रोगों के जो अजीर्ण, अरुचि आदि लिङ्ग (लक्षण) कहे गए हैं वे जब स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न हों तब इन्हें लिङ्ग न कहकर व्याधि ही कहना चाहिए। कारण, व्याधि या रोग उस व्यथा (शिकायत, फरियाद) का नाम है जो स्वतन्त्र हो, अर्थात् शास्त्र में कहे अपने कारणों से जिसकी उत्पत्ति हो तथा शास्त्रोक्त ही अपनी चिकित्सा से जिसका प्रशमन हो जाए। अरुचि, अजीर्ण आदि व्यथाएँ जब ज्वर आदि रोगों के उत्पादक कारणों से, ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हों एवं ज्वर आदि की चिकित्सा करने से जिनकी शान्ति हो जाए तब उन्हें ज्वर आदि रोगों के परतन्त्र होने के कारण लिङ्ग या लक्षण ही कहा जाता है, व्याधि या रोग नहीं।

तात्पर्य, परिस्थिति-विशेष में लक्षण भी रोग-शब्दवाच्य होते हैं—उन्हें भी तब रोग कहा जाता है। उधर, उपद्रव भी रोग-विशेष का ही नाम है। सो रोगत्व, प्रधान रोग के तुल्य कारण एवं तुल्य ही चिकित्सा प्रधान-उपद्रव की इतनी परिभाषा लक्षणों पर भी घटित होती है। परन्तु लक्षण प्रधान रोग के सहोत्पन्न होते हैं और उपद्रव की परिभाषा में उसका जघन्य-कालजात होना निर्दिष्ट है। उपद्रव का यह लक्षण लक्षणों पर घटित न होने से उन्हें उपद्रव नहीं कहा जाता। इसी प्रकार कदाचित् कोई लक्षण प्रधान रोग उत्पन्न होने के कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हों तो उन्हें भी उपद्रव नहीं कहते। कारण, ये लक्षण भी उस रोग के साथ ही सामान्यतया उत्पन्न होते देखे जाते हैं। पश्चात् उत्पत्ति अपवादरूप ही होती है। परन्तु—

लिङ्गान्यपि यदि चिरकालानुबन्धीनि भवन्ति तदा तान्युपद्रवसंज्ञानि भवन्ति ॥ सु० सु० ३५।१८ पर डल्हन

१—ये निदानस्थाने ज्ञानार्थं प्रधानभूतज्वरादिज्ञानार्थं व्याधयः सन्ति, तेऽविपाकारुच्यादयः स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमाना व्याधय एव, व्याधित्वेनैव व्यपदेष्टव्या इत्यर्थः। तदात्वे तु लिङ्गानीति—यदा ज्वरादिपरतन्त्रा जायन्तेऽरुच्यादयः, तदा पारतन्त्र्याल्लिङ्गान्येव ते, नामयाः। आमयो हि स्वतन्त्रः स्वचिकित्साप्रशमनीयो भवतीत्यायुर्वेदस्थितिः; ज्वरलिङ्गरूपास्त्वरुच्यादयो ज्वरचिकित्साप्रशमनीया एवेति भावः॥ चक्रपाणि

लक्षण भी यदि चिरकालानुबन्धी हों--बहुत देर तक रहें तो उन्हें भी उपद्रव कहा जाता है।

इसी प्रकार उपद्रव व्याधि-विशेष होना चाहिए इस परिभाषानुसार रोगों की जो विविध उत्तरकालज अवस्थाएँ होती हैं, जैसे शोथ की व्रणरूपावस्था, उन्हें उपद्रव नहीं कहा जाता। कारण, ये अवस्थाएँ मूल रोग में अवश्यम्भावी होने से मूल व्याधि की अङ्गभूत ही होती हैं। उपद्रव अवश्यम्भावी परिणाम नहीं होता।

उपद्रव उसी रोग को कहा गया है जिसका उत्पादक कारण वही हो जो प्रधान रोग का है। यह तुल्यकारणता न हो तो प्रधान रोग के साथ उत्पन्न अथवा उत्तर-कालोत्पन्न अन्यकारणक रोगों को उपद्रव न कहा जायगा। जैसे पुरुष को गलगण्ड हुआ हो और उत्तरकाल में अपने-अपने कारणान्तर से ज्वरादि रोग हो जाएँ, अथवा श्लीपद-पीड़ित पुरुष को पश्चात् काल में संसर्गवश कुष्ठ हो जाए तो उसे उपद्रव न कहेंगे।

उपद्रवों के विषय में यह सूक्ष्म विचार संहिताकारों तथा टीकाकारों ने इसलिए किया है कि उपद्रवों को देखकर रोग की साध्यासाध्यता का विचार आयुर्वेद में किया जाता है और चिकित्सा भी उपद्रव की पृथक् न कर प्रायः प्रधान रोग की ही की जाती है। सो इस विषय की शुद्धि के लिए कोई व्यथा रोग है उपद्रव है, या लक्षण है इस बात का विनिश्चय करना आवश्यक होता है।

उपद्रव उत्तरकालज होता है यह उसका एक लक्षण है। परन्तु--केचिन्महाबलदोषारब्धा व्याधय उपद्रवयुक्ता एवोत्पद्यन्ते। सहोत्पन्ने चोपद्रवार्थो नास्ति। तथापि ये गदा उपद्रवरूपा जायन्ते ते तत्र सहोत्पन्ना अपि योग्यतया उपद्रवा भण्यन्ते--च० चि० २१।४० पर चक्रपाणि।--कई रोग जिनके उत्पादक दोष अति बलवान् होते हैं वे उपद्रवों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये उपद्रव सामान्यतया उस-उस रोग के उत्पन्न होने के अनन्तर उत्पन्न होते देखे जाते हैं और उस-उस रोग के उपद्रव के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस बात को दृष्टि में रख प्रधान व्याधि के साथ ये उत्पन्न हुए हो तो भी इन्हें उपद्रव ही कहा जाता है।

तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः। तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति, पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्। तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत ॥

च० चि० २१।४०

तत्र सोपद्रवमन्योन्या-विरोधेनोपक्रमेत। बलवन्तमुपद्रवं वा ॥

सु० सू० ३५।१८

उपद्रवों का चिकित्सा-सूत्र--'प्रायः' प्रधान रोग की चिकित्सा करने से ही उपद्रव की भी शान्ति हो जाती है। इस प्रकार कारण और चिकित्सा की दृष्टि से मूल व्याधि के अधीन होने से मूल रोग को प्रधान तथा उपद्रव को अप्रधान (परतन्त्र, गुणभूत) कहने का प्रचार है।

मूल रोग के आक्रमण से शरीर अति अवसन्न (शिथिल), अबल और क्षीण हो गया होता है। शरीर की यह दशा होने से उपद्रव अत्यधिक कष्ट देनेवाला सिद्ध होता है। अतः उपद्रव कैसा भी हो उसका सत्वर उपचार करना चाहिए।

ऊपर 'प्रायः' शब्द से यह सूचित किया है कि, सामान्यतया उपद्रव की चिकित्सा पृथक् करनी नहीं पड़ती। प्रधान रोग की चिकित्सा ही उसकी भी चिकित्सा होती है। परन्तु, कभी-कभी उपद्रव बलवान् हो तो उसकी पृथक् (स्वतन्त्र) और प्रथम चिकित्सा करनी पड़ती है। उपद्रव विशेष बलवान् न हो तो भी उसका बल किंचित् भी अधिक होने पर उसकी पृथक् चिकित्सा करनी होती है। उसका बल प्रधान व्याधि से अधिक न हो तो प्रथम प्रधान रोग की चिकित्सा करे पश्चात् उपद्रव की। यदि दोनों की चिकित्सा साथ-साथ करना आवश्यक हो तो योजना ऐसी करनी चाहिए कि प्रधान व्याधि तथा उपद्रव दोनों की चिकित्सा परस्पर-विरोधिनी न हो।

प्रत्येक रोग के उपद्रव उस रोग के निदान-चिकित्साधिकार में पृथक् बताए जाएँगे। उपद्रवों से रोग की साध्यासाध्यता का निर्णय होता है और चिकित्सा का मार्ग परिष्कृत होता है।

प्राक्केवल या प्रधान रोग--

औपसर्गिक रोग या उपद्रव के लक्षणादि का निर्देश कर अब प्रसङ्गोपात्त प्राक्केवल का लक्षण लिखते हैं।--

प्राक्केवलो नाम यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च[1] ॥

सु० सू० ३५।१८

१--इस वचन का अर्थ करते हुए उचित होने से चक्रपाणि की टीका का अनुसरण किया है। स्पष्टता के लिए प्रथम डल्लन की टीका उद्धृत करता हूँ-- **"अपूर्वरूप इति पूर्वरूपरहित इत्यर्थः। अनुपद्रवश्चेति उपद्रवरहित इत्यर्थः। एतेन मशकतिलकालकन्यच्छव्यङ्गादयः प्राक्केवला व्याधयः कथ्यन्ते; व्याधि-स्वभावात् पूर्वरूपमन्तरेणापि प्रागेवोत्पद्यन्त इत्यर्थः॥** अर्थात् उस व्याधि को प्राक्केवल कहते हैं जिसके न पूर्वरूप होता है, न उपद्रव; जैसे त्वचा पर हुए मसे, तिल, न्यच्छ (लाञ्छन), व्यङ्ग आदि। रोग-स्वभाववश ये विना→

प्राक्केवल उस रोग का नाम है जो प्रथम उत्पन्न हुआ हो तथा जिसकी गणना न पूर्वरूपों में की जा सके न उपद्रवों में।

स्पष्ट ही 'प्रथमोत्पत्ति' इस लक्षण से सुश्रुत ने उन्हीं रोगों का ग्रहण किया है जिनको चरक ने पश्चात् काल में होनेवाले उपद्रवों से पूर्व होनेवाला मूल और प्रधान रोग कहा है। 'अपूर्वरूपः' तथा 'अनुपद्रवः' से इसी बात को स्पष्टतर कर दिया है।

प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥ सु० सू० ३५।१८

प्राक्केवल की चिकित्सा जैसी उस रोग के अधिकार में तन्त्र (टेक्स्ट) में कही है उसी प्रकार करनी चाहिए। उपद्रवों के सदृश उसकी चिकित्सा पराधीन नहीं होती।

अब प्रस्तुत वर्ग के अन्तिम भेद अन्यलक्षण या पूर्वरूप का लक्षण देखिए।

अन्य लक्षण या पूर्वरूप का लक्षण—

अन्यलक्षणो नाम यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूपः ॥
सु० सू० ३५।१८

भावी रोग की जिससे सूचना मिले उस, पूर्वरूप इस नाम से प्रसिद्ध व्याधि को अन्य लक्षण कहा जाता है। अरिष्ट या रिष्ट 'नियतमरणख्यापक' होने से वे मृत्यु के पूर्वरूप होते हैं। उनका भी यहाँ पूर्वरूप होने से ग्रहण है—रिष्टानां च मरणपूर्वरूपतया ग्रहणम्—चक्रपाणि।

इस अन्यलक्षण या पूर्वरूपावस्था में प्रकुपित दोषों का स्थानसंश्रय हो जाता है। इस अवस्था में रोग के लक्षण अव्यक्त होते हैं। वही लक्षण जब व्यक्त हो जाते हैं तो रोग का प्रादुर्भाव हुआ कहा जाता है। इस अवस्था को व्यक्ति कहते हैं। स्थानसंश्रय की अवस्था में जो पूर्वरूप थे वे ही व्यक्तावस्था में आने पर रूप या लक्षण कहे जाते हैं। संचय, वृद्धि आदि प्रत्येक दशा में प्रतीकार आवश्यक होता है। यह सामान्य नियम है। कहीं-कहीं तन्त्रकारों

←—पूर्वरूप स्वयं ही प्रथम (प्राक्) उत्पन्न होते हैं।" परन्तु यह अर्थ लेने में प्रस्तुत वर्गीकरण में ज्वरादि प्रधान रोगों का तो कहीं अस्तित्व ही नहीं रह जाता। यह विषम स्थिति चक्रपाणि की टीका का अनुसरण करने में रहती नहीं। वह कहता है—प्रागुत्पन्नो व्याधिरित्यनेन ज्वरादय एव व्याधयोऽभिधीयन्ते। अपूर्वरूप इत्यनेन पूर्वरूपादन्यत्वमुच्यते। अनुपद्रव इत्यनेन चोपद्रवादन्यत्वमुच्यते ॥ इस टीकांश का अर्थ ऊपर दिया गया है।

ने स्पष्ट पदों में तत्-तत् रोग के पूर्वरूप में पृथक् चिकित्सा लिखी भी है। यथा, ज्वर के पूर्वरूप में घृतपान आदि की योजना है। तथाहि :

ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्।
पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्॥
विधिर्मारुतजेष्वेष, पैत्तिकेषु विरेचनम्।
मृदु, प्रच्छर्दनं तद्वत्कफजेषु विधीयते॥

सु० उ० ३९।९७-९८

निराम वातज्वर के पूर्वरूपों में रोगी को स्वच्छ (अकृत, औषध से असाधित) पुराण घृत का तबतक सेवन करना चाहिए जब तक आरोग्य की प्रतीति न हो। इसके अनन्तर लघु भोजनादि करना चाहिए। पैत्तिक ज्वर की पूर्वरूपावस्था में मृदु विरेचन और कफज में मृदु वमन कराना चाहिए।

स्मरण रहे, संचय से स्थानसंश्रय-पर्यन्त प्रकोपावस्थाओं में संभव है आधुनिक प्रयोगशाला-परीक्षाओं में जीवाणुओं का दर्शन न भी हो। परन्तु जीवाणुओं के स्थानसंश्रय के योग्य भूमिका तो तैयार हो ही जाती है। आयुर्वेद-मत से संचय से ही प्रतीकार-योग्य रोगावस्था प्रारम्भ हो जाती है। इतना ही क्यों, दोषों का संचय ही न हो इस दृष्टि से स्वस्थवृत्तोक्त उपचार तो उसके भी पूर्व से अनुसरणीय होते हैं।

पूर्वरूपों के विषय में आगे पञ्चनिदान के प्रकरण में अधिक वक्तव्य आएगा ही, अतः यहाँ प्रपञ्च नहीं किया जाता।

स्वतन्त्र तथा परतन्त्र रोग—

लघु वाग्भट ने उपद्रवों तथा पूर्वरूपों को एक वर्ग में रखकर इस वर्ग की रचना की है।—

द्विधा स्वपरतंत्रत्वाद् व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या जाताः पश्चादुपद्रवाः॥ अ० हृ० सू० १२।६०

रोगों के दो भेद हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। इनमें परतन्त्रों के दो भेद हैं—पूर्वरूप और उपद्रव। प्रधान या स्वतन्त्र रोगों की उत्पत्ति के पूर्व जिनकी उत्पत्ति हो उन्हें पूर्वरूप कहते हैं, तथा प्रधान रोग के पश्चात् उन्हीं के समान कारण से जिनकी उत्पत्ति हो उन्हें उपद्रव कहा जाता है।

शास्त्र में कथित उत्पादक कारणों से, शास्त्र में निर्दिष्ट संप्राप्ति-पूर्वक, शास्त्रोक्त पूर्वरूप-रूपादि क्रम से जिनकी उत्पत्ति हो, जिनके लक्षण स्पष्ट हों

तथा शास्त्र में अपने अधिकार (प्रकरण) में कही चिकित्सा-पद्धति के अनुष्ठान से जिनकी निवृत्ति हो उन रोगों को स्वतन्त्र कहते हैं। इसके विपरीत, जिनकी उत्पत्ति शास्त्र में निर्दिष्ट अपने कारण से न होकर प्रधान रोग के कारणों से ही हो, जिनकी चिकित्सा भी शास्त्र में अपने प्रकरण में जो कही है वह करने की आवश्यकता 'प्रायः' न हो, किन्तु प्रधान रोग की चिकित्सा से ही जिनकी निवृत्ति बहुधा हो जाए, एवं जिनके लक्षण स्पष्ट न हो उन पूर्वरूपों और उपद्रवोंको परतन्त्र रोग कहा जाता है। इनमें उपद्रव यदि प्रधान रोग की चिकित्सा से शान्त न हो जाए तो प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर उपद्रव की पृथक् चिकित्सा करे। किंवा उपद्रव बलवान् हो तो प्रधान रोग की चिकित्सा के साथ ही उसकी चिकित्सा इस प्रकार करे कि प्रधान रोग और उपद्रव दोनों की चिकित्सा परस्पर-विरोधिनी न हो जाए। तथाहि—

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा।
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवन्तमुपद्रवम्॥
व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः॥

अ० हृ० सू० १२।६२-६३

प्रकरण समाप्त करने के पूर्व विषय की स्पष्टता के लिए इतना कहना आवश्यक है कि—ज्वर, श्वास, अतिसार आदि रोग कभी प्रधान रोग के रूप में देखे जाते हैं और यही रोग कभी अन्य प्रधान रोग के उपद्रव रूप में उत्पन्न हुए देखे जाते हैं।

अब रोगों के अन्य वर्गीकरण देखिए।

साम तथा निराम रोग

एक भ्रान्ति—

आम आयुर्वेद की प्रसिद्ध संज्ञा है। इसकी व्याख्या इसी प्रकरण में करेंगे। इस आम से युक्त दोष तथा रोग साम एवं उससे रहित ये दोनों निराम कहे जाते हैं। इनका भी यथाशास्त्र विचार आगे किया जायगा। आरम्भ में एक भ्रान्ति के प्रति अंगुलि-निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है। आम के अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं। इनमें अधिक प्रचलित लक्षण के अनुसार 'जठराग्नि के दुर्बल होने से जो भुक्त अन्न अपक्व रह जाता है, उसका नाम आम है।' निश्चित ही रस-रूप को अप्राप्त स्थूल अन्न का ग्रहण (एब्सॉर्प्शन) पच्यमानाशय के रसवह स्रोतों द्वारा हो नहीं सकता। अतः यह आम शरीर के सर्वदोषों का प्रकोपक और सर्व रोगों का मूल हो, यह संभाव्य प्रतीत नहीं होता।

इतना अवश्य संभव है कि, जैसा कि इसी प्रकरण में चरक के वचनानुसार देखेंगे, अपक्व आम-संज्ञक अन्न विष-रूप को प्राप्त हो जाए और विष के सदृश सूक्ष्म होने से उसका ग्रहण रसवाहिनियों द्वारा होकर शरीर में प्रसर और रोगोत्पादन हो। परन्तु, आम अन्न का बड़ा भाग अति द्रव मल-प्रवृत्ति के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। इससे शरीर के यावत् दोषों का प्रकोप और सर्व रोगों की उत्पत्ति संभव नहीं। यत्सत्यं, जठराग्नि के दौर्बल्यसे असंपूर्ण पक्व अन्नपान जैसे आम संज्ञा को प्राप्त होता है वैसे धात्वग्नियों के दुर्बल होने से असंपूर्ण पक्व रसधातु भी आम-संज्ञक ही होता है। इस प्रकार आम के दो भेद हैं--अपक्व अन्न एवं अपक्व रसधातु।

उपक्रम-रूप में इतना विचार प्रस्तुत कर अब हम यह विषय सविस्तर देखेंगे।

जठराग्नि के दौर्बल्य से उत्पन्न आम--

जठराग्नि की दुर्बलता से अपक्व रहे अन्नरस की आम यह विशेष संज्ञा है, इस विषय में नीचे लिखे वचन उपलब्ध होते हैं--

भोजोऽप्याह--

आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः॥ इति

ईश्वरसेनोऽप्याह--

एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ् न जीर्यति।
चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात्॥ इत्यादि

च० चि० १५।६३ पर चक्रपाणि

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥

अ० हृ० सू० १३।२५

दुष्टं वाताद्यनुशयितम्-- अरुणदत्त
ऊष्मणो रसाग्नेः॥ हेमाद्रि

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपणः[1]॥

१--इन वचनों में आए आमाशय का अर्थ निश्चित ही पच्यमानाशय-सहित आमाशय है। कारण, जठराग्नि या पाचक पित्त के दौर्बल्य से अन्न→

इन वचनों का समुच्चित अर्थ यह है।--पुरुष का जठरानल तथा रसाग्नि दुर्बल हों तो किंवा अग्नि सम होते हुए भी पुरुष अति संतर्पण (बहु) करे किंवा ऐसा ही अन्य अहिताचरण करे तो अन्नपान का सम्यक् जरण न होने से जो अपक्व तथा वातादि दोषों से अनुबद्ध होने से दूषित अन्नरस तय्यार होता है उसे आम कहते हैं। संचित हुआ यह आम शरीर में सर्व दोषों को प्रकुपित करता है।

आम का स्वरूप--जठराग्नि के दौर्बल्य, अति संतर्पणादि कारणों से अपक्व रहे अन्नपान या आमरस का स्वरूप तन्त्रकारों ने यह बताया है--आमलक्षणं चैवं वदन्ति--"द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं तन्तुमदनुबद्धशूलं दुर्गन्धि इत्यादि" इत्यादि--अ० हृ० सू० १३।२७ पर अरुणदत्त धृत तन्त्रान्तर-वचन।--अर्थात् आम अन्नरस द्रव, गुरु, अनेक वर्णों वाला, स्निग्ध, पिच्छिल, अपक्व (पूर्ण पक्व होने पर उसका जैसा रूप होना चाहिए उससे भिन्न), तन्तुमान्, दुर्गन्धयुक्त, निरन्तर शूल-युक्त इत्यादि प्रकार का होता है। यह सर्व रोगों का मूल है।

आम की विषरूप में परिणति--यह आम दोषों को प्रकुपित कर रोगों को उत्पन्न करता ही है, साक्षात् भी विष-रूप में परिणत हो रोगोत्पादन में हेतु होता है। ग्रहणी-प्रकरण में चरकाचार्य कहते हैं--

अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥

च० चि० १५।४४

संग्रहकार ने भी कहा है--तथाऽन्नपि तेनैव (अग्निना) पक्वममृततां यात्यपक्वं च विषताम्॥ अ० सं० शा० ६

तात्पर्य--जठराग्नि के बल से अन्न परिपक्व हो जाए तो अमृत-रूप होता है। वही अपक्व रह जाए तो शुक्त-भाव (सिरके के सदृश रूप) को प्राप्त हो विषमय हो जाता है।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार अपक्व अन्नपान पर कोथजनक जीवाणुओं की क्रिया होकर विभिन्न सेन्द्रिय अम्ल द्रव्य तय्यार होते हैं; यथा--शुक्ताम्ल, तक्राम्ल, नवनीताम्ल, पायरूविक एसिड आदि। इन सबका स्मरण 'शुक्तत्वं याति' शब्दों द्वारा तन्त्रकार ने किया प्रतीत होता है। विष से जैसे नाना रोग

←--का विपाक संपूर्ण न होने की बात यहाँ लिखी है और जठराग्नि तथा उसके पचन की मर्यादा पच्यमानाशय-पर्यन्त है। आमाशय शब्द का कभी यह व्यापक अर्थ ग्राह्य होता है, इसका उदाहरणान्तर च० सू० २०।८ वचन है। इसमें कफ और पित्त दोनों के मुख्य स्थानों में आमाशय की गणना है। उसमें पित्त के प्रकरण में आमाशय का अर्थ निर्विवाद पच्यमानाशय है।

होते हैं, वैसे यह भी अनेक विकार उत्पन्न करनेवाला होता है अतः इसे विष-रूप कहा है। आम अन्न की शुक्तरूपता (अम्लीभाव) यद्यपि अजीर्ण-विशेष विदग्धाजीर्ण में ही होती है तथापि यहाँ केवल उसका ग्रहण न कर अजीर्ण के सभी भेदों का ग्रहण किया जाता है। टीका में चक्रपाणि कहता है--विष-रूपतामिति यथा विषं बहुविकारकारि भवति तथा तद्रूपताम्। अनेन सर्व एवाजीर्णा अवरुद्धा ज्ञेयाः, ये तन्त्रान्तरे "आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः इत्यनेनोक्ताः। अजीर्ण के इन भेदों का उल्लेख आगे आएगा ही। पद्यों के अर्थ की स्पष्टता के लिए यहाँ केवल इतना लिख दूं कि--अजीर्ण के सामान्यतया तीन भेद होते हैं--कफ से आमाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण और वायु से विष्टब्धाजीर्ण। खूबी यह है कि ये अजीर्ण जिस दोष के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं उसी दोष का स्वयं भी प्रकोप करते हैं। कोई आचार्य अजीर्ण का चतुर्थ भी भेद मानते हैं--रसशेषाजीर्ण। इसमें अन्न का अल्पमात्र अंश रस-रूप में परिणत होना शेष रहता है; उसका प्रायः भाग रसरूप हो जाता है।

अम्लीभाव को प्राप्त आम अन्नरस का विष से एक साम्य यह है कि, जैसे विष सूक्ष्म होता है, सूक्ष्म भी स्रोतों और शरीर-परमाणुओं (कोषों) में प्रविष्ट होने की उसमें शक्ति होती है, वैसे यह अम्ल अन्नरस भी पच्यमानाशय की रसायनियों में प्रविष्ट होकर सर्व शरीर में पहुँच जाता है और रोगों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

धात्वग्नियों के दौर्बल्य से उत्पन्न आम---

तन्त्रकारों का स्पष्ट कथन है कि, पाचक पित्त इतर पित्तों एवं धात्वग्नियों का भी पोषक है। पाचक पित्त के बलाबल पर ही अन्य पित्तों और अग्नियों का बलाबल स्थित होता है। पाचक पित्त को लक्ष्य कर कहा गया है--(तच्च पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं) तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति--सु० सू० २१-१०[१]--अर्थात् पाचक पित्त अपने स्थान पक्वामाशयमध्य (आमाशय और पक्वाशय के मध्य पच्यमानाशय) में रहता हुआ ही अपनी शक्ति (अग्निबल) के द्वारा पचनादि अग्निकर्म करता हुआ शेष पित्तों, पित्त-स्थानों तथा शरीर को कृतार्थ

१--लघु वाग्भट का वचन भी प्रसिद्ध है--.

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥

अ० हृ० सू० १२।१२

करता है। परिणामतया, पाचक पित्त का जैसा बल होगा उतना ही वह अन्य पित्तों और शरीर को अग्निकर्म से अनुगृहीत (पुष्टि आदि से संपन्न) कर सकेगा।

चरकाचार्य ने यह बात स्पष्टतर पदों में कही है--

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका॥
च० चि० १५।३६

अन्न-पाचक पित्त सर्व पित्तों (अग्नियों) का अधिपति माना जाता है। कारण अन्य सर्व पित्तों का मूल पाचक पित्त है। उनकी वृद्धि और क्षय (तथा साम्य) पाचक पित्त की वृद्धि, क्षय (और समत्व) के अधीन हैं। लघु वाग्भट ने इस वस्तु को अधिक विशद करते यों कहा है कि--जाठराग्नि (कायाग्नि) के ही अंश धातुओं में धात्वग्नि नाम से रहते हैं--स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः--अ० हृ० सू० ११।३४।

इस बात को समझना सुकर है कि कैसे पाचकाग्नि इतर अग्नियों को बलदान करता है। क्लेदक कफ तथा अन्नपानगत द्रवों से अन्न भिन्न-संघात और जर्जर तो हो जाता है, परन्तु वह सूक्ष्मता, जिसके कारण वह पित्तधरा कला की रसायनियों द्वारा गृहीत हो जाए, सो पाचक पित्त की क्रिया से ही आती है। नवीन विज्ञान की परिभाषा में कहना हो तो दन्त, क्लेदक कफ आदि से अन्न में 'भौतिक सूक्ष्मता' आती है और पाचक पित्तों के संयोग से 'रासायनिक सूक्ष्मता' उसमें उत्पन्न होती है। हम समयोगयुक्त आहार का सेवन करें तो भी पाचक पित्त बलवान् न होगा तो उसका यह रासायनिक दृष्ट्या सूक्ष्म पचन पूर्णतया न होने पाएगा। इस स्थिति में शरीर के धातुओं, उपधातुओं और मलों को उनकी पोषक सामग्री सम प्रमाण में उपलब्ध न हो पाएगी। पाचक पित्त की दीप्ति से पुष्ट होनेवाले इन द्रव्यों में मलों के अन्तर्गत पित्त भी एक है। यह रक्त-धातु का मल है। रक्त धातु को अपनी पुष्टि के लिए रस धातु का जो अंश प्राप्त होता है, उससे रक्त की पुष्टि अपनी आवश्यकता और अग्नि-बल के अनुसार हो चुकने के अनन्तर रस धातु का जितना अंश शेष रहता है, वह रक्त धातु के लिए अब अनुपयुक्त होने से त्याज्य एवं मलरूप होता है। इस मल से पित्त की पुष्टि होती है, अतः पित्त को रक्त का मल माना गया है। पाचक पित्त प्रदीप्त होगा तो आहार में स्थित धातुओं, उपधातुओं तथा इतर मलों के सदृश धात्वग्नियों, अन्य पित्तों एवं स्वयं पाचक पित्त की भी पोषक सामग्री का पचन और विभजन योग्य प्रमाण में होगा। इस स्थिति में ही सर्व पित्तों और

धात्वग्नियों की पुष्टि यथावत् होकर उनका बल स्थिर रहेगा। अन्यथा, पाचक पित्त दुर्बल (मन्द) हो तो आहार में तत्तत् धातु आदि की पोषक सामग्री सम प्रमाण में होते हुए भी उनका पचन न होने से वह किट्ट रूप में ही पक्वाशय में पहुँचा दी जायगी। अतः यथार्थ ही कहा गया है कि--पाचक पित्त का जैसा बलाबल होगा वैसा ही बलाबल इतर पित्तों और धात्वग्नियों का भी होगा।

नव्यमत के साहाय्य से इस सत्य को समझने का प्रयत्न करें। इन्सुलीन तथा थायरॉक्सीन क्रमशः अग्न्याशय (पेन्क्रियास) और चुल्लिका ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्तःस्राव हैं। इनकी क्रिया का साम्य आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियों के साथ स्पष्ट है। इन स्रावों का निर्माण एमाइनो एसिडों से होता है। हमारे आहार में ये द्रव्य स्व-रूपतः नहीं रहते। मांस, दाल, दूध प्रभृति में जो प्रोटीनें होती हैं वे इन एमाइनो एसिडों से घटित होती हैं। आहार में गृहीत ये प्रोटीनें पाचक पित्त (नव्यमत से विविध पाचक रसों) द्वारा एमाइनो-एसिडों के रूप में विभक्त हो जाती हैं। ये एमाइनो-एसिड ही अन्नरस और रसधातु के अङ्गभूत हो अग्न्याशय और चुल्लिका ग्रन्थि में जाते हैं तो क्रमशः इन्सुलीन और थायरॉक्सीन का निर्माण करते हैं। इससे समझा जा सकता है कि, इन अन्तःस्रावों की उत्पत्ति में पाचक पित्त का तथा उसके प्रदीप्त रहने का कितना महत्त्व है। पाचक पित्त या जठराग्नि प्रबल न हो तो प्रोटीनें अपक्व रहकर अन्न के किट्ट के रूप में मलद्वार से बाहर निकल जाती हैं और इन्सुलीन तथा थायरॉक्सीन सम प्रमाण में बन नहीं पाते।

यही स्थिति आयुर्वेद-मत से पाचक पित्त द्वारा शेष पित्तों और धात्वग्नियों के पोषण के संबन्ध में समझनी चाहिए। केवल पित्तों की बात नहीं, सभी धातुओं, उपधातुओं और दोषों-सहित सभी मलों किंवा उनसे बने समस्त शरीर की पुष्टि का आधार इस प्रकार यह पाचक पित्त ही है। अतएव सुश्रुत ने सत्य ही कहा है कि--यह पाचक पित्त अपने अग्निकर्म और अपनी शक्ति द्वारा शेष पित्तों तथा समग्र शरीर को अनुगृहीत किया करता है।

पाचक पित्त से शेष पित्तों तथा धात्वग्नियों के पोषण-विषयक इस नियम के उल्लेख का प्रयोजन यह है कि--आम के प्रसिद्ध लक्षणों में उसकी उत्पत्ति का हेतु जठराग्नि की दुर्बलता को कहा गया है; अर्थापत्ति से उन लक्षणों से यह भी ग्रहण करना चाहिए कि जठराग्नि दुर्बल हो तो प्रकृत्या इतर पित्त और धात्वग्नियाँ भी क्षीण होती हैं; परिणामतया उनके द्वारा रसधातु का पचन सम्यक् न होने से भी तत्-तत् धातु के आशय में तत्-तत् अपक्व द्रव्य उत्पन्न होते हैं। उन्हें भी आम कहना चाहिए। संहिताओं में कण्ठरव से धात्वग्नियों की मन्दता से उत्पन्न अपक्व रसधातु को भी आम नहीं कहा है; परन्तु टीकाकारों ने अपक्व

रस को भी आम कहना चाहिए--यह कहा है। वस्तुतः, जठराग्नि के दौर्बल्य से जो आम होता है वह सूक्ष्म न होने से पित्तधरा कला के रसवह स्रोतों में उसकी प्रवेश-क्षमता नहीं होती, अतः उसका ग्रहण और शरीर में प्रसर न होने से उससे शरीर में रोगोत्पत्ति होना उतना संभव नहीं। अलबत्ता, महास्रोत में स्थित आम द्रव्यों का उपरिलिखित शुक्तभाव होने से जो विष द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे विषवत् सूक्ष्म होने से उनका प्रवेश और प्रसर सुलभ होने से उनसे तत्-तत् शारीर रोगों की उत्पत्ति होना संभाव्य है। परंतु, साक्षात् जिस आम से शारीर रोगों की उत्पत्ति होती है, वह आम धात्वग्नियों की मन्दता के कारण अपक्व रहे रसधातु से उत्पन्न आम ही होना चाहिए।

चक्रपाणि और डल्हन के अधोलिखित वचनों में धात्वग्नियों की दुर्बलता से अपक्व रहे रसधातु को आम कहा गया है--

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः, रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः; न तु 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः' इत्यादिनोक्तः; तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वा-योगात्॥ सु० सू० १५।३२ पर चक्रपाणि

कथं रसश्चापक्वश्चेति विरोधनीयवचनम्? न ह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्, जाठरेणाग्निना रसः कट्टावेन कृत एव, किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते॥ उक्त स्थल पर डल्हन

धात्वग्नियों की दुर्बलता से अपक्व रसधातु भी आम होना चाहिए, इस विषय में जो तर्क हमने ऊपर दिए हैं वे टीकाकारों के इन वचनों में उपनिबद्ध हैं। प्राचीन ग्रन्थों में आम के इन दो अर्थों--जाठराग्नि के दौर्बल्य से अपक्व अन्नपान तथा धात्वग्नियों के दौर्बल्य से अपक्व रसधातु--के अतिरिक्त अन्य भी अर्थ बताए हैं। अब उनका उल्लेख किया जाता है।

आम के अन्य अर्थ--

आमं चानेकविधमाह--

आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसंचयम्।
प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते॥

च० चि० १५।६३ पर चक्रपाणि धृत तन्त्रान्तर-वचन

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात्।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभवम्॥

अ० हृ० सू० १३।२६

आम के अनेक लक्षण बताए जाते हैं। इनमें प्रथम लक्षण आम अन्नरस (या आम रसधातु) है, जिसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं। कई आचार्य मलों (पुरीषादि मलों तथा दोषों) के संचय को आम कहते हैं। कोई प्रथम दोष-दुष्टि को आम कहते हैं। और अन्य आचार्य कहते हैं कि, जैसे कोद्रवों से विष की उत्पत्ति होती है वैसे अति दुष्ट दोष परस्पर संयुक्त (मूर्च्छित) होते हैं तो उनके इस संमूर्च्छन से आम की उत्पत्ति होती है।

आम के ये अनेक अर्थान्तर होते हुए भी प्रथम मत ही प्रसिद्ध है। आयुर्वेद में अन्य प्रकरणों में भी आम शब्द पक्व के विरोधी के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है; जैसे व्रण-प्रकरण में आम तथा पक्व व्रण। सो, यहाँ भी आम का अपक्व अन्न या अपक्व रस अर्थ ही प्रधानतया ग्राह्य है।

आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥

अ० हृ० सू० १३।२७

इस आम से संयुक्त (मिश्रित) हुए वातादि दोष तथा उनसे दूषित हुए रसादि दूष्यों को एवं उनसे उत्पन्न रोगों को साम कहा जाता है। इसके विपरीत वातादि दोष एवं रसादि दूष्य आम-रहित हों तो उन्हें तथा उनसे उत्पन्न रोगों को निराम कहा जाता है।

नव्य मत से आम की व्याख्या—

ऊपर कहा है कि, आम के अनेक लक्षण होते हुए भी अग्नि की दुर्बलता से जिसकी उत्पत्ति होती है वही वैद्य समाज में आम नाम से प्रसिद्ध है। नवीन मत से इसका साम्य किन द्रव्यों से है यह दर्शाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रोटीन आदि आहारौषध द्रव्यों का जाठराग्नि तथा धात्वग्नियों द्वारा पाक (रासायनिक रूपान्तर) होकर अन्त को तत्-तत् मल में परिणति होती है। यथा—प्रोटीनों की जठर में एमाइनो एसिडों के रूप में और धात्वग्नियों द्वारा यूरिआ के रूप में तथा कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों की जल एवं कार्बन डाई ऑक्साइड (अङ्गाराम्ल) के रूप में परिणति होती है। दोनों में किसी भी अग्नि की मन्दता से यदि अन्तिम द्रव्य (एण्ड-प्रोडक्ट) न बनकर मध्यवर्ती (इन्टरमीडिअरी) अर्धपक्व द्रव्य बनें तो इन्हें आम कह सकते हैं। जैसे, प्रोटीन के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड बनता है जिसका सन्धिवात में सन्धियों में स्थानसंश्रय होता है। कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों के असम्यक् पाक से तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) बनता है। मधुमेह आदि में कार्बोहाइड्रेटों का पाक अपूर्ण रह जाने से एवं अनशन में

उनकी उपलब्धि ही न होने के कारण स्नेह द्रव्यों के अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। स्नेहों का पाक अधूरा रह जाने का कारण यह है कि आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कार्बोहाइड्रेटों के पाक की संपूर्णता हो तो ही स्नेहों का पचन भी संपूर्ण होता है। अन्यथा अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इन द्रव्यों के नाम ये हैं––बीटा-हाईड्रॉक्सी-ब्युटिरिक एसिड; एसिटो-एसिटिक एसिड (पर्याय-डाई-एसिटिक एसिड) तथा एसीटोन। इनका मिलित नाम 'कीटोन्स' या 'कीटोन बॉडीज़' है। रस-रक्त में इनके प्रवेश को कीटोसिस या कीटोनीमिआ कहते हैं। प्रमेहाधिकार में आयुर्वेद में प्रमेहों के जो उपद्रव बताए हैं उनमें मूर्च्छा को पित्तज उपद्रव कहा गया है। नव्यमतानुसार मूर्च्छा कीटोसिस के कारण होती है। इसके कारण-भूत 'कीटोन्स' सब अम्ल होते हैं। इसी कारण कीटोसिस को कभी एसिडोसिस या एसिडीमिआ भी कहा जाता है। एसिडोसिस अन्य अम्लों के रस-रक्त में प्राचुर्य के कारण भी होता है; यथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड की प्रचुरता होने से। अस्तु। कीटोन-बॉडीज़ अम्ल होने से उन्हें आयुर्वेदीय परिभाषा में पित्त-वर्गीय कहा जा सकता है, एवं इन अम्ल द्रव्यों के रस-रक्त में आधिक्य के कारण मधुमेह में होनेवाली मूर्च्छा (डायाबिटिक कॉमा) को प्रमेह के आयुर्वेदोक्त उपद्रवों में परिगणित मूर्च्छा कह सकते हैं। डायाबिटिक कॉमा का साम्य पित्तज मूर्च्छा से दर्शाने में प्रयोजन यह है कि 'डायाबिटिक कॉमा' नाम से जिसका विनिश्चय किया गया हो उस मूर्च्छा में नव्यमताभिभूत हो ग्लुकोज़ देने के स्थान पर आयुर्वेद के इस अधिकार में कहे उपचार आजमाए जाएँ तो कुछ नवीन उपलब्धि होने की संभावना की जा सकती है। आयुर्वेद में भी तत्-तत् शर्करा को पित्त, तथा पित्तज मूर्च्छा आदि रोगों में हितकर कहा है, यह सत्य यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

व्यवसायोपयुक्त होने से प्रकरणान्तर करके भी इतना उल्लेख किया। अब पुनः नव्यमतानुसार अन्य आम द्रव्यों का निर्देश किया जाता है।

पेशियों की चेष्टा के परिणामस्वरूप तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) सर्वदा उत्पन्न होकर रस-रक्त में प्रविष्ट होता रहता है। अमुक रासायनिक क्रिया द्वारा इसकी अन्तिम मल द्रव्यों में परिणति होकर उनका तत्तत् बहिर्मुख द्वार से निर्हरण होता है[१]। आमवात (रूमेटिज्म) में इस क्रिया में बाधा उत्थित होकर पेशियों में तक्राम्ल का स्थानसंश्रय (संचय) होता है। इन्सुलीन के हीनयोग से या यकृत् के विकारवश द्राक्षाशर्करा का ग्लायकोजन में परिणमन नहीं होता। उसे भी आम द्रव्य कहा जा सकता है। प्रमेहों में इस आम

१––विस्तार के लिए देखिए : आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० २१३।

द्रव्य से लसीका (सीरम) दूषित होती है। इस कारण प्रमेही (विशेषतया मधुमेही) पुरुषों के व्रण या क्षत शीघ्र भर नहीं आते। अन्य भी प्रमेह-स्वभावी पुरुषों की लसीका में यही दुष्टि होती है। इनके भी व्रणों का पाक सुलभ और रोपण देर से हुआ करता है। इस स्वभाव के कारण गुजराती में ऐसे पुरुषों के रक्त को 'पाकणियुं लोही' कहा जाता है। परम्परागत वैद्य ऐसे पुरुषों को हुए व्रण, क्षत, अस्थिभङ्ग, अस्थिभ्रंश आदि में यथायोग्य लङ्घन करा शरीर को निराम कर सिद्धिलाभ करते हैं। वैद्यों को इन तथा अन्य रोगों में निर्भय होकर लङ्घन की इस लुप्त परंपरा को अपनाना चाहिए। यह भी यहाँ समझा जा सकता है कि--प्रमेह के दूष्यों में लसीका की गणना तन्त्रकारों ने की है, उसका प्रयोजन क्या है? जैसा कि ऊपर देखा, प्रमेहों में लसीका दोषाक्रान्त होती है। उसके कारण इन रोगियों के व्रण आदि में पाक आदि का स्वभाव होता है। उसे लक्ष्य में रखने के लिए सूत्र रूप में एक लसीका को स्मृति में रखना उपयोगी मान कर प्राचीनों ने उसकी गणना प्रमेह के दूष्यों में कर दी है। अब आगे देखिए।

याकृत पित्त (बाइल) के रञ्जक द्रव्यों के अन्त्र में पाक से अन्त को वह द्रव्य बनता है जिसके कारण मल का विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अपूर्ण रह जाने से विविध अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य बनते हैं, जिनके कारण विशेषतः कुमारों में (बच्चों में) हरे-पीले दस्त होते हैं। रक्त के रञ्जक द्रव्य हीमोग्लीबीन के अर्धपक्व समास (यौगिक) बनें तो रक्त में जो विकृति होती है उसे मेटहीमोग्लोबीनीमिया (या सल्फहीमोग्लोबीनीमिया) कहते हैं। आमाशयादि में प्रोटीनों का पाक अपूर्ण रह जाने से उनकी एमाइनो एसिडों के रूप में परिणति न होकर जो अर्धपक्व द्रव्य (पेप्टोन तथा प्रोटीओज़) बनते हैं वे भी आम द्रव्य हैं। इसी प्रकार इन आम द्रव्यों पर पक्वाशय में कोथ-जनक जीवाणुओं की क्रिया होकर जो इंडोल, स्केटोल, हायड्रोजन सल्फाइड, मिथेन, उदजन, स्नेहाम्ल आदि अम्ल, फिनोल (कार्बोलिक एसिड), एमोनिया आदि दुर्गन्ध-युक्त या दुर्गन्ध-रहित विभिन्न स्वरूपों वाले द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे भी आम-संज्ञक ही समझे जा सकते हैं। एमाइनो-एसिडों पर जीवाणुओं की क्रिया से उत्पन्न होने वाला हिस्टेमीन नामक प्रसिद्ध द्रव्य तथा दो द्रव्य जिन्हें अपने अन्तर्गत आने पर वृक्क मूत्रद्वार से बाहर न निकाल दें तो रक्तदाब की वृद्धि होती है, वे भी आम द्रव्यों में परिगणनीय हैं।

रसधातु का पाक किसी भी कारण अधूरा रह जाने से वैद्यक-मत से ऊर्ध्व-जत्रुगत द्वारों से कफ अधिक निकलता है। यह कफ भी आम है। कफ में म्यूसीन-नामक प्रोटीन होता है। उसका पूर्णपाक होकर शरीर धातुओं के

लिए उपयुक्त प्रोटीन में परिणति नहीं हो पाती है, यह कल्पना करनी चाहिए। रोग-बीजों द्वारा उत्पन्न किए विष या आगन्तु विष क्षमता (शरीर एवं मन की रोगप्रतिकारक शक्ति) द्वारा अ-प्रतिकृत होकर शरीर में स्थानसंश्रय किए रहें-- विभिन्न प्रकार से नष्ट किए जाकर बाहर न निकाल दिए जाएँ--तबतक आम ही कहे जाने चाहिए।

इस द्रव्य-परम्परा को इसी दिशा में कल्पना द्वारा और भी बढ़ाया तथा पूर्ण किया जा सकता है। अधिक विवेचन वाचकों के लिए छोड़कर इतना ही कहकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है कि--आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ तथा ओज के सदृश आम का भी निर्देश सर्वत्र एक वचन में होने पर भी और वायु और पित्त 'एक' ही हैं यह स्पष्ट उल्लेख होने पर भी यदि उन्हें नव्य मत से समझने का प्रयास करना हो तो इनमें प्रत्येक को समान धर्मों वाले अनेकानेक द्रव्यों का एक-एक वर्ग मानना उचित होगा। यहां नव्य मत से जितने भी अर्धपक्व द्रव्य दिए गए हैं उनपर आम का शास्त्रोक्त लक्षण घटित होने से उनमें प्रत्येक आम-पदवाच्य है। अर्थापत्ति से आम के अनेक प्रभेद होने से आम को भी वातादि दोष और ओज के समान नव्यमतप्रतिपादित नाना द्रव्यों का वर्ग मानना चाहिए। इस वर्ग के शेष द्रव्यों का भी अनुसन्धान किया जा सकता है।

सामता-निरामता के ज्ञान की आवश्यकता---

वात, पित्त, कफ, पुरीष, व्रण और ज्वरादि विभिन्न रोग साम हों तो उनमें कौन लक्षण होते हैं तथा वे ही निराम हों तो उन्हें किन चिह्नों से पहचाना जा सकता है इसका निर्देश आगे प्रकरणानुसार किया जाएगा। इन्हें जानने की आवश्यकता इस कारण है कि ऊपर कहे वातादि साम अवस्था में हों तो तथा वे निराम हों तो दोनों अवस्थाओं में उनका उपचार पृथक् होता है। एवं एक अवस्था में अन्य अवस्था का उपचार करने का परिणाम अनिष्ट होता है।

ग्रहणी-चिकित्साधिकार में चरकाचार्य ने कहा है--

शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥
च० चि० १५।७५

अग्निविकार-जनित साम रस यदि शरीर में व्याप्त हो तो लङ्घन और पाचन द्वारा उसका पचन करना चाहिए। पचन का एक स्मरणीय परिणाम यह होता है कि धातुओं में लीन (अनुत्क्लिष्ट, वहां चिपट कर बैठा) दोष ऐसी स्थिति में आ जाता है कि वहां संसक्त हो रह नहीं सकता, प्रत्युत निकलने को प्रवृत्त होता है। मलक्षेपण जिसका कर्म है वह वायु इस प्रकार उत्क्लिष्ट अर्थात् उखड़ कर अपने बहिर्द्वार से निकलने को उन्मुख दोषों को उनके महास्रोतोगत

अपने-अपने उद्भव और संचय के स्थान के प्रति प्रेषित करता है और वमन या विरेचन के रूप में निकटवर्ती द्वार से बाहर निकाल देता है।

सर्व उपाय करके दोषों को उत्क्लिष्ट करना प्रथम आवश्यक होता है। तदनन्तर ही वमनादि संशोधन देना चाहिए। अन्यथा नाना अनिष्ट परिणाम शरीर को पीड़ित करते हैं। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करें। कफ-प्रधान ज्वर के उपचार के प्रकरण में चरकाचार्य कहते हैं--

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्[1] ॥

च० चि० ३।१४६

ज्वर कफ-प्रधान हो तो उसकी तरुण या अतरुण किसी भी दशा में वमन द्वारा कफ का संशोधन विधेय होता है। वमन के पूर्व यह अनिवार्य है कि दोष समग्र शरीर का परित्याग कर केवल आमाशय में आकर स्थित हो गया हो। अपरंच, मलक्षेपणकर्मा वायु की प्रेरणा से उसका उत्क्लेश नाम बहिर्गमनोन्मुखत्व, जिसकी प्रतीति हृल्लास (लालास्राव) आदि से होती है, वह व्यक्त हो गया हो। कफ का या अन्य दोषों का भी उत्क्लेश कभी स्वयं अर्थात् चिकित्सक-कृत उपचारों के बिना हो जाता है। जिन स्थितियों में दोष शरीर का परित्याग कर महा-स्रोतोगत अपने अपने संचय स्थान पर आजाते हैं और उत्क्लेश के लक्षण उत्पन्न करते हैं उनका उल्लेख इसी ग्रन्थ में पहले (पृ० १८८–१९२ पर) कर आए हैं। दोषों का इस प्रकार स्वतः उत्क्लेश न हो तो स्नेहन-स्वेदन द्वारा उन्हें उत्क्लिष्ट किया जाता है। इन उपचारों का विवरण आगे यथास्थान दिया जाएगा। जिन अवस्थाओं में दोष स्वयं उत्क्लिष्ट हो जाते हैं उनमें भी कभी यथावश्यक अल्प स्नेहन-स्वेदन करना पड़ता है। इस प्रकार उत्क्लेश के लक्षण उदित होने पर, वमन का काल उपस्थित हो गया जान कर, रोगी वम्य हो (गर्भिणी आदि वमन के अयोग्य न हो) तो वामक द्रव्य देकर दोष का संशोधन करना चाहिए। दोष उत्क्लिष्ट न हों तो जो विपरिणाम होते हैं उनका उल्लेख करते आगे चरक कहते हैं--

---

१--अविशेषेण तरुणातरुणज्वरेऽवस्थाविधेयं वमनमाह-कफप्रधानानित्यादि। उत्क्लिष्टानिति हृल्लासादिना बहिर्गमनोन्मुखान्। आमाशयस्थितानिति सर्व-शरीरं परित्यज्यामाशयगमनं दर्शयति। काले इति यथोक्तायामवस्थायाम्। × × अत्र च वमने स्वयमेवोत्क्लिष्टत्वाद्दोषस्य दोषोत्क्लेशप्रयोजनकौ स्नेह-स्वेदौ न क्रियेते, अल्पौ वा क्रियेते ॥ चक्रपाणि

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं[1] च कुरुते भृशम्॥

च० चि० ३।१४७

ज्वर तरुण हो, एवं दोष अभी उपस्थित न हुए हों--अर्थात् आमाशय में आ न पहुँचे हों--इस अवस्था में वमन दिया जाएगा तो हृद्रोग, श्वास, आनाह (कब्ज) तथा मोह (मूर्च्छा ; पाठान्तर में कास) इन विक्रियाओं को उत्पन्न करता है।

प्रसंगवश रोगमात्र में अनुत्क्लिष्ट दोषों के संशोधन के विषय में रखने योग्य सावधानी का निर्देश करते महर्षि आगे कहते हैं--

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः।
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्ययाः[2]॥

च० चि० ३।१४८

इसी पद्य की अनुकृति में लघु वाग्भट ने कहा है--

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत्।
लीनान्[3] धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः॥

अ० हृ० सू० १३।२८

दोनों वचनों का समुदित तात्पर्य यह है कि--दोष सर्व शरीर में--शरीर के सूक्ष्म सिरा, स्नायु, त्वचा आदि में--व्याप्त हों, परन्तु साम होने के कारण धातुओं में स्थिर (स्त्यान) होकर लीन (श्लिष्ट, चिपटे हुए) हों, चलायमान न हों, अन्य शब्दों में उनका उत्क्लेश न हुआ हो तो उनका संशोधन न करना चाहिए। जैसे आम (अपरिपक्व) आम्र आदि फल से स्वरस निकालने का परिणाम यह होता है कि एक तो उनसे रस उत्तम प्रकार से निकलता नहीं, दूसरे

१--'कासं च कुरुते भृशम्' इति पाठान्तरम्।

२--सर्वदेहानुगा इति सूक्ष्मसिरास्नाय्वाद्यनुगताः। ('सूक्ष्मसिरा त्वगाद्यनुगता' इति पाठान्तरम्)। सामा इति सामत्वेन स्त्याना अप्रचलाश्च। धातुस्था इति धातुषु अत्यन्तानुप्रवेशव्यवस्थिताः। न सुखेन निर्ह्रियन्ते इति असुनिर्हराः। किंवा असून् प्राणान् निर्हरन्ति इति असुनिर्हराः ०० । सात्यया इति सव्यापदः॥ चक्रपाणि

३--लीनान् श्लिष्टान्। अरुणदत्त।

स्वयं फल का ही पीडनादिवश विनाश हो जाता है वैसे आम दोषों के संशोधन का प्रयास करने से उनका संशोधन तो होता नहीं, उलटे अनेक व्यापत्तियां (हानियाँ) होती हैं किंवा, आश्रयभूत शरीर का ही नाश (मरण) होता है। अतः, दोष साम हों तबतक उनका निर्हरण न करना चाहिए। किन्तु--

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्[1]॥

अ० हृ० सू० १३।२६

पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन उपचारों के द्वारा दोषों को शोधन के योग्य बनाकर जो मार्ग निकट हो उससे, रोगी के बलानुसार शोधन द्रव्य बलानुरूप प्रमाण में दे कर दोषों का शोधन करें।

हेमाद्रि कहता है कि--पाचन द्रव्यों से आम दोषों का पचन होता है, दीपन उपचारों से वे जिन धातुओं में लीन (श्लिष्ट, सक्त) होकर स्थित होते हैं उनसे पृथक् किए जाते हैं, स्नेहन से उनका उत्क्लेश हता है, स्वेदन से वे कोष्ठ में लाए जाते हैं (देखिए पाद-टिप्पणी)

ज्वर का भी उपचार-क्रम सामान्यतया यही बताया गया है--

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥

ज्वर की चिकित्सा करते हुए सामान्यतया आरम्भ में दोष के पाचन के लिए, एवं ज्वर में प्रथम दूष्य रस धातु को तथा स्थान आमाशय को लक्ष्य में रखते हुए लङ्घन कराना चाहिए। ज्वर के मध्य में पाचन, ज्वर का वेग मन्द हो जाने पर ज्वर-प्रत्यनीक औषध और ज्वर की मुक्ति होने के अनन्तर विरेचन द्रव्य देना चाहिए। यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है। इसके अपवाद भी हैं, जिनका निर्देश आगे ज्वराधिकार में किया जाएगा।

कायचिकित्सा-साध्य अन्य रोगों में भी इसी प्रकार साम-निराम भेद से चिकित्सा-भेद होता है। शल्यतन्त्र में भी व्रणादि के आम, पच्यमान और पक्व भेद से चिकित्सा में भिन्नता होती है। दोष तथा शरीर साम हो ऐसी दशा में औषध दिया जाएगा तो आम के हेतुभूत अग्निमान्द्य के कारण औषध का भी पचन न होने से आम में, परिणामतया रोग में, वृद्धि ही होगी। इसके विपरीत दोष को निराम किया जाए तो वह स्वयं शरीर को छोड़ने को प्रवृत्त होता है, जिससे

१--परिष्कृतान् शोधनयोग्यतां नीतान्। तत्र पाचनैः पक्वत्वम्। दीपनैर्धातुभ्यः पृथक्त्वम्। स्नेहैरुत्क्लिष्टत्वम्। स्वेदैः कोष्ठगतत्वम्--हेमाद्रि।

रोग का बल बहुत घट जाता है। उस समय औषध की विशेष आवश्यकता नहीं होती, या स्वल्पमात्र औषध कार्य-क्षम होती है। योगशतक में वररुचि ने सुन्दर पदों में इस स्थिति का वर्णन करते कहा है--

निरामदेहस्य हि भेषजानि।
भवन्ति युक्तान्यमृतोपमानि ॥

शरीर निराम हो ऐसी अवस्था में औषध दिया जाए तो वह अमृततुल्य सिद्ध होता है।

अस्तु। प्रतिरोग प्रकरण में उस-उस रोग के साम-निराम भेद से चिकित्सा-भेद का उल्लेख आएगा ही। प्रस्तावना-रूप में इतना निर्देश कर अब रोगों के अन्य वर्गों का विचार किया जाता है।

शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादि क्रियासाध्य रोग[१]

आयुर्वेद के आठ अङ्गों में किसी का भी विषयभूत कोई भी रोग हो, उसे दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादि क्रियासाध्य। छेदन, भेदन, विस्रावण (जलोदर आदि में जल-निर्हरण) इत्यादि रूप में शस्त्रों या जलौका-प्रभृति अनुशस्त्रों से जिनका उपचार किया जाता है उन भगन्दर, ग्रन्थि आदि रोगों को शस्त्रसाध्य कहते हैं। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म, लेप आदि क्रियाओं से जिनकी शान्ति होती है ऐसे रोगों को स्नेहादि क्रियासाध्य रोग कहा जाता है। इनमें शस्त्रसाध्य रोगों में कभी स्नेहादि क्रिया भी आवश्यक होने से करनी पड़ती है। परन्तु जो रोग स्नेहादि क्रिया-साध्य होते हैं उनमें शस्त्रकर्म नहीं किया जाता।

वस्तुतः भगन्दर, नाड़ीव्रण, गिलायु (टॉन्सिल) आदि कई रोग शस्त्रसाध्य अतएव शल्यतन्त्र के विषय कहे गए हैं, तथापि उनमें केवल औषधोपचार भी सफल होता है। आधुनिक पद्धति में जिन्हें शस्त्रसाध्य कहा गया है ऐसे पित्तज शूल (आमाशय या ग्रहणी के व्रण), तरुण अश्मरी, कभी-कभी उण्डुक पुच्छविद्रधि, पूयमेहज मूत्रकृच्छ्र, मूत्रग्रन्थि (प्रॉस्टेट की वृद्धि), राजयक्ष्मा आदि रोगों में आयुर्वेद-मत से औषध चिकित्सा भी सफल होती है। मूढ गर्भ में जहाँ शल्य-चिकित्सा आवश्यक मानी जाती है वहाँ भी औषधोपचार से प्रसव के उदाहरण सुने जाते हैं। इन्हें प्रकाश में लाना चाहिए।

अवस्था-भेद से रोग औषध-साध्य या शस्त्र-साध्य होते हैं। यथा--अश्मरी के लिए कहा है कि वह तरुण (नयी) हो तो औषध-साध्य होती है,

---

१--स्थल : सु० सू० २४।३

पुरानी हो गयी हो तो शस्त्रसाध्य--औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति सु० चि० ७।३। जलोदर की चिकित्सा करते हुए प्रथम विस्रावण करना चाहिए, उसके पश्चात् ही औषध-चिकित्सा का विधान प्राचीनों ने किया है। विस्रावण में शस्त्र की आवश्यकता होने के कारण ही जलोदर की गणना शस्त्र-साध्य रोगों में प्राचीनों ने की है। सांप्रत वैद्य जलोदर में विस्रावण को प्राधान्य नहीं देते। आरम्भ से ही औषध देने लगते हैं।

नव्य चिकित्सा में देखते हैं--रोगों का प्रस्तुत वर्गीकरण स्थिर नहीं रहता। उण्डुक-पुच्छ-विद्रधि शस्त्र-साध्य तथा सर्जरी की अङ्गभूत व्याधि थी। अब 'एण्टीबायोटिक्स' के युग में वह औषध-साध्य तथा मेडिसिन का अङ्ग हो गई है। राजयक्ष्मा में विभिन्न प्रकार से फुफ्फुसों के पीडन को महत्त्व दिया जाए तो वह शस्त्र-साध्य होता है, एंटीबायोटिक्स के उपयोग की दृष्टि से वह औषध-साध्य रोग है। जलोदर आदि में आधुनिकोक्त तीव्र मूत्रल द्रव्य देकर जल का निर्हरण किया जाए तो वह औषध-साध्य रोग का उदाहरण बन जाता है। मूत्रग्रन्थि का आरम्भ हुआ हो तो पर ओज के अन्तःस्राव (पेरेन्ड्रीन) की सूची-बस्ति से लाभ होता है। इससे गुण न हो या वृद्धि अधिक हो गयी हो तो वह शस्त्र साध्य होती है। इन दृष्टियों से इस वर्गीकरण पर बहुधा विचार वाचक-वर्ग कर सकते हैं।

रोगों का यह वर्ग सुश्रुतोक्त है। चरक ने रोगों का तो नहीं, परन्तु उनकी चिकित्सा (औषध) का इससे मिलता-जुलता विभाग किया है[1]। भेद केवल यह है कि, स्नेहादि-क्रियासाध्य रोगों के आभ्यन्तर और बाह्य प्रयोग के भेद से उसने दो भेद कर दिए हैं। इस प्रकार औषध (चिकित्सा) के उसने तीन भेद किए हैं--अन्तः परिमार्जन (आभ्यन्तर) बहिः परिमार्जन (बाह्य) तथा शस्त्रप्रणिधान। इनका विवरण आगे चिकित्सा के वर्गीकरण के प्रसंग में करेंगे।

प्राकृत-वैकृत रोग[2]--

दोषों के ऋतुकालिक संचय और प्रकोप का जो प्रत्यक्ष-दृष्ट क्रम शास्त्र में बताया गया है तदनुसार जिस ऋतु में जिस दोष का संचय-पूर्वक प्रकोप होकर जो रोग उत्पन्न होना चाहिए उस ऋतु में उसी दोष का प्रकोप और उससे उत्पन्न

१--स्थल : च० सू० ११।५५।

२--स्थल : माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ पर मधुकोष ; च० चि० ३।४२ ; च० चि० ३।४८-४९ तथा इन पर चक्रपाणि-कृत टीका।

रोग हो तो प्रकोप और रोग दोनों को प्राकृत कहते हैं। यथा--वसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ तथा कफज रोग, शरद् ऋतु में प्रकुपित पित्त तथा पित्तज रोग एवं प्रावृट् (चौमासे के आदिम दो मास) में प्रकुपित वात तथा तदुत्थ वातज रोग प्राकृत कहे जाते हैं। इसके विपरीत, वसन्त में पित्त या वात का, प्रावृट् में कफ या पित्त का तथा शरद् में कफ या वायु का प्रकोप और उससे कोई रोग उत्पन्न हुआ हो तो उसे वैकृत कहते हैं।

रोगों की सुखसाध्यता आदि जानने में इन संज्ञाओं का प्रयोग होता है। साध्यासाध्यता के प्रकरण में हमने देखा है कि--जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप ऋतु-स्वभाववश होना निर्दिष्ट है उस ऋतु में उसी दोष के प्रकोप से कोई रोग हो तो वह सुख-साध्य नहीं होता। कारण, ऋतु का उस दोष के प्रकोप के अनुकूल (प्रकोपक) स्वभाव उस दोष को अधिक प्रकुपित करता है, जिससे ऋतु-कृत बल पाकर दोष बलवत्तर हो जाता है और आत्म-कृत रोग को कृच्छ्र-साध्य बना देता है। यह उत्सर्ग (सामान्य नियम, रूल) है। ज्वर इसका अपवाद है। तथाहि--

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः ।
च० चि० ३।४२

वसन्त ऋतु में हुआ प्राकृत ज्वर (कफज ज्वर) संताप (ज्वरमान) मन्द होते हुए भी वायु के कफ से आवृत होने के कारण अति दौर्बल्यवश एवं शरद में हुआ प्राकृत ज्वर (पित्तज ज्वर) तीव्र ज्वरमान, वमन आदि के कारण बहुत क्लेशदायी और उद्वेजक होता है, तथापि वह सुखसाध्य ही होता है। नव्य मत से ये ज्वर प्रायः क्रमशः इन्फ्लुएंजा तथा मेलेरिया होते हैं। इन ज्वरों के विपरीत, प्रावृट् में हुआ प्राकृत ज्वर (वातिक ज्सर) प्रायः दुःसाध्य होता है : प्रायेणानिलजो दुःखः--च० चि० ३।४८।

इन ज्वरों की सुखसाध्यता-कृच्छ्रसाध्यता की व्याख्या आगे ज्वर-प्रकरण में करना अधिक संगत होने से वहीं करेंगे।

रोगों के प्रमुख वर्ग : : निज तथा आगन्तु

आयुर्वेद में नाना दृष्टियों से रोगों का जो विभाग (वर्गीकरण) किया गया है उसका निर्देश गत अध्यायों में हमने किया है। संग्रहकार कहते हैं कि--रोगों का अनेकशः वर्ग-विभाग किया जाए तो भी अन्त को उनको निज और आगन्तु इन दो वर्गों से पृथक् नहीं किया जा सकता--सुबहुशोऽपि च भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुतां न व्यभिचरन्ति--अ० सं० सू० २२। रोगों के इन दो भेदों को प्राथमिक भेद समझना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

आयुर्वेदाभिमत प्रमाण

अथातः प्रमाणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्रमाण का अर्थ--

गत अध्यायों में आयुर्वेदीय सिद्धान्त-विषयक जो जानकारी दी गयी है तथा आगामी अध्यायों में जिसका उल्लेख किया जाएगा, उस सबका ज्ञान जिन प्रत्यक्षादि से होता है उन्हें प्रमाण या हेतु कहा जाता है। प्र उपसर्ग पूर्वक मा (प्रमा) धातु का अर्थ है--तत्त्व या यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि। उसके जो साधन या करण हों उन्हें प्रमाण कहते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में ही नहीं, इतर प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्रों में भी उनके सिद्धान्तों के ज्ञान के साधन प्रत्यक्षादि प्रमाण ही होते हैं। यह और बात है कि शास्त्र-भेद से अभिमत प्रमाण और उनकी संख्या में भिन्नता होती है। उदाहरणतया, चार्वाक एक ही प्रमाण मानते हैं--प्रत्यक्ष : प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः।

तन्त्राभिमत प्रमाण--

रोगविषयक जानकारी के साधनों के प्रसंग में आचार्यों ने अधोलिखित पाँच साधनों का निर्देश किया है--प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान तथा युक्ति[1]। युक्ति का कहीं-कहीं अनुमान में अन्तर्भाव कर उसकी गणना नहीं की गयी है। उपमान का उतना प्रयोग रोगविज्ञान में नहीं होता, यह हम उसकी व्याख्या के प्रसंग में देखेंगे। अतएव उसकी कहीं-कहीं उपेक्षा की गयी है। रोगी की परीक्षा के प्रकरण में आप्तोपदेश का साक्षात् उपयोग नहीं होता, केवल आप्तोपदेश-जनित प्रत्यक्ष और तदाश्रित अनुमान का ही उस काल में उपयोग होता है। अतः कहीं आप्तोपदेश का स्मरण प्रमाणों में करते हुए भी परीक्षा में उसकी गणना नहीं भी की गयी। जहाँ किया गया है उसका कारण आप्तोपदेश

१--स्थल : च० वि० ४।३-१२ ; च० वि० ८।३३, ३९-४२, ८३ ; च० चि० २५।२२-२३ ; च० सू० ११।७-८, १८-२५, २७ ; च० वि० ७।३-८, सु० सू० १।१६ ; सु० सू० १०।४-५, ७ ; अ० सं० सू० २२, २३ ; इन स्थलों पर चक्रपाणि तथा डल्हन की टीकाएँ।

के विवरण में हम देंगे। इस प्रकार युक्ति, उपमान और आप्तोपदेश तीन का ग्रहण न करें तो प्रमाण किंवा उनके द्वारा परीक्षा दो प्रकार की, और आप्तोपदेश का ग्रहण करें तो परीक्षा तीन प्रकार की होती है।

रोग-परीक्षा में पञ्चेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और प्रश्न का साक्षात् महत्त्व होने से इन्हीं प्रमाणों को दर्शन, स्पर्श और प्रश्न इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। अनुमान इन्हीं से उत्पन्न होने के कारण उसका अन्तर्भाव इन्हीं में हुआ समझ लिया गया है।

सुबोधता की दृष्टि से इतने संक्षिप्त परिचय के पश्चात् अब इस विषय का शास्त्राश्रित विवरण दिया जाता है।

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ॥ च० वि० ४।३[1]

आयुर्वेद के प्रतिपाद्य रोगों के संबन्ध में जो विविध विज्ञातव्य वस्तुएँ हैं उनके ज्ञान के उपाय, साधन या प्रमाण तीन हैं--आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये तीन प्रमाण कभी तीनों मिलकर रोग -विशेष का ज्ञान कराते हैं कभी दो और कभी एक से ही रोग का ज्ञान होता है। उदाहरणतया अग्निमान्द्य आदि आभ्यन्तर रोगों के ज्ञान में प्रत्यक्ष सदा उपयोग में नहीं आता।

चरक ने अन्यत्र युक्ति की भी गणना प्रमाणों में की है। उसका यहाँ अनुमान में ही अन्तर्भाव है। चरक-सुश्रुत दोनों ने इन तीन के साथ उपमान की भी प्रमाणतया गणना की है[2]।

आप्तोपदेश

तत्राप्तोपदेशो नामाऽऽप्तवचनम् ॥ च० वि० ४।४

आप्त पुरुष के वचन को आप्तोपदेश, आगम अथवा ऐतिह्य प्रमाण कहा जाता है। जिन पुरुषों का ज्ञान तथा वचन राग-द्वेष किंवा उनके कारणभूत रजस्-तमस् से शून्य हो, अतएव जो निःसंशय (निश्चित), शुद्ध, त्रिकालसिद्ध, तथा

१—रोगाणां विशेषो यथावक्ष्यमाणो विज्ञायते येन तद् रोगविशेषविज्ञानम्, उपदेशप्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम्। अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम्। एतच्च प्रमाणत्रयं क्वचिद्रोगे मिलितं, क्वचिद्द्वयं, क्वचिदेकं परीक्षायां वर्तते। येन, नान्तरे वह्निमान्द्यादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते ॥ चक्रपाणि

२—देखिए—च० वि० ८।३३ ; सु० सू० ११।१६।

वस्तु के संपूर्ण विभागों से संबन्ध रखनेवाला (संपूर्ण, कृत्स्न) हो तथा जिसका वचन (उपदेश, कथन) भी लोकों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराने एवं कर्त्तव्य में प्रवृत्ति और अकर्त्तव्य से निवृत्ति कराने के शुभ हेतु से ही किया गया हो उन पुरुषों को आप्त कहते हैं। ऐसे पुरुषों के उक्तगुणयुक्त वचनों को आप्त प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत मत्त (जिसकी बुद्धि मद्यपान आदि से विभ्रान्त हो गयी हो), उन्मत्त (उन्माद रोग पीड़ित), मूर्ख, राग-ग्रस्त तथा जिसके स्वभाव में दुष्टता भी मिश्रित हो अथवा जो धूर्त हो ऐसे पुरुष का कहा वचन आप्त अथवा प्रमाण-भूत न समझना चाहिए।

अनाप्त पुरुषों के उदाहरणतया उल्लेख का प्रयोजन है। आगे कहा जाएगा कि रोगी किंवा उसके स्वजन-परिजन भी रोग-परीक्षा के प्रसंग पर रोग-विषयक वृत्तान्त का निर्देश करते हैं। इससे रोग-विनिश्चय में सुकरता होती है। अतः आयुर्वेद में उन्हें भी प्रमाण (आप्त) मानना चाहिए। कई रोगी तथा उनके स्वजन-परिजन मूढ़, सत्त्वसारहीन अथवा ज्ञानतः या अज्ञानतः रोग का दम्भ (ढोंग-मेलिंगरिंग) करनेवाले किंवा ऐसे ही अन्य अवगुणों से युक्त होते हैं, जिससे उनके वचन रोगादि के विनिश्चय में अश्रद्धेय होने से अ-हेतु होते हैं। चिकित्सक को ऐसे वृत्तान्त-निवेदकों से पद-पद पर सँभलने की आवश्यकता होती है।

लेखक आदि की भी गणना आप्तों में होती है। परन्तु कई वार लेखकों के लेखादि अपूर्ण (अधूरे) होते हैं, कई वार अत्युक्ति पूर्ण होते हैं, कई वार प्रत्यक्षादि-प्रमाण-विरुद्ध होते हैं और कई वार तो केवल कल्पना-प्रसूत और अपनी बड़ाई दिखाने के प्रयोजन से लिखे गये होते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कई दृष्टियों से इनमें दोष होता है। इन पर विश्वास कर इनका अनुसरण करने से मिथ्या ज्ञान के परिणामों का ग्रास चिकित्सक, विद्यार्थी तथा रोगी को होना पड़ता है। अनाप्त वाक्यों के इन अनिष्ट परिणामों पर विद्यार्थी की दृष्टि सदा रहे अतः आप्त के साथ अनाप्त के लक्षण भी तन्त्रकार ने बता दिए हैं।

आयुर्वेद का मूल वेद है। अतः प्रथम आप्त वेद ही है[1]। अन्य भी कोई शास्त्र जो वेदानुकूल, सदसद्विवेकशील (परीक्षक) पुरुषों द्वारा निर्मित, शिष्टों को अनुमत एवं लोकों के अनुग्रह के लिए प्रवृत्त हो उसे भी आप्त कहा जाता है।

आतुर-वचन की भी आप्तोपदेशता--रोग-परीक्षा के समय गुरु आदि से उपार्जित ज्ञान के अतिरिक्त रोगी का वृत्तान्त-निवेदन भी रोग-विनिश्चय में

१--देखिए--च० सू० ११।२७; च० वि० ८।४१।

सहायक होता है। चक्रपाणि कहता है कि इस आतुर-वचन को भी आप्तोपदेश ही कहना चाहिए। इसके साथ हम रोगी के स्वजन-परिजनों द्वारा निवेदित वृत्तान्त को लक्ष्य में रख कर उन्हें भी आप्त तथा उनके वचन को आप्तोपदेश कह सकते हैं। अन्य शास्त्रों में रोगी या उसके स्वजन-परिजन के वाक्य को इस प्रकार आप्तोपदेश नहीं माना गया है। सो, यह एक उत्तम उदाहरण इस बात का है कि आयुर्वेद का अपना पदार्थ-विज्ञान है--अपना दर्शन है। उसका अध्यापन स्वयं आयुर्वेद के ग्रन्थों से कराना चाहिए--कम-से-कम स्नातक कक्षा में। इसके अनन्तर स्नातकोत्तर पाठचक्रम में भले तुलना के लिए अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का भी अध्यापन कराया जाए।

चक्रपाणि का उल्लिखित वचन यह है:--त्रिविधा वेत्यनेन व्याधि-परीक्षासमये ह्याप्तोदेशोऽपि व्याप्रियते ग्रहणीमार्दवस्वप्नदर्शनादि-प्रतिपत्तौ तथा दुरधिगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्तौ तथा कोष्ठमृदुदारुण-त्वादिपरीक्षायां चातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति ॥ च० वि० ४।५ पर

--रोग-परीक्षा के समय प्रसिद्ध आप्तोपदेश का तो उपयोग होता ही है, साथ ही ग्रहणी की मृदुता (मन्दता), स्वप्न-दर्शन आदि के ज्ञान के लिए, प्रत्यक्ष से दुर्बोध रोग के संश्रय के स्थानादि के ज्ञान के लिए एवं कोष्ठ की मृदुता-क्रूरता आदि के ज्ञान के लिए आतुर-वचन (एवं स्वजन-परिजन-वचन)--रूप आप्तोपदेश का भी उपयोग होता है।

आप्तोपदेश से--विचक्षणों के लिखे संहिता-ग्रन्थ, भाषण, लेख आदि से यह ज्ञान होता है कि--प्रत्येक रोग का प्रकोपक कारण कौन है, उसका उत्पादक मूल दोष कौन है; उसकी विशिष्टता क्या है--यथा रोहिणी की दारुणता (घोर, मारक स्वभाव), संन्यास का तत्क्षण उपचरणीय होना इत्यादि; उसके विप्रकृष्ट कारण क्या हैं, उसके अधिष्ठान (शरीर, शरीरावयव या मन-रूप स्थान) कौन हैं, उसमें वेदनाएँ[१] कैसी होती हैं, उसके लक्षण[१] कैसे होते हैं;

१-१--रोगी की व्यथाएँ दो प्रकार की होती हैं। प्रथम--जिनका अनुभव केवल रोगी को होता है (सब्जेक्टिव); यथा उदर या शिर में वेदना, दाह, तोद भेद आदि। द्वितीय--जिनका प्रत्यक्ष चिकित्सक या अन्य दर्शक को होता है; यथा, त्वचा या नेत्र की पीतता, उदर का उत्सेध (शोथ) (ऑब्जेक्टिव)। प्रथम प्रकार की व्यथाओं को **वेदना** कहते हैं। 'विद' धातु का अर्थ ज्ञान या अनुभव है। रोगी को स्वयं प्रतीत होनेवाले कष्टों के लिए यह शब्द लोक में भी→

उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कैसे होते हैं ; उपद्रव कौन होते हैं, उसमें पूर्वरूप कौन से होते हैं ; उसकी वृद्धि, स्थिति या क्षय में क्या लक्षण तथा कारण होते हैं, उसका उदर्क (अन्तिम फल ; साध्यासाध्यता, प्रॉग्नोसिस, एवं किसी अवयव में अथवा उसके कार्य में विकृति आदि परिणाम)[1] कैसा होता है ; उसका नाम क्या होता है ; उसमें योजना (आहारौषधादि) क्या होती है ; उसके प्रतीकार के लिए यह प्रवृत्ति करनी चाहिए--यथा ज्वरारम्भ में लङ्घन-पाचनादि ; अथवा यह निवृत्ति करनी चाहिए ; यथा नवज्वर में दिवास्वप्न, स्नान आदि की निवृत्ति (परित्याग)[2]।[3]

आयुर्वेद या अन्य किसी भी चिकित्साशास्त्र का अनुशीलन करना हो तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रायः एक वस्तु की संपूर्ण जानकारी अनेक ग्रन्थों के मिलित अनुशीलन से ही होती है। युगानुरूप आयुर्वेदीय ग्रन्थ-निर्माण में इस वस्तु पर विशेष लक्ष्य देना आवश्यक हो गया है। आधुनिक शास्त्रों के ग्रन्थों के विषय में भी समझ लेना आवश्यक है कि कई बार अनुभव और ग्रन्थ (टेक्स्ट) में दिए विवरण आदि में भिन्नता देखी जाती है। अतः कभी प्रस्तुत रोगी के लक्षणों में, दिए औषध के परिणाम में तथा अन्य किन्हीं बातों में ग्रन्थ में दी गयी जानकारी से कुछ भिन्न स्थिति देखने में आए तो ग्रन्थ पर अन्ध विश्वास न रख अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग कर तत्त्व का विनिश्चय करना चाहिए।

आप्त के विषय में न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य में एक बहुत ही व्यवहारोपयुक्त तथा आयुर्वेद-शास्त्र में व्यवह्रियमाण सत्य का निरूपण किया गया है। आप्त का लक्षण देकर भाष्यकार कहते हैं : ऋृष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च व्यवहाराः प्रवर्तन्ते।--अर्थात्, आप्त का जो लक्षण दिया गया है वह ऋषियों, आर्यों तथा म्लेच्छों सब पर समान भाव से घटित होता है। लोक-व्यवहार में भी इन सभी को आप्त मान कर कार्य किया

←प्रख्यात है। द्वितीय प्रकार की व्यथाओं के लिए **लक्षण** संज्ञा है। 'लक्ष' धातु का अर्थ देखना, प्रत्यक्ष करना सुविदित है। अँग्रेजी में इनके लिए क्रमशः सिप्टम तथा साइन इन पदों का व्यवहार होता है।

१—उत्तर (अन्तिम) फल या परिणाम को **उर्दक** कहते हैं। **उर्दकः फलमुत्तरम्**—अमर का वचन है। साध्यासाध्यता, मृत्यु आदि परिणामों को दर्शानेवाला यह शब्द है, ऐसा प्रामाणिकों का वचन है।

२—निवृत्तियों के लिए अँग्रेजी में 'नॉटस' शब्द प्रख्यात है।

३—देखिए—च० वि० ४।६ ; इस पर चक्रपाणि ; अ० सं० सू० २२।

जाता है। आयुर्वेद के तन्त्रकर्त्ताओं ने भी इसी पथ का अनुसरण किया है। वे कहते हैं--

न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारम्। तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्। एतच्च कार्यम्। एवंभूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम्। अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं च॥ च० वि० ८।१४

आयुर्वेद का पार सुतर (जिसे सरलता से तरा जा सके ऐसा) नहीं है। अतः अप्रमत्त (सावधान) हो इसकी उपलब्धि के लिए अविरत उद्योग करना चाहिए। साथ ही इसका अनुष्ठान (व्यवहार में उपयोग) भी करना चाहिए। पर-शास्त्रवादी किंवा शत्रु भी यदि कोई सद्वृत्त की बात कहे तो आप्त (आगम) मान कर उसे ग्रहण करना चाहिए। कारण, बुद्धिशाली के लिए समग्र विश्व ही आचार्य है। (इस प्रसंग में दत्तात्रेय भगवान् को स्मरण किया जा सकता है, जिन्होंने पशु-पक्षियों को भी गुरु बना कर उनसे बोध प्राप्त किया था।) इसके विपरीत बुद्धिहीनों को सर्वत्र शत्रु ही दीखते हैं। इन सब बातों का विचार कर, बुद्धि-संपन्न पुरुष को चाहिए कि शत्रु भी यदि पुण्य, यशः प्रद, आयु के लिए हितावह, पुष्टिकर एवं लोकाभिमत वचन कहे तो उसे सुने और सुन कर आचरण करे।

वस्तुतः आयुर्वेद में गोपालों, अजपालों, अविपालों तथा वनेचरों से भी वनौषधियों का परिचय प्राप्त करने का उपदेश किया गया है। आयुर्वेद के मूल वेदों में तो वराह, नकुल आदि प्राणियों के भी जीवन का अनुसंधान कर यह जानने का उपदेश किया है कि वे किस रोग में किस वनौषधि की योजना करते हैं[1]।

आप्तोपदेश का प्राथम्य--

यह सिद्ध है कि, आप्तोपदेश से रोग-विषयक संपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी तभी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और युक्ति का प्रसर होगा।--

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्॥ च० वि० ४।५

१—वेद का प्रकृत सूक्त 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' (वैद्यनाथ प्रकाशन) में अविकल उद्धृत किया गया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणों में प्रथम आप्तोपदेश से ज्ञान प्राप्त होता है, पश्चात् रोगी उपस्थित होने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से परीक्षा की जाती है। कारण, स्पष्ट है कि उपदेश द्वारा प्रथम रोग-विषयक ज्ञान न उपार्जित किया हो तो प्रत्यक्ष किस का और अनुमान भी किस का किया जाएगा ?

इस प्रकार आप्तोपदेश द्वारा जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है उनके लिए परीक्षा में दो प्रमाण होते हैं--प्रत्यक्ष तथा अनुमान। अथवा उपदेश की भी गणना करें तो परीक्षा तीन प्रकार की होती है[1]।

आप्तोपदेश को ग्रहण कर परीक्षा का त्रैविध्य क्यों स्वीकार किया इसकी व्याख्या करता चक्रपाणि कहता है कि गुरु-वचन रूप आप्तोपदेश का परीक्षा में साक्षात् उपयोग नहीं होता, तथापि आतुर-वचन-रूप आप्तोपदेश का तो साक्षात् प्रयोग परीक्षा-काल में होता ही है। अतः उसे भी साथ लेकर परीक्षा त्रिविध मानी गयी है। चक्रपाणि का यह वचन हमने ऊपर उद्धृत किया है। रोग-परीक्षा में दोनों ही आप्तोपदेशों का महत्त्व है। इनमें भी तत्काल एवं साक्षात् उपयोगी होने से द्वितीय आप्तोपदेश का महत्त्व विशेष है। इसीसे रोग-परीक्षा में इसे प्रश्न-परीक्षा (इंटेरोगेशन) नाम से स्थान दिया गया है। प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय विषयों का निर्देश आगे करेंगे। इसके पूर्व शेष प्रमाणों का लक्षण दिया जाता है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते॥

च० वि० ४।४[2]

प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः। शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः॥

च० वि० ८।३९[3]

१--देखिए--४ वि० ४।५; च० वि० ८।८३ तथा चक्रपाणि-टीका।

२--स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि तत्प्रत्यक्षमिति बाह्यं प्रत्यक्षं गृह्णाति। मनसा चेत्यनेन च मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि तच्च मानसं प्रत्यक्षं गृह्णाति॥ चक्रपाणि

३--आत्मनेति मनसा। तेन मानसप्रत्यक्षं सुखाद्यवरुध्यते। इन्द्रियैश्चेत्यनेन बाह्यं गृह्यते। स्वयमुपलभ्यत इति साक्षादुपलभ्यते। अनेन→

आत्मा, मन, इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय) का व्यवधान-रहित (साक्षात्) संबन्ध[१] होने पर तत्काल जो व्यक्त (संशय-रहित और निश्चित) ज्ञान होता है उसे एवं मन का अपने विषयों से संबन्ध होने पर स्वयं मन को जो तत्काल तथा व्यक्त ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का अन्य वस्तु के ज्ञान में प्रयोग होता है तो इसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। ज्ञान का साधन केवल मन है या मन-सहित इन्द्रिय इस बात के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों के प्रत्यक्ष को बाह्य प्रत्यक्ष कहते हैं तथा सुख, दुःख, इच्छा द्वेष आदि मानस विषयों के प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष से ज्ञेय विषयों का निर्देश आगे करेंगे। अब अगले प्रमाण अनुमान का लक्षण देखिए।

अनुमान प्रमाण तथा युक्ति

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ च० वि० ४।४, ८।४०

युक्ति-पूर्वक परोक्ष पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। युक्ति का अर्थ है लिङ्ग (हेतु) का साध्य से नियत संबन्ध--युक्तिः संबन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः। तेनाऽविनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः--च० वि० ४।४ पर चक्रपाणि[२]। जैसे आगे अनुमान से ज्ञेय विषयों की गणना करते कहेंगे कि--अग्नि के बल का अनुमान रोगी की जरणशक्ति (पचनशक्ति) से करना चाहिए। इस उदाहरण में जरणशक्ति के मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण भेदों का नियत संबन्ध अग्नि के यथासंख्य तीन भेदों मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण से होता है। सो इस नियत संबन्ध के आधार पर जरणशक्ति इन तीन भेदों में से किस प्रकार की है यह देख कर परोक्ष अग्नि-बल का तारतम्य जाना जाता है। यही प्रकार अनुमान के अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए। अनुमान तथा युक्ति के लक्षणों के विषय में अन्य ज्ञातव्य 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में देखिए।

←चेन्द्रियव्यापारे सत्यपि यदनुमानविज्ञानं तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षमिति दर्शयति। चक्रपाणि

प्रत्यक्ष के लक्षण के लिए सु० सू० १।१६ पर डल्हन की टीका भी देखिए।

१--यहाँ 'व्यवधान-रहित' विशेषण को उपलक्षण समझना चाहिए। च० सू० ११।७-८ में कहे प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि के अन्य कारणों को भी इससे गृहीत समझना चाहिए।

२--साधन (लिङ्ग, हेतु) को साध्य के विना--उसके अभाव में--न रहना अविनाभाव कहाता है।

अनुमान से ज्ञेय विषयों का निर्देश आगे किया जाएगा। अब अगले प्रमाण उपमान का लक्षण देखिए।

उपमान प्रमाण[1]

किसी प्रसिद्ध (सुपरिचित) वस्तु के सादृश्य से अन्य वस्तु का जो ज्ञान होता है, उसे उपमान या औपम्य कहते हैं। उपदेश-काल में अमुक रोग, द्रव्य आदि सुलभ न होने से गुरु दिखा न सके हों, परन्तु यह रोग या द्रव्य इस वस्तु के सदृश होता है इतना परिचय दे दिया हो, और दैवात् वह रोग या द्रव्य व्यवसाय-काल में प्रत्यक्ष हो तो गुरूपदिष्ट सदृश वस्तु के साधर्म्य (सादृश्य) से चिकित्सक स्वयं जान लेता है कि इस रोग या द्रव्य का यह नाम है। इस प्रकार उसकी बुद्धि में स्थित संज्ञा (रोग या द्रव्य आदि का नाम) तथा संज्ञी (पदार्थ) का परस्पर संबन्ध का ज्ञान कि, इस संज्ञा का व्यवहार इस संज्ञी के लिए होता है, सादृश्यवश अनायास होता है। इस रीति से दण्डक[2] का ज्ञान, नाम इस रोग की दण्डक संज्ञा है, यह ज्ञान दण्ड के सदृश उसका स्वरूप देख कर होता है। इसी प्रकार धनुष के साम्य से धनुः स्तम्भ का, माष के साम्य से मषक (त्वचा के मस्से) का, तिल के साम्य से तिलकालक (तिल, जो त्वचा में होते हैं, उन) का, विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का, शालूक (कमल का कन्द) के साम्य से पनसिका का एवं लक्ष्य-भ्रष्ट न होनेवाले धनुर्धर के सादृश्य से सुचिकित्सक का ज्ञान होता है।

शास्त्र से उपमान से संज्ञासंज्ञि संबन्ध के ज्ञान के अन्य भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा मुद्ग या माष के पत्रों के समान जिन वनौषधियों के पत्र हों उन्हें मुद्गपर्णी, माषपर्णी कहा जाता है। तिलपर्णी, शालिपर्णी, अजगरी, बाराही इत्यादि अन्य अनेक वनौषधियों के नाम भी इसी प्रकार उपमान-ज्ञेय हैं।

परीक्षा-त्रैविध्य

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से होनेवाला द्विविध प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्ति, उपमान तथा आप्तोपदेश--रोग-परीक्षा के साधन या प्रमाण हैं। इनके लक्षणों का ऊपर निर्देश किया गया। इन साधनों या प्रमाणों से रोगी की जो परीक्षा की जाती है उसे तीन विभागों में पूर्वाचार्यों ने विभक्त किया है: दर्शन, स्पर्शन

१--स्थल: च० वि० ८।४२; सु० सू० १।१६ तथा इन पर चक्रपाणि और डल्हन।

२--अपतानक (टिटेनस) का एक भेद, जिसमें शरीर दण्डवत् स्तब्ध हो जाता है; अथवा इसी लक्षणवाला ग्राम विष का एक भेद, जिसे दण्डालसक भी कहा जाता है।

और प्रश्न। आधुनिकोक्त रोग-परीक्षा का 'इन्स्पेक्शन' प्राचीनों का दर्शन है, 'पेल्पेशन' तथा 'पर्कशन' का अन्तर्भाव प्राचीनों के स्पर्शन में है। पर्कशन का निर्देश प्राचीनों ने उदर-परीक्षा में 'आकोठन' नाम से किया है। आधुनिकों का 'इन्टेरोगेशन' प्राचीनों का प्रश्न है।--

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शः परीक्षा त्रिविधा मता ॥

च० वि० २५।२२

अनुमानं च यद्यपि परीक्षाधिकारे प्रोक्तं 'द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च' (च० वि० ४।१५ ; च० वि० ८।८३), तथाऽप्यत्रानुमानस्य प्रायो व्यापाराभावात् अनुपादानमिति ब्रूते। किन्तु दर्शनादिपूर्वकत्वादनुमानस्य दर्शनादिना अनुमानमप्यतीन्द्रियादिषु ग्राहकं संगृहीतमिति युक्तं पश्यामः। दर्शनशब्दश्चात्र साक्षादुपलब्धिवचनः, तेन व्रणगतगन्धेनापि व्रणपरीक्षणं संगृहीतं भवति। दर्शनशब्देन च गृहीतोऽपि स्पर्श इह भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् पुनरुक्तः ॥ चक्रपाणि

आतुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् , स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्याः ॥ सु० सू० १०।४

षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः ; तद्यथा--पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति[1] ॥ सु० सू० १०।४

१--सुश्रुत-संहिता के ऊपर दिए वचन मूल में देखें तो प्रतीत होगा कि प्रथम वचन एकीय मत (पूर्वपक्ष) है और वह आचार्य को अभिमत नहीं है। उसका निषेध कर तन्त्रकार ने "षड्विधः" आदि उत्तर पक्ष (अपना पक्ष) रखा है। तन्त्रकार ने एक-दूसरे के पूरक-सदृश इन मतों को मतभेद का स्वरूप कैसे दे दिया, समझ नहीं आता। जिसे उसने पूर्वपक्ष कहा है उसमें परीक्षाओं के प्रकार बताए गए हैं तथा उत्तरपक्ष में इन परीक्षाओं के साधन कहे हैं। स्वयं तन्त्रकार ने इसी अध्याय के सातवें पद्य में दर्शन, आख्यान (प्रश्न का उत्तर) तथा इन दोनों के अनुसार परिमर्श (विचार, अनुमान) शुद्ध होने पर जो भार दिया है, वह भी इस बात का गमक है कि--तन्त्रकार को परीक्षाएँ दो ही अभिमत हैं--प्रत्यक्ष तथा प्रश्न अथवा अनुमान के साथ तीन। इनमें प्रत्यक्ष से प्रथम वचन में कथित दर्शन-स्पर्शन का ग्रहण है। →

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ॥

ऊपर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार प्रमाणों के कहे गए हैं। आतुर-वचन रूप आप्तोपदेश भी तत्कालोपयुक्त होने से उसका भी ग्रहण कर प्रमाण तीन भी माने जा सकते हैं यह भी ऊपर कह आए हैं। यहाँ कहे परीक्षा-त्रैविध्य में आतुर-वचन रूप इस आप्तोपदेश का प्रश्न नाम से ग्रहण किया है।

←**आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** में विपाक के प्रकरण में भी मैंने दर्शाया है कि सुश्रुत ने उस प्रसंग में भी, जहाँ मतभेद की कोई बात नहीं है, वहाँ मतभेद खड़ा कर दिया है। इन उदाहरणों के प्रस्तुत करने का प्रयोजन यह है कि, ऐसे प्रसंगों पर वाचक अपनी विवेकिनी बुद्धि का प्रयोग कर संगति लगाने का प्रयास करें। ऊपर इन वचनों का संगति-पूर्वक अर्थ दिया गया है।

जिज्ञासुओं के लिए सु० सू० १०।५ की टीका में डल्हन ने उत्तम सामग्री दी है। वह लिखता है—सुश्रुत के पञ्जिका टीकाकार गयदास की पुस्तक में दर्शन आदि तीन ही प्रकार की परीक्षा पठित है। सातवें श्लोक 'मिथ्या दृष्टा विकारा हि' के अन्त में उसने 'तस्मात् परीक्ष्याः. . . .? इत्यादि श्लोक दिया है। (श्लोक का अर्थ यह है कि—व्यवसाय में नियत सिद्धि की आकांक्षा रखनेवाले वैद्य को सभी रोगों की परीक्षा युक्तिपूर्वक दर्शनादि प्रमाणों से करनी चाहिए।) इस पद्य की व्याख्या में वह कहता है—'दर्शनादिभिः' शब्द से भी अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जाता, तथापि 'प्रमाणैः' शब्द भी दिया, उसमें प्रयोजन यह है कि—दर्शनादि निर्दिष्ट प्रमाणों के अतिरिक्त प्रमाणों का भी ग्रहण हो सके। इस रीति से गन्ध, रस और शब्द का भी अन्तर्भाव प्रमाणों में हो जाता है। जिन टीकाकारों ने छहों प्रकार की परीक्षा के उपदेशक शब्द अपनी प्रतियों में उद्धृत किये हैं उन्हें "सम्यक् शास्त्रावबोधो नास्ति"—शास्त्र का उत्तम ज्ञान नहीं है। 'आत्मसदृशेषु' इत्यादि वाक्य भी पञ्जिकाकार की पुस्तक में नहीं है। पञ्जिका टीका-विषयक डल्हन का मूल वचन अधोलिखित है—

पञ्जिकाकारस्तु दर्शनादिपरीक्षां त्रिविधामेव पठति। 'मिथ्यादृष्टा विकारा हि' इत्यादि श्लोकान्ते "तस्मात् परीक्ष्याः सततं भिषजा सिद्धिमिच्छता। युक्त्यैव व्याधयः सर्वैः (र्वे) प्रमाणैर्दर्शनादिभिः"—इति श्लोकमधीते, व्याख्यानयति च-दर्शनादिभिरित्येवं कर्त्तव्ये यत् 'प्रमाणैः' इत्यधिकं करोति तदधिकप्रमाण-प्राप्त्यर्थम्। तेन गन्धरसशब्दानामप्यवरोधः। ये त्वत्राक्षरैः षड्विधामपि परीक्षां पठन्ति, तेषां सम्यक् शास्त्रावबोधो नास्तीति भाषते। 'आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात्, इत्यपि न पञ्जिकाकारः पठति॥

अनुमान का ग्रहण प्रमाणों में करके भी परीक्षा में उसके द्वारा साक्षात् परीक्षा नहीं की जाती, अतः उसका ग्रहण नहीं किया। प्रत्यक्ष और प्रश्न के पश्चात् अनुमान का व्यापार स्वतः सिद्ध है, अतः शब्द से ग्रहण न होने पर भी अनुमान का ग्रहण हो गया समझना चाहिए।

दर्शन-परीक्षा में आई 'दृश्' धातु केवल चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की सूचक नहीं है। वह ज्ञानेन्द्रियमात्र के व्यापार की बोधक है। सो, दर्शन का अर्थ प्रत्यक्ष-परीक्षा समझना चाहिए। चरक के इसी प्रकरण के पूर्व तथा पश्चात् व्रण के गन्धादि की परीक्षा लिखी है। उससे 'दृश्' धातु का यह विस्तृत अर्थ लेना सिद्ध है।

'दर्शन' शब्द का व्यापक अर्थ पञ्चेन्द्रिय-कृत परीक्षा लिया जाए तो स्पर्शन का भी ग्रहण स्वयं हो जाता है, तथापि 'स्पर्शन' का जो पृथक् उल्लेख किया, उसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष परीक्षा में स्पर्श-परीक्षा का व्यवहार विशेष होता है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय-कृत परीक्षाओं में भी दर्शन-परीक्षा विशेषतः व्यापृत होती है।

तात्पर्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होनेवाली परीक्षा के तीन प्रकार हैं--दर्शन, (आकोठन-सहित) स्पर्शन तथा प्रश्न और इनके आधार पर तथा इनके अनु (अनन्तर) होनेवाला इन्हीं में अन्तर्भूत अनुमान। इन परीक्षाओं के साधनों को लक्ष्य में रख कर सुश्रुत ने कहा है--रोग के विज्ञान के उपाय छ प्रकार के हैं--पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा प्रश्न।

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। च० वि० ४।५

आप्तोपदेशादि तीनों प्रमाणों किंवा प्रश्नादि तीनों परीक्षाओं का शुद्ध एवं एवं समग्र उपयोग कर रोग और उसके उपचार का जो निश्चय किया जाता है वह अदुष्ट होता है। प्रमाण या परीक्षा के एक देश का उपयोग करने से ज्ञातव्य रोग का संपूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। किं बहुना--

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्।

सु० सू० १०।७

रोग का दर्शन सम्यक् तथा समग्र न हो, प्रश्न-परीक्षा के प्रसंग में दिए गए उत्तर सम्यक् (शुद्ध) तथा समग्र न हों तथा उनका चिन्तन (अनुमान) शुद्ध और

संपूर्ण न हो तो चिकित्सक मूढ़ (कर्त्तव्यच्युत) हो जाता है--अपने साध्य रोगोपशान्ति को सिद्ध नहीं कर पाता। वस्तुतः--

शास्त्रशुद्ध (साइन्टिफिक) चिकित्सा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न द्वारा प्रकृति, निदान, लक्षण, उपशयानुपशय आदि समस्त परीक्षणीय पदार्थों की सम्यक् और समग्र परीक्षा से ही होती है। वैसे तो रोगी ज्यों ही औषधालय में प्रवेश करता है, वैसे ही उसके अपाङ्गमात्र (आँख के कोने) से दर्शन से ही अनुभवी चिकित्सक उसके विषय में बहुत-सी बातें जान लेता है और प्रायः उसका निदान (स्नैप-डायग्नोसिस) भी कर लेता है, तथापि इस प्रकार की परीक्षा में कभी-कभी भूल होने की संभावना होती है। रोगी को भी इससे संतोष नहीं होता और चिकित्सा की सिद्धि के लिए रोगी का संतोष, तज्जन्य श्रद्धा तथा उसकी स्थिरता का मूल्य अनल्प है। अतः तीनों प्रकार की परीक्षाओं द्वारा रोगी के संबन्ध में संपूर्ण ज्ञातव्य बातें जाननी ही चाहिए। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के शब्दों का प्रयोग करना हो तो आपाद-मस्तक समस्त संस्थानों की क्रमशः परीक्षा करके रोग निदान करना चाहिए।

परीक्षा के लिए प्रत्येक रोग के पूर्वरूप, रूप आदि का उत्तम ज्ञान आवश्यक है। इससे दर्शन और स्पर्शन परीक्षा में तो सौकर्य होता ही है, विशेष लाभ तो प्रश्न-परीक्षा में होता है। रोग-विशेष की संभावना करके एक केन्द्रीय प्रश्न पूछ कर क्रमशः उससे संबद्ध प्रश्नों की परंपरा उपस्थित करते जाना चाहिए, जिससे रोगी को भी चिकित्सक के प्रति श्रद्धा हो कि वह रोग को ठीक-ठीक समझता जा रहा है। प्रश्न-परीक्षा में अगले प्रश्न का विचार करने के लिए अटकना रोगी की श्रद्धा का विघात करता है। सो, त्रिविध परीक्षा की पूर्णता के लिए अपना स्वाध्याय और अनुभवजन्य ज्ञान प्रतिदिन और प्रतिक्षण बढ़े इस हेतु चिकित्सक को अप्रमत्त हो कर गाढ़ प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रमाणों तथा परीक्षाओं के लक्षण के संबन्ध में इतना कह कर अब हम इस बात का निर्देश करेंगे कि प्रश्न-परीक्षा आदि द्वारा किन-किन बातों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। गुरूपदेश-रूप आप्तोपदेश से ज्ञेय बातों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष प्रश्न-परीक्षादि से ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यहाँ करते हैं।

प्रत्यक्ष द्वारा रोग-परीक्षा[1]

पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा परीक्षा का नाम प्रत्यक्ष परीक्षा है। अपनी

१—स्थल : च० वि० ४।७ ; च० चि० २५।२२ ; सु० सू० १०।५ इन पर चक्रपाणि तथा डल्हन ; अ० सं० सू० २२।

रसनेन्द्रिय द्वारा विविध प्रकार से रस की परीक्षा को छोड़ रोगी के शरीर में स्थित अन्य सर्व विषयों की परीक्षा अपनी ज्ञानेन्द्रियों से करनी चाहिए। यथा--अन्त्रकूजन[1], सन्धियों में स्फुटन (चेष्टाकालिक शब्द), अंगुली-स्फुटन ; रोगी के विभिन्न स्वर ; कास, हिक्का, श्वास आदि के शब्दों की परीक्षा श्रवणेन्द्रिय से करनी चाहिए। प्राणवह स्रोतों अर्थात् हृदय-पर्यन्त श्वासमार्ग के शब्दों की परीक्षार्थ संप्रति 'स्टेथोस्कोप' का व्यवहार वैद्यों ने भी अपना लिया है।

शब्द-परीक्षा में शल्यतन्त्र का उदाहरण लेना हो तो कह सकते हैं कि--धमनी में यदि शल्य प्रविष्ट हो गया हो तो कुपित वायु शब्द-सहित फेनयुक्त रक्त को प्रवृत्त करता हुआ स्वयं बाहर निकलता है। श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य इस शब्द के श्रवण से शल्य के धमनी-गत होने का अनुमान करे।

रोगी के वय, प्राकृत-वैकृत वर्ण , इन्द्रियों के अधिष्ठान, आकृति, शरीर तथा विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों का प्रमाण, प्रभा, छाया, शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का उपचय-अपचय, बल (उत्साह तथा व्यायाम-शक्ति), रोग के लक्षण, आयु के लक्षण, शरीर के प्राकृत स्वरूप में हुए कोई भी विकार (परिवर्तन) ; पुरीष, मूत्र, वान्त द्रव्य एवं रोगी के शरीर में स्थित किंवा अन्यत्र स्थित रोग-विषयक अन्य कोई भी ज्ञातव्य जो चक्षुरिन्द्रिय का विषय हो उसे चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रिय की सहायतार्थ संप्रति रञ्जन-किरण (एक्स-रे), अणु-वीक्षण आदि साधनों का उपयोग प्रवृत्त हुआ है। फुप्फुस, हृदय, महास्रोत आदि की रञ्जन-किरण से परीक्षा सुविदित है, वय की परीक्षा भी इस साधन द्वारा होती है। शलाकास्थियों के प्रान्त (सिरे) जो आरम्भ में तरुणास्थि-रूप होते हैं, काल-क्रम से अस्थि-रूप होते जाते हैं। भिन्न-भिन्न शलाकास्थियों के प्रान्त अस्थिमय हो कर शलाकास्थि के काण्ड से संयुक्त होने का काल भिन्न-भिन्न परन्तु निश्चित होता है। अमुक-अमुक निश्चित वय आने पर अमुक-अमुक शलाकास्थि का प्रान्त अस्थिरूप हो अपने काण्ड से संयुक्त होता है। सर्व अस्थियों की रञ्जन-किरण से परीक्षा कर जाना जा सकता है कि किसी कुमार का वय क्या है?

रोगी के सर्वाङ्ग में पाया जानेवाला प्राकृत-भिन्न वैकारिक गन्ध ; एवं शकृत् (पुरीष), स्वेद, व्रण आदि के गन्ध को गन्धेन्द्रिय से जानना चाहिए। व्रण अथवा व्रणभिन्न पदार्थों की परीक्षा अरिष्टों के लक्षण जानने में भी व्यापृत होती है।

१—अँग्रेजी में बॉर्बोरिग्माई या गर्गलिङ्ग ; पेट में गुड़गुड़ी ; गुजराती में धुधवाटो।

ज्वर, शोथ आदि रोगों में[1] शीत-उष्ण, श्लक्ष्ण-खर, मृदु-कठिन, स्तम्भ, स्पन्दन आदि प्राकृत या वैकृत स्पर्श की परीक्षा स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से करनी चाहिए। नाड़ी-परीक्षा भी स्पर्श-परीक्षा का ही प्रकार है। इसका स्वल्प विचार इस ग्रन्थ में आगे किया है। वर्तमान में स्पर्शनेन्द्रिय की सहायतार्थ तापमापक (थर्मामीटर); व्यान-मापक (स्फिग्मोमेनोमीटर)[2] आदि का आविष्कार हुआ है।

आतुर-शरीर-गत रस यद्यपि रसनेन्द्रिय का विषय है तथापि यह घृणित होने से प्रश्न और अनुमान से ही इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यथा-- दोष-भेद से मुख का रस भिन्न-भिन्न होता है। रस द्वारा दोष-प्रकोप के ज्ञान के लिए रोगी को प्रश्न करके उसका ज्ञान प्राप्त करे। शरीर पर यूकाएँ (जूँ) संश्रय करें तो शरीर की दुष्टि का अनुमान करे। वे शरीर छोड़ती हों तो शरीर में प्राकृत रस है, ऐसा समझें। मक्षिकाएँ आकर बैठती हों तो शरीर-माधुर्य का अनुमान करे। यह लक्षण मधुमेह में होता है। आधुनिकों ने माधुर्य का मूल संश्रय रक्त में कह कर इसे 'ग्लायकीमिआ' नाम दिया है। अपत्यपथ आदि मार्गों से प्रवृत्त रक्त जीवरक्त (शुद्ध रक्त धातु) है या रक्तपित्त (पित्त-

---

१--देखिये : स्पृष्ट्वा शीतोष्णादीन् स्पर्शविशेषान् विपरीताविपरीतान् ज्वरशोफादिषु--सु० सू० १०।५ में पाठान्तर।

२--'ब्लडप्रेशर' मापने का यन्त्र यहाँ अभिप्रेत है। हृदय से विक्षेपित द्रव पाश्चात्य-विज्ञान में 'ब्लड' कहा है, जबकि आयुर्वेद में रसधातु हृदय से विक्षेपित होती बताई गई है। अतः कतिपय विद्वान् रक्तभार, रक्तचाप, रक्ताभिनोदन आदि ब्लडप्रेशर के वाचक शब्दों में रक्त के स्थान पर रस शब्द का व्यवहार करना योग्य समझते हैं। आयुर्वेद की दृष्टि में अधिक सत्य स्थिति यह प्रतीत होती है कि, रक्त या रस का वहन स्वतन्त्र नहीं होता है। वायु ही उनका वाहक होता है। अतः उनके दवाव की परीक्षा से वायु की ही समता, क्षीणता या प्रकोप (नॉर्मल, लो या हाई ब्लडप्रेशर) का प्रत्यय होता है। सो इसे वायु (यहाँ व्यान-वायु) की ही परीक्षा तथा यन्त्र को व्यानमापक या ऐसा ही अन्य नाम देना चाहिए।

नाम के आग्रह में आयुर्वेदिक दृष्टि रखने का प्रमुख कारण यह है कि ब्लड-प्रैशर का विचार हम वायु के साम्य, क्षय और प्रकोप के रूप में करें तथा चिकित्सा में मुख्यतया उसे दृष्टि में रखें। संग्रहकार ने वायु के प्रत्येक भेद के प्रकोप के पृथक् कारण बताए हैं। उन्हें लक्ष्य में रख यहाँ व्यानवायु का विचार किया जा सकता है। उनके अतिरिक्त आवरण का भी व्यानवायु के प्रकोप के कारण के रूप में विचार करना चाहिए।

दूषित रक्त) यह जानना चिकित्सा के पूर्व आवश्यक होता है। जीवरक्त का स्तम्भन उचित होता है तथा रक्तपित्त में प्रायः उपेक्षा विधेय होती है। एतदर्थ, निर्गत रक्त में कपड़ा या रुई भिगो कर उसे कौए या कुत्ते को खाने को दें। पित्त से दूषित होने के कारण विकृत रसयुक्त होने से वे इसे न खाएँ तो रक्तपित्त का निश्चय करें, खाएँ तो जीवरक्त मानें। प्रवृत्त मूत्र पर यदि पिपीलिकाएँ (मकौड़े या चिऊँटी) बैठें तो मूत्र में माधुर्य (मधुमेह या इक्षुमेह-शीत मेह) का अनुमान करे। नव्यों ने शारीर अथवा मूत्रगत माधुर्य की परीक्षार्थ विविध परीक्षण निश्चित किए हैं।

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्ष की सहायतार्थ आधुनिकों ने तत्-तत् यन्त्रों और उपकरणों का आविष्कार किया है, यह ऊपर कहा है। इस विषय में विशेष भार दे कर जतलाने की आवश्यकता है कि चिकित्सक को इन यन्त्रों तथा परीक्षणों की अपेक्षया अपने नेत्र, श्रवण, स्पर्शादि इन्द्रियाँ द्वारा परीक्षा-शक्ति का अभ्यास विशेष बढ़ाना चाहिए। साथ ही, प्रश्न-परीक्षा को भी संपूर्ण बनाना चाहिए और एतदर्थ रोग-मात्र के लक्षण, पूर्वरूप, निदान, अरिष्ट, उपद्रव आदि का ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना चाहिए। अत्यन्त शोचनीय बात है कि प्राचीन-अर्वाचीन उभय पद्धति के चिकित्सकों में रोग-परीक्षा में अपनी इन्द्रियों की शक्ति के विकास पर लक्ष्य उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। पुराने अनुभवी चिकित्सक दर्शन-मात्र से जितनी परीक्षा कर पाते हैं, अनेक साधनों के साथ भी प्रायः आधुनिक चिकित्सक उसका अंश-मात्र नहीं कर पाते, उलटे कितनी ही भूलें करते हैं। चरक का यह वचन स्मरण रखते हुए अपनी गुण-संपत्ति की अभिवृद्धि के प्रति प्रत्येक वैद्य को सदा ध्यान देना चाहिए--

तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् भिषक् स्वगुणसंपदि ॥ च० सू० ६।२५

अपनी निरीक्षण-शक्ति को बढ़ाता हुआ सुचिकित्सक अपने रोगियों को निरर्थक प्रयोगशाला-परीक्षाओं के भारी व्यय से भी बचा सकेगा।

प्रत्यक्ष-परीक्षा का विस्तार प्रत्येक रोग के निदान-चिकित्सा के प्रकरणों में आएगा। शेष दो परीक्षाओं में अनुमान प्रत्यक्ष और प्रश्न परीक्षाओं के अधीन होने से प्रत्यक्ष का इतना निरूपण कर अब प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय विषयों का विचार किया जाता है।

प्रश्न द्वारा रोगों का परीक्षा[1]

प्रश्न-परीक्षा द्वारा रोग तथा रोगी के विषय में निम्न बातें ज्ञात होती हैं।

१--स्थल : सु० सू० १०।५, तथा डल्हन ; अ० सं० सू० २२ ; च० वि० ४।८ ; च० चि० २५।२३ तथा चक्रपाणि।

१—देश

देश शब्द के दो अर्थ हैं—भूमि और आतुर (रोगी)।

देशस्तु भूमिरातुरश्च— च० वि० ८।९२

देशस्त्रिविधो जाङ्गलानूपसाधारणभेदात् ॥

सु० सू० १०।५ पर डह्लन

भेषजमवचारयन् प्रागेव तावद्देवमातुरं परीक्षेत। कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा। तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहार-जातम्, इदं विहारजातम्, इदमाचारजातम्, एतावद्बलम्, एवंविधं सत्त्वम्, एवंविधो दोषः, एवंविधं सात्म्यम्, इयं भक्तिः, इमे व्याधयः, हितमिदमहितमिदमिति प्रायोग्रहणेन ॥ च० वि० ८।९३, अ० सं० सू० २३

आयुर्वेद में भूमि-वाचक देश का प्रसिद्धतर अर्थ दोषों की दृष्टि से किया गया भूमि या स्थल का विभाग है। यही जलवायु आदि नामों से लोक में विदित है। इन देशों का लक्षण आगे दिया जाएगा। संक्षेप में जाङ्गल, आनूप तथा साधारण ये तीन प्रकार देश के होते हैं। जाङ्गल देश में वर्षा न्यून होने से वह शुष्क होता है। अतएव उसमें वात-पित्त के प्रकोप से होनेवाले रोग अधिक होते हैं। इसे मरु या धन्व देश (सूखी आबोहवा) भी कहते हैं। यह कफ-प्रधान रोगों से पीड़ित रोगियों के प्रवास के लिए अच्छा होता है। आनूप में वृष्टि अधिक होने से कफज रोगों की संभावना अधिक होती है। यह वात-पित्त रोगाक्रान्त पुरुषों के प्रवास के लिए हितकर है। साधारण में वृष्टि आदि का स्वरूप मध्य होता है। अतः तीनों दोषों की समता इसमें रहती है। इस प्रकार प्रश्न-परीक्षा से रोगी के निवास या रोगोत्पत्ति के देश का ज्ञान हो जाए तो सामान्यतया किस दोष के प्रकोप से होनेवाले रोग की संभावना हो सकती है, इसका ज्ञान होता है। तदनुसार आवश्यक हुआ तो न्यूनाधिक काल के लिए देश-त्याग (स्थल-परिवर्तन, जलवायु-परिवर्तन) का विनिश्चय किया जा सकता है।

भूमि-वाचक देश का अन्य अर्थ जनपद (राज्य आदि) है। इस अर्थ में रोगी के देश की परीक्षा करते हुए पूछना चाहिए कि उसका जन्म, वृद्धि अथवा रोगोत्पत्ति किस देश में हुई है? उन देशों के मनुष्यों का आहार, विहार, आचार (रीति-रिवाज), बल, सत्त्व, सात्म्य, भक्ति (रुचि या व्यसन) क्या होता है? उनमें प्रायः कौन से दोष का प्रकोप और कौन से रोग होते हैं? उन देशों में तथा वहाँ होनेवाले रोगों में क्या आहार-विहार-औषधादि हित (उपशय) होता है

और क्या अहित ? इन सर्व वस्तुओं की स्मृति देश के ज्ञान से हो जाती है। तदनुसार दोष तथा रोग की कल्पना एवं योजना की विनिश्चिति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इन देशों में भी प्रचलित आहार-विहारादि के अतिरिक्त ये जाङ्गल, आनूप या साधारण इन तीन में किस कक्षा के हैं यह भी देखना चाहिए।

देश-विशेष में प्रयुक्त होनेवाले विशिष्ट अन्नपान का शरीर पर कैसा हिताहित प्रभाव होता है, इसका उत्तम उदाहरण चरक-संहिता में विमानस्थान के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है। पिप्पली, क्षार और लवण के समयोग के सद्गुण बताकर आगे इनके अतियोग से होनेवाली हानियाँ बताई गयी हैं।[1] इस प्रकरण में क्षार तथा लवण का अतियोग जिन देशों में होता है उनके निवासियों को होनेवाली शारीर विकृतियों का निर्देश भी किया गया है। इनमें क्षार के समयोग के लाभ दर्शा कर आगे अतियोगादि के विषय में लिखते तन्त्रकार कहते हैं :

सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते। ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्य-पालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च[2] भवन्ति, तद्यथा--प्राच्याश्चीनाश्च। तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत ॥ च० वि० १।२०

क्षार का अतियोग किया जाए तो वह केश, नेत्र, हृदय और पुंस्त्व का नाश करनेवाला सिद्ध होता है। देखते भी हैं जिन ग्रामों, नगरों, निगमों (कस्बों) और जनपदों (जिलों) में इसका सतत सेवन किया जाता है वहाँ के निवासियों में इन अवयवों के रोग--आन्ध्य (दृष्टि-विकार), षाण्ढ्य (व्यवाय की अशक्ति

१--आजकल जैसे मिर्च के अतियोग की हानियाँ बताई जाती हैं, वैसे प्राचीनों ने पिप्पली के अतियोग की हानियों का दर्शन किया था। उसी का निरूपण चरक के वचन में है। लाल मिर्च भारत में आई, उसके पूर्व अन्नपान में कटु (तीखे) रस के लिए शुण्ठी, मरिच और पिप्पली का व्यवहार होता था ; विशेषतया पिप्पली का। अतएव उत्तर भारत में कहीं पिप्पली का स्थान, आज मिर्च ने ले लिया है, इस बात की सूचनार्थ मिर्च को पिप्पली ही कहा जाता है। वैसे ही जैसे अपनी ब्याही पुत्री का अवसान हो जाने पर उसके स्थान पर आई अन्य लड़की को पहली के स्वजन पूर्व नाम से ही पुकारते देखे जाते हैं।

शेष दो द्रव्यों--क्षार और लवण के अतियोग की हानियाँ जैसी चरक ने बताई हैं उसी प्रकार आज भी उनकी हानियों का प्रतिपादन विशेषतया निसर्गोपचारकों द्वारा किया जाता है।

२--हृदयापकर्तिन इनि हृदयपरिकर्तनरूपवेदनायुक्ताः। चक्रपाणि

तथा अनपत्यता), खालित्य (गंज), पालित्य (केश पकना) एवं हृदय में परिकर्त्तन-रूप वेदना ये रोग विशेषतः पाए जाते हैं ; जैसे प्राच्य देशों और चीन में। अतः क्षार का अतियोग न करना चाहिए।

आगे लवण के समयोग का साद्गुण्य बताकर अतियोग के अपाय दर्शाते तन्त्रकार ने कहा है--

तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्य दौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा--बाह्लीक-सौराष्ट्रिक-सैन्धवसौवीरकाः। ते हि पयसाऽपि सह सदा लवणमश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवान-स्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्मा-ल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्य-पालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति॥ च० वि० १।२१

तत्तद्गुणयुक्त भी लवण का अतियोग किया जाए तो यह शरीर में ग्लानि (हर्ष तथा प्रभा का नाश), शैथिल्य और दौर्बल्य का उत्पादक होता है। देखते भी हैं, जिन ग्रामों, नगरों, निगमों और जनपदों में इसका सतत सेवन किया जाता है, वहाँ के निवासी अत्यधिक म्लान-शरीर, शिथिल मांस और द्रव-प्राय रक्तवाले एवं क्लेश के सहन में असमर्थ होते हैं, जैसे बाह्लीक, सौराष्ट्र, सैन्धव और सौवीर इन (प्राचीन) देशों के वासी। वे लोक दूध के साथ भी नित्य लवण का व्यवहार करते हैं।

लवण का यह अतियोग प्राणि-शरीर को ही हानि पहुँचाता हो सो बात नहीं, भूमि पर भी इसकी विक्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। भूमि के जो भाग अति ऊषर (लवणप्रधान, खारे) होते हैं वहाँ धान्य, लता, वनस्पति और वानस्पत्य होते ही नहीं; होते हैं तो लवण से उपहत (नष्ट) होने के कारण अल्पवीर्य होते हैं। इससे लवण के अतियोग की हानियों को बुद्धिस्थ कर उसके अतियोग से बचना और बचाना चाहिए। समयोग तो लवण का रखना ही चाहिए। उक्त देशों के अतिरिक्त अन्य देशों के वासी भी जो लवण (नमक) का निरन्तर और अति सेवन करते हैं वे भी अकाल में ही (अल्प वय में ही) खालित्य, पालित्य और वली (त्वक्संकोच, झुर्री)--इन वार्धक्य के लक्षणों से आक्रान्त हो जाते हैं[1]।

१--पिप्पली-लवणादि के अतियोग का यह प्रकरण समग्रतया भाषान्तर-समेत मेरे आयुर्वेदीय हितोपदेश (वैद्यनाथ प्रकाशन) में देखिए। उसी प्रकरण→

देश-विदेश की रीति-नीति का विचार आज भी इसी प्रकार किया जा सकता है। कदाचित् देशान्तर का रोगी अथवा अधिक सम्भव है देशान्तर का प्रवास कर आया स्वदेश का रोगी चिकित्सक के पास आए। ऐसे प्रसंगों पर चिकित्सा यशस्विनी हो सके इस हेतु देश-विदेश की प्रथाओं, वहाँ होनेवाले रोगों आदि का परिचय उत्तरोत्तर बढ़ाने का प्रयास चिकित्सक को करते रहना चाहिए।

देश-भेद से रोग-भेद के दो-एक प्रसिद्ध उदाहरण लें। बङ्गाल में विषम ज्वर तथा उसी का एक भेद, नाम्ना कालाज़ार, विशेष होता है। अफ्रीका में इसी का एक प्रकार जिसमें मूत्र में नष्ट रक्त की प्रवृत्ति होती है, अतएव अँग्रेजी में जिसे 'ब्लैक वॉटर फीवर' कहते हैं, उसकी संभावना होती है। कई आनूप देशों में वृद्धि (रस उतरना, फाईलेरिएसिस) विशेष होता है, कहीं गलगण्ड प्रायः होता है।

किंबहुना, भूमि-वाचक देश शब्द के दो अर्थ हुए--जाङ्गलादि भूमि तथा भूगोल आदि में प्रसिद्ध भूमि। इसके अतिरिक्त जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में कहा गया है--भूमि का अन्य भी अर्थ है--रोगी। रोगी या उसके अवयव-विशेष को देश इसलिए कहा जाता है कि वह चिकित्सा का देश होता है--
आतुरस्तु खलु कार्यदेशः --च० वि० ८।९४।

कार्य-देश आतुर (रोगी) की त्रिविध परीक्षा प्रकृति, विकृति, सार आदि दशविध ज्ञातव्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए करनी होती है। इस विषय का विस्तार इस प्रकरण के पश्चात् किया ही जाएगा। यहाँ प्रश्न-परीक्षा के प्रसंग में आतुर-विषयक मुख्य ज्ञेय वस्तु उसका सत्त्व या मनोबल है। विशेषतया स्वजन-परिजन को पूछ कर इसकी परीक्षा करनी चाहिए। रोगी का शरीर और सत्त्व बलवान् (सारवान्) हो तभी उसे रोगारम्भक दोष के प्रमाणानुसार बलवान् औषध यथोचित प्रमाण में दिया जा सकता है अथवा शस्त्रोपचारादि अन्य चिकित्सा की जा सकती है। इसी कारण, विवेकी चिकित्सक अल्पबलवाले आतुरों को ऐसे औषध देते हैं जो विषाद (शरीर और मन में ग्लानि) न उत्पन्न करें एवं जो प्रायः मृदु और सुकुमार हों। पश्चात् औषध का बल और प्रमाण (मात्रा) उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं। यह वस्तु स्त्रियों की चिकित्सा करते हुए सविशेष स्मरण में रखनी चाहिए। कारण, उनका हृदय (मन) अत्यन्त मृदु, अगम्भीर और अल्प-मात्र क्लेश से घबरा जानेवाला होता है। स्वभाव से वे सुकुमार तथा अन्य उन्हें धीरज बँधाएँ तभी स्थिरता ग्रहण करनेवाली होती हैं[1]।

←में इन द्रव्यों के अतियोग तथा अन्य प्रज्ञापराधों के हेतु ग्राम्याहार और ग्राम-निवास की गर्हणा का विचार भी देखिए। ग्राम शब्द यहाँ वस्ती के लिए आया है।

१--देखिए : च० वि० ८।९४ तथा चक्रपाणि।

सत्त्व की असारता एवं तद्विपरीत सत्त्व-सारता का एक-एक प्रकार-विशेष होता है, जिसे सत्त्व-परीक्षा में सविशेष स्मरण रखना चाहिए। इस दृष्टि से रोगियों के दो विभाग किये जा सकते हैं--गुरु व्याधित और लघुव्याधित।

गुरुव्याधित पुरुष उसे कहते हैं जो यत्सत्यं गुरु (अधिक दोष, वेदना आदि युक्त) रोग से पीड़ित होता है, परन्तु सत्त्वबल तथा शरीर-संपत्ति उत्कृष्ट होने से लघु-व्याधित-सा प्रतीत होता है। इसके विपरीत लघुव्याधित पुरुष होते हैं, जिनका रोग वास्तव में अल्प (अल्प दोष, वेदना, लक्षण आदि वाला) होता है, परन्तु सत्त्व आदि हीन कोटि के होने के कारण वे दृश्य ऐसा खड़ा करते हैं जानो कोई बड़ा रोग उन्हें पीड़ित कर रहा है। विवेक-रहित चिकित्सक केवल बाह्य परीक्षा द्वारा गुरुव्याधित को लघुव्याधित और लघुव्याधित को गुरुव्याधित समझकर मिथ्या चिकित्सा कर देते हैं। यथा--गुरुव्याधित को अल्पोपाय-साध्य समझ कर, दोष अधिक होने से तीक्ष्ण संशोधन की आवश्यकता होते हुए भी मृदु संशोधन देने की भूल करते हैं और उसके दोषों की सुतरां वृद्धि कर देते हैं। इसके विपरीत, लघुव्याधित को प्रभूत-दोषाक्रान्त मान कर उसे तीक्ष्ण संशोधन देते हैं; परिणामतया दोषों का अति निर्हरण हो जाने से उनका (दोषों और मलों का) क्षय होकर अन्य विपरिणाम होते हैं। कुशल चिकित्सक रोगी की सर्वथा परीक्षा करते हैं और ऐसी भूल से अपने को बचाते हैं[1]।

इस प्रकरण में नवाविष्कृत उन औषधों को स्मरण किया जा सकता है जो दोष को न तो बाहर निकालती हैं, न ही उसका शमन करती हैं, प्रत्युत बुद्धि के केन्द्रों पर मोहनात्मक प्रभाव डालकर वेदना को भुला देती हैं। कई बार तो इन औषधों के उपयोग से दोष और रोग अन्दर ही अन्दर बढ़ता रहता है और अन्त में प्राणहर सिद्ध होता है। शिरोरोग (शिरोवेदना) के निवारणार्थ प्रयुज्यमान एस्पिरीन आदि कल्प, तथा उदर आदि के विविध शूलों की अप्रतीति के लिए प्रयुज्यमान अहिफेन आदि के कल्प इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। वेदनाएँ शरीर में दोष के वैषम्य की सूचक हैं, इस सर्वतन्त्र सिद्धान्त की उपेक्षा कर दोष का मूलगामी उपचार न कर केवल तात्कालिक सुख की चिन्ता करते हुए इन उपचारों का आश्रय लिया जाता है। आयुर्वेद के उपासक चिकित्सकों तथा नागरिकों को इस सत्य का जनता में अधिकाधिक प्रचार करना चाहिए।

कार्य-देश (चिकित्सा का अधिष्ठान)--रूप रोगी के विषय में प्रश्न-परीक्षा से ज्ञातव्य एक वस्तु यह भी है कि, वह किस कल्प के रूप में (चूर्ण, द्रव, वटी आदि) औषध लेना पसन्द करता है?

१--देखिए--च० वि० ७।३-७; चक्रपाणि; अ० सं० सू० २२।

देश के विषय में इतना विवेचन कर अब प्रश्न-परीक्षा-ज्ञेय अगले विषय काल पर आता हूँ।

२—काल

काल का विचार आगे समग्रतया किया ही जाएगा। यहाँ संक्षेप में इतना जानना चाहिए कि काल के दो भेद हैं--नित्यग या संवत्सर किंवा ऋतु रूप; तथा आवस्थिक। आवस्थिको द्विविधः, स्वस्थस्य बाल्यादिभेदेन, व्याधितस्य ज्वरारम्भादिकालावस्थया च--सु० सू० १०।५ पर डह्लन। आवस्थिक काल के दो भेद हैं--बाल्य आदि वय, एवं बाल्य के भी क्षीरान्नाद आदि विभाग; तथा ज्वर के उदय का काल आदि रोगों की अवस्थाएँ। काल के दो भेदों में आवस्थिक काल के कई प्रकारों का ज्ञान प्रश्न-परीक्षा से होता है।

वय का ज्ञान प्रश्न से होता है। वय के ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि, वयोभेद से शरीर में तत्तत् दोष का प्रकोप होकर तज्जन्य रोग प्रायः होते हैं। इस प्रकार बाल्य में कफ का प्रकोप होता है, यौवन में पित्त का तथा वार्धक्य में वायु का। स्वस्थावस्था में भी वय के ज्ञान का उपयोग होता है। यथा, वार्धक्य आने को हो, उसके पूर्व ही अभ्यङ्ग, रसायन चूर्ण आदि रसायन द्रव्यों का सेवन इत्यादि चर्या का अवलम्बन पुरुष करे तो हृद्ग्रह (एन्जाइना), हृच्छूल (कॉरोनरी थ्राम्बोसिस), पक्षाघात, भ्रम (उच्च रक्तभार) आदि रोगों से रक्षित रह सकता है।

बाल्य वय के क्षीराद (स्तन्य-वृत्ति) आदि भेद किये गये हैं। इनके ज्ञान का निदान-चिकित्सा में उपयोग होता है। बालक क्षीराद या क्षीरान्नाद हो तो माता के स्तन्य का प्रभाव उस पर होता है। अतः ऐसे बालक की परीक्षा में माता तथा उसके स्तन्य की भी परीक्षा करनी चाहिए। कभी-कभी माता को विकार स्वल्प ही होता है, पर वही कुमार के लघु शरीर में रोगोत्पत्ति करने में समर्थ होता है। यथा--माता में पित्त का प्रकोप कदाचित् इतना ही हो कि वह मुख में उष्ण स्पर्श या कटु वस्तुओं का स्पर्श सहन न कर सके पर उससे कुमार के शरीर में ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग हो सकते हैं। माता को केवल अरुचि हो, पर शिशु को इतने से प्रतिश्याय, कास, ज्वर आदि होना सम्भव होता है। रोग का कारण परीक्षा से मातृ-स्तन्य प्रतीत हो तो माता की भी चिकित्सा करना उचित होता है।

बालक-सम्बन्धी ज्ञातव्य काल का एक प्रकार दन्तोद्भेद का काल है। बालक की परीक्षा में दाँत तो नहीं निकल रहा यह अवश्य पूछना चाहिए। कदाचित् दन्तोद्भेद ही उसके ज्वर, अतिसार आदि किसी भी रोग का कारण हो सकता है। दन्तोद्भेदो हि रोगाणां सर्वेषामेव कारणम्--अमुक-अमुक दन्त अमुक-अमुक

महीने के वय में निकलता है। कई बार अनस्थिसार शिशुओं में दन्तोद्भेद का काल विलम्बित भी हो सकता है। इसके विपरीत अस्थिसार शिशुओं में दन्तोद्भेद सामान्य काल से पूर्व भी हो सकता है। प्रकृति के समान सार भी माता-पिता से ही अपत्य को प्राप्त होता है। परिणामतया एक माता-पिता के बच्चों में दन्तोद्भेद का काल समान ही होता है। अतः नियत वय आने पर भी किसी शिशु को दन्तोद्भेद न हो तो अग्रजों के दन्तोद्भेद का काल प्रश्न द्वारा जानना चाहिए। प्रायः उनमें भी दन्तोद्भेद विलम्बित हुआ विदित होता है।

प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय काल के अन्य उदाहरण ये हैं। रोगी को श्वास, पामा आदि रोग हों और उनके वेग वर्ष में कभी-कभी होते हों तो पूछना चाहिए कि वे किस ऋतु में होते हैं, दिन तथा रात के किस काल में होते हैं? इससे किस दोष का प्रकोप रोग का संनिकृष्ट कारण है यह जानकर तदनुरूप चिकित्सा सुकर होती है। ज्वर-पीड़ित पुरुष को विषम-ज्वर है या दोषज ज्वर यह प्रथम जानना आवश्यक होता है। इसके लिए वेग तीक्ष्ण है या मन्द; ज्वर सतत रहता है या मोक्ष होता है; यदि मोक्ष होता हो तो वेगोदय कम्प-सहित तथा मोक्ष प्रस्वेद-सहित होता है या उनके बिना; वेग और मोक्ष के काल निश्चित हैं या अनिश्चित––ये प्रश्न करने चाहिए। इससे चिकित्सा विशुद्ध होती है। ज्वर को हुए कितना काल बीता यह जानने से उसकी सामता-निरामता एवं तरुणता-जीर्णता जानने में सहायता प्राप्त होती है। उदर में शूल हो तो भोजन-काल के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, यह जानने से शूल के स्थान तथा कारण-भूत दोष का ज्ञान हो जाता है। शूल भोजन के तत्काल पश्चात् हो तो स्थान आमाशय तथा दोष कफ या पित्त, भोजन के आध-एक घण्टे पश्चात् हो तो दोष पित्त तथा स्थान पच्यमानाशय एवं भोजन के डेढ़-दो घण्टे पश्चात् शूल हो तो स्थान पक्वाशय एवं मूल दोष वायु है, यह संभावना होती है। आर्तव-प्रवृत्ति सकष्ट हो तो कष्ट के काल के ज्ञान से स्थान का ज्ञान होता है। आर्तव-प्रवृत्ति के दो एक दिन पूर्व वेदना हो तो स्थान आर्तववह स्रोत (फैलोपियन ट्यूब) होता है; प्रवृत्ति के दिनों में हो तो स्थान गर्भाशय एवं प्रवाह चालू हो उस काल कष्ट हो तो स्थान अपत्य-पथ होता है।

इन उदाहरणों से अन्य भी कल्पनाएँ करके समझा जा सकता है कि किस प्रकार काल की रोग के निदान में उपयोगिता है।

३–जाति

जाति शब्द ब्राह्मण आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में प्रायः जन्मसिद्ध जाति के अनुसार ही व्यवसाय (धन्धा) पसन्द किया जाता था।

अतः जाति शब्द से व्यवसाय का भी ग्रहण स्वयं हो जाता था। वर्तमान काल में व्यवसाय जातिगत न रह गया होने से प्रश्न-परीक्षा में उसको पृथक् स्थान दिया जाता है।

व्यवसाय के साथ रोगों का सम्बन्ध कैसे होता है, यह 'सदातुर पुरुष' इस प्रकरण में (पृ० ३०५) पर कर आये हैं। उससे विदित होगा कि पौरोहित्य, शिक्षण, वाणिज्य आदि कार्य करनेवालों में वहाँ निर्दिष्ट कारणों से वात रोगों की संभावना सविशेष होती है।

आजकल व्यवसायों का वैविध्य हो जाने से तत्-तत् व्यवसाय से होनेवाले रोगों का अवेक्षण भी उत्कृष्ट रीति से हुआ है। विभिन्न खानों तथा कारखानों में कार्य करनेवालों को द्रव्यभेद से तत्-तत् आभ्यन्तर और बाह्य रोग होते हैं। इस विषय का अनुशीलन आधुनिक ग्रन्थों से करना चाहिए। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख कर तदनुरूप चिकित्सा-विनिश्चय किया जा सकता है।

काल के विषय में इतना निर्देश कर अब अगले ज्ञेय सात्म्य का विचार किया जाता है।

४—सात्म्य

सात्म्य-विषयक अधिक विचार आगे सामान्यतः परीक्षणीय पदार्थों के प्रकरण में आएगा। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहा जाता है कि, जो आहार, विहार (चेष्टा; कायिक, वाचिक या मानसिक––बौद्धिक––कर्म), औषध, देश, काल आदि जन्म से ही पुरुष को सुखकर (अनुकूल, कोई हानि न पहुँचानेवाला; माफिक) हो; किंवा जन्म से सात्म्य न होने पर भी जो अहिफेन, सोमल, मद्य, विजया (भाँग), रात्रि-जागरण, दिवास्वप्न प्रभृति आहार-विहारादि अभ्यास से––चिर सेवन से––पीडा न करनेवाले हो चुके हों उन्हें सात्म्य कहा जाता है।

सात्म्य से रोग, साध्यासाध्यता आदि का विनिश्चय होता है। घृत-दुग्ध, मांसरस-षड्रसात्मक आहार आदि का सेवन करनेवाले पुरुष बलवान् होने से उन्हें रोग होते नहीं; हों तो बलवान् नहीं होते, किन्तु सुसाध्य होते हैं। रूक्ष आदि भोजन करनेवालों के रोग उनके दुर्बल होने से दुःसाध्य होते हैं।

मद्य के व्यसनियों को पित्तप्रकोप सुलभ होने से यकृत्-प्लीहा रोग होने का संभव होता है। अहिफेन किसी को सात्म्य हो और उसे अतिसार हो जाए तो स्तम्भन द्रव्य क्या दिया जाए यह प्रश्न होने से स्थिति चिन्तनीय होती है। धूमपान के कारण कास-प्रभृति व्याधियाँ होती हैं। चाय से मनोविक्षेप, अनिद्रा, मन्दाग्नि, उदकमेह आदि विकार होते हैं। ये द्रव्य सात्म्य हो चुके हों तो कोई

हानि नहीं होती। सो, रोग-परीक्षा में सात्म्य का विचार रोग का निदान तथा योजना का निश्चय करने में उपयोगी होता है। यह सात्म्य प्रश्न से ही जाना जाता है।

देश-भेद से भी सात्म्य का भेद होता है।

५—आतङ्क-समुत्पत्ति तथा काल-प्रकर्ष[1]

आतङ्क शब्द रोग-वाचक है तथा समुत्पत्ति का अर्थ है रोग का कारण—निदान। निदान-भेद से चिकित्सा-भेद होता है। अतः कारण-विशेष का जानना आवश्यक होता है। यथा, रोग वातप्रधान हो तो जिज्ञासा करनी चाहिए कि—किमाहारेण कुपितो वायुः किं विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति—अ० सं० सू० २३। वायु का प्रकोप आहार से हुआ है, या रात्रि-जागरण आदि विहार से; आहार से हुआ हो तो रूक्ष आहार से हुआ है या लघु से; शीतजल, वायु आदि के सम्पर्क से हुआ है या साहस (शक्ति से अधिक शारीरिक, वाचिक या मानसिक कर्म) से हुआ है या वेगावरोध से हुआ है अथवा भय या शोक से हुआ है? चिकित्सा निदान-विपरीत हो तभी गुणावह होती है। यथा, रात्रि-जागरण से हुए वातप्रकोप में दिवास्वप्न ही समीचीनतर चिकित्सा सिद्ध होती है, श्रम-जन्य वात-प्रकोप में विश्राम और निद्रा ही उपयुक्त होते हैं; स्निग्ध-गुरु भोजन आदि से इनमें उल्लेखनीय उपकार नहीं होता। इसीसे प्रत्येक रोग की संप्राप्ति देखते हुए निदान का इस प्रकार पृथक् विचार किया जाता है।

निदान (कारण) जानने के पश्चात् भी इस प्रकरण में प्रश्न द्वारा यह जानना चाहिए कि रोग कारण-विशेष से उत्पन्न होकर कैसे बढ़ता गया—किन-किन लक्षणों को किस क्रम से उत्पन्न करता गया?

आतङ्क-समुत्पत्ति अथवा रोग के क्रमिक इतिहास के प्रसङ्ग से रोग की अवधि का ज्ञान भी आवश्यक है। प्रायः रोग जैसे-जैसे जीर्ण होते जाते हैं वैसे-वैसे दुःसाध्य होते जाते हैं।

जितने भी लक्षण उपलब्ध हों उनकी अवधि पृथक्-पृथक् देखनी चाहिए। कालक्रम देखने से यह निर्णय करना सुगम हो जाता है कि, लक्षणों में कौन स्वतन्त्र या प्रधान रोग है, कौन उसका अङ्गभूत लक्षण है, कौन उपद्रव है और कौन

१—कालप्रकर्षादींश्च विशेषान् इति कियान् कालोऽस्मिन् व्याधावुत्पन्ने इत्यादीन् भेदान्—डह्लन।

संकरोत्पादक रोग है। यह भी सम्भव है कि स्वतन्त्र रोग एक से अधिक हों। नवीन विद्यार्थी बड़े-बड़े दो-चार लक्षण देखकर ही प्रायः निश्चिन्त हो जाते हैं कि उन्होंने रोग की परीक्षा कर ली है। इससे परीक्षा शुद्ध और परिपूर्ण नहीं होती।

लक्षणों की पृथक् अवधि जानना कैसे उपयोगी होता है इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करें। सर्वाङ्ग-शोथ का उपद्रव जलोदर होता है, और जलोदर का उपद्रव सर्वाङ्ग-शोथ होता है। दोनों रोगों की चिकित्सा में तारतम्य आदि में भेद होता है। सो, मूल रोग कौन है यह जानना ही चाहिए और इसका ज्ञान प्रथम कौन रोग हुआ था यह प्रश्न द्वारा जानने से होता है।

६—वेदनाएँ

रोगी जिन व्यथाओं का स्वयं अनुभव करता है उन्हें वेदना (साइन) कहते हैं, तथा चिकित्सकादि को जो व्यथाएँ प्रत्यक्ष होती हैं उन्हें लक्षण (सिम्पटम) कहते हैं, यह पहले कह आए हैं।

वेदना के स्वरूप तथा स्थान के ज्ञान से उसके कारणभूत दोष का ज्ञान होता है। तोद (चिउँटी काटने आदि जैसी पीड़ा, प्रिकिंग सन्सेशन; गुजराती में चटाका), भेद (फटने के समान वेदना, कटिंग पेन; गुजराती में फाट); छेद (टूटने की-सी वेदना; टेअरिंग पेन; गुजराती में तोड़); शूल (छुरा आदि भोंकने की सी वेदना; स्टैबिंग पेन; गुजराती अपभ्रंश हूरो; उदर में शल—चूंक); सुप्ति (स्पर्शनाश, नमनेस; गुजराती—खाली); परिकर्तिका (कोई कैंची आदि से काटता हो ऐसी वेदना; नॉएिग पेन; गुजराती वाढ); इत्यादि वेदनाएँ वात-प्रकोपवश होती हैं। मिथ्याप्रतीतियों को अँग्रेजी में 'पैरास्थीशिआ' कहते हैं। स्फुरण (फड़कना) आदि वातिक वेदनाओं की भी इसी प्रकार गणना की जा सकती है।

ओष (उष्णता की प्रतीति), चोष (चूसने का सा अनुभव), दाह, अम्लक आदि वेदनाएँ पित्त-प्रकोपवश होती हैं। गौरव (सर्वाङ्ग या एकाङ्ग में भारीपन का अनुभव; सेन्स ऑफ हेवीनेस), कण्डू आदि कफ-प्रकोपवश होते हैं।

काल के प्रसंग में कह आए हैं कि वेदना का काल भी जानना चाहिए। नाम, वह सतत होती है या कभी शान्त होती है; मन्द (मधुर) है या तीव्र या मध्यम; उदर में वेदना हो तो वह भोजन के पश्चात् बढ़ती है या शान्त होती है, रोग के वेदना आदि लक्षण अहोरात्र में काल-स्वभाववश प्रकुपित होनेवाले किस दोष के समय में वृद्धि को प्राप्त होते हैं या शान्त होते हैं—इत्यादि प्रकार से काल का ज्ञान होने से आरम्भक दोष का निश्चय होकर तदनुरूप चिकित्सा का मार्ग परिष्कृत हो जाता है।

७–बल

इसका अधिक विवरण आगे सामान्य परीक्ष्य पदार्थों के प्रसंग में किया जाएगा। शारीरिक, मानसिक (बौद्धिक) तथा वाचिक श्रम करने की शक्ति (व्यायाम-गम्या शक्ति) को बल कहते हैं। रोग का प्रतीकार करने की शक्ति तथा औषध का वीर्य सहन करने की शक्ति को भी बल कहा जाता है। राजयक्ष्मा आदि रोगों में बल की परीक्षा से रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान होता है। इस बल की इयत्ता (प्रमाण) प्रश्न से ही जानी जाती है।

८–अन्तरग्नि (जठराग्नि)

अन्तरग्नि अन्य अग्नियों का भी मूल है। यह दीप्त हो तो धात्वग्नियों तथा धातु-उपधातुओं की पुष्टि यथावत् होती है, जिससे बल टिका रहता है–मनोबल भी स्थिर रहता है। रोगी की जरण-शक्ति (पचन-शक्ति) जन्मतः कैसी है, पूर्वापेक्षया कुछ न्यूनाधिकता हुई है इत्यादि प्रश्नों से अग्नि के बल का प्रमाण अर्थात् साम्य, वैषम्य या मन्दता तथा इनका भी तरतम-भाव जाना जाता है। अग्नि और रुचि उत्तम हों तो रोग शीघ्र शान्त होने की आशा होती है। अग्नि तथा बल सहसा नष्ट हो जाएँ तो यह एक अरिष्ट समझा जाता है। (यहाँ 'दीप्ताग्निता' पाठान्तर है)।

९–कोष्ठ

विरेचन देने की आवश्यकता व्यवसाय में प्रायः पड़ती है। पहले कह आए हैं कि कई रोगी अथवा स्वस्थ भी विरेचन को सहन नहीं कर सकते। इससे उनमें मल का क्षय होकर दौर्बल्य आ जाता है। कई पुरुष ऐसे होते हैं जिन्हें दुर्बलता की प्रतीति न हो तो भी मृदु विरेचन से भी अपेक्षित से अधिक मलप्रवृत्ति हो जाती है। ऐसे पुरुषों का कोष्ठ मृदु कहा जाता है। इनके विपरीत कई जनों को तीव्र विरेचन से ही मलप्रवृत्ति होती है, अथवा नहीं भी होती। इनका कोष्ठ क्रूर कहा जाता है। स्नेहपान, गुदवर्ति आदि उपायों से इनके कोष्ठ को प्रथम मृदु बनाना उचित होता है। तृतीय श्रेणी मृदु और क्रूर के मध्यवर्ती कोष्ठ वालों की होती है। रोगी प्रथम वार चिकित्सक के पास आया हो तो उसके कोष्ठ का स्वरूप जानना योग्य होता है। यह कोष्ठ प्रायः प्रकृति और व्यवसाय के अधीन होता है। पित्तप्रकृति पुरुषों का कोष्ठ मृदु तथा शारीरिक श्रमजीवियों का श्रमजनित वात के कारण क्रूर होता है।

विरेचन देने के पश्चात् भी प्रश्न करना चाहिए कि औषध की क्रिया कैसी हुई, मलप्रवृत्ति सकष्ट तो नहीं हुई, इत्यादि। सकष्ट हुई तो कष्ट प्रवाहिका-

सदृश मरोड़ के रूप में या वातातिसार में कोष्ठगत वात के पीड़न से जैसा कष्ट होता है वैसा था। वातातिसार की यह वेदना मलप्रवृत्ति के कुछ क्षण पूर्व होती है और मलप्रवृत्ति के पश्चात् लुप्त हो जाती है। प्रवाहिका-सदृश कष्ट स्वर्णपत्री (सनाय) से प्रायः होता है। किसी को कटुरोहिणी (कटुकी) से भी यह वेदना होती है। ऐलेयक (एलुआ) के कल्प चिरकाल सेवन करने से किसी को प्रवाहण-सदृश वेदना हो आती है। सो, विरेचन के प्रसंग में ये बातें प्रश्न-परीक्षा द्वारा जानते रहना चाहिए।

अज्ञान रोगी या परिचारक कितनी वार मलोत्सर्ग के लिए जाना हुआ यही संख्या के रूप में बताते हैं। उससे यह मानने की भूल न करनी चाहिए कि मल-शुद्धि भी इतनी ही वार हुई। कई वार ग्रथित मल की ही प्रवृत्ति होती है। उससे भी शुद्धि सम्यक् हुई यह न समझना चाहिए। परन्तु, ये सब बातें प्रश्न-परीक्षा पूर्णतया करने से ही विदित होती हैं।

संशोधन के प्रकरणों में अन्य भी अविरेच्यों का निर्देश किया जाएगा।

विरेचनीयता के सदृश ही वमन कराने की आवश्यकता हो तो उसके सम्बन्ध में भी कोष्ठ का स्वरूप जानना चाहिए। पहले कभी वमन लिया हो तो उसका क्या परिणाम हुआ था यह जानने से इस बात की स्पष्टता हो सकती है। संग्रह-कार ने वमन के विचार से कोष्ठ के इन भेदों को सुच्छर्दत्व-दुश्छर्दत्व नाम दिए हैं।

विरेचन अथवा वमन की दृष्टि से कोष्ठ कैसा है यह रोगी न बता सके ऐसे भी प्रसंग उपस्थित होते हैं। कारण, रोगी ने कभी विरेचन या वमन लिया ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में मृदु विरेचन से आरम्भ करना चाहिए तथा इस विषय का खुलासा भी रोगी के आगे कर देना चाहिए। अन्यथा, विरेचन औषध देने पर भी विरेचन नहीं हुआ इस धारणा से रोगी में चिकित्सक के प्रति अश्रद्धा होने की संभावना हो सकती है।

१०—मल-प्रवृत्ति

अधोवायु, ऊर्ध्ववायु (उद्गार), मूत्र, पुरीष, आर्तव, अधोगामी रक्तपित्त (उष्णताजन्य रक्तस्राव), वमन, गुह्य मार्ग से (शिश्न, अपत्यपथ या गुदमार्ग से) प्रवृत्त पूय, शुक्र इत्यादि का समावेश इस प्रश्न के अन्तर्गत होता है।

प्रश्नों से इन मलों की परीक्षा करते हुए भी यथाशक्य प्रत्यक्ष परीक्षा भी करनी चाहिए। यथा, मूत्र में रक्तप्रवृत्ति का इतिहास लेकर आए रोगी का मूत्र देखना चाहिए। कई वार न्यूनाधिक पीतवर्ण मूत्र को ही अज्ञान रोगी रक्त-मिश्रित समझते हैं। मूत्र श्वेत होने की व्यथा लेकर आए रोगी से पूछना

चाहिए कि श्वेत का अर्थ दुग्ध या तक्र-सदृश श्वेत है या जल-सदृश ? जल-सदृश श्वेत मूत्र उदकमेह आदि में होता है। दुग्ध या तक्र-सदृश लालामेह, क्षारमेह, पिष्टमेह या वसामेह में होता है। प्रथम दो में श्वेत पदार्थ की प्रवृत्ति मूत्र के प्रवाह के आरम्भ या अन्त में होती है। वसामेह (काइल्यूरिआ) तथा पिष्टमेह (लाइप्यूरिआ) में आरम्भ से अन्त तक समग्र मूत्र दुग्ध-सदृश श्वेत होता है। कारण, निर्गत स्नेह द्रव्य मूत्राशय में संचित और मूत्र से मिश्रित हो समूचे मूत्र को दुग्धाभ कर देता है।

मूत्रमार्ग से पूय-प्रवृत्ति हो तो वह न्यून है या अधिक यह जानना चाहिए। अत्यधिक प्रवृत्ति पूयमेह में तथा न्यून प्रमाण में प्रवृत्ति उष्णवात (यूरिथ्राइटिस) में होती है। यही स्थिति अपत्यपथ से प्रवृत्त पूय में भी समझनी चाहिए।

आर्तव-प्रवृत्ति के विषय में भी प्रमाण न्यून है या अधिक इसका ठीक उत्तर अज्ञान रोगी नहीं दे पाते। उनसे इस प्रकार के सरल प्रश्न पूछने चाहिए कि, आर्तव कितने दिन रहता है, प्रति दिन पृथक्-पृथक् कितनी-कितनी गद्दियाँ बदलनी पड़ती हैं, इत्यादि।

पुरीष की प्रवृत्ति-विषयक कुछ प्रश्न ऊपर बता आए हैं। पुरीष की प्रवृत्ति के साथ अधोवायु की प्रवृत्ति-सम्बन्धी प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए। नव्य विज्ञान से अभिभूत हो अधोवायु या ऊर्ध्ववायु-विषयक प्रश्न पूछना ही हम भूल गए हैं। इन मलों की प्रवृत्ति होती है या नहीं, होती हो तो उससे सुख-प्रतीति होती है या नहीं यह प्रश्न करना चाहिए। वात-प्रवृत्ति का परिणाम सुख हो तो उपशयात्मक इस परीक्षा से कोष्ठगत वात के प्रकोप का निदान होने से चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। बहुत वार न केवल कोष्ठगत रोग, ऊर्ध्वजत्रुगत या अधःकायगत रोग भी दुर्बोध होते हैं, उनमें अधोवायु की प्रवृत्ति से सुखोपलब्धि का इतिहास रोगी कहे तो निदान और चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ होता देखा गया है। सो, प्रश्न-परीक्षा में अन्य प्रश्नों के साथ अधोवायु और ऊर्ध्ववायु की प्रवृत्ति पर ध्यान अवश्य देना चाहिए।

वमन के विषय में रोगी के कहने से हुआ केवल इतना ज्ञान पर्याप्त नहीं होता कि वमन होता है। वमन में कुछ द्रव्य निकलता है या नहीं, निकलता है तो वह कफ-प्रधान होता है या तिक्ताम्ल-रस तथा पीतवर्ण होने से पित्त-प्रधान यह जानना चाहिए। वमन की मिथ्या (द्रव्य-रहित) प्रवृत्ति वात के प्रकोप की सूचक होती है। एतादृश प्रश्नों से दोष का निर्णय करने से तदनुरूप योजना की स्फुरणा होती है।

११—स्वप्न-दर्शन

स्वप्नों के ज्ञान से प्रकृति का ज्ञान होता है यह वस्तु क्रिया-शारीर में विद्यार्थी जान आए हैं। यथा, आकाश में उड़ने या एक वृक्ष से अन्य वृक्ष पर फाँदने के स्वप्न से स्वप्नदर्शी पुरुष वातप्रकृति है यह निर्णय होता है। प्रकृति के ज्ञान का उपयोग यह है कि, इससे इस बात की सूचना मिलती है कि रोगी को सामान्यतया किस दोष का प्रकोप और तदुत्थ रोग होने की संभावना हो सकती है। प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप ही पुरुष में स्वल्पमात्र निमित्त से हो आता है और तज्जन्य रोग ही प्रायः उसे अधिक पीड़ित करते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। प्रकृति का ज्ञान हो तो प्रकृत्यनुसार ऋतुचर्या आदि का अनुष्ठान कर रोग को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है। प्रकृत्यनुरूप रसायनों के सेवन से आयु को भी दीर्घ और स्वस्थ बनाया जा सकता है।

रुग्णावस्था के पूर्वरूपों और रूपों की परीक्षा में भी स्वप्नों की परीक्षा की जाती है। यथा, यक्ष्मा के पूर्वरूपों में शुष्क, दावानल से दग्ध वन इत्यादि के दर्शन के स्वप्न आते हैं। इनका वर्णन यथास्थान करेंगे। स्वप्नों से रोग का निदान, साध्यासाध्यता, अरिष्ट और प्रधान दोष का परिज्ञान होता है। मनोविश्लेषण (सायको-एनेलिसिस) के इस युग में स्वप्नज्ञान द्वारा मानस रोग की मूल ग्रन्थि के ज्ञान और तदनुरूप चिकित्सा ने महत्त्व का पद प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार कृत्रिम निद्रा (संमोहन, हिप्नोटिज्म) में रोगी को डालकर उसे गत जीवन की स्मृतियाँ ताजी करने को कहा जाता है। इसे 'फ्री एसोसिएशन' नाम दिया गया है। इससे भी रोग के निदान और उपचार का पथ परिष्कृत होता है। 'सोडियम पेन्टोथल' नामक एक औषध की सूचीबस्ति देने से रोगी ऐसी स्थिति में आ जाता है कि अपने मन में छुपाकर रखी बात को भी आप-ही-आप कह देता है। इससे भी रोग का मूल कारण (कोई मानसिक व्यथा) जान लेने से उसका उपचार सुगम हो जाता है। इस द्रव्य का उपयोग प्रायः अपराधियों के मन की बात उन्मुक्त कराने में किया जाता है।

१२—अभिप्राय

किस रस, आहार या विहार में रोगी की रुचि है, आरोग्य अब कैसा है, प्रकृति पहले से अच्छी है या बुरी, शरीर पूर्वापेक्षया कैसा है इत्यादि विषयक रोगी का अनुभव प्रश्न से जाना जाता है। अभिलषित रस आदि से विपरीत दोष की दुष्टि का अनुमान होता है। कारण, प्रकुपित हुए दोष अपने विपरीत गुणवाले आहार आदि के प्रति अभिरुचि तथा समान गुणवाले आहार आदि के प्रति द्वेष

(अप्रीति) उत्पन्न करते हैं--कुर्वते हि रुचिं दोषाः। यथा, कफ का प्रकोप हो तो कटु (तीखे) पदार्थों के अभ्यवहार के प्रति रुचि (इच्छा), श्रम के प्रति अरति, किंवा अल्पमात्र श्रम के पश्चात् काम में मन न लगना, श्रम के बिना भी जिसका कारण न विदित हो ऐसी अरति (उठने-बैठने आदि किसी कार्य में चैन न मालूम होना) इत्यादि लक्षण होते हैं। इन्हें जानकर योग्य उपचार की दिशा निश्चित करनी चाहिए।

रुचि-अरुचि के प्रसंग में दो बातें स्मरण-योग्य हैं। एक तो यह कि कभी-कभी रुचि अहिताहार-विहार की भी होती है। इस विषय का विवरण दोषों के प्रकोप के प्रकरण में करेंगे। दूसरी बात यह कि, प्रायः देखने तथा जानने में ऐसे दृष्टान्त आते हैं कि जिनमें किसी चिरानुबन्धी रोग से पीड़ित जन को निश्चित अहित आहार या विहार की अदम्य इच्छा हुई और अन्त में उसके सेवन से उसका रोग सदा के लिए जाता भी रहा।

१३—आस्यरस

मुख का रस कैसा है, यह ज्ञान प्रश्न से होता है। कफ के प्रकोप में मुख का रस मधुर होता है, पित्त के प्रकोप में तिक्त या अम्ल और वायु के प्रकोप में कषाय या विरसता (कोई भी रस प्रतिभात न होना, फीकापन) की प्रतीति होती है। महास्रोत में अपने स्थान में प्रकुपित हुए दोष प्रसृत हो जब लालाग्रन्थियों में आते हैं तो लाला के साथ उनकी भी प्रवृत्ति मुखकुहर में होती है। अन्नपान के रस के सदृश इनकी प्रतीति बोधक कफ के साहाय्य से रसनेन्द्रिय को होती है।

मुख की वात-कृत विरसता की व्याख्या--ऊपर कहा है कि, वात का प्रकोप होने पर मुख का रस कषाय होता है या मुख में विरसता (कोई भी रस न होना) होती है। इनमें कषाय रस को तो उसी प्रकार वात का अपना रस समझना चाहिए जैसे मधुर कफ का है तथा तिक्त पित्त का। शेष विरसता की व्याख्या आयुर्वेद के सिद्धान्त को समझने की दृष्टि से आवश्यक है। इससे आयुर्वेद-मत से अन्य भी वात-कृत विकारों की व्याख्या प्रसंगवश हो जाएगी। अतः यहाँ उसका विचार किया जाता है।

रक्त के प्राकृत कर्म रसादि धातुओं के प्राकृत कर्मों के उल्लेख के प्रसंग में तन्त्रकारों ने बताए हैं। उनके अतिरिक्त सुश्रुत ने सिराओं में संचरण करते वातादि तीन दोषों तथा रक्त इन चार की प्राकृत और विकृत अवस्थाओं के कर्म बताए हैं। सिरा-प्रकरण में बताए कर्मों में अन्यत्र बताए कर्मों से कुछ विशेषता है। तथाहि :

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ।।

सु० शा० ७।१४

रक्त अपनी वाहक सिराओं में संचरण करता हुआ धातुओं का पूरण (उनकी क्षति-पूर्त्ति) करता है, त्वचा आदि में प्राकृत वर्ण को बनाए रखता है, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संशय तथा भ्रम रहित ज्ञान कराता है एवं तन्त्र में अन्यत्रोक्त तत्-तत् अन्य प्राकृत कर्म करता है।

स्पर्श शब्द व्यापक अर्थ में मन एवं ज्ञानेन्द्रिय-मात्र के अपने विषय के साथ संसर्ग के लिए आता है। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय शब्द भी ज्ञानेन्द्रिय-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से ज्ञानेन्द्रिय एक ही है--स्पर्शनेन्द्रिय[1]। ऊपर के पद्य में प्राकृत रक्त के गुणों में जो स्पर्शज्ञान कहा है, उसका भी अर्थ ज्ञानेन्द्रिय-मात्र से जन्य ज्ञान है। कारण, रक्त और रसधातु द्वारा तर्पक-पूरक सामग्री की उपलब्धि हो तभी ज्ञानेन्द्रियाँ यथावत् पुष्ट रहकर अपनी-अपनी क्रिया करने में समर्थ होती हैं।

रसधातु तथा उसका मलभूत कफ सम प्रमाण में हों तो शिर में स्थित पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का तर्पक नाम से तर्पण करता है (उनमें तरावट रखता है); जिह्वा आदि पृथक् इन्द्रियों तथा इन्द्रियाधिष्ठानों में भी सौम्यता (मार्दव आदि विषय-ग्रहणानुरूप गुण) रखता है।--जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते। शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वात् इन्द्रियाणाम् आत्मवीर्येणाऽनुग्रहं करोति[2]। सु० सू० २१।१४

वात का प्रकोप हो, रस-रक्तादि धातुओं का तथा कफ का क्षय हो इन अवस्थाओं में जिह्वेन्द्रिय आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय के ग्रहण का सामर्थ्य

१--तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणाम् इन्द्रियव्यापकम् ।। च० सू० ११।३८
एकं स्पर्शनमिति नान्यच्चक्षुरादि ।। चक्रपाणि
स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तकः ।। च० शा० १।१३३

२--आत्मवीर्येणेति प्राकृतगुणेन। स्नेहो मस्तकमज्जा। इन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम्--डल्हन। यहाँ त्वचा को भी मस्तकमज्जा या मस्तिष्क में स्थित कहा है। इससे स्पष्ट है कि त्वचा का आधुनिकों के समान मस्तिष्क से सम्बन्ध का दर्शन प्राचीनों ने भी किया था। अन्य इन्द्रियां भी मस्तिष्क में स्थित उनके मूलस्थानों के रूप में ही यहाँ ग्राह्य समझनी चाहिए।

न्यून हो जाता है। इसका एक कारण तो जैसा कि ऊपर कहा, इन्द्रियों को अपने-अपने पोषक महाभूत की इष्ट प्रमाण में प्राप्ति नहीं होती एवं इन्द्रियाधिष्ठानों को भी पोषक द्रव्य उपलब्ध नहीं होते। इन अवस्थाओं में ज्ञान की उपलब्धि न होने या अयथावत् होने में एक अन्य भी कारण है और वह यह कि, प्रकुपित वात रस-रक्तवह सिराओं और स्रोतों के विवरों को संकुचित तथा क्षीण कर देता है, जिससे मस्तक, इन्द्रियों तथा इन्द्रियाधिष्ठानों में पोषक सामग्री योग्य प्रमाण में और योग्य वेग से जा नहीं सकती। इससे भी इन्द्रियों की क्रिया में व्याघात होता है। इस प्रकार वात-प्रकोप में जिह्वेन्द्रिय की दुष्टि से जिह्वा को किसी भी रस का बोध नहीं होता। इसी को मुखवैरस्य कहा जाता है। कषाय तथा तिक्त रस का अतियोग किया जाए तो जिह्वामूलस्थ बोधक कफ का लेखन और क्षय हो जाता है, जिससे जिह्वा को किसी रस की प्रतीति नहीं होती--विरसता होती है। चिरकाल अति प्रमाण में खदिरादि वटी आदि कषाय द्रव्यों का सेवन करने में आए तो यह स्थिति देखी जाती है। इस प्रदेश में कहीं कैंसर हो और किरण-चिकित्सा करनी पड़े तो किरण-गत अग्नि गुण से भी बोधक कफ को क्षीणता हो जाने से कुछ काल विरसता रहती है। स्मरण रहे, इन स्थितियों में भी लालास्राव तो प्रचुर होता ही है, तथापि रस-बोध नहीं होता। इससे भी जाना जा सकता है कि आयुर्वेद का बोधक कफ लाला नहीं है, प्रत्युत गुरु, पिच्छिल, श्वेत प्रभृति कफ के शास्त्रोक्त गुण जिसमें हैं वह 'म्यूकस' नाम से अँग्रेजी में अभिहित द्रव्य ही आयुर्वेद का बोधक कफ है। इस बात की सिद्धि के लिए पहले यह भी कह आए हैं कि प्रकोपावस्था में दोनों द्रव्यों की वृद्धि के पृथक् ही नाम तन्त्रकारों ने दिए हैं--लाला के प्रकोप के हृल्लास, प्रसेक, मुखस्राव आदि तथा कफ की वृद्धि के कफष्ठीवन, ष्ठीवन, कफोद्गिरण आदि। अस्तु।

जैसे रस-रक्तादि धातुओं तथा कफ के क्षय एवं वात के प्रकोप से रस-ज्ञान में बाधा उपस्थित होती है वैसे ही अन्य इन्द्रियों की भी विकृति अपने विषय के ग्रहण की न्यूनाधिक असमर्थता के रूप में उपस्थित होती है। इस प्रकार गन्धाज्ञता, उच्चैःश्रुति, बाधिर्य, त्वचा में स्पर्शनाश या सुप्ति, दृष्टि की मन्दता आदि विक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। उनमें उल्लिखित निदान को स्मरण कर योग्य उपचार करना चाहिए।

वात-नानात्मज रोगों में इन्द्रियों की क्रियाओं के वैकल्य-सम्बन्धी रोगों में शार्ङ्गधर ने दृष्टि-क्षय (दृष्टि-मान्द्य) की भी गणना की है। व्यवसाय में प्रायः दृष्टिक्षय का रोगी उपस्थित होने पर हम उसे उप-नेत्र के लिए नंबर की परीक्षा करने की या लिङ्गनाश (केटरेक्ट) आदि रोगों की परीक्षा की सलाह देते हैं। कितने ही रोगियों में नंबर या लिङ्गनाश नहीं होता। सर्वाङ्ग-दौर्बल्य का विनिश्चय कोई निपुण चिकित्सक इन रोगियों में करते भी हैं। उनमें वातप्रकोप

किंवा धातुक्षय कारणभूत होता है। रस-रक्त की क्षीणता तथा वात के प्रकोप की क्रिया से यह रोग कैसे होता है यह ऊपर बताया है। मांसक्षय भी इसमें कारण होता है। नव्य शारीर में कहा गया है कि दृष्टि-गोलक को देखने के समय विविध आकृतियाँ देने के लिए तथा तत्-तत् दिशा में फिराने के लिए कुछ अणु पेशियाँ होती हैं। शरीर में मांसधातु का क्षय हो तो इतर पेशियों के सदृश नेत्रगोलक की पेशियाँ भी क्षीण हो जाती हैं। परिणामतया, उनकी क्रिया-हानि होने से दृष्टि के विकार होते हैं। शीर्षासन से रस-रक्त का आयात समीचीन होने से ही दृष्टि-विकारों में गुण होता है।

प्रसंगोपात्त इतना विवरण व्यवसायोपयुक्त होने से किया। अब पुनः प्रश्न-परीक्षा-ज्ञेय शेष विषयों का निर्देश किया जाता है।

१४—नक्षत्र

जन्मामयप्रवृत्ति नक्षत्रम्——अ० सं० सू० २२। साध्यासाध्यता के लक्षणों के प्रकरण में ग्रह-नक्षत्रों की अनुकूलता-प्रतिकूलता की परीक्षा का निर्देश तथा विचार कर आए हैं। उसके लिए रोगी या उसके स्वजन-परिजन से प्रश्न कर रोगी के जन्म का नक्षत्र तथा रोग की उत्पत्ति के समय का नक्षत्र जानना चाहिए। कभी रोगी के पति, स्त्री, संतति, बहिन-भाई आदि स्वजनों के नक्षत्रों का विचार भी उपयोगी सिद्ध होता है। इस विषय में अधिक विस्तार पहले कर चुके हैं।

१५—उपशय-अनुपशय[१]

रोग-पीड़ित व्यक्ति को कौन आहार, विहार, औषध, देश या काल हित अथवा अहित है इसका ज्ञान स्वयं रोगी को किंवा उसके स्वजन-परिजनों को होता है। प्रश्न-परीक्षा से उसका ज्ञान हो जाता है। कभी सीधा प्रश्न करने पर कि किस वस्तु के सेवन से रोग के लक्षण उत्पन्न हुए या वृद्धि को प्राप्त हुए, इसका उत्तर अबुध रोगी नहीं दे पाते, परन्तु सुचिकित्सक प्रकुपित या क्षीण रोगारम्भक दोष को लक्ष्यकर उसके विभिन्न कारणों की स्वयं कल्पना करे और एकैकशः उनके सेवन-विषयक प्रश्न पूछे तो उत्तर मिल जाता है। इस तथ्य से वाचक समझ सकते हैं कि, चिकित्सक की दृष्टि कितनी सूक्ष्म-दर्शिनी होनी चाहिए—— उसे लक्षणों और रोगों की उत्पत्ति के कारणों का अपना ज्ञान कितना बढ़ाते रहना चाहिए। अनुभव से वाचक को इस कथन की प्रतीति होगी।

१——सात्म्य नाम से चरक ने उपशय-परीक्षा की गणना की है। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः——सात्म्य का व्यापक अर्थ उपशय भी होता है। चरक तथा संग्रह-कार ने 'द्विष्टेष्टसुखदुःखानि' शब्द द्वारा भी इनका ग्रहण किया है। द्विष्ट—— अप्रिय, इष्ट——प्रिय ; सुख——सात्म्य ; दुःख——असात्म्य।

हित-अहित या उपशय-अनुपशय की परीक्षा में यह भी जिज्ञासा करनी चाहिए कि पहले कभी उपचार कराया था या नहीं ? औषध जो दिए गए थे उनका ज्ञान है या नहीं ? ज्ञान है तो वे कौन औषध थे ? कौन वस्तु पथ्य तथा कौन अपथ्य पड़ती थी ? औषधादि के सेवन का परिणाम क्या होता था ? बहुत वार रोग समझ में न आ रहा हो तो उपशय-अनुपशय के ज्ञान से उसकी कुछ झलक चिकित्सक को मिल जाती है। विशेषतः नये चिकित्सकों को, कभी-कभी मार्ग न सूझे तो या अपने निर्णय पर पूर्ण विश्वास न हो तो इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से प्रायः दिशा सुलभ हो जाती है। उदाहरणतया, पूछा जाए, कि किसी ने 'एक्स-रे' की सलाह दी थी क्या और इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' मिले तो सम्भावना दृढ़ हो जाती है कि हमारा किया यक्ष्मा का निदान कदाचित् शुद्ध है।

प्रश्न द्वारा यह ज्ञात हो जाए कि, अतिसार-ग्रहणी आदि किसी रोग से पीड़ित रोगी को दही या तक्र के सेवन से शोथ आदि हो जाते हैं तो उनके सेवन की सलाह नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार ज्वर-पीड़ित किसी पुरुष से प्रश्न करें कि वह लङ्घन सहन कर सकता है या नहीं और उत्तर 'न' में मिले तो उसे लङ्घन न कराने की योजना स्थिर करनी पड़ती है। इस प्रकार उपशयानुपशय से चिकित्सा की भी शुद्धि होती है।

उपशयानुपशय के इस प्रकरण में वर्तमान युग में और एक वस्तु ध्यान रखने योग्य हो गई है। वह यह कि जिन रोगियों ने पहले कभी या प्रस्तुत रोग में ऐलोपेथिक उपचार कराया हो उन पर आयुर्वेदिक औषधों की क्रिया दो-चार दिन बिलम्ब से होती है। जिन्होंने इस प्रकार ऐलोपेथिक औषध न लिया हो उन पर तत्काल होती है। सो, प्रश्न-परीक्षा में कौशलपूर्वक यह बात भी जान लेनी चाहिए तथा उसके आधार पर अपने उपचार के परिणाम का संभावित काल भी बता देना चाहिए। रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन के श्रद्धोत्पादन में यह वस्तु अति उपयोगी सिद्ध होती है।

प्रश्न-परीक्षा द्वारा इसी रीति से अन्य ज्ञातव्य बातें भी जानी जा सकती हैं। उपसंहार-रूप में इतना कहकर अब हम प्रत्यक्ष तथा प्रश्न-परीक्षाश्रित एवं इनके अनन्तर (अनु) करणीय अनुमान-परीक्षा से क्या-क्या बात जानी जाती है उसका निर्देश करते हैं।

अनुमान द्वारा रोग-परीक्षा[1]

अनुमान से रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य कुछ बातों का उल्लेख पहले कर आए हैं।

१—स्थल : च० वि० ४।७-८ तथा चक्रपाणि ; सु० सू० १।१६ पर डल्हन-टीका ; अ० सं० सू० २२।

यथा, रोगी के मुख के रस से प्रकुपित दोष का, शरीर पर यूकाओं (जुओं) या मक्षिकाओं के अथवा मूत्र पर पिपीलिकाओं के आने या न आने से शरीर तथा मूत्र के मधुर या मधुर-विपरीत होने का एवं शरीर के किसी द्वार से निर्गत रक्त पशु-पक्षियों के आगे रखा जाए तो रक्त के प्रति उनकी प्रतिक्रिया देखकर उसके शुद्ध या पित्त-दूषित होने का अनुमान करे, यह हम प्रसंगवश कह आए हैं। अब अनुमान-ज्ञेय कुछ अन्य बातों का उल्लेख करते हैं।

अग्निं जरणशक्त्या--रोगी की अग्नि मन्द, मध्यम या तीक्ष्ण कैसी है, एवं उसकी मन्दता आदि का तारतम्य (न्यूनाधिक्य ; डिग्री) कैसा है यह पचन की शक्ति से जानना चाहिए। जितना और जो अन्नपान कोई भी अनिष्ट लक्षण उत्पन्न किये बिना आगामी भोजन-काल आने के पूर्व पच जाए उससे अग्नि-बल की अनुमिति होती है। अन्नपान का प्रमाण देखकर उससे अग्नि का यथार्थ अनुमान नहीं होता। कारण, देखते हैं, यक्ष्मा के असाध्य लक्षणों में एक है--महाशनं क्षीयमाणम्--पुरुष का आहार सुविपुल हो तथापि वह उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा हो तो इसे असाध्यता का चिह्न समझना चाहिए। अपरंच, वातज ग्रहणी के असाध्य होने में दो कारण बताए गए हैं--मनोदैन्य तथा जिह्वा-लौल्य (गृद्धिः सर्वरसानां च)। रोगी यद्वा-तद्वा, यत्-तत् प्रमाण में लेता है उससे अग्नि का स्वरूप नहीं जाना जाता। भुक्त अन्नपान का पचन कैसा होता है उसी से अग्नि का परिज्ञान होता है।

रोगी के बल का अनुमान उसके शारीरिक, मानसिक (बौद्धिक), वाचिक श्रम (व्यायाम) करने की शक्ति से करे। बल से रोग की साध्यासाध्यता आदि का ज्ञान होता है। बल-सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य अगले अध्याय में दिया जाएगा।

श्रोत्र-प्रभृति इन्द्रियागोचर ज्ञानेन्द्रियों की प्रकृति-विकृति का अनुमान उनके विषयों का ग्रहण कैसा होता है इससे करे।

मन की प्रकृति-विकृति का अनुमान इस बात की परीक्षा से करना चाहिए कि परीक्ष्य पुरुष किसी विषय पर कितने काल और किस प्रकार अपने को तल्लीन कर सकता है।

बुद्धि की प्रकृति-विकृति का अनुमान हितावह वस्तुओं में प्रवृत्ति या निवृत्ति एवं अहितावह वस्तुओं में निवृत्ति या प्रवृत्ति को देखकर करे।

रजोगुण की परीक्षा नारी आदि के प्रति आसक्ति-अनासक्ति तथा उसके तरतम-भाव से करे। रजोगुण पुरुष के चित्त को विक्षिप्त कर शारीर दोषों को भी कुपित कर अनेक मानस रोग उत्पन्न कर सकता है। एक छोटे से उभयात्मक रोग भ्रम का उदाहरण लें। इसका निदान कहा गया है--रजःपित्तानिलाद् भ्रमः--सु० शा० ४।५६। भ्रम या चक्कर आने के कारणों में एक रजोगुण

(इमोशन) है। आधुनिकों न भी ब्लडप्रेशर अधिक होने के कारणों में एक रजोगुण (इमोशन नाम से) बताया है। ब्लडप्रेशर की उच्चता की प्रतीति भी भ्रम से होती है।

इन्द्रियों तथा मन को ज्ञान न होता हो तो उनके मोह (मूढ़ता ; विषय ग्रहण की मन्दता) का अनुमान करे।

अन्यों को पीड़ा (हानि) देने की प्रवृत्ति देखकर क्रोध का अनुमान करे। रोदन, विलाप आदि के रूप में दैन्य के प्रत्यक्ष से शोक का अनुमान करे। आमोद (नृत्य, गीत, वाद्य आदि द्वारा उत्सव करना) से मनोगत हर्ष का अनुमान करे। मुख तथा नेत्र का उल्लास (प्रसन्नता) आदि के रूप में तोष (तुष्टि) को देखकर, जिस व्यक्ति या वस्तु के दर्शन से उल्लास हुआ है उसके प्रति प्रीति का अनुमान करे। उन्माद आदि में पुरुष को तुष्टिकर पदार्थों के मध्य रखना आवश्यक होता है। विषाद (मन का अवसाद, मनोभङ्ग) देखकर भय का अनुमान करे-- पुरुष भय-ग्रस्त है, यह निर्णय करे। पुरुष में विषाद न हो--उसका मन दीन न हो, विषम परिस्थिति आने पर भी दबा हुआ न हो तो इससे उसमें धैर्य है इस बात का अनुमान करे। उत्थान (विषम घड़ी में भी कार्य का आरम्भ --अनुष्ठान) देखकर पुरुष में वीर्य है, यह अनुमान करे। कार्य दुष्कर है यह जानते हुए भी मन उसके करने से विमुख न होना, इस पुरुष-गुण का नाम वीर्य है। पुरुष को भ्रान्ति-रहित देखें तो उसमें अवस्थान (स्थिरमति, स्थिर-निश्चय) गुण है, यह अनुमान करें। भ्रम धातु से बना भ्रान्ति शब्द यहाँ मन की चपलता के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ बुद्धि का किसी एक वस्तु पर दृढ़ न होना, उसी का निश्चय न कर पाना है। द्रव्य-विशेष की स्वयं अभ्यर्थना (माँग) पुरुष करे तो उसमें उस वस्तु के प्रति श्रद्धा (इच्छा) है यह अनुमान करे। ग्रन्थ, भाषण, संभाषण आदि में कही गयी वस्तु को पुरुष ग्रहण कर सकता हो--समझ सकता हो तो उसमें उतने प्रमाण में मेधा है, यह अनुमान करे। पुरुषों या पदार्थों का नाम कोई व्यक्ति पुकार सकता हो तो इससे संज्ञा का अनुमान करे। संज्ञा या नामों का स्मरण रखना भी बुद्धि का एक गुण है। एक मनो-विकार में पुरुष की शब्दों की स्मृति न्यून हो जाती है या सर्वथा लुप्त हो जाती है। मस्तिष्क में शब्दों के स्मरण तथा वाक्य-रचना के लिए परस्पर संयोजन के जो अधिष्ठान (केन्द्र) हैं, उनकी विकृति इस मनोविकार में हो जाती है। पुरुष को अतीत वस्तुओं का स्मरण होता हो तो उसमें स्मृति (स्मरण-शक्ति) होने का अनुमान करे। गर्हित (निन्दित, अप्रशस्त) कर्म करने में त्रपा (लज्जा-सूचक आकृति) दृष्टिगोचर हो तो उसमें ह्री (लज्जा) नामक सत्त्वगुण होने का अनुमान करे। पुरुष वस्तु-विशेष का अनुशीलन (सतत सेवन) करता हो तो उसका उसे शील है--उसके

प्रति सहज राग (आसक्ति) है, यह अनुमान करे। पुरुष किसी वस्तु का प्रतिषेध करता हो--उसे सेवनार्थ ग्रहण करने से इन्कार करता हो--तो उसमें उस वस्तु के प्रति द्वेष (अप्रीति) होने का अनुमान करे। अनुबन्ध (उत्तरकालीन फल) को देखकर उपधि (छद्म, कपट-वेषादि) का अनुमान करे। इसका उदाहरण देता चक्रपाणि कहता है कि भाई आदि का वध देखने में आए इससे समझना चाहिए कि उन्मत्त का वेष चन्द्रगुप्त ने इस प्रयोजन से ग्रहण किया था। पुरुष में रसना आदि इन्द्रियों का लौल्य (लोलुपता) न हो तो उसमें धृति (संयम) है, यह अनुमान करे। धृति का अभाव प्रज्ञापराध के तीन अङ्गों में एक है, यह स्मरण किया जा सकता है। चिकित्सा-व्यवसाय में रोगी में पथ्य-पालन का गुण कैसा है यह जानना प्रथमावश्यक है। उसके लिए धृति की परीक्षा करनी चाहिए। पुरुष में विधेयता हो--चिकित्सक आदि जिस कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करें उसके पालन की उसमें प्रवृत्ति हो--तो उसमें वश्यता का अनुमान करे। रोगी की गुण-संपत्ति में वश्यता एक है। यह न हो--रोगी वैद्य के कहे में न हो तो रोग-निवृत्ति की आशा कैसे की जा सकती है? इसी कारण उसकी वश्यता का ज्ञान उपचार आरम्भ करते हुए प्रथम होना चाहिए। काल से, अर्थात्--इसके जन्म को इतने वर्ष हुए इससे वय का नाम बाल्य, यौवन या वार्धक्य का अनुमान करे। वयोभेद से भिन्न-भिन्न दोष का प्रकोप तथा तदनुरूप भिन्न-भिन्न रोगों की संभावना होती है। अतः रोग-परीक्षा में वयोज्ञान उचित होता है। पुरुष के देश के ज्ञान से उसकी भक्ति (इच्छा) का अनुमान करे। जैसे, वह मध्यदेशीय हो तो वहाँ के आचार (रिवाज) के अनुसार उसकी गोधूम, माष आदि के प्रति भक्ति का ज्ञान होता है। कोई आहार, विहार आदि किसी को उपशय (हितकर या हित करें या न करें परन्तु हानि न करनेवाले) हों तो उस पुरुष के प्रति उनके सात्म्य होने का अनुमान करे। विशिष्ट वेदनाओं को देखकर रोग-विशेष का अनुमान करे। जैसे किसी को संताप (शरीरोष्मा की वृद्धि)-रूप वेदना हो तो वह वह शारीर ज्वर से पीड़ित है यह ज्ञान प्राप्त होता है। गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम् परीक्षेत--जिस रोग के लक्षण व्यक्त हों उसका तो ज्ञान लक्षणों से ही हो जाता है, परन्तु जिसके लक्षण गूढ़ (गुप्त, अव्यक्त) हों उस रोग का अनुमान उपशय और अनुपशय द्वारा करे। अर्थात् कतिपय रोगों की संभावना कर क्रमशः एक-एक रोग में निर्दिष्ट द्रव्य देकर देखें, कि उससे हित होता है या अहित? यथा, जानुशोथ से पीड़ित व्यक्ति को क्रोष्टुशीर्ष है अथवा संधिवात, इसका निर्णय करने के लिए प्रथम महायोगराज गुग्गुलु आदि उष्ण द्रव्य देकर देखें। उनसे शोथ तथा वेदना में वृद्धि हो तो समझें कि रोग क्रोष्टुशीर्ष है। कारण, क्रोष्टुशीर्ष वात और रक्त की दुष्टि से होता है। उष्ण द्रव्यों की

योजना से उष्णगुण रक्त का कोप होकर रोग के लक्षणों की वृद्धि होती है। रोग-विनिश्चय कर सौम्य उष्ण वातरक्तहर गुडूची, एरण्डमूल आदि द्रव्यों की योजना करे। वे उपशय हों तो वातरक्त का निदान शुद्ध होता है। पञ्च-निदान प्रकरण में यह विषय पुनः प्रसंगागत होने से चर्चा जाएगा। अपचार (मिथ्या-हार-विहार) कितने प्रमाण में हुआ है इस बात का प्रश्न-परीक्षादि से ज्ञान प्राप्त कर यह अनुमान करे कि प्रकुपित दोष का प्रमाण कितना है? अरिष्टों के प्रत्यक्ष से आयु के क्षय (मृत्यु काल निकट होने) का अनुमान करे। पुरुष कल्याणा-भिनिवेशी हो--श्रेयस्कर कार्य के अनुष्ठान में प्रवृत्ति दर्शाए--इससे उसका कल्याण निकटवर्ती होने का अनुमान करे। पुरुष में राग, द्वेष आदि विकारों का अभाव हो तो उसमें सत्त्वगुण का उद्रेक है, इस बात का अनुमान करे।

इसी प्रकार तत्तत् दृष्ट वस्तुओं से प्रकृति, सत्त्व, सार आदि का अनुमान करना चाहिए। शल्य-शालाक्य तन्त्रों में भी अनुमान इसी प्रकार व्यापृत होता है। यथा--प्रनष्टे शल्ये चन्दनघृतोपदिग्धायां त्वचि विशोषण-विलयनाभ्याम् अनुमीयते--अत्र शल्यमिति--सु० सू० १।१६ पर डह्लन। त्वचा के नीचे स्थित अवयवों में शल्य कहाँ है यह निश्चय न होता हो तो संदिग्ध भाग की त्वचा पर चन्दन का लेप करें। जिस भाग की त्वचा का लेप समीपस्थ भाग की त्वचा की अपेक्षया शीघ्र सूख जाए उसमें शल्य है, यह अनुमान करे। इसी प्रकार संदिग्ध भाग पर जमा हुआ घृत रखे। त्वचा के जिस प्रदेश पर स्थित घृत विलीन हो जाए (पिघल जाए) उसके नीचे शल्य है यह अनुमान करे। प्रविष्ट शल्य के कारण व्रणशोथ होता है। उष्णता व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) का एक धर्म है। शल्य-युक्त प्रदेश उष्ण होने से वहाँ रखा चन्दन शीघ्र सूख जाता है और घृत शीघ्र विलीन हो जाता है।

अनुमान-प्रकरण में हर्ष-शोक, रोष-विषाद, प्रसाद-अप्रसाद आदि मनो-विकारों का निर्देश विशेष संख्या में हुआ है। इन विकारों का वेग तीक्ष्ण हो तो स्पष्ट हानि होती है। भारी द्रव्य-लाभ के समाचार से हुए हर्ष के आवेश से मृत्यु जैसे परिणाम भी होते जाने जाते हैं। इसी से इन मनोविकारों से शारीर-मानस रोगों के होने की संभावना की जा सकती है। इन मनोभावों के निग्रह का भी परिणाम रोगान्त होता है। यथा, ब्रह्मचर्य प्रशस्त वस्तु है; परन्तु उसका भी युक्तियुक्त पालन न हो, मन को दबाकर अत्यधिक इन्द्रिय-संयम आदि किया जाए तो इससे मन का क्षोभ आदि परिणाम होते हैं--ब्रह्मचर्यस्यायुक्तिः अनभ्यासादतिमात्रेन्द्रियसंयमनादिरूपा। सा हि मनःक्षोभादिहेतु-र्भवति--च० सू० ११।३५ पर चक्रपाणि। मनोभावों के निग्रह (रीप्रेशन) के परिणामों का अध्ययन आज के फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने सविशेष

किया है। इन मनोभावों से होनेवाले रोगों का अनुशीलन उनके ग्रन्थों से किया जा सकता है। इसी प्रकार रोष, शोक आदि मनोभाव किस संप्राप्तिपूर्वक देखते-देखते ग्रहणी में क्षत आदि विकार उत्पन्न कर देते हैं, उसका भी अध्ययन नवीनों के ग्रन्थों से इस प्रकरण की पुष्टि के लिए किया जा सकता है।

बालकों की रोग-परीक्षा में अनुमानका स्थान[1]

बालकानामवचसां विविधा देहवेदनाः।
प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः॥
इति पृष्टो महाभागः काश्यपो लोकवृद्धपः।
प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः॥

काश्यपसंहिता

बालकों की वाणी का विकास नहीं हुआ होता। अतः वे अपनी वेदनाओं का वर्णन नहीं कर सकते। उनकी विविध चेष्टाओं को देखकर वेदना के स्थल और इयत्ता का अनुमान करना पड़ता है। इस प्रकार बालकों की रोग-परीक्षा में अनुमान का महत्त्व सविशेष है। उनकी रोग-परीक्षा का सामान्य नियम यह है--

शिशोस्तीक्ष्णमभीक्ष्णं च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम्[2]॥

अ० हृ० उ० २।५

शिशु रोता हो तो उसे किसी प्रकार की वेदना (कोई कष्ट) है यह प्रथम अनुमान करे। रोदन जितना अधिक काल हो तथा उसकी जितनी तीक्ष्णता हो उसी प्रमाण में वेदना है यह निर्णय करे। परन्तु, इस विषय में स्मरण रखना चाहिए कि जो बालक कफप्रकृति हो वह बाल्यकाल में ही उतना रोदनशील नहीं होता--न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः। सो, अन्य प्रमाणों से प्रकृति को भी जान कर उसे लक्ष्य में रखते हुए ही रोदन के आधार पर वेदना की तीव्रता या अतीव्रता का अनुमान करना चाहिए।

बालकों में रोग के स्थान-संश्रय का अन्य नियम यह है--

१--स्थल: काश्यप-संहिता--पृ० २१-२४; अ० हृ०; उ० २।५-८; माधवनिदान (बालरोगनिदान)।

२--'तीक्ष्णमभीक्ष्णम्' के स्थान पर 'तीक्ष्णाम् अतीक्ष्णाम्' तथा 'तीव्राम् अतीव्राम्' पाठान्तर हैं।

स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः।
तत्र विद्याद् रुजम् ॥

अ० हृ० उ० २।६

रोता-रोता बालक जिस शरीरावयव को पुनः-पुनः छुए तथा जहाँ स्पर्शाक्षमता हो--स्पर्श करने से बालक वेदनावश रो उठे, और पहले से रो रहा हो तो अधिक बल से रोने लगे--उसी स्थान में वेदना और उसका कारणभूत रोग है, यह अनुमान करना चाहिए। इसके पश्चात् पूर्ण निर्णय के लिए उस स्थान से संबद्ध स्रोतों, अङ्गों और संधियों की यत्नपूर्वक और बार-बार परीक्षा करनी चाहिए--

स्रोतांस्यङ्गानि संधींश्च पश्येद् यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥

माधवनिदान

किस अवयव के स्पर्श से कहाँ रोग की अवस्थिति जाननी चाहिए इसका सविस्तर उल्लेख काश्यप ने तथा समासतः हृदयकार ने दिया है। सो यहाँ उद्धृत करते हैं।

शिशु को शिरोरुजा (शिरोवेदना) हो तो वह शिर को पुनः-पुनः पछाड़ता है, आँखें मींचता है, क्रन्दन करता है, किसी भी दशा में रति (चैन) नहीं अनुभव करता तथा निद्रावश नहीं होता।

उसे कर्णवेदना हो तो वह हाथों से कानों को बार-बार स्पर्श करता है, शिर पुनः-पुनः हिलाता है; अरति, अरुचि (स्तन को मुख न लगाना) और अनिद्रा से पीड़ित होता है।

उसे मुखपाक आदि मुखरोग हो तो अत्यधिक लालास्राव, स्तनद्वेष (स्तन को लगाया जाए तो मुख फिरा लेना), अरति, व्यथा, पिए दूध को उलट देना (तत्काल बाहर निकाल देना) तथा नाक से श्वास लेना (मुख रुग्ण होने से श्वास का वायु भी सहन न होने से मुख से श्वास न लेना)--ये चिह्न होते हैं।

उसे कण्ठ-वेदना (कण्ठ में--गले में--कोई रोग) हो तो पिये दूध का उद्गिरण (तत्काल बाहर निकाल देना), कण्ठ से चिकना और चिपटनेवाला कफ पड़ना[1], मन्दज्वर, अरुचि तथा ग्लानि (हर्षनाश)--ये लक्षण होते हैं।

वह अधिजिह्विका (जिह्वाग्र के नीचे स्थित लालाग्रन्थियों का शोथ?) से पीड़ित हो तो लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल (गाल) में श्वयथु (शोथ) और व्यथा तथा मुख खुला रखना--ये लक्षण होते हैं।

१--मूल में 'विष्टम्भिश्लेष्मसेवनम्' पाठ है।

शिशु को गलग्रह रोग हुआ हो तो ज्वर, अरुचि और मुखस्राव होता है तथा शिशु कण्ठ ही में अव्यक्त ध्वनि (कण्ठकूजन)[1] करता है।

शिशु को कण्डूक (कण्ठक) रोग हुआ हो तो कण्ठ में (बाहर तथा अन्दर दृश्यमान) श्वयथु, ज्वर, अरुचि और शिरोवेदना होते हैं।

शिशु को ज्वर का पूर्वरूप हो तो, वह बार-बार शरीर को अन्दर की ओर सिकोड़ता है (जैसे शीतकाल में या ज्वरादि का वेग हो तो शीत की प्रतीति होने पर वयःस्थ पुरुष हाथ-पैर, मुख इन सबको कोष्ठाभिमुख लाकर सो जाते हैं वैसे ही शिशु भी करता है); उसे पुनः-पुनः जृम्भा तथा कास होते हैं; वह अकस्मात् धात्री या माता की गोद में अपने को छुपा लेता है (शीत के वेग से त्राण पाने के लिए यह प्रवृत्ति होती है), स्तनपान की उसे बहुत इच्छा नहीं होती, पुनः-पुनः प्रस्राव (पेशाब) एवं शरीर का स्पर्श उष्ण होना तथा मुख की विवर्णता (निष्प्रभता); ललाट अति तप्त (गरम) तथा पैर शीत होना और अरुचि--ये चिह्न होते हैं।

शिशु को अतिसार होनेवाला हो तो उसके पूर्वरूप में शरीर की विवर्णता (फीकापन), अरति, मुख की ग्लानि (हर्ष का नाश), अनिद्रा, तथा वायु के कर्मों की निवृत्ति (उद्गार और अधोवायु की प्रवृत्ति न होना)--ये लक्षण होते हैं।

शिशु को उदरशूल (कोष्ठशूल) हो तो वह स्तन निकट लाने पर उसे झटके से दूर कर देता है (स्तन्य-द्वेष); अथवा स्तन को काटता है; रोता है; उत्तान (सीधा लेटा) हुआ अङ्ग-भङ्ग करता है (शरीर को मोड़ता है; यथा, पीठ को आगे झुकाता है या ग्रीवा आदि को पीछे ले जाकर पेट को ऊपर करता है); उसे विबन्ध, वमन, आध्मान तथा अन्त्रकूजन होते हैं; उसका उदर स्तब्ध (कठिन), शरीर शीत (न्यून ऊष्मावाला) एवं मुख स्वेद-युक्त होता है।

बालक को वस्ति तथा गुह्य-प्रदेश में वेदना हो तो मल और मूत्र की अप्रवृत्ति (संग), त्रास (भय-त्रस्तता), तथा चारों ओर देखना--ये लक्षण होते हैं।

बालक को वमन होने को हो तो उसके पूर्वरूप के रूप में अकारण ही बार-बार उद्गार की प्रवृत्ति एवं निद्रा तथा जृम्भा का आधिक्य--ये लक्षण होते हैं।

१--मूल में 'निष्टनेत्' शब्द है। धातुपाठ में 'स्तन' धातु भ्वादिगण में शब्द अर्थ में पठित है। वह यहाँ गृहीत है। उसके अतिरिक्त चुरादिगण में भी पठित है तथा उसका अर्थ देव शब्द (पर्जन्यगर्जन) है। अतएव मेघ का नाम स्तनयित्नु तथा उसके गर्जन का नाम स्तनित है। यहाँ अव्यक्त ध्वनि के लिए निपूर्वक स्तन धातु का व्यवहार हुआ प्रतीत होता है।

बालक को हृच्छूल हो तो वह जिह्वा तथा ओष्ठ को दाँतों से काटता है; मुट्ठियाँ भींचता है, तथा उसे श्वास रोग होता है।

बालक की छाती से शब्दयुक्त उष्ण श्वास आता हो तो उसे श्वास रोग होनेवाला है, यह समझना चाहिए।

बालक कृश हो और उसे अकस्मात् (अनिमित्त) उद्‌गार-प्रवृत्ति हो आए तो उसे हिक्का होगी यह समझना चाहिए। (अर्थात् यह हिक्का का पूर्व-रूप है)।

बालक तृष्णा रोग से पीड़ित हो तो वह अत्यधिक स्तन-पान करता है, तथापि उसे तृप्ति-लाभ नहीं होता, वह रोता है; उसके ओष्ठ और तालु शुष्क होते हैं, वह जल की अभिलाषा व्यक्त करता है तथा बलहीन होता है।

शिशु को आनाह (कब्ज) हो तो उसके नेत्र विशाल (फटे हुए) तथा स्तब्ध (निमेषोन्मेष-रहित) होते हैं, उसे संधियों में वेदना, अरति, क्लम (उसके शरीर में बिना परिश्रम थकान होने से चेष्टा की प्रवृत्ति न होना); एवं मूत्र, वायु और पुरीष की प्रवृत्ति न होना--ये चिह्न होते हैं।

बालक को अपस्मार होनेवाला हो तो वह अकस्मात् (कारण बिना ही) अट्टहास करता है--जोर से हँसता है।

उसे उन्माद हो तो प्रलाप (बकबक) अरति और चित्त किसी बात पर स्थिर न होना (वैचित्त्य)--ये चिह्न होते हैं।

उसे मूत्रकृच्छ्र हो तो रोमाञ्च, अङ्गों में झनझनाहट (अतएव हाथ-पैर शीघ्र उठा न पाना); तथा मूत्र के समय वेदना (उसके कारण चीख उठना), ओठ पीसना और बस्ति-प्रदेश पर हाथ मारना--ये लक्षण होते हैं।

बालक को प्रमेह हो तो मूत्र में गौरव (कुछ काल पात्र में रखें तो नीचे का भाग सान्द्र हो जाना), विबन्ध (प्रवृत्ति न होना), जड़ता (मूत्र-प्रवृत्ति मन्द-मन्द होना), कभी अकस्मात् (सहसा) मूत्र-प्रवृत्ति हो जाना, मूत्र मक्षिकाओं को प्रिय (कान्त) होना, एवं वह वर्ण में श्वेत तथा सान्द्र (अपेक्षया गाढ़) होना--ये लक्षण होते हैं।

बालक को अर्श हो तो उसका शरीर कृश होता है, उसे पुरीष का विबन्ध तथा उसकी पक्वता होना, पुरीष सरक्त होना; एवं गुद में कण्डू तथा तोद होते हैं; बालक गुद को दबाता है। बालक में अर्श हो तो इसे सहज अर्श समझना चाहिए। इसी कारण वह जन्मतः कृश होता है।

बालक को अश्मरी-रोग हो तो उसके मूत्र में शर्करा (बालुका, रेती) तथा मूत्र की संख्या और प्रमाण अधिक होना और मूत्र-प्रवृत्ति के समकाल वेदना होती है; बालक क्षीणकाय होता है तथा निरन्तर रोता रहता है।

बालक को विसर्प होनेवाला हो तो उसके पूर्वरूप में रक्तवर्ण छोटे-छोटे मण्डल (दाग या चकत्ते) निकलना, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति एवं मधुर-रस तथा शीतगुण द्रव्य उपशय होना--ये लक्षण होते हैं।

बालक को विसूचिका हो तो उसके अङ्गों में दाह, तोद और भङ्ग (अङ्गमर्द, मोड़ना) होते हैं, बच्चा उनके कारण क्रन्दन करता है तथा उसके हृदय में (हृदय-प्रदेश में) तीव्र शूल होता है।

अलसक रोग में बालक शिर को स्थिर नहीं रख सकता ; अङ्ग-भेद (अङ्ग-भङ्ग) तथा जृम्भा पुनः-पुनः होते हैं, स्तनपान बहुत (यथायोग्य) नहीं करता ; उसे वमन होता है तो वह ग्रथित (गाँठों के रूप में) होता है ; वह विषाद (सुस्ती) आध्मान तथा अरुचि से पीड़ित होता है। अलसक में दोषों का प्रकोप विसूचिका के समान ही होता है, परन्तु उनका मुखमार्ग और अधोमार्ग से वमन-विरेचन के रूप में निर्गमन नहीं होता। दोष अलस (स्तब्ध, निर्गमन-शून्य) होकर आम-पक्वाशय में ही रहते हैं, अतः इसे अलसक नाम दिया गया है। अँग्रेजी में भी इसी आशय के 'ड्राई कॉलेरा' या 'कॉलेरा सिक्का' नाम इस रोग के हैं।

बालक नेत्ररोग (नेत्राभिष्यन्द) से पीड़ित हो तो दृष्टि की व्याकुलता (आँख स्थिर और सम न रख सकना), तोद (चुभना), शोथ, शूल, अश्रु-प्रवृत्ति, रक्तवर्णता एवं सोने पर आँखों में मल भर आना (उपलेप)--ये लक्षण होते हैं। तोद, शूल उन्हीं बच्चों में समझने चाहिए जो कुछ बोल सकें। सिरोत्पात (केशिकाएँ रक्तपूर्ण होना), पोथकी (कुकरे, गुजराती में खील, अँग्रेजी में ट्रैकोमा) किंवा नेत्र में रजकण आदि गए हों तो तोद होता है--अन्दर कुछ चुभता-सा प्रतीत होता है।

बालक शुष्क कण्डू से पीड़ित हो तो बिछौने पर शरीर को घिसता है, रोता है, कोई हाथ फेरे (खुजलाए) ऐसी इच्छा व्यक्त करता है, ऐसा करने से सुख अनुभव करता तथा शान्त हो जाता है। शुष्क कण्डू न मिटे तो आर्द्र कण्डू हो जाती है। त्वचा में स्नेह का क्षय होने से तथा वात का प्रकोप होने से शुष्क कण्डू होती है। नानात्मज रोगों के प्रकरण में कह आए हैं कि कण्डू कफ, पित्त तथा वात तीनों से होती है। तीनों में कौन दोष कारणभूत है यह लक्षणादि से जानकर ही उपयुक्त चिकित्सा का निर्णय किया जा सकता है।

आर्द्र (स-स्राव) कण्डू में मर्दन करने से--खुजलाने से--बालक सुख अनुभव करता है, परन्तु ऐसा करने से परिणाम रूप में शोथ हो जाता है। शोथ होने पर उस स्थान से शूल और दाह सहित स्राव होता है[1]।

१--मूल में यहाँ 'शूनं स्रवति सस्योढामार्द्रायां शूलदाहवत्' पाठ है। 'सस्योढाम्' का क्या अर्थ होगा ?

बालक के शरीर में आम-दोष होनेवाला हो तो उसमें स्तैमित्य (आर्द्रता या निःस्पन्दता--चेष्टा-हीनता[1]), अरुचि, निद्रा, शरीर की पाण्डुकता (श्वेतता), अरति, क्रीडा, भोजन, शयन तथा धात्री के प्रति अविरत द्वेष (इनमें चित्त न लगना) उसने स्नान न किया हो तो भी (आम-जन्य शरीर के आर्द्रत्व के कारण) स्नान किया हो ऐसा दीखना तथा स्नान किया हो तो भी (मलिनता के कारण) स्नान नहीं किया हो ऐसा आभास होना--ये पूर्वरूप होते हैं।

बालक को पाण्डुरोग हो तो नाभि के चारों ओर शोथ; नख, नयन तथा वदन की श्वेतता; अग्नि की मन्दता, अक्षिकूट (आँख के ऊपर का अस्थिकूट) पर शोथ, उत्साह का लोप, रक्त की क्षीणता और स्पृहा (चेष्टा की इच्छा) का नाश--ये लक्षण होते हैं।

बालक कामला से पीड़ित हो तो पीतवर्ण के नख, नयन, वदन, पुरीष और मूत्रवाला; उत्साह-रहित; एवं अग्निमांद्य, रक्तक्षय और चेष्टानाश-युक्त होता है।

बालक मदात्यय से पीड़ित हो तो मूर्च्छा, प्रजागर (निद्रानाश), वमन, धात्री-द्वेष (या मातृ-द्वेष), अरति, भ्रम, त्रास (भय), उद्वेग (घबराहट, व्याकुलता) और तृष्णा--इन लक्षणों से जाना जाता है।

बालक को पीनस (प्रतिश्याय) हो तो वह स्तन्यपान करता-करता बीच-बीच में बार-बार मुख से श्वास लेता है। (यह श्वास में लिया वायु उदर में जाकर प्रत्याध्मान उत्पन्न करता है); उसकी नासिकाओं से जल का स्राव होता है, ललाट उष्ण रहता है, नासाग्र को बार-बार स्पर्श करता है; उसे हिक्का तथा कास के वेग होते हैं। वह उरोघात रोग से पीड़ित हो तो पीनसोक्त लक्षणों के अतिरिक्त छाती में बहुत शब्द (घर्घराहट) सुनाई पड़ता है।

बालक की चर्या स्वस्थवृत्तानुसारिणी हो, उसे सामान्यतः कोई रोग न हो तो भी वह रात को सोए नहीं, (अथवा सोता-सोता सहसा चौंक कर जाग उठे, और रोने लगे) तथा त्वचा पर रक्तबिन्दु व्याप्त हों तो उसे यूका पिपीलिका,

---

१—पाणिनीय धातुपाठ में तिम, स्तिम (ष्टिम) तथा स्तीम (ष्टीम) धातुएँ दिवादिगण में आर्द्रीभाव के अर्थ में पठित हैं। लोक में 'स्तिम' धातु निःस्पन्दता या स्थिरता के अर्थ में व्यवहृत हैं। यथा—बालक रघु को देखते दिलीप के वर्णन में रघुवंश में—**निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।** मल्लिनाथ ने स्तिमित का अर्थ निःस्पन्द दिया है। इससे बना स्तैमित्य शब्द आयुर्वेद में प्रचुर प्रयुक्त है। स्तिमितम् आर्द्रम्, जडमित्यन्ये—सु० सू० ४२।४ (२) पर डल्हन।

मत्कुण आदि जन्तु काटते हैं यह अनुमान करे। छोटे-छोटे रक्त-बिन्दु उनके दंश के चिह्नभूत होते हैं। उन्हीं के कारण उसकी निद्रा नष्ट हुई होती है।

काश्यप-संहिता ने इसके आगे असाध्य तथा अरिष्ट-लक्षणों का निर्देश किया है। उनका निर्देश आगे अरिष्ट-प्रकरण में किया जाएगा।

सम्यक् परीक्षा का महत्व

ये शास्त्रोक्त परीक्षा में उपयोगी प्रमाण हैं। जो चिकित्सक इस प्रकार सर्व प्रमाणों से रोगी की सम्पूर्ण परीक्षा कर तत्पश्चात् आहारौषधादि की योजना करता है वही सिद्धि-लाभ करता है। तन्त्रकारों ने बड़े प्राणवान् शब्दों में सम्यक् परीक्षा का महत्त्व नीचे लिखे अनुसार बताया है--

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः॥
च० वि० ४।६

विचक्षण वैद्य का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्याधि को द्विविध आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा यथावत् जाने।

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत् तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्॥
च० वि० ४।१०

शास्त्र में कुशल वैद्य को व्याधि-विषयक तत्त्व (सम्पूर्ण ज्ञातव्य) की यथासंभव सभी प्रमाणों द्वारा समग्रतया परीक्षा कर तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके अनन्तर रोग-विषयक अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिए।

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्॥
च० वि० ४।११

चिकित्सा के तत्त्व और विभिन्न प्रसंगों पर करने योग्य उसके विशेष मुद्दों को जो विचक्षण वैद्य जानता है वह कार्य उपस्थित होने पर कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होता। बुद्धि के वैशद्य के जिस परिणाम की कल्पना की जा सकती है वह उसे प्राप्त होता है।

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥
च० वि० ४।१२

रोगों के निदान और चिकित्सा-सम्बन्धी सम्पूर्ण तत्त्व को जाननेवाला जो वैद्य अपने ज्ञान और बुद्धिरूप प्रदीप की सहायता से रोगी के अन्तरात्मा में प्रविष्ट नहीं होता--उसके अन्तस्तल तक पहुँच नहीं जाता--वह कदापि रोग का उपचार करने में समर्थ नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

सु० सू० १०।७

किंबहुना, रोगों की प्रत्यक्ष परीक्षा मिथ्या (असम्यक्) हो, प्रश्न-परीक्षा में उत्तर असम्यक् दिये गये हों किंवा प्रत्यक्ष और प्रश्न से उपलब्ध रोग-विषयक जानकारी का अनुमान द्वारा विचार यथावत् न किया गया हो तो चिकित्सक अपने कर्त्तव्य-विषयक जो निर्णय करता है वह कार्य-साधक नहीं होता।

आठवाँ अध्याय

रोग-परीक्षा में परीक्षणीय विषय

अथातो रोग-परीक्षा-विषय विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः[1] ॥

परीक्ष्य विषय[2]--

गत अध्याय में रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान जिन प्रमाणों से होता है उनका निर्देश सोदाहरण किया गया था। इस अध्याय में तथा आगे इन प्रमाणों द्वारा ज्ञेय विषयों का निरूपण करेंगे।

तस्मादातुरं परीक्षेत—प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः[3] ॥

च० वि० ८।८४

रोग-परीक्षा में रोगारम्भक दोष का बल तथा रोग के आश्रयभूत शरीर का बल (प्रतिकार-शक्ति) जानने के प्रयोजन से ज्ञातव्य विषय अधोलिखित हैं--१. प्रकृति; २. विकृति अथवा रोग; ३. सार; ४. संहनन (शरीर की पुष्टि तथा बल); ५. शरीर-प्रमाण (समस्त शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का माप); ६. सात्म्य; ७. सत्त्व (मनोबल); ८. आहारशक्ति तथा अग्नि; ९. व्यायामशक्ति (बल); १०. वय; ११. ऋतु काल; १२. देश; १३. दोष; १४. दूष्य; १५. रोग की विविध अवस्थाएँ; १६. औषध।

१—अध्याय-स्थल : सु० सू० ३५।३–४६; च० चि० ३०।२९१–३२९; च० सि० ३।६; च० सू० १५।५; च० वि० ८।८८–१२८; अ० हृ० सू० १२।६७–६८; तथा इन पर चक्रपाणि, डल्हन, अरुण-हेमाद्रि।

२—स्थल—च० वि० ८।९४; सु० सू० ३५।३; च० चि० ३०।२९२; च० सि० ३।६; च० सू० १५।५।

३—बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोरिति देहबलं दोषबलं च सामान्येन गृह्यते ॥ चक्रपाणि

रोग-विषयक ज्ञातव्य निदान-पञ्चक--इन विषयों में प्रधान रोग के संबंध में ज्ञातव्य विषयों को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है। इनको निदान नाम दिया गया है। पाँचों निदानों के नाम अधोलिखित हैं--

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्॥

अ० हृ० नि० १।२

निदान (रोग-हेतु); पूर्वरूप; रूप या लक्षण: उपशय-अनुपशय तथा संप्राप्ति।

निदानपञ्चक या पञ्चनिदान नाम से इनका विवरण शास्त्रकारों ने पृथक् प्रकरण में किया है। अधिक वक्तव्य होने से उनका उल्लेख पश्चात् करेंगे। रोग-परीक्षा में शेष विषयों का विवरण इस अध्याय में करते हैं[1]।

१--**एक संज्ञा का शास्त्र में अनेक अर्थों में प्रयोग**--

स्मरण रहे--निदानपञ्चक में पाँचों ज्ञेयों का नाम भी निदान है और पाँचों में प्रथम का नाम भी निदान है, जिसका अर्थ कारण है। संस्कृत समृद्ध भाषा होते हुए भी आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने एक-एक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। यथा, इस **निदान** शब्द के अतिरिक्त **वीर्य** शब्द द्रव्यों की शक्ति मात्र के लिए भी प्रयुक्त हुआ है तथा शक्ति के एक भेद उत्कृष्ट गुण के लिए भी। **पूर्वरूप** शब्द भी दो तरह के सर्वथा भिन्न लक्षणों के लिए प्रयुक्त हुआ है। **प्रकोप** शब्द दोषों की वृद्धि के लिए आया है तथा वृद्धि की एक अवस्था, जिसमें दोष रोगोत्पत्ति में समर्थ होते हैं उसके लिए भी आया है। **ज्वर** शब्द शारीर और मानस दोनों ज्वरों के लिए आया है, यद्यपि दोनों में शब्द-साम्य के अतिरिक्त कोई सादृश्य नहीं है। **कषाय** शब्द द्रव्यों की कल्पना-मात्र के लिए आया है तथा कल्पना-विशेष (क्वाथ) के लिए भी। इसी प्रकार **यवागू** शब्द आहारों की कल्पनाओं के एक वर्ग के लिए आया है और उसके एक भेद के लिए भी। **विपाक** शब्द का कुछ भिन्न प्रकार से विचार चरक और सुश्रुत ने किया है। **प्राण-अपान** शब्दों की भी यही स्थिति है। प्राण शब्द एकादश प्राण, पाँच वायुओं में एक तथा नासाभ्यन्तर संचारी वायु (निकलने वाला वायु) एवं उत्साह के लिए आया है। अपान शब्द भी पाँच वायुओं में एक तथा नासाद्वार से प्रविष्ट होने वाले वायु के लिए आया है। आचार्यों की इस शैली को न समझ कर टीकाकारों ने इन शब्दों को बड़ा दुरूह बना दिया है। अध्यापकों को प्रत्येक शब्द की स्पष्टता उसके प्रकरण में कर देनी चाहिए।

१—प्रकृति

प्रकृतिः जन्मप्रभृति वृद्धो वातादिः ॥

च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि

जन्म से ही अर्थात् शुक्र-शोणित का संमूर्च्छन (संयोग) और उसमें जीव (सूक्ष्म शरीर) का अनुप्रवेश होने के साथ ही प्रत्येक पुरुष के शरीर में वातादि दोषों में से एक या अनेक का आधिक्य होता है। इस प्रकार जन्मतः शरीर में जो दोष अधिक (उत्कट) होता है उसे किंवा उससे बने शरीर और मन के वैशिष्टच को प्रकृति कहा जाता है।

जन्म से उत्कट दोष पर ही प्रत्येक पुरुष के शरीर की पुष्टि, उसका स्वभाव, उसका आरोग्य-अनारोग्य, उसका आहार, विहार, गति, उसका अग्निबल, उसकी त्वचा आदि का वर्ण, उसका वय, उसका अन्य व्यक्तियों के प्रति व्यवहार, उसका काम (सेक्शुअल बिहेविअर) उसके संतान और इसी प्रकार अन्य अनेक बातें, अवलम्बित होती हैं, जो उसके अन्य पुरुषों से भिन्न (विशिष्ट) स्वरूप--शारीरिक संघटन तथा मानसिक स्वभाव--होने में कारणभूत हैं।

प्रकृति-जनित उक्त भावों में आयुर्वेद की दृष्टि से सबसे अधिक स्मरणीय आरोग्य-अनारोग्य हैं। प्रकृत्यारम्भक दोष के भेद से प्रकृतियाँ सात प्रकार की होती हैं---पृथक् दोषों से तीन, नाम वातल (वातिक), पित्तल (पैत्तिक) तथा श्लेष्मल (श्लैष्मिक), संसृष्ट (दो-दो) दोषों से तीन, नाम वातपित्तल, वातश्लेष्मल तथा पित्तश्लेष्मल एवं समस्त दोषों से एक वातपित्तश्लेष्मल।

प्रकृतियों के ज्ञान की उपयोगिता इस कारण है कि प्रकृति की उत्पत्ति जिस दोष से हुई हो उसके प्रकोपक (वर्धक) आहार-विहारादि का सेवन करने से उस दोष का प्रकोप शीघ्र होता है। अन्य दोषों के प्रकोपक कारणों का सेवन करने पर भी उनका प्रकोप उतना नहीं होता[1]। परिणाम यह होता है कि--वातलस्य वातनिमित्ताः पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्म-निमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति--च० वि० ६।१५।--वातप्रकृति पुरुष को वातप्रकोपज रोग, पित्त-प्रकृति को पित्तज तथा श्लेष्म प्रकृति को श्लेष्मज रोग प्रायः---अन्य दोषारब्ध रोगों की अपेक्षया अधिकतर---होते हैं और बलवान् होते हैं।

होता यह है कि, प्रकृत्यारम्भक दोष अपने विरोधी गुणों के द्वारा शेष दोषों के प्रकोपक कारणों के सेवन से संभावित प्रकोप को दबाए रहता है, अतः

१—देखिए—च० वि० ६।१६, १७, १८।

सामान्यतः इतर दोषों के प्रकोप से होनेवाले रोग उस प्रकृतिवाले पुरुष को पीडित नहीं करते। इतना ही नहीं, एक ही कारण जो स्वभावतः दो दोषों को प्रकुपित करनेवाला हो उसका सेवन किया जाए तो वह भी प्रकृति के उत्पादक दोष को ही सविशेष कुपित करता है, शेष दोष को उतना कुपित नहीं करता। जैसे, अम्ल रस का अतियोग समान-गुण पित्त तथा कफ दोनों के वर्धक के रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट है। परन्तु, पित्तप्रकृति पुरुष में यह पित्त की तथा कफप्रकृति पुरुष में यह कफ की ही विशेषतया वृद्धि करेगा। इस प्रकार इतर दोषों के प्रकोपक कारण भी मानो प्रकृत्यारम्भक दोष को ही प्रकुपित करनेवाले सिद्ध होते हैं।

एक उपमा से इस बात को समझने का प्रयास करें। हम जानते हैं, नाटकों तथा अन्य काव्य-भेदों में एक भाव आदि से अन्त तक स्थिर रहता है और प्रधान रस का उत्पादक होता है। शेष भाव उसी के पोषक होते हैं और बीच-बीच में जाते-आते रहते हैं। पहले भाव को स्थायी भाव तथा शेष भावों को संचारी भाव कहते हैं। शरीर में भी प्रकृत्यारम्भक दोष को शरीर की पुष्टि, मानसिक स्वभाव, आरोग्य, अनारोग्य आदि का प्रमुख कारण होने से एवं जीवन में आदि से अन्त तक स्थिर होने से स्थायी दोष कह सकते हैं, तथा शेष दोषों को संचारी।

प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप सुलभ होने के कारण ही रोगों की साध्या-साध्यता के प्रकरण में भी प्रकृति का विचार प्रथम किया जाता है। रोग का उत्पादक दोष वही न हो जिससे प्रकृति की उत्पत्ति हुई है तो रोग सुखसाध्य होता है। परन्तु, प्रकृति और रोग दोनों का आरम्भक दोष समान ही हो तो दोष का बल बढ़ जाने से रोग कष्टसाध्य होता है। इसी प्रकार निदान, ऋतु, देश, काल आदि प्रकृत्यारम्भक दोष के अनुकूल या प्रतिकूल होने से भी साध्यासाध्यता में भेद होता है।

रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य वस्तुओं में प्रकृति के प्रथम निर्देश का कारण अब समझा जा सकता है। संक्षेप में, प्रकृति के ज्ञान से प्रथम तो इस बात की कल्पना उदित हो आती है कि रोग का उत्पादक कारण तीनों दोषों में से कौन सा दोष हो सकता है। उसे दृष्टि में रखकर उसी का अनुसरण करते हुए उस दोष के द्वारा उत्पन्न होनेवाले नानात्मज या सामान्यज रोगों का अनुसंधान करना चाहिए। चिकित्सा में भी उसी को प्रथम पद देना चाहिए। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति के अनन्तर निदान तथा चिकित्सा की विशुद्धि के प्रयोजन से प्रकृति का ज्ञान उपयोगी है। परन्तु, जैसा कि पहले भी कह आए हैं, प्रकृति का ज्ञान रोगों की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) में भी उतना ही उपयोगी है। पुरुष को अपनी प्रकृति

का ज्ञान हो तो वह स्वस्थवृत्त का अनुशीलन करता हुआ अपनी दिनचर्या, रात्रि-चर्या, ऋतुचर्या तथा ऋतुसंधिचर्या यदि इस प्रकार की रखे कि प्रकृत्यारम्भक दोष की वृद्धि न होने पाए तो वह संभावित रोगों से अपने को रक्षित रख सकता है। और नहीं तो इतना तो होता ही है कि, रोग का बल उतना बढ़ नहीं पाता। साथ ही, प्रकृत्यनुसार वाजीकरणों का सेवन कर वह अपनी व्यवाय-शक्ति को परिणत वय-पर्यन्त स्थिर रख सकता है तथा उचित रसायनों का सेवन कर अपनी आयु को दीर्घ, शरीर को स्थिर तथा इन्द्रियों को वार्धक्य में भी अक्षुण्ण रख सकता है।

प्रकृति शब्द आयुर्वेद में विकृति के विरोधी भाव धातुसाम्य या स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु, ऊपर प्रकृति-विषयक जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट है कि शरीर के जिस धर्म-विशेष को प्रकृति नाम दिया गया है वह आरोग्य का सूचक नहीं है। वस्तुतः, चरकाचार्य ने असंदिग्ध पदों में कह भी दिया है कि,[1] जिस पुरुष में प्रकृत्यारम्भक तीनों दोष सम अवस्था में हों,--वातलादि सर्व प्रकृतियों में पृथक् पृथक् कहे प्रशस्त गुणों के समुदाय से जिस प्रकृति की रचना हो उसी को प्रकृति नाम देना चाहिए, तद्युक्त पुरुषों को ही अनातुर (स्वस्थ) कहना चाहिए। शेष वातलादि को प्रकृति न कहकर विकृति ही कहना चाहिए। उनकी शरीर-प्रकृति दोषानुबद्ध (दोष-संपृक्त) होती है--दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते--च० सू० ७।४०।

यह और बात है कि, जैसा कि पूर्वपक्ष ने कहा है--पुरुषों का स्वभाव ही हो गया है कि वे विषमाहार-विहार किया करते हैं। इसलिए--न समवातपित्त-श्लेष्माणो जन्तवः सन्ति--च० वि० ६।१३। अतः उक्त समधातु पुरुष दुर्लभ होने से वातल आदि को ही प्रकृति कहना चाहिए। इसका उत्तर देते तन्त्रकार ने कहा है कि--समधातु पुरुष सुलभ हो या दुर्लभ; वह हमारा आदर्श है--हमारा लक्ष्य है। अतः प्रकृति तो उसी को कहना चाहिए, वातलादि को विकृति नाम देना ही समीचीन है।

प्रकृतियों की तुलना--चरक का यह स्पष्ट वक्तव्य होते हुए भी वातिक आदि के लिए ही प्रकृति शब्द का व्यवहार आयुर्वेद और वैद्य-समाज में चिरकाल से प्रवृत्त है। इसीसे समधातु प्रकृति समस्त प्रकृतियों में सिद्धान्ततः श्रेष्ठ मानी है, तथापि उसके दुर्लभ होने से शेष वातिक आदि प्रकृतियों की ही परस्पर तुलना करके उनमें कफप्रकृति को उत्तम कह दिया है। देखिए--

---

१--देखिए--च० सू० ७।३९-४०; च० वि० ८।१००; च० वि० ६।१३ तथा चक्रपाणि।

तंश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा ॥

अ० हृ० सू० १।१०

तीनों प्रकृतियों में कफप्रकृति को उत्तम कहना आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों की आर्य संस्कृति के स्वरूप का सूचक है। प्रकृतियों के लक्षणों की तुलना करने से विदित होगा कि, कफप्रकृति पुरुष के पास धन-संपत्ति, भृत्य, मित्र आदि उपभोग के साधनों का प्राचुर्य होता है, साथ ही शारीर बल संपन्न होने से वह इन साधनों का उपभोग भी समग्रतया कर सकता है; दानशीलता तथा संविभाग-रुचिता के कारण इन साधनों का उपभोग अकेला नहीं करता; स्वभाव से शान्त होता है अतः उसे जीवन में मानस क्लेश भी बहुत पीडित नहीं करता। आयु भी दीर्घ होने से उपभोग दीर्घकाल पर्यन्त कर सकता है। किं बहुना, इस प्रकार उपभोग के साधनों तथा उपभोग की शक्ति के बाहुल्य के कारण और यह उपभोग भी त्यागपूर्वक होने से आर्य संस्कृति की दृष्टि से कफ-प्रकृति सर्व प्रकृतियों में उत्तम मानी गयी है। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह आर्य सिद्धान्त है।

द्विदोषज प्रकृतियों को निन्द्य इसलिए कहा गया है कि, प्रकृत्युत्पादक एक दोष रोग उत्पन्न न करे ऐसी चर्या का अवलम्बन किया जाए तो वह चर्या इतर दोष की वृद्धि करनेवाली सिद्ध हो सकती है। इस द्वितीय दोष को समावस्था में रखनेवाली चर्या रखी जाय तो वह प्रथम दोष को प्रकुपित करती है। यथा, वातकफ-प्रकृति पुरुष में वात के शमनार्थ अभ्यङ्ग करें तो वह कफ की वृद्धि कर सकता है। कफ को सम रखने के प्रयोजन से लङ्घन किया जाए तो उससे वात की अभिवृद्धि होती है। परिणामतया द्विदोषज प्रकृतियाँ रोग उत्पन्न न करें एतदर्थ कोई मार्ग सुगम न होने से (उपक्रम-विरोधित्वात्) उन्हें निन्द्य कहा गया है।

प्रकृति की सूक्ष्म परीक्षा व्यवसायोपयुक्त होने से एक-दो उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट कर दूं। कास और श्वास का अधिष्ठान उरस् है। यह कफ और वात का स्थान है। अतः सामान्यतया कास-श्वास कफ-वात की वृद्धि से ही होते हैं और उष्ण आहार-औषध, वमन-लङ्घन आदि से शान्त होते हैं। परन्तु ये रोग यदि पित्त-प्रकृति पुरुष में हों तो उनमें कारण पित्त तो नहीं है इस बात की गवेषणा करनी चाहिए। उरस् कफ का स्थान होने से पित्तज कास-श्वास में यत्किंचित् अनुबन्ध कफ का भी होता ही है। कारण--एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्। सो, पित्त के साथ कफ का भी अनुबन्ध होने से अन्य रोगियों के समान इन्हें भी (स्टीरिओटाइड्ड) उष्ण औषध दी जाएगी तो क्षणिक लाभ

अवश्य करेगी ; परंतु स्थायी गुण तो पित्त को लक्ष्य बनाकर की गयी चिकित्सा से ही होगा। आहार में भी दूध आदि शीत द्रव्य ही ऐसे रोगियों को देना ठीक होगा।

कास-श्वास के समान प्रतिश्याय भी पित्त-प्रकृतियों को एवं पित्त-दुष्टि से होता है, यह वस्तु भी चिकित्सा-व्यवसाय में स्मरण रखनी चाहिए। प्रतिश्याय को भी कफ-वात-प्रधान ही समझा जाता है। गुजराती में 'सर्दी' तथा अंग्रेजी में 'कोल्ड' नाम इसी धारणा के सूचक भी हैं। परन्तु, इसका भी पैत्तिक भेद होता है। उसे ध्यान में रखना चाहिए। कदाचित् पित्तज प्रतिश्याय में एक नासा में दुष्टि विशेष हो, साथ ही उस ओर के पुरःकपालगत वाताशय (फ्रॉण्टल सायनस) में दुष्टि पहुँच जाए तो अर्धभेद तथा सूर्यावर्त-सदृश शिरोवेदना होती है। दुष्टि एक ही ओर के नासास्रोत और वाताशय में होने से वेदना उसी ओर के ललाटार्ध में होती है। एवं, प्रातःकाल वायु उष्ण न होने से वह पित्त का प्रकोपक नहीं होता। सूर्योदय होकर जैसे-जैसे सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाहर तथा शरीर में उष्णता की वृद्धि होती जाती है और तज्जनित यह शिरोवेदना भी बढ़ती जाती है। मध्याह्न के पश्चात् विपरीत क्रम होने से वेदना भी घटती जाती है। ऐसे रोगियों में प्रतिश्याय में उपयोगी कोई भी औषध, यथा त्रिभुवनकीर्ति, किसी पित्त-प्रत्यनीक औषध, यथा प्रवाल के साथ देने से त्वरित गुण होता है।

पित्तज कास, श्वास या प्रतिश्याय में कफ का भी अनुबन्ध होने का अर्थ आयुर्वेद की दृष्टि से तो पहले कहा ही जा चुका है कि पित्त के मुख्यतया प्रकोपक अम्ल, कटु आदि द्रव्य मुख्यतया तो पित्त की ही वृद्धि करते हैं, परन्तु समान गुणों-वाले कफ तथा वायु का भी प्रकोप यत्किंचित् करते ही हैं। नव्य मत से इन रोगों के प्रसंग में कफ के प्रकोप का स्वरूप यह होता है। इन रोगों के स्थानों में रोग-जनक हेतु का संश्रय होने पर उनके प्रतिकार के लिए प्रकृति (आयुर्वेद-मत से भगवान् वायु) अधिक प्रमाण में रस-रक्त का आयात इन स्थानों पर करता है। इन स्थानों में कफ-ग्रन्थियाँ (म्यूकस-ग्लैण्ड्स) भी होती हैं। उन्हें भी रस-रक्त की उपलब्धि अधिक प्रमाण में होती है। इसका उपयोग कर वे सामान्य की अपेक्षया अधिक मात्रा में कफ की उत्पत्ति करती हैं। यही आयुर्वेद-मत से कफ का अनुबन्ध है। यह कफ भी रोग की निवृत्ति में उपयोगी तो सिद्ध होता ही है। कारण, इसके निर्हरण की जो प्राकृत व्यवस्था होती है वह अब सविशेष व्यापृत हो जाती है, जिससे उसके (कफ के) साथ विकारोत्पादक द्रव्य की भी शुद्धि हो जाती है।

किं बहुना, इस उपयोगी विषयान्तर की समाप्ति में इतना कह देना योग्य है कि, पित्त या वात से प्रवृत्त कफ तनु (पतला) तथा स्वल्प होता है, जबकि गुरु

आदि कफ-प्रकोपक गुणों वाले द्रव्यों के अतियोग से प्रकुपित हुए कफ से उत्पन्न कास, श्वास या प्रतिश्याय में जो कफ प्रवृत्त होता है वह सान्द्र तथा प्रभूत होता है। प्रत्येक दोष के अन्य लक्षण भी अपने-अपने रोग में होते ही हैं। इन सब बातों का विचार कर इन तथा अन्य रोगों में दोषानुसार योग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रकृति की उत्पादक तथा पोषक सामग्री--जैसा कि ऊपर कहा, शुक्र-शोणित तथा जीव (लिङ्ग शरीर) का संमूर्च्छन होने पर शुक्र या पुंबीज में तथा शोणित या स्त्री-बीज में और उनसे बने गर्भबीज (फर्टिलाइज्ड ओवम) में जिस दोषका आधिक्य होता है उसी के अनुसार प्रकृति बनती है।[1] शुक्र और शोणित में

१--इस प्रकरण में (सु० शा० ४।६३ की टीका में) डल्हन ने अपना तथा गयदास का मत उद्धृत कर एक रसिक सिद्धान्त-चर्चा की है। उपयोगी होने से वह मूल-समेत नीचे दी जाती है। अपना मत देते डल्हन कहता है--'**यो भवेद् दो। उत्कट' इति स्वभावस्थितो न प्रकुपितः। द्विविधा ह्युत्कटा वातादयः, प्राकृता वैकृताश्च। तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः शरीरैकजन्मानः, वैकृताश्च गर्भव्याघातकाः॥**--'शुक्र-शोणित का संयोग होने पर 'उत्कट' दोष से प्रकृति बनती है, इस वचन में प्रयुक्त उत्कट शब्द का अर्थ स्वभाव-स्थित (स्व-मानावस्थित) दोष है, न कि प्रकुपित। कारण, उत्कट दोषों के दो प्रकार हैं--प्राकृत तथा वैकृत। इनमें प्राकृत (अप्रकुपित, स्व-प्रमाणस्थ) एवं शरीर के ही अङ्गभूत दोषों से सात प्रकार की प्रकृति बनती है, जबकि वैकृत (प्रकुपित) वातादि दोष गर्भ को नष्ट करनेवाले होते हैं।

आगे गयदास का दिया अन्य ही समाधान उद्धृत करता डल्हन कहता है--**गयी त्वन्यथैवाशंक्य समादधाति**--गयदास ने अन्य ही प्रकार से शङ्का उठायी है और उसका अन्य ही समाधान किया है। **यथा, ननु, स्वभावतः शुद्धं बीजं कर्मणा वा समधातुं गर्भं निष्पादयति, अनिलादिदोषदुष्टं तु गर्भजननाय न समर्थमिति शुक्रशोणितशुद्धावुक्तं, तत्कथमुत्कटेन दोषेण प्रकृतिरिति? उच्यते**--प्रश्न है कि, शुक्र और शोणित की शुद्धि के प्रकरण में कहा गया है कि, बीज स्वभाव से शुद्ध हो, किंवा अशुद्ध हो तो चिकित्सा द्वारा उसे शुद्ध कर लिया गया हो तो ही वह समदोष-धातु-संपन्न गर्भ की उत्पत्ति करता है। बीज (शुक्र-शोणित) यदि वातादिदोष दूषित हो तो वह गर्भोत्पत्ति नहीं कर सकता। सिद्धान्त यह है तो यहाँ यह कैसे कहा कि, उत्कट (प्रकुपित, दुष्ट) दोष से प्रकृति बनती है। उत्तर देते हैं--**न हि सर्वमेव बीजं दूषितं, किं तर्हि बीजावयवो दूषितः। न चावयवगतदोषेण गर्भप्रतिबन्धो जात्यन्धमूकादेर्दर्शनात्।**--प्रकृत्यारम्भक दोष→

एक या अनेक समान-गुण ही दोषों का अधिक होना संभव है। यह भी संभव है कि, दोनों में अधिक दोष भिन्न भी हों। प्रथम स्थिति में तो सरलता से समझा जा सकता है कि समान दोष से प्रकृति की उत्पत्ति होगी। द्वितीय स्थिति में, शुक्र और शोणित दोनों में से जिसमें स्थित दोष बलवान् होगा वह प्रकृति का आरम्भक होगा। अथवा दोनों तुल्य-बल हों तो संसृष्ट (मिश्र) प्रकृति होने की संभावना होगी। यह भी संभव है कि, दोनों दोषों के समान गुणों का आविर्भाव प्रकृति में विशेषतया देखा जाए तथा परस्पर-विरुद्ध गुण दबे हुए हों।

शुक्र और शोणित या पुंबीज-स्त्रीबीज प्रकृति के निर्माण में मुख्यतया

←से समग्र ही बीज की दुष्टि नहीं होती कि जिससे गर्भ हो ही नहीं, किन्तु बीज का अवयवमात्र दूषित होता है। और, अवयव-विशेष के आरम्भक बीजभाग में दुष्टि हो तो उससे गर्भ के होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। देखते भी हैं, अवयवगत दोष होने से जात्यन्ध (जन्मान्ध), जातिमूक आदि अवयव-विकृति वाले पुरुष उत्पन्न होते ही हैं। **तस्माद् य एवांशो बीजस्य दुष्टो भवति तत्कार्यस्यैव गर्भावयवस्य विकृतिरभावो वा भवति। यथा, दृष्टयारम्भके बीजभागे दुष्टे जात्यन्धो गर्भो भवति, न तु गर्भ एव न भवति ; तथा दोषाख्ये बीजभागे दुष्टे तत्कार्यस्यैव गर्भशरीरभागस्य समधातोरपेक्षया विकृतिः स्फुटितकरचरणादिलक्षणा भवति, न तु गर्भव्याघातः।**—अतः यह सिद्धान्त है कि भावी गर्भगत जिस अवयव-विशेष का बनानेवाला बीजगत अंश (भाग) दुष्ट (दोष-विकृत) होगा, उसी का कार्यभूत—उससे उत्पन्न होनेवाला—अवयव दोष के तारतम्यानुसार विकृत होगा या बनेगा नहीं। यथा, दृष्टयारम्भक (नेत्रोत्पादक) बीजभाग दुष्ट होगा तो गर्भ जात्यन्ध होगा, यह नहीं कि गर्भ बनेगा ही नहीं। ठीक इसी प्रकार बीजगत दोष-नामक भाग दुष्ट होगा तो उसके कार्यभूत गर्भ-शरीरावयव में दोष-भेद से हाथ-पैर फटे होना आदि वे विकृतियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जो समधातु (जिसके प्रकृत्यारम्भक दोष दुष्ट नहीं हैं ऐसे पुरुष) में देखने में नहीं आतीं। गर्भ का अभाव नहीं होता। **तदुक्तम्—"शुद्धं स्वभावकर्मभ्यां वाताद्यैर्दुष्टमंशतः। दृष्टं बीजार्थकृद् बीजं तत्र प्रकृतिरुत्तरम्॥"** इस विषय में प्रमाणभूत प्राचीन वचन भी है—बीज (पुंबीज, स्त्री बीज), जो वृक्ष-वनस्पतियों के बीजों के समान (समान की उत्पत्ति-रूप) कार्य करनेवाला होता है वह (दो प्रकार का होता है। एक तो) स्वभाव या जन्म से शुद्ध अथवा जिसकी अशुद्धि उपचार-विशेष द्वारा दूर कर उसे शुद्ध (निर्दोष) बना लिया गया है ऐसा ; तथा (दूसरा वह जो) वातादि दोषों से अंशतः दूषित हो। इनमें द्वितीय (उत्तर) प्रकार के बीज से प्रकृति की उत्पत्ति होती है।

भाग लेते हैं अतः उनका प्रारम्भ में पृथक् निर्देश किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ भाव (वस्तुएँ) हैं, जो शुक्र-शोणित को प्रभावित कर प्रकृति के निर्माण में सहकारी कारण के रूप में भाग लेते हैं। ये भाव अधोलिखित हैं-- काल (माता-पिता का वय तथा ऋतु), गर्भाशय, माता का आहार-विहार एवं उस काल बाह्य-सृष्टिगत महाभूत। इनकी जो भी प्रकृति होगी, नाम इनमें गर्भशरीर में जिस-जिस दोष को उत्कट करने का स्वभाव होगा वही दोष उत्कट होकर शुक्र-शोणितगत दोषों के प्रमाण का निर्माण करेगा और उसके अनुसार गर्भ-शरीर की प्रकृति बनेगी[1]। संक्षेप में, शुक्र-शोणित और अभी कहे ये काल आदि मिलकर जिस भी दोष को उत्कट बनाएँगे उसके अनुसार ही प्रकृति बनेगी। शुक्र-शोणित के संबंध में ऊपर जो बात कही, वह यहाँ भी लागू समझनी चाहिए कि, प्रकृत्युत्पादक इन भावों में कोई किसी दोष का वर्धक होगा, कोई किसी का। सबका संयोग होने पर ऋण-धन हो कर अन्त में योग-रूप में जो एक, दो या तीन दोष उत्कट रहते हैं उनसे प्रकृति बनती है।

प्रकृत्युत्पादक अन्य सामग्री[2]--आयु का प्रमाण (एक्स्पेक्टेशन ऑफ लाइफ) जानने के लिए चरक ने इन्द्रियस्थान नामक एक पृथक् स्थान रचा है। इसके आरम्भ में ही आयु का प्रमाण जानने में उपयोगी सामग्री का उल्लेख आचार्य ने किया है। इस सामग्री में एक प्रकृति भी है। प्रकृति के विषय में विचार करते हुए इस प्रकरण में अन्य कतिपय कारणों से भी प्रकृति का भिन्न होना--तदनुरूप होना--लिखा है। ये कारण अधोदर्शित हैं--जाति, कुल, देश, काल (युग), वय, बल और प्रत्येक पुरुष का आत्मा।

जाति आदि के भेद से पुरुषों की प्रकृति में भेद प्रत्यक्ष देखा जाता है। देश का विचार करना हो तो एक ही भूखण्ड के अत्यन्त समीप रहनेवाले लोगों में प्रकृति-भेद होता है। फ्रांस और जर्मनी, महाराष्ट्र तथा गुजरात इत्यादि देशों के व्यक्तियों के शारीर-मानस स्वभाव में भेद सुविदित है। युग के भेद से प्रकृति-भेद का उदाहरण आचार्य चरक ने जनपदोद्ध्वंसक अध्याय में विशद रीति से दिया है। 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' में यह प्रकरण वाचक देख सकते हैं। वयोभेद से बालक, युवा आदि में प्रकृति-भेद होता है। अनुभव और सत्त्व-कृत संयम का इसमें बड़ा हाथ होता है। तथापि, कोई पुरुष चिरकाल किसी के साथ रहे

१--देखिए--च० वि० ८।९५, च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि।

२--देखिए--च० इ० १।५ तथा चक्रपाणि ; अ० सं० शा० ८। संग्रहकार ने प्रकृति के लिए 'सप्त' विशेषण दिया है, जिससे सिद्ध है कि यहाँ शुक्र-शोणितोत्पन्न प्रकृति की ही बात है।

तो संयम और अनुभव के आधार पर जो प्रकृति छुपी हुई (दबी हुई) होती है वह पहचानी जा सकती है। बल-भेद से प्रकृति में भेद होता है। शान्त कफ-प्रकृति पुरुष भी पाण्डुरोग आदि से क्षीण हो तो वह क्रोध-शील हो जाता है। आत्मा पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण जो प्रकृति लेकर आया होता है, वह शुक्र-शोणित गत प्रकृति को प्रभावित करती है, यह वस्तु सरलता से समझी जा सकती है। महापुरुषों का बलवान् आत्मा शरीर प्रकृति को अभिभूत कर अत्यन्त क्लेशसाध्य कार्य उनके शरीरों से कराता है, यह सदा देखने में आता है।

प्रकृति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों में कुछ मत-भिन्नता है। प्रकृति-विकृति से संबद्ध छोटी-बड़ी बातें संतान में माता-पिता से आती हैं। उनके बीजों में क्रोमोसोम नामक सूत्र होते हैं, जो प्रकृति की अवतारणा करते हैं। इन सूत्रों पर प्रकृतिगत एक-एक विशिष्टता का वहन करनेवाला 'जेन' नामक एक-एक कण होता है। सृष्टि के आरम्भ से किसी बीज में जो जेन और क्रोमोसोम थे, वही जेन और क्रोमोसोम अपरिवर्तित रहते हुए आज तक संतान-परम्परा के बीजों में चले आ रहे हैं, ऐसा मत प्रायः वैज्ञानिकों का है। स्थिति यह होने से किसी भी जाति का स्वभाव परिवर्तित हो यह शक्य ही नहीं है। इस विचार-धारा का एक परिणाम यह हुआ है कि--गोरी जातियाँ अबतक रंगीन जातियों पर शासन करती रही हैं, अतः दोनों के बीज में ही यह अपरिवर्तनशील स्वभाव ओतप्रोत हुआ माना गया है जिसके कारण गोरी जातियाँ राज्य करने के लिए ही स्वभाव-सिद्ध क्षमता रखती हैं और रंगीन प्रजाओं में शासित होकर रहने से अधिक पात्रता ही नहीं है।

उल्लिखित मत के विरुद्ध मन्द ध्वनि इस मत की भी कभी-कभी सुनने को मिलती है कि, परिस्थितियाँ (एनवायर्नमेण्ट) प्रकृति को प्रभावित करती हैं। इतना ही नहीं, प्रकृति में परिवर्तन भी उनके कारण उत्पन्न हो सकता है। इस विषय का कुछ विचार 'हेबिट एण्ड हेरिटेज' में वाचक देख सकते हैं। ग्रन्थ-कार ने उसमें पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है कि परिस्थिति-वश ग्रहण किए आचरण आदि से किसी वंश या जाति के व्यक्तियों में जो परिवर्तन हुए देखे जाते हैं वे निःसंदेह यह सूचित करते हैं कि क्रोमोसोमों में शील-परिवर्तन संभव है। आयुर्वेद प्रकृति की उत्पत्ति में बीज तथा परिस्थिति दोनों को स्वीकार करता है, यह ऊपर दिए प्रकृति के उत्पादक भावों को दृष्टि में रखते हुए स्पष्ट समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर के संस्कार लेकर आया हुआ आत्मा या सूक्ष्म शरीर भी प्रकृति को प्रभावित करने में विशिष्ट स्थान रखता है, यह आयुर्वेद तथा भारतीय विचारकों का मन्तव्य है।

अन्य तन्त्रों में प्रकृतिका विचार--प्रकृतियों का विचार भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का अविच्छेद्य अङ्ग है। वृक्षायुर्वेद में भी प्रकृतियों का विचार किया गया है। 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' में मैंने 'शिवतत्त्वरत्नाकर' तथा शार्ङ्गधर-कृत 'उपवन-विनोद' से वृक्षों की प्रकृति का निरूपण करते पद्य उद्धृत किये हैं। काम-शास्त्र में भी पुरुषों तथा तथा स्त्रियों के शश-वृष, शङ्खिनी-पद्मिनी आदि भेद कहे गये हैं। उनका प्रयोजन यह दर्शाना तो है ही कि स्वभाव की दृष्टि से किस प्रकृति का पुरुष किस स्त्री के लिए अनुरूप होगा, परन्तु उसका विशेष प्रयोजन यह है कि काम के प्रमाण का विचार करते कौन स्त्री-पुरुष सम कक्षा के हैं। कारण, काम (रति की इच्छा और शक्ति) का प्रमाण न्यूनाधिक हो तो वह प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न कलह का बीज बन सकता है। इसी प्रकार इन भेदों से यह भी लक्षित होता है कि, किस प्रकृति के पुरुष और स्त्री के जननावयव ग्रामधर्म में एक दूसरे के अधिक से अधिक पूरक हो सकते हैं।

होमियोपैथी में भी प्रकृतियों का स्वीकार एवं सविस्तर उल्लेख मिलता है। एलोपैथी के ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है कि, पश्चिम में प्रकृतियों का विचार ऍलोपेथी का नवीन उत्कर्ष हुआ, उसके पूर्व से चालू था। उसको स्वीकार कर विशेष प्रकार से व्याख्या करने की प्रवृत्ति नवीनों में प्रवृत्त हुई है। प्रकृतियों का आयुर्वेद-संमत स्वरूप दर्शा कर हम इस विषय का उल्लेख करेंगे। परन्तु, गत एक-दो दशकों में मनोविज्ञान के उत्कर्ष के साथ प्रकृति का विचार नये रूप में खड़ा हुआ है। रजोगुण (इमोशन) का स्थान मस्तिष्क में थैलेमस या हायपो-थैलेमस नामक प्रदेश है। इसका संबंध एक ओर जीवनयोनि (ऑटोनॉमस—अनैच्छिक) नाड़ी-संस्थान के साथ है, जिसके कारण मस्तिष्क में स्थित स्वायत्त नाड़ी संस्थान के साथ भी इसका संबंध होने से उसकी क्रिया पर भी इसका न्यूनाधिक प्रभाव होता है। दूसरी ओर थैलेमस का संबंध अपने पड़ोस में ही स्थित पोषणिका (पिच्युइटरी) ग्रन्थि के साथ होता है। यह ग्रन्थि शरीर की शेष सभी अन्तः-स्रावी ग्रन्थियों की अधिष्ठात्री है। प्रकृतियों के प्रसंग में यहाँ विशेषतया स्मरणीय ग्रन्थि अधिवृक्क ग्रन्थि है। जिन्हें आयुर्वेद में पित्त-प्रकृति कहा गया है उनमें इन सभी अवयवों की क्रिया उग्र तथा सहसा कुपित हो जाने के शील वाली होती है। इनका कोप हो जाए तो अधिवृक्क ग्रन्थियों का अन्तःस्राव एड्रीनलीन कुपित (अति स्रुत) हो नाड़ीसंस्थान को अत्यधिक संधुक्षित (उद्दीपित) कर देता है। परिणामतया, शरीर तथा मन में पचनात्मक व्यापार अति तीव्र हो जाते हैं। इस प्रकार किसी दुर्घटना का वृत्तान्त उपलब्ध होने के अनन्तर एक अहोरात्र में ही पैत्तिक शूल (आमाशय या ग्रहणी में क्षत) होने का वृत्त आधुनिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राचीनों ने जो विषाद को सर्वरोगों का मूल

कहा था उसे नवीन अन्वेषणों ने अधिक दृढ़ भित्ति पर स्थापित कर दिया है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र में तो यह सूत्र सा बन गया है कि--रोग-परीक्षा में यह नहीं देखना चाहिए कि किसी रोगी को किन लक्षणों वाला रोग हुआ है, प्रत्युत इस बात पर हमें ध्यान देना चाहिए कि किन लक्षणों (प्रकृति, टेम्परामेंट) वाले रोगी को कोई रोग हुआ है। यह विचार-सरणि आधुनिक चिकित्साशास्त्र को आयुर्वेद तथा योगविद्या के अधिक निकट ले आई है। आयुर्वेद के उन्नायकों को आयुर्वेद का स्वरूप जगद्विदित करने के लिए स्वयमागत इस अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहिए।

प्रकृतियों के विषय में आमुख रूप में इतना विवेचन कर अब हम प्रकृतियों के पृथक् लक्षण देंगे। प्रकृतियों का उल्लेख क्रियाशारीर में भी किया जाता है। वहाँ इनके उल्लेख का अभिप्राय उनके अनुसार संभावित रोगों का परिज्ञान करना है, जिससे स्वस्थवृत्त में कही चर्या बुद्धिस्थ हो जाए, जिसके अवलम्बन से निज तथा आगन्तु शारीर-मानस रोगों की उत्पत्ति नहीं होने पाती। काय-चिकित्सा में प्रकृतियों के उल्लेख का प्रयोजन रोगों की अनुत्पत्ति तो है ही, इनकी विशेष उपयोगिता तो रोगों की परीक्षा (निदान) में है। कारण, अमुक-अमुक रोग अमुक-अमुक प्रकृतियों वालों को ही होता है, यह प्रकृतियों का लक्षण जानने से विदित होगा।

कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षण

श्लेष्मा या कफ के अधोलिखित गुण हैं--स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (दृढ़), सान्द्र (घन, सुषिर-विपरीत), मन्द, स्तिमित (स्थिर या आर्द्र), गुरु, शीत, पिच्छिल, स्वच्छ, सौम्य।

कफ में, या अन्य किसी दोष धातु आदि शारीर द्रव्य में, किंवा शरीर-बाह्य द्रव्यों में जिन गुणों की विद्यमानता बताई जाती है वह शरीर पर उनकी बाह्य या आभ्यन्तर क्रिया को विशेषतया लक्ष्य करके ही--कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः--सु० सू० ४६।५१४। यह सुश्रुत का प्रसिद्ध वचन है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर दें। सद्यस्क (सद्योभव, ताजे) नवनीत के गुणों में एक सुकुमार है (देखिए : सु० सू० ४५।९२)। नवनीत (मक्खन) में स्पर्शगम्य सुकुमार गुण भी है, पर आयुर्वेद में उसका वैसा महत्त्व नहीं। टीकाकार डल्हन ने अतएव सुकुमार का अर्थ देते हुए कहा है कि जिसके बाह्याभ्यन्तर योग से शरीरावयवों में सौकुमार्य उत्पन्न हो उसे सुकुमार कहते हैं--सुकुमारं देहसौकुमार्यकरम्। यही स्थिति सर्वत्र शारीर या शरीरबाह्य गुणों का अर्थ समझने में रखनी चाहिए।

कफ, पित्त और वात में ये गुण हैं, इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक दोष शरीर में रहता हुआ तत्तत् गुण की विद्यमानता का हेतु है। साथ ही, वह शेष दोषों के विरोधी गुणों को अपने गुणों के प्रभाव से बढ़ने नहीं देता। इस प्रकार अपनी प्रकृति आदि को दृष्टि में रख पुरुष समयोगयुक्त आहार का सेवन करे तो तीनों दोषों का साम्य (प्रकृति) बना रहता है। इसके विपरीत प्रकोपक निदान का सेवन किया गया तो जिस गुण के प्रकोप करने का स्वभाव सेवित निदान में होगा उसका प्रकोप होगा। और अन्य दोष के विरोधी गुण की क्षीणता न होते हुए भी क्षीणता के लक्षण प्रकट होंगे। दूसरी ओर, निदान किसी दोष के किसी गुण-विशेष को क्षीण करनेवाला होगा तो उस गुण का क्षय होगा; उसका क्षय होने से उसके प्राकृत कर्मों की मन्दता लक्षित हो तदनुसार विकार उत्पन्न होंगे। अपरंच, क्षीण हुए गुण का विरोधी गुण यद्यपि वास्तव में कुपित नहीं हुआ है तो भी अन्य दोष के विरोधी गुण के क्षीण हो जाने से उसे दबा कर साम्यावस्था में रखनेवाला कारण शेष नहीं रहा है, इससे उस गुण के प्रकोप के लक्षण लक्षित होंगे। तात्पर्य, दोषों का प्रकोप या क्षय कभी अपने प्रकोपक या क्षयकारक हेतुओं के सेवन से होता है तो कभी विरोधी गुण के क्षयकारक या प्रकोपक कारणों के अतियोग से होता है। चिकित्सा में आत्मविपरीत गुण (गुणवाले द्रव्य) का यथावत् सेवन किया जाए तो दोष पुनः समावस्था में आते हैं।

कहानी में प्रसिद्ध एक उदाहरण से इस बात को समझने का प्रयत्न करें। चार अंगुल की एक रेखा को बड़ा या छोटा करना हो तो दो रीतियाँ हैं। उसे बढ़ा दिया जाए या मिटा कर कुछ कम कर दिया जाए, यह एक प्रकार है। दूसरा प्रकार यह है कि, उसके पड़ोस में ही अपेक्षया छोटी या बड़ी रेखा खेंच दी जाए। छोटी रेखा की तुलना में पहले खेंची रेखा बड़ी दीखेगी, अथवा बड़ी की तुलना में छोटी दीख पड़ेगी। किसी दोष के गुण-विशेष की साक्षात् वृद्धि या क्षय करनेवाले द्रव्यादि का अतिसेवन पहले उदाहरण के समान है; तथा विरोधी गुण का न्यून या अति सेवन द्वितीय उदाहरण के साथ तुलना करने से समझ आए ऐसा है।

प्रकृतियों में दोषों के लक्षण ज्ञात हों तो किस गुण का कितना प्रमाण है यह जानकर उसे समावस्था में रखे ऐसे तत्प्रत्यनीक आहार, विहार, देश तथा काल का योग्य प्रमाण में सेवन करते हुए पुरुष अपने देह में दोषों को समावस्था में रखता हुआ रोगों की उत्पत्ति को रोक सकता है। प्रकृति-मात्र के विषय में प्रस्तावना-रूप इतने विवेचन के पश्चात् अब कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षणों का उल्लेख करते हैं।

कफ के गुण ऊपर बताए हैं। कफ-प्रकृति पुरुष के अवयवों में, उनकी क्रियाओं में, सर्वाङ्ग में, उसके आहार-विहार, भाषणादि में, एवं उसकी मानसी

प्रकृति में--संक्षेप में उसकी समस्त चर्या में इन्ही गुणों का आविर्भाव उपलब्ध होता है। तथाहि--उसके अङ्गों पर ही प्रथम दृष्टिपात करें तो वे स्निग्ध (जामो तैल का अभ्यङ्ग किया हो ऐसे), श्लक्ष्ण (मसृण, फर्नीचर को पॉलिश करने से जैसा स्पर्श होता है वैसे), मृदु--दबाने से दबनेवाले, नयानानन्ददायी, सुकुमार, शुभ्र (गौर-प्रधान) तथा सुन्दर होते हैं। प्रत्येक अवयव सुडौल, सम, घन (ढीला-पोचा नहीं), सारवान् तथा बल-संपन्न; संधियाँ स्थिर (गति तथा अन्य चेष्टाओं के समय न लड़खड़ाने या काँपनेवाली), गूढ़ (परिपुष्ट मांस-पेशियों, स्नायुओं तथा कण्डराओं से वेष्टित होने से दीख न पड़नेवाली) एवं सुबद्ध; मांस प्रभूत और अस्थियाँ संपुष्ट होती हैं। उसके मुख की छवि, वर्ण तथा स्वर स्निग्ध और प्रसन्न होते हैं। (स्वर की स्निग्धता--फटा हुआ या अन्य विकृतिवाला न होना)। नेत्र (नेत्रों की श्लेष्मकला) धवल, किनारों पर ललाई लिए, स्निग्ध तथा विशाल; भौंह (भरावदार होने से) काली और शब्द, जैसा कि ऊपर कहा, स्निग्ध और प्रसन्न होने से मेघ, समुद्र, मृदङ्ग या सिंह के स्वर के सदृश गम्भीर होता है। उसका वर्ण दूर्वा, इन्दीवर (नील-कमल), खड्ग, ताजा अरीठा, सरकण्डा, प्रियंगु, गोरोचना या सुवर्ण इनमें किसी के समान होता है। उसके बाहु विशाल, वक्षःस्थल विपुल तथा भरा हुआ, ललाट-पट्ट विस्तृत और केशावली स्थिर (न झड़नेवाली, पित्त-प्रकृति पुरुष के समान जिसमें खालित्य आ जाए ऐसी नहीं), कुटिल और (पोषण सम्यक् प्राप्त होने के कारण) गहरी काली होती है। उसकी गति मदयुक्त गजराज के समान (स्विंगिग-झूले खाती) तथा चरण-निक्षेप (भरा हुआ कदम) संपूर्ण, अस्खलित (कम्प-रहित) तथा अचल होता है। (चरण-निक्षेप असंपूर्ण होते हैं, तो केवल चरणाग्र भूमि को छूता है, मध्य या पश्चात् भाग उठा ही रहता है। कफ-प्रकृति पुरुष में पद के संपूर्ण भाग भूमि पर पड़ते हैं और धीमे-धीमे उठते हैं)।

सर्वाङ्ग तथा प्रत्यङ्ग में दृष्टिगोचर होनेवाले इन लक्षणों से ही कफ-प्रकृति पुरुष दूर से ही जान लिया जाता है। कदाचित्, प्रकृति में अन्य दोषों का संसर्ग या संनिपात हो तो भी इन लक्षणों की उपस्थिति तथा उनका प्रमाण देख कर जाना जा सकता है कि प्रकृति के उत्पादन में कफ का स्थान कितना है? तदनुसार चिकित्सक इतने से ही अपने कार्य (निदान-चिकित्सा) की दिशा का कुछ अवधारण कर सकता है। अब उसके सहवास में कुछ दिन रहने से या प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष की क्षुधा तथा तृष्णा मन्द होती है। मधुर रस उसे प्रिय होता है। तथापि, कदाचित् तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष एवं अल्प

भोजन का प्रसंग आए तो भी उसका बल स्थिर रहता है। पित्त-प्रकृति या वात-प्रकृति पुरुष के समान अनशन या प्रकृति-विरुद्ध गुणवाले भोजन से वह शारीरिक दौर्बल्य, एवं चिड़चिड़ापन आदि के रूप में मानसिक क्षोभ के वश नहीं होता।

कफ का गुण शीत होने के कारण ही उसे धूप, ताप तथा स्वेद बहुत पीड़ित नहीं करते। पित्त-प्रकृति पुरुष में पित्त के उष्ण-गुण के कारण (शरीर में उष्णता की उत्पत्ति का स्वभाव ही विशेष होने से) धूप, ताप वे सहन नहीं कर सकते। स्वेदोत्पत्ति भी उनमें अधिक होती है। यहाँ भल्लातक-प्रभृति उष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यों को भी स्मरण किया जा सकता है। ऐसे द्रव्य पित्त-प्रकृति पुरुषों के लिए सह्य नहीं होते। सो, इनका प्रयोग करते हुए प्रकृति की परीक्षा प्रथम की जानी चाहिए। कफ-प्रकृति पुरुषों में इसके विपरीत शीतादि गुणयुक्त कफ-वर्धक द्रव्यों की सहिष्णुता अल्प होती है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर लें। रसायन प्रकरण में एक कल्प है--मण्डूकी-शङ्खकुसुमावाजिगन्धा-शतावरी--अर्थात् मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), शङ्खपुष्पी, अश्वगन्धा और शतावरी--इन चार का दुग्ध के अनुपान से सेवन उत्तम मेध्य है। बुद्धिजीवी पुरुष इसका उपयोग करें तो विना श्रम चिरकाल तक कार्य कर सकते हैं। निद्रा भी स्वस्थ आती है। उसके अनन्तर पुरुष स्फूर्ति से कार्य करने योग्य स्थिति अपने शरीर और मन में अनुभव करता है। इसमें मधुयष्टी और उस्तखुद्दुस नामक यूनानी में प्रसिद्ध मेध्य द्रव्य का भी प्रक्षेप किया जाए तो यह योग गुणवत्तर हो जाता है। इसमें अश्वगन्धा आदि द्रव्य शीत और मन्द हैं। मन्द का अर्थ नव्य मत से यह है कि, मस्तिष्क के कोषों को ये द्रव्य कुछ अवसन्न कर देते हैं--अतः निद्रा लाभ भी इनसे होता है। इस योग के सेवन से कई पुरुषों को निद्रा अधिक आती है। समझ लेना चाहिए कि उनकी प्रकृति में कफ का प्राधान्य, संसर्ग या संनिपात है। सो, निद्रा आदि अनभीष्ट परिणामों का प्रमाण देख कर या तो योग का प्रमाण कम कर देना चाहिए या संख्या कम कर देनी चाहिए। अथवा--ऐसे व्यक्तियों के लिए योग में ब्राह्मी का प्रमाण बढ़ा देना चाहिए। अधिक अच्छा यह होगा कि, ब्राह्मी एक भाग के स्थान पर आधा भाग ब्राह्मी (हाईड्रेकोटाइल एशियाटिका) डालें तथा आधा भाग बंगाल में जिसे ब्राह्मी कहा जाता है वह द्रव्य (जल-ब्राह्मी, गुजराती--बाम ; लेटिन नाम --हर्पेस्टिस मोनीएरा) डालें। यह द्रव्य कुछ अधिक उष्ण होता है।

एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण लें। दूध, केला, टमाटर आदि द्रव्यों के सेवन से कई जनों में मल की ग्रथितता तथा अङ्गमर्द-प्रभृति वात-प्रकोप के लक्षण देखे जाते हैं। प्रथम दृष्टि में ये द्रव्य वात-प्रत्यनीक गुणों वाले होने से

वात-शामक होने चाहिए, यही प्रतीति होती है। तथापि, कइयों में इनके सेवन से विबन्ध तथा वात-प्रकोप होता है, यह निश्चित है। इन लोकों में कफ का प्राधान्य होता है। दूध आदि का सेवन करने पर प्रकृति और निदान दोनों समगुण होने से कफ का प्रकोप होता है। अन्य अवयवों के समान प्रकुपित कफ के मन्द गुण का महास्रोत पर भी प्रभाव होता है। समान और अपान वायु जिनका कर्म अन्न, मल तथा वायु को अधोद्वार की दिशा में गति कराना है, वे मन्द-गुण कफ से आवृत होते हैं--परिणामतया उनके द्वारा संपाद्य अनुलोमनी गति में मन्दता आती है। पित्त तथा वायु, जो क्रमशः पचन और क्लेद-शोषण द्वारा मल के क्लेद और स्नेह को क्षीण करते हैं, वे प्राकृत हों तो भी उन्हें अपना व्यापार करने के लिए अधिक काल उपलब्ध होता है। उनकी क्रिया से मल ग्रथित हो स्वयं तो संचित होता ही है वायु को भी अवरुद्ध करता है। वायु की इस प्रकार वृद्धि, संचय, प्रकोप और प्रसर हो कर तदुत्थ लक्षण उत्पन्न होते हैं। यकृत्-गत पित्तवह स्रोतों पर कफ के मन्द गुण की इसी प्रकार क्रिया हो कर एवं वायु द्वारा पित्त के क्लेद (द्रवत्व) का शोषण हो कर सान्द्रता और कभी ग्रथितता होती है। ऐसी अवस्था को प्राप्त पित्त स्वयं अपने तथा अपने पीछे आनेवाले पित्त के मार्ग का अवरुद्ध करता है। अवरुद्ध हुए इस पित्त को व्यान वायु शाखाओं में (रस-रक्तादि धातुओं तथा त्वचा में) प्रक्षिप्त करता है और शाखाश्रित कामला को उत्पन्न करता है। इस संप्राप्ति का उपयोग कामला के प्रकरण में दर्शाएँगे। किं बहुना--

इसी प्रकार रोगों की परीक्षा तथा चिकित्सा में प्रकृति के विचार का व्यवसायोपयुक्त विनियोग करना चाहिए। अब कफ-प्रकृति पुरुष के इतर लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष में ओज, शुक्र, मैथुन, संतान तथा भृत्य प्रभूत होते हैं। उसकी यावत् चेष्टाएँ, आहार, व्यवहार सब मन्द होते हैं। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्य को धीमे-धीमे करने का होता है। (किसी भी कार्य के संपादन में अन्य जनों की अपेक्षया वह अधिक समय लगाता है)।

कुछ रुक कर इन लक्षणों की व्याख्या करने का प्रयत्न करें। पित्त-प्रकृति पुरुषों में पित्त का पाकादि कर्म स्वभावतः अधिक होता है। परिणामतया, धात्वग्नियों द्वारा अन्नरस के साथ धातुओं का भी पचन होता रहता है। इससे धातुओं का उपचय अधिक नहीं होने पाता। पुरुष क्षीण और कृश रहता है। नव्य मत का आश्रय ले कर कहना हो तो इन व्यक्तियों में प्रकृत्या अधिवृक्क (एड्रीनल), चुल्लिका (थायरॉयड) तथा उनकी नियामक पोषणिका (पिच्युइटरी)

ग्रन्थि के अन्तःस्रावों का प्रमाण अधिक होता है, जिससे धातुपाक सविशेष होता है। वात-प्रकृति पुरुषों में निसर्गतः रसवह एवं तत्तत् धातु के पोषक मांसवह, अस्थिवह आदि स्रोत कृश होते हैं; साथ ही रस के ग्रहण और उसे आगे धकेल देने के लिए जो स्थिति-स्थापक गुण या संकोच-विकास शीलता होनी चाहिए वह योग्य प्रमाण में नहीं होती। परिणाम में, धातुओं को पोषक रस यथावत् न प्राप्त होने से उनका पोषण जैसा होना चाहिए वैसा नहीं होता। कफ-प्रकृति पुरुष में पित्त और वात के इन गुणों के विपरीत स्थिति होती है। उसमें पित्त-विपरीत शीत गुण होता है--पचनात्मक व्यापार उतना अधिक नहीं होता। इसीसे प्रथम तो क्षुधा-तृष्णा उसे उतना पीड़ित नहीं करते। तीनों प्रकृतियों वाले पुरुषों को अन्न या जल बिना रहने का प्रसंग आए तो पित्त तथा वात-प्रकृति वाले पुरुषों के लिए अन्न-जल बिना रहना अति दुर्भर हो जाएगा। पित्त-प्रकृति पुरुष में पचनात्मक व्यापार के आधिक्य के कारण तथा वात-प्रकृति पुरुष में उल्लिखित कारण से धातु क्षीण होने से उनके पूरण के लिए क्षुधा और तृषा के दुःसह वेगों के रूप में अन्नपान की प्रबल माँग होती है। अतएव क्षुधा-तृषा के वेग सहन करना उनके लिए अशक्य हो पड़ता है। कफ-प्रकृति पुरुष की अग्नि मन्द (शीत) होने से एवं उसके धातुओं का उपचय भी सम्यक् होने से वह अन्नपान के बिना कुछ काल रह सकता है। इस प्रकार ऐसे छोटे-छोटे प्रसंगों से भी प्रकृति की परीक्षा चिकित्सक कर सकता है, यह इस उदाहरण से वाचक समझ सकते हैं। क्षुधा-तृष्णा मन्द होते हुए भी, परिणाम में अन्न-जल का सेवन उतने प्रमाण में न होने पर भी कफ-प्रकृति पुरुष के धातु क्यों परिपुष्ट होते हैं इस बात का विचार करने का अब अवसर है।--

कफ-प्रकृति पुरुष में पचनात्मक व्यापार पित्त-प्रकृति पुरुष के देह जितना नहीं होता, साथ ही धातु-पोषक रस का वहन करनेवाले स्रोतों का विवर भी विस्तृत और मृदु होने से स्थितिस्थापक गुण युक्त--वात-पित्त की अपेक्षया अधिक संकोच-विकासशील--होता है। इस प्रकार इन पुरुषों में उपचय अधिक और अपचय की क्रिया न्यून होने से स्वभावतः सर्व धातुओं का सम्यक् आप्यायन होता है। यह हम कह आए हैं कि रसधातु के अन्तर्गत जो गुण या घटक द्रव्य शारीर धातुओं के पूरण, तर्पण आदि का कर्म करते हैं वही रसधातु से पृथक् हो तर्पक कफ प्रभृति तत्-तत् संज्ञा धारण करते हुए तत्-तत् स्थान में तत्तत् कर्म किया करते हैं। इससे समझा जा सकता है कि, कफ-प्रकृति पुरुष में धातुओं की पुष्टि के साथ अन्य कफ भी परिपुष्ट होने से उनके कर्म यथावत् होते हैं। तद्यथा--श्लेषक कफ का पोषण सम्यक् होने से गति तथा चेष्टा

के समय संधियों में स्फुटन नहीं होता। एवं, तर्पक कफ का पोषण समीचीन होने से बुद्धीन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की पुष्टि समभाव से होने से नियत है कि, उनका स्वभाव शान्त होता है, वे शीघ्र क्षोभ, क्रोध आदि आवेशों के वश नहीं होते। इसीसे जैसा कि आगे कहेंगे उनके वैर की अथवा भृत्य, मित्र, अमित्र या उदासीन व्यक्ति के प्रति असंतोष (अप्रीति) आदि की सूचना भी किसी वाक्य आदि से मिलती नहीं--वे प्रच्छन्न वैर (तथा अप्रीति) करते हैं। दान भी वे विचार-पूर्वक ही करते हैं, आवेश में बिना विचारे नहीं। स्वभाव की इस शान्ति-मयता के परिणाम की कल्पना की जा सकती है--इसी कारण उनके भृत्य तथा मित्रों की संख्या बड़ी होती है। कई गृहस्थों के यहाँ नौकर टिकते ही नहीं--यह देखा-सुना जाता है। कइयों के यहाँ वर्षों एक ही नौकर या नौकरानी रहती है। यह प्रकृति-भेदवश ही होता है। भृत्यों के रहने में कफ-प्रकृति पुरुषों के स्वभावगत शान्ति तथा बार-बार दोष-दर्शन के अभाव के अतिरिक्त उनकी दानशीलता (भृत्य को यदा-कदा खाना, पीना, वस्त्र आदि देना) एवं संविभाग-रुचिता (अपने यहाँ जो बना हो उसे भृत्य को भी देना) आदि गुण भी कारणभूत होते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते हैं जो अपने ड्राइवर आदि को नित्य के समय से अधिक समय रोके रखते हैं, पर चाय के लिए भी पूछते नहीं--भले इस अन्तर में वे स्वयं भोजन भी कर चुके हों और मध्याह्नोत्तर चाय भी पी चुके हों। ऐसे पुरुषों के यहाँ भृत्य नहीं टिकते, यह अनुभव की बात है। इसी प्रकार मित्र भी ऐसे लोगों के अधिक होते हैं। स्वभाव की इस सौम्यता के कारण हुई भृत्यों और मित्रों की अधिकता के समान व्यवसाय आदि में ग्राहकों से उनका व्यवहार मृदु होता है, जिससे धन लाभ भी उन्हें अधिक हो तो आश्चर्य की बात नहीं। कफ-प्रकृति पुरुष के पास धन अधिक होता है, यह आगे कहा जाएगा।

वाचक यहाँ प्रकरणान्तर का भय स्वीकार करके भी कुछ निमेष रुकें और आयुर्वेद के क्षेत्र की व्यापकता और तज्जन्य महत्ता का विचार करें। आयुर्वेद आयु का वेद है--हित और अहित आयु के लक्षणों और उनके उपचारों का प्रतिपादक वेद है। यह केवल ज्वर तथा अतिसार का औषध बतानेवाला शास्त्र नहीं है। ऊपर हमने देखा है कि--भृत्य किसके यहाँ टिकते नहीं--ऐसी सूक्ष्म और जीवनोपयोगी बातें भी आयुर्वेद में प्रतिपादित हैं। प्रकृति यद्यपि परिवर्तनीय नहीं होती तथापि दृढ़ मन से उसे अंकुश में रखा ही जा सकता है। प्रसंग को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए आयुर्वेद की व्यापकता का एक उदाहरणान्तर लेता हूँ। भृत्यों की न्यूनता प्रकृतिजन्य व्यवहार-विशेष के कारण वात-प्रकृति पुरुषों के गृहों में होती है। उन्हें अपना व्यवहार भली-भाँति चलाने

के निमित्त अपनी प्रकृति को संयम से अंकुशित रखना चाहिए। परन्तु, अन्य लोकों को भी उनके साथ अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिए कि जीवन सरलता से चले। वात-प्रकृति पुरुषों के लक्षणों में हम देखेंगे कि उनमें क्षोभ, रोष आदि के आवेश शीघ्र आते हैं। साथ ही उनका तिरोभाव भी आविर्भाव के समान ही शीघ्र होता है (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट)। पित्त-प्रकृति पुरुषों में भी यही स्थिति देखी जाती है। 'क्षणे तुष्टः क्षणे रुष्टः' उनके स्वभाव की विशेषता होती है। सो, अपना पति, पत्नी, मित्र, व्यवसाय या नौकरी में साथी, इतना ही नहीं रेलवे आदि में अपरिचित सहयात्री--कोई भी प्रकृतिवश शीघ्र क्षुभित हो जाए तो उसके प्रति उतने ही वेग से क्षोभयुक्त प्रतिक्रिया न दिखानी चाहिए। कारण, इससे झगड़ा और बढ़ता ही जाता है। परन्तु, अन्य व्यक्ति ऐसे प्रसंगों पर शान्त रहें तो क्षुभित पुरुष आश्चर्यजनक रीति से कुछ ही क्षण में सहसा शान्त भी हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जानो कुछ हुआ ही नहीं था। इसी प्रकार इन प्रकृतियोंवाले पुरुषों में प्रीति भी शीघ्र उत्पन्न होती है, पर वह लुप्त भी उतनी ही शीघ्रता से हो जाती है। सो, इनके प्रसाद से बहुत आशा न बाँध लेनी चाहिए। उलटे, कितनी वार तो स्वभावगत शीघ्रगुणजन्य विस्मृति के कारण वात-प्रकृति पुरुष अपने वाक्यों को ही भूल कर अन्य मनुष्यों को कठिनाई में डाल देते हैं। ऐसे व्यक्तियों से काम लेना हो तो सान्त्वनापूर्वक उन्हें प्रसन्न कर, वे प्रसन्न हों तभी सत्वर कार्य सिद्ध करा लेना चाहिए। वाचक इस प्रकार विचार कर आयुर्वेद की व्यापकता और उसकी उपादेयता के अन्य भी उदाहरणों की कल्पना कर उसके महत्त्व को बुद्धिस्थ करें। इतना निवेदन कर कफ-प्रकृति पुरुषों की अन्य विशेषताओं पर पुनः दृष्टिपात करते हैं।

ऊपर कहा है कि, कफ-प्रकृति पुरुष में ओज, शुक्र, व्यवाय तथा सन्तान प्रभूत होते हैं। धातुओं के पोषण का प्रकर्ष कफ-प्रकृति पुरुष में क्यों होता है, यह ऊपर समझा आए हैं। धातुओं की पुष्टि जिन कारणों से होती है वे उपधातुओं को भी यथावत् पुष्ट करते हैं। इन उपधातुओं में ओज भी एक है। शुक्र और ओज दोनों की पुष्टि यथावत् होने से इन पुरुषों में रति की इच्छा (हर्ष), रतिकाल एवं स्वयं और अपनी सहचरी को सुख देने की शक्ति स्वभावतः प्रभूत होती है। इस प्रकार स्त्री को जो सौमनस्य (संतोष, सैटिस्फेक्शन) होता है वह गर्भ-धारण के लिए अनुकूल सर्वोत्तम साधन (करण) है। सौमनस्यं गर्भ-धारणानाम्--चरक का वचन है। इससे इन पुरुषों के घर संतान प्रभूत होना भी स्वाभाविक है। परन्तु, संतानों के आधिक्य में कुछ और भी कारण हैं। कफ के गुणों में गुरु, स्थिर, पिच्छिल गुण पठित हैं। गुरु गुण शरीरावयवों, धातुओं आदि की सम्यक् उपचिति (पुष्टि) का द्योतक है। शुक्र और शोणित

(पुंबीज तथा स्त्री-बीज) की पुष्टि सम्यक् होगी तो गर्भ-स्थिति की संभावना अधिक होगी। नव्यमत से शुक्र के विषय में कहना हो तो शुक्रान्तर्गत पुंबीजों की संख्या अधिक हो तो गर्भस्थिति का संभव विशेष होता है। कपिकच्छू, जीवन्तीमूल आदि जो द्रव्य अनपत्यता आदि में दिए जाते हैं वे पुंबीजों की वृद्धि करनेवाले देखे गए हैं। गुरु गुण का स्वभाव अधोगमन का और स्थिर हो जाने का होता है। सो, कफ के कारण शुक्र में (अन्य कफ प्रधान द्रव्यों में भी) स्थिर गुण का सह-अस्तित्व होता है। अथवा, स्थिर गुण स्वतन्त्र रूप से कफ का होता है यह भी कह सकते हैं। गर्भधारण में यह स्थिर तथा पिच्छिल गुण भी उपयुक्त होता है। कफ प्रधान शुक्र में इसकी अवस्थिति का परिणाम यह होता है कि--शुक्र गर्भाशय में पहुँच कर संसक्त एवं स्थिर हो जाता है --वहाँ से निकल नहीं आता। यों भी कह सकते हैं कि पुरुष के स्वभाव, शुक्र आदि में यह स्थैर्य तथा संसक्ति देख कर कफ में स्थिर तथा पिच्छिल गुण होने की कल्पना की गई है। इस स्थिरता के कारण भी कफ-प्रकृति स्त्री-पुरुषों में संतान अधिक होते हैं। स्त्री के गर्भाशय में भी स्थैर्य गुण गर्भस्थिति के लिए आवश्यक है। उसमें वातकृत क्षोभ और चाञ्चल्य होगा तो वह अन्तःपतित शुक्र को धारण कर रख नहीं सकेगा–उलट देगा। ऐसी वातप्रधान योनि (गर्भयन्त्र) को योनिव्यापत् रोगों में वामिनी योनि कहा गया है। प्राचीन परम्परागत वैद्य इसी कारण अनपत्यता में जो कफ तथा शुक्र के वर्धक औषध और आहार पुरुष को देते हैं वही स्त्री को भी देते हैं। इतना विवेचन कर अब कफ-प्रकृति पुरुष के अन्य लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष सहसा क्रोध, शोक आदि मानसिक विकारों का ग्रास नहीं होता, प्रत्युत सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान् और परिश्रमी होता है। रस एवं तर्पक कफ का प्रमाण इनमें यथेष्ट होने से मन, बुद्धि, इन्द्रियों तथा उनके अधिष्ठानों का पोषण सम्यक् होता रहने से यह सिद्ध है कि कफ-प्रकृति पुरुषों के स्वभाव में ये विशेषताएँ होती हैं। ये पुरुष बाल-काल में भी उतने रोनेवाले नहीं होते, न ही बहुत चपल होते हैं। वे धर्मात्मा होते हैं। वात-प्रकृति पुरुषों में इसके विपरीत असत्य भाषण, चौर्य आदि वक्ष्यमाण अधर्म के लक्षण होते हैं। कफप्रकृति पुरुष के मुख से कभी निष्ठुर वाक्य नहीं निकलते। किसी का दोष उनके जानने में आए तो भी वे प्रथम तो न तो अपने आकार से अपना मनोगत भाव व्यक्त होने देते हैं, न वाक्य द्वारा, न लेखन द्वारा बात को बढ़ाते हैं; प्रत्युत साम उपचारों से ही उसे निपटा देते हैं। वे सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, गम्भीर, सात्त्विक (सत्त्वगुण के लक्षणोंवाले), ईर्ष्यारहित, विनीत, वृद्धों का मान करने-वाले, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, सौम्य तथा शालीन (शिष्ट) होते हैं। इन गुणों में निर्दिष्ट गम्भीर का अर्थ यह है।--आकार (मुख) पर छाए प्रसाद (प्रसन्नता)

के कारण पुरुष के मनोगत क्रोध, शोक, भय आदि भाव यदि अन्य पुरुषों के जानने में न आएँ तो इस विशिष्टता को गाम्भीर्य कहा जाता है[१]।

कफप्रकृति पुरुष स्वभाव, वाणी आदि के शम-प्रधान होने से परिमित परन्तु निश्चित (एसर्टिव, जिसका एक ही अर्थ हो, जिसमें एक ही बात का निश्चय हो ऐसा वचन) बोलता है। वह दान बहुत विचार कर करता है, पर जब करता है, तो बहुत उदारतापूर्वक करता है। वह लिखी या कही बात को देर से समझता है (विचार के अन्त में निश्चय करते भी बिलम्ब होता है) पर, एक बार समझी हुई बात उसकी स्मृति से बाहर नहीं होती। वह शास्त्रों में दृढ़ आस्था रखनेवाला, बुद्धि-संपन्न और दीर्घदर्शी होता है। उसकी मैत्री भी पूर्वोक्त कारणों से स्थिर होती है। वह लक्ष्मी-संपन्न होता है। उसका धन भी स्थिर होता है। कफप्रकृति पुरुष में लक्ष्मी के उपार्जन और स्थैर्य का कारण ऊपर समझा आए हैं। ऐसा पुरुष किसी से वैर ठानता है तो वह भी चिरस्थायी और दृढ, परन्तु प्रच्छन्न (गुप्त) होता है। अर्थात् आकार द्वारा उसे व्यक्त नहीं होने देता, अप्रिय वचन बोल कर या लिख कर वैर को जहाँ व्यक्त नहीं करता वहाँ बाह्य संबन्ध और उससे होनेवाले व्यावहारिक--लौकिक--लाभ को नष्ट भी नहीं होने देता। अपने अधिकारियों के प्रति भी वह असंतोष को वचन द्वारा प्रकट नहीं करता, तद्वत् साथियों या हाथ के नीचे कार्य करनेवालों का भी छिद्रान्वेषणादि अति स्पष्ट नहीं करता। वह आचार्य या अध्यापक हो, तो छात्रों के प्रति व्यवहार में भी इसी प्रकार की सावधानी वह रखता है। पित्त या वातप्रकृति पुरुष के समान शीघ्र आवेश में आ कर झगड़ा नहीं खड़ा कर लेता।

इस प्रकार कफ-प्रकृति पुरुष के निश्चय (बुद्धि), स्मृति, मैत्री, वैर, लक्ष्मी, भृत्य, गर्भ, चरण-निक्षेप, आयु आदि सभी बातों में स्थिरता पायी जाती है। उसे रोग होगा तो उसमें भी अनेक प्रकार से स्थिरता देखने में आती है। जैसे, संतत ज्वरों में जो कफ-प्रधान होता है उसमें (नव्यमत से टायफॉयड में) कफ का पचन चिरकालापेक्ष होने से उसके मोक्ष में अधिक काल--बारह या चौबीस दिवस--लगता है। शोथ कफ प्रधान हो तो उसमें (नेफ्राइटिस) भी एक प्रकार की स्थिरता पाई जाती है। प्रायः वह चिरकाल-साध्य होता है। नव्यमत से तो ऐसे रोगियों में वृक्कों की स्थायी विकृति हो जाने से वह साध्य ही नहीं

१—देखिए :—

यस्य प्रसादादाकारे क्रोधशोक-भयादिकाः।
अवस्था नोपलभ्यन्ते तद् गाम्भीर्यमिति स्मृतम्॥

अ० हृ० शा० ३।९६–१०३ पर इन्दु और चन्द्र

होता। स्थिरता का अन्य स्वरूप यह होता है कि शून (शोथयुक्त) स्थान को अंगुली से दबाया जाए तो वह शीघ्र भर नहीं आता, कुछ काल वहाँ गढ़ा पड़ा रहता है--निपीडितो न चोन्नमेत् च० चि० १२-१४ (पिटिंग ऑन प्रेशर)। इस प्रकार कफ-प्रकृति पुरुष की प्रकृति और विकृति में स्थिर गुण का प्रभाव अन्य अनेक प्रकारों से भी विद्यमान देखा जा सकता है। कफ के अन्य गुणों एवं शेष दोषों के भी गुणों का दोषों की प्रकृति-विकृति में विभिन्न रूपों में जो अस्तित्व होता है उसकी भी व्याख्या इसी पद्धति से करनी चाहिए। अस्तु।

कफ-प्रकृति पुरुष को निद्रा बहुत आती है। सामान्य निद्रा भी श्लेष्म-समुद्भवा कही गयी है। पुरुष में कफ का प्राबल्य हो, तो निद्रा अधिक आना स्वाभाविक है। इसीसे अन्य प्रकार से उपयोगी आहारौषध-द्रव्य निद्राप्रद भी हों, तो उनकी योजना करते हुए कफ-प्रकृति पुरुषों में जो सावधानी रखनी चाहिए उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कफप्रकृति पुरुषों को स्वप्न आते हैं, तो उनमें कमलों, हंसों और चक्रवाकों से परिशोभित जलाशयों और जलदावली जैसे सौम्य जलभूत-प्रधान पदार्थों का ही दर्शन होता है!

संक्षेप में, श्लेष्मल पुरुष बलवान, धनवान, विद्वान, ओजस्वी, शान्त तथा दीर्घायु होता है। प्रकृतियों के लक्षण बुद्धिस्थ रहें इस प्रयोजन से प्राचीनों ने उनकी उपमा इतिहास या लोक में प्रसिद्ध चेतनों से दी है। इस दृष्टि से कफ-प्रकृति पुरुष की उपमा ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड़, हंस, सिंह, गजराज, अश्व तथा साँड़ से दी गयी है। इनमें हाथी से एक साम्य तो ऊपर दर्शाया गया है कि कफप्रकृति पुरुष की गति समद गज के सदृश होती है। शरीर की विशालता, स्वभाव की मृदुता, नम्रता और प्रच्छन्न वैर की दृष्टि से भी गजराज और कफ-प्रकृति पुरुष में समता होती है। प्रच्छन्न वैर की विशदता के लिए दर्जी और हाथी की प्रसिद्ध कथा उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। अश्व तथा साँड़ (वृष) की उपमा विशेषतया व्यवाय-शक्ति को दृष्टि में रख कर दी गयी प्रतीत होती है। आयुर्वेद में व्यवाय के उत्कर्ष के निदर्शन ये प्राणी माने गए हैं। अतएव शुक्र की वृद्धि आदि कार्य करने वाले द्रव्यों को वाजीकरण या वृष्य कहते हैं। मानवी भी पुरुषकामा हो तो उसके लिए संस्कृत में 'वृषस्यन्ती' शब्द है। हंस का औपम्य सौकुमार्य तथा मन्द गति के कारण होता है।

संक्षेप की दृष्टि से शार्ङ्गधर ने प्रकृतियों के जो लक्षण दिए हैं वे ज्ञातव्य हैं। उसने कफप्रकृति पुरुष के ये लक्षण कहे हैं--

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥

शा० पू० ६।२३

प्रकृति-विषयक मूल वचन रमणीय और स्मरणीय होने से उद्धरणीय प्रतीत होते हैं। कफप्रकृति पुरुष के लक्षण इन शब्दों में तन्त्रकारों ने बताए हैं।—

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः[१], शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९६

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवाञ्जलदमृदङ्ग - सिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।

१—सारगतयो न स्खलन्ति; अधिष्ठितगतयः सर्वेण पदेन महीमाक्रामन्ति; अवस्थितगतय इति अवस्थितत्वेन न चपला गतिर्भवति॥ चक्रपाणि

परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ।।
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ।।

सु० शा० ४।७२-७६

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो
गूढ - स्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थि - मांसः ।
क्षुत्तृड् दुःख - क्लेशघर्मैं - रतप्तो
बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसंधः ।।
प्रियङ्गु - दूर्वाशरकाण्ड - शस्त्र-
गोरोचनापद्म - सुवर्णवर्णः ।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा
महाललाटो घननीलकेशः ।।
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो
बह्वोजो रतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः ।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु
प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ।।
समदद्विरदेन्द्र - तुल्य - यातो
जलदाम्भोधि - मृदङ्गसिंह-घोषः ।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो
न च बाल्येप्यतिरोदनो न लोलः ।।
तिक्तं कषायं कटुकोऽष्णरूक्ष-
मल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि ।
रक्तान्त सुस्निग्धविशाल - दीर्घ
सुव्यक्त - शुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ।।
अल्प - व्याहारक्रोधपानाश - नेहः
प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।

आढ्यो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-
नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥
ऋजुर्विपश्चित् सुभगः सुलज्जो
भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च ।
स्वप्ने सपद्मान् सविहङ्गमालां-
स्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंस - गजाधिपैः ।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥

अ० हृ० शा० ३।९६-१०३

इस प्रकार ये कफ-प्रकृति पुरुषों के लक्षण कहे गए। अब पित्त-प्रकृति पुरुषों के लक्षणों का निर्देश तथा निदान और चिकित्सा में उनका संक्षेप में विनियोग देखते हैं।

पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षण

पित्त अग्नि महाभूत से उत्पन्न, किंवा स्वयं अग्नि एवं उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्त्र (दुर्गन्ध गुणयुक्त), अम्ल तथा कटु होता है। परिणामतया, पित्त-प्रकृति पुरुष के शरीरादि में प्रकृत्या ये गुण तथा इनके कारण उत्पन्न विशिष्टताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। तथाहि—

पित्त-प्रकृति पुरुष उष्णस्पर्श या उष्ण गुण-वीर्यवाले आहार, औषध द्रव्य, धूप, ताप, देश, काल आदि के सहन में असमर्थ, अतएव इन उष्ण वस्तुओं के प्रति अप्रीति रखनेवाला और इनके विपरीत चन्दनादि लेप-द्रव्यों, पुष्पों, हारों, आभरणों आदि में रुचि रखनेवाला होता है। उसके अङ्ग स्पर्श में उष्ण होते हैं।

उष्ण काल पित्त-प्रकृति पुरुष को असह्य होता है। इस तथा अन्य लक्षणों से जिस पुरुष की प्रकृति में पित्त का प्राधान्य ज्ञात हो चुका हो, उसे उष्ण ऋतु में एवं उष्णता उतनी न हो पर वायु घिरा हुआ (संचार-रहित) हो अथवा रोगोत्पादक अन्य अनुकूलताएँ हों तब लू लगने का भय सविशेष होता है। ऐसे कालों में इन पुरुषों को पलाण्डु, आम्र-शलाटु (कच्चा आम) इत्यादि के पानीय, सवतु, मीठी लस्सी इत्यादि शीत द्रव्यों का व्यवहार करते रहना चाहिए। बाहर जाना ही पड़े तो आतपत्र, शीत जल का प्रमाण के पूर्व पर्याप्त सेवन, जेब में पलाण्डु रखना आदि अनुत्पत्तिकर उपचार करना चाहिए।

उष्ण औषध-द्रव्य पित्त-प्रकृति पुरुष के लिए सह्य नहीं होते। इन द्रव्यों में भल्लातक विशेषतः ध्यान खींचता है। रसायन-प्रकरण में भल्लातक की परम प्रशंसा तन्त्रकर्त्ताओं ने की है। आयुर्वेद के पुनरुत्कर्ष के कार्यों में एक भल्लातक का प्रचार भी है। परन्तु इसकी व्यापत्तियों ने वैद्यों को आतङ्कित कर रखा है। रसायन के अतिरिक्त यह पक्षवध आदि वातरोगों, मूढ़मार (गुमचोट) विषूचिका, अतिसार, वमन, प्रवाहिका, अग्निमान्द्य, उदावर्ता योनि (कष्टार्तव) आदि रोगों में भी एक ही औषध है। पित्त का अतिशय प्राधान्य हो तो कदाचित् इसका गन्ध भी असह्य होता है। परन्तु, पित्त का प्रमाण उतना अधिक न हो, तो असहिष्णुता बहुत नहीं होती। प्रत्युत, अन्य व्यक्तियों की अपेक्षया अल्प अवधि में ही इन पुरुषों में औषध का गुण अभिलक्षित होता है।

जैसा कि कफ-प्रकृति के विवरण में कहा जा चुका है, पित्त-प्रकृति पुरुषों में पचनात्मक व्यापार प्रकृत्या अधिक होता है। नव्य परिभाषा में इनमें आग्नेय-गुण अन्तःस्रावी ग्रन्थियों---अधिवृक्कादि---का कार्य जन्मतः अधिक होता है। परिणामतया, एक ओर तो आगे कहे तीक्ष्ण क्षुधा-पिपासा प्रभृति लक्षण होते हैं, दूसरी ओर उष्णता भी अधिक उत्पन्न होती है, जो स्पर्शगम्य होती है तथा उक्त नाना रूपों में उष्ण-द्वेषिता को भी उत्पन्न करती है।

स्पर्शोष्णता के अतिरिक्त पित्त-प्रकृति पुरुष शुष्क (कृश तथा स्निग्धत्व-हीन गात्र और त्वचावाला), सुकुमार एवं गौरवर्ण होता है। व्यङ्ग (मुख पर कृष्ण मण्डल), नीलिका (वैसे ही मण्डल शरीर के अन्य भाग पर), तरङ्ग, तिल, पिडका (फोडे-फुन्सी) तथा पिप्लुओं से वह प्रायः पीडित होता है। इनमें मुखदूषिका की भी गणना की जा सकती है। पहले कह आए हैं कि पित्त और रक्त समानधर्मा होने से पित्त की वृद्धि से ही रक्त का प्रकोप या दुष्टि सविशेष पाई जाती है। शेष दोषों को स्वयं रक्त अपने उष्णत्वादि विरोधी गुणों से बढ़ने और अपने में स्थानसंश्रय नहीं करने देता। सो, रक्त-दुष्टिजन्य व्यङ्गादि क्षुद्र रोग पित्त-प्रकृति पुरुषों में सहज ही अधिक पाए जाते हैं।

पित्त-प्रकृति पुरुष सुकुमार होता है, इस सत्य का चिकित्सा में विनियोग एक लघु उदाहरण से समझ लें। सौकुमार्य के कारण अन्य लक्षणों के अतिरिक्त इस पुरुष की त्वचा तथा मुखादि की कला सुकुमार होती है। मुख, जिह्वादि की कला तथा दन्तवेष्ट सुकुमार होने का परिणाम यह देखा गया है कि---बबूल का दन्तकाष्ठ (दातुन) भी इनके लिए कर्कश सिद्ध होता है। उसके चबाने से जिह्वा, दन्तवेष्ट आदि पर पाक (छाले पड़ना) हो आता है। बबूल का कषाय रस भले पित्त-प्रत्यनीक तथा व्रणरोपण हो, पर उसके सूत्रों की कर्कशता कला को छील देती है। नाना उपचार करने पर भी मुखपाक वैसा-का-वैसा

बना रहता है। दन्तकाष्ठ छोड़ने पर ही गुण होता है। पित्त-प्रकृति पुरुषों को वट-जटा सदृश मृदु दन्तकाष्ठ तथा कृष्ण मृत्तिका सदृश मृदु शीत मञ्जन अनुरूप होते हैं। कोयले के मञ्जन भी कई लोगों में प्रकृति-विरुद्ध (पाककर) सिद्ध होते हैं। प्रकृति की मुख पर यह क्रिया देखते हुए ही प्राचीनों ने दन्तकाष्ठ तथा मञ्जन भी प्रकृति-भेद से भिन्न बताए हैं। वाचक इसी प्रकार आयुर्वेद के गाम्भीर्य का विचार और तदनुरूप आचरण करें।

पित्त-प्रकृति पुरुष की क्षुधा और तृषा तीव्र होती है। वह शीघ्र ही (अन्यों की अपेक्षया अल्प वय में ही) वली (त्वक्-संकोच, झुर्री), पलित (केशों की धवलता) तथा केशपात (बाल गिर जाना, खालित्य, गंज) से आक्रान्त होता है। उसके केश, लोम तथा श्मश्रु अल्प, क्षुद्र, मृदु एवं कपिल वर्ण के होते हैं।

पचनात्मक व्यापार के आधिक्य के कारण धातु-उपधातु अपनी अपनी पुष्टि के लिए अन्नपान की अधिकतर माँग के रूप में क्षुधा और तृषा को तीक्ष्ण बना देते हैं। पचन के आधिक्य के कारण ही धातुओं-उपधातुओं का पोषण भी यथावत् न रहने से मलों का उतना पोषण नहीं हो पाता। इसका एक परिणाम त्वचा की शुष्कता होता है जिसकी गणना ऊपर कर आए हैं। मज्जा का मल भाग त्वचा को स्निग्ध रखता है। इसकी पुष्टि यथावत् न होने से त्वचा शुष्क रहती है। स्मरण रहे, त्वचा में स्वेद पृथक् मल है और स्निग्धता पृथक्। स्वेद से त्वचा में सौकुमार्य रहता है, स्निग्धत्व से त्वचा का स्नेहन होता है। आधुनिकों ने भी स्वेद और स्नेह (सीबम) को पृथक् रखा है। अस्तु। मलों की पुष्टि उक्त प्रकार से समीचीन न होने से केशादि की पुष्टि भली-भाँति नहीं होती। इसीसे केश छोटे तथा पतले होते हैं। दाढ़ी (श्मश्रु) भी संपूर्ण मुख को व्याप्त कर नहीं उगती। अतः, इन्हें उतनी जल्दी क्षौरकर्मादि नहीं कराने पड़ते। ऐसी-ऐसी सूक्ष्म बातों से भी चिकित्सक प्रकृति का निर्णय कर सकते हैं। केश यों भी अल्प तथा तनु होते हैं, पकते भी अल्प वय में ही हैं। कितनों के केश बारह-पन्द्रह वर्ष के वय से ही परिपक्व होने लगते हैं। ऐसे केश भी न्यूनाधिक अल्प वय में ही गिरने लगते हैं। पुरुष गंजा हो जाता है। जिनके गंज शीघ्र निकल आई हो वे तीक्ष्ण स्वभाव के (उग्र) पाए जाएँगे। उग्र न हों तो अपने मनोबल से उग्रता को दबाए रखने वाले होंगे। मलों के समान मेद तथा त्वचा की भी पुष्टि अयथावत् होने से त्वचा में संकोच (झुर्रियाँ) पड़ जाती हैं।

पित्त की तीक्ष्णता पित्त-प्रकृति पुरुषों में अनेक प्रकार से लक्षित होती है। वे तीक्ष्ण पराक्रमवाले, तेजस्वी, मेधावी, तीक्ष्ण (पैनी, विषय के मूल तक और शीघ्र ही पहुँचनेवाली)--बुद्धि-संपन्न ; सभा तथा युद्ध में अपनी प्रतिभा

और शौर्य से प्रतिभट को परास्त करनेवाले ; निर्भय, किसी के आगे न दबनेवाले, धृष्ट (अपनी बात न सुननेवाले) पुरुषों के साथ कठोर व्यवहार करनेवाले परन्तु शत्रु भी शरण में आ गया--नम्र हो गया तो उस पर प्रीति रखनेवाले ; शीघ्र नाम अतर्कित ही कुपित और प्रसन्न होनेवाले ; अभिमानी, साहसी ; तीक्ष्णाग्नि अतएव बार-बार तथा प्रभूत मात्रा में अन्नपान ग्रहण करने वाले और क्लेश (धूप-ताप आदि) के सहन में असमर्थ होते हैं। यह कह आए हैं कि धूप-ताप में फिरने या भूखे-प्यासे रहने का प्रसंग अनेक पुरुषों पर आ पड़े तो पित्त-प्रकृति पुरुष के लिए उनका सहन करना कठिन हो जाता है। मधुमेही पुरुष रोग-प्रभाववश समय पर भोजन न मिलने से जैसा मत्त-सा हो जाता है ; वही स्थिति कुछ हद तक पित्त-प्रकृति पुरुष की होती है।

प्रकृति का विचार कहाँ तक जीवन-दर्शन में उपयोगी है, इसका एक उदाहरण दें। स्वाधीनता के पूर्व ब्रिटेन और भारत में कैसा उग्र विरोध था। वचन-प्रतिवचन द्वारा वह व्यक्त भी हो चुका था। पर, स्वातन्त्र्य के पश्चात् ये दो देश ऐसे निकट आ गए, जानो वे कभी विपरीत पक्षों में रहे ही न हों। इसका कारण यह है कि दोनों ओर जवाहरलाल और चर्चिल जैसे पित्त-प्रधान प्रकृति के पुरुष हैं जिनके स्वभाव में ही लड़ते समय लड़ना और लड़ाई समाप्त होने पर मैत्री-संबन्ध बाँधना, और संधि का प्रसंग हो तो शरणागत शत्रु के आगे सौम्य शर्तें रखना, उसे कठिनाई में न डाल देना--ये विशिष्टताएँ निहित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय चर्चिल रूस को मित्र-पक्ष में लाने के लिए समझाने गए तो उनके भोजन की जबर्दस्त मात्रा देख कर ही रूसी नेताओं ने निर्णय कर लिया कि ऐसा वृकोदर जिस पक्ष में है उसमें संमिलित होने में कोई शङ्का न रखनी चाहिए।

पित्त-प्रकृति पुरुष का शीघ्र कोप-प्रसाद का स्वभाव अपरिचित व्यक्ति को दुविधा में डाल देता है। पित्तल पुरुष अकस्मात् ही क्रुद्ध हो यद्वा-तद्वा बोल देता है, प्रायः औरों की उपस्थिति में। उसके मन में उतना दुर्भाव प्रायः नहीं होता। इस अपमान से व्यथित हुए अन्य व्यक्ति के मन की उथल-पुथल परिसीमा पर होती है कि इतने में पित्तल पुरुष क्षमा-याचना करता उसके सामने आ खड़ा होता है। यह क्षमा-याचना उस व्यक्ति को और भी विस्मित और निरस्त्र कर देती है।

पित्त के द्रवत्व के कारण पित्त-प्रकृति पुरुष शिथिल संधियों और मांसवाले तथा स्वेद, मूत्र और पुरीष के बाहुल्यवाले होते हैं। क्लेद या अब्धातु (जल) को आकृष्ट कर रखने का स्वभाव (ऑस्मोसिस) जिस गुण के कारण हो, उसे द्रव कहते हैं। पित्त-प्रकृति पुरुषों के यावत् दोषों, धातुओं, उपधातुओं और मलों में पित्त के निसर्गज आधिक्य के कारण द्रवत्व भी अधिक होता है। मांस

में द्रवत्व (क्लेद) के कारण इनकी पेशियां शिथिल और श्रमासहिष्णु होती हैं। संधियों के घटक स्नायुओं और कण्डराओं में द्रवत्व का प्रमाण अपेक्षाकृत अधिक होने से वे भी शिथिल (दुर्बल) होती हैं।

पुरीष में द्रवाधिक्य के कारण पक्वाशय में अग्नि और वायु के द्वारा द्रव और स्नेह का यथावत् शोषण होने पर भी शेष द्रव का प्रमाण प्रभूत होता है। परिणामतया, मल शिथिल और उसकी मात्रा बहुत होती है। इन दोनों कारणों से उसका सरण (प्रवृत्ति) भी अनेक बार होता है। यह बात स्पष्ट करने का कारण है। मल के प्रमाण और संख्या का आधिक्य देख कर रोगी और प्रायः चिकित्सक दोनों समझते हैं कि, रोगी को मलशुद्धि सम्यक् हो रही है। परन्तु, स्थिति विपरीत होती है। रोग विरेचन-साध्य होता है और बिना विरेचन चिकित्सा गुणवती नहीं होती। रोग पित्तज हो तो विरेचन उसमें प्रमुख संशोधन-कारी होने से उसकी उपयोगिता और उपादेयता आयुर्वेद-सिद्ध ही है। सो, रोग-परीक्षा में मल के प्रमाण और संख्या से होनेवाली उक्त भूल को चिकित्सक को स्मरण में रखना चाहिए।

पित्त में नैसर्गिक विस्र गुण (दुर्गन्ध, कच्ची गन्ध; कच्चे--अनग्नि-पक्व--पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न गन्ध; आम गन्ध) होने से पित्तप्रकृति पुरुष दुर्गन्धयुक्त काँख, मुख, शिर (केश) तथा शरीर वाला होता है। इन पुरुषों में स्वेद का आधिक्य तो होता ही है, और उससे उक्त अवयव भीगे रहते हैं। यह स्वेद पित्त के पीतवर्ण के कारण पीत होता है। पित्तगत दौर्गन्ध्य के कारण इन अवयवों में दुर्गन्ध होता है। आम गन्ध का अर्थ है--पित्त का स्वरूप कोथ-स्वभावी (सड़ने की अनुकूलतावाला) होने से उसमें शीघ्र दुर्गन्ध आविर्भूत हो आती है। पीत तथा विस्रगन्धयुक्त स्वेद का प्रभाव पुरुषों के वस्त्रों पर भी होने से वे भी मलिन और दुर्गन्धयुक्त होते हैं। उन्हें भी इस प्रकरण में स्मरण करना चाहिए। दुर्गन्धयुक्त अङ्गों में मुख की भी गणना तन्त्रकार ने की है। पित्त, जो लाला तथा बोधक कफ के साथ स्नुत होता है, उसके पीत वर्ण के कारण दन्तों में पीतता भी रहती है। आयुर्वेद के इस छोटे से सिद्धान्त को न समझ कर दन्तों की पीतता तथा मुख-दौर्गन्ध्य से पीड़ित व्यक्तियों के मुख की स्वच्छता रखने (ओरल हाईजीन) पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। वे बालक हों, तो उन पर यही दोषारोप किया जाता है कि वे दन्तधावन से जी चुराते हैं। यत्सत्यं, यह पित्त का ही दोष होने से विरेचन, आहार-शुद्धि आदि पर भी लक्ष्य देना चाहिए। मुख में दौर्गन्ध्य के समान इन व्यक्तियों में श्वास-दौर्गन्ध्य भी होता है। पित्त-प्रकृति पुरुष रजोगुणी होने से प्रायः, जिसे बनाने में खमीर उत्पन्न किया या डाला गया हो, ऐसी तथा अन्य प्रकार से पित्तकर नमकीन

वस्तुओं का प्रयोग किया करते हैं[१]। ये दुर्गन्ध गुण विशिष्ट होने से देह-दौर्गन्ध्य में सुतरां वृद्धि ही करते हैं। दुर्गन्धयुक्त द्रव्यों में मल और मूत्र को भी स्मरण किया जा सकता है। इनमें मल तो प्रारम्भ से अन्य व्यक्तियों की अपेक्षया अधिक दुर्गन्धयुक्त प्रवृत्त होता है। मूत्र प्राकृतावस्था में दुर्गन्धाक्रान्त नहीं होता; परन्तु तद्गत पित्त के प्रमाण के अनुसार एक-दो निमेष में किंवा कुछ अधिक समय में सड़ कर दुर्गन्ध छोड़ने लगता है। मूत्रस्थान गृह में हो तो इन व्यक्तियों को उसकी स्वच्छता का अधिक प्रयास करना पड़ता है। शरीर में पित्त का प्रमाण जितना हो उतना ही दौर्गन्ध्य मूत्र में भी अभिव्यक्त होता है। सो, मूत्र-दौर्गन्ध्य की इयत्ता (प्रमाण) देख कर शरीर में पित्त के प्रमाण का अनुमान किया जा सकता है तथा तदनुरूप आहारादि में परिवर्तन करना उचित प्रतीत हो तो वह भी किया जा सकता है। आहार की दुर्गन्ध-वर्धकता के अतिरिक्त मलावष्टम्भ भी मूत्र में दुर्गन्ध का हेतु होता है। कारण, जो पित्त मल-द्वार से निकलना चाहिए वह प्रसृत हो मूत्र-द्वार में आ कर वहाँ से प्रवृत्त होता हुआ मूत्र को दुर्गन्धियुक्त बना देता है। शरीर, वस्त्र, मुख, श्वास आदि में दौर्गन्ध्य के कारण अन्य पुरुष इन पुरुषों के सांनिध्य में आने से बचते हैं। प्रायः स्वयं पुरुष को अपने दौर्गन्ध्य का भान नहीं होता। किसी भी प्रकार से अपने शरीरादि में दौर्गन्ध्य होने का ज्ञान पुरुष को हो तो उसकी इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रख कर यथोचित स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान करना चाहिए। अस्तु। विस्र गुण के विषय में इतने विवरण के पश्चात् अब पित्त-प्रकृति पुरुष की अन्य विशिष्टताएँ देखिए।

पित्त के कटु और अम्ल होने से पित्त-प्रकृति पुरुष अल्प शुक्र, काम (सेक्शुअल डिज़ायर), व्यवाय और संतानवाला तथा स्त्रियों की प्रीति न संपादित करनेवाला होता है। मैथुन की अल्पता का अर्थ समय और शक्ति की अल्पता एवं संख्या की भी अल्पता है। इसके कारण वह स्त्री की प्रीति उतनी संपादित नहीं कर सकता, यह सिद्ध है। स्थिति यह होने से वर-वधू की पसंदगी में दोनों की प्रकृति समान हो यह अवश्य देखना चाहिए। अन्यथा गार्हस्थ्य कलह का मूल हो जाता है। अतएव वर-वधू के विनिश्चय का कार्य भी वैद्य का (कौमारभृत्य का) ही है। देखिए: अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्। सु० शा० १०।५३

१—तथाहि :—

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

भगवद्गीता १७।९

कटु और अम्ल रस पित्त-प्रकोपक होने से आहार के पचन के अतिरिक्त धातुओं का भी पचन होता है और शरीर में उनका प्रमाण प्राकृत नहीं रह जाता। इन धातुओं में शुक्र और ओज भी एक होने से कामादि की इच्छा पित्त-प्रकृति पुरुष में स्वल्प होती है, यह समझा जा सकता है।

उसकी चेष्टाएँ शोभन होती हैं। उसमें ईर्ष्या विशेष होती है। आश्रितों के प्रति वह वत्सल होता है। शत्रु भी विपत्ति में पड़े हों तो उनकी सहायता के लिए वह प्रयत्नशील होता है--मित्रों की तो बात ही क्या?

पित्त-प्रकृति पुरुष के नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ तथा हस्त-पाद-तल ताम्र (अरुण-पीत वर्ण) होते हैं। उसे मधुर, कषाय, तिक्त तथा शीत (स्पर्श एवं गुण-कर्म उभय दृष्टियों से शीत) आहार-द्रव्य प्रिय होते हैं। शरीर और मानस दोषों का साम्य रहे इस हेतु विकृति के समान प्रकृति के आरम्भक दोष के भी विपरीत रस-गुणवाले द्रव्यों के प्रति साहजिक रुचि पुरुषों में होती है। पित्त उष्ण-तीक्ष्णादि गुणान्वित होने से उसका समत्व स्थिर रहे इस हेतु मधुर, कषाय आदि पित्त-प्रत्यनीक द्रव्यों की इच्छा पित्त-प्रकृति पुरुष को होती है।

मुखपाक के कारण उसका मुख सदा व्यथायुक्त रहता है तथा कृशता आदि के कारण चलने-दौड़ने आदि में क्लेश अनुभव होने से गति भी व्यथापूर्ण होती है।

उसके नेत्र छोटे, पिङ्गलवर्ण, छोटे-छोटे लोमवाले, प्रायः शीत, चपल तथा क्रोध, मद्यपान और सूर्य के प्रकाश (धूप) से शीघ्र लाल हो जानेवाले होते हैं। कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षणों में हमने देखा है कि उसके नेत्र स्वाभाविक स्थिति में भी रक्तान्त होते हैं। पित्त-प्रकृति के नेत्रों में क्रोधादि से रक्तमयता आ जाती है। दोनों के नेत्रों की रक्तिमा में यह भेद है। इस प्रकार केवल नेत्र-दर्शन से भी प्रकृति की परीक्षा हो सकती है।

पित्तल पुरुष को स्वप्नों में पुष्पित आरग्वध (अमलतास), पलाश; दिशाओं में आग, उल्का, विद्युत्, सूर्य, सुवर्ण प्रभृति (पित्त-सदृश) पीत, उष्ण और दाहक द्रव्यों का दर्शन होता है।

पित्तल पुरुष उल्लिखित कारणों से मध्यम आयुवाले, मध्यबल, मध्य ज्ञान, विज्ञान, धन और उपकरणवाले एवं क्लेशभीरु होते हैं।

प्रकृति को सरलता से समझने के लिए उनकी उपमा सर्प, उलूक, गन्धर्व, यक्ष, बिडाल, वानर, व्याघ्र, ऋक्ष (रीछ, भालू) तथा नेवले से दी जा सकती है।

शार्ङ्गधर ने पित्त-प्रकृति पुरुष के ये संक्षिप्त लक्षण दिए हैं--

अकाले पलितैर्व्याप्तो, धीमान्, स्वेदी च रोषणः।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः॥

शा० पू० ६।२२

पित्त-प्रकृति-विषयक मूल वचन——

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णसहा उष्णमुखाः सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूत-पिप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्य-दोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः; तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः[1] द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसंधिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च ; विस्रत्वात् प्रभूत-पूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः ; कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः। त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तो-पकरणवन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९७

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः ('शीतसहः' इति अधिकः पाठः क्वचित्) पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥
न भयात्प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्व यक्षमार्जार वानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृतः॥
सु० शा० ४।६८-७१

---

[1]—दन्दशूकाः पुनः पुनर्भक्षणशीलाः। प्रभूताशनत्वं तु बहुभक्षणत्वेन॥ चक्रपाणि

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात्
पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्ण - तृष्णा बुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्र - हस्तांघ्रि वक्त्रः
शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा॥
दयितमाल्यविलेपन - मण्डनः
सुचरितः शुचिराश्रित - वत्सलः।
विभवसाहसबुद्धि - बलान्वितो
भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि॥
मेधावी प्रशिथिलसंधि - बन्धमांसो
नारीणामनभिमतोऽल्प - शुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां
भुंक्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम्॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धि-
र्भूर्युच्चार - क्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकारान् पलाशान्
दिग्दाहोल्का विद्युदर्कानलांश्च॥
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां
तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा
रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि॥
मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जार - यक्षानूकाश्च पैत्तिकाः॥
अ० हृ० शा० ३।९०-९५

पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षणों के अनन्तर अब सर्वोपरि स्मरणीय वात-प्रकृति (वातल) पुरुष के लक्षण देखिए--

वात-प्रकृति पुरुष के लक्षण

वायु विभु है--शरीर में स्वतः व्याप्त है (अन्य दोषों, धातुओं तथा मलों की गति वायु के अधीन है) ; वायु आशुकारी है--एक स्थान से अन्य स्थान

पर शीघ्र पहुँच जाता है--उसकी क्रिया और विक्रिया भी शीघ्र होती है ; वह बली है--स्वयं कुपित हो कर पित्त और श्लेष्मा को भी प्रकुपित करता है; वह स्वतन्त्र है तथा तदुत्थ नानात्मज रोगों की संख्या भी अधिक होती है। इन कारणों से दोषों में वायु बलवान् है[1]। अपरंच, वायु रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष, और विशद (आर्द्रताहर) है। अतएव वात-प्रकृति पुरुषों में स्वभावतः उक्त कर्मों और गुणों की विद्यमानता होने से वे दोषात्मक होते हैं--उनका शरीर दोषमय होता है और मन में भी शुभ गुण उतने नहीं होते।

वायु के उक्त गुण-कर्म-स्वभाव के परिणामस्वरूप वात-प्रकृति (वातल) पुरुष रूक्ष (स्नेह-रहित), कृश, अपचित (मेद-रहित) और दीर्घ (लम्बे शरीर-वाले) होते हैं। उनके जाँघ आदि अवयव निर्मांस और निर्मेद होने से पतली-पतली पेशियाँ स्पष्ट दृश्यमान होने के कारण रस्सी या वेणी के समान गुंथे हुए-से होते हैं।

उनके केश, श्मश्रु, रोम, नख तथा दन्त अल्प (छोटे और अल्पसंख्यक), परुष (खुरदरे) और धूसरवर्ण (ईषत्पाण्डु-मटमैले) होते हैं। मुख, हाथ, पैर आदि अङ्ग भी रूक्ष, परुष तथा फटे हुए होते हैं। उनके नेत्र भी रूखे, धूसर, गोल, असुन्दर तथा मृतवत् (निस्तेज) होते हैं। दर्शन-मात्र से ही इन लक्षणों से रोगी की वात-प्रकृति पहचानी जा सकती है। लम्बे और पतले होने के कारण उन्हें 'सोटी-जैसे' उपमा दी जाती है। इन पंक्तियों में तत्तत् अवयव को रूक्ष बताया गया है। उसका अर्थ यह है कि वे स्वभावतः रूक्ष (निःस्नेह) होते हैं ; किंच उन्हें तैल लगाया जाए--अभ्यङ्ग किया जाए तो तैल भी शीघ्र ही शोषित हो कर त्वचा, केश आदि ये अवयव पुनः रूक्ष हो जाते हैं। ऐसे पुरुषों को केश पर लगाने के लिए तैल एरण्ड-तैल जैसा पिच्छिल स्नेह-प्रधान ही लेना चाहिए, जिससे शीघ्र शोषित न हो जाए। (विरेचन लेना हो तो भी ऐसा जो स्निग्ध हो यथा यही एरण्ड तैल, ईसबगोल आदि ; अथवा लवण-प्रधान, जो लवणों के कारण द्रव होने से मल को द्रव और सर बना दे)।

शरीर के अनन्तर वात-प्रकृति पुरुष के स्वर का परिचय होता है। उनका स्वर किसी का बैठा हुआ, किसी का चल (कभी ऊँचा, कभी नीचा, कभी स्निग्ध, कभी रूक्ष इत्यादि वैषम्योपेत), किसी का जर्जर (फटा हुआ), किसी का गद्गद (रुक-रुक कर निकलने वाला--लरजनेवाला) और रूक्ष (कर्ण तथा मन को प्रिय न लगनेवाला) तथा क्षीण होता है।

१--यह विषय अधिक विस्तार से वात-नानात्मज रोगों के प्रकरण में पहले चर्चा जा चुका है।

उनकी रक्तवाहिनियाँ (सिराएँ) फूली हुई तथा कण्डराएँ उभरी हुई होती है और त्वचा पर से दिखाई देती हैं। स्थितिस्थापक गुण न्यून होने से सिराएँ फूली रहती हैं। ये सिराएँ तथा कण्डराएँ त्वचा के नीचे मेद स्वल्प होने से उभरी देखी जाती हैं। इन्हें देख कर भी वात-प्रकृति पुरुष की तत्क्षण कल्पना की जा सकती है।

वायु के चाञ्चल्य के कारण वातिक पुरुषों की संधि, नेत्र, भौंह, हनु (गण्ड-प्रदेश), ओष्ठ, जिह्वा, शिर, कन्धा, हाथ-पैर--सब अस्थिर होते हैं--निरर्थक चेष्टा में व्यापृत होते हैं। वातिक पुरुषों के हाथ-पैर की चेष्टा प्रसिद्ध है। ये बैठे हों तो पैर ऊपर-नीचे की ओर (सीने का यंत्र चलाते समय होती है वैसी गति) या दोनों पार्श्वों में गति करते हैं। हाथों की अंगुलियाँ ऐसी गति करती हैं जैसे ढोल बजाते हों। जिह्वा प्रायः वातवश शुष्क ओष्ठों को आर्द्र करने के प्रयोजन से ओष्ठ-प्रान्त आदि पर फिरती दिखाई देती है।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुषों की बुद्धि (निश्चय, विचार) अस्थिर होती है। विचारों की यह अस्थिरता नौकरी, संस्था आदि के कार्यों के संबन्ध में तो होती ही है, घर के छोटे-मोटे कार्य--यथा, शाक आदि भोजन क्या बनाया जाए--इत्यादि में भी व्यक्त होती है। प्रायः ये पुरुष किसी बात का प्रस्ताव रखते हैं और उसी क्षण स्वयं उसके आचरण में क्षति दर्शा कर उसकी अयुक्तता प्रतिपादित करते हैं। साथी को ऐसे पुरुषों के मत पर अपना मत देना तो कठिन होता ही है ; कभी-कभी तो ये पुरुष क्षण-क्षण में मत-परिवर्तन के अपने स्वभाव के कारण अन्य व्यक्तियों को कठिनाई में डाल देते हैं। असत्य भाषण के प्रकृति-सहज स्वभाव के कारण या वैसी ही विस्मरणशीलता के कारण वे अपने वचन से फिर जाते हैं। उन पर विश्वास कर कोई आरम्भ किया जाए तो उनके मत को उद्धृत करने या उसके अनुसार कार्य करनेवाला विषम स्थिति में आ पड़ता है। कारण, उक्त स्वभाव होने से वे अपनी बात या वचन या मत पर स्थिर नहीं रहते।

चाञ्चल्य के कारण वात-प्रकृति पुरुषों की मैत्री भी स्थायी नहीं होती। अतएव उनके इष्ट और द्विष्ट (मित्र और शत्रु) घड़ी-घड़ी बदलते रहते हैं। आज जिसके प्रति घोर अप्रीति है, कल उसी के प्रति वे प्रेम से बात करते देखे जाते हैं, और आज जिसे वे हृदय से चाहते प्रतीत होते हैं कल उसीसे नाता तोड़ते भी उन्हें देर नहीं लगती। ऐसा पुरुष अपना पति या पत्नी या मित्र आदि हो तो उसके साथ संबन्ध बना रहे इस हेतु यह सावधानी रखनी चाहिए कि उसे प्रसन्न करने के लिए उसके शत्रु के साथ पति आदि को भी शत्रुता का व्यवहार न करना चाहिए। कारण, वात-प्रकृति पुरुष तो कल उसका मित्र हो जाएगा, पर उसके

पीछे किसी को शत्रु बना लेनेवाले के स्वभाव में यह विशेषता कदाचित् न भी हो कि वह उतनी ही शीघ्रता से पुनः मैत्री-संबन्ध स्थापित कर सके। कफ-प्रकृति पुरुष के विवरण में हमने आयुर्वेद के क्षेत्र की व्यापकता की जो बात कही है, उसे इस प्रकरण में पुनः स्मरण किया जा सकता है, कि आयुर्वेद जीवन में कैसा व्यवहार-दर्शक शास्त्र है। सामान्यतया अन्य व्यक्तियों के लिए उसका यह स्वभाव मैत्री-संबन्ध स्थिर रखने में अनुकूल न होने से, जैसा कि हम आगे देखेंगे, वात-प्रकृति पुरुष के मित्रों की संख्या बड़ी नहीं होती।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुषों की गति, चेष्टा, आहार तथा वाचा में हलकापन (छिछोरापन, बालिशता, लड़कपन, चाइल्डिशनेस) और चापल्य (तेजी) होता है। कई व्यक्तियों की गति में तेजी (द्रुतगति) प्रसिद्ध है। उनके साथ चलनेवालों को दौड़ना पड़ता है। ऐसे पुरुषों की प्रकृति में वात का प्राधान्य समझा जा सकता है। चलते समय उनके पैरों की संधियों में फूटने के शब्द (कड़कड़ आवाज) होते हैं। हलन-चलन से स्कन्ध आदि अन्य संधियों में भी ऐसे शब्द सुने जा सकते हैं।

वायु की प्राकृत तथा वैकृत उभय क्रियाओं में यह चाञ्चल्य देख कर ही उसमें चल गुण होता है, यह कहा गया है, तथा उसके प्रसिद्ध नामों में एक नाम भी चल रखा गया है। रोग-प्रकरण में यह चाञ्चल्य वैषम्य के नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति में चपलता के उदाहरण ऊपर हमने देखे। रोगों में इसके चापल्य या वैषम्य के कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। ज्वर वातिक हो तो ऊष्मा स्थिर नहीं रहता——ज्वर देखते-देखते चढ़ता है और स्वयं ही उतर जाता है। इस प्रकार चढ़-उतर अहोरात्र में अनेक बार होती है। विषमज्वर त्रिदोषजन्य होता है, पर उसमें वैषम्य विशेष होता है, जिसका कारण वायु है। ज्वर अहोरात्र में एक या दो बार चढ़ता और उतरता है। वेग के समय ज्वर अति तीक्ष्ण (तीन-चार अंश) होता है, उतरने पर सम या सम से कुछ ही अधिक। वेग और मोक्ष में ऊष्मा के इस वैषम्य या अन्तर के कारण रोग को विषमज्वर नाम दिया गया है। इसी प्रकार रोगी को शूल आदि हो तो उनके उदय के काल तथा प्रमाण (तीव्रातीव्रता) में भी प्रायः वैषम्य (अनियमितता) होता है। वात के कारण स्त्रियों में आर्तव विषम होता है——कभी उसका प्रमाण न्यून होता है, कभी अधिक; कभी वह एक मास के पूर्व आता है, कभी न्यूनाधिक काल चढ़ कर; कभी कष्ट-सहित होता है, कभी कष्ट-रहित। इस विषमता या अनियमितता का कारण वात ही है यह समझ कर योग्य उपचार करना चाहिए।

विषमता का एक अन्य उदाहरण दन्तोद्गम कहा जा सकता है। दोनों बार निकलनेवाले प्रत्येक दाँत के उद्भेद का काल सामान्यतया नियत होता है।

वैषम्य होने पर प्रायः कुछ देर से दन्तोद्भेद होता है। कभी शीघ्र भी। प्रायः अग्रज भाई-बहिनों में भी दन्तोद्भेद के वैषम्य का वृत्तान्त प्राप्त होता है। इस विषय का विचार पहले कर आए हैं।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुष बड़े वाचाल तथा असंबद्ध-भाषी होते हैं। अत्यधिक और प्रायः निरर्थक भाषण के कारण वात-प्रकृति पुरुष को पहचानना सुगम होता है। संक्षिप्त लक्षणों में शार्ङ्गधर ने वाचालता को भी स्थान दिया है, सो ठीक ही है। पित्त-प्रकृति के भाषण से इसका भेद समझना चाहिए। उसके वचनों में बुद्धि और तेजस्विता आदि की झलक होती है, जिसके कारण प्रतिपक्ष परास्त हो जाता है। वात-प्रकृति पुरुष का वाग्व्यापार प्रायः निरर्थक होता है। लोहपथ (रेलवे) की यात्रा में माथा-पच्ची करनेवाले ऐसे व्यक्तियों का अनुभव प्रायः होता है। अपने पास कुछ काम न हो तो कालक्षेप करने में या विनोद में ये उपयोगी भी माने जाते हैं।

वात-प्रकृति पुरुषों की वाचालता का एक स्वरूप यह भी होता है कि वे क्रुद्ध हों या प्रसन्न मुद्रा में--वे एक ही बात पचासों बार कहते रहते हैं। विपक्ष की बात सुनने का नाम नहीं लेते। इससे सुननेवालों को अरति अवश्य होती है, पर वात-प्रकृति पुरुष के मन का आवेश हलका हो जाता है। वे यदि अपतन्त्रक-पीड़ित हों तो उनको बोलते अटकाने से या उनके साथ वचन-प्रतिवचन में पड़ने से उनमें अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) का वेग हो आने की संभावना होती है।

बहुभाषी पुरुष यदि अपने अधिकारी किंवा अन्य प्रकार से उपयोगी व्यक्ति हो, तो उसके संपूर्ण वक्तव्य को व्यवधान उत्पन्न किए बिना धैर्यपूर्वक सुनना (पेशेण्ट हीअरिंग) लोक-व्यवहार की दृष्टि से बहुत ही कार्य-साधक होता है। यह व्यवहार अल्पभाषी माननीय व्यक्ति के प्रति भी आवश्यक होता है, पर बहुभाषियों के साथ व्यवहार में जो धैर्य अपेक्षित होता है उसके कारण यह विशेष उल्लेखनीय है।

वातप्रकृति पुरुष अदृढ़ (शारीरिक तथा मानसिक दृढ़ता से रहित), अजितेन्द्रिय, अनार्य, नास्तिक, चोर, मत्सरी, क्रोधी तथा कृतघ्न होते हैं। वातल पुरुषों के स्वभाव की इन विशेषताओं में अजितेन्द्रियता विशेषतः स्मरणीय है। कारण, पथ्यपालन नाम उपशय का सेवन और अनुपशय का परिवर्जन रोगों की अनुत्पत्ति एवं उत्पन्न रोग की निवृत्ति के लिए निश्चित आवश्यक हैं। वात-प्रकृति पुरुषों में जितेन्द्रियता का अभाव होने से उनमें रोगों की उत्पत्ति की संभावना विशेष होती है, साथ ही रोगों के शान्त होने का संभव--साध्यता--भी न्यून होती है। वातप्रधान रोगों में भी अजितेन्द्रियता रोगों को दुःसाध्य बना देती है। एक उदाहरण लें। वातज ग्रहणी असाध्य कही गयी है। इस

रोग की असाध्यता के कारणों में दो लक्षण उपस्थित किए जा सकते हैं। वातज ग्रहणी से पीड़ित पुरुष में वात-प्रकोपवश मन क्षीण होने के कारण दीन हुआ होता है। मनोदैन्य (विषाद) सर्वरोगों का सर्वोपरि अभिवर्धक कहा गया है--विषादो रोग-वर्धनानाम्। वातज ग्रहणी की असाध्यता का द्वितीय कारण होता है--जिह्वालौल्य। 'गृद्धिः सर्वरसानाम्--सर्वरसोंवाले पदार्थों की अदम्य इच्छा' इन पदों द्वारा तन्त्रकार ने इस जिह्वालौल्य का उल्लेख किया है। ग्रहणी रोग यों भी अग्निमान्द्य और अहिताशन से होनवाला रोग है, उस पर यह जिह्वालौल्य अधिक होने से वातज ग्रहणी की दुःसाध्यता का कारण बन जाता है।

वात-प्रकृति पुरुष गन्धर्व स्वभाव के होते हैं--अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य, हास्य, मृगया, विलास और कलह उन्हें प्रिय होते हैं। अन्नपान में मधुर, अम्ल तथा उष्ण आहार उन्हें प्रिय होता है। वे खाऊ होते हैं। ये पुरुष खाऊ होते हैं--इस कारण ये बार-बार भोजन करते हैं तथा प्रभूत प्रमाण में करते हैं। प्रकृतिगत यही विशेषता पित्त-प्रकृति पुरुषों की भी होती है, यह देख आए हैं। दोनों में भेद यह है कि, पित्त-प्रकृति पुरुष तो पित्त के तीक्ष्णगुण के कारण यथार्थ और बार-बार क्षुधा-पिपासा अनुभव करता होने से पुनः-पुनः प्रभूत प्रमाण में अन्नपान का सेवन करता है, जिससे अत्यशनजन्य कोई रोग उसे होता नहीं। वात-प्रकृति पुरुष का अग्नि उतना तीव्र नहीं होता। केवल मन की मूढ़ता और असंयम (अधृति) के कारण, जानो फिर खाना मिलेगा ही नहीं ऐसी धारणा रखता हुआ, वह गृध्र के समान खाने पर टूटता है। परिणामतया, अग्निमान्द्य और अजीर्ण से होनेवाले रोगों का पात्र होता है।

मधुरादि भोजनों के प्रति वातिक पुरुष की प्रीति का कारण समझा जा सकता है। दोषों के इस स्वभाव का अनेकशः उल्लेख किया जा चुका है कि, उनका प्रकोप या क्षय होने पर उनको क्षीण या वृद्ध करनेवाले विपरीत गुण-कर्मवाले पदार्थों पर नैसर्गिक प्रीति उत्पन्न होती है। वात-प्रकृति पुरुषों में वात की वृद्धि सुलभ होने से मधुरादि वातशामक द्रव्यों के प्रति उनमें रुचि स्वभावतः होती है।

शारीर दोषों के समान मनोदोषों के साम्य के लिए भी अनुरूप आहार-विहारों के प्रति प्रीति वात-प्रकृति पुरुषों में होती है। वात-प्रकृति पुरुषों में धातुओं के क्षय के कारण उनसे बना हृदय भी स्वभावतः क्षीण होता है। मन का स्थान हृदय क्षीण होने से एवं अन्न से ही मन भी पुष्टि प्राप्त करता होने से (अन्नमयं हि सौम्य मनः) मन भी क्षीण होता है। इसीसे जैसा कि ऊपर कहा--वातकृत प्रकृति-विकृति में मन की क्षीणता और तज्जन्य दीनता एक लक्षण होता है। अतएव वातिक प्रकृति में शीघ्र क्षोभ, क्रोधादि आवेशों का आविर्भाव होता है। मधुरादि आहार शरीर, हृदय और मन को पुष्ट कर इन लक्षणों को शान्त करते हैं। नृत्य,

गीत, वाद्य (संगीत) आदि का दर्शन-श्रवण या स्वयं आचरण मन को उल्लसित कर उसके क्षोभ, क्रोध आदि के शील को शान्त करते हैं। इसीसे इनके प्रति स्वाभाविक प्रीति वातप्रधान पुरुषों में होती है।

वात-प्रकृति पुरुषों की संगीतप्रियता के आधार पर व्यावहारिक परीक्षा एक वस्तु द्वारा की जा सकती है। रेडियो के इस युग में प्रायः ऐसे पुरुष दृष्टि-गोचर होते हैं जो दिन-रात निरर्थक रेडियो चालू ही रखते हैं, वह भी प्रायः इतने तीव्र स्वर में कि अड़ोस-पड़ोसवालों के विश्राम और निद्रा का भङ्ग हो। जिन लोगों का रस क्षीण हो (यथा पाण्डुरोगी) ऐसे व्यक्ति शब्दासहिष्णु होने से वे इस तीव्र स्वर से सविशेष क्लेश अनुभव करते हैं। उनकी भी परीक्षा इससे की जा सकती है। वात-प्रकृति पुरुष द्रुतगति होते हैं, तथा उनका चरण-निक्षप भी संपूर्ण नहीं होता। अतः ये जब सीढ़ियाँ चढ़ रहे हों तो अत्यन्त वेग से और बहुत शब्द करते हुए चढ़ते हैं। उससे जो शब्द होता है वह इन्हें प्रतीत नहीं होता, पर अड़ोस-पड़ोस के लोग, विशेषतया यदि वे रुग्ण शरीरवाले हों, तो ऐसी दशा में इस चेष्टा से बहुत त्रास का अनुभव करते हैं। इन लक्षणों से पुरुष की प्रकृति में वात का प्राधान्य है यह परीक्षा की जा सकती है। कठिनाई यह है कि, आवेश का उदय शीघ्र होना भी उनके स्वभाव का अङ्ग होने से उन्हें उनकी भूल कही जाए तो वे रुष्ट हो कर संबन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। इस स्थिति में मार्ग निकालना दुष्कर होता है।

वातिक पुरुषों में आरम्भ या उद्योग के निश्चय का आविर्भाव शीघ्र होने का एक बड़ा सुपरिणाम होता है। विशेषतया कफ-प्रकृति पुरुष एक तो कार्य का निर्णय करने में ही विलम्ब करते हैं, और निर्णय करके भी उसका अवसर आ उपस्थित हो तो प्रमाद या आलस्यवश कार्य का त्याग कर देते हैं। परन्तु वात-प्रकृति पुरुष शीघ्र गुण के कारण निर्णय या विचार मात्र को त्वरित क्रिया में लाते हैं। इस प्रकार इन पुरुषों के हाथ से कभी-कभी अच्छे कार्य हो जाते हैं और समय पर होते हैं।

यह अनेकशः कह आए हैं कि--वायु के शीघ्र स्वभाव के कारण वात-प्रकृति पुरुषों में भय, प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ, काम आदि विकार तथा कार्य का निश्चय (समारम्भ) शीघ्र उत्पन्न होते हैं--उनके स्वभाव में जल्दबाजी होती है। इसी गुण के कारण कही या लिखी बात को वे शीघ्र समझ लेते हैं, परन्तु उतनी ही शीघ्रता से भूल भी जाते हैं--उनकी स्मृति अल्प होती है। प्रीति और विरक्ति (अप्रीति) शीघ्रकारी होने से उनके 'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः' के स्वभाव के कारण इनके साथ व्यवहार करना बड़ी सावधानी का काम होता है। भय शीघ्र उत्पन्न होनेवाला होने से परीक्षा आदि धैर्यापेक्षी प्रसंगों पर वे घबरा

जाते हैं--'नर्वस' हो जाते हैं। ऐसे समयों पर इन्हें द्राक्षासव आदि अनुपान से चन्द्रोदय आदि वात-विपरीत द्रव्य देना गुणकारी होता है। भय के समान ही अन्य आवेशों का भी विचार किया जा सकता है।

वायु के शीत होने से उनमें शीतकाल या शीत द्रव्यों की सहिष्णुता न्यून होती है तथा अल्पमात्र कारण से उनमें स्तम्भ (ग्रीवा, कटि आदि अङ्ग तथा संधियाँ जकड़ जाना), कम्प और शीतक (ठण्ढ लगना)--ये विकार पाए जाते हैं। इसीसे इन्हें कार्यालय में, या रात को सोते समय पंखे आदि की हवा से विशेषतया बचना चाहिए। कदाचित् वायु उष्ण हो इस दृष्टि से ये बाहर खुले में सोएँ तो रात को अतर्कित वातावरण में शीत की वृद्धि होने पर ये शरीर के स्तम्भ, प्रतिश्याय, शिरोवेदना आदि के ग्रास हो जाते हैं। कुलफी, आइसक्रीम आदि शीतस्पर्श लेह्य तथा पेय द्रव्यों की भी इन पर ऐसी ही क्रिया होती है। शीतक तथा शीतद्वेष के कारण वे स्नान में उष्ण जल का तथा परिधान में अनेक वस्त्रों का उपयोग करते देखे जाते हैं।

ये वात-प्रकृति पुरुष अल्पवीर्य (अल्पशुक्र) और अल्पबल होते हैं। स्त्रियों की प्रीति संपादन करने की शक्ति उनमें अल्प होती है। उनके संतान, आयु, साधन, धन और मित्र अल्प होते हैं। इन विषयों की व्याख्या पहले आ ही चुकी है। धन एवं सुख के अन्य साधनों की अल्पता, जो हों उनके भी भोग की शक्ति की अल्पता, मित्रों तथा भृत्यों की भी अल्पता, स्वभाव-सिद्ध अस्थिरता, मिथ्या-भाषण-शीलता आदि के कारण लोकों की प्रीति न होना--इत्यादि कारणों को दृष्टि में रखते कह सकते हैं कि प्राचीनों ने प्रकृतित्रय में वातिक प्रकृति को जो 'हीन' कहा है वह यथार्थ ही है।

इनकी निद्रा अल्प होती है ; नाम थोड़े समय आती है, देर से आती है, शीघ्र पूरी हो जाती है, गाढ़ नहीं होती ; स्वल्प ध्वनि, कोष्ठवात आदि कारणों से उचट जाती है। वात के चलत्व धर्म के कारण मन की विक्षिप्तता (अस्थिरता) होने से निद्रा-संबन्धी ये लक्षण वात-प्रकृति पुरुषों में होते हैं। वार्धक्य या उत्तर वय में शरीर में जैसे-जैसे वात का प्रकोप होता जाता है वैसे-वैसे इतर प्रकृतियों के पुरुषों में भी निद्राल्पता के ये लक्षण आविर्भूत होते हैं और बढ़ते जाते हैं। वात-प्रकृति के पुरुषों की निद्रा में अन्य लक्षण भी होते हैं।--सोते समय उनकी आँखें अधखुली रहती हैं। सोते समय वे दाँत किटकिटाते हैं। (कोई आचार्य सुश्रुत के 'दन्तखादी' शब्द का अर्थ क्रोध के आवेश में दाँत किटकिटाते हैं--यह करते हैं। वह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। डल्लन ने 'सुप्त : सन् दन्तान् किटकिटायते' यही अर्थ दिया है)। निद्रा में उन्हें आकाश में उड़ने एवं पर्वतों और वृक्षों के लाँघने--एक से दूसरे पर फाँद कर जाने--के स्वप्न आते हैं।

उल्लिखित लक्षणों को स्मृतिपथ में रखने के प्रयोजन से वात-प्रकृति पुरुषों का सादृश्य बकरी, गीदड़, शशक, चूहा, उष्ट्र, कुत्ता, गिद्ध, गधा, कौआ इन प्राणियों से बताया जाता है। पक्षियों में कौआ (पक्षिणां चैव वायसः) तथा प्राणियों में शृगाल धूर्ततम अतएव अविश्वास्य होता है। वात-प्रकृति भी ऐसा ही होता है। ऊँट, बकरी, कुत्ता, गिद्ध, गधा, कौआ--जो कुछ भी सामने आए उसे और जितना हो उतना खाने के शीलवाले होते हैं। इससे उनकी उपमा वात-प्रकृति पुरुष से दी है। शशक का भय कहानियों का भी विषय हो चुका है। कुत्ते की निद्रा अल्प, तथा वाक्यप्रवृत्ति कभी-कभी (जैसे रात को लोक सोए हों तब) बहुत उद्वेगजनक होती है। वात-प्रकृति पुरुषों की भी यही स्थिति होती है। चूहे की अस्थिरता सुविदित है। इसके अतिरिक्त उसका स्वभाव होता है कि--फूँक मार-मार कर त्वचा को कुतरता है जिससे सुप्त पुरुष को वेदना की प्रतीति ही नहीं होती। वात-प्रकृति पुरुष भी मधुर बोलता है, प्रतिपक्ष को अपने विश्वास में ले आता है (फँसाए रखता है) और अपकार या वैर-निर्यातन करता है। अस्थिरता भी उसमें होती है। कहीं स्थिर बैठ नहीं रहता--इत्यादि रूपों में। इन दो साम्यों से उसके लिए चूहे को उपमान माना गया है। इन सर्व प्राणियों के शरीर भी कृश, रूक्ष तथा मलिन होते हैं। यह भी इनकी उपमा का हेतु है। इसी प्रकार इस विषय का अधिक विचार किया जा सकता है।

शार्ङ्गधर ने वात-प्रकृति पुरुषों के लक्षण संक्षेप में ये कहे हैं।--

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः॥

शा० पू० ६।२१

बृहत् त्रयी में वात प्रकृति के लक्षण इन शब्दों में दिए गए हैं।

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद् वातला रूक्षापचितालपशरीराः, प्रततरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च भवन्ति; लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः; चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठ - जिह्वाशिरः - स्कन्धपाणिपादाः; बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः; शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः, शीघ्रत्रासरागविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च; शैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः; पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः; वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः,

सततसंधिशब्दगामिनश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥

च० वि० ८।९८

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी ('क्रोधी' इति पाठान्तरम्) दन्तखादी च भवति ॥

अधृतिरदृढ - सौहृदः कृतघ्नः
कृशपुरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगति - रटनोऽनवस्थितात्मा
वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥
अव्यवस्थितमतिश्चल - दृष्टि-
र्मन्दरत्नधनसंचय - मित्रः।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं
मारुतप्रकृतिरेव मनुष्यः ॥

['मारुतप्रकृतिरस्थिरसत्त्वः' इति पाठान्तरम्।]

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥

सु० शा० ४।६४-६७.

प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धि- चेष्टा-
सौहार्ददृष्टिगतयोऽति बहु प्रलापाः ॥
अल्पवित्त बलजीवित निद्राः
सन्नसक्त[1] चल जर्जरवाचः।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा
गीतहास्यमृगया - कलिलोलाः ॥

१—सक्ता भाषणे विलम्ब्य विलम्ब्य प्रवृत्ता—अरुण।

मधुराम्लपटूष्ण - सात्म्यकांक्षाः
कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या
न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ।।
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि
वृत्तान्य चारूणि मृतोपमानि ।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते
शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ।।
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखु काकानूकाश्च वातिकाः ।।
अ० हृ० शा० ३।८५-८६

महाभूतों के भेद से पञ्चविध प्रकृतियाँ——

ऊपर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक प्रकृतियों के जो लक्षण बताए गए हैं वे एक ही पुरुष में मिलित भी देखे जाते हैं। इस प्रकार किन्ही दो या तीनों प्रकृतियों के लक्षण एकत्र पाए जाएँ तो उन-उन दोषों की संसृष्ट प्रकृति का निदान करना चाहिए।

कई आचार्यों का कथन है कि प्रकृतियों का आधार संमूर्च्छन के समय शुक्र-शोणित में महाभूताधिक्य है। ये अबतक वर्णित तीन प्रकृतियाँ पुरुषों में पाँच महाभूतों में तीन वायु, अग्नि और जल के आधिक्य से होती हैं। शेष दो महाभूतों—पृथ्वी और आकाश——के आधिक्य से भी इसी प्रकार प्रकृतियाँ बनती हैं। इस प्रकार महाभूत-भेद से प्रकृतियों के पाँच भेद होते हैं। वायु आदि के आधिक्य से हुई प्रकृतियों के लक्षण ऊपर आ गए। शेष पार्थिव और आकाशीय प्रकृति के लक्षण ये हैं।——पृथ्वी महाभूत के आधिक्य से उत्पन्न पार्थिव-प्रकृति वाला पु रुष विशाल और दृढ़ शरीरवाला एवं क्षमाशील होता है। आकाशीय (नाभस) प्रकृति पुरुष शुद्ध आचार-विचार वाला, चिरायु तथा मुख, कर्ण, नासिका आदि के छिद्र जिसके बड़े हों ऐसा होता है।

महभूतों के आधार से मानी गईं इन भौतिक प्रकृतियों का उल्लेख जिस पद्य में सुश्रुत ने किया है उस (सु० शा० ४।८०) की टीकामें डह्लन ने तन्त्रकार का मत उद्धृत कर रहा है कि प्रत्येक महाभूतों के पृथक्-पृथक् आधिक्य, एवं अधिक दो-

तीन का संयोग आदि के अनुसार इन भौतिक प्रकृतियों का प्रस्तार किया जाता है। इस प्रकार इनके इकत्तीस प्रभेद होते हैं[1]।

महाप्रकृतियाँ[2]

उद्धृत पद्य की टीका करता डल्हन कहता है, भौतिक प्रकृतियों के संयोगज भेदों के सदृश सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से जो महाप्रकृतियाँ बनती हैं उनके भी संयोगवश सात भेद होते हैं। इस विषय में सुश्रुतानुयायी रसवैशेषिककार का मत भी उसने उद्धृत किया है। तथाहि :

गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिरेकशो द्विशः समस्तैश्च सप्त महाप्रकृतयो भवन्ति ; सप्त 'दोषतः, सप्त गुणतः' (रसवैशेषिक सूत्र अ० १, सू० ३१) इति नागार्जुनोक्तत्वात् ॥

--दोषों से अर्थात् वातादि से सात प्रकार की ऊपर वर्णित प्रकृतियाँ बनती हैं, वैसे ही गुणों से अर्थात् सत्त्वादि से सात प्रकार की महाप्रकृतियाँ बनती हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण एवं शब्द-स्पर्शादि गुणों से विशिष्ट होने से उनके पृथक् बोध के लिए संग्रहकार ने इन्हें महागुण कहा है। यत्सत्यं, सत्त्व-रज-तम के लिए गुण शब्द गुरु-लघु आदि के समान अर्थ का वाचक नहीं है। सत्त्व-रज-तम द्रव्य हैं, गुरु-लघु आदि के सदृश गुण नहीं। भारतीय वाङमय में इन्हें गुण क्यों कहा है यह मैं ने 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में सप्रमाण दर्शाया है। तथापि, इनको द्रव्य कहना (इन की द्रव्य-रूपता) अर्वाचीन सांख्यमत के अनुसार ही है। प्राचीन सांख्यमत से तो ये गुरु-लघु आदि के सदृश ही गुण हैं, आत्मा के।

कुछ रुक कर इन बातों को स्पष्ट समझ लें।

१---देखिये---

अन्ये तु सा चैकशो द्विशस्त्रिशश्चतुर्भिर्वा भूतैः प्रस्तार्यमाणा बहुधा संजायते इति वदन्ति। उक्तं च--

"एकैकेन वदन्ति पञ्च दश तु द्वाभ्यां त्रिभिस्तावती-
र्भूतैः पञ्च चतुर्भिरेव भिषजस्त्वेकां समस्तैरपि।
एक त्रिंशतमत्र भूमिसलिलस्वाहाप्रियस्पर्शना-
काशैश्च प्रकृतीर्गुणैरपि पुनः प्राहुः स्म सप्तापराः" इति ॥

२---स्थल : सु० शा० ४।८१-९९ तथा डल्हन अ. हृ. शा. ३।१०४ तथा अरुण।

सत्त्व-रज-तम आत्मा की प्रकृति--

प्राचीन भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करने से विदित होता है कि--कपिल मुनि के नाम से प्रसिद्ध सांख्य सूत्रों एवं सांख्यकारिका में जिस सांख्य का प्रतिपादन है, उससे कुछ भिन्न एक सांख्यसंप्रदाय किसी काल विद्यमान था। आयुर्वेद इसी प्राचीन सांख्य-संप्रदाय का अनुयायी है। चरक-संहिता में विशेषतया इसका विस्तार पाया जाता है। टीकाकारों के समय प्राचीन सांख्य का नाम भी शेष न रह गया होने से उन्हों ने तन्त्रकारों के वचनों को अर्वाचीन सांख्य के अनुसार ही घटाने का प्रयत्न किया। वैद्य-समाज भी अबतक इसी रूप में आयुर्वेद के सांख्य को समझता आया है। परन्तु अब सत्य सिद्धान्त को समझने की प्रवृत्ति हुई है।

अर्वाचीन सांख्य में पुरुष और प्रकृति को पृथक् मान कर पञ्चविंशति तत्त्व माने गए हैं। इस पक्षमें प्रकृति जड़ समझी गई है, सत्त्व-रज-तम इस प्रकृति के ही गुण कहे गए हैं। इस पक्ष में प्रकृति द्रव्य-रूप होने से उसके घटक ये गुण भी वस्तुतः द्रव्य ही हैं ऐसा दर्शनकारों ने कहा है।

प्राचीन सांख्य में प्रकृति पुरुष (आत्मा) से पृथक् नहीं मानी गई है। जैसे लोक में (लोक-व्यवहार में) प्रत्येक पुरुष में सत्त्व-रज-तम तीनों गुण विद्यमान हैं ऐसा समझा जाता है, और जिस गुण के कार्य उसके जीवन में अधिकतम देखे जाते हैं उसके अनुसार ही उसे सात्त्विक-राजस-तामस आदि व्यपदेश (नाम) दिया जाता है, वैसे ही प्राचीन सांख्य में अशरीरी आत्मा के ही सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण माने गए हैं। इस पक्ष में सत्त्व आदि द्रव्य नहीं गुण-रूप ही समझने चाहिए। जैसे वेदान्त में जड़ प्रकृति के विना केवल ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती बताई गई है कुछ वही मत प्राचीन सांख्यवालों का भी है। वे सत्त्व-रजस्तमोमय प्रकृति को पुरुष की ही प्रकृति मानते हैं। इस प्रकार उनके मत से प्रकृति पुरुष से भिन्न न होने से कुल तत्त्व चतुर्विंशति होते हैं। अव्यक्त आदि नामों से इस पुरुष का ही ग्रहण कर चरक ने चतुर्विंशतितत्त्ववादी सांख्य संप्रदाय का प्रतिपादन अपने तन्त्र में किया है। परन्तु चक्रपाणि ने क्लिष्ट कल्पना कर अव्यक्त से प्रकृति और पुरुष दोनों का ग्रहण कर पञ्चविंशति तत्त्वों की गणना पूर्ण करने का यत्न किया है।

सुश्रुत-वर्णित सांख्य आयुर्वेदाभिमत नहीं--

सुश्रुत ने शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में जो अर्वाचीन सांख्यानुसारी मत दिया है वह भी विचारापेक्ष है। प्रकृति का लक्षण, अव्यक्त से महत्तत्त्वादि की उत्पत्तिपूर्वक सृष्टिक्रम, इन्द्रियों के देवता, पञ्चविंशतितम पुरुष के कारण शेष

तत्त्वों में चैतन्य की संक्रान्ति, प्रकृति और पुरुष में साधर्म्य-वैधर्म्य तथा अन्त में चतुर्विंशति तत्त्वों एवं स्वयं पुरुष की सत्त्वरजस्तमोमयता--निर्णयसागरी सुश्रुत में दस पैरों में बताए इतने विषय के अन्त में स्वयं तन्त्रकारने कहा है--इति एके भाषन्ते-अर्थात् यह एकीय मत है, स्वयं तन्त्रकार का मत नहीं है। शङ्का हो सकती है कि कदाचित् यह वाक्य (इत्येके भाषन्ते) केवल दसवें वचन को लक्ष्यकर लिखा गया हो। परन्तु डह्लन ने कहा है पूर्वोक्तस्य सर्वस्याप्येकीयमतत्वं दर्शयन्नाह--इत्येके इत्यादि। अगले पैरे में वैद्यके तु इत्यादि द्वारा आयुर्वेद का मत दर्शाया है। उसकी टीका में भी डह्लन ने स्पष्ट कहा है--स्वमतं दर्शयन्नाह--वैद्यके त्वित्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि-अर्वाचीन सांख्य-मत के जो विचार ऊपर दर्शाए गए हैं वे सुश्रुत के मत से आयुर्वेदीय मत का प्रतिपादन नहीं करते। आगे के प्रकरण में कहा है कि--चिकित्सा-कार्य में इतना सूक्ष्म विवेचन न आवश्यक है, न उपयोगी। आयुर्वेद में तो द्रव्यों को पाञ्चभौतिक मान कर ही व्यवहार किया गया है। चिकित्सक की दृष्टि स्थूललक्षी (पृथुदर्शी) होने से वह इस सूक्ष्म चर्चा-विचारणा में न पड़ कर स्वभाव, ईश्वर, काल इत्यादि छ में जब जिस से कार्य-कारण के प्रश्न का समाधान हो जाए तब उसे प्रकृति या मूल कारण स्वीकार कर अपना कार्य करते हैं। (देखिए सु० शा० १।११) चिकित्सक सूक्ष्म चिन्ता में पड़ जाए तो निदान-चिकित्सा का जो विशाल क्रियात्मक वास्तविक लोकहितकारी क्षेत्र पड़ा है, जिस का कभी अन्त ही नहीं आनेवाला, उसका विचार वह कब करेगा ?

वैद्यकीय मत के प्रतिपादन के पूर्व निर्दशित एकीय मत के अनुसार महदादि क्रम से उत्पन्न यावत् द्रव्य सत्त्वरजस्तमोमय होते हैं। इतना ही नहीं--

तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्ति॥
सु० शा० १।१०

संयुक्त पुरुष भी इन द्रव्यों के अञ्जन (लेप, संबन्ध) के कारण तथा उन्हीं में निमग्न (तन्मय) हुए होने से सत्त्वरजस्तमोमय ही होते हैं।

आयुर्वेद-मत से सांख्यों के समान सर्वगत नाम सूक्ष्मशरीर-व्यतिरिक्त होने से विभु आत्मा को पुरुष नहीं माना गया है, किंतु सूक्ष्म-शरीर संयुक्त अतएव असर्वगत पुरुष को ही पुरुष कहा है। (देखिए : सु० शा० १।१६)। आगे इस पुरुष के अङ्गभूत तथा प्रधान करण (साधन)-भूत मन के और उसके कारण पुरुष के भी सत्त्व, रज या तम के आधिक्यवश होनेवाले सात्त्विकादि भेद सुश्रुत ने बताए हैं।

सारांश--(१) चरकोक्त प्राचीन सांख्य के अनुसार सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण आत्मा के ही हैं। गुणों के न्यूनाधिक्यवश आत्मा सात्त्विक-राजस-तामस

होते हैं। उनके कारण सूक्ष्म और स्थूल दोनों पुरुषों (शरीरों) के भी सात्त्विकादि भेद होते हैं।

(२) अर्वाचीन सांख्य-मत से भी सत्त्वरजस्तमोमय चतुर्विंशति तत्त्वों के लेप (संयोग) के कारण आत्मा तथा तदन्वित शरीरों के सात्त्विकादि भेद होते हैं।

(३) सृष्टि को पाञ्चभौतिक माननेवाले स्थूलदर्शी संप्रदाय के अनुसार भी मन और सूक्ष्मशरीर के सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं।

प्रकृतियों के इस प्रकरण के आरम्भ में प्रकृतियों की भेदक सामग्री बताते हुए प्रकृति को प्रत्यात्मनियत कहा है। भिन्न-भिन्न मतों से उसका क्या अर्थ होता है यह यहाँ कहा है। आत्मा या मन की इस प्रकृति का बड़ा प्रभाव दोषज प्रकृति पर पड़ता है। महान् पुरुष सात्त्विक हों तो अपने मन की दृढ़ता के कारण और वे ही राजस हों तो अपनी प्रवृत्तिशीलता के कारण दुर्बल भी शरीर द्वारा असाधारण कार्य कराने में समर्थ होते हैं।

यद्गुणं चभीक्ष्णंपुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्॥ च० सू० ८।६[1]

प्रत्येक पुरुष के मन में सत्त्व, रज, तम तीनों गुण होते हैं और तीनों के ही कर्म न्यूनाधिक प्रत्येक पुरुष में देखे जाते हैं। तथापि, जिस पुरुष के साथ संबद्ध मन में जिस गुण के कर्मों का प्रत्यक्ष पुनः-पुनः (वार-वार) तथा अधिक होता है उस पुरुष को बाहुल्य (प्रायोवृत्ति, भूयिष्ठता) के कारण उसी गुणवाला कहा जाता है। यथा, अन्य गुणों की विद्यमानता होते हुए भी जिस पुरुष में सत्त्वगुण के अतिरेक के कारण सत्य, शौच आदि गुण अधिकतर और वार-वार देखे जाएँ उसे सात्त्विक कहा जाता है। इसी प्रकार राजस और तामस का भी अर्थ समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से प्रथम सात्त्विक, राजस तथा तामस महाप्रकृतियों के सामान्य लक्षण देखकर पश्चात् उनके भेदों के लक्षण दिए जाते हैं।

सात्त्विकादि मनों एवं पुरुषों के लक्षण—[2]

अक्रूरता (दयाशीलता), संविभागरुचिता (अपने पास थोड़ी या अधिक जो भी वस्तु हो उसे स्वजन-परिजनों, पड़ोसियों एवं भिक्षुक आदि जिन्हें आवश्यकता हो उनमें बाँट कर उपभोग करने का शील); क्षमा, सत्य (प्राणियों का हितकर तथा यथार्थ वाक्य), धर्म (शरीर, मन और वचन से उत्तम आचरण) आस्तिक्य

१—यह विषय च० शा०. ३।१९ तथा उसकी चक्रपाणिकृत टीकामें भी देखिए।

२—स्थल : सु. शा. १।१८ तथा डल्हन।

(परलोक का अस्तित्व मान कर व्यवहार करना), आत्मज्ञान, बुद्धि (तात्कालिक प्रतिभा), मेधा (ग्रन्थ या भाषण को समझने की शक्ति), स्मृति, धृति (संयम करनेवाली बुद्धि) और अनभिषंग (फल की इच्छा रखे विना--निष्काम-सत्कर्म करना)--ये सात्त्विक (शुद्ध) मन और पुरुष के लक्षण हैं।

दुःख की अधिकता (दुःख की बात की उपेक्षा न करने का स्वभाव ; दुःख का अतिध्यान), अटनशीलता (निरर्थक भ्रमण का–भटकने का स्वभाव ; पाठान्तर में ताड़नशीलता), अधीरता, अहंकार, मिथ्याभाषणशीलता, निर्दयता[1], दम्भ ; मान (अहंकार के साथ अन्यों को क्षुद्र समझने का स्वभाव ; पाठान्तर में–मद), हर्ष[2], काम और क्रोध--ये राजस मन और पुरुष के लक्षण हैं।

विषादित्व (मूढता; या मन भग्न हो जाना), नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धिशून्यता, अज्ञान, मेधा का अभाव, कर्म में अनुत्साह और निद्रालुता--ये तामस मन और पुरुष के लक्षण हैं।

आहार से महाप्रकृतियों की परीक्षा--

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १७) में प्रायः अभिलषित अन्नपान के निर्देश के रूपमें सात्त्विक आदि पुरुषों के लक्षण बताए हैं। आयुर्वेद से संबद्ध होने से उनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

आयु, सत्त्व (मनोबल), शारीर बल, आरोग्य और मनः-प्रसाद इन की वृद्धि करनेवाला ; रसादि धातुओं की वृद्धि करनेवाला, स्निग्ध, स्थिर (शरीर और मन को दृढ़ करनेवाला) और हृद्य (स्वादु) आहार सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होता है।

कटु, अम्ल, लवण, (स्पर्श या वीर्य में) अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही (तत्काल या पचने के अनन्तर अम्लोद्गार, दाह आदि उत्पन्न करनेवाला) तथा दुःख, शोक और रोग जिसके सेवन से उत्पन्न हों ऐसा आहार राजसों को प्रिय होता है।

जिसे सिद्ध किए एक याम (प्रहर, तीन घण्टे) बीत चुका हो ऐसा, जिसका मूल रस लुप्त हो गया हो ऐसा, पूति (निर्माण की स्वाभाविक प्रक्रिया में खमीर

१--काम की एक विकृति (अं० सैडिज़्म) होती है जिसमें पुरुष स्त्री का ताडन कर वासना की तृप्ति अनुभव करता है। इसके विपरीत विकृति में स्त्री या पुरुष स्वयं ताडित, तिरस्कृत या दुःखी होकर संतोष मानता है (मैज़ोकिज़्म)। इन्हें भी यहाँ कथंचित् ग्रहण कर सकते हैं।

२--यहाँ हर्ष को रजोगुण का एक लक्षण कहा है। अतिहर्ष का मन, हृदय-गति, रक्तदाब आदि पर हिताहित प्रभाव प्रसिद्ध है।

आदि के रूप में, किंवा सड़ - गल जाने से जिसमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो गया हो ऐसा), पर्युषित (रात का वासी), उच्छिष्ट (जूठा) तथा अमेध्य (अशुद्ध या मेधा को नष्ट करनेवाला) आहार तामसों को प्रिय होता है।

सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के सत्त्व या मन में सात्त्विक अथवा शुद्ध मन कल्याण-प्रधान होने से दोष-रूप नहीं माना जाता। राजस और तामस में क्रमशः रोष और मोह (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान) की मात्रा होने से उन्हें दोष कहा जाता है।

मन के इन त्रिविध भेदों में प्रत्येक के लक्षणों के तरतमभाव के कारण, परस्पर संयोगवश तथा आत्मा की प्रकृतिभूत इन लक्षणों में तत्तत् योनि और शरीर के संबन्ध के कारण परिवर्तन स्वाभाविक होने से सात्त्विक आदि प्रत्येक के असंख्य भेद होते हैं[1]। निर्देशन के रूप में प्रत्येक के कतिपय भेद प्रस्तुत किए जाएँगे-- सात्त्विक के सात, राजस के छ तथा तामस के पाँच। इन्हें ब्रह्मा आदि प्रसिद्ध उपमानों के अनूक (सादृश्य) को लक्ष्य में रख कर ब्राह्म काय (ब्राह्म सत्त्व) आदि नाम दिए गए हैं।

कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत्॥
सु० शा० ४।८९

रोगी उपस्थित होने पर इन कायों या सत्त्वों (मनोभेद से पुरुषभेदों) की प्रकृति जान कर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा में इनका ज्ञान उद्दिष्ट होने से आगे इन कायों के लक्षण लिखे जाते हैं।

सात्विक पुरुषों के भेद तथा उनके लक्षण--

सात्त्विक पुरुषों के ब्राह्म या ब्रह्म काय आदि सात भेद हैं। इनके नाम तथा लक्षण अधोलिखित हैं।

१. शौच (बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि[2]), आस्तिक्य (परलोक और पुनर्जन्म आदि को मान कर तदनुरूप आचार-विचार रखना), वेद (अपने धर्मग्रन्थ) का अभ्यास, गुरुओं (विद्या-वयोवृद्धों) की पूजा (उन का मान एवं उनके कथनानुसार आचरण),

---

१--देखिये-- च० शा० ४।३६ तथा चक्रपाणि।

२--सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्-सर्व शुद्धियों में धन-विषयक शुद्धि सर्वोपरि है (कौटिल्य); योऽन्तः शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचि-- जिसमें अन्तःकरण की शुद्धि है वही शुद्ध है, केवल मृत्तिका और जल से शुद्ध होने को शुद्धि नहीं कहते (मनु)--इन वचनों से शौच या शुद्धि का प्राचीनसंमत व्यापक अर्थ समझा जा सकता है।

अतिथि-प्रियता, यज्ञशीलता, सत्यवचन, जितेन्द्रियत्व, संविभाग ; ज्ञान, विज्ञान (कला, शिल्प), वचन (अपने मत को अभिव्यक्त करनेका सामर्थ्य--एक्स्प्रेशन), प्रतिवचन (कोई शङ्का उठाए या विरोध करे तो रोष, अपना या शङ्काकर्ता का अपमान इत्यादि भाव लाए विना उत्तम प्रकार से उत्तर देने का सामर्थ्य)--इन से संपन्न होना ; स्मृति ; काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, हर्ष और अमर्ष (असहिष्णुता), इन (रजोगुण के लक्षणों) से रहित होना एवं सर्वभूत-समभाव--ये ब्राह्म सत्त्व (ब्रह्मकाय, ब्रह्मा के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

२. माहात्म्य (महाशयत्व ; महेच्छा[1]), दीर्घ (दूर) दर्शिता, आज्ञा (अन्यों को आज्ञा करने का --'वे अपनी कही बात का अनुगमन करें ऐसा--शील), आदेयवाक्यता (वचन तर्क, अनुभव, परिस्थिति आदि के अनुरूप होने से सब के लिए ग्राह्य होना[2]), ऐश्वर्य, शौर्य, ओजस्विता, तेजस्विता, यज्ञशीलता[3] ; धर्म, अर्थ और काम में अभिरति (संलग्नता) ; सतत शास्त्र-सेवन (श्रवण या स्वाध्याय), सर्वदा शास्त्रानुसारिणी बुद्धि (विचार, निश्चय) होना ; कर्म अनिन्दित होना, भृत्यों का भरण (उनका सर्वप्रकार से योग-क्षेम सिद्ध करना, उन पर ध्यान देना)--ये माहेन्द्र सत्त्व (माहेन्द्र काय ; पुराण-वर्णित इन्द्र के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

३. शीतसेवा (शीत स्थान, वायु, स्नानीय जल, भक्ष्य पदार्थ आदि के सेवन में अभिरति) ; जल-विहार में प्रीति; शौच (शुद्धि), अशुद्धि के प्रति द्वेष, सहिष्णुता, शौर्य, धैर्य, प्रियवादिता ; कोप और प्रसाद यथोचित होना, यज्ञशीलता ; कर्म अनिन्दित होना, पिङ्गाक्षता, तथा कपिलकेशता--ये वारुण सत्त्व, (वारुण काय; पुराणोक्त देव वरुण के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

१--माहात्म्य का महाशयत्व अर्थ डल्लन ने दिया है। महाशय का अर्थ महेच्छा अमरकोश में है--महेच्छस्तु महाशयः। जिसके लिए हिन्दी में महत्वाकांक्षा शब्द रच लिया गया है,जिसे अंग्रेजी में एम्बीशन कहते हैं उसके महेच्छा आदि नाम प्राचीनों ने दिए हैं। गुजराती में एम्बीशन के लिए महेच्छा शब्द ही प्रयुक्त है।

२--पुरुष दूरदर्शी हो तो स्वभावतः उसमें आदेयवाक्यता और आज्ञा ये गुण आते हैं। महेच्छा, तेजस्विता आदि के कारण भी वह औरों को दबाता-सा है। यह सब प्रत्यक्ष दृष्ट है।

३--प्राचीन काल में महेच्छा धर्मशीलता आदि के कारण पुरुष यज्ञादि करते थे। संप्रति किसी भी लोकोपयोगी कार्य का ग्रहण इससे किया जा सकता है।

४. मध्यस्थता (निष्पक्ष एवं निःस्पृह रह कर दो विवादी पक्षों में संधि करा सकने का गुण अथवा अपना मत व्यक्त करने का गुण), सहिष्णुता ; धन के उपार्जन और संचय की कुशलता ; उत्तम प्रजोत्पादन-सामर्थ्य ; पद (प्रतिष्ठा), संमान, उपभोग और परिवार (स्वजन-परिजन) से संपन्नता ; सुखावह क्रीडाएँ ; शुचिता ; धर्म, अर्थ और काम में नित्य अभिरति ; कोप और प्रसाद (स्वजन-परिजन तथा आश्रितों के प्रति उनके कार्य आदि से संतोष और तदनुरूप उनकी पदवृद्धि, वेतन-वृद्धि आदि करना ; इसके विपरीत धर्म का नाम कोप) ये दोनों व्यक्त होना--ये कौबेर सत्व कौबेर काय--पुराणवर्णित देवों के धनाधिपति कुबेर के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

५. गन्ध (इत्र, फुलेल आदि), माल्य, लेप, विविध वस्त्र, स्त्रियों की संगति, क्रीड़ा, काम (अष्टविध मैथुन), नृत्य, गीत, वाद्य (तीनों का मिलित नाम संगीत ; वर्तमान काल में सिनेमा का अन्तर्भाव इसमें कर सकते हैं), विहरण (परिभ्रमण) इनमें प्रीति तथा इनका सतत शीलन ; स्तोत्र, श्लोक, आख्यायिका (कथा, कहानी, किस्से), इतिहास और पुराण इनके निर्माण और प्रवचन में कौशल एवं असूया (अन्यों के गुणों को दोष मानना) का अभाव--ये गान्धर्वसत्त्व (गान्धर्व काय ; पुराणोक्त गन्धर्वजाति की देवयोनि के तुल्य मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

६. प्राप्तकारिता (देशकाल--परिस्थिति--देखकर तदनुरूप कार्य करना), अन्यों द्वारा वारण (प्रतिषेध) न हो सकना (अर्थात् उनके कथन या आचरण का विरोध करने का साहस अन्यों में न होना) ; कार्य का आरम्भ (आचरण) दृढ़ होना (जो कार्य हाथ में लिया उससे विचलित होने का नाम न लेना); निर्भयता, स्मृति, धृति (धैर्य, संयम) शुचिता, ऐश्वर्य की उपलब्धि ; ईर्ष्या, द्वेष, राग, मोह, और मद इन से शून्य होना ; कर्तव्य और अकर्तव्य की मर्यादा (लेखा) को जान कर तदनुरूप वर्तन--ये याम्यसत्त्व (याम्य काय, पुराण वर्णित यमराज-सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

७. यज्ञ अध्ययन (धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय तथा प्रवचन--अध्यापन) जप, होम, व्रत, ब्रह्मचर्य, आतिथ्य--इनमें परायणता ; मद, मान, राग, द्वेष, मोह, लोभ और रोष का अभाव ; ज्ञान, विज्ञान, धारण, प्रतिभा (कठिनाई या कोई समस्या उपस्थित होने पर तत्काल सूझ) और वचन-शक्ति (जिसे आजकल अभिव्यञ्जन शक्ति इत्यादि कहा जाता है) इन की संपत्ति--ये आर्षसत्त्व (आर्षकाय, प्राचीन वाङ्मय में प्रसिद्ध ऋषियों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

शुद्ध सत्त्व नाम सत्त्वगुणाधिक मन और पुरुषों के ये सात निदर्शन-भूत भेद हैं। कल्याण का अंश अधिक होने से इन्हें सात्त्विक वर्ग में स्थान दिया

गया है। इनमें कल्याणांश के आधिक्य के कारण ब्राह्म सत्त्व को अत्यन्त शुद्ध (सात्त्विकतम) समझना चाहिए।

राजस पुरुषों के भेद तथा लक्षण--

राजस या रजोगुण-बहुल पुरुषों के छ निदर्शनभूत भेद हैं। इनके नाम तथा लक्षण अधोनिर्दिष्ट हैं।

१. ऐश्वर्यशालिता, शूरता, रौद्रता (भयानकता), चण्डता (तीव्र कोप), औपधिकता (उपधि=छद्म प्रहार; छिद्र देखकर प्रहार करने का शील), असूया, आत्म-पूजा (अपनी प्रशंसा आदि आप करना), निर्दयता, एकाशिता (संविभाग न कर भोज्य और भोग्य वस्तु का अकेले ही सेवन करने का शील) तथा औदरिकता (पेटूपन); क्षुधा-तृषा का विचार किए बिना अत्यधिक अशन-पान का स्वभाव (पर्याय--धस्मरता)--ये आसुर सत्त्व (आसुर काय; या दैत्यसत्त्व[1]--पुराणादिप्रोक्त असुर-योनियों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

२. (नाग आदि सर्पों के सदृश) क्रोध का आवेग हो तो शौर्य, परन्तु क्रोध न हो तो भीरुता, तीक्ष्णता (क्रोध के समय वचन तथा कार्यों में हिंसकता), अति आयास (परिश्रमशीलता), मायाविता (कपटी स्वभाव), भीत-भीत होकर संचार[2] (अतएव) संचार और आचारमें चपलता और आहार-विहार परायणता--ये सार्पसत्त्व (सार्पकाय, सर्पों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

३. अत्यधिक और सतत काम-सेवा; अविरत आहार-विहार-परायणता, अमर्ष (मानसिक सहिष्णुता का अभाव), अस्थिरता (कहीं जमकर काम न करना), (धनादि के) संचय का शील न होना[3]--ये शाकुन सत्त्व (शाकुनकाय (शकुनि=पक्षी के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

४. एकान्तग्राहिता (हठ-पूर्वक एक पक्ष पकड़ रखना; अन्त=पक्ष), (पाठान्तर में--रूक्षता); असूया, ईर्ष्या, धर्म-विरुद्ध आचरण, अत्यधिक तम (पाठान्तर में-अत्यधिक आत्म श्लाघा), अमर्षशीलता, कोप का अनुबन्ध (सातत्य; क्रोध शान्त न होना), छिद्र देखकर प्रहार करना, क्रूरता, (आकार-प्रकार और

१.--च० शा० ४-५६ में इसी प्रकरण के उपसंहार में असुर के स्थान पर दैत्य शब्द का प्रयोग आया है।

२--यहाँ 'मन्त्र सुगोचरम्' पाठान्तर है। इसका क्या अर्थ होगा?

३--जैसे पक्षी कुछ संचय करके रखते नहीं, वैसे कई व्यक्तियों में संचय का स्वभाव नहीं होता। इनका वेतन प्रतिमास समाप्त हो जाता है। कभी-कभी नया वेतन मिलने के पूर्व ही वेतन पूरा हो जाता है।

आचरण की) भयानकता, आहार में अतिमात्र रुचि, मांस पर अत्यधिक प्रीति ; निद्रा और आयास (निष्प्रयोजन परिश्रम) का बाहुल्य--ये राक्षस सत्त्व (राक्षसकाय--पुराणादि प्रसिद्ध राक्षस-योनि के पुरुषों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं ।

५. उच्छिष्ट आहार का शील (पाठान्तर में--आचार का परित्याग), अन्नपान का प्रमाण तथा संख्या सुप्रभूत होना (पाठान्तर में-अतिआलस्य), स्वभाव की तीक्ष्णता (कोपनता ; पाठान्तर में--रूक्षता), साहस-प्रियता, स्त्री-लोलुपता, निर्लज्जता, स्त्रैणता (स्त्रियों के सदृश विचार, वाणी तथा वर्तन होना), स्त्रियों के साथ एकान्त में रहने की अभिरुचि, अशौच, शुचिता के प्रति द्वेष, भीरुता, अन्यों को भयत्रस्त करने का शील, विकृत (सड़ा-गला) आहार तथा बीभत्स चेष्टा करने का स्वभाव--ये पैशाच काय (पैशाच सत्त्व ; पुराणादिप्रोक्त पिशाच-योनि के पुरुषों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं ।

६. संविभाग एवं दान का स्वभाव न होना, अकर्मशीलता, आलस्य, दुःख-शीलता (अपने को सदैव दुःखी तथा उद्विग्न--तंग आ गया--मानने का स्वभाव) अपना आचरण तथा व्यवहार अन्यों के लिए भी दुःखद होना, असूया, लोलुपता (लोभ), आहार में सदा अभिरति तथा असूया--ये प्रेत काय (प्रेत सत्त्व, पुराणादि-निर्दिष्ट प्रेत-योनि के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं ।

ये छ राजस (रजोबहुल) सत्त्व (मन) और पुरुषों के नाम तथा लक्षण निदर्शनार्थ बताए गए । इन सबों में रजोगुण के प्रधान लक्षण रोष का प्राधान्य होता है । इस कारण इन्हें एक वर्ग में अन्तर्भूत किया गया है ।

तामस पुरुषों के भेद तथा लक्षण--

१. मेधा (ग्रन्थ या भाषण की बात को समझने का सामर्थ्य) अल्प होना, कुटिलता, मैथुनपरायणता, नित्य मैथुन के स्वप्न देखना, कुटिलता, अलंकरण का स्वभाव न होना (आभरण तथा परिधान एवं शयन, गृह इत्यादि को शोभित रखने की वृत्ति न होना ; इतना ही नहीं, इसके विपरीत) बीभत्स आचार और आहार का स्वभाव होना, निद्राशीलता (बहुत सोए पड़े रहना), निराकरिष्णुता (स्वाध्याय की--ग्रन्थों के पठन-पाठन की--अभिरुचि न होना[1])--ये पाशव काय (पाशव सत्व ; पशुओं के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं ।

२. अस्थिरता (कहीं स्थिर न रहना, विचारादि की भी स्थिरता न होना), मूर्खता (बुद्धि हीनता), भीरुता, अनेक प्रकार से जल की इच्छा विशेष होना,

१--अस्वाध्यायो निराकृतिः--अमरकोष ।

आहार की लोलुपता (जिह्वा-लौल्य) ; काम और क्रोध का नैरन्तर्य, गमनशीलता (भटकने--आवारागिर्दी करने--का स्वभाव) एवं परस्पर अभिमर्द (अपने स्वजनों, साथियों तथा नीचे काम करनवालों को उन्नति न करने देना ; उन्हें दवाना, किं बहुना, उनके साथ लड़ना-झगड़ना, उनके छिद्र देखना)--ये मात्स्यकाय (मात्स्य सत्त्व, मछलियों के सदृश मानसी प्रकृति[1]) के लक्षण हैं।

३. एक ही स्थान में रहने की वृत्ति[2], आहार को छोड़ अन्य किसी बात में रुचि और रति न होना ; सत्त्वप्रधान धर्म, काम और अर्थ तीनों का अभाव, आलस्य एवं बुद्धि के यावत् अङ्गों की शून्यता--ये वानस्पत्य काय (वनस्पतिसत्व ; वनस्पतियों के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

ये तमोगुण=प्रधान पुरुषों के तीन भेद तथा उनके लक्षण निदर्शनार्थ बताए गए।

सात्त्विकादि पुरुषों के ये भेद मनुष्यों में प्रायः पाए जाते हैं। अतः उदाहरणतया इतनों का ही निर्देश किया गया। एवमनुक्ता अपि विष्णुशंकरव्याघ्रादिसत्त्वानुकारेण सत्वभेदा बोद्धव्या एवेति दर्शयति (च० शा० ४।५६ पर चक्रपाणि)--इसी प्रकार विष्णु, शंकर, व्याघ्र प्रभृति अन्य भी अनिर्दिष्ट उपमानों के अनु-सार सत्त्वों तथा पुरुषों के भेदों की कल्पना की जा सकती है। प्राणिमात्र का निर्देशन शक्य न होने से इतनों ही का उल्लेख निदर्शनतया किया गया है।

प्रकृतियों की अपरिवर्तनशीलता--

कायचिकित्सा की दृष्टि से शारीर या मानस उभय प्रकृतियों के विषय में एक बात स्मरणीय है और वह यह कि--

---

१--बड़ी मछली जैसे छोटी को खा जाती है वैसे ही शक्तिशाली छोटों को दबाता है (जीवो जीवस्य भोजनम्; माईट इज़ राइट) इत्यादि प्रकार को मात्स्य न्याय ही नाम दिया गया है। मत्स्य सत्त्व पुरुषों में यह शील सविशेष लक्षित होता है।

२--एक ही नगर में घर बदलना, नौकरी के लिए स्थान-परिवर्तन (ट्रान्स्फर), अच्छी अन्य नौकरी का ग्रहण, प्रवास गमन, कभी अन्यत्र जाना पड़ा हो तो कार्य के प्रसंग में जिस स्थल पर जाना पड़े उसके सिवाय अन्य स्थानों को भी देखना--इत्यादि का स्वभाव ऐसे व्यक्तियों में होता नहीं। वनस्पति के समान 'एकस्थानरति' वे होते हैं।

प्रकोपो वान्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥

सु० शा० ४।७८

प्रकृतियों का यह स्वभाव है कि, इनका न प्रकोप होता है, न क्षय, न अन्यथाभाव (रूपान्तर, प्रकृत्यन्तर, एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन किंवा विद्यमान प्रकृति में ही किन्ही गुण-धर्मों का वृद्धि-ह्रास)। रोगारम्भक दोषों का ही प्रकोप, क्षय या रूपान्तर (कतिपय गुण-धर्मों का वृद्धि-क्षय) होता है। प्रकृतियों में परिवर्तन केवल गतायु, नाम ऐसे पुरुषों, में होता है जिनकी आयु क्षीण हो चुकी है, जो आसन्नमृत्यु हैं। अन्य शब्दों में प्रकृति में परिवर्तन एक प्रकार का अरिष्ट (नियत मरण ख्यापक चिह्न) है। अरिष्ट चिह्नों के प्रकरण के आदि में ही सुश्रुताचार्य ने कहा है--

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन, व्यासतस्तु निबोध मे॥

सु० सू० ३०।३

अरिष्ट-लक्षण विस्तार से आगे कहे जाएँगे। संक्षेप में, अरिष्ट का लक्षण यह है कि, शरीर और शील (मनोवृत्ति) के भेद से जो दो प्रकार की प्रकृतियाँ ऊपर कही गई हैं उनमें विकृति या वैपरीत्य दृष्टिगोचर हो तो इसे अरिष्ट समझना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान के मत से प्रकृतियाँ--

पुरुषों के शील (मानसी प्रकृति ; टेम्परामेण्ट) का विचार आधुनिक विज्ञान में भी उत्तरोत्तर वेग पकड़ता जा रहा है। यह एक कहावत-सी बन गई है कि रोग-परीक्षा में यह नहीं देखना चाहिए कि, किस प्रकार के लक्षण किसी रोगी को हुए हैं, किन्तु यह जानना चाहिए कि किस प्रकार के रोगी को कोई लक्षण हुए हैं? आधुनिक मनोविज्ञान और मानसरोगविज्ञान के प्रणेताओं में एक पैवलोव का मत इस विषय में द्रष्टव्य है। वह कहता है--

"दो प्रकार की वस्तुओं का नाड़ीसंस्थान पर सर्वदा प्रभाव हुआ करता है। एक प्रकार की वस्तुएँ वे हैं, जो इसकी क्रिया को मन्द या अवसन्न करती हैं। इन्हें अवसादक विषय (इनहिबिटरी स्टिम्युलस) कहते हैं। द्वितीय प्रकार के भाव वे हैं, जो नाड़ीसंस्थान को उद्दीप्त या क्षुभित (उत्तेजित) किया करते हैं। इन्हें उद्दीपक या प्रकोपक विषय (एक्साइटरी स्टिम्युलस) कहते हैं।

उदाहरणतया, भोजनकाल उपस्थित होने पर पाचक पित्तों का उदीरण नाड़ी-संस्थान संबन्धी एक प्रथित क्रिया है। परन्तु, इसकाल यदि असह्य कोलाहल हो तो पित्तों का उदीरण नहीं होता। इस प्रकार, इस दशा में कोलाहल अवसादक भाव है।

"इस दृष्टि से परीक्षा करने से नाड़ीसंस्थान तीन प्रकार का पाया गया है। नाड़ीसंस्थान का एक प्रकार वह है जिस पर प्रकोपक (उद्दीपक) विषयों का शीघ्र प्रभाव होता है, अतः जो जरा-जरा बात में क्षुभित हो जाया करता है। इसके विपरीत नाड़ीसंस्थान का द्वितीय प्रकार है, जो अवसादक विषयों के शीघ्र वशीभूत हो जाता है; परिणामतया जिसकी क्रियाएँ समय-समय पर मन्द हो जाया करती हैं।

"इन दोनों भेदों के मध्यवर्ती तृतीय प्रकार है, जो उभयविधि विषयों की विद्यमानता में भी शान्तिपूर्वक सम मनः स्थिति में कर्म किया करता है। इस तृतीय प्रकार के प्राणियों के दो उप-प्रकार हैं। कुछ प्राणी ऐसे होते हैं जो सर्वदा सुस्त, मन्द, तथा शान्त रहते हैं। दूसरे प्राणी ऐसे होते हैं जो सामान्यतया स्फूर्त होते हैं, परन्तु एक ही स्थिति में रहने से आश्चर्यजनक शीघ्रता से अवसन्न (सुस्त, जड़) हो जाते हैं।

"नाड़ीसंस्थान का यह विभाग प्राचीनों के[1] किए प्रकृति-विभाग से अति साम्य रखता है। क्षोभ्य नाड़ीसंस्थानवाले पुरुषों को 'कॉलेरिक टेम्परामेन्ट' (पैत्तिक) वाला, अवसाद्य नाड़ीसंस्थानवालों को 'मेलनकॉलिक टेपरामेण्ट' (शब्दार्थ-श्लैष्मिक) वाला तथा मध्यवर्ती शान्त नाड़ी संस्थानवालों का 'फ्लेग्मेटिक' (शब्दार्थ-श्लैष्मिक) प्रकृतिवाले तथा मध्यवर्ती स्फूर्त नाड़ीसंस्थानवालों को 'सेंग्वाइन' (शब्दार्थ-सम, श्रेष्ठ) कहा जा सकता है।" (देखिए-हेलीबर्टन-कृत 'हैंडबुक ऑफ फिज़ियोलॉजी, ३१ वाँ संस्करण, पृष्ठ ६८३-६८४)

हिस्टेरिकल पर्सनेलिटी—

प्रकृतियों के प्रसंग में आधुनिकों द्वारा वर्णित 'हिस्टेरिकल पर्सनेलिटी' (शब्दार्थ-हिस्टीरिया के गम्य व्यक्ति) को स्मरण किया जा सकता है। इन व्यक्तियों का स्वरूप वात-प्रकृति पुरुषों से बहुत मेल खाता है।

हिस्टीरिया निज नाम से प्रसिद्ध रोग है। यह नाम इस देश में आया तो प्रथम यही समझा गया कि यह युग का दिया नूतन रोग है और केवल स्त्रियों को

१—पश्चिम में भी भारत के समान प्रकृतियों का विचार प्राचीनों ने किया था। उनके नाम भी आयुर्वेद से मिलते-जुलते हैं। यहाँ उनका निर्देश है।

होता है। अंग्रेजी नाम का मूल पद भी इसी बात का द्योतक है। हिस्टीरिया शब्द 'हुस्टेरा' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ गर्भाशय है। इसी से इस रोग को भारतीय भाषाओं में योषापस्मार (शब्दार्थ--स्त्रियों को होनेवाला अपस्मार) नाम दिया गया। परन्तु इसके लक्षण आयुर्वेदोक्त अपतन्त्रक रोग से मिलते हैं। अतः इसे वही पर्याय दिया जा सकता है।

दूसरी बात। प्रसिद्ध हिस्टीरिआ के वेगकाल में आयाम, अर्धमूर्च्छा, गुल्म आदि लक्षण होते हैं। इन लक्षणों का मूल यह होता है कि रोगी किसी अतृप्त इच्छा को अपने अन्तरतम (अर्धचेतन मन, सबकॉन्शस सेल्फ) में निगृहीत किए--दबाए--रहता है। यह इच्छा काम (सेक्शुअल डिज़ायर) की हो सकती है, अलंकार-प्राप्ति की हो सकती है, किसी के प्रेम की प्राप्ति की हो सकती है या अन्य किसी प्रकार की हो सकती है। इच्छा की पूर्ति न होने का कारण पुरुषमें स्त्री के प्रति प्रीति न होना, प्रीति होते हुए भी सामर्थ्य न्यून होना, धन की न्यूनता आदि कारणों से अलंकार क्रय न कर सकना इत्यादि होता है। इन कारणों से तृप्त न हुई इच्छा, आधुनिकों ने जिसे अर्धचेतन मन कहा है, उस अन्तःकरण-प्रदेश में निगूढ़ रह कर विविध उत्पात मचाती रहती है। इन सब उत्पातों का मूल यह होता है कि रोगी अपने प्रति स्वजन-परिजनादि के हृदयों में अनुकम्पा[1] उत्पन्न करना चाहता है। अद्भुत बात यह होती है कि स्वयं रोगी को अपनी किसी इच्छा या द्वेष का, उनके पूर्ण न होने का या उक्त प्रकारसे लोकों की अनुकम्पा आकृष्ट करने की वृत्ति का ज्ञान ही नहीं होता। इस वृत्ति की चरितार्थता सामान्यतया उन लक्षणों के रूप में होती है, जिनका समुच्चित (मिलित) नाम हिस्टीरिया या अपतन्त्रक है। परन्तु सत्य यह है कि विश्व का कोई रोग ऐसा नहीं जिसका आविर्भाव इन पुरुषों में न हो सके। शर्त केवल यह है कि उस रोग का परिचय इन को होना चाहिए। इस प्रकार पक्षाघात, पंगुता, अन्धता; उदर, शिर आदि अवयवों में शूल; कण्ठ में गुल्माकार अवरोध (ग्लोबस हिस्टेरिकस),

---

१--सहानुभूति शब्द से जो अर्थ अभिप्रेत है उसके लिए अनुकम्पा यह प्राचीन शब्द है। किसी व्यक्ति को होती हुई व्यथा के अनु-पश्चात्, उसका ही अनुवृत्ति में अन्य के हृदय में भी कम्पन-सिहरन होना यह अनुकम्पा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। उसे न समझकर अंग्रेजी 'सिंपेथी' की अनुकृति में सहानुभूति यह शब्द रच लिया गया है;। नया शब्द रचना अयोग्य नहीं है। परन्तु प्राचीन शब्द अज्ञानवश हमारे ध्यान में न आये अतएव हमें नया शब्द रचना पड़े यह स्थिति तो ठीक नहीं। प्राचीन शब्द विदित होते ही उसका व्यवहार चालू कर देना चाहिए। इस अर्थ में समवेदना शब्द भी नव-निर्मित है।

बाधिर्य, संज्ञानाश ; विविध रोगों की पुरुष को आशङ्का (हायपोकॉन्ड्रिएसिस) ; निगिरण-कृच्छ्र (अन्न निगलने में कठिनाई) ; अन्नद्वेष, स्पर्शनाश ; दौर्बल्य ; अङ्गसाद ; चेष्टानाश ; आयाम, स्तम्भ, संकोच, कम्प ; वाक्संग (वाणी की अप्रवृत्ति) ; मूकता, मिन्मिनत्व, तुतलाहट, जिह्वा, कण्ठ, गल, या नेत्र की पेशियों के स्तम्भ से उक्त तथा अन्य विविध रोग होना ; नेत्र की पेशियों के स्तम्भ से अक्षिव्युदास (आँख तिरछी हो जाना), दृष्टि में प्रकाश के केन्द्रीकरण की स्तब्धता ; वर्त्मस्तम्भ, नेत्र-निमीलनी पेशी का स्तम्भ इत्यादि रोग हो सकते हैं। किसी भी रोग के लक्षणों के आविर्भाव में एक शर्त होती है कि रोगी को उस रोग का परिचय होना चाहिए। रोगों का उत्तम परिचय सुचिकित्सक को हो तो वह निदान कर लेता है कि रोग वास्तविक है या 'हिस्टेरिक' प्रकृति के कारण। रोगी का रोग-विज्ञान का परिचय पूर्ण न होने से रोग की उसके द्वारा अज्ञानतः की गयी अनुकृति संपूर्ण नहीं होती। उदाहरणतया, उसे पक्षाघात हो तो पैरों में मौजे और हाथों में दस्ताने ऊपर की ओर जितनी ऊँचाई तक पहुँचते हैं वहाँ तक चेष्टा नाश और संज्ञानाश के चिह्न होते हैं--संपूर्ण हाथ और पैर में नहीं, जैसा कि वास्तविक रोग में होना चाहिए। इसके सिवाय इन रोगों की भेदक परीक्षा जानबूझ कर और सज्ञान दशा में की गई बहानेबाजी (मेलिंगरिंग) से भी करनी पड़ती है।

हिस्टेरिक व्यक्तियों में विभिन्न मानस रोग भी पाए जाते हैं। इन का विस्तार आप्त ग्रन्थों में देखना चाहिए। इन व्यक्तियों में अपनी अयोग्यता, भूल आदि को छुपाने के स्वयं अज्ञात प्रयत्न में अहंभाव, मिथ्याभाषणशीलता (सूडोलॉजिआ फेन्टेस्टिका), विस्मृति आदि लक्षण पाए जाते हैं। यह प्रकृति प्रायः कुलज होती है। इसका एक प्रमाण यह है कि स्वस्थ व्यक्तियों की अपेक्षया उन्मत्तालयों में इन पुरुषों के स्वजन अधिक संख्या में प्रविष्ट हुए अथवा मानसरोग-पीड़ित पाये जाते हैं।

प्रकृतियों का नव्यमतसे बहुसंमत कारण—

मानव-प्रकृति के संबन्ध में बहुसंमत विचार यह है कि मनुष्य का स्वभाव विभिन्न अन्तर्ग्रन्थियों के स्रावों पर अवलम्बित है। न केवल शरीर के अवयवों का विविध विकास, रोग तथा आरोग्य, परन्तु मानस प्रकृति का स्वरूप और विकास भी इन्ही अन्तर्ग्रन्थियों से निर्मित होता है।

मनुष्यों में पाया जानेवाला शरीर का दैर्घ्य (लंबाई) या वामनत्व, कृशता वा स्थूलता, दौर्बल्य या सबलता ; त्वचा, कनीनिका आदि का वर्ण-वैचित्र्य ; केश, श्मश्रु और लोमों का वैलक्षण्य ; विविध प्रकार के स्वर ; कामुकता या

विरक्ति ; प्रतिभा या मन्दबुद्धिता ; स्मृति या मन्द स्मरणशक्ति, दया या निर्दयता, पौरुष या (शारीर-मानस) स्त्रैणता ; क्लेश-सहिष्णुता या क्लेश-भीरुता, इन तथा अन्यान्य शरीर या मन के स्वरूप-भेदों का कारण विविध अन्तर्ग्रन्थियाँ ही हैं। (जिज्ञासुओं को एतद्विषयक विवरण 'लुई बर्नहाम' के 'ध ग्लैण्ड्स रेग्युलेटिंग पर्सनेलिटी' में अथवा 'केनेथ वॉकर' के 'डायाग्नोसिस ऑफ मैन' में देखना चाहिए। वृषण ग्रन्थियों का शरीर और मन पर प्रभाव हम इसी ग्रन्थ में पहले दर्शा आए हैं। उसे भी इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। उल्लिखित ग्रन्थों में नेपोलियन, सीज़र आदि ऐतिहासिक पुरुषों के स्वभाव, उत्थान और पतन के कारण के रूप में उनमें अमुकामुक अन्तर्ग्रन्थि के विकास और ह्रास का निरूपण किया गया है।)

प्राचीन और अर्वाचीन क्रियाशारीरों का सापेक्ष अध्ययन करने से विदित होगा कि अन्तर्ग्रन्थियों के रसों का सादृश्य आयुर्वेद-वर्णित कफों और पित्तों के साथ देखा जा सकता है। प्रकृति और विकृति (रोग) के उत्पादन में जो स्थान कफ और पित्त का है वही अन्तर्ग्रन्थियों का भी है। पैवलॉव का मत हमने ऊपर दर्शाया है कि बाह्य या आन्तर विषयों (स्टिम्युलाई) का प्रभाव नाड़ीसंस्थान पर पड़ता है। इन विषयों में पैवलॉव के पश्चात् जिनका अध्ययन विशेष विकसित हुआ, उन अन्तर्ग्रन्थियों का भी समावेश किया जा सकता है। आयुर्वेद में यह वस्तु इस रूप में कही है कि वायु योगवाह है—कफ और पित्त के संयोग से उनके गुणों का ग्रहण कर जिसके साथ संयुक्त होता है उस दोष के कर्म प्रदर्शित करता है। तथाहि :—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

च० चि० ३।३८

योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः। परमिति अत्यर्थम्॥

चक्रपाणि

आयुर्वेद की दृष्टि से रोग-परीक्षा में परीक्षणीय पदार्थों में प्रथम प्रकृति का निरूपण हुआ। नव्य मत से उसकी संक्षेप में व्याख्या करने का प्रयत्न भी हमने किया। विज्ञ वाचक इसी दिशा में स्वयं अधिक विचार कर ही सकते हैं। अब अगले परीक्षणीय भाव सार का विचार क्रम-प्राप्त होने से प्रस्तुत किया जाता है।

सार[१]

दोष-उपधातु-सहित धातु तथा मल--ये तीन स्थूल शरीर के मूल या समवायि कारण हैं। रोग परीक्षा में दोषों का विचार उनके द्वारा आरब्ध (उत्पादित) प्रकृति और विकृति (रोग) के रूप में किया जाता है। इनमें प्रकृति का विचार ऊपर किया गया है। क्षय, वृद्धि आदि के रूप में विकृति का विचार अनुपद (ठीक इस प्रकरण के पश्चात्) करेंगे। धातुओं का प्रकृति से मिलता-जुलता विचार दो प्रकार से किया जाता है। एक उनके प्रमाण के रूप में तथा दूसरा उनके सार के रूप में। विकृति के रूप में धातुओं और मलों का विचार उनके दूष्य होने के रूप में किया जाता है। दूष्यों की विकृति का कारण भी दोष होते हुए भी कभी-कभी लक्षण और चिकित्सामें दूष्य का प्राधान्य होता है। यथा, सांनिपातिक ज्वर तथा संतत ज्वर त्रिदोषारब्ध और समान मर्यादा आदि लक्षणोंवाले होते हुए भी सन्तत ज्वरों में धातुओं की विकृति से होनेवाले लक्षण प्रधान होते हैं, जब कि सांनिपतिक में दोषों के ही प्रकोप स्वतन्त्र लक्षण प्रधानतया दृग्गत होते हैं। उन्हें इसी से सांनिपातिक (त्रिदोषारब्ध) नाम दिया गया। चिकित्सा की दृष्टि से विचार करना हो तो विसर्प, रक्तज रोगों और कुष्ठ में दूष्य रक्त का प्राधान्य होता है; अतः उसे लक्ष्य में रखकर रक्तमोक्षण को महत्त्व दिया जाता है। अस्तु। धातुओंके प्रमाणका विचार उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष की अपनी अञ्जलि से करने का विधान है, जैसे अपनी ही अङ्गुलियों से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के मापन का। प्रमाण-निर्देश शारीर में आ ही गया है। इस ग्रन्थ में भी आगे करेंगे। रुग्ण-परीक्षा में विशेषोपयुक्त सार का निर्देश यहाँ करते हैं।--

सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते॥

च० वि० ८।१०२ पर चक्रपाणि

सार शब्द का अर्थ है रस आदि तत्-तत् धातु की अति विशुद्धि। प्रमाण से यह भिन्न है[२]। सार की परीक्षा रोगी के बल के प्रमाण का तारतम्य तथा आयु[३] जानने के लिए की जाती है--साराण्यष्टौ बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते--च० वि० ८।१०२ (तथा ११४)। अंग्रेजी में जिसे स्टेमीना कहते हैं वह 'सार' शब्द से अभिप्रेत प्रतीत होता है।

१--स्थल : च० वि० ८।१०२-११५ तथा चक्र, सु.सू. ३५।१६ तथा डल्हन।

२--अतएव मांससार का भाषान्तर मस्क्युलर बॉडी आदि करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

३--सार के पश्चात् ही सुश्रुत ने कहा है--विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः। परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु। सू. सू. ३५-१७।

परीक्षणीय सार आठ हैं और अधोलिखित हैं--त्वक्सार (अथवा रससार[1]), रक्तसार, मांससार, मेदःसार, अस्थिसार, मज्जसार, शुक्रसार तथा सत्त्वसार। सुश्रुत ने सारों का क्रम विपरीत देकर कहा है कि--एषां पूर्वं प्रधानमायुः सौभाग्ययोरिति--सु० सू० ३५।१६[2]।--सत्त्वसार आदि रससार-पर्यन्त सारों में पूर्व-पूर्व सार उत्तर-उत्तर सार की अपेक्षया आयु और सौभाग्य (बल, सौकुमार्य, धनाढ्यता आदि गुणों) की दृष्टि से प्रकृष्ट है। दो-तीन, दो-तीन सारों के संयोग में आयु तथा सौभाग्य का प्रकर्ष संयुक्त सारों के अनुसार जानना चाहिए।

ऊपर कहा है कि सार शब्द से धातुओं का प्रमाण अभिप्रेत नहीं, किन्तु उनकी शुद्धि एवं तज्जनित बल, आयु आदि सौभाग्य-सूचक गुण सार शब्द से अभिहित हैं। रोग-परीक्षा में उपयुक्त इस सत्य की व्याख्या करते चरकाचार्य कहते हैं।--

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्; महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति। दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराःकृशाश्चैके बलवन्तः। तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्॥
च० वि० ८।११५

केवल शरीर को देख कर चिकित्सक को इस भ्रान्ति में न पड़ना चाहिए कि इस पुरुष का शरीर (धातु) उपचित नाम परिपुष्ट है अतः यह बलवान् है; किंवा यह पुरुष कृश (अपचित, क्षीणधातु) है अतः यह दुर्बल होगा; अथवा यह विशाल शरीरवाला है, इस कारण बलिष्ठ होना चाहिए, किंवा, यह अल्प (छोटे और पतले) शरीर वाला है इस लिए यह अल्पबलवाला होना चाहिए। कारण, अल्प शरीरयष्टिवाले एवं कृश भी कई पुरुष बलवान् देखे जाते हैं। इसके विपरीत, विशाल और पुष्ट शरीरवाले भी कई अल्प शारीर-मानस बलवाले देखे जाते हैं। (बल की दृष्टि से पुरुष की इन दो भेदों का वर्णन रोगों के वर्गीकरण के प्रकरण में गुरु-व्याधित और लघु-व्याधित नाम से आ चुका है।) शरीर से अल्प और कृश होते हुए भी बलवान् पुरुषों का स्वरूप समझने के लिए पिपीलिका (चिउटी) का उदाहरण दिया जा सकता है। वह क्षुद्र-शरीर होती हुई भी अपने से कई गुणा अधिक भार वहन करने की शक्ति रखती है।

१--त्वक्सारं रससारम्। त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रसोऽभिहितः॥ सू ३५-१६ पर डल्हन।

२--सौभाग्यशब्देन च कमनीयाश्चर के विस्तरप्रतिपादिता बलसौकुमार्यधनित्वादयो गुणा ग्रहीतव्याः--चक्रपाणि।

रससार (त्वक्सार) पुरुषों के रोम अति स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न (निर्मल, निर्दोष), सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर (गहरे मूलवाले) तथा सुकुमार एवं त्वचा भी प्रभावती, सुप्रसन्न और मृदु होती है। पुरुष रससार हो तो सुख, ऐश्वर्य, सौभाग्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रहर्षण (आनन्दमय स्वभाव) और आयुष्य की संभावना होती है।

रक्तसार पुरुषों के कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हस्त-पादतल, नख, ललाट और शिश्न (स्त्रियों में अपत्यपथ तथा कामच्छत्र), स्निग्ध, ताम्र-(रक्त)--वर्ण, शोभायुक्त एवं दीप्तिमान् (चमकदार) होते हैं। रक्तसार पुरुष सुखी, मेधावी, मनस्वी (उत्कृष्ट मनवाला), सुकुमार, अल्पबल, क्लेश के सहन में असमर्थ तथा उष्णता (धूप, ताप आदि) का असहिष्णु होता है।

सार शब्द का अर्थ ऊपर यह कहा है कि किसी धातु की विशुद्धि का नाम उस धातु की सारवत्ता है। तात्पर्य, जिस धातु का जो स्वरूप होना चाहिए, उसके जो गण तथा प्राकृत कर्म शास्त्र में निर्दिष्ट हैं वह उसमें हों, तो उसे सारवान् समझना चाहिए। रक्त में दोषों के प्रभाव से क्लेद (द्रवाधिक्य), पीतता आदि दृग्गोचर हों, तो इसे उसकी अशुद्धि एवं निःसारता कहेंगे। जैसे पाण्डुरोग में विशेषतया पित्तप्रकोपवश रक्तधातु का क्षय होने से उसके प्राकृत वर्ण, बल, स्नेह आदि गुण अत्यधिक क्षीण हो जाते हैं, रक्त में क्लेद (द्रवत्व) आदि की वृद्धि हो कर पुरुष अत्यन्त शिथिल (दुर्बल) और गौरव (चेष्टा करने की असमर्थता) इत्यादि से पीड़ित हो जाता है[1]। अन्य धातुओं के प्राकृत स्वरूप का भी इसी प्रकार भ्रंश होता है और पुरुष निःसार (धातु साररहित) हो जाता है। इस विवरण से सार शब्द का अर्थ समझा जा सकता है।

विधिशोणितीय अध्याय (च० सू० २४) में रक्तप्रकोपज रोगों के प्रसंग से चरकाचार्य ने विशुद्ध रक्त के लक्षण भी दिए हैं। रक्तसारता के प्रकरण में वे भी द्रष्टव्य हैं। विशुद्ध रक्त की परीक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो विस्रावण द्वारा अथवा कारणान्तर से रक्तस्रुति हुई हो तो उसके स्वरूप की परीक्षा द्वारा तथा दूसरे आरोग्य-सम्बन्धी विशिष्ट लक्षणों को देखकर। विशुद्ध रक्त की लक्षण-गोचर परीक्षा अधोलिखित है--

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तिवेगम्।
सुखान्वितं तु (पु) ष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥[2]

च० सू० २४।२४

१--देखिये--च० चि० १६।४६ तथा उस पर चक्रपाणि की टीका।

२--संप्रति शोणितादर्शनेनापि विशुद्धरक्तज्ञानार्थं लक्षणमाह-प्रसन्नेत्यादि ॥
--चक्रपाणि

जिस पुरुष का वर्ण और इन्द्रियगण प्रसन्न (निर्मल) हो, इन्द्रियों के विषयों के ग्रहण में जिसकी अभिरुचि और अभिरति हो, अग्नियों का बल तथा पुरीष-मूत्रादि मलों की प्रवृत्ति जिसकी प्राकृत प्रकार की हो, जो सुख और शान्ति से समन्वित हो, जिसका बल और पुष्टि (तुष्टि) अबाध हो उस पुरुष को विशुद्ध-रक्त जानना चाहिए।

विस्रावण आदि से निःसृत रक्त शुद्ध हो तो उसका वर्ण रक्त होता है। पुरुषों की स्वभावसिद्ध वातिक आदि प्रकृतियों के कारण रक्तिमा में कुछ-कुछ विशेष होता है। सम-प्रकृति पुरुष के रक्त की रक्तिमा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के वर्ण के सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतियों के पुरुषों के रक्त का वर्ण तप्त कांचन, रक्त कमल, लाक्षारस या गुञ्जा के वर्ण के सदृश होता है[1]।

वातादि-भेद से दुष्ट स्रुत रक्त की परीक्षा का प्रकार आगे लिखा जाएगा।

नवीन विज्ञान में जिसे 'प्लेथोरा' कहते हैं उससे रक्तसार का साम्य देखा जा सकता है। इस विकृति में रक्तकणों का प्रमाण सामान्य की अपेक्षया अधिक होता है। पुरुष के कपोल (गाल) आदि विशेष गुलाबी-लाल दिखाई देते हैं। रक्तसार का अर्थ रक्त की विशुद्धि तथा प्लेथोरा का अर्थ रक्तकणों की (आयुर्वेद-मत से रक्तधातु की ?) वृद्धि है, यह स्मरण रखना चाहिए।

मांससार नाम शुद्धमांसयुक्त पुरुष में शङ्ख (कनपटी), ललाट, कृकाटिका (ग्रीवा के पीछे का भाग), नेत्र, कपोल (गण्ड, गाल), हनु, ग्रीवा, स्कन्ध, उदर, कक्ष, वक्षस्, हाथ, पैर तथा इनकी एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग की संधियाँ —ये अवयव स्थिर (दृढ़) गुरु, शुभ और उपचित (पुष्ट) मांस से व्याप्त[2], अतएव अस्थियाँ तथा संधियाँ गूढ़ (अलक्ष्य), एवं शरीर छिद्र (गर्त, निम्नता,) से रहित होना (भरा हुआ दीखना)—ये लक्षण होते हैं। डह्लन ने मांससार का ही मांसल नाम बताया है। जिस पुरुष में मांससारता हो उसे क्षमा, धैर्य, अलौल्य (शारीर-मानस चापल्य, छिछोरापन तथा लोलुपता से रहित होना), धन, विद्या, सुख, आर्जव (सरल स्वभाव), आरोग्य, बल और दीर्घ आयु से संपन्न समझना चाहिए। तात्पर्य, अपने दृढ़ शरीर और उसके कारण दृढ़ और स्थिर मन के कारण मांससार पुरुष क्रमशः इन गुणों को प्राप्त करते हैं।

मेदःसार नाम शुभ मेदो धातुयुक्त पुरुष का सर्वशरीर विशेषतः वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, स्वेद, दन्त, ओष्ठ, मूत्र तथा पुरीष स्निग्ध और देह विशेष

१—च० सू० २४।२२ तथा चक्र; सु० सू० १४।२२ तथा डह्लन—चक्र.

२—प्रायः वैद्य स्नायु का अर्थ मांसपेशी करते हैं। अन्य विचारणीय वस्तुओं के साथ उन्हें यह भी विचार करना चाहिये कि यहाँ मांससारता के प्रकरण में उपचित मांस से शरीर की व्याप्ति में मांस क्या होगा ?

विशाल होता है। ऐसे पुरुष में धन, ऐश्वर्य, सुख, दान, भोग, ऋजुता (स्वभाव की सरलता), शारीर-मानस श्रम की असहिष्णुता (परिश्रम एवं बुद्धि के कार्य अधिक काल न कर सकना) तथा उपचारों की सुकुमारता जाननी चाहिए। उपचार का अर्थ आचरण और चिकित्सा दोनों वैद्यक-प्रसिद्ध हैं और यहाँ गृहीत हैं। मेदःसार पुरुष के आचरणों में सौकुमार्य (पौरुष की न्यूनता ?) झलकती है। चिकित्सा-क्रम भी तीक्ष्ण हो तो, यथा तीन-चार मलोत्सर्ग के वेग हो जाएँ इतना भी विरेचन, उन्हें अकुला देता है।

मेदःसार तथा मेदस्विता में भेद समझ लेना चाहिए। मेदःसार शरीर में सम-प्रमाण में शुद्ध मेद रहता है, जब कि मेदस्विता में अति अधिक प्रमाण में अशुद्ध (तत्तद्दोष-दुष्ट) मेद रहता है। उसके कारण मेदस्वी पुरुष नानाविध रोगों से आक्रान्त रहते और होते हैं।

अस्थिसार नाम उत्कृष्ट अस्थिवाले पुरुषों की पार्ष्णि (एड़ी), गुल्फ (गिट्टा), जानु, अरत्नि (मुट्ठी), जत्रु (स्कन्ध-संधि), स्कन्ध, चिबुक (ठोडी), शिर और पर्व--ये अङ्ग तथा अस्थि, नख और दन्त स्थूल (विशाल-लम्बे-चौड़े) तथा दृढ़ होते हैं। ये अस्थिसार पुरुष अति उत्साही, क्रियाशील, क्लेशसहिष्णु, स्थिर और बलिष्ठ शरीरवाले तथा दीर्घायु होते हैं।

नव्यमतानुसार पोषणिका (पिट्युइटरी) के अन्तःस्राव के प्रकोप (अति-स्राव) का प्रभाव सर्वोपरि अस्थिओं की पुष्टि पर होता है। इस ग्रन्थि के अग्रिम खण्ड का प्रमुख अन्तःस्राव पुष्टिवधन[1] अन्तःस्राव (ग्रोथ हॉर्मोन)--नामक होता है। इसकी अतिवृद्धि का प्रभाव अस्थि धातु की पुष्टि पर सविशेष पड़ता है। अस्थियों की वयोभेद से होनेवाली पुष्टि की अवस्थानुसार अस्थियों की यह अतिपुष्टि दो प्रकार की होती है। पुरुष की वृद्धि संपूर्ण न हो चुकी हो--अर्थात् प्रागस्थियाँ (एपीफिसिस-अस्थियों के तरुणास्थि से कठोर अस्थि में परिणत होनेवाले भाग) अभी परस्पर संयुक्त न हुई हों, इस दशा में पुष्टिवर्धन अन्तःस्राव का प्रकोप हो जाए, तो शाखाओं की अस्थियाँ अति विशाल (लम्बी-चौड़ी) हो जाती हैं। इस वैरूप्य को दानवकाय (जायगेंटिज्म) नाम दिया गया है। सर्कसों में देखे जानेवाले सभी विशालकाय पुरुषों में पोषणिका का ऐसा ही प्रकोप होता है। अठारहवीं शती में जॉन हंटर ने एक आयरिश दानव का वर्णन किया था, जिसका कंकाल एक अद्भुतालय में रखा है। उसका पोषणिका-खात (सेला टर्शिका) बहुत बड़ा है, जो उसकी पोषणिका की अतिवृद्धि तथा प्रकोप का गमक (सूचक) है।

१--त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्--इत्यादि। वेदमन्त्र (लघु मृत्युञ्जय) में आया 'पुष्टिवर्धन' शब्द 'ग्रोथ हॉर्मोन' के लिए अपनाया है।

पुष्टिवर्धन स्राव का प्रकोप यदि शरीर की वृद्धि पूर्ण हो जाने के पश्चात्--नाम प्रागस्थियाँ संयुक्त होने के अनन्तर--हुआ हो, तो नलकास्थियों की लम्बाई की दिशा में वृद्धि सम्भव नहीं होती, परन्तु समग्र ही शरीर की अस्थियाँ समभाव से बढ़ती हैं। मुख के नीचे के भाग (हनु आदि), कर और पाद पर प्रभाव विशेष होता है--नाक स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियाँ उभर आती हैं, जबड़े बहुत बड़े हो जाते हैं, जिससे दन्त भी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। हाथ तथा पैर भी स्थूल हो जाते हैं। इन अवयवों के मृदु अङ्ग भी उपचित हो कर मुख और शाखाओं के परिणाह (परिधि) को बढ़ा देते हैं। इस विकार का नाम पर्व-स्थौल्य (एक्रोमेगेली ; एक्रो=अन्त, सिरा ; मेगस=स्थूल)। दानवकाय और पर्वस्थौल्य का कारण पोषणिका अथवा उसके समीपवर्ती भाग का अर्बुद होना भी संभव है।

दन्तों को आयुर्वेद में अस्थि का भेद (रुचक नाम से) या अस्थि का उपधातु माना गया है। अस्थिसार पुरुषों के लक्षणों में दन्तों और नखों की स्थूलता की भी लक्षणतया गणना है। प्राचीन दन्तवैद्य इस सत्य को दन्तों के आहरण के प्रसंग में स्मरणीय बताते हैं। अस्थि की न्यून वा अधिक जैसी भी पुष्टि होगी वैसी ही पुष्टि दन्तों की भी होगी। अस्थि दीर्घ होंगे तो दन्त भी दीर्घ होंगे और उनके मूल भी गभीर (गहरे गए हुए) होंगे। अतः उनके आहरण में प्रयोज्य बल और कौशल विशेष होगा। अस्थि वामन होगी तो दन्त भी छोटे और उत्तानमूल होने से उनके आहरण में सुकरता रहेगी।

प्रकोप के विपरीत अग्रिम खण्ड के अमुक परमाणु (कोष) प्रणष्ट हो जाएँ या उनका स्राव क्षीण (अल्प) हो जाएँ तो उक्त रोगों के विपरीत पुरुष वामन (ड्वार्फ) रह जाता है। इस विक्रिया को वामनत्व (ड्वार्फिज्म; लोरेन-लेवी इन्फेंटाइलिज्म) कहते हैं। वामन तीन से चार फुट के होते हैं। इनमें विरूपता प्रायः नहीं होती। परन्तु ये प्रजनन की दृष्टि से बाल (रचना एवं क्रिया की दृष्टि से पूर्णता को अप्राप्त) रह जाते हैं। पुष्टिवर्धन अन्तःस्राव देने से इनमें कुछ सिद्धि मिलती है।

वामन द्विविध देखे जाते हैं। एक प्रकार के वामन स्वरूपवान् बालक-सदृश तथा बुद्धिशाली होते हैं। द्वितीय प्रकार के वामन मेदस्वी, निद्रालु तथा मेद का संचय स्त्री-तुल्य स्थानों पर होने से अत्यन्त शिथिलाङ्ग कन्या-सदृश प्रतीत होते हैं।

दानवकाय और पर्वस्थौल्य यों तो विकृति ही हैं ; परन्तु स्वरूप की ही विकृति (वैरूप्य) उनमें होती है। अस्थिसार पुरुषों में अस्थि की सारता होती है। इनका साम्य दानवकाय और पर्वस्थौल्य से स्पष्ट देखा जा सकता है।

वामनों का निर्देश प्राचीनों ने जन्मबल प्रवृत्त रोगों की गणना में किया है। अस्थिसार के विषय में इतना विवरण कर मज्जसार का लक्षण देखते हैं।

मज्जसार (शुद्ध मज्जा धातुवाले) पुरुष मृदु तथा पुष्ट अङ्गों से विभूषित,, उत्तम बल-संपन्न ; स्निग्ध वर्ण और स्निग्ध-गम्भीर वाणीवाले तथा स्थूल, विशाल एवं गोल संधि और विपुल नेत्रोंवाले होते हैं। मज्जसारता दीर्घ आयु, बल, श्रुत (शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से उत्पन्न ज्ञान), सौभाग्य, वित्त, शिल्प, अपत्य और संमान की सूचक होती है।

मज्जा आयुर्वेद-मत से शुक्र धातु की पूर्व धातु है तथा नव्यमत से रक्त के रक्त और क्षत्र कणों का उद्भव-स्थान है यह यहाँ स्मरण किया जा सकता है। मज्जा धातु की पुष्टि और विशुद्धि रहे तो उसके मल की भी पुष्टि समीचीन होती है, जिससे त्वचा, नेत्र और पुरीष स्निग्ध रहते हैं। पुरीष में स्निग्धत्व यथावत् रहे तो तृतीय अवस्थापाक में अग्नि और वायु के द्वारा पुरीष के स्निग्धत्व (स्नेहांश) और क्लेद का पचन (शोषण) होने पर भी ये गुण इतने प्रमाण में शेष रहते ही हैं कि समान और अपान वायु की प्रेरणा से पुरीष और वायु की अनुलोम गति समभाव से होती रहती है। इस प्रकार मल का, विशेषतः वायु का विबन्ध एवं वायु का संचय, वृद्धि, प्रकोप, प्रसर और स्थान संश्रय न होने से शरीर कैसे स्वस्थ रह सकता है इसकी कल्पना की जा सकती है। तात्पर्य––पक्वाशय-रूप उद्भव-स्थान में वायु का प्रशमन होने से वायु अन्यत्र भी प्रशान्त रहता है। पक्वाशय के अनन्तर त्वचा वायु का प्रमुख स्थान है। वहाँ भी मज्जा के स्नेह द्वारा विपरीत-गुण वायु का शमन होता रहने से वह समावस्था में रहता है। स्मरण रहे, त्वचा में स्निग्धता का उत्पादक मल पृथक् है, जो मज्जा का मल है। इसकी विशेष संज्ञा नहीं है। त्वचा की क्लिन्नता (आर्द्रता) और उसके कारण सौकुमार्य एक अन्य मल का कार्य है, जो स्वेद नाम से प्रख्यात है। यह मेद का मल है। आधुनिक क्रिया-शारीर में भी स्वेद और स्नेह की उत्पादक ग्रन्थियाँ पृथक् बताई हैं। स्नेह को सीबम कहते हैं तथा इसकी उत्पादक ग्रन्थियों को सीबेशस ग्लैण्ड्स कहा जाता है।

मज्जा की सारता की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी करनी चाहिए। प्राचीनों ने अस्थिमात्र में स्थित स्नेह को मज्जा कहा है। शिर के अन्तर्गत स्थित मस्तिष्क का भी अन्तर्भाव मज्जा में ही प्राचीनों ने किया है। सो, मज्ज-सारता से मस्तिष्क की सारवत्ता भी गृहीत है। ज्ञान, शिल्प आदि का कारण यह सारवत्ता ही है।

शुक्रसार नाम शुद्ध और पुष्कल शुक्रवाले पुरुष सौम्य (सौम्य स्वभाववाले); सौम्य-जानो दुग्धपूर्ण हों ऐसे––नेत्रोंवाले ; अति हर्ष (काम की इच्छा) वाले ;

श्वेत, स्निग्ध, घन, पुष्ट, सम, दृढ़, वृत्ताकार तथा सुन्दर अस्थि, नख और दन्तावली-वाले ; प्रसन्न और स्निग्धवर्ण एवं स्वर से संपन्न ; दीप्तिमान् ; एवं विशाल स्फिक्-प्रदेश (चूतड़) वाले होते हैं। वे स्त्रियों की तृप्ति में समर्थ, उपभोग-प्रिय, बलवान्, तथा सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, वित्त, संमान और बहुत संतान से अन्वित होते हैं।

शुद्ध शुक्र की पुष्टि पूर्णतया होने पर उसके उपधातु या मल ओज की भी यथावत् पुष्टि होने के कारण ऊपर कहे अनेक परिणाम होते हैं। इस विषय में प्राचीन और नवीन मत से बहुत वक्तव्य पहले (पृ० २२२-२३) पर आ गया है। उसे यहाँ पुनः देखा जा सकता है।

सत्त्वसार नाम सत्त्व अर्थात् मन की किंवा उसके अङ्गभूत सत्त्वगुण की सारता वाले--मनोबल युक्त--पुरुष स्मृतिमान्, भक्तियुक्त, प्राज्ञ, शुद्ध (पूर्वोक्त बाह्याभ्यन्तर शुद्धि-संपन्न), कृतज्ञ, अति उत्साही, शूर, पराक्रमी, विषाद (मनोभङ्ग)-रहित, शीघ्रकारी (दक्ष), धीर, सुव्यवस्थित गति एवं गम्भीर बुद्धि और चेष्टा-वाले तथा कल्याणाभिनिवेशी (कल्याणमय ही कार्यों में अभिरत होनेवाले) होते हैं।

विस्मृति तथा अन्य अवगुण प्रज्ञापराध के अङ्ग कहे गए हैं। इससे स्पष्ट है कि, उनसे रहित सत्त्वसार पुरुष रोगी हो तो उसका रोग साध्य होता है। इसीसे मन की सारता की परीक्षा रोग-परीक्षा में विधेय है। इसी प्रयोजन से तन्त्रकारों ने पृथक् प्रकरण में सत्त्व (मन) की पृथक् परीक्षा का भी विधान किया है। बल-भेद से वहाँ मन के तीन भेद बताए हैं। उनमें प्रवर-सत्त्व (उत्कृष्ट मनोबल-वाले) पुरुष ही यहाँ सत्त्वसार नाम से अभिहित हैं। तीनों सत्त्व-भदों के रोग-परीक्षोपयुक्त पृथक् लक्षण इसी अध्याय में आगे लिखे जाएँगे। यह कह आए हैं कि रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से सत्त्व का सार अधिक उत्कृष्ट है। अनेक जन्मोपार्जित उत्तम मनोबलवाले महापुरुष इसी कारण अपने दुर्बल और रुग्ण शरीर से भी ऐसे कार्य कराते हैं जो प्रायः बलिष्ठ धातुओं वाले पुरुषों से ही संभाव्य माने जाते हैं।

सर्वसार नाम ऐसे पुरुष जिनमें ये सभी सार समुदित हों उनमें अधोलिखित लक्षण पाए जाते हैं।--अत्यन्त बलवत्ता, परम सुख, क्लेशसहिष्णुता, कोई भी कैसा भी कार्य करने में आत्मविश्वास (सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्यया:), कल्याणाभिनिवेशिता (स्व-पर कल्याण के कर्म करने में ही अभिरति) ; शरीर स्थिर (दृढ़) और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों के सहन में समर्थ होना, गति तथा चेष्टाओं की स्थिरता ; स्वर अनुनाद (प्रतिध्वनि)-युक्त, स्निग्ध, गम्भीर

और विशाल होना ; सुख, ऐश्वर्य, धन, भोग और संमान ; वार्धक्य का प्रसर मन्द होना (वार्धक्य का आविर्भाव शीघ्र न होना ; होने के अनन्तर भी उसके दौर्बल्य, कार्श्य आदि लक्षण शीघ्र प्रसृत न होना) ; रोगों के प्रसार की मन्दता ; चिर आयु ; संतति भी प्रायः इन गुणों वाली होना।

प्रत्येक धातु के सार के उक्त लक्षण जिसमें न हों (अल्प हों) उसे उस धातु की दृष्टि से असार कहते हैं। एवं जिसमें लक्षणों का प्रमाण मध्य हो--नाम कुछ लक्षण विद्यमान हों, कुछ न हों ; किंवा प्रायः सब विद्यमान हों तो भी उनकी इयत्ता न्यून हो--उसे मध्यसार कहा जाता है।

सत्त्व या मन[1]

सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकम्[2], आत्मसंयोगात्॥
च० वि० ८।११९

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम्॥[3]
सु० सू० ३५।३७

रोग-परीक्षा में अगला परीक्ष्य सत्त्व है। सत्त्व का अर्थ है मन। आत्मा के संयोग से यह शरीर का धारण (नियमन) और प्रेरण करता है। इस विषय में विशेष ज्ञातव्य आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के प्रकरणों में आ गया है। सत्त्व, रज और तम मनके तीन गुण हैं। इनमें सत्त्वगुण का जैसा प्रमाण होता है उसके अनुसार ही मन का बल होता है। सत्त्वगुण के आधिक्य से पुरुष दुःख, सुख के कारणभूत अभ्युदय एवं शस्त्रकर्म इत्यादि विविध क्रियाओं और तज्जनित पीड़ाओं के प्रसंग पर न ग्लानि (हर्षक्षय) को प्राप्त होते हैं, न हर्ष को। यह निर्विकारता (धीरता) और निर्भयता सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण होती है।

१--स्थल : च० वि० ८।११९ तथा चक्र; सु० सू० ३५। ३७-३८ तथा चक्र और डल्हन।

२--तन्त्रकमिति प्रेरकं धारकं च ॥ चक्रपाणि

३--इस वचन की टीका में सत्व का अर्थ चक्रपाणि और डल्हन दोनों ने सत्वगुण किया है। तथाहि: सत्त्वं मनोबलं गुणविशेषो रजस्तमसोर्विपक्षः। सत्त्वे सति पीड़ादिसहिष्णुत्वलक्षणं मनोबलं भवति--डल्हन। क्रमागत-सत्त्वपरीक्षायां सत्त्वं सत्त्वगुणो मनोगत; तदुत्कर्षान्मनो बलवद्भवति। अविकल्पोऽविकृतत्वं, सुखदुःखहेतौ निर्भयविकारशून्यता अविक्लवः--चक्रपाणि

मन में सत्त्वगुण का प्राधान्य हो, तो उक्त प्रकार से उत्तम मनोबल होता है। रजोगुण का प्राधान्य हो, तो मनोबल मध्यम होता है तथा तम का प्राधान्य हो, तो मन दुर्बल (क्षीणबल) होता है।[1]

सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः॥

सु० सू० ३५।३८

इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के आधिक्य से मन तीन प्रकार का होता है-- सत्त्वप्रधान उत्तम मनोबलवाला या प्रवर सत्त्व ; रजःप्रधान मध्यम मनोबल-वाला या मध्यसत्त्व तथा तमःप्रधान मनोबलहीन या अवरसत्त्व।

इनमें प्रवरसत्त्व वाले (सत्त्ववान्) पुरुषों का ही वर्णन ऊपर सत्त्वसार नाम से किया गया है। ये पुरुष कृश-शरीर हों, तो भी बड़े से बड़े निज किंवा आगन्तु रोगों में भी, अथवा अन्य पीड़ाओं में भी सत्त्व गुण की अधिकता के कारण अविकल हो पीड़ा को अन्दर ही अन्दर (प्रकट किए बिना) सहन कर लेते हैं। प्रतीत ऐसा होता है जैसे उन्हें कोई व्यथा हो ही नहीं। अज्ञ चिकित्सक इन्हें लघुव्याधित मान अल्प उपचार करें तो परिणाम अनिष्ट होता है यह पहले कहा जा चुका है।

मध्यसत्त्व पुरुष आरम्भ में वेदना को सहन नहीं कर सकता, परन्तु जब वह औरों को वेदना सहन करते देखता है, तो उसे भी आत्मविश्वास हो आता है। वह अनुभव करता है कि, यदि यह वेदना सहन कर सकता है तो मुझे भी वेदना सहन करनी ही चाहिए। अथवा उसमें इतना मनोबल तो होता ही है कि अन्य जन उसे धीरज बँधाएँ तो वह व्यथा को सहन कर लेता है।

हीनसत्त्व पुरुष न स्वयं धैर्य धारण कर सकते हैं, न दूसरों के धीरज बँधाने पर। वे विशाल शरीर वाले हों तो भी स्वल्पमात्र वेदना को भी सहन नहीं कर पाते। अल्पमात्र कारण से उनमें भय, शोक, लोभ, मोह, और मान (गर्व) के वेग हो आते हैं। इनमें किसी न किसी का आवेश उसमें प्रायः देखा जाता है। रौद्र, भयंकर, बीभत्स, विकृत या अरुचिकर बातचीत के प्रसंग में भी अथवा पशु या पुरुष के मांस या रुधिर को देख कर भी वे विषाद (मनोभङ्ग, कॉलेप्स), वैवर्ण्य (वर्णनाश, मुख फीका पड़ जाना), मूर्च्छा, उन्माद, भ्रम, प्रपतन (चक्कर खा कर गिर जाना)--इनमें किसी विकार को और कभी तो मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

१--सत्त्वे उत्तमं मनोबलं, रजसि मध्यमं मनोबलं, तमसि मनोदौर्बल्यमेवेति। त्रयमपि श्लोकेन निर्दिशन्नाह-सत्त्ववानित्यादि॥ --डह्लन

हीनसत्त्व पुरुषों को ऐसे प्रसंगों से बचाना चाहिए, जिनसे उल्लिखित परिणाम उत्पन्न होने की संभावना हो। इस प्रकार वे निदान-परिवर्जन रूप चिकित्साङ्ग के उपयुक्त पात्र होते हैं।

बल[1] तथा व्यायाम-शक्ति

बलं व्यायामशक्त्या (विद्यात्)॥ च० वि० ४।८

जो शरीरसाध्य एवं मनोऽनुकूल चेष्टा या कर्म शरीरावयवों को स्थिर (दृढ़) और बलवान् बनानेके प्रयोजन से किया जाता है उसे व्यायाम कहते हैं[2]। इससे शरीर में आयास या श्रम होता है[3]। कोई पुरुष कितना व्यायाम या भारवहनादि कर्म कर सकता है यह देख कर उसमें कितना बल है इसका अनुमान होता है[4]।

बल की परीक्षा का रोग-परीक्षा में बहुत महत्त्व है। एक सुविदित रोग राजयक्ष्मा के उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ।——

चिकित्सास्थान में राजयक्ष्मा की चिकित्सा के प्रकरण में चरकाचार्य ने कहा है——राजयक्ष्मा के त्रिरूप, षड्रूप या एकादश-रूप किसी भी भेद में संपूर्ण लक्षण उदित हो गए हों और साथ ही मांस (भार) और बल का परिक्षय हो गया हो तो रोगी का प्रत्याख्यान (त्याग) कर देना चाहिए। परन्तु सर्व लक्षण विद्यमान होते हुए भी बल और मांस का योग हो——ये उपस्थित हों——तो रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए। तथाहि——

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिंगैर्मांस बलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा[5]॥

च० वि० ८।४७

निदान स्थान में आचार्य ने यह प्रकरण अधिक विस्तार से दिया है। यक्ष्मा के एकादश लक्षणों का निर्देश कर वे कहते हैं——

१——स्थल : सु० सू० ३५।३५–३६ तथा चक्र और डल्हन; च० सू० ११।३६ तथा चक्र; च० वि० ८।१२१; च० शा० ६।१३।

२——देखिये : शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायामसंख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥
च० सू० ७।३१

३——देखिये : सु० चि० २४।३८।

४——देखिये : च० वि० ८।१२१।

५——अन्यथेति बलमांसयोगे सति——चक्रपाणि

अपरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः[1] सर्वैरपि शोषलिंगैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः। बलवानुपचितो हि सहत्वाद्व्याध्यौषधिबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव[2] मन्तव्यः॥ च० नि० ६।१६

जिसके बल, मांस और रक्त का परिक्षय नहीं हुआ है, जो सहज बल से भी संपन्न है एवं जिसमें अरिष्ट अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं वह सब ही लिङ्गों (लक्षणों) से आक्रान्त हो तो भी उसे साध्य ही समझना चाहिए। कारण, बलवान् और उपचित (पुष्ट) पुरुष अपने बल के प्रभाव से रोग तथा औषध दोनों के बल को सहन कर सकता है; अतः भले वह अतिबहुसंख्यक लक्षणों से आक्रान्त हो तो भी उसे अल्प लक्षणाक्रान्त ही मानना चाहिए--नाम, अल्प लक्षणाक्रान्त रोगी के सदृश उसे सुखसाध्य समझना चाहिए। इसके विपरीत--

दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमांसशोणितमल्पलिङ्गमजातारिष्टमपि बहुलिंगं जातारिष्टं च विद्यादसहत्वाद्व्याध्यौषधिबलस्य। तं परिवर्जयेत्। क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्ट प्रादुर्भाव इति॥ च० नि० ६।१७ ४

पुरुष दुर्बल (बलहीन, क्षीण बलवाला) हो तो उसके बल, मांस और रक्त अत्यन्त क्षीण हो चुके होने से, उसमें लक्षण अल्प हों, अरिष्ट भी अभी उत्पन्न न हुए हों तो भी बलहीनता के कारण वह रोग और औषध के बल को सहन नहीं कर सकता; अतः उसे बहुलक्षणवान् तथा अरिष्टयुक्त ही मानना चाहिए। उसका परित्याग कर देना चाहिए--असाध्य होने से उसकी चिकित्सा न करनी चाहिए। कारण, बल, मांस और रक्त का क्षय यही असाध्यता का परम लक्षण है और वह उत्पन्न हो चुका है, अतः अरिष्ट नाम से प्रसिद्ध अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न होने में कोई शङ्का ही नहीं रखनी चाहिए। पुरुष अरिष्टोत्पादक कारण का सेवन न करे, तो अरिष्ट न उत्पन्न होंगे यह भी न समझना चाहिए। कारण, अरिष्टों का उदय कारण के बिना भी (अकस्मात्) हो जाता है।

यहाँ औषध के बल का अर्थ है औषध का वीर्य। जो औषध जिस प्रमाण में देने से रोग के शान्त होने की श्रद्धा चिकित्सक को है, दुर्बल पुरुष उसे सहन नहीं कर सकता। उसके उपयोग से तत्-तत् व्यापत्ति (हानि) उसे हो आती है। औषध का बल सह्य न होने से औषध का उपयोग नहीं हो सकता और रोग की वृद्धि होती जाती है।

१--अपरिक्षीणबलाभिधानेऽपि बलवानिति पदं सहजबलयुक्तत्वोपदर्शनार्थम्। सहजबलो ह्यपक्षीणबलोऽप्यक्षीणबलवद्भवतीति भावः॥--चक्रपाणि

२--अल्पलिङ्ग एवेति अल्पलिङ्ग इव सुखसाध्य इत्यर्थः॥--चक्रपाणि

राजयक्ष्मा के उदाहरण से रोगों के विचार में बल की परीक्षा का सामान्य महत्त्व समझा जा सकता है। अब बल-विषयक अन्य ज्ञातव्यों का निर्देश करते हैं।

बल आरोग्य का कारण है और रोग हुए हों, तो उनके प्रतीकार का हेतु भी बल ही है। अधोलिखित वचनों से बल का यह कर्म स्पष्ट होगा।--

× × अशनं दद्यान्मांसरसेन तु।
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां, बलकृच्च तत्॥

च० चि० ३।१६६

कफ-प्रधान ज्वर की चिकित्सा का प्रकरण है। पूर्व पद्य में कहा है कि, कफ-प्रधान ज्वररोगी में लङ्घन के लक्षण उदित न हुए हों तो दस दिन बीत जाने पर भी, सामान्य नियमानुसार घृत-पान न कराना चाहिए। जब तक पूर्णतया लाघव न आ जाए तब तक कषायों से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। भोजन में रोगी को मांसरस के साथ अन्न देना चाहिए। यह मांसरस कफ-वर्धक होने से अपथ्य है, यह शङ्का हो सकती है। उसका उत्तर स्वयं तन्त्रकार इस पद्य में देते हैं कि--मांसरस बलकारक होता है और बल दोषों का निग्रह करने में समर्थ (उपयोगी) होता है। अतः उसका सेवन उपयुक्त होता है। इस वचन में शरीर की क्षमता (रोग-प्रतिकारक शक्ति) को बल कहा है।

इसके पूर्व इसी अध्याय में ज्वर में लङ्घन का उपदेश कर कहा है कि लङ्घन इतना होना चाहिए कि जिससे बलहानि न होने पाए।--

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥[1]

च० चि० ३।१४१

तात्पर्य, लङ्घन ऐसा और इतना कराए कि वह बल का अतिक्षयकारी न सिद्ध हो। बल की रक्षा का यह विचार इस लिये किया जाता है कि आरोग्य एवं रोग-निवृत्ति का मूल बल ही है और आरोग्य तथा रोग-निवृत्ति के लिए तो यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

इसी अध्याय में आगे कहा है कि शारीर धातु दुर्बल हो जाते हैं, इसीसे जीर्ण ज्वर बना रहता है। इस संप्राप्ति को दृष्टि में रख बल्य और बृंहण (पुष्टिजनन) आहारों का सेवन कराना चाहिए।--

---

१--प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना। विरोधश्चातिक्षयकरत्वेनेहोच्यते। आरोग्यं बलवत एव भवतीति बलाधिष्ठानमारोग्यमुक्तम्॥ --चक्रपाणि

दौर्बल्याद्देह धातूनां ज्वरो जीर्णोऽनु वर्तते।
बल्यैः सबृंहणैस्तस्मादाहारैः समुपाचरेत्॥
च० चि० ३।२९१

बल के प्रकार--

यह बल चाहे शारीर (व्यायाम या कर्म से अनुमेय) हो, चाहे मानस हो (जिसे उत्साह भी कहते हैं) या आरोग्य एवं रोग-निवृत्ति का हेतुभूत हो--तीन प्रकार का होता है। १--सहज या प्राकृत नाम वह जो जन्म से ही धातुओं की समीचीन पुष्टि के कारण होता है। वस्तुतः कई जन जन्म से (स्वभाव से) ही बली देखे जाते हैं और कई दुर्बल। २--कालज--नाम वह जो वयोविशेष किंवा ऋतु-विशेष के प्रभाव से होता है। तारुण्य में एवं हेमन्तादि ऋतुओं में बल अधिक होता है, यह प्रत्यक्ष है। ३--युक्ति कृत बल वह होता है जो मांस, घृत आदि आहार, उचित विश्राम, व्यायामादि विहारों एवं रसायन-योगों की योजना से प्राप्त होता है। (युक्ति=योजना)।

बल का अर्थ क्षमता या रोगप्रतिकारशक्ति लिया जाए तो प्राचीनों के युक्तिकृत बल का कुछ साम्य आधुनिकों की कृत्रिम क्षमता (एक्वायर्ड इम्युनिटी) से देखा जा सकता है। यह क्षमता रोग-विशेष का प्रादुर्भाव होने पर शरीर में उस रोग के विरुद्ध स्वयं उत्पन्न होती है अथवा रोग-विरोधी द्रव्यों की सूची-बस्ति द्वारा प्रविष्ट की जा सकती है। सहज बल का कुछ साम्य सहज क्षमता (कॉन्जेनिटल इम्युनिटी) से देखा जा सकता है।

क्षमता के कारण--

रोगों की अनुत्पत्ति एवं उत्पन्न रोगों के निवर्तन की दृष्टि से क्षमता के कारण-भूत आहार का विचार जानना बहुत उपयोगी है। सात्म्य की परीक्षा के प्रकरण में चरक मुनि ने कहा है--

तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सवरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबला अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति॥
च० वि० ८।११८

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्; क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

जिन पुरुषों को घृत, क्षीर (दूध, विशेषतया गोदुग्ध), तैल और मांसरस एवं मधुरादि सर्व रस सात्म्य हों, नाम सेवन नित्य करते रहने के कारण ये द्रव्य

जिन्हें अभ्यास-सात्म्य (ओक-सात्म्य ; नित्य सेवन के कारण ही अनपायी तथा हितावह) हो चुके हों वे बलवान्, शारीर-मानस व्यथाओं के सहन करने में समर्थ एवं चिरजीवी होते हैं। इसके विपरीत--

जिन पुरुषों को रूक्ष द्रव्य किंवा और एक ही रस सात्म्य हो ; तात्पर्य स्निग्ध, गुरु, बृंहण एवं षडसात्मक आहार नित्य सेवन न करने के कारण ही जिन्हें असात्म्य हो--इनका सेवन किया जाए तो जिन पुरुषों में उनकी व्यापत्तियाँ (हानियाँ) उत्पन्न हो जाएँ--वे प्रायः अल्पबलवाले, अल्प क्लेश-सहिष्णु, अल्प-आयु एवं अल्प औषधों वाले होते हैं। इन्हें अल्प औषधवाला कहने का तात्पर्य यह है कि बल न्यून होने के कारण ही ये अधिकांश औषधों के बल (वीर्य) के सहन करने में असमर्थ होते हैं। परिणामतया, उन्हें सब औषध दी नहीं जा सकती। इसी कारण यहाँ उन्हें 'अल्प भेषज' कहा है।

जिन पुरुषों को कुछ द्रव्य बलकर प्रथम वर्ग के और कुछ पिछले बलक्षयकारी वर्ग के सात्म्य हों वे मध्यबल होते हैं।

इस प्रसंग में ऊपर दिए सूत्र स्मरण किए जा सकते हैं, जिनमें कहा है कि सर्व रसों का अभ्यास (सतत सेवन) बलकर भावों में सर्वोपरि है, एवं एक रस का अभ्यास दौर्बल्यकर भावों में। क्षीर तथा घृत का अभ्यास (सतत सेवन) रसायन उपचारोंमें श्रेष्ठ है। आचार-रसायन के प्रकरण में भी एक विशेषण इसी आशयका दिया गया है--नित्यं क्षीरघृताशिनम्--(च० चि० १ ; पाद ४।३०-३५)।

क्षीर, घृत और मांसरस को आयुर्वेद में ओज का वर्धक कहा है, तथा इस ओज को बल का कारण किंवा स्वयं बल कहा गया है। नव्यमत से ये द्रव्य विटामिन 'ए' के आश्रय कहे जा सकते हैं। विटामिन 'ए' शरीर का उपचय तथा क्षमता की पुष्टि करता है। ये द्रव्य प्रोटीन की भी पूर्ति करते हैं और प्रोटीन क्षमता में उपयोगी द्रव्यों (एण्टी-बॉडीज) का निर्माण करती हैं।

सर्वरसाभ्यास का नव्य-मत से विचार करें तो प्रोटीन, खनिज द्रव्य, विटामिन आदि समस्त द्रव्यों का सम प्रमाण सर्वरसाभ्यास का फलितार्थ होता है। आयुर्वेद में समस्त रसों के साम्य का विचार आहार-प्रकरण में किया गया है। अरोग-काल एवं रोग-काल दोनों में रसों की दृष्टि से आहार का विचार अत्यन्त व्यवहार्य और सर्वग्राही है। आयुर्वेद की यह दोष-परक शुद्ध दृष्टि छोड़ कर आप्त लेखक भी आहार के प्रकरण में प्रोटीन आदि का ही विचार करते हैं। यत्सत्यं, रस-गुण आदि की दृष्टि से आहार का विचार किया जाए तो विचार अधिक पूर्ण तो होता ही है, साथ ही सर्वरसों का सम प्रमाण में ग्रहण करने से प्रोटीन आदि नव्योक्त द्रव्यों के साम्य की रक्षा भी स्वयमेव हो जाती है, यह स्मरण रखना चाहिए।

रसों में भी मधुर रस सर्वोपरि बलावह है तथा कषाय सबसे न्यून। रसों का सामान्य निर्देश करते वाग्भट कहता है--

रसाः स्वाद्वम्ललवण तिक्तोषण कषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥

अ० सं० सू० १; अ० हृ० सू० १।१४

+ × तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः, कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्य बलावहः॥ अरुणदत्त

मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छः रस द्रव्यों में स्थित होते हैं। इनमें उत्तर-उत्तर रस की अपेक्षया पूर्व-पूर्व रस अधिक बलदायक होता है।

मधुर रस तथा तत्सहचारी गुण शरीर के बल के प्रधान हेतु ओज एवं श्लेष्मा को परिपुष्ट करने में सर्वोत्तम होते हैं। इसीसे वाग्भट ने ऊपर मधुर रस को सर्वोपरि बलावह कहा है। ओज की वृद्धि करनेवाले द्रव्यों को लक्ष्य कर काश्यप-संहिता में कहा है--

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद् बालांस्तथाऽऽशयेत्॥

का० सू० २७।१६

अर्थात्--मधुर, स्निग्ध, शीत, लघु और प्रकृति आदि की दृष्टि से हितकर द्रव्य ओज के वर्धक होते हैं। बालकों को उनका सेवन सविशेष कराना चाहिए।

ओज और श्लेष्मा बल के परम हेतु होने से उन्हें बल यही नाम तन्त्रकारों ने दिया है। उदाहरणतया एक-दो प्रसिद्ध वचन प्रस्तुत करता हूँ।--

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तदेव बलमित्युच्यते॥

सु० सू० १५।१६

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये × × ॥

च० सू० १७।११७

बल और दौर्बल्य के हेतु--

भिषक् कर्म की दृष्टि से ज्ञातव्य बल और दौर्बल्य के प्रमुख कारण ऊपर आ ही गए हैं। तथापि प्रकरण-पूर्ति के लिए तन्त्रकारों ने जो कारण गिनाए हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक होने से किया जाता है--

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा--बलवत्पुरुषे देशे जन्म बलवत्पुरुषे काले च, सुखश्च कालयोगः बीजक्षेत्रगुणसंपच्च,

आहारसंपच्च, शरीरसंपच्च, सात्म्यसंपच्च, सत्त्वसंपच्च, स्वभाव-संसिद्धिश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति ।। च० शा० ६।१३

बल की वृद्धि के कारण अधोलिखित हैं--सिन्धु देश (सिन्धु नदी के उस ओर का प्रदेश) आदि ऐसे देशों में जन्म जिनमें देश के प्रभाव से ही पुरुष बलवान् होते हैं ; (इन देशों में निवास भी बलकारक होता है) ; हेमन्त, शिशिर आदि ऐसे काल (ऋतु) में जन्म होना, जिसके विसर्ग-काल होने से स्वभावतः शरीर बल-संपन्न रहता है ; ऐसा काल, जिसमें ऋतुओं के अयोग, अतियोग या हीनयोग के लक्षण न हों ; बीज और क्षेत्र नाम क्रमशः पुंबीज और स्त्रीबीज तथा गर्भाशय की संपत्ति--उनमें प्रशस्त गुणों की विद्यमानता ; आहार-संपत्ति--आहार का प्रकृति आदि की दृष्टि से संपूर्ण-गुणान्वित होना ; सत्त्वसंपत्ति--मनोबल ; स्वभाव नाम पूर्वजन्मोपार्जित कर्म की सिद्धि अर्थात् उसका बल-हेतु होना ; यौवन ; व्यायाम तथा भार-वहनादि शारीरिक कर्म (श्रम) ; संहर्ष (मन प्रसन्न रहना) ।

दौर्बल्यं[1] तु स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम् । यस्माद् बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद् बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ।

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः ।
तस्मात् स्थिरत्वं व्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ।।

सु० सू० ३५।३५-३६

इसके विपरीत दौर्बल्य या बलक्षय स्वभाव नाम माता, पिता, शुक्र (पुंबीज) या शोणित (स्त्रीबीज) के दौर्बल्यकारक स्वभाव से, वातादि दोषों से धातुओं का क्षय होने से, एवं वार्धक्य, काल आदि कारणों से होता है ।

जैसा कि पहले कह आए हैं कई पुरुष कृश (पतले) होते हुए भी बलवान् होते हैं और अन्य स्थूल (मोटे) होने पर भी अल्पबल । अतः केवल शरीर का परिणाह (वैपुल्य) देख कर बलाबल की परीक्षा न करनी चाहिए । किंबहुना, यह बल हो तो ही पुरुष सर्व क्रियाओं का संपादन कर सकता है, अतः बल ही पुरुष के सर्व करणों (साधनों) में प्रधान है ।

बलानुसार औषध-योजना--

प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्यानां भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन बलविशेषं विभजेत् । विकृतिबलत्रैविध्येन तु दोषबलं त्रिविधमनु-

---

१--दौर्बल्यं बलमेव क्षीणमुच्यते ।। --चक्रपाणि

मीयते। ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति ॥ च० वि० ८।१२३

रोगी की परीक्षा करते हुए चरक ने जिन दश भावों की परीक्षा का विधान किया है उनमें विकृति या रोग को छोड़ शेष नव नाम प्रकृति, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार-शक्ति, व्यायाम-शक्ति और वय इनसे रोगी पुरुष के बल का प्रमाण या तारतम्य जाना जा सकता है। इनका मिलित बल जैसा होगा उसके अनुसार ही रोगी का बल (शारीर-मानस श्रम करने एवं अनुत्पन्न तथा उत्पन्न रोगों का प्रतीकार करने का सामर्थ्य) होता है। विकृति या रोग के बल के प्रवरादि भेदानुसार रोगारम्भ के दोष का प्रमाण--नाम, उनका बल प्रवर, मध्य या अवर किस प्रकार का है यह--जाना जाता है। पुरुष तथा दोष दोनों के बल का तारतम्य जान कर तदनुसार तीक्ष्ण, मृदु या मध्य जिस प्रकार का औषध देना योग्य हो उसका निर्णय कर अवचारणा (योजना) करे।

सात्म्य या उपशय[1]

सात्म्य या उपशय तथा असात्म्य या अनुपशय का कुछ विचार ऊपर बल की परीक्षा के प्रकरण में किया है; विशेष विचार निदान-पञ्चक के अधिकार में किया जाएगा। शेष किंचित् विचार यहाँ करते हैं।--

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः। तत्त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन। सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसं, मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम् ॥ च० वि० १।२३

सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यमित्यथः × × ॥ चक्रपाणि

सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते ॥ च० वि० ८।११८

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥

सु० सू० ३५।३९।४०[2]

१--स्थलः च० वि० १।२२-२३-च० वि० ८।११८; च० सू० ६।४९-५० सु० सू० ३५।३९-४० तथा इनपर डल्हन-चक्रपाणि

२--अर्थ की स्पष्टता के लिए इन बचनों पर डल्हन और चक्रदत्त की टीकाएँ द्रष्टव्य है।

जिस द्रव्य, औषध, देश, व्यायाम इत्यादि के सेवन से पुरुष को अनुबन्ध में सुख की प्राप्ति हो उसे उसके लिए सात्म्य या उपशय कहा जाता है। इसके विपरीत जिसके सेवन से अनुबन्ध में दुःख का अनुभव हो वह उस पुरुष के लिए असात्म्य या अनुपशय होता है।

सुख-दुःख शब्दों से यहाँ आयुर्वेद-प्रसिद्ध अर्थ आरोग्य-अनारोग्य गृहीत हैं। तात्पर्य, जिस आहार-विहारादि के सेवन से पुरुष स्वस्थ हो तो अनुत्पन्न रोग उत्पन्न न हो, उसका आरोग्य तथा बल स्थिर रहे और यदि वह रुग्ण हो तो जिसके सेवन से उसका रोग निवृत्त हो जाए उसे सात्म्य कहते हैं।

लक्षण में दिये अनुबन्ध शब्द का अर्थ अनन्तर काल है। कई द्रव्यादि, यथा ज्वर में शीत जल का सेवन, तत्काल तो सुख देते हैं पर अन्त में उनका फल अनारोग्य ही होता है।

स्वरूप-भेद से यह सात्म्य अनेक प्रकार का होता है। उसका उदाहरण पीछे-से देंगे। पुरुष की प्रकृति के भेद से सात्म्य के दो प्रकार होते हैं। कई आहार द्रव्य, औषध-द्रव्य आदि प्रकृति से ही पुरुष को सुखकर या अनुकूल होते हैं। इनका सेवन यथावत् करने से पुरुष को कोई अपाय नहीं होता, प्रत्युत स्वास्थ्य तथा बल की स्थिरता ही रहती है। परन्तु कई द्रव्य आदि ऐसे होते हैं जो किसी के लिए प्रकृति से (जन्म आदि से) विरुद्ध होते हैं--उनके सेवन से हानि होने की निश्चिति होती है। परन्तु उनका निरन्तर सेवन किया जाए तो वे पुरुष को कोई बाधा नहीं पहुँचाते। देखा जाता है कि चाय, अफीम, गाँजा, सोमल आदि की बड़ी मात्रा से भी कइयों को कुछ हानि नहीं होती। अवश्य ही उन्होंने जब इनका आरम्भ किया होगा तो इनकी स्वल्प मात्रा से भी उन्हें हानि हुई होगी अथवा उसकी संभावना रही होगी। परन्तु ये द्रव्य अभ्यास या सतत-सेवन से इन्हें सात्म्य हो जाते हैं। सात्म्य के इस प्रकार को ओकसात्म्य कहा जाता है। इसमें ओक का अर्थ है अभ्यास।

ओकसात्म्य जानने की आवश्यकता अनेक कारणों से होती है। इनमें एक औषध का निर्धारण है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ। किसी को अहिफेन सात्म्य हो, उसे अतिसार, प्रवाहिका या ग्रहणी हो जाएँ तो औषध रूप में अहिफेन देने से कुछ परिणाम न होगा। उसके लिए अन्य ही योजना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार मद्यप को हुए स्रोतोरोध में आसव, अरिष्ट वैसे गुणकारी न सिद्ध होंगे।

अभ्यास से अमुक वस्तु किसी को सात्म्य हो गई है, इसीसे वह उसके लिए अब भी सेवनीय है यह नहीं मानना चाहिए। उसका परित्याग करना ही चाहिए। परन्तु यह परित्याग भी क्रमशः होना चाहिए। सात्म्य वस्तु का सहसा त्याग

अनर्थकारी होता है। सात्म्य अहित वस्तु के समान, हित वस्तु का पुरुष सेवन न करता हो और उसका उसे सेवन कराना हो, तो वह भी क्रमशः होना चाहिए। इस विषय का कुछ अधिक विचार आगे करेंगे।

ओकसात्म्य का विचार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान वैद्य रोग-परीक्षा करते हुए जिस व्यसन का विचार करते हैं वह यह नहीं है। ओकसात्म्य, जैसा कि नाम से सूचित है, पुरुष-विशेष को अभ्यासवश अनुकूल हो चुका होता है। व्यसन इस प्रकार सात्म्य या सुखावह नहीं होता। इसीसे निदान-परिवर्जन को दृष्टि में रख कर प्रश्न-परीक्षा द्वारा व्यसन का जानना आवश्यक समझा जाता है। व्यसन का विचार प्राचीनों ने किस नाम से किया है, यह अन्वेषणीय है। आज तो हमने यह नवीनों के 'हेबिट' के भाषान्तर के रूप में ग्रहण कर लिया है।

स्वरूप-भेद से सात्म्य और ओकसात्म्य के अनेक प्रकार होते हैं। उदाहरण-सहित उनका निर्देश किया जाता है।--

१--देशसात्म्य--देश शब्द आयुर्वेद में दो अर्थों में प्रसिद्ध है--जङ्गल आदि किंवा भारत, गुजरात, बंगाल आदि भूमि तथा आतुर-शरीर। दोनों की दृष्टि से सात्म्य के उदाहरण ये हैं। आतुर-शरीर के लिए सात्म्य द्विविध होते हैं--एक समुदाय या सर्वाङ्ग के लिए सात्म्य तथा द्वितीय अवयव या अङ्गविशेष के लिए सात्म्य। मधुर रस सर्वधातुओं की--सर्वशरीर की--वृद्धि करता है। यह सर्वाङ्ग के सात्म्य का उदाहरण है। चक्षुष्य, केश्य, कण्ठ्य आदि द्रव्य अवयव-सात्म्य के उदाहरण हैं। भूमि-सात्म्य भी इसी रीति से समुदाय-भेद तथा एक देश-भेद से दो प्रकार का होता है। समुदाय-रूप भूमि में सात्म्य का उदाहरण यह है--जाङ्गल देश में जो आहार और आचार प्रचलित होते हैं वे आनूप देश में सात्म्य नहीं होते। (आनूप में प्रकृति आदि की दृष्टि से उष्ण-रूक्ष द्रव्यादि ही सात्म्य होते हैं)। देश के अवयव का उदाहरण यह है--बाह्लीक, पल्लव, चीन आदि में माष, गोधूम, माध्वीक (मध्वरिष्ट) आदि सात्म्य होते हैं।

२--कालसात्म्य। ३--जातिसात्म्य--मनुष्य-जाति को शालिधान्य आदि सात्म्य होते हैं। पशु-पक्षियों को तृण (घास), पतङ्ग (कृमि-कीट) आदि सात्म्य होते हैं। (अग्निपक्व अन्नपान अनेक सहस्र वर्षों से मनुष्यों को सात्म्य हो चुका है। विरूढ़ (अंकुरित) धान्य, फल आदि उतने सात्म्य नहीं। जिन्हें इनका सेवन आरम्भ करने की आकांक्षा हो उन्हें इसी कारण पक्व अन्न का क्रमशः वर्जन तथा अपक्व अन्न का क्रमशः सेवन करना योग्य होता है; सहसा नहीं।)

४--ऋतु-सात्म्य--ऋतुचर्योक्त अन्नपान, विहार आदि ऋतु-सात्म्य कहाते हैं।

५--रोग-सात्म्य--जिस रोग में जो वस्तु हितावह होती है वह उस रोग से पीड़ित रोगी के लिए सात्म्य होती है ; यथा--गुल्मी को क्षीर (दूध), उदावर्ती को घृत, प्रमेही को क्षौद्र (मधु) इत्यादि।

६--व्यायाम सात्म्य--व्यायाम कर्म एवं श्रम कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से त्रिविध होता है।

७--आहार-सात्म्य। ८--दिवास्वप्न; ९--जागरण इत्यादिका सात्म्य।

चक्रपाणि ने सुश्रुत-वचन की टीका में सात्म्य के प्रकृति-सात्म्य और ओक-सात्म्य ये दो शास्त्रानुसारी भेद दर्शा कर संक्षेप में उनके पाँच भेद ये बताए हैं--देशसात्म्य, जातिसात्म्य, ऋतुसात्म्य, रोगसात्म्य तथा ओकसात्म्य। सुश्रुतोक्त सात्म्य-विभाग को इन पाँच चरकोक्त विभागों में ही उसने समावेश किया है। ऋतुचर्या के निर्देशानन्तर महर्षि कहते हैं।--

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।
उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं तदुच्यते॥

च० सू० ६।४९

चेष्टा (विहार) और आहार के रूप में ऋतुसात्म्य का उल्लेख किया गया। उसके प्रसंग से ओकःसात्म्य का भी लक्षण बता दिया। निरन्तर अभ्यास से जैसे आशीविष सर्प का विष उपघातक नहीं होता वैसे ही अपथ्य भी कालान्तर में पुरुष को सात्म्य हो जाता है। प्राचीन वाङ्मय में आई विषकन्या को भी यहाँ उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। आधुनिकों ने इस विषय का विचार अर्जित सहिष्णुता (एक्वायर्ड टॉलरेन्स) के नाम से किया है। जो द्रव्य आरम्भ में स्वल्प मात्रा में भी स्पष्ट हानि पहुँचाने में शक्तिमान् थे वे क्रमशः वृद्धिगत मात्रा में भी क्यों विशेष क्षति नहीं करते इसके कतिपय कारणों की संभावना की जाती है। १--द्रव्य का त्वरित निर्हरण ; २--न्यून शोषण (यथा मल्लका) ३--विष का नाशन (यथा, अहिफेन-सत्त्व का) ; ४--किसी प्रतिविष (एंटी-टॉक्सीन) का प्रादुर्भाव ; ५--विष को किसी अहानिकर रूप में परिणत करने की शरीर में उत्पन्न हुई शक्ति।

ऋतु सात्म्य तथा ओकःसात्म्य का निर्देश कर आगे महर्षि चरक कहते हैं--

देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च॥

च० सू० ६।५०

अनूपादि देशों एवं रोगों के जो स्नेह, गौरव आदि गुण होते हैं, उनसे विपरीत रौक्ष्य, लाघव आदि धर्म (गुण, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) से युक्त जाङ्गल मांस, मधु आदि आहार एवं औषध द्रव्य तथा व्यायाम, निद्रा, अभ्यङ्ग प्रभृति विहार होते हैं। उन्हें भी सात्म्य (देशसात्म्य तथा रोगसात्म्य) कहा जाता है। टीका में चक्रपाणिदत्त कहते हैं कि--आमय (रोग) शब्द से आमय-हेतु का भी यहाँ ग्रहण है। एवं प्रभाव से विपरीत तदर्थकारी आहार, विहार और औषधों का भी ग्रहण है। इस प्रकार संप्राप्ति के अन्तर्गत उपशयानुपशय के प्रकरण में जो विचार किया है उसका यहाँ सात्म्य नाम से संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

पूर्वोद्धृत सु० सू० ३५।३९-४० की टीका में चक्रपाणि कहता है कि--सात्म्य के लक्षण में कहे देशसात्म्य आदि सात्म्य चरकोक्त देशसात्म्य, जातिसात्म्य (?) ऋतुसात्म्य तथा रोगसात्म्य के ही अन्तर्गत हैं। ओकःसात्म्य का निर्देश 'जन्मतः विरुद्ध होते हुए भी जो कष्ट न पहुँचाएँ' इन शब्दों में सुश्रुत ने किया है।

ओकसात्म्य के त्याग का नियम[1]--

उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत॥

च० सू० ७।३६

अहित आहार, विहार आदि अभ्यास से सात्म्य हो गया हो तो भी वह है तो अहित ही। उसका त्याग करना ही चाहिए। इसी प्रकार हित आहार-विहार आदि का अभ्यास न हो तो उन्हें अभ्यास से सात्म्य बना कर शरीर और मन को उनके गुणों का लाभ प्राप्त कराना चाहिए। अहित अभ्यस्त (उचित) का त्याग और अनभ्यस्त हित का सेवन सहसा न करके क्रमशः करना चाहिए। अन्यथा, सहसा परिवर्तन से रोग अथवा मृत्यु भी हो सकती है। तन्त्रकारों ने कहा है कि अहित सात्म्य का चतुर्थांश या षोडशांश प्रति दिन छोड़ना चाहिए और उतना ही भाग हित अनभ्यस्त द्रव्य का आहार में बढ़ाना चाहिए। बीच-बीच में एक-दो दिन नये परिवर्तन के बिना अन्नपान लेना चाहिए। इस विषय का विवरण उक्त स्थलों की टीकाओं में तथा स्वस्थवृत्त के ग्रन्थों में जिज्ञासुओं को देखना चाहिए। रोगावस्था में आहार में द्रव्य-विशेष के समावेश और परित्याग के क्रम का महत्त्व च० चि० १४।७१-८८ में अर्श की चिकित्सा में तक्र की सेवन-विधि के अधिकार में देखा जा सकता है।

१--स्थल : च० वि० १।२३; च० सू० ७।३६-३८ तथा चक्र० : सु० चि० २४।९७ तथा डल्हन।

गुणवत्ता की दृष्टि से सात्म्य के भेद--

गुणवत्ता की दृष्टि से सात्म्य के तीन भेद किए जाते हैं--प्रवर, अवर और मध्य। सर्वरस सात्म्य प्रवर कहाता है, एकरस अवर (निष्कृष्ट) तथा दो से पाँच रस पर्यन्त आहार का सात्म्य मध्य कहा जाता है। सर्वरस-सात्म्य आहार के सेवन में भी स्वस्थवृत्ताधिकारोक्त प्रकृति आदि आठ का विचार करना ही चाहिए।

वय की परीक्षा[1]

कालकृत शरीर की अवस्था को वय कहते हैं। अवस्था या उम्र या आयु (अंग्रेजी में एइज) नाम से यह प्रसिद्ध है। परन्तु आयु शब्द का शुद्धार्थ जीवन-काल है, जिसे अंग्रेजी में लाइफ कहते हैं। आयु शब्द का इस शुद्धार्थ में व्यवहार आयुर्वेद का विषय है। इसका विचार इसी प्रकरण में आगे किया भी जाएगा। उस अर्थ के लिए आयु शब्द को रक्षित रख कर अवस्था या उम्र के लिए वय शब्द का व्यवहार करना और बढ़ाना चाहिए। गुजराती और मराठी में यही शब्द प्रचलित है।

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशत-जीविनोऽपि मनुष्याः (च० शा० ६।२९ ; च० वि० ८।१२२)। --अपने काल को लक्ष्य कर महर्षि चरक कहते हैं--वर्तमान काल में आयु का (सर्वसामान्य) प्रमाण सौ वर्ष है। इससे न्यून वा अधिक वर्ष जीनेवाले भी पुरुष उपलब्ध होते ही हैं। चरक ने तो स्पष्ट ही इस आयु को समक्ष रख कर वय की अवस्थाएँ बताई हैं। अन्यों ने भी इसी प्रमाण का अनुसरण किया है। विस्तार में चरक और सुश्रुत में स्वल्प भेद है।

आयु के स्थूल भेद तीन हैं--बाल्य (बाल), मध्य और वृद्ध (जीर्ण)। सोलह वर्ष के पूर्व तक का वय बाल्य कहा जाता है। चरक ने बाल के दो भेद किए हैं। अन्यों ने जिसे बाल कहा है वह चरक के दो प्रकार के बालों में प्रथम प्रकार है। आगे सुश्रुत ने मध्य वय के तीन भेद कर उसका जो प्रथम भेद बताया है वह चरक का द्वितीय प्रकार का बाल है। इतना शाब्दिक भेद देख कर अब प्रत्येक का लक्षण देखते हैं।

तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम्॥ च० वि० ८।१२२

१--स्थल : च० वि० ८।१२२ तथा चक्र० ; सु० सू० ३५।२९-३२ तथा डल्हन ; अ० सं० शा० ८ ; अ० हृ० शा० ३।१०५ तथा अरुण।

वयस्त्वाषोडशाद् बाल्यं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिः × × ॥

अ० हृ० शा० ३।१०५

(श्लेष्मोद्रेकात्) बालस्य स्नेहमार्दवसौकुमार्याल्पक्रोधत्व-सौभाग्यानि भवन्ति ॥

अ० सं० शा० ८

आयु के आरम्भिक पन्द्रह वर्ष, जिनमें श्लेष्मधातु का आधिक्य होता है, बाल्य वय कहे जाते हैं। इसमें रस-रक्तादि धातुओं; ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन इन त्रिविध इन्द्रियों और सर्वधातुओं का आप्यायन (तर्पण, पोषण) करनेवाले ओज की वृद्धि होती है। इस काल में धातुओं का परिपाक या विकास संपूर्ण नहीं हो जाता। इसीसे चरक ने इसे अपरिपक्वधातु बाल कहा है। धातुओं के परिपक्व न होने से बाल का बल भी संपूर्ण पुष्ट नहीं होता। क्लेशों के सहन में वह अक्षम होता है। श्लेष्मा के आधिक्य से उसमें स्निग्धता, मृदुता, सुकुमारता, सौभाग्य (सौन्दर्य) और क्रोध की अल्पता--ये गुण विशेष होते हैं। व्यञ्जन (लिङ्ग के द्योतक श्मश्रु आदि चिह्न; सेकण्डरी सेक्स केरेक्टर्स) इसमें उत्पन्न नहीं होते।

प्रथम वय के तीन भेद किए जाते हैं--क्षीराद (क्षीरप), क्षीरान्नाद तथा अन्नाद। कोई एक वर्ष तक का बाल, जो माता या धात्री के क्षीर (स्तन्य) पर निर्वाह करता है, उसे क्षीराद कहते हैं। कोई दो वर्ष तक क्षीर और अन्न दोनों पर वृत्ति (निर्वाह) करनेवाले बालको क्षीरान्नाद कहते हैं। इसके पश्चात् बाल केवल अन्नवृत्ति होने से अन्नाद कहा जाता है। बाल्य वय के ये तीन भेद करने का प्रयोजन बताते लघु वाग्भट कहते हैं।--

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः ।
स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोगसंभवः ॥

अ० हृ० उ० २।१

बाल का स्वास्थ्य तभी स्थिर रह सकता है जब उसके आहारभूत स्तन्य एवं अन्न दोषों के प्रकोपक न हों। वे ही दोषों को विषम करनेवाले हों तो रोगों की संभावना होती है। इसी कारण क्षीराद बालक को कोई रोग हो तो उसकी परीक्षा में माता के स्तन्य की दुष्टि की परीक्षा का विधान कौमारभृत्यों ने किया है। निदान की शुद्धि की दृष्टि से स्मरण रखना चाहिए कि माता के शरीर में दोष की दुष्टि का प्रमाण कभी इतना भी हो सकता है कि उससे उसके शरीर में कोई व्यक्त रोग हुआ पाया जाए। परन्तु कभी उसका प्रमाण इतना स्वल्प

भी हो सकता है कि माता के शरीर में कोई व्यक्त रोग न हो, परन्तु इतनी भी दोष-दुष्टि बाल के लघु और सुकुमार शरीर में रोगोत्पत्ति करने में समर्थ हो। यथा, पित्त का प्रकोप माता के देह में कदाचित् इतना ही हो कि उसे मुखपाक हुआ हो, कदाचित् मुखपाक भी इतना ही हो कि वह कटु या उष्ण स्पर्श वस्तु मुख में रख सके, परन्तु इतना भी वैषम्य बाल में ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त रोगों को उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होता है। इस प्रकार की सूक्ष्म परीक्षा कर माता की भी चिकित्सा की जाए तो वह मूलोच्छेदिनी होती है। अर्थकरी तो होती ही है।

अब अगला वयोविभाग देखिए।--

सत्रह से सत्तर के मध्य में (उनहत्तर वर्ष पर्यन्त) मध्य वय होता है। उसके भेद चार होते हैं--वृद्धि, यौवन, संपूर्णता और परिहाणि। इनमें सत्रहवें से बीसवें वर्ष तक वृद्धिकाल होता है; तीस तक यौवन; चालीस वर्ष तक सर्वधातुओं, इन्द्रियों, बल एवं वीर्य की संपूर्णता जिसमें होती है वह संपूर्णता-संज्ञक काल होता है। इसके अनन्तर सत्तरवें वर्ष पर्यन्त धातुओं, इन्द्रियों, बल और वीर्य की सर्वतोभाव से कुछ-कुछ हानि (ह्रास) होती है। इसे परिहाणि ही नाम दिया है। वृद्धि-काल में शरीरावयवों का प्रमाण जितना बनना होता है, बन जाता है। संपूर्णता के काल में उनकी पुष्टि (भराव) होती है। डल्हण कहता है--संपूर्णतेति वृद्धानामवयवानाम् आप्यायनं संपूर्णता।

सुश्रुतोक्त वृद्धि और यौवन का उल्लेख बाल के ही द्वितीय भेद विवर्धमान-धातु बाल नाम से करते चरकाचार्य कहते हैं--

विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्॥
च० वि० ८।१२२

अर्थात्--तीस वर्ष पर्यन्त धातुओं के गुण (एवं उनके कारण स्वयं धातु) उत्तरोत्तर वर्धमान होते हैं और इसमें पुरुष का सत्त्व (मन) अस्थिर रहता है।

सुश्रुत ने जिन्हें वृद्धि और यौवन का काल कहा है उनकी गणना बाल नाम से करते हुए भी चरक को यह अभिप्रेत नहीं है कि, इस द्वितीय बाल पर भी औषध की मात्रा आदि सम्बन्धी परिभाषाएँ लागू की जाएँ, जिनका बाल के लिए विधान तन्त्रकर्ताओं ने किया है। चक्रपाणि ने टीका में स्पष्ट कहा है--षोडश-वर्षीयो हि बालोऽल्पमृदुभेषजोपचर्यत्वादिना शास्त्रे वक्तव्यः। तदूर्ध्वं बालोऽपि नाल्पभेषजत्वादिना तथोपचर्यते इस प्रकार संज्ञा-भेद होते हुए भी व्यवहार में आचार्यों में कोई मत-भिन्नता नहीं है।

मध्य वय के शेष दो विभागों का उल्लेख चरक ने मध्य नाम से ही किया है। भेद केवल यह है कि उसने इसकी मर्यादा साठ वर्ष तक बताई है। सुश्रुत का मत

हमने ऊपर दिया है, जिसमें मध्य वय सत्तर वर्ष पर्यन्त बताया गया है। परन्तु टीकाकार डल्हनने कहा है कि यहाँ कोई लेखक साठ वर्ष की मर्यादावाला पाठ भी देते हैं—'यावत् सप्ततिः' इत्यत्र स्थाने 'यावत्षष्टिः' इति केचित् पठन्ति। यह पाठान्तर प्रतीयमान मतभेद को भी नामशेष कर देता है। अब इस मध्य वय का स्वरूप चरक के पदों में देखिये—

मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम् ॥ च० वि० ८।१२२

तस्मिन् (मध्ये वयसि) पित्तोद्रेकः। तेन दीप्ताग्निता, प्रज्ञापरिपाको व्यवसायश्चेति ॥ अ० सं० शा० ८

मध्य वय साठ वर्ष पर्यन्त होता है। इसमें पुरुष के बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण (स्मरण), वचन (मनोगत बात को व्यक्त करने की शक्ति; भाषण की पटुता), विज्ञान एवं सर्व इन्द्रियों और धातुओं के गुण (सर्वधातुएँ) समत्व को प्राप्त हो जाते हैं। बल भी स्थिर हो जाता है; मन भी अचपल (समाहित) हो जाता है (अनुभव आदि से बुद्धि का विकास पूर्ण हो जाता है। पुरुष शीघ्र उचित निर्णय पर आने में समर्थ हो जाता है)। धातुएँ भी ह्रास रहित होकर, उनकी जो पुष्टि हो गई थी वह स्थिर रहती है। इस वय में पित्त का उद्रेक (प्राधान्य) रहता है। इसीसे इसमें अग्नि की दीप्ति, प्रज्ञा का परिपाक और व्यवसाय (बुद्धि की स्थिरता) रहती है।

पित्तके स्वभावगत गुणों से अग्निदीप्ति तथा पूर्वोक्त अन्य गुण मध्य वय में होते हैं, यह अभी कहा है। स्त्रियों का देह आर्तव-विशिष्ट होता है। यह आर्तव भी पित्त के समान आग्नेय होता है। इसी कारण आर्तव-दर्शन काल के अनन्तर कन्याओं की बुद्धि आदि का परिपाक समान वय के पुरुष बालों की अपेक्षया अधिक होता है, यह प्रत्यक्ष देखते हैं।

सत्तर अथवा साठ वर्ष के अनन्तर सौ वर्ष पर्यन्त के वय को वृद्ध (जीर्ण) कहा जाता है।

अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम् ॥ च० वि० ८।१२२

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥

सु० शा० ३५।२९

वृद्धं तु श्वः श्वः क्षीयमाणधात्विन्द्रियादिगुणं वलीखलितकासश्वासाग्निसादादिभिरभिभूयमानं जीर्णं भवनमिवाभिवृष्टमवसीदति। तस्मिन् मारुतोद्रेकः तेन श्लथासारमांससंध्यस्थिता त्वक्पारुष्यमवनामः कायस्य वेपथुः कासश्वासश्लेष्मसिंघाणकोदीरणं धातुक्षयश्च ॥ अ० सं० शा० ८

वृद्ध या जीर्ण वय में दिन-प्रतदिन पुरुष के धातुओं और इन्द्रियों तथा बल वीर्य, उत्साह, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान का ह्रास होता जाता है। वायु का इस वय में उद्रेक होता है, जिसके कारण त्वचा में परुषता और वलियाँ, खालित्य, पालित्य; मांस, संधि एवं अस्थियाँ शिथिल और निःसार हो जाना; शरीर का विनाम (झुक जाना), कम्प, अग्निमान्द्य, कास, श्वास, कफ-ष्ठीवन, नासा से सिंघाणक की प्रवृत्ति; कोई भी चेष्टा करने की शक्ति न होना——इत्यादि विकारों से पुरुष पीडित होता है। संक्षेप में, पुरुष की स्थिति ऐसी होती है जैसे कोई जीर्ण घर हो, जो वर्षा के कारण 'अब पड़ा, अब पड़ा' ऐसी दशा को प्राप्त हो चुका हो।

वार्धक्य में मुख्य कोप वायु का ही होता है। यह कुपित वायु सम प्रमाण में भी स्थित कफ को स्थान-च्युत कर बहिः प्रवृत्त करता है। अतः उपचार में उसे ही दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए। अग्नि की मन्दता के कारण कफ का भी प्रकोप होता ही है, पर अनुबन्ध रूप में ही।

बाल्य वय में मुख्य कोप श्लेष्मा का होता है उसका कारण यह होता है कि, आजन्म सात्म्य होने से बाल मधुर तथा गुरु-स्निग्ध प्रभृति अन्य धातु-पोषक गुणवाले द्रव्यों का सेवन विशेष करता है। प्रायः यह मात्रा आवश्यक से अधिक होती है। परिणामतया, रस (एवं अन्य धातुओं) की पुष्टि के अनन्तर अन्नरस से आदि धातु के मलभूत कफ की भी पुष्टि इतर वयों की अपेक्षया अधिक होती है।

किं बहुना, रोग-परीक्षा के प्रसंग में वय की परीक्षा का प्रथम प्रयोजन रोग के कारणभूत प्रमुख संभावित दोष का परिज्ञान ही है। तथा हि——

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥

सु० सू० ३५।३१

वयोज्ञान के अन्य प्रयोजन वयोभेद से तीक्ष्ण, मृदु आदि औषधों और उपचारों का विवेक एवं मात्रा इत्यादि का विनिश्चय है। संक्षेप में, यह विषय भी देख लें।—

ऊपर कह आये हैं कि, प्रकृति, सार, संहनन आदि की प्रवर, मध्य और अवर कक्षा के अनुसार औषध के बल एवं मात्रा के प्रवरादिभेदों का निर्णय करना चाहिए। इनमें यह विशेष विचारणीय होता है। वय की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में औषध की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक होती है। केवल परिहाणि नाम सत्तर वर्ष के पश्चात् इस क्रम के विपरीत बाल (षोडशवर्ष) वय के सदृश मात्रा की योजना करनी चाहिए। सुश्रुत के इस सूत्र (सु० सू० ३५। ३०) की टीका में डल्हन ने तन्त्रान्तर का वचन उद्धृत कर मात्रा का प्रमाण दिया है:

उत्पन्न शिशु को प्रथम मास में औषध एक गुञ्जा (एक रत्ती) देना चाहिए। औषध को मधु, स्तन्य, सिता और घृत में मिश्र कर उसे अवलेह्य बनाना चाहिए। बाल एक वर्ष का हो तब तक प्रतिमास एक-एक गुञ्जा मात्रा बढ़ानी चाहिए। इसके अनन्तर सोलह वर्ष पर्यन्त प्रति वर्ष एक माष की वृद्धि करे। इस प्रकार वृद्धि करते सोलहवें वर्ष जो मात्रा हो वह मात्रा सत्तरवें वर्ष तक चालू रखनी चाहिए। उसके पश्चात् बाल के समान मात्रा रखें।

निश्चित ही इस मात्रा में अपवाद होते हैं। विशेषतया पारद, सोमल आदि घटित योगों में इस मात्रा में भारी अन्तर देखा जाता है। इसके अतिरिक्त—

आयुर्वेद का सामान्य सिद्धान्त है—मात्राया नास्त्यवस्थानम्—मात्रा की निश्चिति नहीं है। दोष, वय, बल, काल आदि देखकर मात्रा न्यूनाधिक करनी पड़ती है। इनमें उपयुक्त होने से काल का उदाहरण लें। आज तो वैद्य पाश्चात्य चिकित्सकों की अन्ध अनुकृति से औषध प्रायः तीन वार—प्रातः, मध्याह्न, सायं-देते हैं; परन्तु संहिताओं में दोष, रोग आदि के भेद से औषध के दस काल निश्चित किए हैं। उनका उल्लेख यथास्थान करेंगे। इनमें एक औषधकाल निरन्न (खाली पेट; अभक्त) है। इस काल में औषध देने की फलश्रुति बताई है—

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात् तदामयमसंशयमाशु चैव ॥

सु० उ० ६४।६७

निरन्न कोष्ठ (गुजराती अपभ्रंश-नरने कोठे) औषध दिया जाए तो वह अधिक वीर्यवान् (क्रियाशील) होता है, अतएव रोग को शीघ्र और निश्चित नष्ट करता है। विरेचन का उदाहरण लें; कारण, व्यवसाय में इसका अधिकतम उपयोग

होता है। कई क्रूरकोष्ठ व्यक्तियों को सामान्य प्रचार के अनुसार विरेचन-द्रव्य रात को देने से गुण नहीं होता। वही औषध स्वल्प मात्रा में प्रातः निरन्न कोष्ठ देने से गुण होता है; कभी-कभी आवश्यक से अधिक विरेचन भी हो जाता है।

इस निरन्न औषध-काल को ही लक्ष्य कर उक्त पद्य के उत्तरार्ध में कहा है—

तद् बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥

सु० उ० ६४।६७

बाल, वृद्ध, स्त्री और सुकुमारों को निरन्न कोष्ठ औषध दिया जाए तो अति ग्लानि (विवमिषा, नॉशिया) तथा बलक्षय (दौर्बल्य) होता है।

कोष्ठ की क्रूरता आदि व्यवसाय-भेद से भी भिन्न होते हैं। यथा, श्रम-जीवियों में श्रमजन्य धातुक्षय के कारण वात का प्रकोप हो कर, कोष्ठ में तज्जनित क्रौर्य होता है। तात्पर्य, केवल वय के भेद से विरेचनादि औषध की मात्रा का निर्णय शक्य नहीं है। गुरु के समीप रहकर आयुर्विद्या का लाभ करते हुए तत्तत् कारण-भेद से औषध की मात्रा का भेद कैसा होता है यह सुगमता से सीखा जा सकता है।

मात्रा के अतिरिक्त वयोभेद से उपचार-भेद भी होता है। तद्यथा—

अग्निक्षारविरेकैस्तु,[1] बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां पुनः॥

सु० सू० ३५।३२

बाल और वृद्ध को अग्निकर्म, क्षारकर्म और वमन-विरेचन न कराना चाहिए। इन कर्मों से साध्य विकार बाल और वृद्ध को हों तो मृदु उपचार करना चाहिए। तद्यथा—अग्निकर्म (गुजराती-डाम) करना हो तो अजा-शकृत् (बकरी की मींगणी) आदि मृदु द्रव्यों का उपयोग करे। आश्रय द्रव्य के भेद से इस प्रकार अग्नि मृदु या तीक्ष्ण होता है। आश्रय मृदु हो तो अग्निकर्म भी मृदु होने का उदाहरण अजा-शकृत् ऊपर दिया है। आश्रय द्रव्य के भेद से अग्निदग्ध तीक्ष्ण होने का उदाहरण स्नेह-दग्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। शास्त्र में कहा है और प्रत्यक्ष भी है कि उष्ण स्नेह (तैलादि) से दग्ध हो तो उसमें रुजा (वेदना)

१—विरेकोऽत्र मलविरेचनतया वमन-विरेचने; यदुक्तं चरके—'उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते।'

(च० क० १।४) इति॥ चक्रपाणि

अधिक होती है। इसी प्रकार छेद्य, मेद्य आदि क्रियाएँ करनी हों तो बाल, वृद्ध, सुकुमार, रोगादि से क्षीण, भीरु पुरुषों तथा स्त्री मात्र को, एवं मर्म पर छेदन-भेदनादि साध्य रोग हो तो अन्यों में भी ये क्रियाएँ न कर दारण करना चाहिए—औषध-विशेष का लेप कर शोथ को फाड़ना चाहिए। कपोत (कबूतर), कङ्क और गृध्र इन पक्षियों का पुरीष दारक होता है। उसका उपयोग इन प्रसंगों पर करना चाहिए। क्षार-साध्य रोगों में बाल और वृद्ध को आवाप-प्रतीवाप (प्रक्षेप)—रहित अतएव मृदु क्षार लगाना चाहिए। विरेचन देना हो तो चतुरंगुल (आरग्वध, अमलतास) आदि मृदु द्रव्य देना चाहिए[1]। और ये उपचार भी शनैः और अल्प करने चाहिए।

व्यवहार में कई वैद्य बच्चों को विरेचन में औषध न दे कर गाँठिए (बेसन की पोची, पापड़खारयुक्त सेव) देते हैं। अंजीर, तण्डुलीयक आदि का सेवन तो वयःस्थों को भी प्रायः कराया जाता है। स्वेदन शिशुओं को करना हो तो हस्त-तल स्वेद घी के दीए की अग्नि से किया जाता है। वमन शिशुओं को कंकुष्ठ (उसारे रेवन्द) से कराने का प्रचार है। इससे विरेचन भी होता हैं।

उपचारों में विशिष्टता के अतिरिक्त साध्यासाध्यता भी वयोभेद से होती है। तरुण के रोग साध्य तथा बाल और वृद्ध के प्रायः दुःसाध्य होते हैं। इसीसे विशेषतया बालों को विशेषतया कोई विकट रोग हो तो साध्यासाध्यता के विषय में कोई निश्चित मत देने का साहस अनुभवी वैद्य नहीं करते।

वृद्ध के दुर्बल होने से उसमें रोग-विशेष भी होते हैं—यथा जराकास, जरा-संभव क्लैब्य इत्यादि। वय के तीन विभाग कर अति वार्धक्य में शुक्र के क्षीण होने का निर्देश करते चरक ने कहा है—

जघन्य-मध्य-प्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते।
अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम्॥

च० चि० ३०।१७७

इसी प्रकार वयो विशेष के कारण अन्य विशिष्टताओं का भी अधिक विचार किया जा सकता है। परन्तु वय का वर्षों के रूप में इस प्रकरण के आरम्भ में दिया विभाग प्रत्येक पुरुष की आयु सौ वर्ष की मान कर दिया गया है। स्वयं चरक ने कहा है कि वर्तमान काल में सौ वर्ष की सामान्य आयु होने पर भी न्यूनाधिक जीनेवाले जन भी प्राप्त होते ही हैं। सो, केवल वर्ष जान कर यह पुरुष बाल है, तरुण है या वृद्ध है यह नहीं कहा जा सकता। आज तो आयु की मर्यादा में भिन्नता और भी अधिक लक्षित होती है। इस स्थिति को दृष्टिगत रख कर विकृति

१—चतुरंगुलो मृदुविरेचनानाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

(रोग) को छोड़ शेष जो आठ परीक्षणीय भाव (प्रकृति, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार शक्ति तथा व्यायाम-शक्ति) हैं उनका बलाबल और स्वरूप देख कर एवं आयु के आगे कहे जानेवाले लक्षणों का विचार कर निश्चय करना चाहिए कि उपस्थित रोगी की आयु नाम संपूर्ण जीवन-काल कितना (एक्स्पेक्टेशन आॅफ लाइफ) होगा। तदनुसार गणित कर निर्णय करना चाहिए कि रोगी इस समय बाल, तरुण आदि किस अवस्था-विशेष के किस अवान्तर विभाग में वर्तमान है। उसके अनुरूप दोष, उपचार, मात्रा आदि का विनिश्चय करना चाहिए। देखिए :—

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः। तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्॥

च० वि० ८।१२२

वय के विषय में इतना उल्लेख कर अब आगे आयु का विचार किया जाता है।

आयु की सामान्य परीक्षा[1]

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम्। सत्यायुषि व्याधृत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत॥

सु० सू० ३५।३

रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम उसकी आयु की परीक्षा करनी चाहिए—वह और कितना जिएगा इस बात की जाँच करनी चाहिए। रोगी की आयु अभी शेष है—वह अभी जिएगा यह निश्चय हो जाए तब ही रोग, ऋतु, अग्नि, वय, देह (संहनन), बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, औषध, देश, काल, आदि की परीक्षा सर्वथा सार्थक होती है।

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः॥

सु० सू० ३५।१२

आयु की परीक्षा अनेक प्रकार से होती है। इनमें प्रथम दीर्घ, मध्यम तथा जघन्य आयु के कुछ सामान्य लक्षण हैं। इनका उल्लेख इस प्रकरण में करेंगे। आयु के ज्ञान का द्वितीय प्रकार शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के प्रमाण एवं सार का ज्ञान है। सारों का निर्देश पहले कर आए हैं। वहाँ उनका आयु के साथ संबन्ध देख ही आए हैं। आयु का वीमा कराते हुए इस व्यवसाय के साथ संबद्ध

१—स्थल : सु० सू० ३५।१-११ तथा डल्हन और चक्रदत्त।

पुरुष आयुर्वेदोक्त लक्षणों एवं ग्रह-नक्षत्र विद्या का भी उपयोग करें तो बहुत कार्य-सिद्धि हो सकती है। आयु के ज्ञान का तृतीय साधन अरिष्ट लक्षणों की अनुत्पत्ति या उत्पत्ति है। उनका उल्लेख इसी ग्रन्थ में आगे यथास्थान किया जाएगा। यहाँ आयु के दीर्घ आदि प्रभेदों के लक्षण बताते हैं।--

दीर्घायु पुरुष के लक्षण--जिसके पाणि, पाद, पार्श्व, पृष्ठ, स्तनाग्र (स्तन का अग्रवर्ती प्रदेश), दन्त, मुख, स्कन्ध, और ललाट महान् हों--आगे कहे जानेवाले प्रमाण-निर्देश में इन अवयवों का जो विस्तार (चौड़ाई) और दैर्घ्य (लम्बाई) कहा गया है उससे कुछ अधिक प्रमाण इनका हो[1]; जिसकी अंगुलियाँ, पर्व (सन्धियाँ, किंवा अंगुलि-पर्व--अंगुलियों की ग्रन्थियाँ), उच्छ्वास-निर्गतश्वास[2], नेत्र और बाहु ये प्रत्येक दीर्घ हों--लम्बे हों; जिसके दोनों भ्रुवों का अन्तर, दोनों स्तनों का अन्तर एवं उर नाम हृदय और कण्ठ के मध्यवर्ती प्रदेश[3] विस्तीर्ण (विपुल, चौड़े) हों; जिसकी अस्थि-सन्धियाँ, सिराएँ और स्नायु (प्रकृष्ट मांसादि धातुओं से वेष्टित होने के कारण) गूढ़ हों--ऊपर से दिखाई न पड़ती हों; जिसके अन्य अङ्ग भी इसी प्रकार गूढ़ और घन (संहत) हों; जिसकी इन्द्रियाँ तथा उनके अधिष्ठान स्थिर (अचल एवं दृढ़) हों; जिसकी जङ्घा (जानु और गुल्फ के मध्यवर्ती अङ्ग--लेग), मेढ़्र (शिश्न)[4] और ग्रीवा ह्रस्व हों; जिसके अङ्ग नीचे से आरम्भ कर ऊपर तक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हों, किंवा जिसके वंश में उत्तरोत्तर दीर्घायु पुरुष उत्पन्न हुए हों[5]; जिसका सत्त्व (मन),

---

१--महत्त्वं च स्वैरंगुलैरुक्तप्रमाणात् किंचिदाधिक्यम्। दीर्घत्वमप्युक्त-प्रमाणात् किंचिदाधिक्यं ज्ञेयम्। तत्र महत्त्वं विस्तारेण सह, दैर्घ्यं विस्तारं विना--डल्हन ॥

२--प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः ॥
सु० शा० ६।५ पर डल्हन

३--स्तनान्तरं स्तनयोर्मध्यम्। उरो हृदयकण्ठान्तरम् ॥ डल्हन

४--शिश्न की ह्रस्वता का यह निर्देश व्यवसाय में स्मरणीय है। शिश्न की ह्रस्वता से आशङ्कित पुरुष प्रायः देखे जाते हैं। शिश्न स्तब्ध होने के अनन्तर उचित महत्त्व धारण करता है या नहीं यही बात द्रष्टव्य है।

५--मूल में उत्तरोत्तर सुक्षेत्र शब्द है। टीकाकारों ने इस के अर्थ भिन्न-भिन्न किए हैं। डल्हन ने केशान्तं च शिरश्चैव दशमं क्षेत्रमुच्यते यह तन्त्रान्तर का वचन दे कर कहा है कि केशों का अन्त भाग (शिर में जहाँ केश समाप्त होते हैं वह भाग) तथा शिर यह दशम क्षेत्र है। तात्पर्य, समस्त शरीर दस क्षेत्रों में विभक्त है। इसके पूर्व के पद्य डल्हन ने उद्धृत नहीं किए, जिससे ज्ञात होता→

स्वर और नाभि तीनों गम्भीर हों[१] ; जिसके स्तन किंचित् उच्च तथा घन हों ; जिसके कर्ण मांसल (उपचित, पुष्ट), विस्तीर्ण और लोमश (रोमयुक्त) हों ; जिसके ग्रीवा भाग पर एक रोमावर्त हो या ऊर्ध्वभाग में दोनों ओर एक-एक रोमावर्त हो[२] ; स्नान और लेप करने के अनन्तर जिसके शरीरावयव उसी क्रम से शुष्क हों जिस क्रम से उन पर जल छोड़ा गया है या लेप लगाया गया है किंवा प्रथम मस्तक और पश्चात् अन्य शरीरावयव शुष्क हों[३], परन्तु दोनों पक्षों में सबसे अन्त में हृदय (छाती) शुष्कता को प्राप्त हो ; एवं गर्भ से आरम्भ कर जो पुरुष नीरोग

←कि अन्य क्षेत्र कौन-से हैं। केवल टीका में स्वशब्दों में इतना कहा है कि—पाद (फुट) और गुल्फ प्रथम क्षेत्र हैं ; दोनों जङ्घा और जानु द्वितीय क्षेत्र हैं. . . इत्यादि। चक्रपाणि ने क्षेत्र शब्द का अर्थ प्रभवस्थान या कुल-पुरुष (पूर्वज) बता कर ऊपर धृत द्वितीय अर्थ बताया है।

१—सत्व के गाम्भीर्य का अर्थ डल्लन ने प्राचुर्य (औदार्य?) बताया है। चक्रपाणि ने **'गम्भीरत्वं सत्त्वस्य व्यसनेऽभ्युदये चाक्षोभ्यता'**—इन शब्दों में विपत्ति या संपत्ति दोनों दशाओं में विषाद या हर्ष के रूप में क्षोभ को प्राप्त न होना यह अर्थ मन के गाम्भीर्य का दिया है। स्वर के गाम्भीर्य का अर्थ डल्लन ने सुस्निग्ध और अनुनादी (प्रतिध्वनियुक्त) होना बताया है। चक्रदत्त ने इसका अर्थ स्निग्ध और अनुद्धत दिया है। नाभि के गाम्भीर्य का अर्थ उसके गर्त की निम्नता (गहरा होना) है।

२—मस्तिष्क का अर्थ डल्लन ने रोमावर्त किया है। उसीने 'पश्चान्मस्तिष्क' के स्थान पर 'पार्श्वमस्तिष्कम्' यह पाठान्तर दे कर तदनुसार अर्थ दिया है, जो ऊपर उद्धृत है। टीका में आगे प्रथम पाठ का अन्य मत से अर्थ उसने यह दिया है कि—मस्तिष्क शब्द का अर्थ 'मस्तक का स्नेह, पर्याय-धृतिका' होता है ; वह जिस पुरुष का पश्चाद्-भाग में हो। इसका तात्पर्य मुझे कुछ समझ में नहीं आया है। आगे उसीने अपने मूल में धृत दो विशेषण मिला कर एक पद के रूप में अन्य ग्रन्थकारों का पाठान्तर दिया है—उपचितमहारोमश-कर्णपार्श्वमस्तिष्कम्—दिया है। उसका अर्थ भी उन्हीं के मत से यह बताया है कि —कर्ण के दोनों पार्श्व तथा मस्तिष्क (कर्ण के ऊपर स्थित शिरः प्रदेश) जिसके मांसल, विस्तीर्ण तथा रोमश हों। अन्य पाठान्तर 'कालमस्तकम्' डल्लन ने दिया है।

३—स्नान और अनुलेपन के अनन्तर शुष्कता-संबन्धी यह पक्ष-भेद डल्लन और चक्रदत्त के मत से है।

रहे तथा उसके शरीरावयव, ज्ञान एवं विज्ञान (शिल्प, कला) आदि[1] शनैः-शनैः (अल्प वय में ही सहसा नहीं) पुष्ट हों उसे दीर्घायु समझना चाहिए—वह दीर्घ-काल जिएगा ऐसा मानना चाहिए। ऐसे दीर्घायु पुरुष का उपचार निःशङ्क चित्त से —इसकी चिकित्सा में सिद्धि-लाभ होगा ही, इस विश्वास के साथ करना चाहिए।

मध्यम आयु के लक्षण—दीर्घायु के लक्षणों में कहे लक्षण जिसमें मिश्र हों—कुछ हों, कुछ न हों या सब किंवा अनेक हों तो उनका प्रमाण कुछ-कुछ न्यून हो—वह पुरुष मध्यमायु होता है। भूमिका में इतना कह कर तन्त्रकार ने आगे कण्ठरव से मध्यमायु के कुछ लक्षणों का निर्देश करते कहा है—

जिसकी दोनों अक्षास्थियों (कोष्ठकास्थियों, अक्षकास्थियों) के नीचे (पाठान्तर में दोनों हस्तों के नीचे) आयत (लम्बी-चौड़ी) दो, तीन या अधिक स्पष्ट रेखाएँ हों; पृष्ठ के ऊर्ध्वभाग में भी ऐसी ही रेखाएँ हों; पाद और कर्ण मांसल हों तथा नासाग्र ऊर्ध्व (उठा हुआ) हो—उसकी आयु सत्तर वर्ष की होती है। (तात्पर्य—ग्रन्थकार के मत से यह मध्यम आयु का प्रमाण है)।

अल्पायु के लक्षण—दीर्घायु के लक्षणों में कहे लक्षणों से विपरीत लक्षण जिसमें हों वह अल्पायु (जघन्य आयुवाला) होता है, ऐसा तन्त्रकार ने आरम्भ में कहा है। पश्चात् कुछ विशिष्ट लक्षणों का निर्देश करते वह कहता है—जिस पुरुष की संधियाँ ह्रस्व हों, शिश्न सुमहत् हो, वक्षः स्थल में अवलीढ़ (प्रतिलोम और अनुलोम आवर्त-भेद—डल्हन) हों; पृष्ठ आयत न हो, कर्ण ऊर्ध्व तथा नासा उन्नत हो; हँसते या बात करते हुए जिसके दन्तमांस (मसूढ़े) दिखाई

१—डल्हन की टीका में तन्त्रान्तर से एक पद्य उद्धृत किया है। उसमें कुछ शुभ वस्तुओं का निर्देश कर कहा है कि—जिसके अल्प वय में ही ये दिखाई दें वह चिरकाल नहीं जीता। देखिए :

व्यञ्जनादि शुभा विद्या मेदो मेधा धनं यशः।
अल्पे वयसि यस्यैतन्न स जीवेच्चिरं नरः॥

व्यञ्जन का अर्थ स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व के द्योतक श्मश्रु आदि चिह्न (सेकेण्डरी सेक्स केरेक्टर्स) है। सुश्रुत में शरीर आदि की पुष्टि क्रमशः होना दीर्घायु का लक्षण कहा है। डल्हन कहता है कि वहाँ इस पद्य में कही व्यञ्जन, विद्या आदि बातों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रस्ताव संगत ही है। पद्य में निर्दिष्ट वस्तु लोक-प्रसिद्ध भी है। पद्य का अर्थ यह है कि—जिसे अल्प वय में (छोटी उम्र में) ही व्यञ्जन आदि, उत्तम विद्या, मेद, मेधा, धन एवं यश की प्राप्ति हो जाए वह बहुत नहीं जीता।

दें, जिसकी दर्शन-क्रिया विभ्रान्त (विशेषतः मोहयुक्त) हो—वह पुरुष पच्चीस वर्ष जीता है। (तात्पर्य—ग्रन्थकार के मत से अल्प या जघन्य आयु का यह परम प्रमाण है)[१]।

प्रमाण-परीक्षा[२]

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्ग प्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु॥
सु० सू० ३५।१७

अन्य परीक्षणीय भावों की परीक्षा के पूर्व रोगी की आयु की परीक्षा करनी चाहिए। आयु के त्रिविध भेदों के ज्ञान के लिए अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रमाण तथा सार की परीक्षा की उपयोगिता विशेष है। इनमें सार की परीक्षा पहले आ गयी है, अब प्रमाण का उल्लेख किया जाता है। आयु के ज्ञान के लिए सार और प्रमाण को विशेषतः परीक्षणीय कहा है, एकमात्र नहीं। अतः आयु के ज्ञान में विपरीत (अरिष्ट) व्रण, दूत आदि; छाया, शरीर तथा स्वभाव की विप्रतिपत्ति (वैपरीत्य, परिवर्तन), उपद्रव, असाध्यता के लक्षणों का प्रादुर्भाव इत्यादि की भी परीक्षा सामान्यतया उपयुक्त होती ही है। उसका यहाँ निषेध नहीं है। इन सब की परीक्षा द्वारा आयु का परिज्ञान करने के अनन्तर निपुण वैद्य द्वारा चिकित्सा की जाए तब ही यश और द्रव्य की उपलब्धि होती है।

शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्॥ च० वि० ८।११७

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः॥
सु० सू० ३५।१४

स्वैरङ्गुलैरित्यनेन नारीशरीरं नार्यङ्गुलेन पुरुषशरीरं पुरुषांगुलेन मेयं, किञ्च बालशरीरं बालांगुलेन मेयमित्यपि सूचितम् ज्ञेयम्।

१—च० वि० ८।१२४ में चरक ने कहा है कि, (अरिष्ट वर्णनात्मक) इन्द्रिय स्थानों में कहे अरिष्ट तथा तद्विपरीत लक्षणों से तथा जाति-सूत्रीय अध्याय (च० शा० ८ में सूत्र ५०) में कहे बालक के दीर्घायु के लक्षणों एवं तद्विपरीत लक्षणों से भी आयु के अल्प या दीर्घ होने का ज्ञान होता है। बालक की आयु के लक्षण कौमारभृत्य के ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

२—स्थल : सु० सू० ३५।१२-१५ तथा डल्हन और चक्र; च० वि० ८।११७ तथा चक्र।

स्वांगुलेऽत्रांगुलिमध्यप्रदेशो माने ज्ञेयः। एतस्मिंश्च स्वांगुलमाने त्रियवमानतांऽगुलस्योक्ता न सङ्गता भवति॥ चक्रपाणि

अवयवों के उत्सेध (ऊँचाई), विस्तार (चौड़ाई) तथा आयाम (लम्बाई, दैर्घ्य) का प्रमाण अंगुलियों द्वारा बताया जाएगा। यहाँ अंगुली से जिस पुरुष का माप लेना है उसकी अंगुली का मध्यभाग लेना चाहिए। किसी पुरुष का प्रमाण लेना हो तो उसी पुरुष की अंगुली से मान लेना चाहिए, किसी स्त्री का लेना हो तो उसी स्त्री की अंगुली के मध्य से एवं किसी बालक का मान लेना हो तो उसी की अंगुली के मध्यभाग से उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का मान करना चाहिए।

अङ्ग-प्रत्यङ्गों का प्रमाण-निर्देश करने के पूर्व आयुर्वेद की दृष्टि से एक वस्तु समझ लेनी चाहिए। अस्वास्थ्य के लक्षण में इन्द्रियों और मन की अप्रसन्नता प्रमुख लक्षण है, भले विशेषज्ञ कहें कि उनके क्षेत्र की परीक्षा करते कोई रचनात्मक या क्रियात्मक विकृति उनमें पाई नहीं गई। इसी प्रकार आरोग्य की परीक्षा में आजकल वय, भार तथा ऊँचाई का तत्-तत् प्रमाण नवीनों ने बताया है। वैद्य भी उसकी अन्ध अनुकृति करते हैं। प्राचीनों ने बड़ा प्रयत्न करके शरीरावयवों के रचनात्मक और तदनुबद्ध क्रियात्मक साम्य की परीक्षा के लिए अंगुलिमान का सिद्धान्त आविष्कृत किया है। उसे पुनः प्रकाश में लाना उचित है। अंगुली से माप के लिए किसी फीते पर प्रमेय पुरुष की मध्यमांगुली का मध्यभाग रख कर उसका प्रमाण जान लेना चाहिए। उसमें कितने इंच या सेंटीमीटर हैं यह देख कर प्रथम फीते से इंचों में अवयवों का प्रमाण जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें अंगुलि-प्रमाण में परिणत कर लेना चाहिए। अथवा डोरे से प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को माप कर उसे अंगुली पर रख कर माप निकाल लेना चाहिए। इतनी आवश्यक भूमिका के पश्चात् अब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का अंगुलि-प्रमाण देखिए।

एक अन्तराधि (कोष्ठ, शरीर मध्य, धड़), सक्थि (पैर) एवं बाहु (शाखाएँ) ये चार[1] तथा ग्रीवा-समेत शिर--ये छ अङ्ग कहाते हैं। इनके अवयवों को प्रत्यङ्ग कहते हैं। छ अङ्गों के कारण शरीर षडङ्ग[2] कहाता है।

१—दो-दो सक्थि और बाहु को शाखा कहते हैं। अंग्रेजी में इन्हें 'एक्स्ट्रीमिटी' कहा जाता है। सुपीरिअर या अपर तथा इन्फीरिअर या लोअर इन अंग्रेजी विशेषणों की अनुकृति में नवीन लेखक शाखाओं के ऊर्ध्वशाखा और अधःशाखा ये दो भेद करते हैं। ये विशेषण अर्वाचीन हैं।

२—अपभ्रंश—छंग : यथा—"बहुरि धरै खहि छंग" में।

सक्थि के गुल्फ (घुटने) से नीचे के भाग को पाद (अं०-फुट) कहते हैं। इसका उत्सेध (ऊँचाई) चार अंगुल, विस्तार (चौड़ाई) छ अंगुल तथा आयाम (लंबाई) चौदह अंगुल होती है। नखवाले भाग को छोड़ कर पाद के अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी (प्रथम) अंगुली प्रत्येक दो-दो अंगुल आयत (लंबी) होती है। प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका तथा अनामिका से कनिष्ठिका अंगुली एक अंगुल का पंचम भाग (अर्ध अंगुल) न्यून होती है। पाद के कल्पित तीन भाग हैं-- प्रपद या पादाग्र नाम अंगुलियों वाला भाग ; पाद मध्य अथवा पादतल तथा पार्ष्णि या एडी। मर्म प्रकरणों में तल के भी मध्य भाग को तल हृदय कहा गया है। पादतल का मध्य पादतल हृदय तथा हस्ततल का मध्य हस्ततल-हृदय। प्रपद और पादतल प्रत्येक चार अंगुल आयत (लम्बा) और पाँच अंगुल विस्तृत (चौड़ा) है। (यहाँ पाठान्तर में--प्रपद का विस्तार छ अंगुल तथा पादतल का विस्तार पाँच अंगुल कहा है।) पार्ष्णि या एड़ी पाँच अंगुल आयत तथा चार अंगुल विस्तृत होती है। इस प्रकार नख-रहित पादागुंष्ठ तथा प्रदेशिनी के दो अंगुल, प्रपद और पादमध्य के चार-चार अंगुल एवं पार्ष्णि के चार अंगुल मिल कर पाद, जैसा कि ऊपर कहा, कुल चौदह अंगुल लम्बा (आयत) होता है।

पाद, गुल्फ, जङ्घा और जानु इनमें प्रत्येक के मध्य का परिणाह[१] (परिक्षेप, परिधि, घेरा), चौदह-चौदह अंगुल होता है।

जानु और गुल्फ के मध्य का भाग जङ्घा[२] कहा जाता है। इसका आयाम अठारह अंगुल तथा उसके मध्य का परिणाह सोलह अंगुल होता है। जङ्घा मध्य का यह परिणाह चरक के मत से है ; ऊपर दिया चौदह अंगुल परिणाह सुश्रुतोक्त है। इसी प्रकरण में आगे सुश्रुत ने भी इन्द्रबस्ति का परिणाह सोलह अंगुल बताया है। वहाँ डल्लन ने इन्द्रबस्ति का अर्थ जङ्घामध्य ही दिया है। यह दो प्रकार का प्रमाण निर्देश चिन्त्य है। डल्लन कहता है कि--चौदह अंगुल प्रमाण गुल्फ के ऊपर का तथा सोलह अंगुल प्रमाण जानु के नीचे समझना चाहिए। अतः कोई विरोध नहीं है। सुश्रुत के एक डल्लनोक्त पाठान्तर में जङ्घा का

१--इस प्रकरण में घन द्रव्यों के प्रमाणों (डाइमेन्शन्स) की संज्ञाएँ दी गई हैं। अन्य विषयों के लेखक भी इन्हें ग्रहण कर सकते हैं। तथाहि: लम्बाई--आयाम, दैर्घ्य ; चौड़ाई--विस्तार, विशालता ; ऊँचाई--उत्सेध ; घेरा (सर्कमफरेन्स)--परिणाह, परिक्षेप, वर्तुलता, स्थौल्य ; मापमात्र--प्रमाण।

२--संस्कृत में जङ्घा का अर्थ जाँघ नहीं, लेग है। इसी प्रकार पिण्डिका का अर्थ पिंडली नहीं, जाँघ के पीछे का मांस है।

आयाम चौबीस अंगुल दिया है। वहीं पाठान्तर से जङ्घा का परिणाह तेरह अंगुल दिया है। इस पाठान्तर की व्याख्या में चक्रपाणि ने कहा है कि--गुल्फ के चार अंगुल ऊपर जङ्घा का परिणाह तेरह अंगुल होता है। (जहाँ प्रमाण में भिन्नता हो वहाँ डल्लन तथा चक्रपाणि की इन व्याख्याओं के अनुसार ही समाधान की दिशा शोधनी चाहिए।) जानु प्रत्येक चार अंगुल आयत तथा उसका मध्य सोलह अंगुल परिक्षेप का होता है। मध्य का यह प्रमाण चरक मत से है। पूर्वोक्त प्रमाण सुश्रुतानुसारी है।

जानु की अधःसन्धि से आरम्भ कर कटिसंधि पर्यन्त सक्थि-भाग बत्तीस अंगुल दीर्घ होता है। इस प्रकार जङ्घा और जानु का ऊर्ध्वभाग मिल कर सक्थि पचास अंगुल होती है। इसमें ऊरु (जाँघ, जानु के ऊर्ध्वभाग से वंक्षण-संधि पर्यन्त भाग) जङ्घा के समान आयाम का नाम अठारह अंगुल आयत तथा मध्य में तीस (सुश्रुत के अनुसार बत्तीस) अंगुल परिणाह के होते हैं।

वृषण (अण्ड) का विस्तार दो अंगुल, दैर्घ्य (आयाम, लंबाई) छ अंगुल तथा परिणाह आठ अंगुल होता है। पुरुष शश जाति का हो तो उसका शिश्न (मेहन, शेफ, मेढ्र) स्तब्ध न हो तो चार अंगुल दीर्घ और वही स्तब्ध (उच्छ्रित, उच्छ्राययुक्त, फूला हुआ) हो तो छ अंगुल दीर्घ और पाँच अंगुल परिणाह का होता है। स्त्री हस्तिनी जाति की हो तो उसके भग (योनि) का विस्तार (परिणाह) बारह अंगुल होता है।

कटि का विस्तार सोलह अंगुल होता है। बस्तिशिर (?)[1] बारह अंगुल; तथा उदर दस अंगुल विस्तृत और बारह अंगुल आयत होता है। शिश्न तथा नाभि का अन्तर भी बारह अंगुल होता है।

दोनों पार्श्व प्रत्येक दस अंगुल विस्तीर्ण तथा बारह अंगुल आयाम के होते हैं। पुरुष का उर (हृदय से ऊर्ध्व तथा कण्ठ से अधःस्थित अवयव) का उत्सेध बारह अंगुल तथा विशालता चौबीस अंगुल होती है। स्तनान्तर (दोनों स्तनों का मध्यवर्ती प्रदेश) भी बारह अंगुल होता है। स्तन पर्यन्त (स्तन-पार्श्व) दो अंगुल होता है। हृदय दो अंगुल (पाठान्तर--तीन अंगुल) विस्तीर्ण होता है। स्कन्ध आठ अंगुल तथा अंस छ अंगुल होते हैं। कक्ष प्रत्येक आठ अंगुल होते हैं। त्रिक (गुदास्थि से आरम्भ कर कटि कपाल के ऊर्ध्व पर्यन्त प्रत्यङ्ग-विशेष) का उत्सेध (ऊँचाई) बारह अंगुल होता है। पृष्ठ की ऊँचाई अठारह अंगुल तथा शिरोधरा (ग्रीवा) का उत्सेध (उच्छ्राय) चार अंगुल और

१—आचार्य यादवजी भाई ने अपने 'व्याधि विज्ञान' में बस्तिशिर का अर्थ शिश्नमूल से नाभि पर्यन्त प्रदेश दिया है।

परिणाह बाईस (सुश्रुत-मत से बीस, वहीं पाठान्तर में–चौबीस) अंगुल होता है। नाभि और हृदय तथा हृदय और ग्रीवा के अन्तर बारह-बारह अंगुल होते हैं। पुरुष के उर (वक्षस्) का जो प्रमाण ऊपर कहा है वह, नाम बारह अंगुल उत्सेध तथा चौबीस अंगुल विस्तार, वही प्रमाण स्त्री की श्रोणि का होता है। श्रोणि का अर्थ है दोनों ऊरुसंधियों (वंक्षणों) के नीचे तथा स्मर-मन्दिर (भग) के ऊपर का प्रदेश। स्त्री का उर अठारह अंगुल विस्तीर्ण होता है। पुरुष की कटि का विस्तार इतना ही होता है। कटि का यह प्रमाण सुश्रुतोक्त है। पहले दिया सोलह अंगुल विस्तार चरक वचनानुसारी है।

अब बाहु के प्रत्यङ्गों का प्रमाण-निर्देश किया जाता है।--अंगुष्ठ ढाई अंगुल, प्रदेशिनी (तर्जनी) साढ़े चार अंगुल, मध्यमा अंगुलि पाँच अंगुल, अनामिका प्रदेशिनी के समान साढ़े चार अंगुल तथा कनिष्ठिका ढाई अंगुल होती है। अंगुष्ठमूल और प्रदेशिनी अंगुलि का अन्तर पाँच अंगुल होता है। हस्ततल छ अंगुल आयत और चार अंगुल विस्तीर्ण होता है। हस्त (मणिबन्ध से नीचे का बाहु-विभाग) बारह अंगुल--पाठान्तर में दस अंगुल--होता है। प्रपाणि (कफोणि--कोहनी--के नीचे और मणिबन्ध--कलाई-- पर्यन्त बाहु; फोरआर्म) पन्द्रह अंगुल होता है। सुश्रुत ने इस प्रत्यङ्ग का उल्लेख 'मणिबन्ध-कूर्परान्तर' नाम से करके उसका आयाम सोलह अंगुल बताया है। प्रबाहु (अंस से नीचे, कफोणि-पर्यन्त प्रदेश; अपर आर्म) सोलह अंगुल होता है। 'अंसपीठ-कूर्परान्तरायाम' नाम से इसका उल्लेख सुश्रुत ने किया है। पाठान्तर में इसका प्रमाण बीस अंगुल कहा है। इसमें अंसपीठ का अर्थ बाहु शिर (बाहु का ऊर्ध्व भाग) है। इस प्रकार अंसपीठ से कूर्पर तक के प्रदेश के (सुश्रुत वचनानुसार) सोलह अंगुल और कूर्पर या कफोणि से मणिबन्ध पर्यन्त प्रदेश के सोलह अंगुल मिल कर भुज के बत्तीस अंगुल होते हैं। तात्पर्य--अंसपीठ से अंगुली पर्यन्त प्रत्यङ्ग का नाम बाहु है। मणिबन्ध से नीचे के प्रदेश को हस्त कहते हैं। हस्त-रहित समस्त बाहु को भुज कहा जाता है। मणिबन्ध से कूर्पर पर्यन्त बाहु प्रपाणि तथा कूर्पर से अंस पर्यन्त बाहु प्रबाहु कही जाती है। सुश्रुत ने हस्त का प्रमाण चौबीस अंगुल लिखा है। यहाँ हस्त का अर्थ कूर्पर से मध्यमा अंगुलि पर्यन्त बाहु प्रदेश ग्राह्य है। मणिबन्ध तथा प्रकोष्ठ प्रत्येक का परिणाह (घेरा, स्थौल्य) बारह अंगुल होता है। पाणि के मूल का नाम जहाँ आजकल घड़ी बाँधी जाती है तथा प्राचीन काल में स्त्रियों द्वारा मणिमय चूड़ी धारण की जाती होगी उसे मणिबन्ध कहते हैं। उसके चार अंगुल ऊपर का प्रदेश प्रकोष्ठ कहा जाता है। प्रकोष्ठ का प्रसिद्ध नाम कलाई है।

शिर का उत्सेध नाम पीछे की ओर ग्रीवा से ऊपर की ओर ऊँचाई सोलह अंगुल तथा परिणाह बत्तीस अंगुल होता है। चरक मत से मुख का विस्तार चार अंगुल और सुश्रुत-मत से (आस्य) पाँच अंगुल होता है। आनन (चेहरे) का परिणाह चौबीस अंगुल तथा आयाम (चिबुक से ललाट पर्यन्त प्रदेश) बारह अंगुल होता है। खोले हुए मुख का अन्तर चार अंगुल होता है। चिबुक (ठोडी) का उत्सेध दो अंगुल तथा विस्तार चार अंगुल होता है[१]। ओष्ठ का विस्तार चार अंगुल होता है। कर्ण, ललाट, कर्ण और नेत्र का अन्तर एवं नासिका प्रत्येक चार-चार अंगुल विस्तीर्ण होता है। सुश्रुत ने अपाङ्ग (नेत्र का बाह्य कोण) तथा श्रवण का अन्तर पंचांगुल लिखा है। दन्त प्रत्येक दो अंगुल उत्सेध का होता है। इसमें अर्धांश मांस-वेष्टित तथा अन्य अर्ध बाहर रहता है। दोनों नासापुटों (नासाछिद्रों) का बहिर्भाग भी दो अंगुल विस्तार का होता है। सुश्रुत ने लिखा है कि एक नासापुट का प्रमाण १ १।३ अंगुल होता है। पाठान्तर के अनुसार एक नासापुट का प्रमाण २।३ अंगुल होता है। डह्लन ने इसकी व्याख्या में कहा है कि यह प्रमाण तरुणास्थि-हीन नासा-रन्ध्र का समझना चाहिए। दोनों भ्रुओं का अन्तर तथा दोनों नयनों का अन्तर प्रत्येक दो अंगुल होता है। कर्ण-मूल (?) भी दो अंगुल होता है।

केशान्त और मस्तक का अन्तर ग्यारह अंगुल होता है। केशान्त का अर्थ है शङ्खों के ऊपर स्थित वह स्थान जहाँ से केश आरम्भ होते हैं। मस्तक का अर्थ है मस्तक का मध्य विभाग जहाँ रोमावर्त (रोमचक्र) रहता है। इस मस्तक से अवटु-स्थित केशान्त का अन्तर दस अंगुल होता है। अवटु का अर्थ है कृकाटिका—शिर का पृष्ठ भाग। दोनों कर्णों के गर्तों का अन्तर पीछे की ओर से चौदह अंगुल होता है।

दोनों दृष्टियों का अन्तर चार अंगुल होता है। दृष्टि का अर्थ है कृष्ण-तारकाएँ, जो प्रत्येक मसूर के दल (दाल के दाने) के प्रमाण की होती हैं। तारका या नेत्र का कृष्ण भाग नेत्र का एक-तिहाई होता है। दृष्टि का प्रमाण इस तारका के नवम भाग जितना होता है। नेत्र के प्रमाण का अधिक विचार नेत्रशालाक्य में किया गया है।

इस प्रकार प्रत्येक अवयव के प्रमाण का पृथक् निर्देश किया गया। संपूर्ण शरीर का उत्सेध चरक के अनुसार अपने चौरासी अंगुल (अथवा—अपने साढ़े तीन हाथ) तथा सुश्रुत के अनुसार एक सौ बीस अंगुल होता है। डह्लन लिखता

१—चिबुक का चरकोक्त चार अंगुल प्रमाण उसके विस्तार का तथा सुश्रुतोक्त दो अंगुल प्रमाण उसके उत्सेध का समझना चाहिए।

है कि--पादाग्रस्थितस्योर्ध्वबाहोः पुरुषस्य दैर्घ्यम्--सुश्रुतोक्त दैर्घ्य उस पुरुष का समझना चाहिए जो पादाग्र पर खड़ा हो तथा अपने बाहु ऊपर किए हो। इस प्रकरण की टीका में चक्रपाणि ने भी एकीय मत से यही बात लिखी है-- अन्ये विस्तृत बाहु-पुरुषायामं सविंशमंगुलशतं वदन्ति।

यहाँ जो प्रमाण कहा गया है वह ऐसे पुरुष का है जो पच्चीस वर्ष का हो चुका हो तथा ऐसी स्त्री का जिसका वय सोलह वर्ष का हो। कारण, इस वय में उनके रसादि धातुओं की परिपूर्ति संपूर्ण हो चुकी होती है, जिसके परिणाम रूप में वीर्य (उपचय, पुष्टि) भी संपूर्णता को प्राप्त हो गया होता है।

प्रमाण का मापन पुरुष स्वयं अपना अंगुल रख कर करे यह संभव ही नहीं है। जैसे वह कैसे अपने संपूर्ण शरीर का उत्सेध या कटि, जङ्घा आदि का परिणाह इस प्रकार जान सकता है? प्राचीन काल में प्रचलित पद्धति कदाचित् यह रही होगी कि एक सूत्र से प्रत्येक अवयव का प्रमाण लेकर उससे अंगुली का माप निकाल लिया जाता होगा। सुश्रुत में जहाँ पाद मध्य, गुल्फमध्य, जङ्घामध्य और जानुमध्य का परिणाह चौदह अंगुल बताया है वहाँ टीकाकार डल्हन ने लिखा है--चतुर्दशांगुलपरिणाहानीति परिणाहो वर्तुलता, चतुर्दशांगुलमान-रज्ज्वा वेष्टनमित्यर्थः।

स्त्री या पुरुष में अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा शरीर का उक्त प्रमाण हो तो वे दीर्घ आयु तथा प्रभूत, बल, ओज, सुख, ऐश्वर्य, धन तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। यथोक्त प्रमाण न हो, नाम हीन या अधिक हो तो वैपरीत्य के प्रमाणानुसार आयु आदि मध्यम या अवर होते हैं।

देह : : स्थूल, कृश तथा मध्यम[1]

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा--अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चाति-स्थूलश्चातिकृशश्चेति॥ च० सू० २१।३

वैरूप्य एवं लोक में अप्रशस्ति को लक्ष्य में रखते हुए शरीर की दृष्टि से नीचे लिखे आठ पुरुष निन्दित होते हैं। तद्यथा--अति दीर्घ (बहुत लम्बा); अति ह्रस्व (बहुत वामन); अतिलोमा (सर्वाङ्ग तथा कर्ण-प्रभृति तत्-तत

१--स्थल : च० सू० २१।३-२० तथा चक्र०; सु० सू० ३५।३३-३४; १५।३२-३५ तथा डल्हन।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अति लोमयुक्त)--अलोमा (सर्वथा लोम-रहित) ; अति कृष्ण--अति गौर ; अति स्थूल (अति मेदस्वी)--अति कृश।

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवाऽपरे निन्दितविशेषा भवन्ति ॥
च० सू० २१।४

इन आठ निन्दित पुरुषों में भी रोगोत्पत्ति की दृष्टि से अन्तिम दो, नाम अति स्थूल और अति कृश, विशेष निन्दित होते हैं। कायचिकित्सा में उपयुक्तता के प्रयोजन से इन दो के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा जानना आवश्यक है। ये दो तथा तृतीय अनिन्दित सम (मध्य) शरीर ये तीन मिल कर शरीर के तीन भेद होते हैं--देहः स्थूलः कृशो मध्य इति (सु० सू० ३५।३३)। इनमें प्रथम स्थूल पुरुष के लक्षण और निदान का उल्लेख करते हैं। चिकित्सा स्थूल-कृश दोनों की चिकित्साधिकार में कही जाएगी।

स्थौल्य (मेदस्विता) का निदान और लक्षण--

स्थूलता, कृशता तथा मध्यम शरीर तीनों का कारण रसधातु ही है। पुरुष अति संपूरण (संतर्पण, अति भोजन) करता हो ; विशेषतया गुरु, मधुर, शीत स्निग्ध (आदि) श्लेष्म प्रकोपक आहार द्रव्यों का अति सेवन करता हो ; अध्यशन शील हो (एक बार किया भोजन पचने के पूर्व ही भोजन करने के स्वभाववाला हो, यथा कई पुरुष घर में भोजन कर कार्यालय, उपाहार-गृह आदि में अल्पाहार करते हैं, अथवा बाहर अल्पाहार कर घर लौटने पर भोजन खाते हैं) ; व्यायाम या श्रम न करता हो ; व्यवाय (ग्रामधर्म) से विरत हो ; दिवा स्वप्न में रत रहता हो ; नित्य हर्ष (आनन्द) में आसक्त रहता हो ; किसी प्रकार की चिन्ता न करता हो अथवा बीज-स्वभाव ही स्थौल्यजनक हो--नाम, उसके माता पिता भी स्थूल ही हों तो--उसके धात्वग्नि सम हों तो भी उल्लिखित परिस्थितियों में अन्नपान का पूर्णतया परिपचन उनके लिए (धात्वग्नियों के लिए) अशक्य होता है। परिणामतया, जो अन्नरस उत्पन्न होता है वह आम (अपक्व), अति स्निग्ध और मधुरतर होता है। विशिष्ट आहारवश उत्पन्न हुए उक्त गुणयुक्त इस आम अन्नरस के कारण, पूर्वजन्मोपार्जित मेदोवृद्धिजनक अदृष्ट (दैव)-वश एवं रक्त-मांस पोषक रसवह स्रोतों के मेद से आवृत होने के कारण रस धातु से रक्त और मांस का वैसा पोषण नहीं होता, किंतु उत्तर धातु मेद की ही वृद्धि होती है[1]। इतना ही नहीं, मेदस्वी पुरुष साधारण (सम,--सर्वधातुओं का समभाव

१--मेदो जनयति--विशिष्टाहारवशाददृष्टवशान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च धातुद्वयमतिक्रम्य मेद एव वर्धयति ॥ सु० सू० १५।३२ पर डल्लन

से पोषक) आहार सेवन करे तो भी उसके मेद से पूर्व और उत्तर दोनों ही धातुओं की उतनी पुष्टि नहीं होती, जितनी मेद की होती है। कारण उल्लिखित हेतुओं के अतिरिक्त यह भी होता है कि, मेदस्वी (अति स्थूल) पुरुष में क्योंकि समस्त शरीर को मेद ही व्याप्त किए होता है अतः उससे अभिभूत हुए रसादि अन्य धातुओं की पुष्टि यथावत् नहीं होती ; मेद की ही प्रायः वृद्धि होती है[1]। आहार (साधारण भी तत्-तत् कारण से इन पुरुषों में मेद की पुष्टि करने में समर्थ होता है, इसकी पुष्टि में दूध देनेवाले पशुओं को उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। वे घास जैसा रूक्ष आहार लेते हैं तो भी उसका स्निग्ध-गुरु गुण विशिष्ट दुग्ध में परिणमन करने की शक्ति उनके देह में होती है। इस उदाहरण से आधुनिकों ने यह फलितार्थ निकाला है कि, मानवों में भी कार्बोहाइड्रेटों तथा नाइट्रोजन-विरहित प्रोटीनों को स्नेह--फैट में परिणत करने का सामर्थ्य होता है। इसके अतिरिक्त जैसे पशुओं में भी गृहीत आहार को स्नेह में परिणत करने का सामर्थ्य परस्पर न्यूनाधिक होता है यथा गौ में यह सामर्थ्य न्यून एवं महिषी में अधिक देखा जाता है, तद्वत् मानव-कुल में प्रति पुरुष स्नेह या मेद के उत्पादन के स्वभाव का तारतम्य न्यूनाधिक होता है।) उपचित हुआ यह मेद शरीर को अति स्थूल बना देता है। मेदो धातु की अतिवृद्धि के कारण पुरुष का स्फिक् (चूतड़), उदर और स्तन लटकते रहते हैं। शरीर की विशालता के अनुसार उसमें उत्साह होता नहीं।

तत्तद्धातुपोषक स्रोतों के मेद से आवृत होने के कारण मेद से भिन्न धातुओं की यथावत् पुष्टि न होने से मेदस्वी पुरुष अल्पायु होता है--उसकी आयु का ह्रास होता है ; इसी धातु-वैषम्य के कारण ही वह अत्यन्त अल्पप्राण (अल्प बल और उत्साह वाला) होता है। स्वल्प भी श्रम से वह शीघ्र ही (क्षिप्रमेव) क्षुद्र श्वास (हाँफ ; शॉर्ट ब्रेथ) के वेगों से पीड़ित हो जाता है। (हृदयधरा कला पर संचित मेद हृदय को वह चेष्टा करने नहीं देता, जो श्रम काल में अधिक प्रमाण में उस पर आ पड़ती है। परिणाम में, प्राणवायु–कार्बन डाईआक्साइड–श्रमवश अधिक मात्रा में उत्पन्न तो होती है, पर उसकी शुद्धि उतने ही प्रमाण में नहीं होती। यह संचित प्राण वृद्धि को प्राप्त हो अपना प्राकृत कर्म –श्वसन–अधिक प्रमाण में करता है। इसी का नाम श्वास है। नव्यमत से संचित यह प्राणवायु

१--संप्रति स्थूलस्य साधारणादप्याहाराद्भूरिमेदोजन्माह--तस्य हीत्यादि। मेदस्विन इति हेतुगर्भविशेषणम्। तेन यस्मादतिस्थूले शरीरे मेदो देहव्यापकत्वेन लब्धवृत्ति, अतस्तदेव प्रायो वर्धते, नान्ये रसादयः, तदभिभूतत्वादित्यर्थः॥

च० सू० २१४५ पर चक्रपाणि

श्वसन के उद्दीपक केन्द्र का उद्दीपन करता है, जिससे श्वास की गति बढ़ जाती है।) मेद के सौकुमार्य के कारण वह यावत् क्रियाओं के करने में असमर्थ होता है। मेद के सौकुमार्य, शैथिल्य और गौरव के कारण वह अकाल वार्धक्य से पीड़ित होता है (पाठान्तर में--वह कोई भी चेष्टा या गमन शीघ्र नहीं कर सकता)।

मेदस्वी पुरुष के शुक्रवह स्रोत (शुक्र की उत्पादक ग्रन्थियाँ--आयुर्वेदोक्त विसर्गकर स्रोत और प्रादुर्भाव करनेवाले स्रोत) कफ और मेद से आवृत होने के कारण तथा शुक्रधातु की पुष्टि असम्यक् होने से व्यवाय में कृच्छ्रता होती है--अल्प रति (मैथुनेच्छा), मैथुन की अशक्ति, शुक्र का शीघ्र विसर्ग (शीघ्रपतन, प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन, अर्ली डिस्चार्ज) किंवा विलम्ब से विसर्ग इत्यादि विकृतियों से वह आक्रान्त होता है। (इसमें स्थिति यह होती है कि, जैसे मूत्र वृद्धि-हाइड्रोसील या वृषण ग्रन्थियों या वृषण कोष के श्लीपद में संचित द्रव किंवा स्थूल हुई त्वचा का शुक्रप्रादुर्भावकर स्रोतों पर पीड़न होने के कारण वे क्षीण हो शुक्र की उत्पत्ति सप्रमाण कर नहीं सकते, परिणामतया शुक्र का क्षय होने से शुक्र संबन्धी तत्तत् विकृति होती है, तद्वत् मेद का पीड़न इन अवयवों पर होने से भी तत्तत् उक्त लक्षण होते हैं। कफ की भी गणना इस स्थिति के कारणों में तन्त्रकार ने की है। उसका अर्थ यह है कि एक ओर तो शुक्र प्रादुर्भाव कर स्रोतों में पोषक रस की गति मन्द होती है, साथ ही कफकृत मन्दता के कारण शुक्र के निर्माण की क्रिया भी मन्दीभूत होती है। उसका भी परिणाम शुक्र के प्राकृत कर्मों पर होता है। संचित मेद से हृदयधरा कला और उसके कारण हृदय भी पीड़ित होने से व्यवायकाल में हृदय भी उतना कार्य कर नहीं पाता। इतर श्रमों के सदृश व्यवायकालिक श्रम से भी पुरुष क्षुद्र श्वास के वेग से पीड़ित हो जाया करता है, जो इस क्रिया में अन्तराय उत्पन्न करता है। नव्यमत से पोषणिका ग्रन्थि की क्रिया बीज स्वभाव आदि कारणों से क्षीण होने से जैसे चुल्लिका ग्रन्थि प्रभृति मेद का दहन करनेवाली ग्रन्थियों का प्रवर्तक पित्त चुल्लिका ग्रन्थि में बनता नहीं, परिणामतया मेद अबाध गति से बढ़ता जाता है, वैसे बीज ग्रन्थियों का प्रवर्तक पित्त क्षीण होने से शुक्रोत्पत्ति आदि कर्मों पर भी प्रभाव होता है और पुरुष व्यवाय-संबन्धी विकृतियों से व्यथित होता है। शुक्र यन्त्र पर मेद के पीड़नवश होनेवाली उपरिलिखित संप्राप्ति भी व्यवायकालिक व्यथाओं में सहायक होती है।)

कफ का संसर्ग, कफ और मेद का विष्यन्दी स्वभाव--द्रवीभूत हो बाहर निकलने की प्रवृत्ति, मेद के समान उसके उपधातु स्वेद की भी अति-पुष्टि, गुरुता एवं उक्तरीत्या श्रम को सहन न करने का स्वभाव--इन हेतुओं से मेदस्वी पुरुष में स्वेद की प्रवृत्ति तथा तज्जन्य व्यथाएँ भी बहुत होती हैं। मेद का स्वभावगत

दौर्गन्ध्य अर्थात् मेद प्रकृत्या दुर्गन्धयुक्त होना, मेद दुष्ट होने से उसके इस स्वभाव-सिद्ध दौर्गन्ध्य में वृद्धि होना (मेद के इस दौर्गन्ध्य का उसके मलभूत स्वेद पर भी प्रभाव होना), एवं इस स्वेद की अतिमात्र उत्पत्ति--इन कारणों से दुर्गन्धयुक्त स्वेद की अतिप्रवृत्ति हो कर शरीर में दौर्गन्ध्य होता है। (इन पुरुषों के वस्त्र, उपवस्त्र आदि भी कितने ही स्वच्छ रखे जाएँ तो भी उनमें यत्किंचित् भी दुर्गन्ध लक्षित होता ही है।)

मेदस्वी पुरुष के अग्नि में स्वभावसिद्ध तीक्ष्णता होती है। इस तीक्ष्णता की व्याख्या यों की जा सकती है कि, मेद की वृद्धि की उल्लिखित-संप्राप्तिवश मेद की ही अतिपुष्टि मेदस्वी पुरुष में होती है। तथापि, इतर धातुओं की पुष्टि की आवश्यकता तो रहती ही है। यह आवश्यकता क्षुधा और पिपासा के अतियोग के रूप में व्यक्त होती है। भूयोदर्शन (ऑब्जर्वेशन) के आधार पर आचार्यों ने यह नियम बनाया है कि शरीर में किसी भी दोष, धातु आदि की वृद्धि या क्षय हो तो ऐसे आहार-विहार इत्यादि की स्वभावतः इच्छा (रुचि) होती है जो विपरीत गुणवाले होने से उसे समावस्था में लानेवाले हों--कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीत-समानयोः। इस न्याय (नियम) के आधार पर मेद की अति-वृद्धि के प्रसंग से क्षीण हुए धातु भी अपनी पूर्ति के प्रयोजन से अति क्षुधा पिपासा के रूप में रुचि-विशेष को व्यक्त करते हैं। यह आहार जीर्ण भी हो जाता है। मेदस्वी पुरुष की क्षुधा-पिपासा (अग्नि) तीक्ष्ण होने का एक अन्य भी हेतु तन्त्रकारों ने बताया है। वह यह कि, वायु का मार्ग मेद से आवृत हो जाने से वह (कोष्ठ से शाखाओं में--रस रक्तादि धातुओं में--जा नहीं सकता ; किन्तु) कोष्ठ में ही विशेषतया संचरण करता है और अग्नि का संधुक्षण (प्रदीपन)-रूप अपना प्राकृत कर्म करता है तथा आहार का शोषण करता है। कुपित वायु से अग्नि-स्थान अभिभूत हो तो अग्नि का वैषम्य होता है यह सिद्धान्त है, तथापि यहाँ वायु का कोप इतना नहीं होता। वायु अतिवृद्ध हो तो वह अग्नि को विषम करता है, वृद्धि अल्पमात्र हो तो उससे अग्नि की दीप्ति ही होती है[1]। भोजनकाल का व्यतिक्रम (उल्लङ्घन) हो जाए--काल उपस्थित होने पर भी पुरुष को भोजन उपलब्ध न हो--तो कई घोर विकारों से मेदस्वी पीड़ित होता है।

इन रोगों के अतिरिक्त मेदस्वी पुरुष क्रथन (निद्रावस्था में घुर्घुर ध्वनि ; स्नोरिंग), अकस्मात् श्वासावरोध, गद्गद वाणी, अङ्गसाद, निद्रा--इन विकृतियों से शीघ्र ही आविष्ट होता है। किंबहुना--

---

१--मेदसेत्यादौ वायोरनतिवृद्धत्वेनाऽग्निसंधुक्षकत्वम्, न वैषम्यापादकत्वम्; यतोऽतिवृद्धो हि वैषम्यं वह्नेः करोति वायुः॥ च० सू० २१।५ पर चक्रपाणि

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान् दारुणान् कृत्वा[1] नाशयन्त्याशु जीवितम्॥
च० सू० २१।७-८

मेदस्वी पुरुष में उक्त संप्राप्ति के अनुसार अग्नि और वायु विशेषतया प्रबल हो कर उपद्रव उत्पन्न करते हुए उसी प्रकार उसे भस्म करते हैं, जैसे वनाग्नि वन को। मेद की अतीव वृद्धि होने पर वातादि दोष अतर्कित ही प्रमेह पिडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि और वात रोग इनमें किसी एक से आक्रान्त कर शीघ्र ही उसे यमलोक पहुँचा देते हैं। इन रोगों में पठित वात-विकार वायु के मार्ग का मेद से आवरण होने के कारण होते हैं। उल्लिखित प्रकार से हुए रोगों के अतिरिक्त अन्य सामान्य कारणों से मेदस्वी पुरुष को जो रोग होते हैं वे भी स्रोत के आवृत होने से बलवान् होते हैं।

मेदस्विता के इन दोषों को लक्ष्य में रख उसे उत्पन्न न होने देना चाहिए। उत्पन्न होने पर चिकित्साधिकार में कहे जानेवाले प्रकार से उसे समावस्था में लाना चाहिए।

स्थूल शरीर के कारण और लक्षणों के अनन्तर अब कृश शरीर (कार्श्य) के कारण और लक्षणों का उल्लेख करते हैं।

कृश शरीर : शरीर की कृशता का कारण भी रस ही होता है। पुरुष वात प्रकोपक आहार का सेवन करता हो : यथा, उसका अन्नपान रूक्ष और कषाय रस प्रधान हो, वह प्रमित (मात्रा में अल्प किंवा/और असंपूर्ण रसों वाला) भोजन करता हो, अथवा लङ्घन करता हो;—क्षुधा-पिपासा के वेगों का ज्ञानतः अवरोध करता हो या परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पड़े; वह अति-शोक, भय, ध्यान (चिन्ता) या क्रोध से अभिभूत रहता हो, अन्य वेगों एवं निद्रा का निग्रह करता हो, रात्रि-जागरण करता हो, अति व्यायाम (या परिश्रम) करता हो, अति व्यवाय, अध्ययन या स्नान में आसक्त हो, रूक्ष-शरीर होता हुआ भी उद्वर्तन (शरीर पर तत्-तत् चूर्णों का घर्षण, उबटन) करे; वमनादि क्रियाओं का अतियोग करे; किसी रोग के अनुबन्ध (चिरकालावस्थान या पुनरावर्तन) से वह पीड़ित हो; वह वृद्ध हो; इन सबसे बढ़ कर उसकी प्रकृति या देहजनक

१—सु० सू० १५।३२ में कहे प्रमेह पिडका-प्रभृति विकार यहाँ परिगृहीत हैं, ऐसा शिवदास सेन ने अपनी टीका में कहा है।

बीज ही कृशता-कारक हो ; तो किंवा ऐसे ही अन्य कारणों की विद्यमानता में पुरुष का रसधातु उपशोषित होता है--जो रसधातु बनता है वह रूक्ष नाम स्निग्धत्वादि गुणशून्य तथा स्वल्प बनता है[1]। यह रस शरीर में (सम्यक् प्रकार से) अनुक्रमण--संचरण--नहीं करता तथा अल्प होता है, इस कारण शरीर को तृप्त–पुष्ट–नहीं करता। परिणामतया, पुरुष अतिकृश हो जाता है।

कृश पुरुष का स्फिक् (नितम्ब)–प्रदेश, उदर[2] और ग्रीवा शुष्क होते है ; धमनी जाल (सिरा समूह) उसकी त्वचा पर व्याप्त दिखाई देता है ; उसके देह में त्वचा और अस्थिमात्र शेष रहता है। उसके पर्व (संधियाँ) अति स्थूल होते हैं।

अति कृश पुरुष क्षुधा-पिपासा के वेग, अति शीत-उष्ण, वात, वृष्टि, रोग का वेग, औषध की शक्ति, व्यायाम, भार-वहन (तथा अन्य श्रम), अति सौहित्य (पेटभर कर खा सकना), अति मैथुन--इनको सहन नहीं कर सकता ; वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक क्रिया करने की उसकी शक्ति अल्प (अल्पप्राणता) होती है। वह वातिक रोगों से प्रायः पीड़ित होता है। प्लीहा, कास, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श, उदर तथा ग्रहणी विकार (पचन संस्थान के रोग) उसे विशेषतया होते हैं। ये या अन्य कोई भी रोग उसे हो तो वह (रोग) बलवान् होता है। अन्त में श्वास, कास, शोष (यक्ष्मा), प्लीहा, उदर, अग्निमान्द्य, गुल्म, और रक्तपित्त इनमें किसी रोग से आक्रान्त हो वह मृत्यु के वश होता है। इन परिणामों को देखते हुए कृशता के उत्पन्न होने के पूर्व ही योग्य उपचार करना चाहिए।

सम शरीर : स्थौल्य और कार्श्य के हेतुभूत जिन आहार-विहारों का ऊपर उल्लेख किया है उनके विपरीत जो पुरुष दोनों के मध्यवर्ती (उभय-साधारण) आहार-विहार का सेवन करता है, जैसे अन्नपान में न अति स्निग्ध, न अति रूक्ष इत्यादि गुण-विशिष्ट स्वस्थवृत्त में उपयोगी--जिनसे स्वास्थ्य स्थिर रहे ऐसे--षष्टिक, रक्तशालि, लावक (पक्षि-विशेष), दाड़िम, तण्डुलीयक (चौलाई) आदि का उपयोग करता है एवं अदिवास्वप्न आदि विहार-विशेषों का सेवन करता है उसका अन्नरस (सर्व धातुओं, उपधातुओं, दोषों और मलों का समभाव से पोषण करनेवाले द्रव्यों के सम प्रमाण से घटित होने के कारण) शरीर में अनुक्रमण (संचरण) करता हुआ समधातुओं को (धातु आदि को) समभाव से पुष्ट करता

१--उपशोषितो रसधातुरिति अतिरूक्षीकृतोऽल्पीकृतश्च ॥ डल्हन

२--उदर (उदर की पेशी, मेद आदि) अतिकृश होने से इन व्यक्तियों की उदर-परीक्षा में नाभि पर पृष्ठवंश का कठिन उभार भी स्पर्शगम्य होता है।

है--उनकी पुष्टि इस प्रकार से करता है कि वे क्षीण तो हों ही नहीं, परन्तु उनकी पुष्टि भी इतनी हो कि वृद्धि की कक्षा में वे न पहुँच जाएँ, किन्तु जिस धातु आदि का जितना प्रमाण आरोग्य के लिए अपेक्षित है, उतना स्थिर रहे इस विधि से उनका आप्यायन करता है। परिणामतया, उसके मांसादि धातुओं का उपचय (पुष्टि) सम होता है, उनका संहनन या मेल (उनका संनिवेश, स्थान विशेष पर स्थिति) भी सम (सुडौल) होती है; उसका अग्नि सम होता है; वृद्धावस्था भी सम होती है--वृद्धावस्था नियत काल पर उपस्थित होती है, उसका बल भी क्रमशः अपना प्रभाव दिखाता है; उसका शरीर तथा इन्द्रियाँ बलवान् और दृढ़ होती हैं; दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते (च० सू० २१।१८)--इन्द्रियों की दृढ़ता के कारण ही रोगों का बल कभी इतना बढ़ने नहीं पाता कि उसे व्याकुल कर सके; क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, आतप-वात-वृष्टि इनको वह सहन कर सकता है; परिश्रम और व्यायाम को भी सहन करने का सामर्थ्य उसमें होता है।

क्षुधा-पिपासा आदि के सहन का तात्पर्य व्यवसायोपयुक्त होने से संक्षेप में समझने योग्य है। कई व्यक्तियों को धूप में निकलने से आतप-दग्ध (लू लगने) का भय होता है, किसी को शीत, वात या वृष्टि से प्रतिश्याय, शरीरावयवों का अवसाद आदि विकृतियाँ सहसा हो जाती हैं; किसी को दो-चार मील भी चलना पड़े या ऐसा ही कोई श्रम करना पड़े तो ज्वर का वेग हो आता है; क्लम के कारण वे कुछ काल तक कोई अन्य कार्य कर नहीं सकते; हाथ से दो-चार सेर भी भार स्वल्प काल के लिए वहन करना पड़े तो श्रम और कम्प हो आता है। सम शरीर में ये भय नहीं होते।--स सततमनुपालयितव्यः (सु०सू० १५।३४); 'स्वस्थवृत्तानुवर्तनेन' इति शेषः--डल्हन। स्वस्थवृत्तोक्त आचार का सूक्ष्मता से पालन कर इस सम शरीर के साम्य को स्थिर रखने का सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए।

ऊपर स्थूल तथा कृश पुरुषों को पीड़ित करनेवाली जिन व्याधियों का उल्लेख किया गया है उन्हें देखने से विदित होगा कि--अति स्थूल और अतिकृश दोनों ही पुरुष सतत व्याधित होने से अत्यन्त गर्हित होते हैं। सदा रोगी होने से कोई भी रोग बढ़ कर विषम स्थिति उत्पन्न न कर दे इस प्रयोजन से इनका सतत उपचार करते रहना चाहिए--संक्षेप में कृश का संतर्पण (बृंहण) के रूप में तथा स्थूल का कर्शन (अपतर्पण) के रूप में। मध्य शरीर प्रशस्त होता है।

स्थूल और कृश दोनों सदातुर होते हुए भी दोनों की तुलना ही करनी हो तो--कृशः स्थूलात्तु पूजितः (च० सू० २१।१७)। कृश पुरुष स्थूल की अपेक्षया अधिक उत्कृष्ट होता है। कारण, एक तो स्थूल पुरुष के रोगों की संख्या तथा

बल अधिक होता है ; अपरंच, उसका उपचार भी दुष्कर होता है। रोगमात्र की आयुर्वेदोक्त चिकित्सा-पद्धति अनेकविध होने पर भी संक्षेप में उसको दो वर्गों में विभक्त किया गया है--कर्शन (अपतर्पण) तथा बृंहण (संतर्पण)। इनमें संतर्पण तो स्थूल को और भी स्थूल बनानेवाला होने से यों ही उपयुक्त नहीं है। दूसरे उपक्रम अपतर्पण को स्थूल पुरुष सहन नहीं कर सकता, क्योंकि उसका अग्नि अति दीप्त होता है। इसके विपरीत दुर्बल (कृश) पुरुष के लिए संतर्पण उचित और शक्य होता है[1]।

कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूल कृशौ नरौ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक्॥

सु० सू० ३५।३४

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूल कृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥

सु० सू० १५।३५

सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।
सततं चोपचर्यौ हि कर्शनैर्बृंहणैरपि॥
स्थौल्य कार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत्॥

च० सू० २१।१६-१७

संहनन की परिक्षा[2]

संहननतश्च (परीक्षेत) इति। संहननं, संहतिः, ('संघातः' इति पाठान्तरम्) संयोजनमित्येकोऽर्थः॥ च० वि० ८।११६

संहतिरिति निबिडसंधानतेत्यर्थः॥ चक्रपाणि

रोग परीक्षा में रोगी के बल आदि का निर्णय करने के लिए संहनन की भी

१—कुतः स्थूलात् कृशः पूजितः? उच्यते--स्थूलस्य क्रियाऽक्षमत्वात्, अतिशयेन व्याधिपीडनाच्च (सु० सू० १५।३५ पर डल्हन)। स्थूलस्य दुरुपक्रमत्वात्। यतः स्थूलस्य संतर्पणमतिस्थौल्यकरम्, अपतर्पणं चायं प्रवृद्धाग्नित्वान्न सोढुं शक्नोति; दुर्बले तु संतर्पणं योग्यमेवेति भावः। च० सू० २१।१६-१७ पर चक्रपाणि

२—स्थल: च० वि० ८।११६ तथा चक्र०।

परीक्षा करनी चाहिए। संहनन का अर्थ है-- शरीर के मांसपेशी आदि दृश्य स्थूल अवयवों एवं सूक्ष्म शरीर-परमाणुओं का संधान नाम परस्पर संयोग निबिड़ हो--परस्पर अति निकट या घन हो--तो इस शरीर की इस विशिष्टता किंवा उसके विपरीत न्यून संधान को शरीर का संहनन कहते हैं। उसे ही संहति, संघात या संयोजन (प्रसिद्ध नाम--संगठन या रचना) भी कहते हैं।

पुरुष की अस्थियाँ सम हों--उस पुरुष में अस्थियों का जो स्वास्थ्योचित प्रमाण होना चाहिए वैसा ही उनका उपचय हुआ हो--साथ ही वे (अस्थियाँ) सुविभक्त हों--प्रत्येक अस्थि का जैसा संनिवेश होना चाहिए,जहाँ उसकी स्थिति होनी चाहिए वहीं स्थित हो ; अस्थि आदि की संधियाँ सुबद्ध--सुदृढ़--हों ; मांस सुनिविष्ट हों--पेशियों में तथा शरीरावयवों में अन्यत्र मांसधातु का जो प्रमाण होना चाहिए वह हो तथा वह योग्य स्वरूपवाला एवं उसका जिस स्थान पर रहना स्वास्थ्योचित हो उसी स्थान पर स्थित हो ; रक्त भी इसी प्रकार सुनिविष्ट हो--नाम, उसका प्रमाण और स्वरूप सम हो, उसका संवहन भी जिस अवयव में जिस प्रमाण और वेग से होना चाहिए वैसा ही हो,तो ऐसे शरीर को सुसंहत (उत्तम संहननवाला) कहते हैं। लोक भाषा में ऐसे शरीर को सुडौल (सुघटित) कहा जाता है। जिन पुरुषों का शरीर सुसंहत होता है वे बलवान् होते हैं--व्यायाम, श्रम, शीत-वात-आतप आदि को एवं रोग के बल को सहन करने का सामर्थ्य उनमें उत्कृष्ट होता है।

जिनका शरीर उत्तम संहतिवाला नहीं होता उनका बल अल्प होता है और जिनका संहनन मध्य स्वरूप का होता है उनका बल भी मध्यानुपाती होता है।

देश की परीक्षा[1]

देशस्तु भूमिरातुरश्च ॥ च० वि० ८।९२

देश शब्द के आयुर्वेद में दो अर्थ हैं--भूमि और आतुर (रोगी)। इनमें द्वितीय आतुर का अभिधान देश नाम से इसलिए किया है कि--आयुर्वेद तथा उसके उपासक के लिए आचार्यों ने जो धातुसाम्य एवं उसके द्वारा रोगोपशान्ति-रूप कार्य बताया है उसका देश, आश्रय या अधिष्ठान आतुर ही होता है[2]--

---

१--च० वि० ८।९३-९४ तथा चक्र ; सु० सू० ३५।४२-४५ तथा डल्हन ; च० क० १।७-९ तथा चक्र०।

२--कार्य की व्याख्या करते हुए तन्त्रकार ने रोगोपशान्ति के सामान्य लक्षण संक्षेप में बताए हैं। उपयुक्त एवं सदा स्मरणीय होने से अर्थ-सहित मूल प्रकरण (च० वि० ८।८९) यहाँ दिया जाता है।-- →

आतुरस्तु खलु कार्य देशः (च० वि० ८।६४) आतुर-रूप देश की परीक्षा उसकी आयु, बल और दोष के प्रमाण के ज्ञान और तदनुरूप औषध की मात्रा के विनिश्चयार्थ की जाती है। आतुर की इस परीक्षा का प्रपञ्च पहले किया जा चुका है। यहाँ भूमि नाम से प्रसिद्ध देश की परीक्षार्थ उसके लक्षण दिए जाते हैं।--

भूमि-रूप देश का विचार दो दृष्टियों से किया जाता है--मुख्यतया रोगी-संबन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा विशेषतया औषधों के गुणावगुण के परिज्ञान के लिए। इनमें प्रथम दृष्टि से किए गए विचार में देश शब्द भारत, इंगलैण्ड, अफ्रीका आदि, किंवा उनके अङ्गभूत गुजरात, बंगाल आदि उन्हीं भूमियों के अर्थ में व्यवहृत है जिनमें आज भी देश, प्रदेश या उनके पर्याय रूप प्रान्त, राज्य आदि शब्दों का व्यवहार होता है। इस अर्थ में रोगी या स्वस्थ पुरुष, जिसके रोगोपशमन अथवा रोगानुत्पत्ति के उपायों का विचार करना है, उसके देश के संबन्ध में यह जानना होता है कि--

यह पुरुष किस देश में उत्पन्न हुआ है, किस देश में बड़ा हुआ है किंवा किस देश में रोग पीड़ित हुआ है। (कारण, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रोग हुआ करते हैं; सो देश के ज्ञान से ही उनकी संभावना हो सकती है, अन्यथा नहीं)। उस-उस देश में मनुष्य किस-किस अन्नपान का प्रायः सेवन करते हैं;

←--कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः। --आयुर्वेद का प्रयोजन है दोषों की समता। और इस दोष-साम्य का लक्षण है--विकारों नाम रोग के लक्षणों की शान्ति। **परीक्षा त्वस्य**--रोगोपशान्ति की परीक्षा जिन लक्षणों से होती है वे ये हैं--**रुगुपशमनं, स्वरवर्णयोगः, शरीरोपचयः, बलवृद्धिः, अभ्यवहार्याभिलाषः, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणं, निद्रालाभो यथाकालं, वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं, सुखेन च प्रतिबोधनं, वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां व्यापत्तिरिति**--शूल, भेद, तोद, दाह प्रभृति वेदनाओं (सब्जेक्टिव लक्षणों) की शान्ति; त्वचा, नख, नयन, मल, मूत्रादि में प्राकृत वर्ण और कण्ठ में प्राकृत स्वर का पुनः लौट आना; शरीर की पुष्टि, बल की वृद्धि, अन्नपान की आकांक्षा, आहार का काल उपस्थित होने पर उसके प्रति रुचि; सेवित अन्नपान का आगामी आहार-काल आने के पूर्व सम्यक् नाम विदाह, आध्मान आदि अजीर्णों के लक्षण उत्पन्न किए बिना जरण (पचन); यथाकाल निद्रालाभ, निद्रा में तत्तत् दोष या रोग के सूचक स्वप्नों का दर्शन न होना; सुख से नाम तन्द्रा आदि के बिना जागरण; ऊर्ध्ववात तथा अधोवात, मूत्र, पुरीष और शुक्र की प्रवृत्ति; मन और ज्ञानेन्द्रियों की अपनी क्रिया में कोई क्षति न होना तथा उनमें सर्व शुभ लक्षणों का उदय।

उनकी प्रायः चेष्टा कैसी होती है ; उनका आचरण कैसा होता है ; उनका बल तथा सत्त्व (क्रमशः शारीरिक बल तथा मनोबल) कैसा होता है ; वहाँ कौन वस्तुएँ सात्म्य होती हैं ; किन वस्तुओं के प्रति भक्ति (अभिरति) होती है ; कौन से दोष का प्रायः प्रकोप उस-उस देश में होता है ; कौन रोग उस-उस देश में सविशेष होते हैं और अन्त में उस देश में कौन आहार-विहार, औषध आदि प्रायः हित (गुणकारी) होता है, और कौन अहित।

देश की ऊपर कही परीक्षा में एक प्रयोजन देश-भेद से दोष तथा व्याधि का परिज्ञान है। तत्-तत् देश में तत्-तत् दोष का प्रकोप देश-स्वभाववश हुआ करता है। देशों का इस दृष्टि से विचार करते हुए संहिताकारों ने देश के तीन प्रकार बताए हैं--**देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति** (सु० सू० ३५।४२; च० क० १।८)। --**आनूप**(या अनूप), **जाङ्गल** (मरु या धन्व) तथा **साधारण**। प्रत्येक देश के लक्षणादि अधोनिर्दिष्ट हैं।

आनूप (जलप्राय) देश के लक्षण--इस देश की मूलभूत विशेषता यह है कि यह जलप्राय (विविध कारणों से जल के बाहुल्यवाला) होता है : **जलप्रायमनूपं स्यात्** (अमरकोश)[१]। इस देश के जलप्राय होने का कारण यह होता है कि इसमें वृष्टि बहुत होती है ; समुद्र अथवा एक या अनेक नद, नदी और नाले इसके समीप होते हैं ; निम्नोन्नत भू-विभाग इसमें बहुत होते हैं--देश में सर्वत्र प्रकृत्या खूब गढ़े, पोखर आदि एवं छोटे-बड़े पहाड़-पहाड़ियाँ, टेकरा-टेकरी आदि पुष्कल होते हैं, जिनके कारण जल रुद्ध रहता है ; (कहीं-कहीं विशेषतया प्राचीन नगर, जिनमें दूषित जल-प्रवाह की व्यवस्था नहीं है, उनमें मार्ग आदि पर किंवा मल तथा जल को संचित रखने के शौचकूपों--सेसपूल्स--में जल संचित रहता है ; कहीं जल कूपों एवं वर्षाजल को संग्रहीत करने के लिए आवृत टंकियाँ बनाई जाती हैं। इस कारण भी देश जलप्राय होता है ; या अन्य पूर्वोक्त कारणों से वह जलप्राय हो तो उसकी इस विशिष्टता में वृद्धि होती है) ; वायु भी उक्त हेतुवश बहुशः शीत और मृदु चलता है ; वृक्ष भी संख्या में बहुत सुपुष्ट तथा विशाल होते हैं ; इस प्रकार इस देश के भू-विभाग तथा उन्नत प्रदेश अनेक गहन और पुष्पित वन-राजियों तथा निकुञ्जों से परिव्याप्त होते हैं ; वृक्ष-वनस्पतियाँ मन्द मृदु पवन से आन्दोलित रहा करती हैं ; वृक्षों में हिन्ताल, तमाल, नारिकेल और कदली (केले) का बाहुल्य होता है (इन वृक्षों की वृद्धि देश जलप्राय होने से उत्कृष्ट होती है। अतः द्रव्योपार्जनार्थ कृषक लोग भी

१--**अनुगताः आपः यस्मिन्** यह अनूप शब्द का विग्रह है। पाणिनि ने इस शब्द की सिद्धि दो विशेष सूत्रों से की है।

इन देशों में कदली और नारिकेल की वाटिकाएँ लगाते हैं। कदली के उपवनों में जल की बहुत आवश्यकता होने से इनके समीपगत प्रदेश की जलप्रायता में अधिक वृद्धि होती है। परिणामतया, इनके निकट रहनेवाले पुरुषों के आगे कहे अनुसार कफ-वात प्रधान रोगों से पीड़ित होने की संभावना सविशेष रहती है; विशेषतया उस स्थिति में जबकि उनकी प्रकृति आदि कारण भी कफ और वात के प्रकोप के अनुकूल हों); नदी-तीर वञ्जुल (जलवेतस) तथा वानीर (वेतस, बेंत; फारसी में बेदमुश्क) से प्रायः उपशोभित रहते हैं--उन पर ये पौधे अधिकतर पाए जाते हैं; वन-उपवन तथा सरोवर हंस, चक्रवाक, वक, मत्त कोकिल, टिट्टिभ, भृङ्ग आदि[1] पक्षियों के मधुर रव से मुखरित रहते हैं। जल-प्रायता आदि का परिणाम यह होता है कि--

आनूप देशों में कफ और वात का प्रकोप अति सुलभ होता है; परिणामतया कफ और वात के पृथक् या संसृष्ट रोग इस देशमें प्रधानतया दृष्टि-गोचर होते हैं (कफवातरोगभूयिष्ठः–च०क० १।८) कफ (तत्सम और तज्जन्य आम) एवं वात की सुलभता के कारण देशवासी भी प्रायः मृदु (शिथिल) सुकुमार और स्थूल शरीर वाले तथा जैसा कि ऊपर कहा कफ वात रोगभूयिष्ठ हुआ करते हैं।

कुछ देर रुक कर आनूप देशों की कफ-वात-प्रकोपकता का विचार कर लें। विस्तार स्वस्थवृत्त के ग्रन्थों में देखा जा सकता है। प्रत्येक दोष के गुण अनेक होते हुए भी उनमें प्रधान गुण एक एक होता है। उसी की क्रिया के आश्रित अन्य गुण भी होते हैं। कफ का प्रधान गुण मन्द होता है। दूष्य-विशेष के साथ संमूर्च्छन अथवा अन्य शब्दों में कहना हो तो दूष्यों (धातुओं-उपधातुओं) से बने हुए विभिन्न अवयवों में स्थान संश्रय होते हुए जिस भी दूष्य या स्थान के साथ कफ का संसर्ग होता है उसके भेद से अथवा संप्राप्ति के भेद से रोग एवं उसके लक्षणों का भेद होता है। कफ के मन्द गुण का ही इस दृष्टि से विचार करें और देखें कि अवयव-भेद से किस प्रकार रोग भेद हुआ करता है।

मन्द गुण का प्रभाव आमपच्यमानाशय पर हो तो दो स्मरणीय विकृतियाँ होती हैं। प्रथम तो समान वायु की क्रिया से होनेवाला पाचक पित्त (विविध पाचक रसों) का उदीरण मन्द होता है--उसका प्रमाण तथा वेग अल्प (हायपो-सिक्रीशन) होता है। द्वितीय प्राण, समान और अपान वायुओं के प्रभाव से जो अपकर्षणात्मक तथा वाह्य द्रव्यों को अपने-अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाने

१—इस स्थल पर नन्दीमुख, पुण्डरीक, कादम्ब, मद्गु और शतपत्र इन पक्षियों के नाम भी चरक ने दिए हैं।

के लिए चेष्टाएँ होती हैं, उनमें भी मन्दता (हायपो-मोटिलिटी) आ जाती है। वायुः अपकर्षति (च० शा० ६।१४-१५) इन पदों में चरक ने पचन-क्रिया में वायु का एक कर्म अपकर्षण बताया है। टीकाकार ने इसका अर्थ अन्नपान को पित्त के संसर्ग में लाना बताया है। इसके साथ ही यह विदित है कि तीनों वायु अन्नपान की बहिर्मुख स्रोत (मलद्वार) की ओर गति के भी कारण हैं। अन्नरस बन जाने पर उसकी हृदय की दिशा में गति समान वायु की क्रिया से होती है। पित्त तथा वायु पर मन्द गुण के प्रभाव के कारण अग्निमान्द्य और अजीर्ण होते हैं, यह बात सरलता से समझी जा सकती है। विशेषतया, बहिर्द्वार के प्रति गति की मन्दता का एक अन्य सुस्मरणीय परिणाम होता है।--

तृतीय अवस्थापाक, जिसमें पुरीष का पिण्डीभाव एवं वायु की पुष्टि होती है, उसका निरूपण करते तन्त्रकार ने कहा है--

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥

च० चि० १५।११

अन्नपान के स्नेह तथा द्रव का पचन हो कर पुरीष के पिण्डीभाव का कार्य बहुधा वायु का होगा, यही संभावना सामान्यतया होती है। कारण, क्लेद-शोषण का कर्म वायु का ही कहा गया है। पुरीष के पिण्डीभाव में भी वायु का कर्तृत्व अवश्य है, वात-विकारों में इसी कारण बद्धविट्कता की गणना होती भी है, परन्तु, जैसा कि यहाँ कहा है, यह कार्य प्रामुख्येन अग्नि का ही है। अतएव अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी जिनमें पिण्डीभाव के विपरीत द्रव मूल प्रवृत्ति हुआ करती है, उनमें अग्नि की मन्दता को ही मुख्य कारण बताया है। इन रोगों तथा अर्श को लक्ष्य कर आचार्य ने कहा है--

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः
प्रायेण चाऽन्योन्यनिदानभूताः।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते
रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्॥

अ० हृ० चि० ८।१६४

अग्नि की समता से कैसे मल का पिण्डीभाव होता है, एवं तद्विपरीत अग्नि की मन्दता द्रव मलप्रवृत्ति का कारण कैसे है यह विषय अतिसार की संप्राप्ति के प्रकरण में विशद किया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना है कि देश और उसके समान प्रकृति, ऋतु आदि कफ के अनुकूल हों--उसके वर्धक हों--तो कफ की--

विशेषतया उसके मन्द गुण की--वृद्धि होने से अन्य अवयवों के समान आमपच्यमान-पक्वाशय पर भी प्रभाव होता है। इन पंक्तियों में जिस प्रभाव का उल्लेख करना है वह यह है कि, मन्द गुण के प्रभाव से पच्यमानाशय और पक्वाशय में समान और अपान से होनेवाली मल की बहिर्मुख प्रवृत्ति (गति) मन्द हो जाती है। परिणामतया, विशेषतया पक्वाशय या पुरीषधरा कला में पुरीषगत स्नेह तथा द्रव अंश के पचन और शोषण का अधिक समय तत्रत्य अग्नि और वायु को प्राप्त होता है। इससे पुरीष उत्तरोत्तर गाढ़ (बद्ध), पिण्डीभूत तथा वर्तुलीभूत (ग्रथित) होता जाता है। इस स्थिति के आनाह, मलावष्टम्भ, विबन्ध (कब्ज), उदावर्त आदि नाम हैं। इससे वायु का भी अवरोध हो कर विकृति में वृद्धि होती है। कफ प्रधान आनूप देशों में विबन्ध, वातप्रकोप, अग्निमान्द्य, अजीर्ण आदि की यह संप्राप्ति है। दूध, केला आदि द्रव्य कफ के समान गुणवाले होते हुए भी कइयों में वायु का प्रकोप ही करते देखे जाते हैं। ऐसे पुरुषों को कफ-वात प्रकृति समझना चाहिए। उनमें कफ की वृद्धि इन द्रव्यों के सेवन से होकर महास्रोतपर उल्लिखित रीति से मन्द गुण का परिणाम हो कर आनाह आदि विकार होते हैं।

अन्नरस में भी कफ-प्रकोपक गुणों का आधिक्य आनूप देशों में किंवा कफवर्धक द्रव्यों के अतियोगवश होता है। कुपित कफ अन्नरस के साथ हृदय में पहुँचता है। वहाँ इसका प्रभाव व्यान वायु पर होता है। यह व्यान वायु हृदय और उससे निकलनेवाली दश धमनियों के आकुञ्चन-प्रसारण द्वारा सर्वशरीर में रस (-रक्त) के विक्षेपण का कारण है। कफ के वृद्ध हुए मन्द गुण का प्रभाव व्यान वायु की इस क्रिया पर होने से रस (-रक्त) का विक्षेपण भी वेग और प्रमाण की दृष्टि से मन्द तथा शिथिल हो जाता है। इसे ही प्राचीनों ने सिरा-शैथिल्य और नवीनों ने हायपोटेन्शन (लो ब्लडप्रेशर) कहा है। आयुर्वेद की दृष्टि से, उक्त संप्राप्ति को लक्ष्य में रखें तो, इस विकृति का एक कारण कफ का प्रकोप और व्यान वायु की तज्जनित मन्दता है।

कफ के मन्द गुण के साथ पिच्छिल गुण का भी कोप हो तो रस-रक्त में तन्तुमत्ता आ जाती है। वह स्त्यान हो कर (जम कर) कहीं अवरोध उत्पन्न करता है। अवरोध या आवरण स्वयं हृदय के रसवह स्रोतों में हो तो उनमें रस-रक्त के विक्षेपण का निमित्तभूत व्यान वायु अपने मार्ग (क्रिया) में आए इस आवरण के कारण कुपित होता है--कोपवश उसकी आकुञ्चन-प्रसारणात्मक चेष्टा की संख्या तथा तीक्ष्णता में वृद्धि हो जाती है। महास्रोत में ग्रथित मल आदि के कारण हुए अवरोध से समान या अपान वायु का कोप होने से जैसे पुरीष-शूल (इंटेस्टाइनल कॉलिक) आदि होते हैं, याकृत पित्तवह स्रोतों में पित्तके अवरोधवश व्यान वायु का कोप हो कर जैसे उन स्रोतों के स्थान पर शूल (बिलिअरी

कॉलिक) होता है, एवं मूत्रयन्त्र में अश्मीभूत-मूत्रजनित अवरोध के कारण जैसे अपान वायु का कोप हो कर अश्मरीशूल (रीनल कॉलिक) होता है वैसे ही हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों में स्त्यानीभूत रस-रक्त के कारण हुए अवरोध से भी व्यान वायु कुपित हो कर न्यूनाधिक हृच्छूल (कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस) होता है।

रस-रक्त इन्द्रियों के अधिष्ठान शिर में स्त्यानता को प्राप्त हों तो पक्षाघात आदि रोग होते हैं। इस प्रकार हुए पक्षाघात आदि रोगों में वात के आवरणवश हुए प्रकोप में कफ का भी अनुबन्ध होता है, अतः रोग साध्य होता है—साध्य-मन्येन संयुक्तम् (सु० नि० १।६३)। कारण, रस-रक्त के वेग को तीक्ष्ण करनेवाले भल्लातक, मल्ल, आसव-विशेष आदि द्रव्यों से स्त्यान हुआ रस-रक्त स्थानच्युत हो जाता है। रोग का मूल नष्ट होने से रोग भी नष्ट होता है।

इन्द्रियों के अधिष्ठान में रस-रक्त के स्कन्दन से संभावित यह स्थिति अमुक रोगियों में ही देखी जाती है। अधिकतर स्वस्थप्राय पुरुषों में जो स्थिति होती है वह यह कि रस-रक्त का प्रमाण तथा वेग इन अधिष्ठानों में मन्द होने से तन्द्रा, क्लम, श्रम, भ्रम, आलस्य आदि लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है। आनूप देशों में प्रायः जन इन विकृतियों से पीड़ित होते हैं यह अनुभवसिद्ध है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'स्लगिशनेस' कहते हैं।

शाखाश्रित कामला में पित्त श्लेष्मा से रुद्धमार्ग (श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत्—च० चि० १६।१२५) होता है। अल्पतर रोगियों में कफ अर्बुद के आकार में हुई वृद्धि के रूप में होता है। मधुर रस के अतियोग से होनेवाली विकृतियों में आचार्यों ने अर्बुदों की भी गणना की है। मधुर रस से कफ को छोड़ अन्य किसी दोष का प्रकोप होता नहीं। सो, मधुर रस के अति-योग का ही नामान्तर कफ-प्रकोप है ऐसा कहें तो असत्य न होगा। किंबहुना, शाखाश्रित कामला में कफजनित अवरोध का एक प्रकार अर्बुदजनित अवरोध होता है। परन्तु प्रायः रोगियों में कफ जनित अवरोध का स्वरूप यह देखा जाता है कि, कफ के मन्द गुण की वृद्धि होने से याकृत पित्त का अयन (वहन) ही मन्दता को प्राप्त होता है। परिणामतया, क्लेदशोषणकर्मा वायु इसके द्रवगुण का शोषण करता है और पित्त को घनीभूत और कभी-कभी वर्तुलीभूत और अश्मीभूत भी कर देता है। इस अवस्था को प्राप्त पित्त इसे पच्यमानाशय में पहुँचाने वाले व्यान वायु के मार्ग (क्रिया) में आवरणरूप होता है। इस आवरण से व्यान कुपित हो उसके आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार की वृद्धि के कारण तीव्र शूल (बिलिअरी कॉलिक) होता है। अवरुद्ध पित्त शरीर के इतर अवयवों में जा कर उनमें हारिद्रवर्णता आदि लक्षण उत्पन्न करता है; परन्तु

पच्यमानाशय में 'मल रञ्जक' इस पित्त के न जाने से पुरीष 'तिलपिष्ट सदृश' रहता है।

कफ के मन्द गुण के कोप से स्रोतोरोध होने के एक-दो अन्य परिणाम प्रस्तुत कर दूँ, जिससे आयुर्वेद का यह प्रकरण विद्यार्थी को हस्तामलक हो जाए।

राजयक्ष्मा की संप्राप्ति के तीन अङ्गों में स्रोतोरोध एक है।

स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनाँ च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥
च० चि० ८।४०

यहाँ स्रोतोरोध, रक्तादि शुक्रपर्यन्त धातुओं का क्षय एवं धात्वग्नियों की मन्दता इन तीन अङ्गों में यक्ष्मा की संपूर्ण संप्राप्ति समाविष्ट कर दी गई है। यहाँ कहा स्रोतोरोध मुख्यतया कफ के कारण होता है। सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है-- कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु (सु० उ० ४१।६)। यहाँ रस शब्द से रसादि यावत् वहनशील द्रव्यों का ग्रहण है[1]।

यक्ष्मा में कफ से (कफ के मन्द गुण से) रस-वह स्रोतों का अवरोध अपने स्थान हृदय और धमनियों में होता है तो मूलभूत इन स्थानों में अवरुद्ध हुआ रस प्राणवह स्रोतों में संचित होता है। यह रस कफ-मिश्रित हो पिच्छिल, श्वेत, पीत, हरित आदि विविध रूपों में कास के वेग से मुखमार्ग से प्रवृत्त होता है। तथाहि —

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥
च० चि० ८।४३

गुर्जर भाषा में तो अतएव कास को उधरस ('ऊर्ध्वरस' का अपभ्रंश) ही कहते हैं।

यक्ष्मा में रक्तवह स्रोतों का मार्ग अवरुद्ध हो और वह रक्त मांसादि धातुओं के आशयों में उनके पोषणार्थ न जा कर आमाशय में संचित हो तो उत्क्लेशवश उसकी वान्ति (वमन) होती है।

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति च॥
च० चि० ८।५८

१—रसवर्त्मसु इत्यत्र आदिशब्दो लुप्तो ज्ञेयः। तेन रसादिवाहिनीषु धमनीष्वित्यर्थः—डल्लन।

टीकाकार ने इसे केवलरुधिरच्छर्दन (केवल नाम अकेले--कफरहित--रक्त का वमन) कहा है। आर्तव अवरुद्ध होने से कभी-कभी नासा आदि मार्गों से प्रवृत्त होता है। आधुनिकों ने इसे विकारिअस मेंस्ट्रुएशन नाम दिया है। ऐसी ही स्थिति स्रोतोरोधज रक्तवमन में होती है। प्राणवह स्रोतों के (उर के) कफ का स्थान होने से इस स्थान से जो रक्त प्रवृत्त होता है, उसका निर्देश इस पद्य से पूर्व के पद्य में तन्त्रकार ने किया है। इसे सकफ रक्त-प्रवृत्ति नाम टीकाकार ने दिया है। नवीन लेखक इसे रक्तष्ठीवन नाम देते हैं।

कफ के मन्द गुण का प्रभाव श्लेष्मधरा कलाओं पर हो तो श्लेषक कफ उत्पन्न (पुष्ट) हो व्यान वायु द्वारा पुनः गृहीत हो कर सर्वशरीर में प्रसारित किया जाता रहता है। कफ का ग्रहण करनेवाले स्रोत सर्वथा रुद्ध हों या उन पर मन्द गुण का प्रभाव हो तो कफ अधिक या न्यून प्रमाण में संचित होकर शोथ उत्पन्न करता है। उदरधरा (पेरीटोनियम) में इस प्रकार कफ के संचय से जलोदर, संधियों की श्लेष्मधरा में कफ संचित होने से संधिशोथ, हृदयधरा कला (पैरीकार्डियम) में कफ की संचिति से कफज हृद्रोग एवं फुफ्फुसधरा (प्लुरा) में कफ-प्रचिति से जलपार्श्व (वेट प्लुरिसी ; प्लुरिसी विथ इफ्युझन) होता है। जलपार्श्व संज्ञा नवीन है तथा जलोदर नाम की अनुकृति में रची गयी है। कदाचित् यह प्राचीनों का कफज पार्श्वगुल्म हो। अस्तु। ये सर्व कलाएँ चेष्टाओं के समय चेष्टा को सुगम बनाने का प्रयोजन सिद्ध करती हैं, अतः इन्हें श्लेष्मधरा कला का लक्षण देखते हुए श्लेष्मधरा नाम ही देना चाहिए तथा तदन्तर्गत द्रव द्रव्य को श्लेषक कफ ही कहना चाहिए। सुश्रुत शारीर-स्थान में संधि प्रकरण में अस्थिसंधियों का मुख्य नाम संधि दिया है ; परन्तु अवयवमात्र की संधि को भी संधि कहा गया है[1]। सु० उ० ३६।५१-५४ में विषमज्वरों तथा प्रलेपक ज्वर (राजयक्ष्मा का लक्षणभूत ज्वर) की संप्राप्ति के प्रकरण में प्रलेपक ज्वर को संधिस्थ दोषों से उत्पन्न होनेवाला कहा है। इन सर्व ज्वरों की संप्राप्ति बताते हुए कहा गया है कि अन्त को दोष जब आमाशय में पहुँचता है, तो ज्वर का वेग होता है। इन में प्रलेपक ज्वर में यह विशिष्टता होती है कि इसका वेग नित्य वर्तमान रहता है। उसका कारण यह बताया गया है कि दोष आरम्भ में संधियों में विद्यमान होता है। इन संधियों में आमाशय की संधियाँ भी अन्तर्भूत हैं ही। आमाशय की संधियों से आमाशय में दोष को जाने में समय

१--देखिये :

अस्थ्नां तु संधयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुसिराणां तु संधिसंख्या न वर्तते।।

सु० शा० ५।२८

की अपेक्षा नहीं होती। परिणामतया, प्रलेपक में ज्वर सदा वर्तमान रहता है। इस प्रसंग में आमाशय की संधियों को भी संधि कह कर संधि शब्द के प्रयोग की व्यापकता तन्त्रकार ने दर्शायी है। किं बहुना, इन दो प्रकरणों को देखते हुए अस्थि-संधियों के समान हृदय, फुप्फुस और उदर की संधियों को भी संधि मानना आयुर्वेद-विरुद्ध कल्पना नहीं है। अथंच, इन संधियों में स्थित कलाएँ भी श्लेष्म-धरा कलाएँ ही हैं; एवं इनमें स्थित द्रव श्लेषक कफ ही है और उसका कार्य अस्थिसंधियों के सदृश इन अवयव-संधियों की आकुञ्चनादि-रूप चेष्टाओं को 'साधु' बनाना ही है। इस विवेचन से निदान-चिकित्सोपयुक्त यह सत्य समझ कर बुद्धिस्थ कर लेना चाहिए कि—संप्राप्ति के साम्य को लक्ष्य में रखते हुए संधिशोथ में श्लेषक कफ के संचय का जो उपचार किया जाता है प्रायः वही उपचार जलपार्श्व तथा हृदयधरा कला में कफ-प्रचिति में भी करना चाहिए। सहसा नव्यमताभिभूत हो अपने मार्ग से च्युत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। संधिशोथ भी यक्ष्मा, पूयमेह, फिरंग आदि किसी भी कारण से हो उसका उपचार आमवात प्रभृति प्रकरणों में निर्दिष्ट उपचार-पद्धति का अवलम्बन करते हुए लङ्घन, रूक्ष स्वेद आदि के रूप में करना चाहिए।

आनूप देश का विचार करते हुए इस प्रकरण में हमने दर्शाया है कि, किस प्रकार इस देश में जलप्रायता के कारण प्रकुपित हुआ कफ विशेषतया अपने मन्द गुण के प्रभाव से तत्-तत् विक्रिया उत्पन्न किया करता है। आनूप देश-सुलभ इतर विकृतियों का भी विचार इसी परिपाटी से किया जा सकता है। आसाम, बंगाल आदि प्रदेश आनूप हैं।

आनूप देश के लक्षणों के पश्चात् अब प्रकरण-प्राप्त मरु देश के लक्षणों का निर्देश करते हैं।

मरु (जाङ्गल) देश के लक्षण—जाङ्गल, मरु या धन्वदेश की स्मरणीय विशेषता यह है कि उसमें देशस्वभाववश वात और पित्त का प्रकोप विशेष होता है, अतः इन्ही दो दोषों से होनेवाले रोगों का प्राधान्य उसमें (वात-पित्त-रोग-भूयिष्ठः—सु० सू० ३५।४२) होता है। कारण, इसमें वर्षा न्यून होती है; नदी आदि प्रवाहों, सरोवरों और कूपों में भी जल स्वल्प होता है। वायु उष्ण और दारुण (क्लेशप्रद) होता है (यह वायु 'लू' नाम से भाषा में प्रसिद्ध है)। इसमें पर्वत और टेकरियाँ छोटी-छोटी और दूर-दूर स्थित होती हैं। भूमि में निम्नोन्नत स्थान विशेष नहीं होते—वह सम होती है। वृक्ष भी (जल की अल्पता के कारण) छोटे-छोटे, दूर-दूर स्थित और प्रायः कण्टकी होते हैं। भूमि का समतल होना और वृक्षों की बाधा न्यून होना इन कारणों से इस भूमि को आकाश की उपमा दी जाती है।

भूमि (धरती) में पतली, खर और परुष वालुका (सिकता, रेती) और शर्करा (कंकरी) बहुत होती है। और वह अविरत मृगतृष्णिका (मृग मरीचिका) से परिव्याप्त होती है। वनों में खदिर, विट्खदिर (अ-इ-रिमेद ; खेर का भेद जिसके मूल में विट् नाम पुरीष-सदृश दुर्गन्ध होती है), असन (विजयसार) अश्वकर्ण, धव, तिनिश, शल्लकी (कुंदरू नामक निर्यास--गोंद--जिससे निकलता, है वह वृक्ष), साल, सोमवल्क, बदरी (बेर), तिन्दुक, अश्वत्थ (पीपल), वट, आमलकी बहुत होते हैं। यत्र-तत्र शमी, शीशम और अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी नूतन शाखाएँ शुष्क (अनार्द्र) और स्थिर (अविरत) वायु के वेग से कम्पित और नर्तित रहती हैं। पक्षियों में लाव, तित्तिरि (तीतर) तथा चकोर प्रायः देखे जाते हैं।

भूमि और वायु के उल्लिखित स्वभाव-विशेषवश पुरुषों में (स्निग्ध गुण का ह्रास हो कर रूक्षता की वृद्धि एवं उष्णत्व इन दो गुणों के कारण क्रमशः) वात और पित्त का कोप सविशेष पाया जाता है। इसी कारण पुरुष भी प्रायः (अधिकांश) कठिन (दृढ़, मजबूत), कृश और स्थिर (श्रम और शीत-उष्ण आदि द्वंद्वों के सहन में समर्थ) शरीरवाले होते हैं।

उष्ण गुण यद्यपि शीतगुण वायु का शामक होता है, तथापि उष्णता से शरीरगत स्नेह और द्रव भाग का पचन और शोषण होता है, जिससे रूक्ष और शुष्क गुणों की शरीर में वृद्धि होती है। अतः उष्ण गुण के साथ स्निग्धगुण का योग न हो तो रूक्ष और शुष्क गुणवाले वायु का संचय, वृद्धि और कोप ही उष्ण देश और काल में स्वभावसिद्ध होने से होता है। कच्छ, राजस्थान आदि प्रदेश जाङ्गल, मरु या धन्वदेश के उदाहरण हैं।

साधारण देश का लक्षण--जिस देश (भूमि) में शीत (सर्दी, ठंढ), वर्षा ऊष्मा (गरमी) और वायु (हवा) पूर्वोक्त दोनों देशों के मध्यवर्ती हो ; जैसे वर्षा न बहुत अधिक हो न न्यून इत्यादि ; वृक्ष-वनस्पतियाँ एवं पशु-पक्षी भी कुछ-कुछ दोनों देशों के हों, इन्हीं कारणों से जहाँ दोषों का प्रमाण सम रहे ; एवं जहाँ के निवासी स्त्री-पुरुषों के शरीर दोनों देशों में कहे समान गुणों वाले, स्थिर, सुकुमार, बलवान्, वर्णयुक्त तथा संहनन-संपन्न (सुडौल) हों उस देश को साधारण कहते हैं।

मरुभूरारोग्यदेशानाम्, अनूपोऽहितदेशानाम् (श्रेष्ठः)।

च० सू० २५।४०

सूत्रस्थान के पच्चीसवें अध्याय में चरक ने तत्-तत् कर्म करनेवाले द्रव्य आदि में श्रेष्ठ एक-एक भाव का निर्देश किया है। इस प्रकरण में भूमियों के तीन भेदों का स्वरूपोल्लेख करते उसने कहा है--आरोग्य के लिए मरुभूमि

(सूखी जलवायुवाला देश) सर्वोत्तम है। इसके विपरीत आनूप देश आरोग्य के लिए सबसे अधिक अहित (निकृष्ट) है। साधारण देश मध्यम होता है। इसी से आनूप देश के निवासी पुरुष को यक्ष्मा, श्वास आदि रोग हो तो उसे जाङ्गल देश में भेजा जाता है।

देश-ज्ञान का प्रयोजन—

ऊपर दिए मरु और आनूप देशों के उदाहरण से देशज्ञान का एक प्रयोजन समझा जा सकता है। किसी देश में मरुदेश किंवा अनूप देशके लक्षणों का कितना अंश है यह जानकर निर्णय किया जा सकता है कि अमुक प्रकृतिवाले पुरुष के लिए सामान्यतया बारहों मास, विशेषतया ऋतु-विशेष में वह देश आरोग्य की स्थिरता की दृष्टि से कितना उपयुक्त है; आरोग्य के रक्षण के लिए विरुद्ध गुणवाले किन द्रव्यों का कितने प्रमाण में सेवन आवश्यक है एवं उसका विहार कैसा होना चाहिए, जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहे।

अमुक प्रकृतिवाला पुरुष अमुक ऋतु में अमुक देश में किसी रोग से पीड़ित हुआ तो रोग की साध्यासाध्यता के निश्चय में भी देशज्ञान उपयोगी होता है। सुख-साध्य रोगों के लक्षण में एक लक्षण रोगारम्भक दोष से देश का गुण विपरीत होना बताया है; जैसे जाङ्गल देश में कफज रोग की उत्पत्ति। चिकित्सा में भी आहार, औषध और विहार देश-विपरीत रहे यह लक्ष्य में रखना चाहिए।

कभी-कभी जैसा कि ऊपर कहा, देश दोष और रोग का प्रकोपक हो तो देश-त्याग का भी विचार करना पड़ता है। कारण?—

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः[1]॥

सु० सू० ३५।४४

जलज (आनूप देश में हुए) रोग (उनसे पीड़ित रोगी) यदि स्थल (जाङ्गल देश) में लाए जाएँ तो उतने बलवान् नहीं होते; जैसे आनूप देश में होनेवाला श्लीपद रोग जाङ्गल देश में हो या उससे पीड़ित पुरुष जाङ्गल देश में जाए तो उसका (रोग का) बल इतना अधिक नहीं होता। आनूप देश के विपरीत जाङ्गल देश के गुणों से, तथा उस देश में प्रचलित आनूप-विपरीत आहार-विहार के बल से रोग और रोगारम्भक दोष का बल क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार जाङ्गल-देशज रोगों की शक्ति आनूप देशों में जाने पर क्षीण हो जाती है।

१—इस पद्य की व्याख्या के लिए डल्हन तथा चक्रपाणि की व्याख्याएँ देखिए।

रोगों के सदृश ही दोषों का बल भी विपरीत गुणवाले देश में जाने पर न्यून हो जाता है। यथा, आनूप देश में कफ का संचय हुआ हो और उसका प्रकोप तथा उससे रोगोत्पत्ति तद्विपरीत जाङ्गल देश में हुई हो तो दोष का बल उतना नहीं होता।

देश-विदेश में दोषों के साम्य का नियम--दोष का संचय, प्रकोप और उससे रोगोत्पत्ति समानगुण देश में हो तो देशत्याग ही उसका एकमात्र उपाय है यह नहीं समझना चाहिए। जैसे, ऋतु-विशेष आने पर उसके गुणों के विपरीत आहार-विहार का सेवन करने से ऋतुस्वभाव-सुलभ दोष का कोप विशेष नहीं होने पाता, वही स्थिति देश की भी है। तथाहि :

उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति[1] ॥

सु० सू० ३५।४५

पुरुष जिस देश में रहता हो वह जिस दोष का प्रकोपक हो उसके विपरीत गुणवाले आहार, विहार (चेष्टा) निद्रा आदि का सेवन करे तो देश से उसे कोई भय होता नहीं। तथापि, पुरुष देश या दोष के समानगुण आहार, विहारादि का सेवन करे तो देश उसके लिए क्लेशकारक होता ही है। यथा, आनूप देश में कफ का संचय हुआ हो और पुरुष, रूक्ष, उष्ण, तिक्त आदि गुणवाले आहार आदि का सेवन करे तो कफ की वृद्धि विशेष नहीं होती। इसके विपरीत, पुरुष अनूप देश में संचित कफ से पीड़ित हो, वह कफ-प्रत्यनीक जाङ्गल देश में जाकर रहे, और वहाँ दिवास्वप्नादि कफ-प्रकोपक आहार-विहार का उपयोग करे तो उसका कफ कुपित होकर उसे रोग-पीड़ित करता ही है।

व्यवसाय में सदा ही यह संभव नहीं होता कि रोगी देश के समान गुण वाले दोष से पीड़ित हो तो उसे देश-त्याग (जलवायु-परिवर्तन) कराया जा सके। ऐसी स्थिति में व्यथित होने की आवश्यकता नहीं। दोष तथा देश के विपरीत-गुण आहार-विहारादि की कौशलपूर्वक योजना वैद्य को करनी चाहिए। कारण, उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।

देश के विचार में यह प्रयोजन तो आ ही गया है कि भिन्न-भिन्न देशों में आहार-विहार भिन्न-भिन्न होता है, जिसके कारण तत्-तत् देश में तत्-तत् रोग की संभावना रहा करती है। देश का अर्थ जाङ्गल आदि लें या पन्जाब, गुजरात आदि, देश के भेद से बल-भेद भी रहा करता है। तथाहि--बलवृद्धिकर भावों

१--इस पद्य की व्याख्या के लिए डल्हन तथा चक्रपाणि की व्याख्याएँ देखिए।

(वस्तुओं) की गणना में चरकाचार्य ने प्रथम ही कहा है—बलवत्पुरुषे देशे जन्म (च. शा. ६।१३) नाम, जिस सैन्धव (पश्चिम पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर प्रदेश) आदि देश में पुरुष देश-स्वभाववश बलवान् होते हैं, उसमें पुरुष का जन्म हो तो वह बलवान् होता है। इसके विपरीत कई देशों में बल अल्प और कइयों में मध्यम रहा करता है। सो इस दृष्टि से भी देश का विचार सप्रयोजन होता है।

जल के गुण-अवगुण की दृष्टि से भी देश का विचार उपयुक्त होता है। सामान्यतया कूप-तड़ागादि का जल वे अनूप-प्रभृति जिस देश में स्थित हों उसके अनुसार होता है[1]। यथा—

अनूपदेशे यद्वारि गुरु तच्छ्लेष्मवर्धनम्।
विपरीतमतो मुख्यं जाङ्गले लघु चोच्यते॥

च० सू० २७।१४ पर चक्रपाणिधृत हारीत-वचन

अनूपदेश के कूपादि का जल गुरु अतएव श्लेष्म-प्रकोपक होता है; इसके विपरीत जाङ्गल देशज कूपादि का जल लघु (और पथ्य) होता है। सुश्रुत ने मरुदेशीय नदियों के जल के गुण बताते स्पष्ट कहा है ::

प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः।
लघ्व्यः सुमधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः[2]॥

सु० सू० ४५।२३

मरुदेशज नदियाँ प्रायः मधुर-तिक्त-लवणरस, लघु, बल्य और वृष्य होती हैं। ('ईषत्कषाया मधुरा लघुपाका बले हिताः' इस पाठान्तर में ये नदियाँ मधुररस, कषाय-अनुरस, लघुविपाकी तथा बल्य होती हैं)।

हिमालय की अधित्यका (उपरि-भाग) से उत्पन्न नदियों का जल पत्थरों से हुए क्षोभ के कारण पथ्य होता है। उसकी उपत्यका (अधोभाग, आसन्न भाग या तराई, तलहटी) से उत्पन्न नदियाँ हृद्रोग, श्वयथु, शिरोरोग (शिरोवेदना), श्लीपद, गलगण्ड रोगों को उत्पन्न करती हैं। सुश्रुत में इन्ही को लक्ष्य में रखकर कहा है—हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान् (सु० सू० ४५।२१)। देहरादून आदि में आज भी गलगण्ड बहुत देखा जाता है।

१—देखिए : च० सू० २७।२१४। जलों के गुणों का स्थलः च० सू० २७।२०९–२१६; सु० सू० ४५।२१–३७ तथा चक्रपाणि-डल्हन।

२—यहाँ मरु शब्द जाङ्गल देश का वाचक नहीं है; मरु नाम से प्रसिद्ध देशों (रेगिस्तानों) का वाचक है—मरुषु प्रसिद्धेषु मरुदेशेषु, न तु जाङ्गलशब्दाभिहितेषु पौरुषेया वृष्या इत्यर्थः।—डल्हन।

मलय पर्वत से निकली नदियों में भी जो पत्थर और वालुकायुक्त होती हैं उनका जल सुपथ्य होता है। परन्तु जिनमें ये नहीं होते उनका जल कृमिकर होता है।

पारियात्र पर्वत से निर्गत जो नदियाँ तड़ाग से निकलती हैं वे पथ्य, बल्य और आरोग्यकर होती हैं। परन्तु इसी पर्वत से निःसृत जो नदियाँ दरी से उत्पन्न हों वे एवं विन्ध्य और सह्य से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ शिरोरोग, हृद्रोग, कुष्ठ और श्लीपद उत्पन्न करती हैं[1]। सुश्रुत ने लिखा है कि--सह्य की नदियों के जल से कुष्ठ (विविध त्वग्रोग) होते हैं और विन्ध्य की नदियों से कुष्ठ और पाण्डुरोग। महेन्द्र पर्वत की नदियों के जल से श्लीपद और उदर रोग होते हैं।

उज्जयिनी के पूर्व और पश्चिम दिशा में स्थित पर्वतों से निकली नदियों से अर्श होते हैं।

नदियों के प्रभव के उक्त विचार के अतिरिक्त उनके मुहाने की दृष्टिसे भी गुण-अवगुण का विचार प्राचीनों ने किया है। तथाहिः पूर्व समुद्र (बंगाल की खाड़ी) को जानेवाली नदियाँ प्रायः गुरु अतएव अप्रशस्त होती हैं। प्रायः इसलिए कि हिमालय से निर्गत होने के कारण गङ्गा पथ्य होती है। पश्चिम समुद्र (आज के अरबी समुद्र[2]) को जानेवाली नदियाँ लघु जलवाली

१--तटादागो गतिर्यस्य स तड़ागः; स पुनरुच्चदेशादागच्छज्जलबन्धनाद् भवति। अन्ये तु पुष्करिणीं तड़ागमाहुः--च० सू० २७।२१४ पर चक्रपाणि। तात्पर्य--ऊपर से गिरता हुआ पानी नीचे नैसर्गिक बन्ध के कारण अटक कर जो जलाशय बने उसे उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार **तड़ाग** कहते हैं। कोई कमलयुक्त जलाशय को तड़ाग कहते हैं।

च० सू० २७।२१२ की टीका में चक्रपाणि ने विश्वामित्र-वचन के द्वारा तड़ागमात्र से उत्पन्न नदीजल को बलारोग्यकर तथा दरीज नदी के जल को दोषल कहा है।

दो पर्वतों के मध्य की निम्न भूमि (दून, वेली) जो पुराकाल में जल के प्रवाह से भूमिका विदरण (खनन) होने से बनी होती है, उसे इसी कारण **दरी** कहते हैं। इसी का पर्याय **कन्दरा** है। उसमें भी यही धातु तथा जलवाचक शब्द 'कं' है, जो उक्त अर्थ का ही सूचक है। कन्दरा का अर्थ गुफा प्रचलित हो गया है। वह अशुद्ध है।

२--इस प्रकरण में चरक-सुश्रुत दोनों ने अरबी समुद्र को पश्चिम समुद्र ही नाम दिया है। अन्यत्र भी (यथा सुश्रुत तथा वाग्भट के कुष्ठ चिकित्साधिकार→

अतएव पथ्य होती हैं। दक्षिण समुद्र (आज के हिन्द महासागर) को जानेवाली नदियाँ साधारण नाम नातिगुरु-नातिलघु होने से बहुत दोषल नहीं होतीं।

किं बहुना, आयुर्वेद में देश का जो विचार रोग-परीक्षाधिकार में किया है, उसमें एक मूल अनूपादि भेद से किंवा प्रभवस्थानादि के भेद से नदियों के जल के गुणावगुण तथा पथ्यत्वापथ्यत्व में भिन्नता होना भी है।

देश के विचार का अन्य प्रयोजन, जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में कहा है, औषध का परिज्ञान है। औषध-ग्रहण के लिए आनूप देश प्रशस्त नहीं है। च० क० २।८–११ में औषधोपयुक्त भूमि इत्यादि का विचार किया है। उसमें आरम्भ में ही कहा है--तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा (च० क० १।९)--नाम, उपचारार्थ औषध इन दो देशों से ही लेनी चाहिए।

साधारण और जाङ्गल देश में भी स्थल-भेद से द्रव्यों के औषधीय गुण में कुछ भेद होता है। तथाहि--हिमालय को लक्ष्य में रखकर कहा गया है--

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवाञ्छैलसत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु॥
च० चि० १।१।३८

अन्यत्र भी इसी आचार्य ने कहा है--हिमवानोषधिभूमीनां (श्रेष्ठः)--च० सू० २५।४०।

देश कोई भी हो, उसके स्वरूपादि में परिवर्तन हो जाए तो जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों की आशङ्का होती है। देश, वायु, जल और काल में जनपदोद्ध्वंसक विकृति उत्पन्न होने से आहार-औषध द्रव्य यदि भूमि पर लगे हों तो उनके गुणों में भी हानि हो जाती है। अतः, इनकी विकृति होनेवाली हो उसके पूर्व ही इन्हें उखाड़ लेने का उपदेश अग्निवेश ने किया है। (देखिए--जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय--च० वि० ३)।

इस प्रकार रोग-परीक्षा में परीक्षणीय देश का विचार संपूर्ण हुआ। अब आगे परीक्ष्य काल तथा ऋतु का विचार करते हैं।

←में, तुवरक के उल्लेख में) इसे पश्चिम समुद्र नाम ही दिया गया है। अन्य प्राचीन वाङमय में भी इसका यही नाम आया है—यथा आर्यावर्त के लक्षण में मनुस्मृति में। यही नाम प्रचलित करना चाहिए। आज भी समुद्र तटवर्ती देश का समुद्र पर अधिकार तीन-चार मील तक ही माना जाता है। उस दृष्टि से भी अरब का कोई संबंध इस समुद्र के साथ न होने से यह नाम विचारापेक्ष है।

काल और ऋतु की परीक्षा[1]

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च ॥

च० वि० १।३०; च० वि० ८।१२५

आयुर्वेद में काल के दो अर्थ हैं--संवत्सर (वर्ष) तथा आतुरावस्था (रोगी की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ)।

वर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशम ऋतु-स्वभाववश हुआ करता है; उद्भिज्जों में उनके वीर्य का तथा प्राणियों में बलाबल का तारतम्य ऋतु-भेद से भिन्न-भिन्न होता है; तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् अवस्था को लक्ष्य में रखकर तत्-तत् दोष का संशमन या संशोधन किया जाता है; इसके अतिरिक्त अहोरात्र में भी तत्-तत् विभाग में तत्-तत् दोष का संचय, प्रकोप और प्रशम हुआ करता है; अहोरात्र या संवत्सर में दोष-विशेष के प्रकोप का समय आने पर उससे होनेवाले रोगों का उदय होता है, किंवा वे पहले से विद्यमान हों तो उनके बल में वृद्धि होती है। संक्षेप में संवत्सर-रूप काल के विषय में ये बातें विचारणीय होती हैं। इस काल को नित्यग भी कहते हैं।

रोगी या रोग की बाल्य, यौवन आदि किंवा सामता, निरामता आदि विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। अमुक अवस्था में औषध देना योग्य होता है। उस अवस्था को उस औषध का काल कहते हैं तथा शेष को अकाल। आतुरावस्था रूप काल का यह संक्षेप में लक्षण दिया है। अब काल के उभय भेदों का यथावश्यक विवेचन किया जाता है।

वर्ष के विभाग--

वर्ष या संवत्सर के अनेक प्रकार से विभाग अवस्था-भेद से किये जाते हैं। इनमें प्रथम विभाग उत्तरायण और दक्षिणायन ये दो अयन हैं। जिस काल में सूर्य का उत्तर दिशा में गमन होता है उसे उत्तरायण कहते हैं। इसमें तीन ऋतुएँ होती हैं--शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म[2]। इस काल में पृथिवी के सौम्य

१--स्थल : च० सू० ६।४-७; च० वि० १।३०; च० वि० ८।१२५-१२८; च० चि० ३०।२९६-३१२; च० सि० ६।४-६; सु० सू० ६।३-१४; सु० सू० ६।३८; सु० उ० ६४।६५-८४ इन पर चक्रपाणि और डल्हन।

२--राशियों की दृष्टि से विचार करें तो उत्तरायण में मकर से मिथुन-पर्यन्त छ राशियाँ होती हैं तथा दक्षिणायन में कर्कट से धनु पर्यन्त छ। सूर्य दक्षिण से उत्तर दिशा में गमनोन्मुख होता है तो दोनों अयनों का संक्रान्ति-काल मकर-संक्रान्ति नाम से प्रसिद्ध है।

अंश (पाठान्तर--सौम्य रस) का तथा प्राणियों के बल का स्वभावतः आदान नाम नाश होता है, अतः इसे आदान काल भी कहते हैं।--आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं (सौम्यं रसं) प्राणिनां च बलमित्यादानम् (च० सू० ६।४पर चक्रपाणि) यह आदान शब्द की व्युत्पत्ति है।

दक्षिणायन में सूर्य की गति दक्षिण दिशा में होती है। इसमें तीन ऋतुओं का समावेश होता है--वर्षा, शरद् और हेमन्त। स्वभाववश इस काल में उद्भिज्जों में आप्य अंश का तथा प्राणियों में बल का विसर्जन नाम उत्पत्ति होती है, अतः इसे विसर्ग काल भी कहा जाता है।--विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः--यह इस पद की व्युत्पत्ति है।

संक्षेप में इन दो अयनों के इतने परिचय के पश्चात् इनके स्वभाव-भेद का कारण देखिए।--

दक्षिणायन काल में अर्थात् वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं में वायुएँ काल-स्वभाववश विशेष रूक्ष नहीं होतीं। दूसरी ओर, काल-स्वभाव, सूर्य के दक्षिण दिशा में जाने का विलक्षण प्रभाव; मेघ, वायु, वर्षा इत्यादि के कारण सूर्य का बल न्यून हो जाता है। परिणामतया, उसके विपक्षभूत चन्द्रमा का बल वृद्धि को प्राप्त होता है। उसकी शीतल किरणों के प्रभाव से स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि अर्थात् उद्भिज्जों और प्राणियों का उत्तरोत्तर पोषण होता है। वर्षा के जल के प्रभाव से सृष्टि में उष्णता भी न्यून हो जाती है। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि, उद्भिज्जों में रूक्ष-गुण विरोधी अम्ल, लवण और मधुर रस क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं; अर्थात्--वर्षा में अम्ल रस की विशेष पुष्टि होती है, शरद् में लवण की तथा हेमन्त में मधुर रस की।

उल्लिखित परिस्थिति के कारण ही जङ्गम सृष्टि में--मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों में--तीनों ऋतुओं में बल की क्रमशः वृद्धि होती है। क्रमशः का अर्थ यह है कि, वर्षा में पूर्व ऋतु ग्रीष्म की अपेक्षया अमुक प्रमाण में बल की वृद्धि होती है, शरद् में उससे अधिक और हेमन्त में उससे भी अधिक (समग्र ऋतुओं में सबसे अधिक) बल की वृद्धि होती है।

उद्भिज्जों में स्नेहांश एवं रूक्ष-विरोधी रसों तथा प्राणियों में बल के विसर्जन (उत्पादन) का निमित्त होने से, जैसा कि ऊपर कहा, दक्षिणायन को विसर्ग-काल भी कहते हैं।

उत्तरायण में दक्षिणायन से ठीक विपरीत परिस्थिति होती है। वायुएँ इस काल में अति रूक्ष और तीव्र (अशान्त) होती हैं। ये वायुएँ स्थावर-जङ्गमों के स्नेहांश (सार, सौम्य भाग) का शोषण करती हैं। सूर्य भी अपनी किरणों से जगत् के स्नेहांश का ग्रहण करता है। दोनों की इस क्रिया का परिणाम यह

होता है कि, उद्भिज्जों में रूक्ष रस--तिक्त, कषाय और कटु क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा प्राणियों में बल उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। 'क्रमशः' और 'उत्तरोत्तर' का आशय पूर्ववत् यह है कि, शिशिर में अपने से पूर्ववर्ती ऋतु हेमन्त की अपेक्षया रूक्षता, तिक्त रस और दौर्बल्य की वृद्धि अमुक प्रमाण में होती है। वसन्त में रूक्षता और बलहानि शिशिर की अपेक्षया अधिक होती है तथा रसों में तिक्त रस की विशेष पुष्टि होती है। अगली ऋतु ग्रीष्म में रूक्षता और दुर्बलता अत्यधिक (सारे वर्ष में सबसे अधिक) होती है तथा रसों में कटुरस की पुष्टि अधिक होती है।

उद्भिज्जों और प्राणियों के स्नेहांश और प्राणियों के बल का आदान (ग्रहण) करनेवाला होने से उत्तरायण, नाम शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन ऋतुओं के समुदाय को आदान काल कहा जाता है। (चिकित्सा-व्यवसाय में इससे यह बोध ग्रहण करना चाहिए कि इस ऋतु में जो रोग उत्पन्न हों या वृद्धि को प्राप्त हों उनमें आदान-काल सुलभ धातुक्षय किंवा वात प्रकोप प्रायः कारणभूत होता है। चिरकारी रोग, जिनमें कभी-कभी कारण का निश्चय करना सरल नहीं होता, उनमें इस संप्राप्ति को स्मरण रखना चाहिए।)

तत्-तत् अयन तथा ऋतु में उद्भिज्जों में तत्-तत् रस की पुष्टि (अधिकता) का कारण यह है कि, काल के प्रभाव से उस अयन और उस ऋतु में तत्-तत् रस के आरम्भक महाभूतों की अधिकता हो जाती है[1]। एवं, आदानकाल में प्राणियों के बलक्षय का तथा विसर्ग-काल में बलवृद्धि का एक कारण यह भी है कि इन कालों में क्रमशः रूक्ष और अरूक्ष रसों की उत्पत्ति सविशेष होने से उनका सेवन भी स्वभावतः अधिक प्रमाण में होता है।

अयनों के उल्लिखित स्वभाव-विशेष का कारण मुख्यतया सूर्य की गति होती है। स्थावर-जङ्गम सृष्टि पर सूर्य-किरणों की क्रिया प्राच्य-प्रतीच्य उभय विज्ञानों से सिद्ध है। सूर्य की ही सुषुम्ण-नामक एक आरोग्य-प्रद किरण चन्द्रमा में जाती है। यह नवीनों की अल्ट्रा-वायोलेट किरण प्रतीत होती है। प्रकाश की कारणभूत सात, उष्णता की कारणभूत इन्फ्रा-रेड नामक एक तथा बल-पुष्टिकारक रसायनिक क्रियाकारी अल्ट्रा-वायोलेट-संज्ञक एक--इस प्रकार समस्त नव किरणें सूर्य से चन्द्र में जाती हैं। चन्द्रमा इनमें प्रथम दो को प्रायः

१--यथा, ग्रीष्म में अग्नि और वायु के गुणों का बाहुल्य होता है, अतः इन महाभूतों के आधिक्य वाले कटु रस की उत्पत्ति ग्रीष्म में होती है। एवं वसन्त में पृथिवी और वायु महाभूतों के गुणों का आधिक्य होता है, अतः उनके आधिक्य से उत्पन्न होनेवाले कषाय रस की पुष्टि वसन्त ऋतु में होती है।

अपने में समाविष्ट कर लेता है। केवल एक को भूलोक के प्रति परावर्तित करता है। वर्षा आदि के कारण सूर्य की शेष दो किरणों का बल जिस काल उपहत होता है, उस काल चन्द्र की उक्त परावर्तित किरण को क्रिया करने का प्रसंग सविशेष उपलब्ध होता है।

इस प्रकार चन्द्र की क्रिया का मूल सूर्य ही है। वायु की क्रिया भी स्वतन्त्र नहीं होती। सूर्य और चन्द्र की किरणों को ग्रहण करके ही वह उनका सहायभूत होता हुआ कर्म किया करता है। भवति चात्र--

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः॥

सु० सू० ६।८

तात्पर्य--चन्द्र का आश्रय कर वायु जगत् का आप्यायन (संतर्पण, पोषण, आह्लादन) करता है और सूर्य का आश्रय कर उसका सहायभूत होकर--शोषण करता है। सूर्य, चन्द्र के (सं) योग से उनके गुण-कर्मों को ग्रहण (वहन) करने की वायु की इस विशिष्टता को योगवाहिता कहते हैं।

स्मरण रहे, शरीर में बाह्य वायु का प्रतिनिधिभूत वायु भी सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधिभूत पित्त और श्लेष्मा के गुण-कर्म को इसी प्रकार ग्रहण कर उनकी क्रिया को प्रसारित करता है। तदुक्तम्--

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्[१]॥

च० चि० ३।३८

इतना ही नहीं, शारीर वायु सूर्यताप और चन्द्र के शैत्य-प्रभृति सूर्य-चन्द्र कृत प्रभावों को ग्रहण कर उनकी क्रिया को प्रसारित करता है[१]। जैसे पाषाण का संग शीत वात, जल आदि वस्तु से होता है तो वह शीत हो जाता है, उष्ण

१--पद्य का नीचे दिया अर्थ परम्परानुसार है। नव्यमत से साम्य देखना हो तो कह सकते हैं कि वात द्रव्य अपने स्वभावगत वैषम्य के कारण कभी सौम्य नाड़ीसंस्थान (पैरासिंपेथेटिक) को उद्दीप्त कर पोषणात्मक व्यापार कराता है और कभी आग्नेय (सिंपेथेपटिक) नाड़ीसंस्थान को उद्दीप्त कर दहन-पचनादि रूप व्यापार कराता है।

देखिये : 'पित्तेन' इति वक्तव्ये यत् 'तेजसा' इति करोति, तेन बाह्येनाप्यातपादिना युक्तो वायुर्दाहं करोतीति लोक प्रसिद्ध मर्थं दृष्टान्तार्थं सूचयति --चक्रपाणि

वस्तु से होता है तो उष्ण। शारीर वायु में यह विशिष्टता है कि, योगवाह होने के अतिरिक्त इसके स्वाधीन कर्म भी हैं ही[1]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सूर्य, चन्द्र और वायु काल, अयन (मार्ग) और स्वभाव (अपने-अपने शोषक-पोषक धर्म) के वश हो जगत् में काल (निमेष, काष्ठा आदि काल-विभाग), ऋतु, रस, दोष और बल की उत्पत्ति, पुष्टि और ह्रास करते हैं।

सूर्य, चन्द्र तथा वायु की स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि पर उल्लिखित क्रिया कैसे होती है, इसका प्राच्य-प्रतीच्य उभय मत से विचार 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में मैंने किया है। प्रकरण के वैशद्य के लिए उसे यहाँ देखा जा सकता है। अयनों का विचार दोषों और रोगों के निदान तथा तत्प्रत्यनीक चिकित्सा एवं बलाबल के ज्ञान के लिए उपयुक्त होता है।

ऋतुओं का विविध विभाग—

वर्ष का ऋतुओं में विभाग प्रसिद्ध है। शीत, उष्ण (सर्दी-गर्मी) और वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओं के भेद से वर्ष के इन्हीं तीन नामों के तीन विभाग होते हैं।

इन्हीं तीन ऋतुओं को प्रसिद्ध ६ ऋतुओं में विभक्त कर वर्ष के छ विभाग किए गए हैं। ऋतुओं की षड्विधता की बात सुविदित है। परन्तु इस विषय में जो विशेष ज्ञातव्य है वह यह कि, ऋतुओं का विभाग आयुर्वेद में दो प्रकार का बताया गया है। प्रत्येक विभाग का प्रयोजन पृथक् है।

१—जैसे इसी प्रकरण की टीका में चक्रपाणि लिखता है—**शीतकारित्वं तु वायोः शीतत्वेनैव यत् सिद्धं तत् सोमरूप कफपानीयादियोगाद्विशेषेण भवतीति ज्ञेयम्।**—आयुर्वेद में वायु का गुण शीत कहा है, अतः उसकी शीतता स्वतः सिद्ध है ही। तथापि यहाँ योगवाहिता से जो शीतकर्तृत्व जताया है उसका अर्थ यह है कि शारीर कफ तथा बाह्य शीत जलादि शीत वस्तुओं के संयोग से वह सविशेष शीतकारी होता है।

आयुर्वेद में वायु के शीत गुण के विषय में च० सू० १।५९ की टीका में आया चक्रदत्त का यह वचन द्रष्टव्य है : **यद्यपि वैशेषिकेऽनुष्णाशीतो वायुस्तथापीह शीतेन वृद्धिदर्शनादुष्णेन च प्रशमदर्शनात् तथा केवल वातारब्धे रोग शीतदर्शनाच्च शीत एव वायुः। यच्चपित्तयुक्तस्योष्णत्वं, तद् योगवाहित्वात्; यथा पाषाणस्य येन द्रव्येण शीतेनोष्णेन वा योगो भवति तद्गुणानुविधानं, तथा वायोरपि।**

ऊपर अयनों के निर्देश के प्रसंग से एक ऋतु-विभाग हम दर्शा आए हैं। यही विभाग भारतीय बहुजन में प्रचलित है। इस विभाग का प्रयोजन तत्-तत् काल में तत्-तत् रस और प्राणियों के बलाबल का निर्देशन है। स्वस्थवृत्त में जो ऋतुचर्या कही गयी है, उसमें भी इसी ऋतु-विभाग का उपयोग किया गया है। तथाहि :

वक्ष्यमाण द्वितीय ऋतु विभाग का प्रतिपादन दृढ़बल ने जिन (च० सि० ६।५-६) पद्यों में किया है उनमें 'शोधनं प्रति' यह प्रयोजन बताया है। इसकी व्याख्या आगे की ही जाएगी। इस वचन की टीका में दीपिकाकार कहते हैं--

'शोधनं प्रति' इति शोधने कर्तव्येऽयं यथोक्तः प्रावृडादि ऋतु-विभागो भवति। स्वस्थवृत्तौ रसोत्पत्तौ वा तस्याशितीयोक्त (च० सु० ६) एवं वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मरूप ऋतुक्रमो भवति। × × ×। तेन रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थवृत्तानुष्ठानेषु च शिशिरादिक्रमो भवति ॥

शिशिरादिरयमृतुविभागो रसबलमधिकृत्योक्तः। चरकेऽपि तस्याशितीये रसबलनिष्पत्त्यर्थं शिशिरादि विभागो दर्शितः ॥

सु० सू० ६।६ पर डल्हन

इस विभाग में माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है, चैत्र-वैशाख में वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद में वर्षा, आश्विन-कार्तिक में शरद् और मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त।

द्वितीय ऋतु-विभाग[1]--यह विभाग वर्ष के तत्तत् विभाग में काल-स्वभाववश प्रकुपित होनेवाले तत्तत् दोष के संशोधनकाल का निर्देश करने के लिए किया गया है। यह ऋतु-विभाग प्रथम विभाग के समान वास्तविक (पारमार्थिक) नहीं, काल्पनिक है। इसमें अधोनिर्दिष्ट मास और ऋतुएँ होती हैं : आषाढ़-श्रावण में प्रावृट्, भाद्रपद-आश्विन में वर्षा, कार्तिक-मार्गशीर्ष में शरद्, पौष-माघ में हेमन्त, फाल्गुन-चैत्र में वसन्त और वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षट् विभज्यन्ते ऋतवः--च० वि० ८।१२५। इस ऋतु-क्रम में शिशिर नहीं है, तथा प्रावृट् विशेष है। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः

१--स्थल : सु० सू० ६।१० ; १२, ३८ ; च० वि० ८।१२५-१२७ ; च० सि० ६।४-६ ; इन स्थलों पर चक्रपाणि तथा डल्हन।

काल: (च० वि० ८।१२५)--वर्षा ऋतु के प्रारम्भिक दो मास, जिनमें वृष्टि विशेष होती है, उन्हें प्रावृट् कहा जाता है।

जिन ऋतुओं में जिस दोष का प्रकोप होने का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है, उनमें उस दोष का प्रकोप यदि अल्पमात्र हो तो लङ्घन, पिपासानिग्रह आदि मृदु उपचार एवं ऋतुचर्योक्त आहार-विहारादि द्वारा दोष को समावस्था में लाना चाहिए। दोषों का प्रकोप (बल) मध्य हो तो पाचनादि मध्योपाय का अवलम्बन करना चाहिए। परन्तु दोषों का प्रकोप विशेष हो तो वमनादि यथोचित संशोधन द्वारा दोषों को सम करना चाहिए।--बहुदोषाणामेव संशोधनं; मध्यदोषेषु पाचनादि, अल्पदोषेषु पुनर्लङ्घनपिपासानिग्रहादि यथर्तु-विधि समाचारश्च--सु० सू० ६।१२ पर डल्हन। इस प्रकार--

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्॥

सु० सू० ६।३८

प्रकुपित हुए प्रबल दोष व्यक्त रोग को उत्पन्न करें उसके पूर्व ही वसन्त ऋतु में (फाल्गुन-चैत्र में) श्लेष्मा की वमन द्वारा शुद्धि करनी चाहिए; शरद् में (कार्तिक-मार्गशीर्ष में) विरेचन द्वारा पित्त की और वर्षा में (प्रावृट् में--आषाढ़-श्रावण में[1]) बस्तियों द्वारा वायु की। इनसे पूर्व स्थित जिस ऋतु में जिस दोष के संचय का उल्लेख किया गया है उस ऋतु में उस दोष के विरुद्ध रस, गुण, वीर्यादि वाले आहार-विहार आदि का यथावत् सेवन कर उसे कुपित होने से बचाना चाहिए। अतएव, संचय-काल को लक्ष्य में रख कर तन्त्रकार ने कहा है--तत्र प्रथमः क्रियाकालः--सु० सू० २१।१८।

ऋतु-स्वभाववश महाकोष्ठगत अपने-अपने स्थान में तत्-तत् दोष का संचय होता है। इसके पश्चात् प्रकोपक कारण के सेवन से, किंवा ऋतु आदि तत्-तत् काल में ऋतु-स्वभाववश दोष का प्रकोप होता है। यह वस्तु ध्यान में रहे तो इसके आधार पर दो बातें समझी जा सकती हैं। प्रथम तो, पुरुष कितना भी आहार-विहारादि में संयत रहे, ऋतु-स्वभाववश तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष का यत्किंचित् प्रकोप होता ही है। इस प्रकार तत्-तत् प्रकोपोचित ऋतु में प्रायः प्रत्येक पुरुष को कुछ-न-कुछ शारीर-मानस व्यथा होती ही है।

दूसरी बात इस प्रसंग में यह समझी जा सकती है कि, दोष-विशेष के संचय-काल में पुरुष उसके प्रकोपक आहार-विहारादि का सेवन करे तो संचय-काल में

१--समग्र अध्याय तथा चरक के इस विषय के प्रकरण देखने से वर्षा का अर्थ यहाँ प्रावट् लेना योग्य है।

ही उस दोष का प्रकोप होना अवश्य संभव है। ऋतुचर्या के निश्चय में आचार्यों ने इस बात को भी लक्ष्य में रखा है।

ऋतु-विशेष में संशोधन का निषेध[1]--हेमन्त ऋतु के पूर्व शरद् में विरेचन द्वारा पित्त के संशोधन का तथा हेमन्त के पश्चात् वसन्त ऋतु में वमन द्वारा कफ के संशोधन का विधान प्राचीनों ने किया है। हेमन्त में दोनों ही संशोधनों का निषेध इसलिए है कि--हेमन्त ऋतु में शरीर अत्यधिक शीत से पीड़ित होने के कारण असुख अनुभव करता है; अपरंच, अतिशीत वायुओं से व्यथित, अति-दारुणीभूत (कठिन, स्तब्ध) एवं दोष जिसमें स्तब्ध अर्थात् स्थिर--बहिर्गमन की प्रवृत्ति से रहित--हो गए हैं ऐसा हुआ होता है। उधर, संशोधनार्थ दिया जानेवाला औषध जो स्वभावतः उष्ण वीर्य होता है वह बाह्य और शारीर अतिशीत से अभिभूत होने से मन्दवीर्य (कुण्ठित शक्तिवाला) हो जाता है। परिणामतया, संशोधन का कुछ प्रभाव नहीं होता--शास्त्रीय संज्ञा का प्रयोग करें तो औषध का अयोग होता है; और शरीर वातिक उपद्रवों से आक्रान्त होता है।

वसन्त के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु होती है और उसके अनन्तर प्रावृट्। वसन्त में कफ का संशोधन किया जाता है तथा प्रावृट् में बस्तियों द्वारा वायु का। मध्यवर्ती ऋतु ग्रीष्म में दोनों ही संशोधनों का निषेध है। कारण, ग्रीष्म में शरीर तीव्र ऊष्मा से संतप्त होने के कारण असुख अनुभव करता है; साथ ही, अत्यन्त उष्ण वायु (लू) और सूर्य के ताप से व्यथित, अति शिथिल तथा दोष जिसमें अत्यधिक विलीन (द्रवीभूत और बहिः-प्रवृत्त्युन्मुख) हो गए हैं ऐसा हुआ होता है। संशोधनार्थ प्रयुक्त होनेवाला औषध स्वभावतः उष्ण होता है। बाह्य और शारीर उष्णता से संयुक्त होने से उष्ण औषध उष्णतर हो जाता है। परिणामतया, उसकी क्रिया अभीष्ट से अधिक होती है--उसका अतियोग होता है। शरीर में भी अत्यधिक उष्णतावश उपद्रव रूप में पिपासा होती है।

वर्षा के पूर्व प्रावृट् ऋतु होती है तथा उसके (वर्षा के) अनन्तर शरद्। प्रावृट् में वायु का तथा शरद् में कुपित हुए पित्त का संशोधन किया जाता है। मध्यवर्ती वर्षा ऋतु में दोनों में कोई संशोधन अनुपायभूत होने से विहित नहीं है। कारण, वर्षा काल में आकाश मेघों के जल से व्याप्त (भीना); सूर्य, चन्द्र और तारे जिसमें आच्छन्न हो गए हैं ऐसा एवं धाराओं से पूर्ण होता है तथा भूमि कीचड़ और जल से भरी हुई होती है। परिणामतया, एक ओर तो मानवादि प्राणियों के शरीर भीतर-बाहर जल से अत्यधिक क्लिन्न (आर्द्र, जल की अधिकतावाले)

१--स्थल : च० वि० ८।१२७

होते हैं; दूसरी ओर समस्त ओषधियाँ (अन्न तथा भैषज्य-द्रव्य) जल और जल-मिश्रित वायु के संसर्ग से अभिभूत होने के कारण अपने स्वभाव से च्युत--अपने प्राकृत गुण-कर्मों से शून्य--हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि एक तो वमनादि कर्म वैसे ही क्लेशकारी हो जाते हैं, जैसे गुरु (मेदस्वी) व्यक्ति के लिए चेष्टामात्र क्लेशदायी होती है; साथ ही इन कर्मों की व्यापत्तियाँ बहुत अधिक होने से इनमें प्रतिविधान (प्रत्युपाय) बहुत करना पड़ता है। शरीर भी संशोधन से क्लिष्ट (क्षुभित) होने के कारण अति प्रयत्न और चिरकाल के अनन्तर अपनी प्रकृति (पूर्व स्थिति) को प्राप्त करते हैं[1]।

उक्त वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रख कर हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में वमनादि कर्मों का निषेध किया गया है। अलबत्ता, आत्ययिक परिस्थिति (तत्काल जिसमें वमनादि कर्म करना ही पड़े ऐसी स्थिति) हो तो इस नियम का अपवाद होता है। इन ऋतुओं में वमनादि कोई कर्म करना आपतित हो तो प्रथम तो ऋतु को ही उपाय-विशेष द्वारा अल्पगुण वाली बना दे, जिससे उनमें उल्लिखित अपाय होने की संभावना न रहे। यथा--

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥

सु सू० ३५।२१

शीतकाल या वर्षाकाल में शीतादि की शरीर और औषध पर पूर्वोक्त विक्रिया न होने पाए इस हेतु वमनार्ह रोगी और औषध को उष्ण घर में रखे तथा अन्य ऐसे ही शीत-प्रतीकार-कारक ऋतु-विपरीत उष्णोपचार करे। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के निवारणार्थ योग्य उपाय करे, जिससे औषध की तीक्ष्णता आदि की हानि न हो। इस प्रकार वमनादि क्रिया करने का काल उपस्थित हो तो संभावित अपायों तथा उनके कारणों का निवारण करके भी क्रिया तो करनी ही चाहिए। क्रिया के काल में क्रिया न की जाए, यह स्थिति न होनी चाहिए[2]।

१--वर्षासु तु××× गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि--च. वि. ८।१२७।--गुरुप्रवृत्तीनीति गुरोर्यथा न सुखकारिणी प्रवृत्तिर्भवति, तथाऽस्यापीत्यर्थः; किंवा बहुप्रतिविधेयप्रवृत्तीनि गुरुप्रवृत्तीनि। गुरुसमुत्थानानीति संशोधन क्लिष्टानि शरीराणि तदा महता प्रयत्नेन चिरेण च कालेन प्रकृतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः--चक्रपाणि।

२--इस प्रकरण में नीचे लिखे वचन को भी स्मरण किया जा सकता है, जिसमें कहा है कि, शरद् और ग्रीष्म ऋतु में सामान्यतया अग्निकर्म (दाह)→

आत्ययिक स्थिति में ऋतु के अतिरिक्त तत्-तत् उपाय से औषध को भी ऋतु के गुणों के विपरीत गुणों वाली बना कर व्यवहार में लाना चाहिए। ये उपाय अधोलिखित हैं--संयोग, संस्कार और प्रमाण-भेद। संयोग से औषध के गुण के परिवर्तन का उदाहरण यह है कि शीतकाल में त्रिवृत् जैसा शीत द्रव्य देना पड़े तो उसे उष्णगुण गोमूत्र में मिला कर उष्ण बना ले। इसी प्रकार संस्कार से (औषध-निर्माण की प्रक्रिया द्वारा) औषध में गुणान्तराधान करे। एवं आवश्यकतानुसार औषध के प्रमाण को न्यूनाधिक कर ऋतु के अनिष्ट प्रभाव का निवारण करे। यथा--सामान्यतया जिस प्रमाण (मात्रा) में त्रिवृत् दी जाती है, उस प्रमाण में देने से हेमन्त में उसके अयोग की संभावना हो तो उसे अधिक प्रमाण में देना चाहिए। यह प्रमाण-वृद्धि इतनी ही करनी चाहिए कि रोगी के प्राणों का भय न उपस्थित हो जाए। एवं, संयोग द्वारा औषध के गुण को परिवर्तित करना हो तो भी यह दृष्टि में रखना चाहिए कि विरुद्ध-वीर्यवाले द्रव्य का संयोग न हो जाए, अन्यथा औषध का कुछ गुण ही न होगा।

दोषों तथा रोगों के उपशम की ऋतु[1]--काल-स्वभाववश तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष का संचय होता है तथा काल-स्वभाववश ही अगली ऋतु में किंवा प्रकोपक अहिताहार-विहार के अतियोग से संचय की ऋतु में भी उस दोष का प्रकोप होता है एवं संचय और प्रकोप दोनों के कालों में तत्-तत् दोष से होनेवाले नानात्मज तथा सामान्यज रोग होते हैं। दोषों के संचय और प्रकोप के ये काल विदित हों तो विपरीत रस-गुणादि वाले आहार-विहारादि के सेवन से दोष की वृद्धि न होने दे कर रोग को उत्पन्न होने से बचाया जा सकता है, अथवा कदाचित् उसकी उत्पत्ति हो ही तो उसका बल अधिक न हो इस बात की संभावना की जा सकती है; उसी प्रकार स्वस्थवृत्तोक्त ये उपचार न करने से कदाचित् रोग उत्पन्न हो गया तो ऋतु को दृष्टि में रखने से सामान्यतया इस बात की कल्पना की जा सकती है कि रोग कौन से दोष से उत्पन्न हुआ है। कारण, कभी-कभी एक ही लक्षण अनेक दोषों से उत्पन्न होना संभावित होता है। ऐसी स्थिति में प्रमुख दोष कौन है इसकी कल्पना ऋतु को लक्ष्य में रखने से आ सकती है। पश्चात् उस दोष के अनुसार संप्राप्ति जमती है या नहीं यह विचार कर पूर्ण निश्चिति

←-नहीं करना चाहिए। परन्तु आत्ययिक परिस्थिति हो--अग्निकर्म न करने से प्राण नष्ट होने का भय हो--तो शीत गुणवाले भोजन, आच्छादन, प्रलेप आदि की योजना कर अग्निकर्म कर दे।--**तत्राऽग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्याम्। तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मस ध्ये व्य धौतत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा**--सु० सू० १२।५

१--स्थल : सु० सू० ६।१३

के लिए उस दोष के विपरीत चिकित्सा आरम्भ कर उसका परिणाम देखा जा सकता है।

ऋतु-विशेष में संचय और प्रकोप के सदृश प्रकोपकालोत्तर ऋतु में काल-स्वभाववश ही दोष का प्रशमन तथा उससे आरब्ध (उत्पादित) रोग की मन्दता हुआ करती है। यह कैसे होता है इसके लिए स्वस्थवृत्त के प्रकरण देखे जा सकते हैं। इस प्रकार हेमन्त ऋतु में (पौष-माघ में) पैत्तिक रोगों का, निदाघ या ग्रीष्म में (वैशाख-ज्येष्ठ में) श्लैष्मिक रोगों का एवं शरद् ऋतु में (कार्तिक-मार्गशीर्ष में) वातिक रोगों का स्वाभाविक उपशम हुआ करता है। (याप्य रोग इस काल में सर्वथा शान्त या मन्द हो जाते हैं।)

अहोरात्र में दोषों का प्रकोप[1]--शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल वर्ष के इन तीन विभागों में जैसे तत्-तत् दोष का प्रकोप हुआ करता है वैसे काल-स्वभाववश तथा आहार के अवस्थापाकों के कारण दिवस और रात्रि के तत्-तत् विभाग में तत्-तत् दोष का उपचय, प्रकोप और प्रशम हुआ करता है। तथाहिः

पूर्वाह्ण नाम दिवस के पूर्वभाग में वसन्त के चिह्न होते हैं; अर्थात्--वसन्त के सदृश कफ का प्रकोप होता है, जिसका अर्थ यह है कि कफज तथा कफ प्रधान रोगों का आविर्भाव इस काल में होता है और वे विद्यमान हों तो इस काल में उनके लक्षणों की तीव्रता में वृद्धि हो जाती है। काल के संबन्ध से हुए इस परिवर्तन से रोग का कफ से उत्पन्न होना जाना जा सकता है। काल-विशेष से दोषों के संबन्ध के ज्ञान का सर्वत्र यही अर्थ लेना चाहिए।

मध्याह्न में ग्रीष्म के चिह्न होते हैं। अर्थात् इस काल में ग्रीष्म के सदृश सूर्य के तीव्र ताप के कारण समान गुण पित्त का कोप होता है; बाह्योष्मा और उससे लब्धबल पित्त से दोनों द्वारा शरीर गत स्नेह तथा क्लेद का शोषण हो कर ग्रीष्म के समान वायु का संचय एवं कफ की शान्ति होती है।

अपराह्ण में प्रावृट् के सदृश वायु का कोप होता है। मध्याह्न में उक्त प्रकार से वायु का जो संचय हुआ था, सायंकालिक शीत वायु से शारीर स्रोतों का स्तम्भ होने से यह वायु शरीर में ही संचित और कुपित होता है, यह समझा जा सकता है।

प्रदोष नाम रात्र्यारम्भ में दोषों की स्थिति वर्षा के समान होती है अर्थात् इसमें पित्त का संचय तथा तद्रुत्थ रोगों का आविर्भाव या बलाधिक्य होता है, ऐसा सुश्रुत का मत प्रतीत होता है। चरकादि ने यह काल कफ के प्रकोप का बताया है। अम्ल, लवण, द्रव आदि गुण पित्त के प्रकोपक होते हैं। यही

१--स्थल: सु० सू० ६।१४ तथा डल्हन।

गुण कफ के भी होते हैं। प्रदोष-काल में सुश्रुत के क्रम के अनुसार संचित पित्त के कफ-सदृश गुणों का संबन्ध जब कफ प्रकोपक बाह्य वायु से होता है तो दोनों के संयोग से कफ का ही प्रकोप इस काल में सविशेष होता है, यह अर्थ घटाया जा सकता है।

अर्धरात्र (मध्यरात्र) नाम रात्रि के मध्य भाग में शरद् ऋतु के लक्षण होते हैं। अर्थात् शरद् ऋतु के सदृश इस काल में पित्त का प्रकोप और वायु का प्रशम होता है[1]।

प्रत्यूष में अर्थात् रात्रि के अन्तिम प्रहरों में, सुश्रुत के लेखानुसार, हेमन्त के लक्षण नाम श्लेष्मा का संचय और पित्त का प्रशमन होता है। चरकादि ने इस काल में वायु का प्रकोप होता है, यह कहा है।

अहोरात्र के उक्त कालों का दोष-प्रकोप तथा दोषज रोगों से संबन्ध दर्शाते चरकाचार्य ने कहा है--

निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः॥
च० चि० ३०।३१०

भोजन-कालिक दोष-प्रकोप--भोजन काल से दोषों का संबन्ध प्रसिद्ध है। भोजन आमाशय में होता है तो कोष्ठ में हृदय से ऊर्ध्व भाग में स्थित मधुर रस के संबन्ध से संपूर्ण अन्न का मधुरीभाव हो कर समानगुण कफ का प्रकोप होता है तथा तन्द्रा-प्रभृति कफ-प्रकोप-सुलभ लक्षण स्वस्थावस्था में भी शरीर में दृश्यमान होते हैं। आमाशय में ही कुछ काल के अनन्तर उसके अधो-भाग में स्वभावतः स्थित अम्ल रस (नवीनों का लवणाम्ल) के संबन्ध से संपूर्ण

१--अर्धरात्र में पित्त के प्रकोप को लक्ष्य में रख डल्लनाचार्य ने कहा है कि, ग्रहगणित और ज्योतिषशास्त्र के अनुसार इस काल में भी सूर्य उसी प्रकार पृथ्वी के मध्यभाग के सामने होता है, जैसे मध्याह्न में। यह सत्य है कि उस काल सूर्य भूगोल के अधोभाग में होता है, जिससे आतप (धूप) नहीं होता। इस वचन से डल्लन का स्वमत यह प्रतीत होता है कि अर्धरात्र में भी सूर्य का सांनिध्य मध्याह्न के सदृश ही होने से पित्त का कोप संभाव्य ही है। तथापि आगे आचार्य ने कहा है कि --वैद्य तो इस काल में पित्त के कोप का कारण काल-स्वभाव तथा द्वितीय अवस्थापाक को ही बताते हैं। डल्लन का प्रस्तुत वचन यह है--**शारद-मर्धरात्र इति भूगोलाधःस्थितसूर्यत्वादर्धरात्रे शारदं लिङ्गमातपाभावेऽपि गोलक-गणितविदो ज्योतिर्विदो मन्यन्ते; भिषजस्तु काल-स्वभावादाहारवशाच्चेति॥**

अन्न का अम्लीभाव हो कर उसके संपर्कवश समान गुण पित्त का पच्यमानाशय में उदीरण होता है। इस उदीरित पित्त के संसर्ग से अन्नपान का परिपाक होकर उसका अन्नरस बनता है। अन्न का सारभूत यह अन्नरस गृहीत होकर रस धातु का अङ्ग बन जाता है। शेष निःसार नाग स्निग्ध-गुरु प्रभृति गुणों से शून्य मल भाग (किट्टांश) पक्वाशय में पहुँचता है। वहाँ इस पर प्रादेशिक वह्नि (पित्त) की क्रिया से स्नेह तथा क्लेद का और भी पचन एवं शोषण हो कर मल भाग अधिक रूक्ष, निःसार और पिण्डीभूत होता है। ये गुण जैसे शरीर के किसी भी भाग में वायु की पुष्टि किया करते हैं वैसे पक्वाशय में भी वायु की पुष्टि तथा प्रकोप करते हैं। इस अवस्थापाक को तृतीय अवस्थापाक कहते हैं। इसमें उक्तरीत्या वायु का कोप यह विशिष्ट लक्षण होता है। इस विषय का सविस्तर वर्णन "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" के अठारहवें अध्याय में किया है। इस प्रकरण में वाचक उसे भी देख सकते हैं।

भोजनकालिक दोष-प्रकोप के इस ज्ञान का भी परिणाम यह होता है कि—

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्णमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम्॥
च० चि० ३०।३१२

यह बलाधिक्य पहले से विद्यमान रोगों का होता है। रोग का प्रथमाविर्भाव किस काल में है यह देख कर भी रोग का आरम्भक दोष कौन है तथा तदनुरूप कौन मार्ग ग्रहण करना चाहिए यह निश्चित किया जा सकता है। जैसे—ज्वर का प्रथमाविर्भाव या बलाधिक्य (ज्वर की तीव्रता, या पुनराविर्भाव) भोजनोत्तर हो तो कारणभूत दोष कफ है यह मान कर दोष-बलानुसार वमन, लङ्घन, दीपन-पाचनादि की योजना की जा सकती है। उदरशूल या गुल्म भोजन के विचार से किस काल में होता है यह जान कर उसके मूलभूत दोष तथा आमाशयादि स्थान की निश्चिति की जा सकती है। इससे किस दोष के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए यह भी निर्णय किया जा सकता है।

उदरशूल के विषय में व्यवसायोपयुक्त एक सत्य समझ लेने योग्य है। आमाशय-पच्यमानाशय शून्य हों तो प्रवृद्ध वायु इन आशयों को पूर्ण कर लेता है। परिणामतया, मुख से गुदद्वार पर्यन्त वायु व्याप्त हो जाने से प्रत्येक आशय में इस वायु का प्रमाण इतना नहीं होता कि सामान्य और सह्य असुख से अधिक कोई विकार उत्पन्न कर सके। भोजन द्वारा आमाशय-पच्यमानाशय पूर्ण हो जाने से वायु इन आशयों को छोड़ कर पक्वाशय में एकत्र हो जाता है। इस प्रकार उस आशय में उसका प्रमाण बढ़ कर अब इतना हो जाता है कि जिसे प्रकोप कहा

जा सके। यह कुपित वायु रोगोत्पत्तिक्षम होने से शूल, आध्मान, सौहित्या-सहिष्णुता (तृप्ति हो इतना खा न सकना), भोजनोत्तर मल-प्रवृत्ति प्रभृति विकारों को उत्पन्न करता है। विकृति भोजनोत्तर हुई होने से उसका कारण कफ ही होगा यह सामान्य बुद्धि होती है। आमाशय और पक्वाशय का कुछ अंश उदर में एक ही प्रदेश में (आमाशय-प्रदेश में; एपीगेस्ट्रिक रीजन में) अवस्थित होने से भी रोग का स्थान आमाशय ही समझने की प्रवृत्ति होती है। आमाशय अधोभ्रष्ट हो तो इस शङ्का की उत्पत्ति अधिक सहज होती है। ऐसे प्रसंगों में उक्त संप्राप्ति को दृष्टि में रख वायु के कोप को भी लक्ष्य में रखना ठीक होता है ज्वरादि सर्वाङ्ग रोगों में भी भोजनोत्तर काल में वायु की इस प्रकार कारणता होना संभाव्य है। अन्य लक्षणों तथा उपशयानुपशय को दृष्टि में रख दोष का विनिश्चय किया जा सकता है।

कोई रोग पुरुष को पीड़ित न कर रहा हो, उसका मन तथा इन्द्रियाँ भी प्रसन्न हों तो उस पर अस्वस्थ का लक्षण घटित न होने से दिवस और रात्रि के भिन्न-भिन्न कालों में एवं भोजन से संबद्ध तत्-तत् उक्त काल में दोष का जो यत्किंचित् उदीरण होता है वह नहिवत् होने से उसे अस्वस्थता का लक्षण न मान कर दोष-साम्य ही समझने का व्यवहार वैद्यों में है। यह कोप भी विशेष अपाय न करे इस निमित्त स्वस्थवृत्त के प्रकरणों में तत्-तत् चर्या का विधान है--यथा भोजनोत्तर वृद्धिगत कफ को समावस्था में लाने के लिए धूमवर्ति से संशोधन किंवा हृद्य (हृदयस्थ कफ को शुद्ध कर तन्द्रा आदि के निवर्तक) कषाय, कटु और तिक्त रस वाले एवं सुगन्धित पूगीफल (सुपारी), लवङ्ग इत्यादि का विधान और प्रचार है[१]। शेष ऋतुस्वभावजन्य प्रकोप का प्रमाण ही रोगोत्पादनक्षम होने से उसे तन्त्रों में प्रकोप कहा है तथा उसकी उपशान्ति के लिए कारणानुरूप ही संशोधनादि विशिष्ट उपचारों का भी उपदेश किया गया है। (देखिए : सु० सू० ६।१४ पर डह्लन)।

वयोभेद से दोष-प्रकोप—इस विषय में पुष्कल वक्तव्य पहले आ ही गया है। संक्षेप में--

वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम्॥

च० चि० ३०।३११

ऋतु आदि कालों के भेद से जो रोगों में वैशिष्टच होता है उसे कालापेक्ष भेद कहा जाता है।--

---

१--देखिए : सु० सू० ४६।४८४--४८६

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते॥
च० चि० ३०।३०८

काल के दो भेदों में प्रथम संवत्सर-रूप काल का जो विचार अब तक किया वह दोषों एवं तदुत्थ रोगों को लक्ष्य में रख कर किया गया है। इस काल का विचार औषधों के ग्रहण के लिए भी किया जाता है। ऋतुएँ अव्यापन्न हों, अर्थात् उनके जो गुण तथा स्वरूप शास्त्र में निर्दिष्ट तथा लोक-प्रसिद्ध हैं वे सम-प्रमाण में विद्यमान हों, उनका अयोग, हीनयोग, या मिथ्यायोग न हो (उनके लक्षणों की अविद्यमानता या न्यून विद्यमानता, यथा वर्षा काल में वर्षा न होना या न्यून होना; तथा विपरीत लक्षण यथा शीत काल में वृष्टि होना--यह वैषम्य न हो) तो जो अन्नपान तथा वनौषधियाँ उत्पन्न होती हैं वे देश (भूमि), जल, वायु तथा काल के रसयुक्त और सद्गुण संपन्न होने से अपने-अपने रस, गुण वीर्य, विपाक और प्रभाव से संयुक्त होती हैं। अतः उनका सेवन प्राण, आयु, बल (उत्साह और उपचय), वीर्य और ओज की पुष्टि करनेवाला होता है। जल भी अव्यापन्न होने से इन्हीं गुणों वाला होता है। इसके विपरीत ऋतुओं की व्यापत्ति से विभिन्न रोगों या मरकों (जनपदोद्ध्वंसक रोगों) का प्रादुर्भाव होता है[1]। यह स्थिति उत्पन्न होने पर अव्यापन्न (पूर्व-संचित या व्यापत्ति के लक्षण आरम्भ होने के पूर्व ही उद्धृत) वनौषधियों तथा आहार द्रव्यों का सेवन इत्यादि उपाय करने चाहिए।

आवस्थिक काल--

काल का द्वितीय भेद आवस्थिक काल कहा जाता है। इसका अर्थ है रोगी के रोग की तरुण, आम, जीर्ण, पच्यमान प्रभृति भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वमन-प्रभृति भिन्न-भिन्न उपचार विधेय होते हैं। उन अवस्थाओं में उन उपचारों का काल है, ऐसा कहा जाता है। इनमें तथा अन्य कई अवस्थाओं में तत्-तत् उपचार निषिद्ध होते हैं। ये अवस्थाएँ इन उपचारों के लिए अ-काल होती हैं। इसके अतिरिक्त रोगों को लक्ष्य में रख कर भी तत्-तत् काल में तत्-तत् उपचार विहित है। यथा, नवज्वर में लङ्घन का काल होता है, कषाय का अ-काल होता है। छ दिन के पश्चात् कषाय का काल होता है। इसी प्रकार ज्वर में पेया, क्षीर, घृत और विरेचन के कालों का निर्देश किया

१--देखिए : च० वि० ३।३-२२ ; सु० सू० ६।१५-१८ तथा चक्रपाणि तथा डल्हन।

गया है। अन्य रोगों की अवस्थाओं में विभिन्न उपचारों का काल तथा अ-काल बताया गया है। चिकित्सा की शुद्धि और सिद्धि अपेक्षित हो तो बार-बार रोगी की अवस्थाओं का अवेक्षण (अवलोकन; ऑब्जर्वेशन) करते रहना चाहिए। काल बीत जाने पर (अतिपतितकालम्) या काल आने के पूर्व (अप्राप्तकालम्) औषध का उपयोग किया जाए तो वह कार्य-साधक नहीं होता। रोगी की अवस्था से संबद्ध काल के विचार को अवेक्षणापेक्ष तथा रोग-विषय औषध-काल को औषधापेक्ष कहा जाता है।

इसी प्रकार दिन के विभिन्न कालों में तत्-तत् उपचार का विधान है; यथा, पूर्वाह्न में वमन कराना चाहिए। इस विचार को दिनापेक्ष कहते हैं। औषध-सेवन का काल कभी रोग्यपेक्ष होता है, जैसे रोगी बलवान् हो तो उसे निरन्न (खाली पेट) औषध-सेवन कराना चाहिए। रोगी दुर्बल हो तो इस प्रकार औषध न दे कर, लघु तथा पथ्य अन्नपान का सेवन करा तदनन्तर औषध देना चाहिए। इस विषय का अधिक विचार अनुपद करेंगे।

काल के विचार में कभी-कभी आहार जीर्ण हो गया है या नहीं इसका भी विचार किया जाता है। बुभुक्षा का उदय होना, पुरीषादि के वेगों की प्रवृत्ति, शरीर और मन में लघुता उत्पन्न होना एवं हृदय और उद्गार की शुद्धि--ये आहार के जीर्ण होने के लक्षण हैं। इनका प्रादुर्भाव होने पर अन्य औषध देनी चाहिए। इस औषध-काल को जीर्णापेक्ष कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रातः जो औषध निरन्न कोष्ठ देने का विधान है वह तो पूर्व दिन भुक्त अन्न की जीर्णता के लक्षण उत्पन्न होने पर देना ही चाहिए, भोजनोत्तर जो औषध देना है वह भी उस दिन किया भोजन जीर्ण होने पर ही देना चाहिए।

ऋतुओं को लक्ष्य में रख कर निर्णीत औषध-काल को ऋत्वपेक्ष कहते हैं। इसका विचार पहले किया जा चुका है[१]।

औषधापेक्ष काल[२]--

औषध-प्रयोग संबन्धी काल के इस प्रकरण में विशेषतया औषध को लक्ष्य में रख कर दस कालों की गणना पूर्वाचार्यों ने की है। इसे औषधापेक्ष काल कहा गया है। इसके दस भेद हैं।--अनन्न (अभक्त), प्राग्भक्त (अन्नादौ, भुक्तादौ),

---

१--दिनापेक्षादि काल-भेदों के लिए देखिए : च० चि० ३०।२९६-३१२; च० वि० ८।१२८ तथा चक्रपाणि।

२--**स्थल** : च० चि० ३०।२९९-३०१, सु० उ० ६४।६५-८३; अ० सं० सू० २३; अ० ;० सू० १३।३८-४१ तथा चक्रपाणि, डल्हन, हेमाद्रि, अरुण।

मध्येभक्त, अधोभक्त, सभक्त, सामुद्र, अन्तराभक्त, ग्रास, ग्रासान्तर मुहुर्मुहुः। संग्रहकार ने ग्यारहवाँ नैश काल भी माना है।

अनन्न या अभक्त औषध काल--प्रातःकाल भोजन के पूर्व खाली पेट यदि औषध लिया जाए तथा उसके पश्चात् औषध जीर्ण होने पर अन्न का सेवन किया जाए उसे अनन्न औषध-काल कहते हैं। अनन्न सेवन किए गए औषध का वीर्य (कार्य-शक्ति) अधिक होता है। आगे कहे जानेवाले औषध-कालों में औषध का संबन्ध अन्न के साथ हो जाने से उसकी क्रिया अन्न से दब-सी जाती है। वीर्याधिक्य के कारण इस प्रकार औषध का उपयोग उस स्थिति में किया जाता है जब रोग बलवान् हो, एवं रोगी भी बलवान् हो। दोष की दृष्टि से विचार करें तो रोग कफ-प्रधान हो तब अनन्न औषध दिया जाता है। कारण, आमाशय शून्य होने से उस काल आमाशय जिसका प्रधान स्थान है उस कफ पर औषध की क्रिया अधिक उत्तम प्रकार से होती है। वीर्य की अधिकता के कारण अनन्न औषध रोग को निःसंशय और शीघ्र नष्ट करने में समर्थ होता है। एक सामान्य उदाहरण से इस वस्तु को स्पष्ट कर लें। कई पुरुषों को विरेचन रात को दिया जाए तो उसका परिणाम नहीं होता या स्वल्प होता है। वही विरेचन प्रातः निरन्न कोष्ठ दिया जाए तो न्यून मात्रा में भी अधिक गुण करता है। रोगी के कोष्ठ का अनुभव न हो तो उसे सामान्यतया विरेचन रात को ही देना चाहिए। औषध की क्रिया का यत्किंचित् परिचय भी रोगी को दे देना चाहिए। पश्चात्, परिणाम न होने पर प्रातः योग्य मात्रा में औषध देना चाहिए (अथवा, आवश्यक हो तो तीव्र औषध देना चाहिए या वही औषध अधिक मात्रा में देना चाहिए)। जिनके कोष्ठ की मृदुता का तथा कार्यकारी औषध का वैद्य को परिचय हो उन्हें भी विरेचन औषध शीत काल में रात को दिया जाए तो कोष्ठ की पूर्व-निर्दिष्ट स्तब्धता के कारण औषध का गुण लक्षित नहीं होता। व्यवसाय में विरेचन नित्य और सविशेष उपयोग में आता होने से उसका उदाहरण यहाँ दिया है। अन्य औषधों का भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है।

अनन्न सेवित औषध जीर्ण हो जाने पर भोजन करना चाहिए।

अनन्न औषध का वीर्य अधिक होने से बालक, वृद्ध, स्त्री, भीरु तथा सुकुमारों को उसका सेवन नहीं कराया जा सकता। अन्यथा, उन्हें अत्यन्त ग्लानि (वमन की आशङ्का) तथा बलक्षय हो आता है। इस औषध-काल[1] के विषय में अधो-निर्दिष्ट पद्य स्मरणीय हैं।--

---

१--गुजराती में इस औषध-काल के लिए 'निरन्न कोष्ठ' का अपभ्रंश 'नरने कोठे' प्रचलित है।

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात् तदामयमसंशयमाशु चैव।
तद् बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानिं परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥

सु० उ० ६४।६७

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः ॥

अ० हृ० सू० १३।३८

अभक्त औषध के उपयोग के विषय में शार्ङ्गधर कहते हैं[1]--पित्त और कफ के प्रकोप से हुए रोगों में; विरेचन, वमन और लेखन (शरीर कृश करना)--इन प्रयोजनों से औषध देना हो तब अभक्त औषध ग्रहण करना चाहिए। प्रायः सब औषध विशेषतया कषाय, प्रातःकाल लेने चाहिए।

प्राग्भक्त औषध-काल--

अपाने विगुणे पूर्वम्। च० चि० ३०।२९९

निरन्न कोष्ठ ही औषध लिया जाए परन्तु भोजन के ठीक पूर्व तो इसे प्राग्भक्त कहा जाता है। अपान वायु विगुण (विलोम) हो; रोग अधःकायगत (नाभि से नीचे स्थित) हो; अधःकाय में स्थित अवयवों को बल प्रदान करना अभीष्ट हो एवं शरीर को कृश करना हो तो प्राग्भक्त औषध दिया जाता है। जैसे भोजनोत्तर आध्मान, सौहित्यासहिष्णुता, शूल प्रभृति विकृतियों में हिंग्वष्टक का प्राग्भक्त उपयोग होता है। रोगी चावल खाता हो तो प्रथम कवल में हिंग्वष्टक योग्य प्रमाण में तथा घृत मिला उसका सेवन किया जाता है। रोगी चावल न खाता हो तो रोटी या टिक्कड़ के एक अंश पर घृत मिश्रित हिंग्वष्टक चुपड़ कर उसका सेवन कराया जाता है। इसके अनन्तर तत्काल शेष आहार लिया जाता है। इस प्रकार औषध-सेवन का परिणाम यह होता है कि, वह अन्न-पचन के अङ्ग रूप में हुए पित्त के उदीरण के कारण शीघ्र और सरलता से पच जाता है। बलक्षय नहीं करता। वह अन्न से आवृत (पीड़ित) होने के कारण उत्क्लिष्ट हो बार-बार मुख से बाहर निकल नहीं आता। इसका उपयोग शिशु, वृद्ध, भीरु, दुर्बल और स्त्रियों में करना चाहिए।

मध्येभक्त औषध-काल—आधा भोजन करने के पश्चात् औषध लिया जाए और पश्चात् शेष अर्ध भोजन लिया जाए तो इसे मध्येभक्त कहा जाता है। समान

१--देखिए: प्रथमखंड, अ० २।

वायु की विकृति होने पर औषध मध्येभक्त दिया जाता है। यह औषध अन्न से आवृत होने के कारण बहुत प्रसरणशील नहीं होता। अतः मध्यदेह (कोष्ठ, धड़) में हुए रोगों का तथा पैत्तिक रोगों को शान्त करता है।

अधोभक्त औषध-काल—उदान वायु की विकृति से हुए रोगों में--ऊर्ध्व-कायगत विविध रोगों में--भोजन के तत्काल पश्चात् औषध दिया जाता है। इसे अधोभक्त कहते हैं। यह ऊर्ध्वकायगत रोगों को शान्त करता है, शरीर को स्थूल करता है तथा ऊर्ध्वकाय को बल देता है। व्यान वायु की विकृति से रोग हुआ हो तो औषध पूर्वाह्ण के भोजन के अनन्तर देना चाहिए; तथा रोग उदान वायु की विकृति से हुआ हो तो विशेषतया सायंकालिक भोजन के अनन्तर।

सभक्त औषध-काल--रोगी स्त्री हो, दुर्बल, शिशु या वृद्ध हो, औषध-द्वेषी (औषध के प्रति अरुचि रखनेवाला) हो और उसे पृथक् औषध दी जाए तो उसके वीर्य को सहन न कर सके किंवा अरुचि के कारण औषध लेना शक्य न हो या कथंचित् औषध ले तो ग्लानि, वमन आदि हो जाए, एवं रोग सर्वाङ्गगत हो तो औषध को अन्न के साथ संयुक्त कर दिया जाता है। इसे सभक्त औषध-काल कहा जाता है। मण्ड, पेया आदि आहार-द्रव्य केवल धान्यों से सिद्ध किए जाते हैं और औषध-समेत शूकधान्यों या शिम्बीधान्यों से भी उन्हें सिद्ध किया जाता है। औषध-सिद्ध मण्ड, पेया आदि बनाने के लिए औषध-द्रव्यों का क्वाथ बना कर मण्ड आदि बनाने के लिए जल के स्थान पर इस क्वाथ का उपयोग किया जाता है[1]। औषध-साधित अन्नपान को तत्-तत् प्रकार से रोचक बना कर देना चाहिए। साधन के समय औषध-द्रव्य को अन्नपान में मिलाया न जाए, परन्तु अन्नपान के साथ औषध लिया जाए तो उसे भी सभक्त (या 'संभोज्य') कहा जाता है। घृतादि स्नेह द्रव्यों के सेवन के दो प्रकार हैं--स्नेहों का केवल उपयोग तथा मण्ड, पेया आदि में मिला कर उपयोग। स्नेहों का अकेले उपयोग किया जाए तो तो इसे अच्छपेय कहा जाता है। अन्य द्रव्यों के साथ मिला कर उपयोग किया जाए तो इस उपयोग को विचारणा कहते हैं[2]। अन्न-सहित लिए गए स्नेह-द्रव्य सभक्त औषध के ही प्रकार कहे जा सकते हैं।

सामुद्ग औषध-काल--भोजन के पूर्व और पश्चात् (तत्काल या कुछ आगे-पीछे) दोनों समय औषध लिया जाए तो इसे सामुद्ग कहते हैं। सामुद्ग का अर्थ होता है संपुट (अञ्जलि, पेटी आदि के दो परस्पर संयुक्त अंग)। पूर्व

१--च० सू० २।१७-३४ में चरक ने विविध रोगों में विविध औषधों से यवागू-सिद्ध करने के लिए पाठ दिए हैं।

२--देखिए--च० सू० १३।२३-२८।

और पश्चात् सेवित औषध अन्न को संपुटित-सा करते हैं अतः इसे सामुद्ग कहा जाता है। कम्प, आक्षेप और हिक्का में एवं दोष ऊर्ध्व और अधः दोनों दिशाओं में प्रसृत हो तो सामुद्ग औषध दिया जाता है। इसमें भोजन लघु और अल्प लेना चाहिए। औषध अवलेह, चूर्णादि रूप में पाचन लिया जाता है।

अन्तराभक्त औषध-काल--प्रातःकालिक तथा सायंकालिक भोजन के मध्य में औषध लिया जाए तो इस काल को अन्तराभक्त औषध-काल कहते हैं। पूर्वाह्ण में (दिन के पूर्व भाग में) किया भोजन पच जाने पर अन्तराभक्त औषध दिया जाता है और औषध जीर्ण हो जाने पर अपराह्ण में (दिन के पिछले भाग में) भोजन किया जाता है। भक्त शब्द काल-वाचक इन शब्दों में भुक्त या भोजन के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भक्त (भोजनद्वय) के अन्तरा (मध्य) में लिया गया (अन्तराभक्त) औषध हृद्य (हृदय के लिए हित तथा प्रिय[1]), मनोबलकर, दीपन और सदा पथ्य होता है। पुरुष का अग्नि दीप्त हो तथा रोग व्यान वायु के कोप से हुआ हो तो अन्तराभक्त औषध देना चाहिए।

ग्रास या सग्रास औषध-काल--अन्न के एक या अधिक ग्रासों (कवलों) के साथ संयुक्त कर औषध दिया जाय तो इसे ग्रास या सग्रास कहते हैं। सभक्त में औषध संपूर्ण भोजन के साथ पका कर दिया जाता है, या सभी ग्रासों के साथ दिया जाता है। ग्रास में कुछ ही ग्रासों के साथ औषध लिया जाता है। यह दोनों में भेद समझना चाहिए। जिनका अग्नि दुर्बल हो उन्हें दीपनीय औषध इस रीति से दिया जाता है। वाजीकर द्रव्यों के लिए भी यह विधान है। प्राण वायु की विकृति में ग्रास का उपयोग होता है।

ग्रासान्तर औषध-काल--दो-दो ग्रासों के मध्य में औषध दिया जाए तो इसे ग्रासान्तर कहते हैं। यह योजना भी प्राण वायु की दुष्टि में की जाती है। यथा, श्वासादि रोगों में वमनीय धूम, तथा अनुभव-सिद्ध अवलेह ग्रासान्तर दिए जाते हैं[2]।

मुहुर्मुहुः औषध-काल--मुहुर्मुहुः का अर्थ है--पुनः-पुनः, बार-बार। अन्न के साथ या उसके बिना मुहुर्मुहुः औषध का उपयोग अति प्रसृत (जिसका वेग दीर्घ हो ऐसे ; अंग्रेजी में जिसे स्टेटस एस्थमेटिकस कहते हैं ऐसे) श्वास में, अति

१--हृद्या हृदयहिता हृदयप्रियाश्च--सु० उ० ४७।४३ पर डल्हन।

२--अन्तराभक्त, ग्रास और ग्रासान्तर के ये अर्थ सुश्रुत तथा वाग्भट के अनुसार दिए हैं। चक्रपाणि ने चरक की टीका में ग्रास और ग्रासान्तर एक काल मान कर उसका वही अर्थ दिया है जो हमने ऊपर ग्रासान्तर का दिया है। अन्तराभक्त का अर्थ चक्रपाणि ने 'ग्रास' के उक्त अर्थ जैसा बताया है। आगे मतान्तर भी उसने दिए हैं।

प्रसूत नाम प्रसक्त, दीर्घ काल तक जिसके वेग आते रहें ऐसे कास में, एवं हिक्का, वमन, पिपासा और विषज-विकारों में होता है।

संग्रह में ग्यारहवाँ नैश या रात्रि काल भी गिना है। ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में इस काल में औषध का विधान किया है।

शार्ङ्गधर ने औषध-ग्रहण काल सरल करके पाँच बताए हैं--सूर्योदय के कुछ पश्चात्, दिन में भोजन के समय, रात्रि के भोजन के समय, मुहुः तथा रात को सोते समय।

ये दस या ग्यारह औषध-काल हैं। आज वैद्य नवीनों की अनुकृति में प्रातः-मध्याह्न-सायं औषध-योजना करते देखे जाते हैं। दोष और रोग देख कर काल के विचार को लक्ष्य में रखना चाहिए।

भोजन-काल--औषध-कालों के प्रकरण में ही तन्त्रकार ने भोजन-काल का भी निर्देश किया है। वह भी द्रष्टव्य है--

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति।
तथाऽन्न श्रद्धायां क्लमपरिगते कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजां कालः स तु मतः[1] ॥

सु० उ० ६४।८४

मल और मूत्र की प्रवृत्ति हो जाए ; हृदय सुविमल हो जाए--रसशेषकृत गौरवादि से रहित एवं अनाकुल हो जाए ; एकादश इन्द्रियाँ विशद (निर्मल, पटु, स्वकार्य में प्रवृत्तिशील) हो जाएँ ; शरीर अति लघु (गुरुत्व रहित) हो जाए ; उद्गार विशुद्ध हो जाए--दोष-भेद से होनेवाले अजीर्णों के मधुर, अम्ल रस या धूमगन्ध से शून्य हो जाए ; इतर स्रोतों के मुख भी विशुद्ध हो जाएँ ; दोष अपने-अपने आशय और बहिर्मुख स्रोत के प्रति गतिमान् होने लगें ; यथा, वायु अनुलोम हो कर सरने लगे--अधोमार्ग से प्रवृत्त होने लगे ; अग्नि उद्रिक्त (पाकक्षम) हो जाए ; परिणामतया, क्षुधा का उदय और अन्न के प्रति श्रद्धा का प्रादुर्भाव हो जाए ; क्लम (अनायास श्रम) निवृत्त हो जाए ; एवं बुभुक्षा का आविर्भाव होने से कुक्षि (उदर) भी शिथिल--स्तब्धता-रहित--हो जाए उस काल में--उस स्थिति में ही विधिवत् बनाए आहार का शास्त्रोक्त नियम-पूर्वक सेवन करे। भोजन का यही समय है[2]। अन्यथा--

---

१--कुछ भेद से यह पद्य अ० हृ० ८।५५ में आया है। उसके पठान्तर का भी अर्थ यहाँ ले लिया है।

२--पद्य में धीरललिता छन्द है।

पुरुष अप्राप्तकाल नाम उक्त लक्षणों के उदय के पूर्व भोजन करे तो शिरोरुजा-प्रभृति सामान्य विकृति से आरम्भ कर मरण पर्यन्त घोर परिणामों का ग्रास होता है। अतीतकाल भोजन करे तो अग्नि वायु से उपहत हो जाने के कारण अन्न का सकृच्छ्र पचन होता है और अगले काल पर आहार की इच्छा पुरुष को होती नहीं[1]।

वायु से अग्नि के उपहत होने का तात्पर्य यह है कि पाचक पित्त का वहन करने-वाले स्रोतों के मुख वात के प्रकोप से सर्वथा रुद्ध या संकुचित हो जाते हैं; साथ ही स्रोत स्तब्ध हो जाने से नाम पित्त का वहन करने में कारणभूत आकुञ्चन-प्रसारणात्मक कर्म क्षीण हो जाने से पित्त का वहन भी सम्यक् नहीं होता। वायु के कोपवश पित्त का क्षय भी होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि पित्त का स्वरूप प्राकृत नहीं रहता--तीक्ष्णत्वादि गुण उसमें यथोचित प्रमाण में रहते नहीं।

पित्तवह स्रोत शब्द से नव्योक्त पाचक पित्तोत्पादक ग्रन्थियाँ तथा उनके वहन करनेवाली नाड़ियाँ (डक्ट) दोनों गृहीत हैं। आर्तववह, स्वेदवह आदि स्रोतों से भी ग्रन्थियाँ नाड़ियाँ दोनों गृहीत होती हैं। वायु से पित्तवह स्रोतों की उपहति (दुष्टि, अवरोध) का जो स्वरूप ऊपर बताया है, प्रायः वही स्वरूप अन्य स्रोतों की दुष्टि या वैगुण्य का भी होता है। स्रोत के प्राकृत कर्म के भेद से परिणाम-भेद होता है, इतना ही भेद है।

इस प्रकार रोग-परीक्षा के प्रसंग से परीक्ष्य काल के संवत्सर और आतुरावस्था रूप दो भेदों का विचार संपूर्ण हुआ। अब अग्नि तथा कोष्ठ का निरूपण आयुर्वेदमतानुसार किया जाता है।

आहारशक्ति तथा अग्नि की परीक्षा

रोग-परीक्षा में आहार-शक्ति की परीक्षा भी एक अङ्ग है। बलायुषी ह्याहारायत्ते (च० वि० ८।१२०)--बल और आयु का आधार आहार ही है। आहार-शक्ति का अर्थ है--अभ्यवहरण-शक्ति तथा जरण-शक्ति। रोगी का सर्वग्रह कितना है[2] इसे देख कर उसकी अभ्यवहरण-शक्ति--वह आहार कुल

१--देखिए : सु०।सू० ४६।४७२-७३

२--आहार-विधि में आहार की राशि (प्रमाण) भी बतायी जाती है। राशि के दो भेद हैं--**सर्वग्रह** तथा **परिग्रह**। रोटी, दाल, शाक आदि सर्व आहार्य द्रव्यों का मिलित (एक पिण्डरूप) प्रमाण सर्वग्रह कहाता है। प्रत्येक के पृथक् प्रमाण को परिग्रह कहते हैं। नित्य के भोजन का सर्वग्रह निश्चित रखना चाहिए। कोई नवीन वस्तु थाली में आई हो तो नित्य के भोजन में से अन्य द्रव्य का उतना→

मिला कर कितनी मात्रा में ले सकता है यह बात--जानी जाती है। परन्तु आहार का सर्वग्रह तो प्रकृत्यारम्भक तथा विकृतिजनक वात के कारण अधिक भी हो सकता है। वातप्रकृति पुरुष दन्दशूक (पेटू) होते हैं, यह वात प्रकृति के लक्षणों में कह आए हैं। इस विशेषण का अर्थ यह होता है कि--उन्हें भूख हो या न हो, उन्होंने खाना खाया हो या नहीं, खाया भोजन पचा हो या नहीं--उनके सामने कोई आहार्य वस्तु आई नहीं कि वे उस पर गृध्र आदि के सदृश टूट पड़ते हैं। यह भी देखते नहीं कि वह वस्तु उनके लिए हितकर नहीं है, और उसके अहित होने का अनुभव कुछ ही काल पूर्व, कदाचित् गत दिन, उन्हें हो चुका है। यही समझते हैं--जानो कल खाना मिलनेवाला नहीं। उन्हें गृध्र, काक आदि के समान अनूक (स्वभाव) वाला कहा है, उसका एक कारण यह दन्दशूकता है। वातकृत विकृतियों में भी विकार-भूत क्षुधा, लौल्य आदि लक्षणतया देखे जाते हैं; यथा, वातिक ग्रहणी, मधुमेह तथा स्थौल्य (मेदस्विता) में। वातिक ग्रहणी में तो 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इन शब्दों से निर्दिष्ट यह जिह्वा-लौल्य तथा मनोदैन्य रोग को असाध्य बनाने में हेतु होते हैं।

राजयक्ष्मा को भी इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। इस रोग में रस धातु के मार्ग (स्रोत) कफ जिनमें मुख्य है उन वातादि दोषों से अवरुद्ध होते हैं--कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु (सु० उ० ४१।६)। कफ से रसवह स्रोतों की दुष्टि का अर्थ है रस का वहन मन्द होना, स्रोतों की कला कफ-युक्त रस से पूर्ण (कंजेस्टेड) होने के कारण उनका अवकाश स्वल्प हो जाने से रस का योग्य प्रमाण में वहन न होना, किंवा अर्बुद, धमनीप्रतिचय, स्वयं कफ आदि द्वारा उनका अवरुद्ध होना। राजयक्ष्मा में मन्दता प्रधानतया स्रोतोरोध का कारण होती है। रसवह स्रोत कफादि दोषों द्वारा विगुण होने का परिणाम यह होता है: पुरुष के धातु क्षीण होने से उनकी पुष्टि के लिए क्षुधा अधिक लगती है। यक्ष्मा में मांस धातु का ही क्षय विशेष होता है, अतः उसकी पूर्ति के लिए मांस की ही इच्छा उसे विशेष होती है, ऐसा तन्त्रकारों ने कहा है। (देखिए: यक्ष्मा के पूर्वरूपों में–शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः–सु० उ० ४१।२६)। परन्तु पूर्वोक्त संप्राप्ति के अनुसार प्रथम तो पित्तवह स्रोत भी कफदुष्ट होने से पाचक पित्त का स्रवण मन्द और अल्प होता है। पश्चात्, जो अन्नरस बनता भी है उसका पच्यमानाशय से हृदय के प्रति और हृदय से सर्वधात्वाशयों के प्रति वहन भी मन्द तथा प्रमाण में अल्प ही होता है। परिणाम में, रोगी बुभुक्षा-

---

←हीं प्रमाण निकाल देना चाहिए। इस प्रकार राशि की रक्षा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। राशि के प्रकरण के लिए देखिए: च० वि० १।२८।

नुरूप पुष्कल खाता है, भुक्त द्रव्य भी बृंहण होते हैं, तथापि उसके धातुओं तथा शरीर का पोषण और बलाधान नहीं होता। अश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः- (च० चि० ८।३४) इस सुस्मरणीय पूर्वरूप द्वारा चरकाचार्य ने यही स्थिति दर्शाई है। यह लक्षण चालू रहे तो रोगी प्रत्याख्येय कोटि में पहुँच जाता है। प्रत्याख्येय यक्ष्मा के लक्षणों में एक लक्षण सुश्रुत ने महाशनं क्षीयमाणम् (सु०उ० ४१।३१) बताया है। वह रसवहस्रोतोरोध की पराकाष्ठा का निदर्शक है।

किंबहुना, प्रकृत्यारम्भक या विकृतिजनक दोष के कारण कभी पुरुष का आहार प्रमाण में बहुत होता है। परन्तु उससे--उसकी अभ्यवहरण-शक्ति से--उसके अग्निबल का अनुमान नहीं होता। अग्नि की परीक्षा तो अग्निं जरणशक्त्या (च० वि० ४।६) इसी बात से होती है कि पुरुष कितने प्रमाण में, तथा तत्-तत् दोष के अभिभव के लक्षणों की उत्पत्ति के विना, अन्नपान का जरण (पचन) कर सकता है। इस प्रकार, जरण-शक्ति से अग्नि के बल का परिज्ञान होता है। परन्तु, अग्नि की परीक्षा में उसका किसी दोष-विशेष से संसर्ग होने के कारण किसी प्रकार की विकृति तो नहीं है, यह देखा जाता है।

दोष-भेद से पाचकाग्नि के भेद[1]--

दोष-भेद से पाचकाग्नि के चार भेद होते हैं। इनमें दोषों का साक्षात् संसर्ग यद्यपि पाचकाग्नि के साथ होता है यही कहा है तथापि आयुर्वेद का मन्तव्य है कि धात्वग्नियों का बलाबल पाचकाग्नि के अधीन होता है। परिणामतया, पाचकाग्नि के बलाबल का प्रभाव धात्वग्नियों पर भी पड़ता है। उदाहरणतया, पित्त द्वारा पाचकाग्नि अभिभूत (प्रभावित) हो तो वह तीक्ष्ण हो जाता है। उसके तैक्ष्ण्य का प्रभाव धात्वग्नियों पर भी पड़ता है। इसीसे कहा है--तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः--च० वि० १५।५०। फलितार्थ यह है कि--दोष-भेद से पाचकाग्नि के जो भेद कहे हैं वे धात्वग्नियों के भी समझने चाहिए[2]।

१--स्थल : च० चि० १५।२१५-२२१ ; च० वि० ६।१२ ; च० चि० १५।५०-५१ ; सु० सू० ३५।२४-२६ तथा चक्रपाणि-डल्हन ; अ० हृ० सू० १।८ तथा अरुण-हेमाद्रि।

२--देखिए : शारीरेषु (अग्निषु) इति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगतानग्नीन् ग्राहयति। विवरणे तु जठराग्नेरेव 'तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः' इत्यादिना यच्चातुर्विध्यमुक्तं तज्जठराग्नितीक्ष्णत्वादिमूलकमेव त्वगग्न्यादितीक्ष्णत्वादि कमिति ज्ञापयति। वचनं हि--तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः (च० चि० १५।३९) इति।--च० चि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

प्रकृति-भेद से पुरुषों का अग्निस्थान तत्-तत् दोष से अभिभूत होने से अग्नि के तीन भेद होते हैं तथा दोष समावस्था में हों और उनका कोई विकृत प्रभाव अग्निस्थान और अग्नि पर न हो तो अग्नि का चौथा भेद होता है। इस प्रकार अग्नियों के चार भेद होते हैं--तीक्ष्ण, मन्द, विषम और सम।

समाग्नि--पुरुष दोष, देश, प्रकृति आदि की दृष्टि से सम (युक्त) अन्नपान का सेवन करता हो तो उसके वात, पित्त, कफ ये शारीर दोष सम और प्रकृतिस्थ रहते हैं[1]। उनके कारण अग्नि भी सम रहता है। वह यथाकाल सेवित अन्न का सम्यक् पचन करता है--आगे तीक्ष्णादि भेदों में जिन विकृतियों का उल्लेख किया है उनमें से किसी को उत्पन्न नहीं करता, जिससे सभी दोष, धातु, उपधातु और मल समावस्था में रहते हैं। परिणामतया, शरीर के आरोग्य, पुष्टि, बल और आयु की वृद्धि होती है। पुरुष अहिताहार-विहार न करे तो इस अग्नि का साम्य स्थिर रहता है। अहिताहार-विहार से उसमें तदनुरूप मन्दता आदि विकृतियाँ आ जाती हैं। स्वस्थवृत्तोक्त चर्या के अनुष्ठान द्वारा इसकी समता की रक्षा करनी चाहिए।

दोषाभिभूत अग्नि के तीन भेद होते हैं। पुरुष वात-प्रकृति हो और उसका अग्न्यधिष्ठान[2] वात से अभिभूत हो तो अग्नि विषम होता है। इसी प्रकार पुरुष पित्त-प्रकृति हो और उसका अग्निस्थान पित्त से अभिभूत (आवृत) हो तो उसका अग्नि तीक्ष्ण होता है। एवं, पुरुष कफ-प्रकृति हो और उसका अग्निस्थान कफ से अभिभूत हो तो उसका अग्नि मन्द होता है। तात्पर्य, प्रकृतियों के निरूपण में कहा गया है कि, पुरुष की प्रकृति का आरम्भक दोष अल्पमात्र अपचार (अहिताहार-विहार) से कुपित हो जाता है। सो, किसी अपचार से प्रकृत्यारम्भक दोष का कोप हुआ हो और उसका स्थानसंश्रय अग्न्यधिष्ठान में हुआ हो तभी अग्नि में तीक्ष्णत्वादि विकृतियाँ आती हैं। यह बात सत्य है कि, उक्त कारण-वशात् तत्-तत् प्रकृति में तत्-तत् दोष का प्रकोप प्रायः होता रहने से तत्-तत् प्रकृतिवाले पुरुष की अग्नि में तत्तद्दोषारब्ध विकृतियाँ प्रायः विद्यमान रहती ही हैं।

१--प्रकृतिस्थ शब्द का उपयोग इसलिए किया है कि तीन या दो दोष कुपित या क्षीण होने पर भी उनका कोप या क्षय सम हो सकता है। केवल सम शब्द से ऐसे दोषों का भी ग्रहण होता। देखिए : च० वि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

२--देखिए : वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठान इतिवचनेन वातलानामपि यदैवाग्न्यधिष्ठानोपघातो वातेन क्रियते, तदैव वैषम्यं भवति। एवं पित्ताभिभूत इत्यादावपि व्याख्येयम्। च० वि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

तीक्ष्णाग्नि--पुरुष पित्त प्रकृति हो तथा उसका अग्न्यधिष्ठान अपने प्रकोपक कारणों के सेवन से सुलभ प्रकोप को प्राप्त पित्त से अभिभूत हो तो पुरुष का अग्नि तीक्ष्ण होता है। जैसा कि नाम से सूचित है इसमें पित्त का पाक-क्षम तीक्ष्ण गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ होता है, अतः उसका, एवं तदाश्रित धात्वग्नियों का पचनात्मक व्यापार बढ़ जाता है। विषम हुए रोगारम्भक दोष का जो भी गुण क्षीण या वृद्ध होता है तदनुसार तत्-तत् रोग का प्रादुर्भाव होता है। इसका एक उदाहरण पित्त के तीक्ष्ण गुण के प्रकोप से तीक्ष्णाग्नि के प्रादुर्भाव का है। पैत्तिक ग्रहणी में पित्त का द्रव गुण बढ़ा होता है। वृद्धि को प्राप्त द्रव गुण अग्नि की तीक्ष्णता को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे उष्ण भी जल अपने द्रवत्व से अग्नि को बुझा देता है[1]। पाण्डु रोग में पित्त के तैक्ष्ण्य से रस धातु क्षीण हो जाता है, जिससे स्वयं रक्त की भी पुष्टि नहीं होती। परिणामतया, उसके मल पित्त का भी क्षय होता है। परन्तु, द्रव, पीत आदि गुणों की वृद्धि हो कर शैथिल्य, पीतता, शोथ आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अस्तु। पित्त का तीक्ष्ण गुण कुपित होने में एक कारण तो मदिरा, सोमल, गाँजा, भाँग इत्यादि अपने प्रकोपक कारणों से पित्त के तीक्ष्ण गुण की साक्षात् वृद्धि है। अन्य कारण यह है कि, अपने विरोधी गुणों से पित्त को समावस्था में रखनेवाला कफ[2] अपने क्षयकारक कारणों से क्षीण हो जाता है। तथाहिः

> नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
> स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥
> च० चि० १५।२१७

इसी कारण इसके उपाय भी ऐसे होने चाहिए जो कफ की वृद्धि तथा पित्त का शमन करें। साथ ही वायु को भी समावस्था में लाएँ। तीक्ष्णाग्नि की चिकित्सा का उपसंहार करते चरकाचार्य कहते हैं--

> कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः।
> समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये॥
> च० चि० १५।२१४

१--देखिए पैत्तिक ग्रहणी के निदान में-- × × × पित्तमुल्वणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जले तप्तमिवानलम्।--च० चि० १५।६५ ; पैत्तिकग्रहण्यां पित्तस्याग्निसमानतया वर्धनमेव युक्तमित्याशङ्क्य पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निहननं क्रियते इति दर्शयन्नाह--आप्लावयद्धन्त्यनलमिति। आप्लावनं द्रवेणार्द्रीकरणम्। उष्णस्यापि द्रवतया अग्निनिर्वापणे दृष्टान्तमाह--जलं तप्तमित्यादि--चक्रपाणि। २--देखिए : सु० सू० २१।१२

इस प्रकार उत्पन्न हुआ तीक्ष्णाग्नि सर्वापचारसह होता है--कोई अपचार नाम अन्नपान-विधित्याग किया जाए, तो उसे वह सहन कर लेता है। उससे उसके बल में कोई अन्तर नहीं आता। यथा, प्रभूत मात्रा में भी अन्न लिया जाए तो वह उसे शीघ्र पचा देता है।

तीक्ष्णाग्नि तैक्ष्ण्य के भेद से तीन प्रकार का होता है--तीक्ष्ण, तीक्ष्णतर जिसे अत्यग्नि या भस्मक कहते हैं; तथा तीक्ष्णतम। ऊपर दिया तीक्ष्णाग्नि का लक्षण उसके प्रथम भेद का है। कफ का क्षय एवं पित्त का प्रकोप होने से शरीर धातुओं के गुरु-स्निग्धादि गुणों का (नवीन संज्ञा में--प्रोटीन, स्नेह, --फैट--आदि का) पचन और शोषण एवं रूक्षता की उत्पत्ति हो कर, अथवा अन्य शब्दों में धातुओं का क्षय हो कर परिणाम रूप में वायु का प्रकोप होता है। कफ का क्षय, वायु का कोप तथा अग्नि की तीक्ष्णता जितनी बढ़ती जाती है उतनी-उतनी लक्षणों में वृद्धि होती जाती है। प्रारम्भ में--भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति--च० चि० १५।२२०--प्रमुख लक्षण इतना ही होता है कि अन्नपान जीर्ण हो चुकने पर, खाने के दो-ढाई घण्टे बाद रोगी को ग्लानि होती है--वह विलक्षण अरति और असुख का अनुभव करता है। लक्षणों की शान्ति तभी होती है जब रोगी कुछ भी खा लेता है। कई बार तो रोगी को खा लेने से लक्षणों की शान्ति का परिज्ञान हुआ नहीं होता। वह केवल अरति का उल्लेख करता है। पूछने पर उसका भोजन-काल से संबन्ध विदित होता है। कदाचित् रोगी को एकाध बार भोजन से रोगोपशान्ति का अनुभव हुआ हो तो उसकी स्मृति भी हो आने की संभावना होती है। अन्यथा, उपशयानुपशय-परीक्षा का आश्रय ले उसे अरति के समय लघु अशन (बिस्कुट इत्यादि) खिला कर रोग-विनिश्चय किया जा सकता है।

स्थिति उक्तरीत्या बढ़ती जाए तो--विशेषकर रोगी अज्ञान, साधनाभाव आदि कारणों से गुरु, स्निग्ध, पिच्छिलादि गुणयुक्त अन्नपान का उचित प्रमाण में सेवन न करे तो-परिणाम यह होता है-तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः[1] (च० चि० १५-५०)--तीक्ष्ण अग्नि का यह वैशिष्ट्य होता है कि, वह नियत काल पर लिए गए प्रभूत अन्नपान को शीघ्र पचा देता है। इस तीक्ष्णतर या अत्यग्नि संज्ञक अग्नि में यह विशषता होती है कि--स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति--(सु० सू० ३५।२४)--अन्न बार-बार और प्रभूत मात्रा में लिया जाए तो भी वह उसे शीघ्रतर पचा देता है। इसे अन्न के भस्मी-

---

१--अत्र मन्देन्धन इत्यनेन तीक्ष्णोऽपि यदि शुचीन्धनो भवति तदा धातुपोषणं भवतीति दर्शयति--चक्रपाणि।

करण के सामर्थ्य के कारण भस्मक भी कहते हैं। पचन के अनन्तर यह गल, तालु और ओष्ठ में शोष (शुष्कता का भास), दाह और संताप उत्पन्न करता है।

विकृत धातुपाक की क्रिया बढ़ती जाए तो धातुओं का पचन और तज्जनित क्षीणता में वृद्धि हो कर--तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्नि संभवाः--(च० चि० १५।२२१)--उदकक्षय (डीहाइड्रेशन) के कारण तृषा, श्वास, दाह, मूर्च्छा आदि उपद्रवों का प्रादुर्भाव होता है। धातुपाकवश हुए धातुक्षय के कारण शरीर शुष्क और कृश हो कर भार में सहसा ह्रास तीक्ष्णाग्नि की आरम्भिक अवस्था में ही देखी जाता है। क्रमशः धातुक्षय से दौर्बल्य की वृद्धि हो कर अन्त में रोगी ज्वर-प्रकरण में निर्दिष्ट धातुपाक के प्रसिद्ध लक्षणों के सदृश ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

तीक्ष्णाग्नि नव्यमत से लवणाम्ल के प्रकोप से हुआ हाइपरक्लोर-हाईड्रिया प्रतीत होता है। इसके साथ थायरॉक्सीन, इन्सुलीन आदि आग्नेय द्रव्यों का भी कोप (अति स्रवण) होता है या नहीं, यह जानना चाहिए।

मन्द अग्नि--तीक्ष्णविपरीतलक्षणस्तु मन्दः (च० वि० ६।१२)--पुरुष कफ प्रकृति हो तथा अपने प्रकोप के कारणों के सेवन से जिसका प्रकोप अन्य दोषों की तुलना में विशेष सुलभ होता है उस कुपित हुए कफ दोष से पुरुष का अग्निस्थान अभिभूत हो--आम-पच्यमानाशय में कफ ने स्थानसंश्रय किया हो तो उसका अग्नि मन्द (दुर्बल) होता है। अग्नि मन्द हो तो पुरुष अल्पमात्र भी आहार ले तथापि उसका पचन चिरकाल से होता है; इतना ही नहीं, साथ उदरगौरव (पेट में भारीपन की प्रतीति), शिरोगौरव, कास, श्वास, प्रसेक (लालास्राव), वमन तथा अङ्गसाद (शरीर शैथिल्य) इन कफ प्रकोपज लक्षणों को भी उत्पन्न करता है।

आगे देखेंगे कि, मन्द अग्नि शरीर में कफ के प्रकोप का कारण होता है। जठराग्नि मन्द हो तो उसीसे बल प्राप्त करनेवाले धात्वग्नि भी दुर्बल होते हैं। हैं। परिणामतया जो द्रव्य रसधातु के अङ्गभूत रह कर अन्य धातुओं एवं शरीरावयवों के पोषण, धारण, तर्पण, जीवन, यापन के कार्य में प्रयुक्त होने चाहिए तथा जिनके शेषांश से श्लेष्मधरा आदि कफ स्थानों में स्थित कफ की सम प्रमाण में पुष्टि होनी चाहिए वे गुरु-स्निग्धादि गुणयुक्त द्रव्य अग्नियों की मन्दता के कारण धातुओं और अवयवों के पोषणादि कार्यों में समग्रतया प्रयुक्त हो नहीं पाते, किंतु उनका बड़ा अंश इस प्रकार अनुपयुक्त अतएव मलभूत रहने से उससे पुष्टि प्राप्त करनेवाले कफ का ही सम प्रमाण से अधिक पोषण स्वभावतः होता है। यह कफ तत्-तत् स्थान में संचित हो तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करता है। तद्यथा--उदरावयवों की संधि में स्थित श्लेष्मधरा-कला में (नवीनों की पेरीटोनिअल

केविटी में) इसका विशेष संचय होता है तो उदर में गौरव की प्रतीति होती है। शिरोगत तर्पकधरा (नवीनों की मेनींजिज़) में इसकी संचिति होती है तो शिर में गुरुता का अनुभव होता है। प्राणवह स्रोतों में यह संचय होने पर कास, श्वास होते हैं। आमाशय में कफ का संश्रय हो तो कफज छर्दि होती है। संचित कफ का प्रमाण न्यून हो तब, किंवा वमन की पूर्वरूपावस्था में ग्लानि और प्रसेक होते हैं। सर्वशरीर में आम रस के संश्रय से शरीर में गौरव और शैथिल्य होता है।

उदर और शिर का गौरव, कास, श्वास, प्रवाहिका प्रभृति कफोत्थ रोगों में कफ कभी रसधातु से पृथक् होता है तथा ष्ठीवन आदि में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कभी, जब कि यह परिपक्व हो कर रसधातु से पृथक् न हुआ हो, उस स्थिति में उल्लिखित आशयों में--उनकी कला में--शोफ के रूप में संचित रह कर भी तत्-तत् रोग-लक्षण उत्पन्न करता है। अंग्रेजी में इस स्थिति को 'कंजेश्चन' कहते हैं। इसमें कफ का प्राधान्य होता है। कफ के मन्द गुण के कारण गुरु और शोफजनक रसधातु गति के मन्द होने से संचित हो जाता है। पित्त के कारण जो स्थिति होती है उसे पाक (इन्फ्लेमेशन) कहते हैं। दोनों में से कोई अति वेदनाग्रस्त हो तो उसमें वात का अनुबन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार दोष-भेद देख कर पश्चात् औषधानुपान तथा आहारादि की योजना में भेद करना चाहिए।

पुरुष कफप्रकृति हो या अन्य-दोष-प्रधान प्रकृति वाला, उसका अग्निस्थान कफ से अभिभूत हो, परिणामतया उसका अग्नि मन्द और दुर्बल रहे, रोगी के सतत अहिताहार-विहार के कारण (मन्दाग्नेरहिताशिनः—सु० उ० ४०।१६७; ग्रहणी-अधिकार) यह स्थिति चालू रहे तो अग्नि सुतरां मन्द हो जाता है। अग्नि मन्द होने से अन्नपान को पाकावधि धारण करने का कर्म जिस पच्यमानाशय, पित्तधरा कला या ग्रहणी, या क्षुद्रान्त्र-संज्ञक अवयव का है वह भी हीनबल हो जाता है। कारण, ग्रहणी की ग्रहणशक्ति का आधार अग्निबल ही है। अग्नि बलवान् होगा तो जब तक वह अन्नपान का परिपचन पूर्णतया न कर ले तब तक ग्रहणी उसे धारण किए रखती है। अग्नि मन्द एवं दुर्बल हो तो वह (ग्रहणी) भी उतने अंश में दुर्बल हो जाती है। परिणामतया, अन्न पूर्णतया पक्वावस्था को प्राप्त हो उसके पूर्व ही पक्वापक्व अन्नपान को वह पक्वाशय की दिशा में छोड़ देती है। स्थिति यह होती है कि, अग्नि की मन्दता-प्रभृति कारणों से अन्न रस रूप में परिणत न हो शुक्त (सिरके) के रूप में परिवर्तित हो विष-तुल्य हो जाता है।

दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥
च० चि० १५।४४

तथाऽन्नमपि तेनैव (अग्निना) पक्वममृततां यात्यपक्वं च विषताम्।। अ० सं० शा० ६

नवीनों ने भी कहा है अपक्व अन्न का विदाह या अम्ल-पाक (फर्मेंटेशन) हो कर शुक्ताम्ल प्रभृति सेन्द्रिय और विषवत् विकार-जनक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। प्राचीन दर्शन के अनुसार चराचर-मात्र के सदृश ग्रहणी में भी बुद्धि होती है, जिसके द्वारा वह अपने तथा शरीर के हिताहित की परीक्षा और निर्णय करने में शक्तिमान् होती है, तथा निर्णय कर हित की इच्छा तथा ग्रहण और अहित के प्रति द्वेष तथा उसके परित्याग का प्रयत्न करती है। उसके व्यापार इच्छा-द्वेषाधीन इस प्रयत्न के ही आश्रित होते हैं। समयोगयुक्त अग्नि आदि के समवाय से सम्यक् परिणत होते हुए अन्न और अन्न रस को पचन और ग्रहण के लिए ग्रहणी धारण किए रहती है। इस के विपरीत, अग्नि के दौर्बल्य के कारण उक्तरीत्या विषभूत द्रव्य उत्पन्न हों तो अपने लिए तथा शरीर के लिए अहित होने से ग्रहणी उन्हें छोड़ देने की ही चेष्टा करती है। नवीनों ने जिसे क्षोभ या इरिटेबिलिटी कहा है, उसकी यह कथा है। विष रूप द्रव्यों का स्पर्शमात्र ग्रहणी या पित्तधरा कला में क्षोभ उत्पन्न करता है, जिससे वह उन्हें छोड़ देती है। इस प्रकार ग्रहणी (प्रचलित नाम--संग्रहणी) रोग उत्पन्न होता है।

चरक संहिता में ग्रहणी अधिकार में (च० चि० १५) त्रिविध अग्नियों का निर्देश करते हुए मन्द अग्नि से ही ग्रहणी की उत्पत्ति बताई है। (देखिए--च० चि० १५।५१-५४ तथा उस पर चक्रपाणि की टीका)। इससे यह भी समझ लेना चाहिए कि 'अतीसारे निवृत्तेऽपि (सु० उ० ४०।१६७) इत्यादि ग्रहणी की संप्राप्ति दर्शानेवाले प्रसिद्ध पद्य में आए अतिसार शब्द से प्रवाहिका का ही ग्रहण सविशेष किया जाना चाहिए। चरक-सुश्रुत दोनों ने प्रवाहिका को अतिसार ही माना है। इस विषय का विशेष ऊहापोह इन रोगों के प्रकरण में करेंगे। प्रवाहिका में संचित कफ का ही प्राधान्य होता है--वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं यह उसकी संप्राप्ति में कहा है। यह प्रवृद्ध कफ अग्नि-स्थान को भी अभिभूत कर अग्नि को मन्द और दुर्बल बनाता है। रोगी अहिताहार-विहार करता रहे तो अग्नि अधिक दुर्बल होती है, एवं तदाश्रित ग्रहणी भी दुर्बलतर हो कर ग्रहणी रोग की संप्राप्ति का कारण बनती है। प्रत्यक्ष में भी ग्रहणी (संग्रहणी) प्रवाहिका के अनन्तर ही होती हुई विशेषतया देखी जाती है।

कफाधिष्ठित अग्नि के विषय में प्रसंगवश इतना विचार कर अब वाताधिष्ठित विषमाग्नि का लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

विषमाग्नि--पुरुष वात प्रकृति हो तो स्वल्पमात्र वात-प्रकोपक अहिताहार-विहार से उसमें वात का प्रकोप सुलभ होता है। इस कुपित वायु से अग्न्यधिष्ठान

अभिभूत हो तो अग्नि विषम होता है। उसके वैषम्य का स्वरूप यह होता है कि, कभी तो उसके द्वारा अन्न पचन में कोई क्लेश नहीं होता--अन्नपान का सम्यक् जरण तो हो ही जाता है, उसके साथ या अनन्तर कोई विकार-विशेष भी उत्पन्न नहीं होता ; परन्तु कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदरगौरव, अन्त्र-कूजन और प्रवाहण (प्रवाहिका के सदृश मलोत्सर्गका वन्ध्य वेग होना ; निकुन्थन) के साथ अन्न का पचन करता है। होता यह है कि वायु अपने चल स्वभाव के कारण जब तक अग्निस्थान से अग्नि को बाहर नहीं निकाल फेंकता तब तक स्थान-स्थित होने से अग्नि अन्नपान का प्रथम स्थिति में कहा सम्यक् पचन करता है। परन्तु, कुपित वायु जब अग्नि को बहिःप्रक्षिप्त कर देता है तो अन्नपान का पचन सम्यक् होता नहीं और समकाल द्वितीय स्थिति में निर्दिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं।--

विषमाग्नेर्वायुर्यदा न विक्षिपति तदाऽग्निः सम्यक् पचति, यदा पुनरितश्चेतश्च भागशो विक्षिप्तः स्यात्तदा सम्यङ्न पचति।

सु० सू० ३५।२४ पर डल्हन।

वाताभिभूत अग्नि के विषम होने की आयुर्वेद परक अन्य व्याख्या भी की जा सकती है। वायु, चाहे वह शारीर हो या बाह्य, उसे योगवाह कहा गया है। बाह्य वायु कभी सूर्य के साथ और कभी चन्द्र के साथ संयुक्त हो उनके गुणों का ग्रहण कर उनके यथासंख्य शोषण-प्रधान तथा पोषण-प्रधान कर्मों को जगत् में प्रसारित करता है। तद्वत्, बाह्य वायु का प्रतिनिधि शारीर वायु भी शरीर में सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधिभूत पित्त और कफ के साथ संयुक्त हो कभी पित्त के दाह, औष्ण्य, पाक प्रभृति कर्म करता है तो कभी कफ के शैत्य, अग्निमान्द्य आदि कार्य किया करता है। वायु की इस क्रिया को योगवाहिता कहते हैं।--

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

च० चि० ३।३८

वायु का कभी कफ के साथ और कभी पित्त के साथ (सं) योग और उसके कारण उनके गुणों का वहन (धारण) वायु के वैषम्य या चलत्व (अनियमितता) के प्रभाव से होता है। इसकी कुछ व्याख्या नव्य-मत से यह की जा सकती है--वायु कभी सौम्य (पैरासिंपेथेटिक) नाड़ी संस्थान को उद्दीप्त करता है और कभी आग्नेय (सिंपेथेटिक) को। जब जिसके साथ वायु का योग होता है तब उसके गुण-कर्मों को प्रकट करता है।

वात और वाताभिभूत अग्नि के इस वैषम्यके कारण ही वात प्रकृति पुरुष की क्षुधा भी विषम होती है। परिणामतया, कभी उसकी क्षुधा और रुचि खूब प्रदीप्त होती है--वह आश्चर्यजनक राशि में आहार का ग्रहण करता है तो कभी उसकी रुचि और क्षुधा मन्द हो जाती है ; पुष्कल प्रमाण में लिए आहार की आधी-पौनी मात्रा में ही अन्नपान वह लेता है। इससे रसोई घर की व्यवस्था में तो यत्किंचित् कठिनाई उपस्थित होती ही है, लक्ष्य प्रभाव तो पुरुष के शरीर पर पड़ता है। कभी क्षुधा उत्तम हो तो अन्नपान के प्रमाणानुसार रसधातु की भी सम्यक् पुष्टि होती है और तदाश्रित अन्य धातुओं का भी यथावत् पोषण हो कर उसका बल, प्रभा, मुख आदि का भराव उत्तम दिखाई देता है। कभी क्षुधा मन्द हो, अन्न का ग्रहण स्वल्प प्रमाण में होने के कारण रस और तदाश्रित धातुओं की पुष्टि भी सम्यक् नहीं होती। पुरुष इतने दिनों रूक्ष, शुष्क, दुर्बल और कान्तिहीन दिखाई देता है। वात प्रकृति पुरुषों के मुख की त्वचा (वदन) आदि में ये परिवर्तन पक्ष और सप्ताह में भी देखे जा सकते हैं तथा पुरुष की प्रकृति और अग्नि में वात के प्राधान्य को सूचित करते हैं।

इस प्रकार वातप्रकृति पुरुषों में वात के कारण अग्नि का वैषम्य होने से शरीर धातुओं के प्रमाण में भी वैषम्य देखा जाता है--विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्--च० चि० १५।५०।

विषमाग्नि के लक्षणों में आए उदावर्त शब्द की थोड़ी व्याख्या आवश्यक है। उदावर्त शब्द से सामान्यतया पुरीषादि के वेग का अवरोध करने से हुई वायु की विलोम गति तथा तदुक्त लक्षण-समुदाय का ग्रहण होता है। परंतु उदावर्त-प्रतिषेधाध्याय (सु० उ० ५५) में सुश्रुत ने तथा च० चि० २६।५-३१ में चरक ने उदावर्त का द्वितीय प्रकार भी बताया है--अपथ्यज। इसके लक्षण सुश्रुत में ३५ से ४१ पद्यों में कहे हैं। इनका तात्पर्य यह है कि रूक्ष, कषाय (चाय, सुपारी आदि), कटु, तिक्त द्रव्यों के अतियोग से यह उदावर्त होता है, इसमें पुरीष का अतिवर्तन (वर्तुलीभाव) आदि लक्षण होते हैं। इनका पूर्ण वर्णन आगे रोगाधिकार में करेंगे। यहाँ इतना ही कह दें कि, ये लक्षण आधुनिक युग में सुप्रचलित मलावष्टम्भ (कब्ज, कॉन्स्टिपेशन) के एक प्रकार-विशेष के हैं। मलावष्टम्भ आयुर्वेद-मत से अनेक कारणों से होता है। उसका भी विचार आगे प्रकरणानुसार किया जाएगा। विषमाग्नि के परिणामभूत लक्षणों में आए उदावर्त का अर्थ पुरीष का यह वर्तुलीभाव (गाँठ बन जाना) ही है। इसके साथ, विषमाग्नि के लक्षणों में अतिसार का भी पाठ है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि विषम हो तो कभी पुरुष को अतिसार होता है तो कभी उदावर्त (ग्रथित मल प्रवृत्ति)। प्रकोपक निदान के अनुसार वायु के रूक्षादि गुणों का प्रकोप

होने से उसका प्रभाव पुरीष पर हुआ हो तो उदावर्त होता है; परन्तु सेवित निदानानुसार वायु के चल गुण का प्रकोप हो कर उसके आकुञ्चन प्रसारणात्मक व्यापार की अतिवृद्धि हो जाए और उसका स्थान संश्रय आम-पच्यमान-पक्वाशय में हो तो बाह्य द्रव्य को मलद्वार की दिशा में ले जाने की प्राण, समान और अपान की क्रिया में वृद्धि होती है; परिणामतया पुरीषधरा कला में पुरीष के स्नेह और द्रव भाग के पचन और शोषण के लिए पर्याप्त काल अग्नि और वायु को सुलभ नहीं होता। मल द्रवप्राय रह जाता है। इस प्रकार द्रव मल की अति प्रवृत्ति होती है। इसी को अतिसार कहा जाता है।

ग्रहणी रोग में भी अमुक कारण से मल कभी द्रव होता है और कभी बद्ध। यह उसका भेदक लक्षण भी होता है--मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्। उससे विषमाग्निजन्य कभी उदावर्त और कभी अतिसार इस लक्षण का भेद अन्य लक्षणों को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। व्यवसाय की दृष्टि से यह भी स्मरण में रखना योग्य है कि, रोगियों को कई बार उदावर्त ही होता है। वे उसकी निवृत्ति के लिए जब-जब विरेचन लेते हैं तब-तब उन्हें द्रव मल की प्रवृत्ति होती है। कभी द्रव और कभी बद्ध मल प्रवृत्ति होने में ऐसी कोई स्थिति तो नहीं है यह प्रश्न-परीक्षा द्वारा विनिश्चित कर लेना चाहिए।

दोषाभिभूत अग्नियों का प्रकरण समाप्त करने के पूर्व एक-दो बातें जान लेनी चाहिए। ग्रहणी शब्द से रोगाधिकार में रोग-विशेष का ग्रहण प्रसिद्ध है। परन्तु तन्त्रकारों ने अग्नि के दोषाक्रान्त तीन भेदों को भी ग्रहणी रोग ही कहा है—

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः।
तं चापि ग्रहणीरोगं समवर्जं प्रचक्ष्महे॥

च० चि० १५।७१

दूसरी बात। अजीर्णों के विषय में देखते हैं कि तत्-तत् अजीर्ण तत्-तत् दोष के कोप से उत्पन्न होता है और परिणाम में स्वयं उसी दोष को कुपित भी करता है, जैसे विदग्धाजीर्ण पित्त के कोप से उत्पन्न होता है और स्वयं पित्त को कुपित भी करता है। इसी प्रकार दोषाभिपन्न अग्नियों के विषय में भी उनके उपरिनिर्दिष्ट लक्षणों पर दृष्टिपात करने से जाना जा सकता है --प्रत्येक अग्नि जिस दोष से उत्पन्न होता है, उसीसे होनेवाले रोगों को उस दोष को प्रकुपित कर जन्म भी देता है। तथाहि :

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तसमुद्भवान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफ संभवान्॥

सु० सू० ३५।२५

ये अग्नियाँ ग्रहणीरोगान्तर्गत ही होने से उनके उपचार का उल्लेख ग्रहणी-रोगाधिकार में करेंगे।

त्रिविध अग्नियों के तत्तत् दोष से उत्पन्न होने में यह विशेष जानना चाहिए कि, जैसे शरीर की रचना वातादि तीनों दोष समुदित (मिलित) होकर करते हैं वैसे अग्नि की उत्पत्ति में भी तीनों कारणभूत हैं। तथापि अग्नि में वात का उत्कर्ष हो तो वह विषम होता है, पित्त का उत्कर्ष हो तो तीक्ष्ण, कफ का उत्कर्ष हो तो मन्द ; और वे उत्कर्ष (आधिक्य, वृद्धि) तथा हानि (ह्रास, क्षय) रहित एवं सम हो कर अग्नि की रचना करते हों तो अग्नि सम होता है। संक्षेप में इनका लक्षण यह है--अनियतपाको विषमः आशुपाकस्तीक्ष्णः, चिरपाको मन्दः, शेषः समः (अ० हृ० सू० १।८ पर अरुण)। संग्रहकार पचन की काल-मर्यादा को दृष्टि में रख कर किए गए इस विभाग को विशद करते कहते हैं कि--आहार तथा औषध युक्त (समयोगयुक्त) हों तो अग्नि सम होने पर आहार का पाक चार प्रहर में तथा औषध का पाक दो प्रहर में होता है। अग्नि तीक्ष्ण हो तो पचन शीघ्र होता है, मन्द हो तो इस मर्यादा की अपेक्षया अधिक काल में पचन होता है। तथाहि :

यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्य भैषज्ययोः समे।
पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् तु तीक्ष्णे, मन्दे पुनश्चिरात्॥

अ० सं० सू० ११

जहाँ दो-दो या तीनों दोषों का उत्कर्ष--संसर्ग या संनिपात--हो वहाँ दोष-भेद से अग्नि का स्वरूप भिन्न होता है। यथा, वात-पित्त का या वात-कफ का उत्कर्ष हो तो वायु के योगवाही होने से अग्नि इतर दोषानुसारी होता है, जैसे वात-पित्तज ज्वर में पित्तकृत् दाह तथा वात-कफज ज्वर में कफकृत् शैत्य देखा जाता है, एवं पित्त-कफज ज्वर में तथा संनिपातारब्ध ज्वर में कभी दाह होता है और कभी शीत, वही स्थिति अग्नि के स्वरूप में भी दोषों के संसर्ग और संनिपात में देखी जाती है। अर्थात्--वातपित्त के उत्कर्ष से अग्नि तीक्ष्ण होता है, वात-कफ के उत्कर्ष से मन्द एवं पित्त-कफ किंवा तीनों दोषों के उत्कर्ष से पर्याय से (बारी-बारी) अग्नि मन्द या तीक्ष्ण होता है। पिछले प्रकार में अग्नि के इस वैषम्य का कारण यह होता है कि पुरुष कफ प्रकोपक आहार का सेवन करे तो उससे कफ प्रकुपित हो कर अग्नि को मन्द कर देता है तथा पित्त प्रकोपक आहार करे तो अग्नि पित्त प्रकोपक आहार वश तीक्ष्ण हो जाता है। यह अव्यवस्थित अग्नि विषमाग्नि का ही एक भेद है। अतः अग्नियों के समग्र भेद तीन ही रहते हैं।

जैसे सृष्टि की उत्पत्ति में विरुद्ध गुणवान् भी सत्त्व-रज-तम परस्पर मिल कर कार्य करते हैं वैसे रोग रूप कार्य की उत्पत्ति में भी तीनों दोष विरुद्ध गुण-कर्म वाले होते हुए भी परस्पर सहकार से रोग को उत्पन्न करते हैं। संसृष्ट या संनिपतित दोषों से आरब्ध (उत्पादित) पूर्वोक्त अग्नियों में भी दोष इसी प्रकार सहकार पूर्वक कार्य करते हुए इन अग्नियों को उत्पन्न करते हैं।

कोष्ठ की परीक्षा[1]

अग्नि की परीक्षा के साथ कोष्ठ की भी परीक्षा की जाती है। वमन, विरेचन तथा बस्ति इन तीन संशोधनों का परिणाम किस रोगी पर कैसा होता है, इनमें जो संशोधन रोगी को देना है वह किस द्रव्य से देने से कितनी संख्या तथा कितने प्रमाण में और किस अवधि का संशोधन होता है यह जाने बिना संशोधन दिया जाएगा तो उसका अतियोग, हीनयोग या अयोग होने की संभावना होगी। कोष्ठ के विचार में संशोधनों में प्रधान, जिसका व्यवसाय में सविशेष उपयोग होता है उस विरेचन का परिणाम किस पुरुष पर कैसा होता है यह देखा जाता है। प्रश्न-परीक्षा में देख आए हैं कि वमन का कैसा परिणाम रोगी पर होता है--उसे वमन सुगमता से होता है या कठिनाई (कृच्छ्र) से--वह सुच्छर्द है या दुश्च्छर्द--यह भी प्रश्न द्वारा विदित होता है। सो, कोष्ठ-परीक्षा में वमनीयता का भी विचार किया जा सकता है, परन्तु मुख्यतया इसके द्वारा विरेचनीयता की कक्षा का ही परिज्ञान होता है।

कोष्ठ के भेद का कारण भी दोष ही हैं। कोष्ठ तीन प्रकार का होता है--क्रूर (कड़ा), मृदु और मध्य (म) (साधारण)। आरम्भ में ही विद्यार्थी को स्मरण करा देना योग्य है कि कोष्ठ की यह क्रूरता या मृदुता स्पर्शगम्य नहीं है। अर्थात् दबाने से उदर कठिन प्रतीत हो तो कोष्ठ क्रूर और उदर मृदु प्रतीत हो तो कोष्ठ मृदु होता है यह भ्रम न रखना चाहिए। विरेचनीयता को लक्ष्य में रख कर ही आगे कहे जानेवाले प्रकार से ये भेद किए गए हैं।

मृदूकोष्ठ का लक्षण--

उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता।
मृदुकोष्ठस्य, तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः॥
च० सू० १३।६९

१--स्थल : सु० चि० ३३।२१ ; च० सू० १३।६५-६९ ; च० क० १२।६७-७९ ; अ० सं० सू० २७ ; अ० हृ० सू० १।९ ; अ० हृ० सू० १८।३४; इन पर डल्लन, चक्रपाणि, अरुण-हेमाद्रि।

अग्नि की अधिष्ठानभूत ग्रहणी या पित्तधरा-कला में (पच्यमानाशय में) पित्त की प्रबलता हो, कफ अल्प तथा वायु निर्बल हो तो पुरुष का कोष्ठ मृदु होता है। वह सुविरेच्य होता है। अर्थात्--इसे उष्ण जल, घृत, दूध, पायस (खीर), कृशरा (तिल, तण्डुल और माष के संयोग से बनाई यवागू--खिचड़ी), द्राक्षारस, गम्भारी या त्रिफला का क्वाथ, इक्षुरस, गुड़, मस्तु (दही के ऊपर का पानी), दही का सर (पानी डाले विना मथा हुआ दही), पीलु का स्वरस या क्वाथ, तरुण (नया बना) मद्य, अम्ल तक्र, पूगीफल (चिकनी सुपारी), आरग्वध (अमलतास) इत्यादि मृदु द्रव्य मृदु (अल्प) मात्रा में दिए जाएँ तो भी उन्हें सुख विरेचन हो जाता है।

मृदु कोष्ठ पुरुष की ग्रहणी के मार्दव का कारण यह होता है कि उसमें ऐसे पित्त का प्रकर्ष होता है जिसका सर (मलवातानुलोमनन) गुण सविशेष उदीरित हो। पित्त के सर गुण का विरोधक वायु तथा स्तम्भक कफ ग्रहणी में मन्द होने से पित्त का ही कार्य विशेष दृग्गत होता है। उसे मृदु मात्रा में मृदु विरेचन द्रव्यों का साहाय्य दिया जाए तो सुख विरेचन होता है।

वायु की विरोधक क्रिया का स्वरूप ग्रहणी में यह समझा जा सकता है कि ग्रहणी में वायु का प्रकोप हो तो मल के अनुलोमन के लिए जिस समगति से आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार होने चाहिए वैसे नहीं होते। समय-समय पर कुछ काल के लिए वात प्रकोपवश गति का स्तम्भ हो जाता है। इसका स्मरणीय परिणाम यह होता है कि अग्नि और वायु को पुरीष के स्नेह और क्लेद के पचन और शोषण का समय अधिक मिलता है, जिससे उसमें वायु की वृद्धि के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक सान्द्रता आदि विकृतियाँ आती हैं। मृदुकोष्ठ पुरुष में वायु क्षीण होने से यह स्थिति होती नहीं।

कफ के स्तम्भक गुण का अर्थ यह प्रतीत होता है कि उसके प्रधान गुण मन्द का प्रकर्ष ग्रहणी में होने से उसके आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार संख्या और शक्ति की दृष्टि से मन्द होते हैं। इस विकृति का परिणाम भी पूर्वोक्त ही होता है और पुरुष का कोष्ठ क्रूर हो कर उसे उदावर्त (कब्ज) होता है।

क्रूर कोष्ठ का लक्षण--

भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्वणानिला ॥

च० सू० १३।६८

मृदु-विपरीत क्रूर कोष्ठ-पुरुष की ग्रहणी नाड़ी अति वाताभिभूत होती है। वायु के कारण ग्रहणी पर क्या क्रिया होती है यह ऊपर कहा है। आगे भी उदावर्त, सहज अर्श आदि के प्रकरणों में इसकी व्याख्या की जाएगी। क्रूर कोष्ठ की

विशिष्टता यह होती है कि वह दुर्विरेच्य होता है। प्रायः विद्यार्थी दुर्विरेच्य का अर्थ राजयक्ष्मा आदि रोगों से पीड़ित पुरुष, जिन्हें विरेचन देना अप्रशस्त होता होता है, यह करते हैं। परन्तु यहाँ दुर्विरेच्य का अर्थ है ऐसा कोष्ठ जिस पर विरेचनों का प्रभाव न हो या अभीष्ट मात्रा में न हो। बड़ी मात्रा में दिए जाने पर भी उल्लिखित दूध आदि द्रव्यों का इन पर परिणाम नहीं होता--विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन--च० सू० १३।६८ सुधा (थूहर), नीलिनी (काला दाना), जयपाल आदि द्रव्यों का तीक्ष्ण मात्रा में उपयोग किया जाए तो कथंचित् इन्हें विरेचन होता है अथवा नहीं भी होता।

मध्यकोष्ठ का लक्षण--कोष्ठ कफ प्रधान हो तो मध्य (म) या साधारण होता है। किंवा कोष्ठ में तीनों दोष सम प्रमाण में हों तो भी वह मध्यम होता है। इसमें वातकृत क्रूरता तथा पित्तकृत मृदुता दोनों परस्पर-विरोधवश शान्त होती हैं। शेष समावस्था में स्थित कफ की ही क्रिया कोष्ठ पर हो कर वह मध्यम स्वरूप का रहता है। मध्य के इन उभय भेदों में भिन्नता बताता अरुण कहता है कि प्रथम प्रकार के कोष्ठ में कफ प्रमाणाधिक होता है, जब कि द्वितीय भेद में वह सम रहता हुआ ही कोष्ठ को मध्यवृत्ति बनाता है।

दोषों का संसर्ग हो तो कफ योगवाही कर्म करता है--योगवाही तयोः कफः (अ० हृ० सू० १।६ की हेमाद्रि टीका में उद्धृत खारणादि-वचन)--परिणामतया, कफ-वात से कोष्ठ क्रूर होता है; कफपित्त, वातपित्त और संनिपात से मृदु होता है।

व्यवसाय में ज्ञात कोष्ठ वाला रोगी आए तो क्रूरकोष्ठ पुरुष को तीक्ष्ण विरेचन तीक्ष्ण मात्रा में देना चाहिए। मृदुकोष्ठ पुरुष को मृदु द्रव्य मृदु (अल्प) मात्रा में देना चाहिए तथा साधारण कोष्ठ वाले पुरुष को साधारण द्रव्य साधारण मात्रा में देना चाहिए। जो पुरुष प्रथम बार ही अपने पास आया हो तथा जिसका कोष्ठ विदित न हो उसे (अपरिज्ञात-कोष्ठ को) प्रथम मृदु औषध दे उसका परिणाम देख कर कोष्ठ का निर्णय करना चाहिए। रोगी के समक्ष विरेचन के परिणाम-विषयक अनिश्चिति और उसके कारण की स्पष्टता भी औषधदान के समय कर देनी चाहिए। मृदु औषध किसे-किसे देना चाहिए ऐसे पुरुषों की गणना करते तन्त्रकारों ने कहा है--

दुर्बलं शाधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम्।
अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेदौषधं मृदु॥

च० क० १२।६७

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेदौषधं मृदु।
ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः॥

सु० चि० ३४।४४

अपरिज्ञात-कोष्ठ पुरुष को मृदु या मध्यम औषध से विरेचन का हीनयोग हो तो उसका कोष्ठ क्रूर मानना चाहिए, अतियोग हो तो मृदु तथा सम्यग्योग हो तो मध्य (अरुण)।

कई व्यवसायों, आहारों आदि के कारण कोष्ठ में वायु का प्रकोप हो कर वह क्रूर हो जाता है। तथाहि--

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशालिनाम्।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति॥

च० क० १२।७६

प्रकृत्या अथवा रोगादि कारणवश जिनका शरीर रूक्ष हो, जिनके शरीर और कोष्ठ में वात का आधिक्य हो, जिनका कोष्ठ क्रूर हो, जो व्यायाम या श्रम-प्रधान व्यवसाय करते हों एवं जिनका अग्नि प्रदीप्त हो उनको विरेचनार्थ दिया गया औषध विरेचन कराए विना ही जीर्ण हो जाता है। उन्हें यथावश्यक निरूह या अनुवासन बस्ति, फलवर्ति (गुदवर्ति); (अभावे ग्लिसरीन सपोजीटरी या साबुन को वर्त्याकार काट कर उसे एरण्ड तैल में डुबा कर बनाई वर्ति) या मुख से स्नेहन द्रव्य दे कर तदनन्तर विरेचन द्रव्य देना चाहिए। देखिए--

तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद्दद्याद्विरेचनम्।
बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम्॥

च० क० १२।८०

विरेचन आदि के पूर्व स्नेहन करना अभीष्ट हो तो मृदुकोष्ठ पुरुष केवल तीन दिन अच्छपान (औषध द्रव्यों से साधित न किये, या आहार-द्रव्य से मिश्रित न किए स्नेह द्रव्य का सेवन) करने से स्निग्ध कोष्ठ तथा स्निग्ध-शरीर हो जाता है। कारण, कोष्ठ की मृदुता का कारणभूत पित्त भी कफ के समान, परन्तु उससे न्यून स्निग्धतावाला होता है--कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्--अतएव, जैसा कि इस प्रसिद्ध पद्य में कहा है, कफज ज्वरादि रोगों में तथा पित्तज रोगों में लङ्घन किया जाए तो उसके समयोग के लक्षण उत्पन्न होने में अधिक काल लगता है। पित्त के गुणों में प्रारम्भ में ही सस्नेहम् (च० सू० १।६०) कहा है। उसका अर्थ ईषत् स्निग्धम् ही टीकाकारों ने किया है। पित्त की

इस स्निग्धता के कारण मृदु कोष्ठ पुरुष तीन दिन में ही स्निग्ध हो जाता है। परन्तु क्रूर कोष्ठ पुरुष के वात का साम्य हो कर स्निग्धता के लक्षण उत्पन्न होने में सात दिन लगते हैं। यथोक्तम्--

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥

च० सू० १३।६५

कई रोगों में वायु का आधिक्य, पुरीष को स्निग्ध और द्रव रखनेवाले अब्धातु का अन्यत्र अपकर्षण प्रभृति कारणों से कोष्ठ स्वभावतः क्रूर रहता है। इनमें नित्य और तीक्ष्ण विरेचन अपेक्षित होता है। ऐसे रोगों में मधुमेहादि प्रमेह, गुल्म तथा जलोदर आदि उदर स्मरणीय हैं।

चरक-संहिता में दृढ़बल ने वेगावरोध, अकाल-भोजन, अकाल वेगोत्सर्ग, अकाल निद्रा-जागरणादि चेष्टा आदि के शीलवाले जिन स्त्रीमात्र, सेवकों (कर्मचारियों), वैश्यों तथा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को सदातुर (नित्य रोगी) कहा है[1] वे भी दुर्विरेच्य होते हैं--

ह्रीभयलोभैश्च वेगाभिघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात् सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेत्। अन्यानपि चाकालनिर्हारविहाराहारान्। अतश्चैषां सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयो दुःसाध्यो भवति॥

अ० सं० सू० २७

इन्हें हुआ अल्पमात्र भी रोग दुःसाध्य होता है।

कोष्ठ के विषय में प्रास्ताविक इतना विवेचन किया। अधिक विचार पञ्चकर्म के प्रकरण में किया जाएगा।

१--देखिए : च० सि० ११।२७-३६।

नौवाँ अध्याय

रोग-परीक्षा में परीक्षणीय विषय

अथातो रोगपरीक्षाविषयविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

गत अध्याय में रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य कतिपय वस्तुओं का निर्देश किया गया। इस अध्याय में शेष कतिपय वस्तुओं का विचार करेंगे। प्रथम आयुर्वेद के स्थूणा-भूत दोषों का विचार किया जाता है। क्रियाशारीर के प्रकरणों में गृहीत ज्ञान को विद्यार्थी इस प्रकरण में पुनः देख जाएँगे तो यहाँ कहीं बातें सुबोध हो जाएँगी।

दोष

अबतक दोषों के विषय में प्रसंगोपात्त अनेक बातें कही जा चुकी हैं। आगे निदान-पञ्चक के प्रकरण में भी कुछ बातें कही जाएँगी। उन्हें तथा क्रिया-शारीर आदि के ग्रन्थों में कही समस्त बातों को एक साथ सामने रखा जाएगा तो विषय का पूर्ण स्वरूप विशद हो सकेगा।

पहले कह आए हैं कि (देखिए : पृ०-३९) रोग का चिकित्सोपयुक्त लक्षण यह है कि, वातादि शारीर दोष, रज और तम ये मानस दोष, रस-रक्तादि धातु तथा पुरीषादि मल स्वमानावस्थित (सम) हों तो शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं। ये ही विषम नाम क्षीण या कुपित हों तो ये अधिष्ठान रुग्ण (विकारापन्न, रोगी) हो जाते हैं। इन की रुग्णता का प्रधान लक्षण भी वहीं बताया है—दुःखः नाम आत्मा, इन्द्रिय और मन की अप्रसन्नता। शरीर और मन के स्वस्थ होने का प्रधान लक्षण भी वहीं कहा है—सुख नाम प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्कता।

किसी दोष के कोप या क्षय का अर्थ है—शास्त्र में उसके जो गुण बताए हैं, उनमें किसी एक या अनेक का जो स्वाभाविक प्रमाण होना चाहिए, उसमें न्यूनाधिक वृद्धि या क्षीणता होना। दोष सम या स्वमानावस्थित तब होते हैं, जब उनके शास्त्रोक्त सर्व गुण सम प्रमाण में विद्यमान हों। दोषों की तीनों अवस्थाओं की परीक्षा शरीर और मन में स्थित उनके गुणों तथा तदाश्रित कर्मों का प्रमाण और स्वरूप देखकर की जा सकती है। तथाहि :

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिंगं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिंगं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते॥
च० सू० १७।६२

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्॥
दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते॥

च० सू० १८।५२-५३[1]

दोष वृद्धि को प्राप्त हों तो उनकी वृद्धि की मात्रा के अनुरूप वैकारिक लक्षणों के रूप में उनके प्राकृत गुणों और कर्मों की वृद्धि होती है। यथा, श्लेष्मा की वृद्धि हो तो उसके जो स्नेह, शैत्य, माधुर्य आदि प्राकृत गुण हैं उनकी अधिकता हो जाती है। प्रकोपक कारण का सेवन जितने प्रमाण में हुआ हो उसके सदृश ही दोषों की अतिवृद्धि, मध्यवृद्धि या अल्पवृद्धि होकर उसी प्रमाण में लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है।

दोषों का क्षय हुआ हो तो क्षीणता के प्रमाण में ही उनके गुण-कर्मों का ह्रास होता है; किंवा जिन गुण-कर्मों का ह्रास हुआ है इतर दोषों में विद्यमान उनके विरोधी गुण-कर्मों की उसी प्रमाण में वृद्धि हो जाती है। यथा, वायु के प्राकृत कर्मों में एक उत्साह है। वायु के प्राकृत कर्म बताते चरक ने कहा है--

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम्॥

च० सू० १८।४९

उत्साह (प्रयत्न), उच्छ्वास-निःश्वास, चेष्टा, रसादि का पोष्य धातुओं के प्रति गमन, एवं पुरीषादिबहिर्गमनशील द्रव्यों (मलों) का उत्सर्ग-ये सब क्रियाएँ सम भाव से होना वायु का प्राकृत कर्म है। वायु क्षीण होता है तो उसके इन कर्मों का ह्रास-

---

१--स्वं लिङ्गमिति वैकारिकम्। यथा बलमिति अतिवृद्धैरतिवृद्धं मध्यवृद्धैर्मध्यवृद्धमित्यादि। स्वं कर्मेति प्राकृतं कर्म। कर्मणः प्राकृतादिति वातादिप्रकृतिकर्मत्वेनोक्तादुत्साहादेः। हानिरपचयः। वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनामिति उक्त प्राकृतलक्षणविरोधिनां कर्मणां वृद्धिः; यथा वातक्षये उत्साहविरोधिनो विषादस्य वृद्धिः, पित्तक्षयेऽदर्शनापक्त्यादीनां, श्लेष्मक्षये रौक्ष्यादीनां वृद्धिः।
दोषेत्यादि--प्रकृतिः स्वभावः, तस्य वैशेष्यमाधिक्यं, श्लेष्मणः स्नेहशैत्यमाधुर्यादि या प्रकृतिस्तस्या अतिस्निग्धातिशैत्यातिमाधुर्यादि वैशेष्यं वृद्धिलक्षणम्॥
--चक्रपाणि

क्षय के प्रमाण के अनुसार होता है। यथा, वात का क्षय होने पर उत्साह के विरोधी विषाद (मनोभङ्ग) का उदय और उत्कर्ष होता है। उत्साह और विषाद का जो उदाहरण टीकाकार ने यहाँ दिया है वह स्मरणीय है। प्रायः चिकित्सक इन कर्मों में वायु के साम्य या क्षय का विचार करते देखे नहीं जाते। इसी प्रकार, पित्त का क्षय होने पर दर्शन, पक्ति (पाक, पचन) आदि पित्त के प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है। पित्त के प्राकृत कर्मों की सामान्यतः गणना करते अत्रिपुत्र ने लिखा है :--

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥

च० सू० १८।५०

वस्तुओं का दर्शन (देखना), अन्नपान तथा रसधातु का पचन, ऊष्मा, क्षुधा, शरीर की मृदुता, प्रभा (कान्ति), प्रसाद (मनकी प्रसन्नता) और मेधा (विषय के ग्रहण की शक्ति) ये प्राकृत अवस्था में स्थित पित्त के कर्म हैं।

कफ का क्षय होने पर उसके स्निग्धत्वादि प्राकृत कर्मों का क्षय होकर रौक्ष्य आदि विरोधी गुणों की वृद्धि होकर त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मल, मूत्र, स्वभाव प्रभृति में रूक्षता आ जाती है। कफ के सामान्य कर्मों की गणना करते चरकाचार्य ने कहा है--

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥

च० सू० १८।५१

शरीरावयवों तथा मानस में स्निग्धत्व, बन्ध (शरीर के सूक्ष्म-स्थूल अवयवों का परस्पर संश्लेष, जिसके अभाव में पेशी, स्नायु, अन्त्र आदि का स्रंस--किंचित् स्थानच्युति--हो जाती है); स्थिरता--हाथ, पैर आदि अवयवों, निश्चय, कदम, हाथ की पकड़ आदि की दृढ़ता; गौरव (शरीर का भार, पुष्टि), वृषता, बल, क्षमा, धृति (संयम) एवं लोभ का अभाव--ये प्राकृत कफ के सामान्य कर्म हैं। कफ की क्षीणता होने पर इन के विपरीत रूक्षता, शिथिलता (स्रंस), चलत्व, लघुत्व आदि गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

क्षय और वृद्धि के विपरीत दोष समावस्था में हों तो शरीर और मन में दुःख (व्याधि) उत्पन्न किए बिना अपने शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों से इन्हें उपकृत करते रहते हैं।

क्षय से रोगों की उत्पत्ति--

मूल ग्रन्थों में दोषों के वैषम्य से रोगोत्पत्ति होती है यह कह कर वैषम्य के दो भेद बताए हैं--क्षय और वृद्धि (प्रकोप)। दोनों अवस्थाओं में कर्तव्य का निर्देश भी किया गया है। यथा--दोषों की त्रिविध गतियों में एक गति बताते चरक ने कहा है--

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः[1]।

च० सू० १७।११२

अन्यत्र इसकी व्याख्या करते तन्त्रकार ने स्वयं कहा है--

यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च[2]॥ च० शा० ६।४

तात्पर्य, शरीर में जब दोष, धातु और मल वैषम्य को प्राप्त होते हैं तब वैषम्य की मात्रा (प्रमाण) के अनुसार दो परिणाम होते हैं--क्लेश (रोगजनित पीड़ा) या मृत्यु। दोषादि का यह वैषम्य दो प्रकार का होता है--वृद्धि या ह्रास (क्षय)। वृद्धि और क्षय के भी दो भेद होते हैं--उनके एकदेश का वृद्धि-क्षय, जिसमें उनके अमुक ही गुण-कर्मों का वृद्धि-क्षय होता है, तथा समग्रतया वृद्धि-क्षय, जिसमें विषम हुए दोष आदि के संपूर्ण गुणों और तदाश्रित कर्मों का वृद्धि-क्षय हुआ होता है।

वृद्धि-क्षय के पुनरपि दो भेद होते हैं--सभी दोषों के वृद्धि-क्षय वा एक दोष का वृद्धि-क्षय[3]।

वायु की आवरण-रूप विशिष्ट अवस्था-सहित क्षयादि चार अवस्थाओं के ज्ञान की फलश्रुति (आत्मविश्वास युक्त चिकित्सा-व्यवसाय) बताते हुए भी क्षय की गणना तन्त्रकर्ता ने की है। तथाहि:--

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु॥

च० चि० २८।२४८

चिकित्सा में भी क्षीण हुए दोषों की वृद्धि का उपदेश किया है। तद्यथा--

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः,

---

१--स्थानं स्वमानावस्थानम्--चक्रपाणि।

२--अकात्स्न्र्येनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन --चक्रपाणि।

३--वृद्धिह्रासगमनं चेह व्यस्तं समस्तं च वैषम्यं ज्ञेयम्--चक्रपाणि।

समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः (सु. चि. ३३।३[1]) ।--दोष (धातु, उपधातु और मल भी) क्षीण हों तो स्वयोनिवर्धन द्रव्यों के सेवन इत्यादि उपचारों से उनका बृंहण करना चाहिए। उनका अल्प कोप हुआ हो तो उनके विरुद्ध गुण-कर्मादि वाले द्रव्यों के सेवन प्रभृति उपचारों से उन का संशमन करना चाहिए। वे वृद्ध हों, नाम वे परिपक्व एवं विलीन (अपने संश्रय के स्थान से चलित हो बहिर्गमनोन्मुख; उत्क्लिष्ट) हों तो वमनादि संशोधनों द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिए। वृद्धि के दो भेद हैं--अपने स्थान पर संहति (प्रमाणवृद्धि), जिसे चय कहा जाता है; एवं प्रकोप, जिसमें दोष अत्यधिक वृद्धि प्राप्त होने के कारण ही विलीन होने लगते हैं[2]। इन दो अवस्थाओं में वृद्धि की दशा में दोषों का संशोधन नहीं करना चाहिए, विलयनरूप अवस्था में ही संशोधनोपचारों द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिए। एवं--कोप के पुनः दो भेद हैं--चयपूर्वक तथा अचयपूर्वक। इनमें जो प्रकोप (सं) चयपूर्वक हुआ हो उसी में संशोधन करना चाहिए। अचयप्रकोप में शमन उपचार ही करने चाहिए।

दोष सम हो तो ऋतुचर्या आदि स्वस्थवृत्त के प्रकरणों में उन्हें सम रखने की जो चर्या बताई गई है उसके अनुष्ठान द्वारा उन्हें समावस्था में रखना चाहिए।

अधोलिखित पद्य में भी निदानपरिवर्जन-संशोधन-संशमन रूप उपचारों से दोषों, धातुओं और मलों को, वे वृद्धि को प्राप्त हों तो तबतक क्षीण करने का एवं उनका क्षय हुआ हो तो योग्य उपचारों से तबतक बृंहित करने का विधान है जबतक उनकी समावस्था हो कर रोगी अरोग न हो जाए।

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् पृथक्॥

१--क्षीणाः क्षयलक्षणैर्ज्ञाताः। कुपिता अल्पतया कोपमापन्नाः संशमन-विधानेनैव प्रशमयितव्याः; प्रकर्षेण वृद्धाः स्वस्थानाच्चलिताः संशोधनविधिना निर्हर्तव्याः। वृद्धिर्हि द्विविधा--चयलक्षणा प्रकोपलक्षणा च। तत्र संहतिरूपा वृद्धिः चयः, विलयन रूपा वृद्धिः प्रकोपः। तयोर्विलयनरूपवृद्ध्या वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्याः। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविधः--चयपूर्वकोऽचय-पूर्वकश्च। तत्र चयपूर्वकं कोपमागताः संशोधन विधानेनैव शमयितव्याः--डल्लन।

२--च. सू. २८।३१-२३ में शाखा से चलित होकर दोष जिनकारणों से कोष्ठ में आते हैं उन कारणों में प्रथम ही वृद्धि की गणना की है--**वृद्ध्या विष्यन्दनात्** .....। कोष्ठ से शाखा में प्रसरावस्था भी उनकी वृद्धि से ही होती बताई है--देखिए सु. सू. २१।२८ में दोषों की प्रसरावस्था का वर्णन।

तावद्यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम्॥

सु० सू० १५।४०

सु० सू० १५।७ में दोषों के क्षय के लक्षण बताकर अगले सूत्र में उनका संक्षेप में उपचार भी बताया है--तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः(सु० सू० १५।८)। इसकी टीका में डल्हन ने तन्त्रान्तर के पद्य दिए हैं, जिनमें सूचना की गयी है कि प्रतीकार रूप में ऐसे ही द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए जो उपयुक्त हों--प्रत्येक स्वयोनिवर्धन (आरम्भक महाभूत की वृद्धि करनेवाले) द्रव्य का उपयोग इष्टफलावह नहीं होता। कई द्रव्य इतर दोष का प्रकोप करनेवाले सिद्ध होते हैं। तथाहि :--

स्वयोनिवर्धनान्येवेति—शीतरूक्षादीनि। प्रतीकारश्चिकित्सितम्। न पुनः स्वयोनिवर्धनान्यपि कटुकादीनि। भूयस्त्वेनान्यदोषप्रकोपणत्वात्। तथा चोक्तम्—

वातक्षये शीतरूक्षै र्न त्वन्यैः कटुकादिभिः।
पित्तक्षयेऽपि कटुकैरुष्णै र्न लवणादिभिः॥
क्षीरादिभिः स्निग्धशीतैः प्रतिकुर्यात् कफक्षये॥

सु० सू १५।८ पर डल्हन

वात का क्षय हुआ हो तो शीत-रूक्षगुणयुक्त वातवर्धक द्रव्यों का उपयोग करे, कटु आदि का नहीं (कटु गुण पित्त का प्रकोप करनेवाला सिद्ध होता है)। पित्त का क्षय होने पर कटु-उष्ण पित्तवृद्धिकर द्रव्यों का मात्रावत् सेवन करे, लवणादि का नहीं (लवण द्रव्यों से कफ की वृद्धि जो होती है)। कफ का क्षय होने पर दुग्ध-प्रभृति स्निग्ध-शीत द्रव्यों का यथावत् सेवन करे।

आगे हम देखेंगे कि दोष-विशेष का क्षय होने पर विरोधी दोष के वर्धक द्रव्य का उपयोग करना चाहिए, क्षीण हुए दोष की विशेष चिकित्सा नहीं है, यह कई लेखकों का मत है। डल्हन द्वारा उद्धृत उक्त वचनों में स्पष्ट कहा है कि तत्-तत् दोष की क्षीणता होने पर जिन द्रव्यों का सेवन कर उसे समावस्था में लाना है वे द्रव्य विरोधी दोष की वृद्धि करनेवाले हैं यह सत्य है तथापि इन पद्यों में यह सिद्धान्त भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि, क्षीण हुए दोष की वृद्धि के लिए विरोधी दोष की वृद्धि करनेवाले किसी भी गुणवाले द्रव्य का सेवन विधेय नहीं है। किंतु उन्हीं द्रव्यों का सेवन कौशलपूर्वक करना चाहिए जो क्षीण दोष की वृद्धि तो करें परन्तु विरोधी दोष को कुपित भी न कर दें। तात्पर्य--इन पद्यों में क्षीण हुए दोष की विशिष्ट चिकित्सा का विधान है। केवल विरोधी दोष की वृद्धि ऐसे

स्थलों में विधेय होती है, इस प्रकार के मत के प्रति यहाँ कारण दर्शन-पूर्वक विमति दर्शाई है।

किं बहुना--दोषों के क्षय की पृथक् लक्षण-चिकित्सा निर्दिष्ट होने पर भी यह एकीय मत इन दिनों प्रवृत्त हुआ है कि--शास्त्रों में संचय-प्रकोप आदि अवस्थाओं के रूप में दोषों की वृद्धि का ही प्रपञ्च विशेषतया देखा जाता है एवं प्रायः समस्त रोगों के निदान-चिकित्सात्मक प्रकरणों में भी प्रकोप को ही लक्ष्य में रखा होने से यह मत-सा प्रवृत्त हो गया है कि क्षीण दोष के कोई विशिष्ट लक्षण नहीं होते; 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' में जो विरोधी दोषों की वृद्धि होती बताई है वही दोषविशेष के क्षय का प्रधान लक्षण होता है एवं चिकित्सा में भी विरोधी दोष की वृद्धि को ही लक्ष्य में रखना चाहिए। विरोधी दोष की वृद्धि जिन द्रव्यों से होती है उन पर दृष्टिपात करें तो वे क्षीण हुए दोष की वृद्धि करनेवाले भी होते ही हैं। यथा-- तीक्ष्णाग्नि में कफ की क्षीणता होती है, उससे या स्वातन्त्र्येण अग्नि या पित्त का कोप होता है। इसके उपचार में पित्तके कोप को प्रयोजनतया लक्ष्य में रखकर जिन महिषी दुग्ध, कदलीफल प्रभृति द्रव्यों का विशिष्ट सेवन कराया जाता है वे गुरु-मधुर-स्निग्ध-पिच्छिल आदि गुणों द्वारा क्षीण हुए कफ की वृद्धि कर उसे समावस्था में लाते ही हैं, भले चिकित्सक के चित्त में क्षीण कफ को समावस्था में लाने का विचार न भी रहा हो। इस स्थिति से समझना चाहिए कि दोषों के क्षय से रोग होते नहीं, दोषों के क्षय का अर्थ विरोधी दोष का कोप ही समझना चाहिए। एवं क्षीण हुए दोष की पृथक् चिकित्सा भी होती नहीं; कुपित हुए दोष को समावस्था में लाने से क्षीण हुए दोष की वृद्धि स्वयमेव (अनायास) हो जाती है। रोग दोषों के कोप से ही होते हैं, एवं चिकित्सा भी कुपित दोषों की ही होती है।

ऊपर जो विचार किया है, उससे विदित होगा कि तन्त्रकारों का यह सिद्धान्त नहीं था। मध्यकाल में आयुर्वेद के पण्डितों ने इस सिद्धान्त को भुला दिया। चक्रपाणि की टीका में स्थान-स्थान पर इस बात के द्योतक वचन मिलते हैं कि क्षीण हुए दोषों का परिणाम केवल यह होता है कि उनके प्राकृत कर्म नहीं होते। कारण, जो स्वयं क्षीण हो वह कर ही क्या सकता है? देखिए :--

स्वमानक्षीणा दोषाः किंचिद्विकारं न जनयन्ति, क्षीणलक्षणं वैषम्यमेव परं यान्ति। वचनं हि—क्षीणा जहति लिंगं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ (च० सू० १७।६२) इति। च० सू० ९।४ पर

लिंगं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृतिलिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति। यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषा दूष्यं

दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात्—
च० सू० १७।६२ पर

क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम्— च० वि० ५।२३ पर

दुष्टा इति स्वहेतूपचिताः। क्षीणास्तु नान्यदुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव— च० शा० ६।१६ पर

कोई दोष क्षीण होने के परिणामों को इतनी सरलता से उड़ाया नहीं जा सकता। एक सुगम उदाहरण से इस बात को समझने का प्रयत्न करें। पित्त क्षीण हो तो अग्नि मन्द होता है। मन्द हुआ अग्नि या क्षीण हुआ पित्त शरीर में कोई विकृति उत्पन्न नहीं करता यह कहना साहस-मात्र होगा। रोगमात्र दोषों के कोप से होता है और उसका कोप जाठर तथा धातुगत अग्नियों के क्षीण होने से ही होता है; कारण अग्नियाँ क्षीण हों तो अन्नरस तथा पक्व धातु उचित प्रमाण में बनते नहीं, परिणामतया मलों की ही पुष्टि विशेष प्रमाण में होती है और इन मलों में एक वात भी है। इसी प्रकार इतर दोषों तथा उनके भेदों की क्षीणता के परिणामों की भी कल्पना की जा सकती है।

चिकित्सा में भी इतना कहने मात्र से कार्य-सिद्धि नहीं होती कि क्षीण दोष का पृथक् उपचार नहीं होता, केवल विरोधी दोष के वर्धक उपचार करने चाहिए। केवल विरोधी दोष को लक्ष्य में रखने से यह परिणाम आना संभव है कि क्षीण दोष के साम्य के साथ विरोधी दोष का कोप भी हो जाए, यह ऊपर कह आए हैं।

चरक तथा सुश्रुत के समय क्षीण दोषों का विचार करने की प्रवृत्ति भी वैद्य-समाज में प्रचलित होने से उन्हें इस विषय पर सविशेष निर्देश करना आवश्यक न प्रतीत हुआ। अपने काल में क्षीण-दोष विषयक अनार्ष और प्रत्यक्षादि विपरीत विचार-प्रवाह प्रवृत्त हो जानेसे वाग्भट को बलवान् शब्दों में उसका विरोध करना पड़ा। तथाहि :—

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः।

अ० हृ० सू० ११।२५

द्वावपि मलानां वृद्धिक्षयौ पीडाकरौ देहस्य। तत्रापि य एषां क्षयः स वृद्धितोऽप्यतिशयेन पीडाकरः, अनौचित्यात्। देहिनां हि प्रायेण मलक्षयोऽनुचितोऽनभ्यस्तः। वृद्धिस्तूचितैवेति न तथा पीडां करोति॥ —अरुणदत्त

क्षयवृद्ध्योः पीडाकरत्वे तारतम्यमाह—मलोचितत्वादिति। दोषादीनां वृद्धिर्देहपीडनी। क्षयस्तु ततोऽपि देहपीडनः। कुतः? मलोचितत्वात्। देहो हि मलसात्म्यः। सात्म्यं च बह्वपि नातिबाधते। वक्ष्यति—"सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बह्वपि" इति। मलशब्देन दोषधातुमलानां ग्रहणम्। वक्ष्यति हि—'विट्श्लेष्मपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मात् (अ० हृ० सू० १६।८६) इति॥ —हेमाद्रि

दोष, धातु, (उपधातु) तथा मल तीनों में किसी की भी वृद्धि या क्षय दोनों ही शरीर में पीड़ा (रोग) उत्पन्न करने के स्वभाव वाले हैं। परंतु क्षय और वृद्धि दोनों में क्षय वृद्धि की अपेक्षया अधिक पीड़ाकर होता है। कारण, दोषादि की वृद्धि शरीर में प्रायः होती रहने से सात्म्य (उचित, अभ्यस्त) होती है। जो वस्तु सात्म्य होती है उसकी वृद्धि हो जाए तो भी अभ्यासवशात् ही वह बहुत दुष्टिकारक नहीं होती, यह सिद्धान्त है।

इसी अध्याय के अन्त में वाग्भटाचार्य ने कण्ठरव से कहा है कि जैसे शरीर के आरोग्यादि के लिए दोषों की वृद्धि से उसकी रक्षा करनी चाहिए वैसे क्षय से भी। तथाहि :—

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै
त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः॥

अ० हृ० सू० ११।४५

पद्य की उत्थानिका में अरुणदत्त ने स्पष्ट ही कह दिया है कि अल्पमति वैद्य यह समझ कर कि क्षीण दोष अकिंचित्कर होने से शरीर में कोई पीडा (व्याधिरूप दुःख-संयोग) उत्पन्न करते ही नहीं, अतः उनके क्षय का उपचार करने के प्रति कदाचित् लक्ष्य न दें। उन्हें चेतावनी देने के लिए तन्त्रकार कहता है—य एव देहस्य इत्यादि। देखिए :

क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेवाकिंचित्करत्वात् कदाचित् पीडां नोत्पादयन्त्येव, इति विचिन्त्याल्पमतयो वैद्याः क्षीणदोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युरित्याह—य एव देहस्येत्यादि।

उक्त वाक्य में आया 'अल्पमति' शब्द केवल टीकाकार का नहीं है। इसी के पूर्व दोषों के एक स्वभाव का उल्लेख कर उन वैद्यों के लिए 'अबुध' शब्द का

प्रयोग स्वयं वाग्भट जी ने किया है। पद्य में यह सिद्धान्त दर्शाया है कि दोष वृद्धि को प्राप्त हों तो 'प्रायः' क्षयोत्पादक विपरीत रस-गुण आदि वाले आहार-विहार इत्यादि के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं। वे ही दोष क्षीण हो जाएँ तो वृद्ध्युत्पादक समान आहारादि की आकांक्षा उत्पन्न करते हैं। उपशयानुपशय के सदृश निदान और चिकित्सा के मार्ग को प्रशस्त करने वाली इस रुचिके प्रति अज्ञ वैद्यों का ध्यान जाता नहीं। मूल पद्य यह है--

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न॥

अ० हृ० सू० ११।४३

शरीरके धारक वात-पित-कफ[1]

क्रियाशारीर में सविस्तर यह कहा जा चुका है कि वात-पित्त-कफ विषमावस्था में शरीर को तत्तद्रोगाक्रान्त करते हैं, परन्तु ये ही सम स्थिति में हों तो तत्तत् प्रकार से शरीर के उपकारक (धारक) होते हैं। समावस्था में इनकी उपकारकता नाम देहधारकता को उपमान से स्पष्ट करते तन्त्रकारों ने कहा है : जैसे अपने क्लेदनात्मक स्वभाव से चन्द्रमा स्थावर-जङ्गम सृष्टि में विसर्ग या बलोत्पादन करता है--उनमें गुरु-स्निग्ध-स्थिर प्रभृति गुणों की उत्पत्ति कर उनके शरीर की पुष्टि द्वारा बल उत्पन्न करता है; एवं जैसे सूर्य अपने शोषणात्मक स्वभाव से उनमें आदान नाम बल का ह्रास करता है--उनके देह में पचनात्मक व्यापार की वृद्धि कर उसके अङ्गभूत गुरु-स्निग्ध-स्थिर प्रभृति गुणों का पचन द्वारा ह्रास करता हुआ उन्हें क्षीण अत एव अल्पबल करता है (आदान); एवं जैसे वायु अपनी योगवाहितासे अर्थात् सूर्य-चन्द्र दोनों के गुणों को ग्रहण कर इतस्ततः विक्षेपण करने के आत्म-स्वभाव से उनकी सहायता करता है; इस प्रकार सूर्य, चन्द्र और वायु अपनी-अपनी उल्लिखित प्राकृत क्रियाओं द्वारा स्थावर-जङ्गम सृष्टि का धारण करते हैं उसी प्रकार वात-पित्त-कफ प्राकृत स्वरूप में रहते हुए इस शरीर का धारण करते हैं। इन में कफ चन्द्रस्थानीय है, पित्त सूर्यस्थानीय तथा वायु वात-स्थानीय। यही सूर्यादि जब कुपित या क्षीण होते हैं तो जगत् को पीडित करते हैं उसी प्रकार वातादि दोष भी विषमहोकर शरीर और मनको रोगाभितप्त करते हैं।

क्रियाशारीर में ही नहीं, आयुर्वेद के अन्य अङ्गोपाङ्गों में भी सर्वत्र, धारणात्मक व्यापार के कारण दोष, धातु, मल तीनों को धातु कहा है। धातु नाम से

१—प्रमाणों के लिए देखिये : आयुर्वेदीय क्रियाशारीर पृ.१९-२१।

प्रसिद्ध रसादि सात की धारण क्रिया मुख्य होने से उन्हें मुख्यतया धातु कहते हैं। शेष दो में धारण क्रिया गौण और स्वरूप से कुछ भिन्न होने से उन्हें गौण रूप से धातु कहते हैं। इन सब को धातु कहने का, अथवा ये धारण क्रिया करते हैं इस बात का अर्थ क्या है, यह इस प्रकरण में समझ लेना उपयोगी हो सकता है।

च० शा० ४।१२ में शरीरान्तर्गत पृथिव्यात्मक भावों की गणना करते कहा है--पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति (मूर्तिः काठिन्यम्--चक्रपाणि)। सु० शा० १।१९ में भी कहा है--पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति। (सर्वमूर्तसमूहो दोषधातुमलेषु यः कश्चित् काठिन्य निवहः--डल्हन)। यहाँ कहे शरीरान्तर्गत पार्थिव पदार्थों में एक है जिसे मूर्ति या मूर्त कहा है। टीकाकारों का वचन सामने रखते हुए समझ सकते हैं कि शरीर में शरीरावयवभूत दोषों, धातुओं और मलों में--जो और जितना भी कठिन भाग है उसे मूर्त या मूर्ति कहते हैं और वह पृथिवी महाभूत के अंश से बना है।

पाणिनि ने घन शब्द का अर्थ मूर्ति दिया है--मूर्तौ घनः (३-३-३७)। भट्टोजि दीक्षित ने 'मूर्तिः काठिन्यम्' कह कर मूर्ति का अर्थ चक्रपाणि और डल्हन के सदृश कठिन ही बताया है; पर घन शब्द का अर्थ लोक-प्रसिद्ध (ठोस, सॉलिड) होने से मूर्ति या मूर्त शब्द की कुछ अधिक व्यक्तता इस शब्द से होती है। तात्पर्य--शरीर में जो भी घन, ठोस, सॉलिड है उसका कारण पृथिवी महाभूत है। हम देखते हैं, इस शरीर में कितना भाग घन-संघातमय है। अत एव इसे पार्थिव कहने की प्रथा है। 'धातु' और 'धारण' शब्दों की व्याख्या का प्रकरण अब आगे देखिए।

गर्भोपनिषद् में थोड़े अन्तर से दो स्थानों पर पञ्च महाभूतों के कर्म पृथक्-पृथक् बताए हैं। इनमें प्रथम वचन में पृथिवी का कर्म कहा है: (शरीरे) यत्कठिनं सा पृथिवी। अर्थ स्पष्ट है। अगले वचन में कहा है: तत्र पृथिवी धारणे। इस का अर्थ है कि पृथ्वी शरीर का धारण करती है। गर्भोपनिषद् में एक ही पृथ्वी महाभूत के कर्मों का निर्देश करने के प्रसंग से आए इन दो वचनों का समन्वय करते कह सकते हैं शरीर के कठिन, मूर्त या घन भागों का--अन्य शब्दों में समस्त पार्थिव शरीर का--निर्माण ही 'धारण' कहाता है। शरीर का समवायी कारण होना ही इस प्रकरण में धारण शब्द से अभिहित है।

पृथिवी महाभूत शरीर का धारण करता है इसी को अन्य शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं यह शरीर का निर्माण करता है। रसादि सात धातुओं के लिए भी जब हम कहते हैं कि वे शरीर का धारण करते हैं तो उसका तात्पर्य यही है कि वे शरीर का निर्माण करते हैं। अवयव-रूप में उनके मिलने

से ही यह शरीर बना है। इस शरीर में रस-रक्तादि धातु कहीं स्व-रूप से प्रत्यक्ष हैं। परन्तु, हृदय, यकृत्,८ लीहा, अन्त्र, मस्तिष्क आदि अवयव भी पृथक्-पृथक् धातुओं से ही बनते हैं। शरीर अध्यायों में बताया गया है कि इन अवयवों में कौन किस-किस धातु से बना है। किं बहुना, इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि--अवयव-घटित भी यह शरीर अन्त को उपधातु-सहित धातुओं से ही बना है। इन धातुओं से निर्मित होने के कारण ही रसादि सात को आयुर्वेद में धातु यह मुख्य संज्ञा दी गयी है। धारण शब्द का यह सत्यार्थ दृष्टि में रखें तभी यह स्पष्ट हो सकेगा कि क्यों रसादि के लिए धातु यह मुख्य नाम है।

वातादि दोष तथा पुरीषादि मल भी शरीर के निर्माण में भाग लेते हैं, परन्तु रसादि की अपेक्षया न्यून। इस कारण कभी उन्हें भी धातु कहा जाता है। महाभूतों में भी देह-धारण क्रिया मुख्यतया पृथिवी महाभूत की है, अतः उसी की धारण क्रिया उपनिषद् ने बताई है। परन्तु शेष महाभूत भी शरीर के निर्माण में अंशतः भाग लेते ही हैं। इसी से आयुर्वेद-तन्त्र में आत्मा-सहित पाँचों महाभूतों को धातु कह कर उन से बने इस जीवच्छरीर को षड्धातुक पुरुष कहा है। इसी प्रकार प्रकृति आदि चौबीस को भी धातु कह कर इसे चतुर्विंशति धातुक पुरुष कहते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि, वातादि के लिए धारण शब्द का अन्य भी अर्थ होना चाहिए और वह अपने-अपने प्राकृत कर्मों द्वारा शरीर को अनुगृहीत करता है। इन सब कारणों से शरीर धृत (जीवित) रहता है--अतः इसे 'धारि' नाम दिया गया है।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥

सु० सू० २१।८

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥

चरक

प्राकृतावस्था में वातादि दोष जैसे शरीर का धारण करते हैं वैसे विषमावस्था में रोगाक्रान्त करते हैं ; उसी प्रकार जैसे बलोत्पत्ति आदि करनेवाले भी सूर्यादि विषम होने पर नाना उत्पातों से सृष्टि को उपतप्त करते हैं। विषम हुआ बाह्य वायु कैसे-कैसे उत्पात करता है इसका उत्तम निर्देश वात कलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) में वाचक देख सकते हैं।

वात, पित्त, कफ अपनी-अपनी क्रियाओं द्वारा देह के संभव के हेतु हैं--वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभव हेतवः सु० सू० २१।३।--इस वचन का अर्थ कोई यह कहते हैं कि भुक्त अन्नपान से जिस अन्नरस की उत्पत्ति होती है वह वात, पित्त और कफ इन तीन के समवाय से बना होता है। अन्य शब्दों में इन तीन के --केवल इन तीन के--समुदाय को ही अन्नरस कहते हैं। पश्चात् इन्हीं के रसादि धातुओं के आशय में जाने से धातुओं की पुष्टि होती है। कफ उन धातुओं के देह का निर्माण करता है, पित्त से उनके अग्नियों की पुष्टि होती है तथा वायु से उनके ज्ञान, चेष्टा आदि के हेतुभूत वायु की पुष्टि होती है। यह अर्थ चिन्त्य है। 'संभव' शब्द से दोष शरीर के समवायि कारण हैं यह अर्थ आयुर्वेदाभिमत नहीं प्रतीत होता। दोष शरीर के संभव के हेतु किस प्रकार हैं इसका कुछ निर्देश सुश्रुत के निम्न वचन में गर्भोत्पत्ति के प्रकरण में किया है।

द्वितीये (मासि) शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते।। सु० शा० ३।१८

द्वितीय मास में कफ, पित्त और वायु से गर्भाशयगत महाभूतों का परिपाक होता है तो गर्भ कललावस्था से घन रूप में परिणत होता है। यहाँ महाभूत जैसे माता के गर्भाशय में आए रस-रक्त द्वारा गर्भ को प्राप्त होते हैं और उन पर कफ, पित्त और वायु की क्रिया होकर गर्भ की पुष्टि होती है यह कहा है वैसे शरीर में भी अन्न-रस सर्वधातुपोषक सामग्री ले कर धात्वाशयों में पहुँचता है और प्रत्येक आशय में उस पर कफ, पित्त और वायु की तत्तत् क्रिया होकर क्रमशः सर्व धातुओं की पुष्टि द्वारा सर्व शरीर का पोषण होता है। इस के पूर्व स्वयं गृहीत अन्न-पान पर भी कफ, पित्त और वायु की क्रिया अन्नरस बनाने के लिए होती है। तात्पर्य-वात, पित्त, कफ को जो देहसंभव हेतु कहा है वह उनके असमवायिकारण होने के अर्थ में ही समझना चाहिए। वातपित्तश्लेष्माण एव देह संभव हेतवः (सु० सू०२१।३)--इस सूत्र में जो वातादि को शरीर की उत्पत्ति का हेतु कहा है उस पर प्रश्न उठाकर डल्लन ने जो उत्तर दिया है उसमें वातादि को शरीर की उत्पत्ति में सहकारि-कारण कहते हुए यही बात कही है। तथाहि:--

देहसंभवहेतवो देहोत्पत्तिहेतवः। ननु शुक्रशोणिते देहोत्पत्तिहेतू, तत्कथं वातादयो देहसंभवहेतवः कथ्यन्ते? उच्यते—अविकृता वातादयः शुक्रार्तवादिसहकारितया देहजनका अभिप्रेता इत्यर्थः।।

स्वस्थावस्था में शरीर का धारण और अस्वस्थावस्था में स्वयं विषम होकर शरीर को अस्वस्थ करना वातादि दोषों का स्वभाव है। दूष्यों--धातुओं,

उपधातुओं तथा मलों--की उत्पत्ति, पुष्टि, साम्य तथा वैषम्य इन दोषों के ही अधीन है। अतः स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य में--प्रकृति और विकृति में--दोषों का ही महत्त्व है। तथापि शरीर की उभय अवस्थाओं में दूष्य-विशेष रक्त का भी विशिष्ट स्थान है। अतः कभी दोषों के साथ उसका भी स्मरण किया जाता है। सुश्रुत कहता है--

तदेभिरेव (वातपित्तश्लेष्मभिः) शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं[1] शरीरं भवति। भवति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥

सु० सू० २१।३-४

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (रोग या मृत्यु) सभी अवस्थाओं में वात, पित्त, कफ ये तीन और चौथा रक्त यही कारणतया रहते हैं। तीनों दशाओं में शरीर वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार में किसी एक के विना रह नहीं सकता। शरीर का ये चारों धारण करते हैं।

रक्त शरीर का मूल है, शरीर का धारण करता है तथा रुग्णावस्था में भी इतर दूष्यों की अपेक्षया उसका पृथक् महत्त्व है।

आर्तव रक्त शरीर की उत्पत्ति का कारण है। इस हेतु रक्त को शरीर का मूल (आदि कारण) कहा है। जीवित अवस्था में यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रीत्या शरीर का धारण करता है।--

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते॥

च० सू० २४।४

शुद्ध रक्त पुरुष को बल, वर्ण और सुखकर आयु देता है। किं बहुना, प्राण रक्त के ही आश्रित है। शरीर के बल का कारण रक्त इस प्रकार है कि वह इतर धातुओं को पुष्ट करता है। धातुओं की सम्यक् पुष्टि हो तो शरीर भी बलवान् होता है। रक्त क्षीण हो जाय तो धातु-उपधातु भी क्षीण होते हैं--उनके कर्मों का ह्रास होता है तथा शरीर भी कृश और दुर्बल होता है।--तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते--सु० सू० १४।२१।बल सम प्रमाण में रहने से धातु-

---

१--अविरहितं कारणतया अविरहितम्। शोणितस्य देहकारणत्वमार्तवकारणतया व्यक्तमेव। शोणितस्य देहकारकत्वादि चोक्तं शास्त्रे--'देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते' इति--चक्रपाणि--

उपधातु एवं उन से बने शरीरावयव अपना प्राकृत कर्म तथा आकुञ्चन-प्रसारणादि चेष्टाएँ योग्य प्रकार से कर सकते हैं। कर्मेन्द्रियों के कर्मों के अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान (स्पर्शज्ञान)[१] की समीचीनता का कारण भी रक्त ही है। सुप्तिवात (रक्तगत या रसगत वात) आदि रोगों में रक्त की दुष्टि के कारण ही त्वचा से स्पर्शज्ञान नहीं होता। चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों के विषय का ज्ञान भी रक्त के द्वारा ही यथावत् होता है। त्वचा आदि का वर्ण और कान्ति भी रक्त के ही अधीन है। रक्त का दोषों के कोपवश या स्राव के कारण क्षय हो जाए तो इतर धातुओं का भी क्षय एवं वात का अतिप्रकोप हो जाता है। रक्त प्राकृत प्रमाण में हो तो उसके मल पित्त का भी पोषण समीचीन होता है। रक्त सम प्रमाण में हो तो उस के आशयों में उस की पुष्टि के लिए जो आहारभूत रस उपलब्ध होता है उससे रक्त की पुष्टि यथावत् हो जाने से पित्त की पुष्टि के लिए भी रसधातु का पर्याप्त प्रमाण शेष रहता है। परिणामतया, रक्त के साम्य से पित्त (जठराग्नि और धात्वग्नियों) की भी समता बनी रहती है। इस प्रकार परोक्षरीत्या रक्त पित्त को भी समावस्था में रखता हुआ उसके द्वारा शरीर के अनुग्रह का भी हेतु है।

पाण्डुरोग में प्रधानतया कुपित दोष पित्त के कारण प्रथम रसधातु का अति पचन हो कर क्षय होता है। परिणामतया मुख्यतया रक्त का और अनन्तर इतर धातुओं का भी क्षय उनका आहारभूत रस धातु सुलभ न होने से होता है। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते--च.सू.२८।३। यहाँ कहा है कि रस-धातुरूप आहार धातु-उपधातुओं को यथेष्ट प्रमाण में मिलता रहे तभी उनकी आकृति (रचना) तथा प्रकृति (प्राकृत कर्म) समावस्था में रहते हैं। पाण्डुरोग में रसधातु का क्षय होने के कारण रक्तधातु भी क्षीण होने से सर्व लक्षण उत्पन्न होते हैं। पाण्डुरोगाधिकार में निदान, पूर्वरूप और रूप का निर्देश करने के पूर्व प्रस्तावना के रूप में रक्तधातु के क्षय का यथास्थित और हृदयंगम चित्रण चरकाचार्य ने निम्न पदों में किया है।--

---

१--अपनी सिराओं में संचार करते रक्त के कर्मों में स्पर्शज्ञान की भी गणना तन्त्रकर्ता ने की है। अन्यत्र आचार्य ने सर्व ज्ञानेन्द्रिय और मन दोनों स्पर्श से ही ज्ञान ग्रहण करते होने से उन्हें स्पर्शेन्द्रिय रूप ही कहा है। गीता में विषयमात्र को स्पर्श कहा है। रक्त के कर्मों के प्रकरण में स्पर्श-ज्ञान का व्यापक अर्थ ही ग्राह्य है। अतएव पैर पर पैर आदि के पीड़न से रक्तवहन सम्यक् न होने से त्वचा में सुप्ति होती है। वार्धक्य में रक्त के क्षय के कारण दृष्टिमान्द्य, बाधिर्य आदि होते हैं।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु।
शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात्॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः।
वैवर्ण्यं भजते × × ॥

च० चि० १६।४-६

दीपिकाकार ने यहाँ 'ओज' का अर्थ रक्त ही बताया है। अधिक व्याख्या पाण्डुरोग के अधिकार में करेंगे। रक्त के इन कर्मों के कारण ही ऊपर प्राणों को रक्त के आश्रित कहा है, अन्यत्र रक्त को प्राण ही कहा है--रक्तं जीव इति स्थितिः--सु. सू. १४।४४ तथा चरक ने भी दश प्राणायतनों में (प्राण के स्थानों में) रक्त की गणना इन शब्दों में की है--

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शङ्खौ मर्मत्रयं[1] कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥

च० सू० २९।३

प्राण का अर्थ आयुर्वेद-संमत प्राण के अनेक अर्थों में कोई भी यहाँ लिया जा सकता है। यथा--१ अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः--सु० शा० ४।३--पित्त, कफ, वात, सत्त्व, रज, तम, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और आत्मा--ये ग्यारह प्राण। २--बाह्य वायु जो शरीर में प्राण नाम से रहता है। ३--उसी के प्राणापानादि पाँच भेद। ४--इन पाँचमें मुख्य प्राण नाम से प्रसिद्ध वायु। इसके लिए कहा है कि यह शरीर को तथा इतर वायुओं को शरीर में स्थिर किए रहता है। स प्राणो नाम देहधृक्; प्राणांश्चाप्यवलम्बते --सु.नि. १।१३। इसी की इतर वायुओं को शरीर में स्थिर कर रखने की क्रिया को लक्ष्य में रख कर उक्त वचनों पर दोनों टीकाकारों द्वारा उद्धृत अधोलिखित उपनिषद्वाक्य है--यथा हि सैन्धवोऽश्वः शङ्कुमुत्पाट्य धावति, तद्वत् प्राणो रुद्धः सर्वान् वायूनुत्पाट्य प्रयाणकाले धावति--जैसे सिन्धुदेशज हयोत्तम अपने बन्धनशङ्कु को बलवत् वेग से उखाड़कर उसे भी साथ लेकर भाग जाता है वैसे देह को त्याग कर प्रयाण करता हुआ प्राणवायु शेष

१--मर्मत्रय=तीन प्रधान मर्म--हृदय, बस्ति और शिर। देखिए--च. सि. ९।१-१० (त्रिमर्मीय अध्याय), सु० शा० ६।९ (सद्यः प्राणहर मर्म)।

वायुओं को भी साथ ले जाता है। ५--श्वासक्रिया में नासाभ्यन्तरचारी प्राण और अपान इन दो वायुओं में एक। श्वासक्रिया में निकलनेवाले वायुके लिए अपान और प्रविष्ट होनेवाले वायु के लिए प्राण शब्द भारतीय भाषाओं में प्रचलित है। आयुर्वेदीय क्रियाशारीर में सप्रमाण मैंने दर्शाया है कि प्राचीन वाङ्मय में इन शब्दों का विपरीत अर्थ में व्यवहार होता था। निकलनेवाले को प्राण तथा प्रविष्ट होने वाले को अपान कहा जाता था। प्राण का नासाभ्यन्तर संचारी वायुओं में से कोई भी अर्थ लें रक्त उसे धारण कर शरीर को जीवित रखता है। आधुनिक प्रत्यक्ष से विचार करें तो ब्लड नाम से प्रसिद्ध द्रव्य के रक्त-कण आयुर्वेद के रक्तधातु हैं, तथा शेष द्रव अंश आयुर्वेद का रसधातु है। रक्तकण नासाभ्यन्तरसंचारी वायुओं को ग्रहण कर उनमें एक (गृहीत बाह्य वायु) को शारीर धातुओं में उनके उपयोगार्थ पहुचाते हैं तथा द्वितीय (निर्गमनोन्मुख) वायु को धातुओं से आकृष्ट कर नासाविवर द्वारा बाहर निकाल देते हैं। इन वायुओं का धारण रक्तधातु ही करता है। इसी से शरीर के यावत् व्यापार होते हैं। अतः रक्त को प्राण ही कहा है।

नासाभ्यन्तरसंचारी वायुओं में निर्गमनशील वायु (प्राचीन-मत से प्राण) का महत्त्व विशेष है। यह समावस्था में रहता हुआ मस्तिष्कगत श्वसनक्रिया के केन्द्र को सतत उद्दीप्त करता रहता है, जिससे श्वसन का वेग (संख्या), बल और स्वरूप समावस्था में रहते हैं। यही वायु रक्तवहसंस्थान के केन्द्र को भी उद्दीप्त करता रहता है। अतः प्रविष्ट होनेवाले वायु की अपेक्षया इसका महत्त्व सविशेषहै। जिस रोगी को नव्य चिकित्सक ओषजन देते हैं उसे उक्त महत्त्व के कारण कार्बन डाई ऑक्साइड भी साथ ही देते हैं। इस वायु का अवरोधवश संचय होकर प्रकोप होता है तो उसका श्वसनरूप प्राकृत कर्म बढ़ जाता है या विकृत हो जाता है। इस विकृति का प्राणवह स्रोतों की दुष्टि या श्वास नाम से वर्णन संहिताओं में किया गया है। इससे भी प्राण शब्द का प्राचीनाभिमत अर्थ कौन सा है--अन्तः प्रविष्ट होनेवाला वायु या बहिर्गमनशील वायु ?--यह विशद हो सकता है। नव्य-मत से संचित हुआ बहिर्गमनशील वायु (कार्बन डाई ऑक्साइड) श्वास के केन्द्र को समावस्था की अपेक्षया अधिक उद्दीप्त (स्टिम्युलेट) करता है, जिससे उसकी क्रिया प्राकृत की अपेक्षया संख्या आदि की दृष्टि से अधिक हो जाती है। इसी को श्वास (एस्थमा) कहा जाता है। इस प्रकार नव्य मत से समन्वय की सहायता से भी प्राण का अर्थ जानने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

देहजनकता और देहधारकता के अतिरिक्त रोगोत्पादन तथा उसकी चिकित्सा में भी रक्त का महत्त्व है। शल्यतन्त्र में व्रण की उत्पत्ति का अधिष्ठान होने से दूष्य होते हुए भी रक्त को सुश्रुत ने दोषों के साथ स्थान दिया है ऐसा

डल्हन ने मत दिया है--शल्यशास्त्रे व्रणारम्भाधिष्ठानभूतत्वात् कस्यचिद् दूष्यस्य प्राधान्यं दर्शयन्नाह-तदित्यादि। परन्तु कायचिकित्सकों ने भी निदान और चिकित्सा में रक्त में कुछ वैशिष्ट्य देखकर उसके रोगों का दोष-नानात्मज रोगों के सदृश पृथक् वर्णन किया है। १४० पृ० पर तथा आगे इस विषय पर अधिक विचार कर आए हैं। इस प्रकरण में वाचक उसकी भी स्मृति कर लें।

किं बहुना, दोष (और रक्त) ही रोगोत्पत्ति में प्रधान और उपचार में द्रष्टव्य हैं। ये वृद्ध हों या क्षीण, वैषम्य को प्राप्त हुए इनका जब धातुओं, उपधातुओं, मलों किंवा इनसे बने स्रोतों और आभ्यन्तर तथा बाह्य शरीरावयवों से संमूर्च्छन होता है तो उनकी दुष्टि द्वारा किंवा कभी दोषों के स्वतन्त्र लक्षणों के रूपमें भी शरीर में रोगों का प्रादुर्भाव होता है। इनके विषय में अधिक वक्तव्य आगे निदानपञ्चक के प्रकरण में आएगा। अब रोग-परीक्षा में परीक्षणीय अन्य पदार्थों का निर्देश किया जाता है।

दूष्य—धातु, उपधातु तथा मल

हिताहार आरोग्य का और अहिताहार रोग का कारण है यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।--हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति--च०सू० २५।३१। जैसा कि दीपिकाकार ने लिखा है 'एकः' और 'एव' शब्दों का प्रयोग होते हुए भी इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि एकमात्र आहार ही पुरुष की प्रकृति-विकृति का कारण है; अन्य कारण नहीं। आरोग्य-अनारोग्य में आहार प्रधान कारण है यही यहाँ अभिप्रेत है। हित आहार का मुख्य लक्षण है, पुरुष की प्रकृति, देश, काल (ऋतु) आदि को दृष्टि में रख कर अनुरूप रसवाले आहार द्रव्यों का सेवन। सामान्यतया सभी रसों का बारहों मास सेवन करना चाहिए, परन्तु ऋतु आदि देख कर जिस दोष के कोप की संभावना हो उसके शामक रसों का अनुरूप प्रमाण में सविशेष सेवन करना चाहिए।--नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ--अ० हृ० ३।५७। यहाँ रस शब्द उपलक्षण है। गुण, वीर्य का भी विचार आहार के विचार में करना ही चाहिए।

मधुरादि रसों का समयोग (सम प्रमाण में सेवन) न हो, किन्तु हीनयोग या अतियोग हो तो रसभेद से तत्तत् रस का क्षय या वृद्धि (कोप) होता है। कुपित हुए दोष रसादि धातुओं को दूषित करते हैं। कुपित दोष तथा दूषित हुए रसादि धातु पुरीषादि मलों को दूषित (क्षीण या वृद्ध) करते हैं।--

दोषा दुष्टा रसै धांतून् दूषयन्त्युभये मलान्।
अ० हृ० सू० ११।३५

दोषों से धातुओं की दुष्टि में क्रम यह होता है कि दुष्ट दोष प्रथम स्रोतों को दुष्ट करते हैं। दुष्ट हुए स्रोतों से धातुओं की भी दुष्टि होती है। शरीर के अवकाशयुक्त अवयवों के स्रोत, सिरा आदि पर्यायों का निर्देश कर चरकाचार्य कहते हैं--

तेषां (शरीरधात्ववकाशानां स्रोतआदीनाम्) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते ।। च० वि० ५।९

स्रोतों से आसन्न (निकटवर्ती) स्रोतों की दुष्टि होती है (जैसे प्रतिश्याय जनक दोषों से प्रथम नासा-स्रोत की दुष्टि होती है और वह क्रमशः गल, कण्ठ और प्राणवह स्रोतों में संक्रान्त हो कर तत्तत् व्यथा उत्पन्न करती है, किंवा तिर्यक् तथा ऊर्ध्व दिशा में अस्थिगत वाताशयों में जा कर शूल, गौरव आदि लक्षण उत्पन्न करती है।) एवं धातु अपने आगे या पीछे के --पूर्व या पर--धातु को दुष्ट करता है--स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः--च०वि० ५।९। स्रोतों और धातुओं की यह दुष्टि भी अन्त को तो दोषकृत ही होती है। दूषणात्मक स्वभाव दोषों का ही है। दोषों द्वारा सर्वप्रथम स्रोतों की दुष्टि होती है, यह विषय हृदयकार ने निम्न स्पष्ट और प्रसिद्ध पदों में दिया है--

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ।।
अ० हृ० नि० १।२३

यहाँ रसायनी शब्द अवकाशमय अवयवमात्र के लिए आया है। दोषों के प्रभाव से जो वैगुण्य या अवरोधजनक स्वभाव इन अवकाशों (ख) में उत्पन्न होता है उसके कारण रस तथा अन्य अन्दर या बाहर संचरणशील द्रव्यों का अवरोध होता है। अवरोधवश उस स्थान पर इनकी प्रमाण-वृद्धि या कोप होता है। इस प्रकार दोषों के द्वारा एकाङ्ग में रोगोत्पत्ति होती है। उनका इस प्रकार अवरोध-विशेष न हो तो वे सर्व शरीर में ही रोगोत्पत्ति कर देते हैं। देखिए--

क्षिप्यमाणः खवंगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ।।
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेश प्रकोपणम् ।।
च० चि० १५।३६

सुश्रुत ने भी कहा है --

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ।।
सु० सू० २४।१०

अन्तर्मुख या योगवह स्रोतों में दोषकृत विकृति या वैगुण्य के परिणाम प्रायः अनुमानगम्य होते हैं। परन्तु बहिर्मुख स्रोतों या मलद्वार नाम से प्रसिद्ध छिद्रों पर कुपित या क्षीण हुए मलों का परिणाम प्रत्यक्ष होता है। हृदयकार आगे कहते हैं--

मला मलायनानि, स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥

अ० हृ० सू० ११।३६

चरकाचार्य ने भी कहा है--

मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥

च० सू० ७।४२

तात्पर्य--मधुरादि रसों के वैषम्य से दोषों की दुष्टि, उनसे धातुओं की, दोनों से मलों की और मलों से मलद्वारों की दुष्टि होती है। ये मलद्वार नौ हैं--गुदमार्ग, लिङ्ग (शिश्न, मूत्रद्वार, अपत्यपथ), दो श्रोत्र, दो नासापुट, दो चक्षु और एक मुख तथा संख्यातीत स्वेदवह स्रोतों के मुख। इनमें दुष्टि होने पर दो परिणाम-भेद होते देखे जाते हैं--जिस मल की वृद्धि या कोप हो उसके द्वार पर गौरव की प्रतीति एवं उस मल का अति उत्सर्ग; तथा जिस मल का क्षय हो उसके द्वार-प्रदेश पर लघुता एवं उस मल का संग--अप्रवृत्ति। इस प्रकार जिस प्रदेश पर जिस दोष से विकृति हो उसके अनुसार विविध रोग-त्वग्रोग, विसर्प, क्रोधशीलता इत्यादि--होते हैं।

मलों की अपने-अपने छिद्रों पर यत्किंचित् वृद्धि हो तो इसे इन्द्रियोपलेप नाम दिया है। इससे किंचित् कण्डू आदि लक्षण होते हैं। दोष-प्रकोप की जो संप्राप्ति ऊपर दी है, उससे विदित होगा कि अन्तिम सुप्रत्यक्ष विकृति मलों तथा मलद्वारों की होती है। इसी कारण अनुभवी चिकित्सक इन्हीं को लक्ष्य में रख कर जिह्वा, नेत्र आदि की परीक्षा करके किंवा पुरीष के स्वरूप के विषय में पृच्छा कर दोषों के साम्य-वैषम्य का निर्धारण करते हैं। जिह्वा, पुरीष एक प्रकार से दोषों की विषमता या समता के संकेत-चिह्न (सिगनल) हैं। दोष-भेद से इनके स्वरूप में भेद देखा जाता है।

दोषों के द्वारा दूष्यों--धातुओं, उपधातुओं तथा मलों--की दुष्टि से होने वाले रोग पहले दे आए हैं (देखिए पृ० १५० तथा आगे)। यहाँ दोषों के संमूर्च्छनवश दूष्यों के क्षय और वृद्धि के लक्षण ही दिए जाते हैं[1]।

१--च० सू० १७।६३-७७ तथा चक्र; सु० सू० १५।९-३१ तथा डल्हन, चक्र; अ० हृ० सू० ११।८-२५ तथा इन्दु, हेमाद्रि।

दोषादि की वृद्धि के सामान्य कारण—

वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति ॥

सु० सू० १५।१३

किसी भी दोष, धातु, उपधातु या मल की वृद्धि प्रथम तो उन द्रव्यों से होती है जिनमें उन्हीं महाभूतों का आधिक्य हो जिनका आधिक्य उस दोष, धातु आदि में है। यथा, पित्त और रक्त में अग्नि महाभूत का आधिक्य है, सो, जिन द्रव्यों में अग्नितत्त्व की अधिकता होगी वे द्रव्य सेवन किए जाने पर पित्त और रक्त की वृद्धि करेंगे। 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में मैंने बताया है कि द्रव्यों की शरीर पर क्रिया को समझने के लिए आचार्यों ने उनके पाञ्च भौतिक संघटन को एक ओर रख कर द्रव्यों के गुण-कर्मों को ही दृष्टि में रखा है। (यह सत्य है कि द्रव्यों के तत्तत् गुण-कर्म भी अन्त को तो अपने विशिष्ट पाञ्च भौतिक संघटन के कारण ही होते हैं)। इस दृष्टि से कहना हो तो जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुण-वीर्य-विपाक वाले हों, एवं जिनमें दीपन, पाचन आदि कर्म हों वे सेवन किए जाने पर पित्त और रक्त की वृद्धि करते हैं ··· इत्यादि।

आहारौषध द्रव्यों के अतिरिक्त विहार, देश और काल भी जो अपने स्वभाव-विशेष से किसी दोष आदि की वृद्धि करनेवाले हों उनके योग (सेवन) से उस दोषादि की वृद्धि होती है। यथा, निद्रा, दिवास्वप्न, आनूप देश तथा शिशिर ऋतु कफ की वृद्धि करते हैं। इनसे कफ के समान प्रथम रस की तथा परिणामतया शेष धातुओं की भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत चेष्टा (श्रम, व्यायाम), जाङ्गल देश आदि से वात की वृद्धि होती है। वात की वृद्धि का ही अन्य अर्थ है धातुओं की क्षीणता। पित्त और रक्त का विचार करना हो तो आतप (धूप) जिस देशमें अधिक हो वहाँ इनकी वृद्धि होती है। एवं—शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति—च० सू० २४।१०। शरदृतु में पित्त के सदृश रक्त की भी दुष्टि और वृद्धि होती है। रोग-परीक्षा में ये वृद्धि-कारण ज्ञात हों तो इस रूप में सहायक होते हैं कि इनसे प्रधान दोष का ज्ञान हो जाता है। साथ ही चिकित्सा का प्रथम सोपान निदान-परिवर्जन होने से चिकित्सा भी स्वच्छ होती है। श्वास, राजयक्ष्मा, अम्लपित्त आदि रोग-पीड़ित पुरुषों को रोग अच्छा न हो रहा हो ऐसी स्थिति में यदि वे आनूप देश में हों तो देशत्याग कराया जाता है[1]। जनपदोद्ध्वंसक रोगों में प्रत्येक पुरुष को देश-त्याग की सलाह दी जाती है।

---

१. देखिए : **आनूपदेशे प्रायेण संभवत्येष देहिनाम्**—कहकर अम्लपित्त रोगी को सलाह दी गयी है कि—**अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तरं व्रजेत्**—काश्यपसंहिता, पृ० ३०८। चरक-सुश्रुत-वाग्भट आनूप भिन्न देश के वासी→

एक धातु की वृद्धि हो तो वह पर धातु की भी वृद्धि करता है। कारण, उसकी पुष्टि के लिए रस धातु की वैसी अपेक्षा नहीं रहती। अधिक रस धातु पर धातु के ही पोषण के उपयोग में आ जाता है। अतः पूर्व धातु की वृद्धि पर धातु की वृद्धि का कारण बनती है।--पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम्--सु० सू० १५।१८।

दोषादि की क्षीणता के कारण

प्रत्येक दोष, धातु आदि के क्षय के कारणों का सामान्य उल्लेख करते चरकाचार्य कहते हैं--

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रमिताशनम्।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः॥
च० सू० १७।७६-७७

व्यायाम (विशिष्ट कायिक, वाचिक, मानसिक श्रम), अनशन, चिन्ता, रूक्ष-भोजन (घी, दूध, आदि जिसमें न हों ऐसा भोजन), अल्प भोजन, प्रमित भोजन (केवल एक रस का सेवन), वात (वायु के प्रवाह का शरीर पर लगना), आतप (धूप), भय, शोक, रूक्ष पेय द्रव्यों का सेवन, जागरण; कफ, रक्त, शुक्र और तत्तत् मल की अति प्रवृत्ति (बहिर्गमन, स्राव); काल (वृद्धावस्था तथा आदान काल--शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु) एवं पिशाचादि योनियों का आवेश--ये दोषादि के क्षय के सामान्य कारण हैं। इनमें कोई किसी को क्षीण करता है कोई किसी को। यथा, कफ आदि में जिसका अति स्राव हो उसी की क्षीणता होगी। उदाहरणतया, स्वेद की अति प्रवृत्ति होगी तो स्वेद का क्षय हो जाएगा। स्वेद के साथ तदाश्रित पित्त की भी अति प्रवृत्ति हो जाने से शरीर में उसका योग्य प्रमाण नहीं रह जाता--उसका भी क्षय होता है। स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि--च० सू० २०।८। पित्त के कर्मों में जो ऊष्मा की मात्रा का नियंत्रण (मात्रामात्रत्वमूष्मणः--च० सू० १२।११) बताया है, उसे चक्रपाणि ने त्वग्गत भ्राजक पित्त का ही कार्य कहा है। नव्य-मत

रहे होंगे। उन्होंने अम्लपित्त का उतना दर्शन न किया होगा। अतः उन्होंने इसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है। यथा--चरक ने ग्रहणी चिकित्सिताध्याय में पैत्तिक ग्रहणी में ही अम्लपित्त को समाविष्ट कर दिया है।

की सहायता से कह सकते हैं कि इस भ्राजक पित्त का ही स्थान स्वेद है। स्वेद की अति प्रवृत्ति से ऊष्मा का नियमन करनेवाले इस पित्त का भी अति प्रवृत्तिवश क्षय हो जाता है। अतएव, स्वेदयुक्त भाग शीत होता है। कई व्यक्तियों को हस्तपादतल में ही इस प्रकार अति स्वेदवश शीतलता देखी जाती है। ज्वरादि रोगों में सर्वाङ्ग में स्वेद हो कर सर्वाङ्ग शीतल हो जाता है। उस काल पित्त की वृद्धि करनेवाले ही चन्द्रोदय आदि द्रव्य आर्द्रक स्वरसादि उष्ण अनुपानों से दिये जाते हैं। यों ये द्रव्य उष्ण-तीक्ष्ण होने से अधिक स्वेदकारक अतएव, विरुद्ध प्रतीत होते हैं। परन्तु उक्त संप्राप्ति एवं प्रत्यक्ष से इनकी उपयोगिता सिद्ध है। इस प्रकार इसे भी तदर्थकारी चिकित्सा का उत्तम उदाहरण समझ सकते हैं।

व्यायाम आदि से वायु की भी वृद्धि होती है, पर कफ, पित्तादि स्निग्ध द्रव्यों का क्षय होता है।

इन कारणों के अतिरिक्त कुपित हुए दोष भी अपनी-अपनी रीति से धातुओं को क्षीण करते हैं--

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागत मिवोदकम्॥
सु० सू० १५।३६

कुपित हुए दोष अपनी शक्ति से धातुओं (उपधातुओं) और मलों को क्षीण करते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि अपने तेज से पतीली में रखे जल को क्षीण करता है। प्रत्येक दोष की अपनी-अपनी धातुशोषक शक्ति को विशद करते डल्लनाचार्य कहते हैं-तत्रपित्तं कटुकोष्णत्वाद् धातून् क्षपयति, वायुश्च शोषणहेतुत्वात्, कफो मार्गावरोधकत्वात्--पित्त अपने कटु तथा उष्ण गुण से धातुओं तथा मलों का ह्रास करता है। उसके ये गुण वृद्धि को प्राप्त हुए हों तो धातुओं, उपधातुओं तथा मलों के अग्नियों की दीप्ति होने से पचनात्मक क्रिया में वृद्धि होती है, जिससे आहारभूत रसधातु का तो पचन हो कर क्षय होता ही है, स्वयं धातुओं का भी पाकवश क्षय होता है। वायु अपने शोषण स्वभाव से धातुओं को शुष्क कर क्षीण करता है। कफ अपने मार्गावरोध के स्वभाव से धातुपोषक स्रोतों द्वारा धात्वाशयों में जानेवाले रस धातु के अयन (प्रवाह) को ही मन्द कर देता है या कफ का कोप अर्बुद किंवा धमनी प्रतिचय के रूप में हुआ हो तो अर्बुद और धमनी-प्रतिचय के प्रमाण के अनुरूप रस धातु के अयन में न्यून, अधिक या संपूर्ण अवरोध उत्पन्न करता है। रस धातु की उपलब्धि में हुए इस अन्तराय के कारण धातुओं-उपधातुओं की पुष्टि यथावत् न होने से उनका क्षय होता है। राजयक्ष्मा के

एक प्रकार में विशेषतया कफ द्वारा रसादि का वहन करनेवाले स्रोतों का मार्गावरोध होता है--कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु--सु० उ० ४१।९--यह पहले कह ही आए हैं। इस प्रकार दोषादि के क्षय के श्लोकोक्त कारणों के अतिरिक्त प्रकुपित हुए किसी दोष से भी धातुओं का क्षय होता है।

किसी भी कारण से धातु आदि वृद्ध या क्षीण होने से जो लक्षण होते हैं, उनका उल्लेख किया जाता है।

रस के वृद्धि-क्षय के लक्षण--रस धातु की वृद्धि होने पर श्लेष्मा की वृद्धि के समान लक्षण होते हैं; यथा--अग्निमान्द्य, हृदयोत्क्लेद (हृल्लास, जी मिचलाना), प्रसेक (लालास्राव) और क्वचित् वमन।

घट्टते, सहते शब्दं, नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥

च० सू० १७।६४

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता॥

अ० हृ० सू० ११।१७

रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च॥[1]

सु० सू० १५।९

रस धातु का क्षय होने पर सर्व शरीर पर उसकी क्षीणता के परिणाम होते हैं। व्यान वायु की क्रिया से रस-विक्षेपण का कार्य करते हुए हृदय को सर्वप्रथम रस धातु की उपलब्धि होती है। रस की क्षीणता के विपरिणाम भी विशेषतया उस पर देखे जाते हैं। तथाहि: रस धातु क्षीण होने पर हृदय का घट्टन[2] होता है--हृदय को कोई पकड़ कर हिलाता हो ऐसी प्रतीति होती है; उसकी गति (कम्प) अत्यधिक बढ़ जाती है (अंग्रेजी--टेकीकार्डिआ) अथवा और हृदय की धड़कन इस प्रकार होती है कि रोगी को उसकी प्रतीति होती है (हृद्द्रव; अंग्रेजी--पेलपिटेशन); हृदय में पीडा (पीडन की प्रतीति) तथा शूल होते हैं; शरीर का शोष होता है; आमाशय और मन की शून्यता का अनुभव होता है; स्वल्पमात्र चेष्टा करने पर भी हृदय में श्रम (और तज्जन्य श्वास आदि) हो आता है। हृदय के अतिरिक्त सर्वाङ्ग में भी रसक्षयजन्य लक्षण होते हैं। तथाहि: शरीर में (त्वचा, नख, नयन, वदन, मल आदि में) रौक्ष्य नाम स्नेहाभाव,

---

१--पाठान्तर में यहाँ 'शोष' भी पठित है। हृच्छब्दः पीडाकम्पशोष--शून्यताभिर्योज्यः; एते च रसक्षये वृद्धवाताद्धि भवन्ति। --चक्रपाणि

२--भ्वादि तथा चुरादि गणों में चलनार्थक 'घट्ट' धातु पठित है।

शुष्कता (कृशता), ग्लानि अर्थात् क्लम, श्रम, तृष्णा और शब्दासहिष्णुता (शब्द श्रवण द्वेष : स्वल्प भी शब्द सहन न होना) ये सार्वदैहिक लक्षण रस का क्षय होने पर होते हैं। ये सब लक्षण रस की क्षीणता के कारण वायु की वृद्धि होने से होते हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष में देखते हैं कि रस धातु का क्षय होने पर उसके उपधातु आर्तव और स्तन्य की भी पुष्टि नहीं होती--आर्तव का क्षय (अल्पता) और स्तन्य की भी क्षीणता होती है। आर्तव का क्षय होने पर उचित काल पर उसका अदर्शन, किंवा अल्प प्रमाण में दर्शन तथा योनि (गर्भयन्त्र) में वेदना--ये लक्षण होते हैं। नवीनों के मत से आर्तव और स्तन्य की उत्पत्ति के प्रेरक जो अन्तःस्राव पोषणिका-ग्रन्थि (पिटचुइटरी) में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति ही ग्रन्थि को रस-रक्त स्वल्प प्रमाण में प्राप्त होने के कारण उपयुक्त स्वरूप और मात्रा में नहीं होती। प्रेरणा के अभाव में आर्तव और स्तन्य भी स्वल्प बनते हैं। यह 'एनीमिआ' में होता है[1]।

पाण्डुरोग में पित्तादि दोषों से रसधातु का क्षय हो कर जो पूर्वरूप होते हैं उनमें यही लक्षण प्रायः कहे हैं। देखिए : तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदय-स्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा--च० चि० १६।१२। इनकी व्याख्या उक्त प्रकार से ही करनी चहिए।

हृदय में पीड़ा नव्य-मत से हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों के स्तम्भ (आकुञ्चन) के कारण हृदय की पेशी को रस दुर्लभ होने से होती है। यह भी प्रादेशिक रसक्षय का एक उदाहरण है। वातिक हृद्रोग के अन्य लक्षण भी इसी प्रकार होते हैं। हृदय में पीड़ा (हृदय-प्रदेश में कॉम्प्रेशन, कंस्ट्रिक्शन या ऑप्रेशन का नियत अनुभव ; इसके साथ शूल हो या न हो) 'एन्जाइना पेक्टोरिस' में होती है। आयुर्वेद-मत से यह वातज विकार है।

हृच्छूल नव्य-मत से हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों में रस-रक्त स्त्यान हो जाने से (जम जाने से) स्रोतों में जो अवरोध होता है उसके कारण होता है। इसके साथ पीडा हो भी सकती है, अथवा नहीं भी होती। परन्तु शूल नियत लक्षण है। यह स्थिति आयुर्वेद-मत से व्यान वायु का कर्म कफ के मन्द गुण से आवृत होने से होती है। इसे 'लो ब्लड प्रेशर' या 'हायपोटेन्शन' कहते हैं।

१--इस प्रकरण में हृदयकार ने रसक्षय के लक्षण श्लेष्मक्षय के सदृश बताए हैं। हेमाद्रि कहता है कि--इसी प्रकार रक्तक्षय के लक्षण पित्तक्षय के सदृश तथा मांसमेदःक्षय के लक्षण श्लेष्मक्षय के सदृश होते हैं--अपिशब्दोऽन्यानप्यतिदेशान् सूचयति। तेन रक्तं पित्तवत्, मांसमेदसी श्लेष्मवत्।

आयुर्वेद में इसे सिराशैथिल्य नाम दिया गया है। कफ के मन्द गुण के साथ उसका पैच्छिल्य गुण भी वृद्धि को प्राप्त हुआ होता है, जो रक्त के स्कन्दन (कोएग्युलेशन) का कारण होता है। रोग की यह संप्राप्ति लक्ष्य में रखते हुए सुचिकित्सक इसमें बृहद्-वातचिन्तामणि, चन्द्रोदय, ब्राह्मी बटी इत्यादि कफ-प्रत्यनीक द्रव्य द्राक्षासव, दशमलासव आदि स्रोतोविवृतिकारक (रसायन) कल्पों के अनुपान से देते हैं।

रसक्षय के कारण जो तृष्णा होती है उसे सुश्रुत ने क्षयज तृष्णा कहा है-- रसक्षयाद् या क्षयजा मता सा--सु० उ० ४८।१३। इसकी अति हृदयंगम संप्राप्ति चरकाचार्य ने निम्न पदों में दी है--

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि।
दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः॥

च० चि० २२।१६

शरीर रसज है--रस धातु से उत्पन्न और पुष्ट होता है, और यह रस धातु जल से उत्पन्न होता है। इस जल का तत्तत् कारण से क्षय (उदकक्षय; अंग्रेजी-डीहाइड्रेशन) होने पर जल की इच्छा के रूप में तृष्णा होती है। रसक्षयात् अम्बुक्षयो भवति, तेन चाम्बुक्षयेण पुरुषः पानीयप्रार्थनारूपतृष्णया युक्तो भवति—चक्रपाणि। इस विषय में सिद्धान्त भी है कि पुरुष में जिस भी दोष, धातु या मल का क्षय होता है, उसकी पूर्ति के लिए ऐसे ही द्रव्यों की इच्छा होती है, जिनमें क्षीण दोषादि की वृद्धि करनेवाले भूत विद्यमान हों--

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति॥
यद्यदाहार जातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति॥

सु० सू० १५।२९-३०

पुरुष के जिस दोष, धातु, उपधातु, मल या बल (ओज) का क्षय हुआ हो उसके योनि (उत्पादक महाभूत) की वृद्धि करने वाले अन्नपान की उसे आकांक्षा होती है। वह जिस-जिस आहार-विशेष की इच्छा करता है उसका सेवन करने से उस-उस दोषादि की क्षीणता दूर होती है--साम्य होता है।

रसक्षय के कारण जो शब्दासहिष्णुता होती है उसका एक प्रकार यह भी होता है कि रोगी अन्य पुरुषों के साथ बैठ कर खाना-पीना पसन्द नहीं करता। कारण, खान-पान की क्रिया में अन्य पुरुषों के मुख आदि से होनेवाले शब्द उसे सह्य नहीं होते--उद्वेजक होते हैं।

रक्त के वृद्धि-क्षय के लक्षण--रक्त धातु की वृद्धि होने पर अङ्गों (त्वचा) तथा नेत्र में रक्तिमा (ललाई), सिरापूर्णता, विसर्प, प्लीहा, विद्रधि (फोड़े; आभ्यन्तर या बाह्य), कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, रक्तगुल्म, उपकुश (दन्तमांसज रोग विशेष), कामला, व्यङ्ग, अग्निमान्द्य, संमोह (मूर्च्छा) तथा रक्तसूत्र (मूत्र में रक्त की प्रवृत्तिः रक्तमेह, रक्तपित्त, कालमेह)--ये तथा पैत्तिक विकार होते हैं।

आधुनिक-मतसे रक्तकणों की वृद्धि होने से शरीरावयवों में रक्तता दिखाई देते हैं। रक्तधातु की वृद्धि से जैसे प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ प्रभृति उत्सेध-प्रधान रोग होते हैं वैसे अपने आशय–विशेष सिरा में रक्त की वृद्धि होने से सिराएँ भी पूर्ण (भरी हुई) होती हैं। यह नवीनों का हायपरटेन्शन या हाई ब्लड प्रेशर है। रक्त का प्रमाण अधिक होने से उसका विक्षेपण करनेवाला व्यानवायु उससे आवृत होने से कोप को प्राप्त होता है। परिणामतया, रक्त का दबाव बढ़ जाता है। उससे शिरोगौरव, मद आदि रोग होते हैं।

लक्षणों की दृष्टि से विचित्र होते हुए भी इन रोगों में यह साधर्म्य है कि अमुक ही प्रकोपक कारणों के अतियोग से रक्त की वृद्धि हो कर ये रोग होते हैं। (कारणों के लिए देखिए: च० सू० २४।५-७--विधिशोणितीयाध्याय)। साथ ही सब में चिकित्सा का भी कुछ साम्य है। तथाहि:

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

च० सू० २४।१८

रक्तज रोगों में रक्त और पित्त का शमन, विरेचन, उपवास तथा बल, दोष आदि को देखते हुए जो विधि उपयुक्त प्रतीत हो उसके अनुसार रक्तमोक्षण करना चाहिए। इन रोगों के प्रकरणों में रक्तमोक्षण आदि उपचारों का विधान पृथक् भी किया ही गया है।

रक्त का क्षय होने पर शिराओं के पूरक रक्त की अल्पता होने से शिरा-शैथिल्य; त्वचा, नेत्रादि की रूक्षता, परुषता, म्लानता और स्फुटन (फटना), एवं अम्ल और शीत द्रव्यों के सेवन की आकांक्षा; अग्निमान्द्य, वातवृद्धि इत्यादि लक्षण होते हैं।

शिरापूर्णता जैसे नवीनों का रक्तदाब का आधिक्य है, जो रक्त की प्रमाण-वृद्धि से होता है, वैसे शिराशैथिल्य नवीनों का न्यून रक्तदाब (हायपोटेन्शन; लो ब्लड प्रेशर) है, जो रक्त की न्यूनता अथवा–और मांस धातु के क्षय से होता है। रक्तधरा-कला का परिचय देते हुए तन्त्रकार ने कहा है कि वह मांस के अन्दर रहती है--द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः--सु० शा० ४।१०।

आगे कहा है कि उसमें, विशेषतया सिराओं (रस-रक्तवाहिनियों), यकृत् तथा प्लीहा में रक्त रहता है। नव्य-मत से भी रक्तधरा-कला (अन्दर का मण्डल) के चारों ओर मांसमय मण्डल होता है। मांस धातु क्षीण हो तो रक्तधरा-सिरा शिथिल रहती है। चिकित्सा में सिराशैथिल्य का कारण-भेद (रक्तक्षय या मांसक्षय) स्मरण रखना चाहिए।

शिराशैथिल्य का कारण चक्रपाणि ने शिरापूरक रक्त की अल्पता बताया है--सिराशैथिल्यं पूरक रक्ताल्पतया। रक्त अग्नि-सोमात्मक होने से उसका क्षय होने पर उसके पूरक अम्ल और शीत द्रव्यों की आकांक्षा होती है। किंवा रक्त का क्षय होने से वात की वृद्धि होती है, जिसके विपरीत अम्ल रस की आकांक्षा होती है। उधर, रक्त द्रव होता है। द्रवत्व का ह्रास होने से उष्णता की वृद्धि होती है, जिसके शमनार्थ शीत द्रव्यों की इच्छा होती है।

मांस धातु कीवृद्धि-क्षय के लक्षण--मांस धातु की वृद्धि होने पर स्फिक् (चूतड़), गण्ड (कपोल, गाल), ओष्ठ, उपस्थ (शिश्न तथा भग), ऊरु तथा बाहु की वृद्धि (विशेष पुष्टि) ; उसके कारण गुरुगात्रता (शरीर के भार में वृद्धि किंवा शरीर भारी प्रतीत होना) ; गण्डमाला, गलगण्ड, अर्बुद, ग्रन्थि ; एवं कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि में मांस वृद्धि (इनमें उत्सेध किंवा गिलायु, गल-शुण्डिका आदि के रूप में वृद्धि)--ये विकार होते हैं।

धातुओं की वृद्धि तथा क्षय के विषय में वाग्भट ने यह निदान बताया है--

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्॥

अ० हृ० सू० १५।३४

अपने स्थान पक्वामाशयमध्य (पच्यमानाशय) में पाचक पित्त नाम से जो जठराग्नि रहती है उसके ही अंश (क्षुद्र रूपान्तर---हेमाद्रि) धातुओं में धात्वग्नि नाम से रहते हैं। ये धात्वग्नियाँ मन्द हों तो धातुओं की वृद्धि होती है। यही अग्नियाँ दीप्त हों तो धातुओं का क्षय होता है। धातुओं के वृद्धि-क्षय का यह एक कारण है, जिसमें उस-उस धातु की अग्नि की मन्दता या दीप्ति मूल होती है। धातुओं के वृद्धि-क्षय का अन्य भी कारण है कि--पूर्व धातु की वृद्धि होगी तो पर (उत्तर) धातु की भी वृद्धि होती है ; इसी प्रकार पूर्व धातु क्षीण होगा तो उत्तर धातु भी क्षीण होता है।

धातुओं के वृद्धि-क्षय का यह द्वितीय कारण सरलता से समझ में आ सकता है। कोई धातु वृद्धि को प्राप्त होगी तो उसके पोषण के लिए उसके आशय में

रसधातु का उतने प्रमाण में आयात आवश्यक नहीं होगा। परिणामतया, रसधातु अधिक प्रमाण में उत्तर धातु को सुलभ हो सकेगा, जिससे उसकी भी सविशेष पुष्टि होगी। इसके विपरीत धातु-विशेष क्षीण होगा तो रसधातु का विपुल प्रमाण उसकी पुष्टि के लिए अपेक्षित होगा। परिणाम में, उत्तर धातुओं के पोषणार्थ रसधातु उचित प्रमाण में सुलभ न हो सकेगा। अतएव, उसका भी क्षय होगा। अतः अनुलोमक्रम से जठराग्नि और धात्वग्नियों की दीप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा जिस धातु का क्षय हुआ है उसके पोषण के लिए समान, समान गुण या समान गुण भूयिष्ठ[1] जो भी द्रव्य अनुरूप हो उसका सम प्रमाण में सेवन कराना चाहिए।

धातुओं के वृद्धि-क्षय के प्रथम नियम में एक अंश यह है कि कोई धात्वग्नि दीप्त (तीक्ष्ण) हो तो उसके धातु का क्षय होता है। यह भी वस्तु सुबोध है। अग्नि बलवान् हो तो आहार रूप में प्राप्त रसधातु का पूर्णतया परिपचन कर धातु का भी पचन कर डालता है, जिससे धातुपाक हो कर वह धातु क्षीण होता है। यह स्थिति तीक्ष्णाग्नि या भस्मक में देखी जाती है। नवीनों के चुल्लिका ग्रन्थि के अन्तःस्राव के प्रकोप (हायपर थायरॉयडिज्म) में किंवा उसके भी उद्दीपक पोषणिका-ग्रन्थि के अन्तःस्राव-विशेष का मूल प्रकोप हो कर चुल्लिका-ग्रन्थि का प्रकोप होने पर देखी जाती है।

धात्वग्नि-विशेष यदि मन्द हो तो उसके धातु की वृद्धि होती है। चिन्तकों का मन्तव्य है कि धातु की यह वृद्धि शुद्ध धातु की नहीं कही जा सकती। जैसे अग्नि उत्तम न हो तो मेद की वृद्धि होती है वैसे ही अन्य धातुओं के अग्नि मन्द होने पर उनकी भी विकृत वृद्धि होती है। जो भी हो--अग्नि के प्रमाण पर आश्रित इस वृद्धि-क्षय का संप्राप्त्यनुरूप उपचार बताते इन पद्यों पर हेमाद्रि कहते हैं-- धातुवृद्धौ मान्द्योपक्रमः, धातुक्षये तैक्ष्ण्योपक्रमः कार्य इत्यर्थः-तात्पर्य, किसी धातु की वृद्धि हो जाए तो उसके धात्वग्नि को प्रदीप्त करने का उपाय करना चाहिए, जिससे वृद्धिगत धातु का पचन हो कर वह समावस्था में आ जाए। उधर, धातु-विशेष क्षीण हो गया हो तो उसके कारणभूत धात्वग्नि की तीक्ष्णता

---

१. जिस धातु का क्षय हुआ हो वही धातु अन्य प्राणी के शरीर में से लिया जाए तो **समान** कहाता है। यथा--मांस की वृद्धि के लिए मांस समान कहा जाता है। द्रव्य समान तो न हो परन्तु उसके गुण क्षीण धातु से मिलते हों तो उसे **समानगुण** कहते हैं। यथा--मांस की वृद्धि के लिए चना, मुद्ग इत्यादि। जिस द्रव्य के सब गुण क्षीण धातु के सदृश न हों, परन्तु अधिकांश (भूयिष्ठ) गुण सदृश हों उसे **समानगुण भूयिष्ठ** कहते हैं। यथा--मांस के लिए दूध।

को मन्द करना चिकित्सक का लक्ष्य होना चाहिए। इससे आवश्यक से अधिक धातुपचन न होगा और धातु पुनः सम हो जाएगा। चिकित्साक्रम तीक्ष्णाग्नि या भस्मक में तन्त्रकार ने जो बताया है वही होना चाहिए (देखिए : च० चि० १५।२१७-२३५)। क्षीण अग्नि को दीप्त करने के उपचार अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ग्रहणी विकार आदि में निर्दिष्ट परिपाटी से करने चाहिए।

धातुओं के वृद्धि-क्षय के ये मूलभूत नियम यहाँ उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि, मांस की वृद्धि से होनेवाले जिन विकारों का यहाँ उल्लेख किया गया है उनकी संप्राप्तिमूलक चिकित्सा का मार्ग आयुर्वेद की दृष्टि से समझ लिया जाए। हेमाद्रि के जिस वचन को ऊपर उद्धृत किया है उस का तात्पर्य है कि, मांस और मेद की वृद्धि के कारण, लक्षण और चिकित्सा श्लेष्मवृद्धि के सदृश ही समझनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि--शरीर के मुख्य घटक मांसधातु के पोषक द्रव्य संतर्पणवश मांसपेशियों की वृद्धि करने के अनन्तर गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद (ट्यूमर), गिलायु (टॉन्सिल) आदि के रूप में अनावश्यक उपचय (वृद्धि) भी करते हैं। अतएव इनका उपचार करने में अपतर्पण, अग्निदीप्ति आदि मुद्दों को लक्ष्य में रखना चाहिए। विशेषतया तिक्त रस का और उससे उतर कर कटु रस का सेवन इनके प्रतिबन्धक और शामक उपचार के रूप में सुतरां आश्रयणीय है। तिक्त रस के अयोग और चा आदि के रूप में मधुर रस के अतियोग से ही वर्तमान युग में कैंसर आदि अर्बुद, धमनीप्रतिचय आदि हृदय तथा रसरक्तवह स्रोतों के क्लेशदायी एवं अकाल-मृत्युजनक रोग, मधुमेह, यक्ष्मा, कृमि, फायलेरिया, ईयोसिनोफीलिआ आदि दिन-दिन बढ़ रहे हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसे समझ कर उचित चर्या और उपचारों का अवलम्बन कर इन रोगों के उच्छेदन का प्रयास करना चाहिए।

मांसधातु का क्षय होने पर विशेषतया स्फिक्, गण्ड (कपोल, गाल), ओष्ठ, उपस्थ (शिश्न और योनि), ऊरु, वक्षस्, कक्षा (बगल), पिण्डिका, उदर और ग्रीवा की शुष्कता ; शरीरावयवों में रौक्ष्य और तोद; अङ्गसाद, इन्द्रियदौर्बल्य; सन्धियों में वेदना (स्फुटन)--एवं धमनी शैथिल्य (शिराशैथिल्य)--ये लक्षण होते हैं।

मांसक्षय से धमनीशैथिल्य का स्वरूप ऊपर रक्तक्षय के लक्षणों के प्रसंग में बताया है। चक्रपाणि ने सुश्रुत की टीका में कहा है--धमनीशैथिल्यं मांसक्षये शुषिराधारतया : तात्पर्य, रक्तधरा कला का आधारभूत मांसधातु क्षीण होने से शुषिर (छिद्रमय, शिथिल संघात--कम डेन्सिटी--वाला) हो जाता है। परिणामतया, तदाश्रित धमनियाँ भी शिथिल हो जाती हैं।

किसी भी धातु का क्षय होता है तो इस क्षय के कारण वायु का प्रकोप होता है। वायु के प्रकोप के दो कारणों में एक धातुक्षय है। इस धातुक्षय का अर्थ

ही यह है कि शरीरावयवों में जो प्राकृत गुरुत्व (पुष्टि), स्निग्धत्व, घनत्व इत्यादि गुण होते हैं वे क्षीण (न्यून) हो जाते हैं तथा उनके विपरीत लघुत्व, रूक्षत्व, शुषिरत्व आदि गुण उनका स्थान ले लेते हैं (देखिए : च० सू० १२।७ में वात के प्रकोपक तथा शामक द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप एवं च० चि० २८।१८)। नव्य मत से अवयवों की क्षीणता में उनके घटक प्रोटीन (गुरु), फैट (स्निग्ध) आदि द्रव्यों का ह्रास होता है। प्राचीनों ने इसी वस्तु का वर्णन गुरु, स्निग्ध इत्यादि गुणों के क्षय के नाम से किया है। किंबहुना, रक्तधरा कला के आधार के रूप में चारों ओर स्थित मांसमय मण्डल का घटक मांस धातु क्षीण होता है तो वायु को स्थान संश्रय के लिए अनुकूल परिस्थिति मिल जाती है। वह कभी सिराओं को फुला देता है, कभी क्षीण कर देता है। दोनों अवस्थाओं में सिराओं में प्राकृत शक्ति (दबाव) नहीं रहता, यह साम्य है।

मांस के वृद्धि-क्षय के विषय में इतना विचार कर अब अगले धातु मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षणों का निरूपण किया जाता है।

मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण—

शरीर की परीक्षा में स्थौल्य-कार्श्य के प्रकरण में मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण सविस्तर आ ही गए हैं। प्रस्तुत प्रकरण में भी आचार्यों ने संक्षेप में ये लक्षण दिए हैं। तथाहि :

मेद की अति वृद्धि होने पर अङ्गों की स्निग्धता ; स्फिक् (चूतड़), स्तन-द्वय, पार्श्व तथा उदर में मेद के संचय की वृद्धि हो कर इन अवयवों का लटक आना (लम्बनम्) ; दौर्गन्ध्य ; एवं अल्प भी चेष्टा करने पर श्रम (थकावट) तथा श्वास (हाँफ चढ़ जाना) एवं कास इत्यादि लक्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त मांसवृद्धि से होनेवाले गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि एवं कण्ठादि में मांसवृद्धि ये लक्षण भी मेदोवृद्धि में होते हैं।

मेदस्विता से जो श्वास होता है वह क्षुद्र श्वास का एक प्रकार है। यहाँ अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासम्—तथा श्रमम् (वाग्भट) कहा है। क्षुद्र श्वास के लक्षण में भी यही कहा गया है। देखिए :

> किंचिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते।
> निषण्णस्यैति शान्ति च स क्षुद्र इति संज्ञितः॥
>
> सु० उ० ५१।७

—पुरुष कोई कर्म करने को उद्यत हो कि श्वास का वेग हो आए, और पुरुष बैठ जाए कि श्वास का वेग भी शान्त हो जाए तो इस श्वास को क्षुद्र श्वास कहते हैं। क्षुद्र श्वास के अन्य कारण यक्ष्मा, उदावर्त (कब्ज), वातिक

कास इत्यादि होते हैं। किंबहुना, रोगों के लक्षण रूप में जहाँ श्वास का निर्देश होता है वहाँ इसी श्वास का निर्देश हुआ समझना चाहिए।

मेदस्विता के प्रकरण में कह आए हैं कि प्रत्यक्षानुसार मेदोवृद्धि में जायमान क्षुद्र श्वास का कारण यह है कि, मेद की अतिवृद्धि होने पर हृदय की श्लेष्मधराकला (पेरीकार्डीअम) पर भी मेद का संचय हो जाता है। चेष्टारम्भ काल में चेष्टायुक्त अवयव में अधिक प्रमाण में रस-विक्षेपण हो इस प्रयोजन से हृदय का प्रसारण अधिक होता है। श्लेष्मधरा कला में स्थित मेद इस कार्य में विक्षेप डालता है। परिणामतया, हृदय का आकुञ्चन भी उचित मात्रा में नहीं हो पाता। आकुञ्चन यथावत् न होने से रस-रक्तगत अधिक निर्मित प्राण वायु (कार्बन डाइ ऑक्साइड) का शोधन पूर्णतया नहीं होता। संचयवश प्रकुपित इस प्राण वायु का श्वसनात्मक प्राकृत कर्म वृद्धि को प्राप्त करता है। इसी को श्वास कहते हैं।

मेद का क्षय होने पर संधिओं में स्फुटन (चेष्टा-काल में कड़कड़ शब्द तथा शून्यता; किंवा अस्थियाँ टूटने की-सी व्यथा), नेत्रों में ग्लानि (आँख मुर्झायी--हतप्रभ--होना); आयास (श्रम); शरीर की कृशता, विशेषतया उदर का तनुत्व (पतलापन); कटि में सुप्ति (स्पर्शनाश); त्वचा की रूक्षता; प्लीहा वृद्धि तथा मेदुर (मेदयुक्त) मांस की आकांक्षा--ये लक्षण होते हैं।

प्लीहा की वृद्धि दो प्रकार की कही गयी है--स्थानभ्रष्ट हो कर प्लीहा की वृद्धि तथा उसके विना। चक्रपाणिदत्त कहता है कि, मेद का क्षय होने पर उदर में वायु की वृद्धि होती है (किसी भी धातु का क्षय होने का परिणाम उस धातु से बने अवयव-विशेष में वायु का स्थान संश्रय हो कर उस अवयव की वृद्धि ही होता है)। वायु की वृद्धि और उदर की शून्यता के कारण--कोई प्रतिबन्ध न रहने से--प्लीहा स्थानभ्रष्ट (वॉण्डरिंग) हो कर वृद्धि प्राप्त करती है। नवीनों ने प्रजाताओं में प्लीहा का स्थानभ्रंश होने का उल्लेख किया है।

अस्थि के वृद्धि-क्षय के लक्षण--अस्थि धातु की अतिवृद्धि होने पर अध्यस्थि (अधिकास्थि) और अधिदन्त (अधिक दन्त) तथा केश और नख की अतिवृद्धि--ये लक्षण होते हैं।

अध्यस्थि और अधिदन्त का अर्थ टीकाकारों ने अधिक अस्थि तथा अधिक दन्त दिया है। इससे दन्त या अस्थि की संख्या अधिक होने का भास होता है। अधिक उत्तम अर्थ अस्थि तथा दन्त की अति पुष्टि है। इसका विवरण अस्थिसारता के लक्षणों में दिया गया है।

अस्थि का क्षय होने पर संधियों की शिथिलता, अस्थियों में तोद (व्यथा, वेदना, शूल) अस्थियों में शूल; दन्त, नख, केश, श्मश्रु और लोम--इनका झड़ जाना; शरीर एवं दन्तों तथा नखों की रूक्षता--ये लक्षण होते हैं।

तोद का अर्थ चुभने की-सी व्यथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। परन्तु अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि ने इसका अर्थ यहाँ केवल व्यथा दिया है। यह अर्थ प्रत्यक्षानुसारी भी है। अतः वही लिया है।

दन्त को अस्थि-भेद अथवा अस्थि का उपधातु कहा गया है। अतः अस्थि के वृद्धि-क्षय का परिणाम उन पर भी होता है। केशादि को अस्थि का मल कहा है। अतः उन पर भी परिणाम होना प्राचीनों ने बताया है।

केशपात (बाल झड़ना) प्रायः देखा जाता है। इसमें अस्थि-क्षय-संबन्धी उपचार कर देखना चाहिए। अस्थि-क्षय का अर्थ नवीनों का 'बोन टी० बी०' इतना ही नहीं लेना चाहिए। अस्थियों के संघात में घनत्व का प्रमाण न्यून होना अस्थिक्षय शब्द से अभिप्रेत है। घनत्व की न्यूनता किंचित् होती है तो इसे 'पोरोसिटी' या 'रेअरीफेक्शन' कहते हैं। अधिक क्षीणता 'नेक्रोसिस' कहाती है। अन्त में अस्थि में कोटर बन जाते हैं। इन्हें 'केविटी' कहते हैं। अस्थि धातु की क्षीणता में वसन्तकुसुमाकर आदि सुवर्ण के योग उत्तम कार्य करते हैं।

मज्जा के वृद्धि-क्षय के लक्षण--मज्जा की (अति) वृद्धि होने पर सर्वाङ्ग में विशेषतया नेत्रों में गौरव एवं अंगुली आदि की संधियों में (पर्वों में) ऐसे व्रणों तथा पिटकाओं की उत्पत्ति जो मूल भाग में स्थूल हों तथा जो कष्टसाध्य हों--ये लक्षण होते हैं।

मज्जा का क्षय होने पर--

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम्॥
च० सू० १७।६८

अस्थ्नां मज्जनि सौ (शौ) षिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्॥
अ० हृ० सू० ११।१९

मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च॥
सु० सू० १५।९

अस्थियों में सौषिर्य (सुषिरता, सरन्ध्रता, घनत्व का ह्रास), (इस सौषिर्य के कारण) अस्थियाँ लघु (हलकी) और दुर्बल हो जाना (अतएव स्वल्पमात्र कारण से उनका भङ्ग; वार-वार अस्थि-भग्न का इतिहास); अस्थियों में तोद-समान व्यथा; पूरक मज्जा तथा अस्थि धातु के क्षय के कारण अस्थियों में शून्यता (रिक्तता; उनमें कोटर--केविटी--बन जाना); वे बिखर रही हों ऐसी प्रतीति; अस्थियों में सतत वातिक वेदनाएँ होना; वेदना के कारण निद्रानाश; पर्वों में (अस्थि संधियों में) भेद-सदृश पीड़ा; शुक्र की

अल्पता ; भ्रम और तिमिर दर्शन (सर्व वस्तुएँ तमोरूप दृष्टिगोचर होना)-- ये लक्षण होते हैं।

यहाँ कहे लक्षणों में वेदनाओं के कारण निद्रानाश शास्त्र में पठित नहीं है। तथापि अस्थि मज्जागत वात के लक्षणों में जो 'अस्वप्नः संतता रुक् च' (च० चि० २८।३३) कहा है, उसके अनुसार यहाँ निद्रानाश की भी गणना कर ली गयी है।

अस्थि-दौर्बल्य, अस्थिभङ्ग, भग्न अस्थि का शीघ्र रोहण न होना--ये लक्षण व्यवसाय में प्रायः दृग्गत होते हैं। इनमें मज्जाक्षय की कारणता की भी कल्पना करनी चाहिए। कारण, पूर्व धातु के क्षय से तो उत्तर धातु का क्षय होता ही है और इसका ऊपर विचार भी किया है, परन्तु कभी परधातु का भी क्षय होने पर पूर्व धातु का क्षय होता है तथा उसकी वृद्धि होने पर पूर्व धातु की वृद्धि होती है। राजयक्ष्मा के चार कारणों में क्षय एक कारण है। इसके दो भेद होते हैं-- अनुलोमक्षय तथा प्रतिलोमक्षय। विषमाशन, चिन्ता आदि कारणों से रस धातु का क्षय हो कर उत्तरोत्तर धातु की जो क्षीणता होती है उसे अनुलोम क्षय कहते हैं। अति विसर्ग (व्यवाय, मैथुन) से शुक्र का क्षय हो कर जो पूर्व-पूर्व धातु का क्षय हो कर सर्वधातुओं की क्षीणता उपस्थित होती है उसे प्रतिलोमक्षय कहते हैं। कोई परधातु क्षीण हो जाए तो रसधातु अधिक मात्रा में उसीके पूरण में लग जाता है। शेष धातुओं के पूरण के लिए उसका अभीष्ट प्रमाण शेष नहीं रह जाता। परिणामतया, उनका क्षय होता है। जैसे एक ही कुल्या (नाली) से सिक्त होनेवाले सात केदारों (क्षेत्रों) में किसी परवर्ती केदार में बड़ा गर्त हो तो जल का बड़ा प्रमाण उस गर्त को भरने में लग जाएगा ; शेष केदारों को उतने प्रमाण में जल-प्राप्ति न होगी। इसी प्रकार क्षीण हुए परधातु का पोषण रसधातु को विशेष करना पड़े तो पूर्व धातुओं का उपचय स्वभावतः हो नहीं पाता--वे क्षीण होते हैं। इस प्रकार क्षीण हुए पर धातु से पूर्वधातु का क्षय होता है। इसके विपरीत वृद्ध हुए पर धातु से पूर्वधातु की वृद्धि होती है। पूर्व तथा परधातुओं के इस परस्पर वृद्धि-क्षय का निदर्शन इस प्रकार केदारी कुल्या न्याय से होता है।

सुश्रुत के पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम् (सु० सू० १५।१८)-- पूर्व-पूर्व धातु अति वृद्धि हो कर पर-परधातु की वृद्धि करता है--इस वचन की टीका में डल्ह्णाचार्य ने स्पष्ट कहा है : पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम्। तेन परोऽपि वृद्धः प्रतिस्रोतःसरिद्बन्धः स्थलाप्लावनन्यायेन पूर्वं वर्धयति। तथा परोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति तथा पूर्वः क्षीणः परं क्षपयति--अर्थात् पूर्वधातु की वृद्धि से परधातु की वृद्धि का वचन उपलक्षणभूत है। इससे अन्य भी सिद्धान्त गृहीत

हैं। तथाहि : परधातु भी वृद्धि को प्राप्त हो कर परधातु की वृद्धि करता है। जैसे, नदी के प्रवाह पर लगाया बन्ध जल की उस स्थल पर वृद्धि करता हुआ पूर्व स्थल पर भी जल के प्रमाण में वृद्धि करता है। एवं, परधातु क्षीण हो कर पूर्व को क्षीण करता है, तथा पूर्व धातु क्षीण हो पर को क्षीण करता है।

मज्जा धातु का क्षय होने से पूर्व धातु अस्थि पर उल्लिखित परिणाम होते हैं, तद्वत् परधातु शुक्र की भी क्षीणता तथा तज्जन्य भ्रम, तम प्रभृति लक्षण होते हैं।

मज्जा का अस्थि के साथ उक्त प्रकार का संबन्ध होने से ही चरकाचार्य ने मज्जा के सेवन को अस्थियों के लिए विशेषतया बलकारक बताया है। चार प्रकार के स्नेहों के गुण-कर्म बताते हुए मज्जा के गुण-कर्म चरक ने ये कहे हैं--

बलशुक्ररसश्लेष्म - मेदोमज्जविवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हितः॥

च० सू० १३।१७

मज्जा रस, मेद, मज्जा, शुक्र, श्लेष्मा और बल की वृद्धि करनेवाली, विशेषतया अस्थियों के लिए बलकारक तथा शरीर का स्नेहन करनेवाली है।

स्मरण रहे, अस्थि के अन्तर्गत स्थित प्रसिद्ध मज्जा को तो प्राचीनों ने मज्जा कहा ही है शिरः कपाल के अन्तर्गत मस्तिष्क (तथा पृष्ठवंश के अन्तर्गत सुषुम्णा रज्जु) भी प्राचीनों के मज्जा धातु ही हैं।

शुक्र के वृद्धि-क्षय के लक्षण--शुक्र की (अति) वृद्धि होने पर पुनः-पुनः स्त्रीसंग की इच्छा, शुक्र की अति प्रवृत्ति, शुक्राश्मरी, शरीर में बल, स्निग्धता आदि लक्षण होते हैं।

शुक्र के क्षय के लक्षण विस्तार से राजयक्ष्मा के प्रतिलोम क्षय से होनेवाले राजयक्ष्मा के निदान में कहे जाएँगे। यहाँ संक्षेप में कहते हैं। शुक्र क्षीण होने पर मैथुन-क्रिया में असमर्थता, किंवा चिरकाल के अनन्तर स्वल्प मात्रा में शुक्र का क्षरण (प्रसेक), किंवा शुक्र के स्थान पर रक्त की प्रवृत्ति, अथवा स-शुक्र रक्त की प्रवृत्ति, किंवा शुक्र के स्थान पर मज्जा-मिश्रित रक्त की प्रवृत्ति; शिश्न और वृषण में वेदना; शिश्न में धूमायन (धुँआ निकलता हो ऐसा भास), वृषण में तोद; क्लैब्य (मैथुन तथा प्रजोत्पादन का असामर्थ्य); दुर्बलता, पाण्डुरोग, अङ्गसाद, श्रम तथा मुखशोष--ये लक्षण होते हैं।

मैथुन में रक्तदर्शन का कारण टीकाकारों ने यह कहा है कि--शुक्र का क्षय हो कर प्रतिलोम क्षय से इतर धातुओं का भी क्षय होने से कुपित एवं हर्षवश उदीरित हुआ वायु शिश्न में रक्त को लाता है। यह रक्त मूत्र प्रसेक से प्रवृत्त होता है। शुक्र का स्थान सर्व शरीर होने के कारण उसके क्षय के सर्व शरीर में

दृश्यमान लक्षण तो होते ही हैं, तथापि वृषण और शिश्न 'उसके विशेष आधार होने से उनमें वेदना विशेष होती है।

धातुओं के क्षय-वृद्धि के लक्षणों के अनन्तर उपधातुओं और मलों के वृद्धि-क्षय के लक्षण देखते हैं।

आर्तव के वृद्धि-क्षय के लक्षण--आर्तव की अति वृद्धि होने पर अङ्गमर्द (शरीर टूटना), आर्तव की अति प्रवृत्ति, आर्तव में दौर्गन्ध्य होना, दौर्बल्य, रक्त गुल्म इत्यादि लक्षण होते हैं।

आर्तव की वृद्धि होने से वायु का अवरोध (आवरण) होता है। आवरण से वायु का कोप होता है और कोप के कारण अङ्गमर्द होता है। दौर्गन्ध्य का कारण यह है कि आर्तव पित्तके समान धर्मवाला होता है। पित्त का जैसे विस्रगन्ध (दुर्गन्ध) होता है और पित्त प्रकोप होने पर शरीर, प्रस्वेद, कक्षा, वस्त्र आदि में दौर्गन्ध्य व्यक्त होता है वैसे आर्तव की अति वृद्धि होने पर भी उसमें दुर्गन्ध होता है।

आर्तव की अतिवृद्धि होने पर अतिप्रवृत्ति यह लक्षण व्यवसाय में निदान और चिकित्सा की शुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त स्मरणीय है। अति प्रवृत्ति पित्त के कोप से प्रायः होती है; उसी की स्मृति सविशेष होना संभव है। परन्तु जैसा कि यहाँ कहा है, आर्तव की अतिप्रवृत्ति उसकी अतिवृद्धि के कारण भी होती है। यह कारण हो तो उसका मूल आर्तव के धातु रसधातु की अतिवृद्धि होता है। रसधातु की भी अतिवृद्धि का कारण संतर्पण और बृंहण होता है। असृग्दर (रक्तप्रदर) की सामान्य रक्तपित्त विरोधिनी चिकित्सा नागकेसर, लोध्र, अशोक, चन्द्रकला रस इत्यादि के रूप में देने पर भी गुण न हो, या रोग का पुनरावर्तन होता रहे तो आर्तव की अतिवृद्धि को भी स्मरण करना चाहिए। कदाचित् ऐसे रोगियों में संतर्पण का इतिहास हो, कदाचित् किसी कारण लङ्घन करना पड़े तो उससे शरीर में लाघव, रक्त प्रवृत्ति की शान्ति इत्यादि लक्षणों के आविर्भाव का इतिहास हो। यह इतिहास उपलब्ध न हो तो उपशयानुपशय परीक्षा का आश्रय ले कर रोगी को लङ्घन या रूक्ष और प्रमित भोजन, जागरण, शारीर श्रम इत्यादि अपतर्पण उपचार पर रख कर देखना चाहिए। यह उपचार आर्तव-प्रवृत्ति के दिनों में हो तो अधिक अच्छी परीक्षा होती है। निदान होने पर चिकित्सा का मार्ग अनायास स्वच्छ हो जाता है[1]।

आर्तव की अतिप्रवृत्ति की कारणभूत रस-वृद्धि के विपरीत रसक्षय होने पर आर्तव क्षय होता है, यह ऊपर रसक्षय के प्रकरण में कह चुके हैं।

१—'अत्यार्तव' संज्ञा इस आर्तववृद्धि के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। सांप्रत वैद्य रक्तप्रदर के लिए इसका व्यवहार करते हैं, वह शास्त्र-संमत नहीं है।

आर्तव का क्षय होने पर यथोचित काल में अदर्शन, अल्प प्रमाण में दर्शन (प्रवृत्ति) किंवा योनि (गर्भ-यन्त्र) में वेदना ये लक्षण होते हैं। यथोचित काल का अर्थ है प्रति मास क्षरण तथा तीन दिन क्षरण। प्रति मास का तात्पर्य प्रत्येक स्त्री के लिए पच्चीस, अठाईस, तीस, बत्तीस इत्यादि जितने भी दिनों का अन्तर प्राकृत होता है उससे है। तीन दिन भी प्रायिक है। जिसका जितना काल प्राकृत हो उसमें न्यूनता होना आर्तव-क्षय के कारण होता है। योनि में वेदना उदावर्ता योनि (प्रसिद्ध संज्ञा--कष्टार्तव)[1] के सदृश क्षीण आर्तव की सम्यक् प्रवृत्ति न होने से होती है।

स्तन्य की वृद्धि-क्षय के लक्षण--स्तन्य की अतिवृद्धि होने पर स्तनों की पीवरता (विशालता), वार-वार (और पुष्कल प्रमाण में) स्तन्य प्रवृत्ति तथा तोद--ये लक्षण होते हैं।

स्तन्य का क्षय होने पर स्तनों की म्लानता (अनुन्नति; उनका पिचक जाना), स्तन्य का प्रादुर्भाव न होना किंवा उसका प्रमाण अल्प होना--ये लक्षण होते हैं। स्तन्य रस धातु का ही उपधातु होने से एवं रस का स्वरूप श्लेष्मा के तुल्य होने से स्तन्य-क्षय में श्लेष्मवर्धक ही द्रव्यों का उपयोग करने का विधान तन्त्रकार ने किया है। जीवन्तीमूल अनुभवसिद्ध उत्तम स्तन्यजनन है।

गर्भ की वृद्धि-क्षय के लक्षण--गर्भ की वृद्धि होने पर जठर (कुक्षि) की (क्रमिक) वृद्धि और स्वेद होता है। गर्भ का क्षय होने पर गर्भ का स्पन्दन न होना तथा कुक्षि (उदर) उन्नत न होना--ये लक्षण होते हैं।

पुरीष की वृद्धि-क्षय के लक्षण--पुरीष की अतिवृद्धि होने पर आध्मान, आटोप, गौरव (दुर्वहत्व, भारीपन) तथा कुक्षि में वेदना (शूल)--ये लक्षण होते हैं।

हेमाद्रि ने टीका में आध्मान का अर्थ वायु से उदर-पूरण दिया है। उदर का अर्थ यहाँ भी पक्वाशय ही लेना चाहिए। आध्मान के लक्षण में भी सुश्रुत ने 'उदर' शब्द का ही प्रयोग किया है। गयदास ने वहाँ उदर का अर्थ पक्वाशय ही लेने का निर्देश किया है--उदरमत्र पक्वाशय एव। कारण, उदर में आध्मान का एक अन्य भेद प्रत्याध्मान आमाशय में होता है, यह अगले ही श्लोक में कहा है--प्रत्याध्मानस्यामाशय समुत्थितत्वात्। डल्हन ने भी उस मत का समर्थन किया है। आध्मान के लक्षण सुश्रुत ने आटोप, अतिउग्र रुजा (वेदना), उदर

१--कष्टार्तव शब्द भी अत्यार्तव शब्द के समान अशास्त्रीय है। यथार्थ संज्ञा 'उदावर्ता योनि' है। उससे संप्राप्ति का बोध भी होता है। उसे ही प्रचार में लाना चाहिए।

का अत्यन्त उत्सेध (फूल जाना) एवं रोगी को अति कष्ट (घबराहट, श्वास-निरोध)--ये लक्षण बताए हैं। तथा उदावर्त (मल ग्रथित होना, विबन्ध) आदि कारणों से वायु का पक्वाशय में संचय होने से उसकी उत्पत्ति बताई है। देखिए :

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति जानीयाद् घोरं वातनिरोधजम्॥

सु० नि० १।८८

प्रत्याध्मान कुपित हुए कफ से वायु के संचरण के मार्ग अवरुद्ध होने से आमाशय में वायु का संचय होने से होता है। तथाहि :

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्॥

सु० नि० १।८९

पद्य का पूर्ण अर्थ वातरोगों के प्रकरण में देखेंगे। यहाँ उपयुक्त होने से दो-एक वस्तुओं का निर्देश करना योग्य प्रतीत होता है। प्रथम वस्तु आमाशय शब्द का अर्थ है। आमाशय शब्द सामान्यतया अंग्रजी में जिसे 'स्टमक' कहते हैं उसके लिए रूढ़ है। परन्तु अनेक स्थानों पर इस शब्द से पच्यमानाशय-सहित प्रसिद्ध आमाशय का ग्रहण होता है। महास्रोत या मुख से गुद पर्यन्त अवकाश के लिए आमपक्वाशय यह संज्ञा आयुर्वेद में प्रथित है। इसका अर्थ यह हुआ कि, महास्रोत को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं--आमाशय तथा पक्वाशय। पक्वाशय शब्द उण्डुक और उससे आगे के स्थूलान्त्र के अवकाश के लिए सिद्ध है। सो शेष भाग आमाशय होना चाहिए। इसमें उक्त दोनों अवयवों का समावेश होता है। सू० २०।८ में चरकाचार्य ने कफ और पित्त दोनों का स्थान आमाशय बताया है। उसकी स्पष्टता करते दीपिकाकार (चक्रपाणिदत्त) ने कहा है कि-- पित्तस्थानेष्वामाशय इति आमाशयाधोभागः, श्लेष्मस्थानेष्वामाशय आमोशयोर्ध्वभागः। चक्रपाणि ने जिसे आमाशयाधोभाग कहा है उसीको डल्हन ने आयुर्वेद-जगत् में प्रसिद्धं पच्यमानाशय नाम दिया है। यों आशयों की गणना में किसी प्राचीन तन्त्रकार ने पच्यमानाशय का उल्लख नहीं किया है। इस आमाशयाधोभाग के ही पित्तधरा कला, ग्रहणी, क्षुद्रान्त्र आदि नाम हैं। आमाशयोर्ध्वभाग से प्रसिद्ध आमाशय का ग्रहण है। कफ-स्थान के रूप में यही वैद्यों में प्रसिद्ध भी है। आम या अपक्व अन्न का आधार होने से यह आमाशय तथा पच्यमानाशय दोनों ही कभी आमाशय शब्द से गृहीत होते हैं।

कोई लेखक कहते हैं कि मुख से आमाशय के ऊर्ध्वद्वार पर्यन्त भाग में भी आमावस्था में कुछ क्षण के लिए अन्नपान रहता ही है। अतः गौण रीति से

उसे भी कभी आमाशय में अन्तर्भूत करना चाहिए। इसके लिए प्रमाणतया वे चक्रपाणि द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर का वचन देते हैं, जिसमें मधुर अवस्थापाक का कारणभूत मधुर रस हृदय से ऊपर स्थित रहनेवाला बताया है। वह वचन यह है--मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीर बलवर्धनः॥ (च० चि० १५।९-११ पर)। सुश्रुत ने आमाशय में श्लेष्मा की उत्पत्ति लगभग इन्हीं शब्दों में बताई है (देखिए : सु० सू० २१। १२-१४)। उस आमाशय की व्याप्ति चक्रपाणि द्वारा उद्धृत उक्त तन्त्रान्तर-वचन को दृष्टि में रख कर मुख पर्यन्त होना संगत-सा प्रतीत होता है।

आमाशय के स्थान-विषयक इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् आध्मान-प्रत्याध्मान का विचार करें। आध्मान पक्वाशय का रोग है तथा प्रत्याध्मान आमाशय का। आध्मान वायु के निरोध से होता है यह कहा है। इसका तात्पर्य संक्षेप में यह है कि उदावर्त (कब्ज) इत्यादि कारणों से वायु का अवरोध हो कर उसके संचय-वश उदर का उत्सेध आध्मान में होता है। संप्राप्ति यह होने से इसकी चिकित्सा का प्रकार भी यह होता है कि इसमें मुख-मार्ग से मलवातानुलोमन औषध दिए जाते हैं या फलवर्ति, बस्ति इत्यादि का उपयोग किया जाता है। यहाँ भी आध्मान को पुरीष वृद्धि से होनेवाला कहा है। अतः उसका स्थान पक्वाशय सिद्ध है। प्रत्याध्मान आमाशय में हुए वायु के संचय और तज्जनित उत्सेध का नाम है। स्थान को ध्यान में रखें तो समझा जा सकता है कि इसमें विकृति अग्निमान्द्य, अजीर्ण आदि के रूप में होने से उसके कारण वायु की अधिक प्रमाण में उत्पत्ति और आमाशय में संचय होता है। परिणामतया, इसमें अग्नि-दीपन, पाचन, लङ्घन इत्यादि उपचार-पद्धति का अवलम्बन करना योग्य होता है।

आटोप में न्यूनाधिक आध्मान-प्रत्याध्मान के साथ अन्त्र-कूजन (पेट में गुड़गुड़ी) भी होता है।

पुरीष का क्षय होने पर वायु शब्द-सहित (अन्त्र-कूजन-सहित) कुक्षि में तिर्यक् (न ऊपर, न नीचे, किन्तु अन्दर ही अन्दर) संचार करता है तथा ऊर्ध्व दिशा में गति करता है--अत्युद्गार, जिसे ऊर्ध्ववात कहते हैं, उस विक्रिया को उत्पन्न करता है; अन्त्रों में ऐसी पीड़ा करता है जैसे उनका वेष्टन (मरोड़, ऐंठन, जैसी प्रवाहिका में होती है) करता हो; ऊर्ध्व गति करता हुआ यह वायु हृदय और पार्श्वों को अत्यधिक पीड़ित करता है (उनके पीड़न के कारण श्वास-कृच्छ्र इत्यादि लक्षणों को उत्पन्न करता है); कुक्षि (पेट) में उन्नति (आध्मान) करता है। इससे पीड़ित पुरुष रूक्ष होता है।

पुरीष का क्षय होने पर उसकी प्राकृत क्रिया का ह्रास होता है। इसके प्राकृत कार्यों में एक--अवष्टम्भः शरीरस्य--शरीर को दृढ़ता या स्थिरता

प्रदान करना है। इसीसे अतिसार में इसका क्षय होने पर पुरुष को विनाम होता है--वह दौर्बल्यवश झुक जाता है। इसके अतिरिक्त पुरीष का एक प्राकृत कर्म वायु का धारण भी होता है। प्रायः कोष्ठवात (गैस) के रोगियों में पुरीषोत्सर्ग के अनन्तर रोग का वेग हो आता है। इससे स्पष्ट है कि स्वमानावस्थित पुरीष वायु को अपने स्थान में स्थित रखता है--उसे प्रसृत होने नहीं देता। सो, पुरीष का क्षय होने पर वायुधारक क्रिया दुर्बल होने से वायु के कारण उल्लिखित विविध विकृतियाँ होती हैं।

पुरीष के कर्मों में एक अग्नि का धारण भी है। अपने अग्नि (पुरीषाग्नि) के द्वारा पुरीष अपने अङ्गभूत स्नेह, क्लेद, गुरु आदि गुणों का (तद्युक्त द्रव्यों का) पचन कर अन्नरस की उत्पत्ति में सहायता करता है। इसी को उसके द्वारा अग्नि का धारण कहा है। नव्यमत से यह क्रिया पुरीषगत जीवाणुओं द्वारा होती कही है। ये जीवाणु पुरीषगत प्रोटीन आदि का पचन करते हैं। कई सूक्ष्म जीवाणु विटामिन 'के' इत्यादि द्रव्यों का निर्माण भी करते हैं। पुरीष का क्षय होने पर उसका यह अग्निधारण कर्म भी क्षीण होता है।

कब्ज नाम से प्रसिद्ध रोग में पुरीषक्षय भी एक कारण होता है। अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि रोगों में भी पुरीष का क्षय होने से उक्त लक्षण प्रकट होते हैं।

मूत्र की वृद्धि-क्षय के लक्षण--मूत्र की अतिवृद्धि होने पर मूत्र वृद्धि (प्रचुर मूत्र प्रवृत्ति), वार-वार मूत्र प्रवृत्ति, बस्ति में तोद आदि व्यथा तथा बस्ति में (बस्ति-प्रदेश में, हायपोगेस्ट्रिक रीजन में) आध्मान (फुलावा) एवं मूत्र प्रवृत्ति करने पर भी अभी मूत्र की प्रवृत्ति होगी ऐसी आशङ्का (कृतेऽप्यकृत संज्ञता--अ० हृ० सू० ११।१३)--ये लक्षण होते हैं।

मूत्र वृद्धि एक प्रसिद्ध रोग का नाम है, जिसमें वृषण-कोष में द्रव-प्रचिति होती है। यहाँ वह रोग अभिप्रेत नहीं है। सुश्रुत की टीका में चक्रपाणि ने स्पष्ट अर्थ दिया है--मूत्रवृद्धिं प्रचुरमूत्रनिर्गमम्।

'कृतेऽप्यकृतसंज्ञता' यह लक्षण वाग्भट ने दिया है और अनुभवगम्य है। टीकाकारों ने इसका अर्थ यह दिया है--कृतेऽपि मूत्रेऽकृतसंज्ञताम् अकृताभासत्वमिव कुर्यात् (अरुणदत्त); कृतमपि मूत्रोत्सर्गमकृतमिव मन्यते (हेमाद्रि)। ठीक ये शब्द कफज अतिसार या प्रवाहिका के लक्षण रूप में भी तन्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं। पक्वाशय में संचित कफ पुरीषधरा कला से मुक्त हुआ हो या कला में आए रस-रक्त का अङ्ग रूप रह कर कला को स्थूल बनाए हो (कंजेश्चन), उभय दशाओं में उससे वही संज्ञा होती है जैसी उत्तर तथा अधर गुद में आए पुरीष के संपर्क से संज्ञा हुआ करती है। नव्यमत का आश्रय लें तो पुरीष के सदृश ही प्रादेशिक

संज्ञावह स्रोतों का पीडन संचित कफ से भी होता है। परिणामतया, उसके प्रवर्तन के लिए मलोत्सर्ग होने पर भी वेग रहता ही है। मूत्रवृद्धि में यही संज्ञा होना इस बात का द्योतक है कि यह भी कफज विकार ही है।

कफज प्रमेहों में एक उदकमेह में भी आरम्भक दोष कफ होता है तथा मूत्र की वृद्धि यह विशिष्ट लक्षण होता है। दोनों में भेदक लक्षण यह है कि प्रमेहों में पूर्वरूप रहते हैं। ये देखे गए हों तो रोगी प्रमेह के किसी भेद से पीड़ित है यह मानना चाहिए, अन्यथा रोगान्तर का विचार करना चाहिए। मूत्र हारिद्र तथा रक्तवर्ण हो तो रोग प्रमेह-विशेष (हारिद्रमेह, रक्तमेह या कालमेह) है या अधोग रक्त-पित्त, इसका परीक्षा-सूत्र बताते हुए चरकाचार्य ने कहा है कि--मूत्र में हारिद्र या रक्तवर्ण की विद्यमानता हो परन्तु प्रमेह के पूर्वरूप विद्यमान न हों तो प्रमेह-विशेष निदान न कर रक्तपित्त का ही विनिश्चय करना चाहिए। तथाहि :

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

च० चि० ६।५४

सुश्रुत ने भी अधोलिखित दो पद्यों में पूर्वरूपों की विद्यमानता से प्रमेह के विनिश्चय का प्रकार निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि : किसी पुरुष में प्रमेह के समस्त पूर्वरूप हों और मूत्र की मात्रा किंचित् ही अधिक हो तो उसे प्रमेही (प्रमेह पीडित) मानना चाहिए। यद्वा, पूर्वरूप कदाचित् संपूर्ण या आधे हों परन्तु मूत्र का प्रमाण अत्यधिक हो तो भी उसे प्रमेही मानना चाहिए। तथाहि :

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते।
किंचिच्चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत्॥
कृत्स्नान्यर्धानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे।
प्रवृत्तमूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत्[1]॥

सु० नि० ६।२२-२३

(१--तस्मिन् मेहो भविष्यति--पाठान्तर)।

प्रमेह उत्तरोत्तरावस्था में दुःसाध्य होता जानेवाला रोग है। अतः पूर्वरूप से ही इसकी चिकित्सा का विशेष विधान किया गया है। उत्तरोत्तर अवस्थाएँ, उनका नाम तथा उनका चिकित्सा-सूत्र संक्षेप में जानने के लिए देखिए : सु० चि० १२।४।

मूत्र वृद्धि का एक लक्षण बस्ति-प्रदेश का उत्सेध (उन्नति, आध्मातता) है। मूत्राघात के मूत्रजठर आदि भेदों में भी बस्ति-प्रदेश मूत्र के संचयवश इसी प्रकार आध्मात होता है। परन्तु उन सब में कारण वेगावरोधवश मूत्र का बस्ति में संचय होता है। मूत्र वृद्धि में मूत्र की वृद्धि करनेवाले आहार, शीत देश या काल इत्यादि निदान की उपलब्धि होती है।

मूत्र का क्षय होने पर बस्ति में तोद, मूत्र के प्रमाण की अल्पता, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र को प्रवृत्त करने में बल--प्रवाहण --की आवश्यकता होना), मूत्र विवर्ण होना--उसमें रक्त मिश्रित हो ऐसा वर्ण होना, अथवा मूत्र रक्त मिश्र ही होना एवं पिपासा तथा मुखशोष--ये लक्षण होते हैं।

मूत्र-क्षय नाम से एक रोग मूत्राघातों के भेद के रूप में भी शास्त्र में वर्णित है। दोनों मूत्र-क्षयों में भेद यह है कि मूत्राघात-विशेष में पुरुष वात के प्रकोपवश क्षीण (रूक्ष) और कान्तिहीन होता है। मूत्र के पोषक द्रव्यों का सेवन करने पर भी वात तथा पित्त--विशेषतया वात--उसके मूत्र को शुष्क अर्थात् गाढ़ बना देते हैं--उसका घनत्व (कॉन्सेन्ट्रेशन) बढ़ा देते हैं। मूत्र घनीभूत होने से मूत्रान्तर्गत पित्त (अम्लता) का अधिक प्रमाण मूत्र-प्रसेक के संपर्क में आता है। इसके कारण दाह यह विशेष लक्षण मूत्राघात के भेद रूप मूत्र-क्षय में होता है। इसमें वात के अन्य लक्षण भी होते हैं। प्रस्तुत मूत्र-क्षय में केवल मूत्र के पोषक (मूत्र जनन) द्रव्यों का अयोग या हीनयोग निदानभूत होता है। अतएव, उपचार में केवल ऐसे द्रव्यों का सेवन पर्याप्त होता है। प्रथम मूत्र-क्षय के उल्लिखित लक्षण जानने के लिए देखिए :

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्यातां मूत्रसंक्षयम्॥
सु० उ० ५८।१७

वाताकृतिर्भवेद्धातान्मूत्रे शुष्यति संक्षयः॥
सु० उ० ५८।१७

जल अब्धातु-प्रधान होने से सर्वोपरि मूत्र-जनन है। उसकी शरीर में क्षीणता (उदकक्षय) होने से मूत्र की इस प्रकरण में कही क्षीणता सविशेष होती है। अतः उदकक्षय का विशिष्ट लक्षण पिपासा और मुखशोष भी इसमें देखे जाते हैं।

स्वेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण--स्वेद की अति वृद्धि होने पर स्वेद की अति प्रवृत्ति, त्वचा में दौर्गन्ध्य और कण्डू--ये लक्षण होते हैं।

स्वेद पित्त का स्थान है। स्वेद जिस पित्त का स्थान है वह भ्राजक पित्त ही है। अतएव स्वेद की अति प्रवृत्ति से पित्त की भी प्रवृत्ति हो कर शरीर की ऊष्मा की मात्रामात्रता के नियमन का कर्म विगुण हो जाता है। शरीर शीत

हो जाता है। ऐसी स्थिति में पित्तवर्धक औषध ही दिए जाते हैं, यह ऊपर कह आए हैं। स्वेद और तद्गत पित्त दोनों प्रकृत्या विस्रगन्धि (दुष्ट गन्धवाले) होते हैं। इसी से स्वेद की अति प्रवृत्ति से त्वचा और वस्त्रों में भी दौर्गन्ध्य होता है। त्वचा या अन्य किसी भी इन्द्रिय पर मलों का लेप होना इन्द्रियोपलेप कहाता है। लिप्त हुए इस मल से त्वग्गत संज्ञावाहक वायु आवृत हो कर कुपित होता है। वह कण्डू के रूप में संज्ञा-विशेष को व्यक्त करता है। कण्डूयन (खुजलाने) के द्वारा मल की शुद्धि हो जाती है। परन्तु पुरुष पित्त-प्रकृति होने से सुकुमार त्वचावाला हो तो उसमें स्वल्पमात्र कण्डूयन से पाक, शोथ, वेदना आदि लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है। कर्णशूल में अनुभवी चिकित्सक इस कारण को सदा लक्ष्य में रखते हैं। यह इन्द्रियोपलेप कफ प्रकोप के कारण भी होता है। दोष-विशेष की मात्रा को देख कर योग्य उपचार किया जाता है।

स्वेद का क्षय होने पर स्वेद की अप्रवृत्ति ; रोमकूपों तथा (उनके कारण) रोमों की स्तब्धता--अवस्था भेद से रोमाञ्च किंवा प्राकृत स्थिति में परिवर्तन होना न; रोमच्युति (रोम झड़ना) ; त्वचा की शुष्कता, त्वचा का स्फुटन (त्वचा फटना) ; वायु की वृद्धि होने से स्पर्श वैगुण्य–स्पर्श संज्ञा की विकृति–– ये लक्षण होते हैं। किसी भी दोषादि का क्षय होने पर वायु की वृद्धि होती है। इस नियम के अनुसार स्वेद का नाश होने से स्पर्श-विकृति होती है।

स्पर्श के वैगुण्य का अर्थ है--स्पर्श संज्ञा न होना या स्पर्शनाश (एनेस्थीशिआ), या अधिक होना--स्वल्प भी स्पर्श दुःसह होना (हायपर ऐस्थीशिआ) या तोद, भेद, स्फुरण, आयाम आदि के रूप में विकृत संज्ञाएँ होना (पैरेस्थीशिआ)। ये सर्व विकृतियाँ वायु के विषम गुण के कारण होती हैं।

अन्य मलों की वृद्धि-क्षय के सामान्य लक्षण--अब तक जिन मलों के वृद्धि- क्षय के लक्षण कहे, उनके अनुसार ही शेष मलों की वृद्धि और क्षीणता के चिह्न भी जाने जा सकते हैं। यथा--दूषिका (अक्षिमल), कर्णमल, नासामल (सिंघाणक), घ्राणमल इत्यादि की वृद्धि हुई हो तो इनके विवरों में इन मलों की अधिक प्रमाण में उपस्थिति तथा प्रवृत्ति (बाहुल्य), इनके विवरों (आशयों) तथा द्वारों पर गुरुता, क्लेद, कण्डू, व्यथा (वेदना) इत्यादि लक्षण होते हैं[1]। इत्यादि शब्द से ऐसे लक्षण भी ग्रहण किए जा सकते हैं, जैसे नासा में अति मल-संचिति हो कर कण्डू हो और अंगुली से कण्डूयन किया जाए तो उससे क्षत हो कर रक्त प्रवृत्ति हो सकती है। इसे रक्तपित्त न मान लेना चाहिए। नासा से रक्त स्रुति की परीक्षा में ऐसे भी कारण होना संभव है।

१––देखिए : अ० हृ० सू० ११।१४ तथा उस पर अरुण–हेमाद्रि।

अपने आशय में वृद्धिगत मल के अपने आशय के भेद से पृथक् नाम भी शास्त्र में अभिहित हैं। यथा--संचित कफ या मल से कर्ण में कुण्डू हो तो कर्ण कण्डू, यही कफ या मल पित्त की उष्णता से सूख जाए तो कर्णगूथ इत्यादि (देखिए : सु० उ० २१।११ इत्यादि)।

अक्षिमल आदि मल क्षीण हों तो इन मलों का प्राकृत प्रमाण अत्यल्प होने से इनका क्षय जानना सुकर नहीं होता। वृद्धि के विपरीत मल का आशय तथा द्वार विशुष्क, शून्य, लघु और तोद युक्त होता है। इन लक्षणों से उसके क्षय का अनुमान करना चाहिए। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठानभूत मुख, चक्षु, कर्ण, रोमकूप तथा प्रजनन के मलों के वृद्धि-क्षय के लक्षण जानने चाहिए।

शरीरान्तर्गत अन्य द्रव्यों के क्षय के लक्षण भी अपनी-अपनी प्राकृत क्रिया के क्षय को देख कर जाने जा सकते हैं। यथा--उदक क्षय के पूर्व कथित लक्षणों से उदक क्षय का निदान किया जा सकता है।

ओज के वृद्धि-क्षय के लक्षण--ओज सर्वशारीर धातुओं का सारभूत है। इसके दो भेद हैं : पर या प्रधान तथा अपर या अप्रधान। दोनों की वृद्धि होने से शरीर और मन की पुष्टि, तुष्टि और बल का उदय होता है। ओज का क्षय होने पर कुछ लक्षण दोनों में समान होते हैं और कुछ भिन्न। ओज शब्द के गौण अर्थ अनेक होने पर भी शास्त्र के वचनों से ही यह समर्थित है कि प्रधान ओज वह है जिसका नव्य प्रत्यक्षानुसार वृषण-ग्रन्थियों से अन्तःस्राव होता है; एवं अप्रधान ओज नवीनों का द्राक्षाशर्करा है, जिसकी सतत उपलब्धि तथा दहन (ऑक्सिडेशन) के विना कोई अवयव अपना प्राकृत कर्म कर नहीं सकता। अपर ओज के क्षय के अनिष्ट परिणामों का आधुनिकों ने भी उत्तम प्रत्यक्ष किया है। इन्सुलीन का अतियोग होने पर द्राक्षाशर्करा का क्षय होने के कारण होने-वाली मूर्च्छा एवं मृत्यु-सदृश परिणामों तथा अन्य कारणों से हुई तत्तत् शारीर-मानस विकृति में ग्लूकोज़ की सूचिबस्ति और उसका त्वरित परिणाम दृष्टि में रखा जाए तो अपर ओज का नव्यमत से अर्थ समझने में सुगमता तो होगी ही, साथ ही इसकी क्षीणता के आयुर्वेदोक्त लक्षण भी असंगत न प्रतीत होंगे।

प्रधान ओज की मात्रा अष्ट बिन्दु तथा अप्रधान की अर्ध अञ्जलि कही गयी है। चरक-सुश्रुत ने ओज की क्षीणता के लक्षण कुछ भिन्न पद्धति से कहे हैं। दोनों का पृथक् उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है। ओज के क्षय के लक्षण चरक ने ये कहे हैं--

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥
च० सू० १७।७३

जिस पुरुष का ओज क्षीण होता है उसका शरीर क्षीण तथा दुर्बल होता है ; मन भी दुर्बल होता है। वह सदैव ध्यान-परायण रहता है--निश्चेष्ट, भाव-रहित, गुप-चुप रहता है। मन के दौर्बल्य के कारण वह भीरु स्वभाव का होता है। अनेक प्रकार के कल्पित भयों से वह पीड़ित रहता है ; औरों से प्रत्यक्ष डर जाता है किंवा उसका मन अन्दर-ही-अन्दर दबा रहता है (जिसे 'इन्फीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स' कहते हैं उसका वह ग्रास होता है)। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी व्यथित रहती हैं--उनमें पीड़ा या कुछ कर्म-विकृति होती है। वह रूक्ष तथा कान्ति हीन होता है।

कल्पित भयों का आधुनिक मानस-शास्त्रियों ने अच्छा अनुशीलन किया है। इन भयों को 'फोबिया' (संत्रास[1]) कहते हैं। इन्फीरिऑरिटी का कुछ विचार इसी ग्रन्थ में पहले कर चुके हैं।

इस पद्य की टीका में चक्रपाणि कहते हैं--क्षय का यह लक्षण अर्धाञ्जलि-परिमित ओज का समझना चाहिए, अष्टबिन्दुक का नहीं। अष्टबिन्दुक ओज का अंशमात्र भी नष्ट हो जाए तो मृत्यु हो जाती है। प्रमेह (मधुमेह) में ओज प्रभूत प्रमाण में नष्ट होने पर भी मृत्यु नहीं होती। अगले पद्य में अष्टबिन्दुक ओज के क्षय का परिणाम बताते तन्त्रकार कहते हैं--जिस ओज का स्थान हृदय है, जो मुख्यतया शुक्ल वर्ण परन्तु किंचित् रक्त-पीतवर्ण होता है--उसका स्वल्प-मात्र नाश (क्षय) होने से भी पुरुष की मृत्यु हो जाती है।--तन्नाशान्ना विनश्यति (च० सू० १७।७४)।

सुश्रुत ने ओज या बल के प्राकृत कर्म, स्वरूपादि का निर्देश कर प्रस्तावना-रूप में उसके क्षय का सामान्य लक्षण चरक के उक्त वचन के सदृश ही यह कहा है कि--तद्भावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्।--सु० सू०१५।२२। (शीर्यन्ते विनश्यन्ति--डल्हन)। आगे क्षय के अतिरिक्त ओज की अन्य भी दो विषमताएँ (दोष) बता कर सुश्रुत ने उनके निदान, लक्षण तथा चिकित्सा बताए हैं। तथाहि :

ओज (बल) के तीन दोष या विकृतियाँ हैं--व्यापत् (त्ति), विस्रंस (विस्रंसन) तथा क्षय। दोषों एवं दोष-दूषित धातुओं तथा मलों के संसर्ग से ओज के गुणों में हीनता (न्यूनता, या अन्यथाभाव) आ जाने को व्यापत् या व्यापत्ति कहते हैं। इसमें शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गुरुता तथा स्तब्धता (जानु, कटि आदि की संधियों में नमन-आकुञ्चन-प्रसारण आदि का सामर्थ्य न रहना),

---

१--जल-संत्रास के लिए 'हायड्रोफोबिया' शब्द अंग्रेजी में है। उससे फोबिया तथा संत्रास को परस्पर पर्याय समझा जा सकता है।

वर्ण-भेद --मूल वर्ण से भिन्न वर्ण का आविर्भाव, ग्लानि (हर्षनाश, म्लानता), तन्द्रा, निद्रा और वातिक शोफ तथा अपने प्राकृत कर्मों की हानि (नष्टता)-- ये लक्षण होते हैं।

अपने मूल स्थान हृदय किंवा धातुवाहक स्रोतों से ओज का च्युत हो जाना-- बाहर निकल जाना--विस्रंस कहाता है। ओज का अपने प्राकृत प्रमाण से हीन (न्यून) होना उसका क्षय कहलाता है। इसमें अन्य दोष आदि के सदृश अपने प्राकृत कर्मों की हीनता यह सामान्य लक्षण होता है। विशेष लक्षण आगे कहेंगे ही।

ओज के विस्रंस तथा क्षय के कारण समान होते हैं। अभिघात (शारीरिक, मानसिक आघात), धातु-विशेष का क्षय, क्रोध, शोक, ध्यान (चिन्ताशीलता), श्रम और क्षुधा (क्षुधा के वेग का अवरोध, भूख लगने पर भी न खाना)--इन कारणों से ओज अपने स्थान हृदय किंवा धातुवह स्रोतों से च्युत होता है। वात द्वारा प्रेरित पित्त ओज को अपने स्थान से च्युत करता है। अभिघातादि कारणों से रसादि धातुओं के सदृश ओज का स्वतन्त्र क्षय होता है किंवा उसकी च्युति अत्यधिक हो जाए तो भी उसके क्षीण होने के लक्षण प्रकट होते हैं।

रस धातु का विक्षेपण हृदय से होता है, सर्व शरीर में भ्रमण कर पुनः वह अपनी यात्रा आरम्भ करने के लिए हृदय में ही आता है, एवं उसकी क्षीणता आदि के परिणाम सर्वप्रथम तथा मुख्यतया हृदय पर ही होते हैं (स्पन्दन, भीरुता आदि) इस लिए तथा अन्य कारणों से भी सर्वशरीरगत भी रस धातु का हृदय से सविशेष संबन्ध होने से हृदय को रस धातु का स्थान कहा है। सर्वधातुओं का सारभूत होने से ओज का भी स्थान इसी शैली से हृदय ही है। यहाँ से इसका च्युत होना विस्रंस कहाता है। इसी प्रकार धातुवह स्रोतों से इसका पृथग्भूत होना भी विस्रंस कहा जाता है। मूल में आए 'धातुग्रहण-निःसृतम्' के धातु ग्रहण शब्द के हृदय तथा धातुवह स्रोत दोनों अर्थ टीकाकारों ने किए हैं।

सिराओं के प्रकरण में कहा गया है कि सिराएँ सर्ववह होते हुए भी वे जिस दोष के स्थान में जाती हैं उसके स्थान को उसकी स्वाभाविक आवश्यकतानुसार उसकी पोषक सामग्री पहुँचाती हैं। अतः गौण रीति से जिस दोष के स्थान पर जो सिरा जाती है उसे उस दोष के नाम पर ही वातवह आदि नाम दिए जाते हैं। (देखिए : सु० शा० ७।६)। इस पद्धति से समझ सकते हैं कि हृदय द्वारा विक्षिप्त रसधातु प्रत्येक धातु की पोषक सामग्री को अपने अन्दर लिए होता है तथापि जिस स्रोत द्वारा जिस धातु की पुष्टि होती है उसके द्वारा उस धातु को अपने पोषण में उपयुक्त सामग्री की उपलब्धि होने से उसे उस धातु के नाम पर ही रक्तवह, मांसवह, अस्थिवह आदि नाम दिए जाते हैं। इन स्रोतों में धातु-पोषक सामग्री के साथ ओज भी संमिलित होता है। उल्लिखित

अभिघातादि कारणों से कुपित हुए पित्त तथा वायु द्वारा ओज इन स्रोतों से बाहर च्युत कर दिया जाता है। इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् अब ओज के विस्रंस और क्षय के लक्षण देखते हैं।

ओज का विस्रंस होने पर संधियों का विश्लेष (संधियाँ मुक्त हो गई हों ऐसी प्रतीति ; अथवा संधि मुक्त होने की प्रवृत्ति ?) ; अवयवों का साद (शैथिल्य) ; वातादि दोषों तथा मलों की अपने आशयों से च्युति (भ्रंश) ; कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं का न्यून वा संपूर्ण संनिरोध (अप्राचुर्य, पूर्णतया हो न पाना, विघात) श्रम तथा ओज के प्राकृत कर्मों की हानि (ह्रास)--ये लक्षण होते हैं। ओज का क्षय होने पर मांसक्षय (धातुक्षय), मोह (वैचित्त्य ; अर्ध मूर्च्छा की दशा) ; अज्ञान (मिथ्या तथा विपरीत ज्ञान ; इल्युझन, हेल्युसिनेशन, डिल्युझन), प्रलाप ; ओज के प्राकृत कर्मों का ह्रास ; व्यापत्ति तथा विस्रंस के सदृश लक्षण और मृत्यु--ये लक्षण होते हैं।

स्रोतों की परीक्षा

दूष्य धातुओं के नाम-ग्रहण से प्रायः स्थूल मांसपेशी, अस्थि आदि की ही स्मृति होती है। परन्तु यकृत्, प्लीहा, सिरा, धमनी इत्यादि शरीरावयव भी विभिन्न धातुओं से ही बने हुए हैं। रचना-शारीर में प्रत्येक अवयव के प्रकरण में विद्यार्थी को बताया जाता है कि किस अवयव की रचना किस धातु के विशेष योग से हुई है। अतः धातुओं के सम तथा विषम (क्षीण-वृद्ध) प्रमाण एवं कर्मों का विचार करते हुए इन अवयवों को भी चित्त में लेना चाहिए। इसी प्रकार दोष-दूष्य संमूर्च्छन से रोगोत्पत्ति होती है इस वचन द्वारा जिस सिद्धान्त की स्थापना की जाती है उसी सिद्धान्त का निर्देश स्थानसंश्रय नाम से भी किया जाता है। स्थानसंश्रय का विचार अगले अध्याय में करेंगे। अवयवों की पृथक् प्रकृति-विकृति का निर्देश नवीनों ने बहुत विस्तार से किया है। प्राचीन तन्त्रों में यत्र-तत्र बिखरे अवयवगत लक्षणों को एकत्र कर आयुर्वेदीय दृष्टि से अवयव-परीक्षा के शास्त्र का भी ऐसा ही संकलन किया जा सकता है। परन्तु, हृदय, यकृत्, प्लीहा आदि के विषय में प्राचीनों ने जो कुछ कहा है उसमें उन्होंने दोषों को लक्ष्य में रख कर लक्षणों का निरूपण किया है ; अर्वाचीन-मत से अभिभूत हो कर उसे भुला न देना चाहिए। अन्यथा, हम अवयव-परीक्षा की आयुर्वेदीय दृष्टि से विमुख हो कर स्वयं आयुर्वेद के मूल को ही विस्मृत कर रहे होंगे।

अन्य दृष्टि से देखें तो दोष-दूष्य घटित सर्वशरीर प्रधानतः स्रोतों से ही घटित है। एकीय मत से तो यह स्रोतोमय ही है--केवल स्रोतों से बना हुआ है।

इस कारण रोग-परीक्षा के इस प्रकरण में दूष्यों का विचार करने के अनन्तर स्रोतों के दुष्ट होने की परीक्षा का निर्देश करना उचित है।

यह ग्रन्थ कायचिकित्सा का होने से इसमें स्रोतों का विचार इस शास्त्र की दृष्टि से ही किया जाएगा। जैसा कि चक्रपाणि ने लिखा है कायचिकित्सकों ने धमनी, सिरा तथा स्रोत सब के लिए सब संज्ञाओं का व्यवहार किया है। शल्य-तान्त्रिकों के समान इनमें भेद नहीं माना है--न च चरके सुश्रुत इव धमनी-सिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः (च० वि० ५।३ पर)।

मूल ग्रन्थों में स्रोतों के विषय में शल्य चिकित्सकों तथा कायचिकित्सकों का यह दृष्टि-भेद स्पष्ट निर्दिष्ट है। स्रोत का लक्षण बताते हुए सुश्रुत ने जो श्लोक दिया है वह इस भेद का निदर्शक तो है ही उससे स्रोतों के मूल के संबन्ध में काय-चिकित्सकों की दृष्टि पर भी प्रकाश पड़ता है। जैसा कि आगे देखेंगे स्रोतों का मूल कायचिकित्सकों के मत से समझ लेने से रोगों की संप्राप्ति के विषय में उनकी दृष्टि भी विशद होगी। सुश्रुत ने स्रोत का यह लक्षण दिया है।--

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ सु० शा० ९।१३

मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात्। प्रसृतम् अभिवहनशीलं यदन्तरम् अवकाशः, तत् स्रोतो विज्ञेयम्॥ डह्लन

अर्थात्--शरीरान्तर्गत अवकाशमय अवयव जो किसी दोष, धातु आदि का वहन करता है--उसे एक स्थान से अन्य स्थान पर पहुँचाता है, एवं हृदय आदि जिस छिद्रमय (अवकाशमय) अवयव को उसका मूल बताया गया है वहाँ से शरीर में प्रसृत हुआ हो उसे स्रोत कहते हैं। धमनी और सिरा पर भी यह लक्षण घटित होता है, परन्तु उन्हें स्रोत नहीं समझना चाहिए। सिरा और धमनी से भिन्न उक्त लक्षणान्वित अवकाशों के लिए ही (शल्य-शालाक्य तन्त्र में) स्रोत संज्ञा का व्यवहार होता है। इसी अध्याय (सु० शा० ९) के आरम्भ में एक चर्चा के रूप में सिरा, धमनी और स्रोत की भिन्नता भी सुश्रुत ने समझाई है।

पद्योक्त 'मूलात् प्रसृतम्' शब्द से ध्वनित है कि मूल और स्रोत दोनों एक-दूसरे से लगे हुए होने चाहिए--दूर-दूर स्थित नहीं। अतएव मूल का वेध होने का साक्षात् परिणाम स्रोत पर होता है। परन्तु कायचिकित्सा में किसी स्रोत का जो मूल बताया गया है वह तथा स्रोत परस्पर संलग्न ही हों यह निश्चित नहीं। प्रत्युत, शरीरान्तर्गत जो अवयव रोगरहित होने से कोई स्रोत स्वस्थ रहे तथा जिस ही अवयव के रुग्ण होने से जो स्रोत रुग्ण होता है उस अवयव को उस स्रोत का मूल कायचिकित्सा में माना जाता है। जैसे शरीर का मूल दोष, धातु (-उपधातु)

तथा मल हैं, इस सिद्धान्त को विशद करते हुए टीकाकारों ने मूल का अर्थ समवायि कारण भी बताया है तथा इनके विकृताविकृत रहने से ही शरीर विकृताविकृत रहता है इस कारण भी दोषादि को शरीर का मूल कहा गया है[1] वैसे दूरस्थ भी किसी अवयव की विकृति-अविकृति का प्रभाव किसी स्रोत पर पड़ता हो तो उस अवयव को उस स्रोत का मूल कायचिकित्सा में माना गया है। यह सिद्धान्त दृष्टि में रहे तो उपचार मूलगामी होने से अपुनर्भव (पुनरुत्पत्तिरहित) होना संभव है। किंवा, रोग असाध्य ही हो तो चिकित्सा मूलगामी होने से वह उतना क्लेश-दायी नहीं होता तथा उसमें मृत्यु भी उतनी शीघ्र नहीं होती। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करता हूँ।

सुश्रुताचार्य ने प्राणवह स्रोतों का मूल हृदय तथा रसवाही धमनियाँ बताया है। देखिए: प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः--सु० शा० ९।१२। हृदय से प्राणवह स्रोतों (फुप्फुसों) तक रस को ले जानेवाली धमनियों का प्राणवह स्रोतों के साथ तथा धमनियों का हृदय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है। कायचिकित्सकों ने प्राणवह स्रोतों का मूल कुछ विशिष्ट बताया है। चरक कहता है: प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मलं महास्रोतश्च--च० वि० ५।८ महास्रोत का प्राणवह स्रोतों के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर श्वसन क्रिया सम्बन्धी विकृतियाँ होती हैं उनमें महास्रोत भी कभी-कभी कारणभूत होता है। जैसे हृदय का रोग (हृद्रोग) या विद्रधि होने पर कास, श्वास आदि प्राणवह स्रोतों की विकृतियाँ होती हैं वैसे महास्रोतों की दुष्टि से भी ये रोग होते हैं। यथा, श्वास तथा हिक्का के लिए कहा है कि ये पित्त स्थान से उत्पन्न होनेवाले एवं कफवातप्रधान रोग हैं--कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थान-समुद्भवौ--च० चि० १७।८। पित्तस्थान का अर्थ दीपिकाकार ने आमाशय दिया है और आमाशय का अर्थ आमपच्यमानाशय है। इन आशयों की कफवातात्मक विकृति के परिणामस्वरूप श्वासकासादि प्राणवह स्रोतों के विकार होते हैं यह चरक-वचन का तात्पर्य है। अतएव वमन-विरेचनादि द्वारा महास्रोत के अङ्गभूत इन आशयों की शुद्धि हो जाए तो श्वास-कासादि रोगों पर प्रत्यक्ष सुपरिणाम भी होता है। इसीसे रचना की दृष्टि से संसर्ग न होने पर भी कायचिकित्सकों ने हृदय के साथ महास्रोत को भी प्राणवह स्रोतों का मूल कहा है। इस उदाहरण से स्रोतों का मूल बताने में कायचिकित्सकों तथा शल्य-चिकित्सकों के मध्य रहा दृष्टि का अन्तर समझा जा सकता है। इसीसे इस बात का समाधान भी स्वयं हो जाता है कि एक ही स्रोत का मूल चरक और सुश्रुत ने भिन्न-भिन्न क्यों बताया है?

१--देखिए : आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १७।

इतने प्रासंगिक विवेचन के पश्चात् अब मूल विषय पर आएँ। शल्यविदों के सदृश कायचिकित्सकों ने सिरा, धमनी और स्रोतों का भेद माना नहीं है। अतएव इन तथा अन्य संज्ञाओं का व्यवहार एक-दूसरे के लिए उन्होंने किया भी है। अभिवहनशील अवकाश-मात्र के लिए स्रोत आदि शब्दों का व्यवहार करने में--इनकी भिन्नता पर लक्ष्य न देने में--उनका कोई विशेष प्रयोजन न रहा होगा। दोष, धातु आदि द्वारा मार्गों की दुष्टि होने से, उनका अवरोध होकर रोग होता है यही प्रतिपादन करना उनका लक्ष्य था। मार्ग कोई भी हो, दुष्टि उसके वाह्य द्रव्य के अवरोध के अनुसार होती है। हम केवल कायचिकित्सकों की दृष्टि का निरूपण कर रहे हैं। विद्वज्जनों का अब यह मत हुआ है कि वर्तमान काल में युगानुरूप सिरा, धमनी, स्रोत, आशय इत्यादि का अर्थ निश्चित कर उसी अर्थ में इनका प्रयोग रूढ़ कर देना चाहिए। तथापि, प्राचीन किस वचन में किस संज्ञा का किस अर्थ में व्यवहार हुआ है यह भी व्याख्याकारों को बताते जाना चाहिए। अस्तु।

अवकाश-युक्त वहनशील मार्गों का पर्यायों द्वारा अभिधान करते चरकाचार्य कहते हैं--स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृता संवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति--च० वि० ५।९।--शरीर में धातुओं का वहन करने के लिए स्थित दृश्य या अदृश्य अवकाशों के स्रोत आदि नाम हैं। लक्ष्य मार्ग कर्ण, नासिका आदि हैं तथा अलक्ष्य रक्तवह आदि हैं। इनमें अपने-अपने वाह्य द्रव्य के वहन के लिए आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार हुआ करते हैं, इस कारण वे संकुचित और विस्तृत होते रहते हैं अतः इन्हें संवृता-संवृत नाम दिया है। हृदय, आमाशय, सिरा आदि स्रोत अपने-अपने कपाट (वाल्व) आदि के कारण लयवद्ध बन्द होते तथा खुलते हैं इस निमित्त से भी इन्हें संवृतासंवृत कहते हैं। चक्रपाणि ने 'अग्रे संवृतानि मूलेऽसंवृतानि' यह व्याख्या 'संवृतासंवृतानि' की दी है। वह हृदय से निकलनेवाली धमनियों पर ही सविशेष घटित होती है। इनके इस स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही लघु वाग्भट ने कहा है--स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्। भिद्यन्ते ताः (अ० हृ० शा० ३।१९)। ये मूल में नाम हृदय एवं मूल धमनी से निर्गमन के स्थान में स्थूल (असंवृत) तथा आगे सूक्ष्म (संकुचित, संवृत) होती हैं, यह चक्रपाणि का अभिप्राय है। हृदयाभिमुख सिराओं में उनका मूल विपरीत होने से क्रम भी विपरीत होता है--मूल संवृत तथा अग्र असंवृत। मेरी दी व्याख्या मार्गमात्र पर घटित होती है तथा प्रत्यक्षानुसारी है। वातवाही सिराओं में जो 'पूर्णरिक्ताः क्षणात्। (अ० हृ० शा० ३।३६)--

क्षणात् पूर्णाः क्षणाद् रिक्ताः (अरुण) यह विशेष बताया है वह मदुक्त प्रकार से संवरणासंवरण के कारण ही होता है। अतएव आगे कहा है कि वे 'प्रस्पन्दिन्यः' होती है। अरुण कहता है स्पन्दन तो सब में होता है पर वातवाहिनी सिराओं में सविशेष होता है, यह बात 'प्र' इस विशेषण से जतलाई है।

सु० शा० ६।३ में सिरा-धमनी आदि में सादृश्य होने के कारण उनमें भेद नहीं है यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया है। इसकी व्याख्या में डल्लन ने तन्त्रान्तर का निम्न वचन उद्धृत किया है, उससे विभिन्न संज्ञाओं का परस्पर पर्याय रूप में व्यवहार होने का समर्थन होता है :

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः॥

कायचिकित्सकों के मत से वहनशील अवकाश मात्र का स्रोत आदि नाम होने से स्रोत का लक्षण चरक ने व्यापक ही दिया है। देखिए: स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन--च० वि० ५।३। इस वचन को समझने के पूर्व जान लेना चाहिए कि धातु शब्द यहाँ रस-रक्तादि सात इस विशेष अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु शरीरान्तर्गत जो भी भाव (पदार्थ) शरीर का धारण--उपकार-करने वाले हों उनका यहाँ धातु शब्द से निर्देश हुआ है। आगे स्रोतों की दुष्टि के प्रकरण में उदाहरण रूप से कतिपय स्रोतों का उल्लेख आचार्य ने किया है। उसमें प्राण, उदक, अन्न, पुरीष, मूत्र इत्यादि के निर्देश से यह बात विदित होगी। उक्त वचन की टीका में चक्रपाणि ने वाह्य द्रव्यों में दोषों तथा मन की भी चर्चा की है। उससे इस प्रकरण में धातु शब्द के अर्थ की व्यापकता का बोध होगा। इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् अब मूल वचन का अर्थ देखें--

अन्न का अन्नरस के रूप में तथा अन्नरस का रसादि धातुओं के रूप में परिणमन होते हुए इन पदार्थों का वहन (अयन) जिन मार्गों से होता है उन्हें स्रोत कहा जाता है। आयुर्वेदीय क्रिया शारीर का सिद्धान्त है कि इन द्रव्यों की पुष्टि (उत्पत्ति) होते हुए अन्न के तीन विभाग होते हैं--स्थूल, मध्य तथा सूक्ष्म। जो मध्य भाग होता है, उससे मांसादि धातुओं-उपधातुओं की, अन्य शब्दों में इनसे बने शरीर की पुष्टि होती है। अन्न के सूक्ष्म भाग से मन तथा सूक्ष्म इन्द्रियों की (इन के आरम्भक द्रव्यों की) पुष्टि होती है--स्थूल भाग से पुरीष तथा अन्य मलों की पुष्टि होती है। इस विषय का अधिक स्पष्ट निर्देश छान्दोग्योपनिषत् के निम्न वचन में है : अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः--छान्दोग्य०

५।१।--इस वचन में आए मांस शब्द से सभी धातुओं-उपधातुओं तथा उनसे बने अवयवों का ग्रहण करना चाहिए; एवं पुरीष शब्द से सभी मलों का तथा मन शब्द से सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का किंवा उनके आरम्भक द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद के ग्रन्थों में अन्न के तीन तो नहीं परन्तु दो ही विभाग बताए गए हैं--प्रसाद और किट्ट। इन्द्रियों की पुष्टि प्रसाद भाग से ही होती कही गयी है। तथाहि, विविधाशित पीतीय अध्याय में धातु पोषण की क्रिया समझाते चरकाचार्य ने कहा है--

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि[1] धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः॥

च० सू० २८।४

तात्पर्य--पक्व हुए आहार का पचन होकर विभजन होते हुए दो द्रव्य बन जाते हैं--आहार का प्रसाद या सारभूत रस तथा किट्ट या मल (निः सार अंश)। किट्टांश से पुरीष, मूत्र, स्वेद, वात, पित्त, कफ; कर्ण, नेत्र, नासा, लोमकूप तथा उपस्थेन्द्रिय के मल एवं केश, श्मश्रु, लोभ, नख[2] इनकी एवं आहार के प्रसाद भाग से रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज, इन्द्रियों के पोषक महाभूतरूप द्रव्य जो अत्यधिक सारभूत होते हैं; शरीर की सन्धियों का बन्धन करनेवाले स्नायु, सिरा आदि, पिच्छारूप अवयव तथा आर्तव, स्तन्य इत्यादि की पुष्टि हुआ करती है।

किं बहुना, अन्न अथवा अन्नरस का अपने-अपने अग्नियों द्वारा परिणमन (परिवर्तन) होकर क्रम-विशेष से तत्-तत् धातु-उपधातु, मल आदि की पुष्टि या उत्पत्ति होती है। परिणाम को प्राप्त होते हुए इन द्रव्यों का वहन जिन अवकाशमय मार्गों से होता है उन्हें स्रोत कहते हैं। उपनिषद् के मत से आहार की परिणति

१--पञ्चेन्द्रियद्रव्याणीति पृथिव्यादीनि घ्राणादीन्द्रियकारणानि। धातुप्रसादसंज्ञकानीति अत्यर्थशुद्धेनैव धातुप्रसादेनेन्द्रियाण्यारभ्यन्त इति दर्शयति। शरीरं बध्नातीति शरीरबन्धः स्नायु सिरादि॥ --चक्रपाणि

२--नख शब्द से पशुओं के शृङ्ग, कच्छपादि प्राणियों की पृष्ठ आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। ये भी अस्थि के मल होने से अस्थि सम हैं। अतएव, अस्थि की क्षीणता में इनका उपयोग किया जाता है।

से उत्पन्न स्थूलतम, मध्य और सूक्ष्म त्रिविध तथा आयुर्वेद की संज्ञा में प्रसाद और मल दो प्रकार के द्रव्यों का वहन (अयन) स्रोतों द्वारा होता है।--तेषां तु मल-प्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि। तानि यथा विभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति--च० सू० २८।५। 'यथास्व' का अर्थ है जिस धातु आदि का जो पोषक द्रव्य है वह। 'विभाग' शब्द का यहां प्रमाण अर्थ है। सो प्रत्येक स्रोत, जिस धातु आदि की जो पोषक सामग्री होती है, उसे योग्य प्रमाण में पहुँचाता है। इस प्रकार--स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः--च० चि० ८।३९--(रस) धातु से अपने-अपने स्रोत द्वारा इतर धातु (आदि) की पुष्टि होती है। यही स्रोत अहिताहार-विहारादि कारणों से कुपित हुए किसी दोष द्वारा अवरुद्ध हो जाएँ तो पोषक सामग्री का अयन समीचीनतया न होने से धातु आदि का पोषण यथावत् न होने से उनका क्षय होता है।--सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति--च० वि० ५।३--स्रोतों के बिना धातु आदि की पुष्टि या क्षय नहीं हो सकता।

स्रोतों का अवरोध होने से धातुओं या तज्जनित अवयवों की क्षीणता ही केवल नहीं होती; शरीर में रोगों के प्रादुर्भाव का कारण भी यह स्रोतोरोध ही है। विषमाशन जन्य राजयक्ष्मा की संप्राप्ति बताते हुए चरकाचार्य ने जो बात राज-यक्ष्मा के लिए कही है वह सामान्य रूप से रोगमात्र पर घटित होती है। आचार्य कहते हैं--

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः॥

च० चि० ८।२८

पुरुष स्वस्थवृत्तोक्त नियमों का उल्लङ्घन कर (वैषम्येण) अन्नपान का सेवन करता है तो इस विषमाशन के कारण वातादि दोष कुपित होकर विविध घोर रोगों को उत्पन्न करते हैं।

विषम हुए दोष किस प्रकार राजयक्ष्मा के पूर्वरूप, रूप, उपद्रव या अरिष्ट-लक्षण रूप विविध घोर रोगों को उत्पन्न करते हैं इस बात को विशद करते आचार्य आगे कहते हैं--

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्यात् विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः॥

च० चि० ८।२९

विषमाशनवश कुपित हुए वातादि दोष अपने-अपने संचरण के प्राकृत मार्ग का परित्याग कर विमार्ग से गमन करते हैं--संचरण करते हुए अन्त को प्रकृति-

निर्दिष्ट जिस मार्ग से बाहर निकल जाना चाहिए उस मार्ग से यथावत् न निकलते हुए इतर मार्गों (स्रोतों) में प्रविष्ट हो उन्हें अवरुद्ध करते हैं। स्रोतों के अवरोध-वश वे विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा धातुओं की पुष्टि में भी बाधा उपस्थित करते हैं। हृदयकार ने निदान-स्थान के आरम्भ में ही दुष्ट हुए स्रोतों द्वारा ही रोग मात्र की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त निम्न पदों के रूप में और भी स्पष्ट रूप से कह दिया है--

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते॥
अ० हृ० नि० १।२३

पद्य का अर्थ इसी अध्याय में पहले दे आए हैं। अन्यत्र भी हृदयकार ने इतने ही स्पष्ट पदों में शरीर के आरोग्य-अनारोग्य में स्रोतों का महत्त्व दर्शाया है।

× × × अहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च॥
अ० हृ० शा० ३।४२

इस प्रकार अहिताहार-विहार, देश, कालादि के सेवन से दोषों का वैषम्य, उससे स्रोतो दुष्टि, उससे दोषों और मलों का शरीर में अवरोध, परिणामतया सुतरां प्रकोप तथा उससे रोगों की उत्पत्ति यह रोगमात्र की उत्पत्ति का आयुर्वेद-मत से क्रम है। पूर्व लिखित वचन में स्रोतों के पर्याय देकर चरकाचार्य ने यही कहा है--तेषां (स्रोतसां) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीर-धातवः प्रकोपमापद्यन्ते--च० वि० ५।६। स्रोतों के प्रकोप से--स्रोतों की दुष्टि से--अपने आशय में स्थित, किंवा मार्गस्थ (बहते हुए) धातु अर्थात् शरीरा-न्तर्गत वहनशील द्रव्य प्रकोप को प्राप्त होते हैं--दुष्ट होते हैं।

वृद्ध या क्षीण हुए धातु अपने निकटवर्ती (प्रत्यासन्न, पूर्व या पर), धातु को वृद्ध या क्षीण करते हैं, इस विषय की चर्चा पहले कर आए हैं। धातुओं के सदृश ही दुष्ट हुए स्रोत भी अपने प्रत्यासन्न स्रोत को दूषित कर स्रोत के भेद से विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं। उक्त वचन की टीका में चक्रपाणि यही कहते हैं--

स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः॥

दूषित हुए स्रोत प्रत्यासन्न स्रोत में दोष का संक्रमण कर रोग की उत्पत्ति करते हैं, इस विषय को सुप्रत्यक्ष एक उदाहरण से समझ लें। प्रतिश्यायजनक दोष का स्थानसंश्रय नासाविवर में होकर प्रतिश्याय हुआ हो पुरःकपाल के वाताशयों

में दोष का संक्रमण होकर ऊर्ध या संपूर्ण ललाट में वेदना, हन्वस्थि के वाताशयों में दोष की संक्रान्ति से नासा के एक या दोनों ओर वेदना ; श्रोत्र पथ (यूस्टेकिअन ट्यूब) में दोष की संक्रान्ति से कर्ण वेदना, बाधिर्य या कर्णनाद ; गल और कण्ठ में दोष की गति हो तो कास, स्वरभेद आदि विक्रियाएँ होती हैं। दोष प्राणवह स्रोतों में संक्रान्त होने से यक्ष्मा एवं यक्ष्मा का आरम्भक दोष महास्रोत में गति करे तो अतिसार होता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों की कल्पना की जा सकती है।[1]

दुष्टि प्रथम या पश्चात् स्रोत की हो या धातु की, दुष्टि का मूल कारण तो दोष ही होते हैं। कारण, दुष्टि-कर्तृत्व-रूप स्वभाव दोषों का ही है। अतएव तो उन्हें 'दोष' यह मुख्य संज्ञा दी गयी है।--

तेषां सर्वेषामेव (स्रोतसां धातूनां च) वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति। च० वि० ५।६

'स्रोत' शब्द की व्युत्पत्ति--चरक ने धमनी, स्रोत और सिरा संज्ञाओं की व्युत्पत्ति दी है। आयुर्वेद के स्वाध्याय-प्रवचन में वह प्रसिद्ध है। प्रायः इस व्युत्पत्ति से धमनी, सिरा और स्रोत का क्रिया-भेद दर्शाकर तीनों में पार्थक्य समझाया जाता है। परन्तु, जिस चरक-संहिता का यह वचन है उसके प्रवक्ता ने तो इन तीन तथा अन्य अनेक संज्ञाओं का अवकाशमय अवयवमात्र के लिए समान रूप से उपयोग किया है। एतद्विषयक वचन भी हम ऊपर उद्धृत कर आए हैं। इससे स्पष्ट है कि, धमनी आदि संज्ञाओं की व्युत्पत्ति दर्शाने वाले वचन को भी उनका पार्थक्य दर्शानेवाला नहीं समझना चाहिए। किन्तु, अवकाशमय वहनशील प्रत्येक अवयव धमनी है, प्रत्येक अवयव सिरा है, प्रत्येक अवयव स्रोत है। इन अवयवों में क्या विशिष्टता है जिससे इन्हें धमनी आदि नाम दिए गए हैं, यह दर्शाने के लिए उनकी व्युत्पत्ति चरकाचार्य ने दी है: ध्मानाद् धमन्यः, स्रवणात्

१--चक्रपाणि ने टीका में जो स्रोतों और धातुओं दोनों से प्रत्यासन्न (निकटवर्ती) स्रोतों और धातुओं दोनों की दुष्टि का निर्देश किया है वह चरक-संहिता के मूल वचन में वैसा स्पष्ट नहीं है। वहाँ यह वचन है--स्रोतांसि स्रोतांस्येव धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः--इसका अर्थ है: स्रोत स्रोतों को ही दूषित करते हैं तथा धातुएँ धातुओं को ही दूषित करती हैं। संग्रहकार के निम्न वचन में चक्रपाणि-निर्दिष्ट मत ही प्रतिपादित हुआ है: ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्थानस्थान् मार्गस्थांश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेऽपि (धातवः) तान् (धातून्) स्रोतांसि च। स्रोतांसि धातवश्च धातून्: अ० सं० शा० ६। प्रतीत होता है, चरक-वचन में कुछ लिपि-दोष हो गया है। विज्ञ वाचक विचार करें।

स्रोतांसि, सरणात् सिराः--च० सू० ३०।१२। अवकाशमय आकाश धातु-प्रधान वहनशील शारीर अवयवों को धमनी इसलिए कहते हैं कि वे अपने-अपने वाह्य रस धातु आदि का ध्मान करती हैं--अपने अवकाश नाम अन्तर्गत विवर को उनसे पूर्ण करती हैं। इन्हें स्रोत इसलिए कहा जाता है कि ये रसादि पोष्य धातुओं का स्रवण करते हैं। इन अवयवों का नाम सिरा इस लिए है कि इनके द्वारा वाह्य द्रव्य का सरण नाम देशान्तरगमन होता है।

टीकाकार ने 'पोष्यस्य रसादेः स्रवणात्' यह व्याख्या की है, जो दुर्बोध है। 'पोषक' शब्द कदाचित् ठीक होता। पित्त और कफ अपने-अपने मार्गों से स्रुत ही होते हैं--यथा पित्त अपने स्रोत (ग्रन्थि-सहित मार्ग) से स्रुत हुआ करता है, श्लेषकादि कफ अपने मार्ग से स्रुत हो आशय में संचित होते हैं। वायु का स्रवण कुछ भिन्न स्वरूप का होता है। वह पक्वाशय में उत्पन्न होकर महास्रोत से अन्य स्रोतों में गृहीत होता है। यह उसका स्रवण है। रस अपने स्रोतों से स्रुत होता है। उससे शरीर-परमाणु अपने जीवन धारण, तर्पण, यापन के लिए उपयुक्त सामग्री प्राप्त करते हैं। उसके मार्ग में कभी अवरोध उपस्थित हो तो स्रवण अधिक होता है; जलोदर में अन्त्रों की श्लेष्मधरा (उदरधरा) कला में; जलपार्श्व या कफज हृद्रोग में फुप्फुस तथा हृदय की श्लेष्मधरा कलाओं में रस का स्रवण होकर संचय की उपलब्धि होती है।

स्रोत का व्यापक अर्थ : शरीर परमाणु या कोष--स्रोत शब्द की उक्त व्युत्पत्ति अवकाशमय अवयवमात्र की हो या धमनी तथा सिरा से भिन्न वहनशील अवयवों के लिए आए स्रोत शब्द की यह व्युत्पत्ति हो, स्रोतोविमान (च० वि० ५) अध्याय में स्रोतों का जो परिचय दिया है उससे विदित होगा कि इनका प्रमुख कर्म वहन करना तथा वाह्य द्रव्य को यथास्थान पहुँचा कर पोषणादि कर्म करना है। स्रवण शब्द का यही अर्थ लेना योग्य होगा। वहनात्मक यह व्यापार प्राचीनों ने जिन्हें शरीरपरमाणु कहा है उन 'सेल'-संज्ञक शरीर के चरमावयवों पर भी घटित होता है। इनमें रस धातु का स्रवण किंवा स्थानानन्तर गमन वैसे ही होता है जैसे महास्रोत में अन्न और मल का, मूत्रवह स्रोतों में मूत्र का तथा रस-रक्तवह स्रोतों में रस-रक्त का। आयुर्वेदीय संहिताओं में शरीर-परमाणु में स्रुत (प्रविष्ट) हो उसके जीवनादि कर्म करने वाले रस का विशेष नामाभिधान नहीं दिया है, परन्तु वैदिक ग्रन्थों में इसे अङ्ग रस नाम दिया गया है। एवं इससे पुष्टि आदि प्राप्त करता होने से पुरुष को अङ्गिरा नाम दिया गया है। स्रोत शब्द से यह अर्थ ग्रहण करने में स्रोतोविमान स्थान में आया एक वाद उपयोगी मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है। इसमें पूर्वपक्ष यह है : कई आचार्य मानते हैं कि यह संपूर्ण ही शरीर (पुरुष) स्रोतोमय है, स्रोतों से भिन्न कोई अवयव इसमें है

ही नहीं। कारण, शरीरका सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें रोग न होता हो। रोग के कारणभूत दोष को प्रकुपित करने वाले अपथ्य पदार्थ का इन परम सूक्ष्म अवयवों तक पहुँचाने वाला स्रोत कोई होना ही चाहिए। इसी प्रकार रोग-मुक्ति होती देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि रोगाक्रान्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागतक पथ्यभूत रोग-प्रशमन औषध द्रव्यको पहुँचानेवाला कोई स्रोत भी होना ही चाहिए। इस प्रकार दोषों का प्रकोप या प्रशमन करने वाले द्रव्य सर्वगामी तथा सर्वसर होने से स्रोत भी शरीर में सर्वत्र स्थित होने चाहिए। पूर्वपक्ष की स्थापना करने वाले मूल शब्द ये हैं : अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपण-प्रशमनानाम्--च० वि० ५।४।

आगे पूर्वपक्ष का निराकरण करते आचार्य उत्तरपक्ष की स्थापना करते कहते हैं: यह सत्य नहीं है--न त्वेतदेवम्। स्रोतरूप वे अवकाश जिस घटक से बने हैं, वे स्रोत जिस रसादि का वहन करते हैं तथा जिस मांस धातु आदि का पोषण करते हैं एवं वे स्रोत जिस शरीर-भाग पर स्थित हैं वह सब स्रोतों से भिन्न है, उनकी गणना स्रोतों में नहीं कर सकते। परिणामतया शरीर में स्रोत से भिन्न ये चार भी होने से शरीर केवल स्रोतों से बना है, यह कहना साहस की बात है। तथाहि: यस्य हि स्रोतांसि, यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि सर्वं तदन्यत्तेभ्यः[1]। इतना अवश्य है कि स्रोतों की संख्या बहुत बड़ी है, अतएव कोई इन्हें अपरिसंख्येय (अगणित) मानते हैं, कोई इन्हें परिसंख्येय ही मानते हैं--अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि। परिसंख्येयानि पुनरन्ये।

किं बहुना, उत्तरपक्ष (सिद्धान्तपक्ष) यद्यपि यह स्थापित किया गया है कि पुरुष (जीवच्छरीर) स्रोतोमय नहीं है, तथापि पूर्वपक्ष पर दृष्टिपात करें जिसमें कहा है कि यह शरीर स्रोतोमय ही है, एवं यह देखें कि इस पूर्वपक्ष के मानने वालों की संख्या अच्छी बड़ी होगी एवं इस बात को ध्यान में लाएँ कि यह मत सत्य के निकट प्राय है इन कारणों से ही आचार्य ने इसे अपने तन्त्र में स्थान दिया है, साथ ही उत्तरपक्ष देने के पश्चात् भी यह जो एकीय मत उद्धृत किया है कि स्रोत अपरिख्येय हैं--इन सब बातों पर एक साथ विचार करें तो यह मानना पड़ता है कि प्राचीनों ने शरीर के जिन चरमावयवों को शरीर-परमाणु कहा

१—यस्य हि स्रोतांसि यद्घटितानीत्यर्थः, यच्च वहन्तीति यद्रसादि वहन्तीत्यर्थः, यच्चावहन्तीति यच्च पुष्यन्तीत्यर्थः, यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादौ संवद्धानीत्यर्थः, तत् सर्वं धमनीभ्यो (स्रोतोभ्यो) ऽन्यत्। तस्मान्न स्रोतोरूप एव पुरुष इत्यर्थः—चक्रपाणि।

है तथा आधुनिकों ने जिन्हें 'सेल' कहा है वे भी स्रोत ही हैं। शरीर परमाणुओं का अतिबहुत्व तथा अपरिसंख्येयत्व एवं शरीर प्रायः इन्हीं से बना होना, जिसके कारण यह शरीर एतन्मय ही (केवल इनसे बना) है ऐसी प्रतीति होना सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त स्रोतों में होनेवाला स्रवण अर्थात् वाह्य द्रव्य की एक स्थान से स्थानान्तर पर गति जैसे महास्रोत, रसवह, पुरीषवह, मूत्रवह आदि स्रोतों में होती है वैसी ही गति रस धातु की (वैदिक शब्दों में अङ्ग रस की) इन शरीर परमाणुओं में होती है। अङ्ग रस इनमें प्रविष्ट होकर इनके जीवन-धारण-तर्पण-यापन की क्रिया कर इनमें से बाहर जाता रहता है। इस कारण भी शरीर-परमाणु भी स्रोतःपदवाच्य हैं यह मानना आपतित है।

इस सम्बन्ध में सुश्रुत ने जो एकीय मत दिया है वह भी द्रष्टव्य है। स्रोतों की गणना कर उसने कहा है कि एकेषां बहूनि--सु० शा० ६।१२। कइयों के मत में स्रोत बहुत है। टीकाकार कहते हैं; वे स्रोत इस शास्त्र के विषय नहीं हैं। अतः उनका यहाँ निर्देश नहीं किया है: 'तान्यत्रानधिकृतानि' इति शेषः। वास्तव में शरीर परमाणु रूप सूक्ष्म स्रोतों को ही लक्ष्य में रखकर आचार्य ने यह एकीय मत दिया है। पश्चात् उत्तरपक्ष दिया है कि शल्यतन्त्र में सूक्ष्म स्रोतों का विचार नहीं होता। स्थूल दृश्य स्रोत ही उसके प्रतिपाद्य हैं।

सर्व शरीर परमाणुओं को स्रोत मानना अभिमत न हो तो भी संहितोक्त कतिपय स्रोतों का एकांश शरीर-परमाणु-विशेष हैं यह स्वीकारना ही पड़ेगा। अवकाशमय प्रणाली (डक्ट) ही केवल स्रोत है यह मन्तव्य उन पर पूर्णतया घटित न होगा। यथा, स्वेदवह स्रोत से आधुनिकोक्त स्वेद-ग्रन्थियों द्वारा उत्पादित स्वेद का वहन करनेवाली--उसे ग्रन्थियों से त्वक्पर्यन्त पहुँचानेवाली--प्रणाली का ही केवल बोध नहीं होता। कारण, स्वेदन या स्तम्भन द्रव्यों से जिस अवयव का विकास या संकोच हो कर स्वेदाधिक्य या स्वेदनाश होता है वह केवल यह प्रणाली नहीं है। स्वेद की इस क्रिया को लक्ष्य में रखते हुए स्वेदवह स्रोत का अर्थ स्वेदजनक ग्रन्थि-सहित स्वेद-प्रणाली ही लेना उपयुक्त है। इसी दृष्टि से विचार करते हुए मूत्रवह स्रोत से वृक्क से मूत्रप्रसेक पर्यन्त संपूर्ण मूत्रयन्त्र का ग्रहण करना चाहिए। शुक्रवह स्रोत से शुक्रोत्पादक ग्रन्थियों से ले कर शिश्न पर्यन्त समग्र शुक्रयन्त्र का अर्थ-बोध करना चाहिए। आर्तववह स्रोत संज्ञा से इसी प्रकार अन्तःफल (ओवरी)--सहित गर्भयन्त्र का ग्रहण होगा। पित्तवह तथा कफवह स्रोतों से भी उत्पादक ग्रन्थि-सहित वाहक प्रणाली ली जाएगी।

अस्तु। इस प्रकार कतिपय या संपूर्ण शरीर परमाणु प्राचीनोक्त स्रोत शब्द से गृहीत हुए प्रतीत होते हैं। स्थूल स्रोत भी जितने वर्णित हैं उतने ही नहीं हैं। स्वयं चरकाचार्य ने स्रोतों की संज्ञा, उनके मूल तथा उनकी दुष्टि के

निदानादि का जो विवेचन किया है उसकी प्रस्तावना में यही कहा कि--हम केवल कुछ स्थूल स्रोतों के मूलादि का निर्देश कर रहे हैं। बुद्धिमान् पुरुष इन्हें दृष्टि में रख कर अनुक्त भी स्रोतों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तथा अबुद्धिमानों के व्यवहार (चिकित्सा-व्यवसाय, प्रेक्टिस) के लिए जितने स्रोत बताए हैं उतने ही पर्याप्त हैं। देखिए :

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित् प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय विज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्॥ च० वि० ५५।

अन्यत्र इनसे भिन्न भी स्रोतों का नाम तन्त्रकारों ने दिया ही है। यथा, स्वरवह स्रोत (सु० उ० ५३।३) ; शब्दवह स्रोत (सु० नि० १।८३) इत्यादि।

कायचिकित्सक तथा शल्यहर्ता दोनों ने अपने-अपने तन्त्र में उपयुक्तता को दृष्टि में रख कर भिन्न-भिन्न स्रोतों का निर्देश किया है। कोई स्रोत समान हों, तो उनके मूल का निर्देश कहीं कुछ भिन्न हुआ है। मूल के निर्देश में किस तन्त्रकार का क्या आशय है इसका उल्लेख ऊपर किया गया है। शेष, प्रत्येक तन्त्रकार ने अपने शास्त्र में उपयुक्त स्रोतों का ही विचार किया है, इसका द्योतक प्रमाण यह है कि : स्रोतों के ग्यारह युग्मों का नामतः निर्देश करने के अनन्तर सुश्रुत जी ने लिखा है येष्वधिकारः (सु० शा० ६।१२)--नाम ये स्रोत जिनका उल्लेख हमने किया है वे हैं, जिन पर हमारा अधिकार है, जो इस तन्त्र में हमारे प्रतिपाद्य हैं। अन्य स्रोत होने पर भी वे हमारे विषय नहीं हैं, इस बात की विशदता डल्हन ने उदाहरण दे कर टीका में की है।

स्थूल स्रोतों के प्राथमिक भेद दो हैं :(१) बहिर्मुखः दो नासा स्रोत, दो नेत्र, दो कर्ण, एक मुख, एक मूत्र-प्रसेक, एक गुद पुरुषों में ये नव तथा स्त्रियों में दो स्तन तथा एक अपत्यपथ (योनि)-सहित बारह मार्गों को बहिर्मुख स्रोत कहते हैं। इन्हें दृश्य स्रोत भी कहते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में इन्हें नवद्वार भी कहा है। (२) योगवह स्रोत : प्राणवह स्रोत आदि को योगवह, अन्तःस्रोत, जीवितायतन या अदृश्य स्रोत कहा जाता है। बहिर्मुख की अनुकृति में इन्हें अन्तर्मुख स्रोत भी कह सकते हैं। चरक ने वहनशील मार्गों के जो पर्याय दिए हैं उनमें इन उभयविध स्रोतों को लक्ष्य में रख कर ही स्रोतों का एक पर्याय लक्ष्यालक्ष्य दिया है। इस नाम के अनुसार उक्त स्रोतोभेदों को लक्ष्य और अलक्ष्य नाम भी दे सकते हैं।

१—स्थल : सु० शा० ५।६, १० ; अ० सं० शा० ६ ; अ० हृ० शा० ३।४०-४१ : इन पर डल्हन, अरुण।

सरलता के लिए अर्श के भेदों के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर संज्ञा भी इन्हें दी जा सकती है।

स्रोतों के विषय में इतनी परिचयात्मक प्रस्तावना के अनन्तर अब इनकी दुष्टि, उसके कारण तथा उनके उपचार का विचार किया जाता है।

स्रोतो दुष्टि का सामान्य लक्षण

प्रत्येक स्रोत की दुष्टि का पृथक् लक्षण आगे देंगे। सर्व स्रोतों की दुष्टि का सामान्य स्वरूप यह होता है:

अति प्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥
च० वि० ५।२४; अ० हृ० शा० ३।४५

अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्येन स्रोतोदुष्टिलक्षणमाह। अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोवाह्यस्य रसादेर्बोद्धव्या। एवं सङ्गोऽपि रसादेरेव। विमार्गगमनं च यथा—मलस्य मूत्रमार्गगमनमित्यादि॥ चक्रपाणि

अतिशयेन प्रवृत्तिः, यथा मूत्रवाहिस्रोतसां प्रमेहवद्बहुमूत्रता। सङ्गः अप्रवृत्तिः, किंचिद्वा प्रवृत्तिर्मूत्रकृच्छ्रवत्। शकृद्वाहिनां स्रोतसामतीसारवत्पुरीषातिसरणम् अतिप्रवृत्तिः। सङ्गः स्तोकं स्तोकं कृत्वा पुरीषस्य प्रवृत्तिः, अथवा सर्वसर्विकया ('सर्वथा' इति पाठान्तरम्) उदावर्तवत् पुरीषस्याप्रवृत्तिः। एवं मूत्रवाहिस्रोतसां मूत्रातिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती तत्स्रोतोदुष्टेर्लक्षणम्। तथैव पुरीषवाहिनां पुरीषातिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती पुरीषवाहिस्रोतो दुष्टेर्लक्षणम्। एवमन्येषामपि स्रोतसां यथायथं वस्तुवाहिनां यथा स्वं वस्त्वतिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती तेषां दुष्टेर्लक्षणम्। अथवा, सिराणां स्रोतसां ग्रन्थयः कुटिलभावत्वं दुष्टेर्लक्षणम्। विमार्गतो वेति—स्वं मार्गमुज्झित्वा मार्गान्तरासादनं स्रोतसां दुष्टेर्लक्षणम्॥ अरुणदत्त[1]

बहिर्मुख तथा योगवह दोनों ही प्रकार के स्रोतों की दुष्टि का सामान्य लक्षण यहाँ कहा गया है। स्रोतों की दुष्टि का सामान्य लक्षण यह है: बाह्य द्रव्य की

१—हृदयकार ने स्रोतों की दुष्टि का एवं उनके मूल के वेध का सामान्य ही लक्षण दिया है। पृथक् लक्षण नहीं दिए हैं। इससे अनुमान होता है कि उनके काल में स्रोतों की दुष्टि तथा मूल वेध का विचार कुछ शिथिल हो चुका था। आज तो वह सर्वथा नहीं रहा है।

अतिप्रवृति या संग; अथवा स्रोतों की ग्रंथि; अथवा वाह्य द्रव्य का विमार्गगमन। इन पदों की क्रमशः व्याख्या की जाती है। स्रोतों की दुष्टि होने पर लिखित विक्रियाओं में कोई भी एक या अधिक विक्रियाएँ हो सकती हैं।

दुष्टि का प्रथम लक्षण है वाह्य--द्रव्य की अतिप्रवृत्ति या संग। अति प्रवृत्ति का अर्थ है अधिक प्रमाण में निर्गमन। यथा, मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि हुई हो तो मूत्र का अधिक प्रमाण में निर्गमन होता है, यथा प्रमेहों में। मधुमेह-प्रभृति प्रमेह मात्र में मूत्र की आविलता तथा प्रभूतता ये दो समान लक्षण होते हैं। आविलता का अर्थ है जो शरीरोपयुक्त धातुपोषक द्रव्य सामान्यतया मूत्रमार्ग से प्रवृत्त नहीं होते उनकी प्रवृत्ति। इनके कारण मूत्र में आविलता (मालिन्य, एब्नॉर्मेलिटी) आ जाती है। साथ ही मूत्र की प्रभूतता--संख्या और प्रमाण की दृष्टि से बाहुल्य--यह द्वितीय लक्षण प्रमेह मात्र में होता है। अतएव, प्रमेहों के सामान्य लक्षण बताते तन्त्रकार ने कहा है : तत्राविल प्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति (सु० नि० ६।६)। नवीनों ने कहा है कि मधुर प्रमेहों में (इक्षुमेह या इक्षुवालिकामेह; शीतमेह तथा मधुमेह या क्षौद्रमेह में) ओज अर्थात् सर्व धातुओं के सारभूत मधुर द्रव्य का निर्गमन मूत्रमार्ग से इस प्रकार नहीं हो सकता जैसे हम किसी कूड़ा-कर्कट को शुष्क अवस्था में ही उठाकर हाथ से बाहर फेंक देते हैं। प्रकृति (नेचर) या आयुर्वेद के शब्दों में भगवान् वायु इसे जलमिश्रित करके ही बाहर फेंक सकती है और फेंकती है। अतएव इस रोग में अब्धातु क्षीण होने से पिपासा यह विशिष्ट लक्षण होता है। आयुर्वेद में यह स्थिति प्रमेहमात्र के विषय में बताई है। प्रमेह मात्र में मूत्र मार्ग से निःसृत होते धातु का शारीर द्रव द्रव्यों से एकीभाव (मिश्रण) अवश्य होता है। उक्त सूत्र की टीका में गयदासने कहा है--दूष्याणां द्रवैरेकीभूतत्वान्मूत्र प्रभूतत्वम्।--मेद, रक्त, मांस, वसा, मज्जा, शुक्र, उदक, वसा, लसीका और ओज इन दूष्यों का इस रोग में (शरीर गत आकृष्ट हुए) द्रवों से एकीभाव होता है, अतएव मूत्र का प्राचुर्य होता है। चरक ने स्पष्ट ही कहा है कि--प्रमेह में प्रधान दोष कफ होता है (प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्--च० चि० ६।४)। और वह कफ बहुद्रव होता है, अल्पद्रव नहीं।--बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः--च०नि० ४।६। चक्रपाणि ने विशदता करते लिखा है--बहुद्रव एव कफो मेहजनको नाल्पद्रव इति।

किं बहुना, प्रमेहों में मूत्र की जो अतिप्रवृत्ति होती है वैसी अतिप्रवृत्ति वाह्य द्रव्य की होना यह स्रोतों की दुष्टि का अन्यतम लक्षण है। किंवा दुष्टि के कारण संग भी स्रोतों में हो सकता है। संग का अर्थ है अप्रवृत्ति; यथा मूत्रकृच्छ्र में मूत्र की सर्वथा या न्यूनाधिक अप्रवृत्ति होती है। पुरीषवह स्रोतों के उदाहरण से इन लक्षणों को विशद करना हो तो कह सकते हैं कि, अतिसार में जैसे पुरीष का

अतिसरण (अति प्रवृत्ति) होती है वैसी ही अपने-अपने वाह्य द्रव्य की अतिप्रवृत्ति अन्य स्रोतों की दुष्टि होने पर होती है। इसी प्रकार कभी पुरीष की अल्पाल्पशः प्रवृत्ति होती है, किंवा उदावर्त (पुरीषवह स्रोत का ग्रथित मल से अवरोध) संपूर्ण हो तो प्रवृत्ति सर्वथा नहीं होती। पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि होने पर जैसे यह दो प्रकार का संग उनके वाह्य द्रव्य पुरीष का होता है वैसा ही संग अन्य स्रोतों की दुष्टि होने पर उनके वाह्य द्रव्य का हुआ करता है।

मूत्रवह और पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि बहिर्मुख स्रोतों की दुष्टि का स्वरूप समझाने में उपयुक्त है। स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि होने पर इसी प्रकार स्वेद की अति प्रवृत्ति (स्वेदाधिक्य) अथवा स्वेद का संग (स्वेद-नाश) होते हैं। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर इसी प्रकार प्राणवायु की अतिप्रवृत्ति--श्वसन द्रुत तथा दीर्घ होना--किंवा संग--श्वसन मन्द या क्षीण होना--ये परस्पर-विपरीत लक्षण होते हैं।

योगवह स्रोतों की दुष्टि होने पर भी इसी प्रकार अतिप्रवृत्ति या संग ये लक्षण होते हैं[1]। यथा, रसादि धातुओं की इस प्रकार अतिप्रवृत्ति या संग अपने-अपने स्रोतों के दुष्ट होने पर होते हैं। अतिप्रवृत्ति होने का अर्थ वाह्य द्रव्य की अधिक प्रमाण में या अधिक वेग से गति समझना चाहिए। इसके कारण स्रोतों की पूर्णता होती है। 'सिरापूर्णता' का उल्लेख प्राचीनों ने किया है। संग का अर्थ है वाह्य द्रव्य का सर्वथा अवरोध या न्यूनाधिक अवरोध। रस धातु का इस प्रकार संग होने से शोथ, श्लीपद आदि रोग होते हैं। जलोदर में उदर की श्लेष्मधरा कला (उदरधरा) में या तो रस धातु की अतिप्रवृत्ति (अति स्राव) होता है, या उसकी हृदय के प्रति गति में संग होता है। दोनों में कौन-सी स्थिति रोग में हेतुभूत है यह निर्णय कर चिकित्सा का मार्ग निश्चित करना चाहिए। जलपार्श्व (प्राचीनों का कफज पार्श्व-गुल्म) में भी रस धातु की अतिप्रवृत्ति या संग दोनों में एक स्थिति हो सकती है। गुल्म में वायु का इसी प्रकार संग होता है। कामला शाखाश्रित हो तो उसमें कफ द्वारा पित्तवह स्रोतों की दुष्टि होकर पित्त का संग (पच्यमानाशय में अप्रवृत्ति) होती है। इस प्रकार अन्तर्मुख स्रोतों के वाह्य द्रव्यों की अतिप्रवृत्ति या अप्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

स्रोतोदुष्टि का द्वितीय लक्षण विमार्गगमन है। इसका उदारण चक्रपाणि ने दिया है--पुरीष का मूत्रमार्ग में गमन। दुष्टि के इस उदाहरण से

१--अति प्रवृत्ति या संग को विशद करने के लिए अरुणदत्त ने मूत्रवह तथा पुरीषवह स्रोतों को उदाहरणतया प्रस्तुत किया है, जब कि चक्रपाणि ने अन्तर्मुख स्रोतों में स्रवण करनेवाले रसादि धातुओं को स्मरण किया है।

ऐसी नाडी (नाडीव्रण) की कल्पना होती है जिसके द्वारा पक्वाशय और मूत्राशय का परस्पर सम्बन्ध हो गया हो, जिससे पुरीष यत्किंचित् मूत्राशय में आए। यह स्थिति नव्य प्रत्यक्षानुसार सद्यःप्राणहर है। कायचिकित्सा के ग्रन्थ में इस स्थिति का उदाहरणतया निर्देश नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ यह हो सकता है कि, मलमार्ग में अवरोध उपस्थित होने पर पुरीष के अङ्गभूत द्रव्य प्रसृत हो, सर्वशरीर में संचार करते हुए मूत्रयन्त्र में भी पहुँचें और उसमें अपने गन्ध, वर्ण को संक्रान्त कर दें। विमार्गगमन का सत्यार्थ प्रमेहों या रक्तपित्त से विशद होता है। प्रमेह में वसा, रक्त, मेद, ओज आदि द्रव्य अपने-अपने स्रोत का परित्याग कर मूत्रमार्ग में आ जाते हैं। यह उनका विमार्गगमन या उन्मार्गगमन है। रक्तपित्त में इसी प्रकार रक्त अपने स्रोत को छोड़ पुरीषमार्ग, मूत्रमार्ग, प्राणवह स्रोत आदि जिस मार्ग से वह प्रवृत्त होता है उसमें उसकी गति होती है। राजयक्ष्मा में रस धातु का स्रोत कफ से अवरुद्ध होता है। अतः उसकी विपरीत दिशा में गति होती है। इसे 'वि-वर्धते' शब्द द्वारा चरकाचार्य ने प्रदर्शित किया है। यह रस कफ के रूप में बहिःप्रवृत्त होता है। इस स्थिति को रस धातु का प्राणवह स्रोतों के मार्ग में गमन कहा जाता है। आर्तववह स्रोतों की दुष्टि (अवरोध, उदावर्त) हो तो आर्तव की प्रवृत्ति न होकर वह नासा आदि मार्गों से प्रवृत्त होता है। (इसे अंग्रेजी में 'विकारिअस मेन्स्ट्रुएशन') कहा जाता है। इसी पद्धति से विमार्गगमन के अन्य उदाहरण देखे जा सकते हैं। सत्य तो यह है कि रोगमात्र में दोष अपना स्थान छोड़ कर, प्रसृत हो जो अन्यत्र स्थानसंश्रय करते हैं वह उनका विमार्गगमन या उन्मार्गगमन ही होता है।

स्रोतोदुष्टि का तृतीय लक्षण स्रोतों की ग्रन्थियाँ हो जाना है। इसका अर्थ अरुणदत्तने 'कुटिलभाव' दिया है। स्रोतों के प्रकारोंमें एक सिराओं का कौटिल्य प्रसिद्ध है। सुश्रुत-शारीरस्थान के सिरावर्ण-विभक्ति अध्याय तथा धमनी व्याकरण अध्याय का आमूलाग्र विचार करें तो यह सत्य आपतित होता है कि सिरा शब्द सामान्यवाचक भी है और विशेषवाचक भी। जैसे निदान, कषाय, वीर्य, प्रभाव, गुण, स्पर्शज्ञान, स्पर्शेन्द्रिय, मधुमेह, यवागू, यक्ष्मा, ज्वर आदि शब्द आयुर्वेद में सामान्य और विशेष दोनों के वाचक प्रसिद्ध हैं वही स्थिति सिरा शब्द की भी है। सामान्यतया इससे शल्यतन्त्र में नवीनों के आर्टरी, आर्टीरिओल, केपीलरी, वेन्यूल, लिम्फेटिक्स और वेइन्स सबका ग्रहण होता है। कायचिकित्सा में तो जैसा पहले कह आए हैं वहन कार्य करनेवाले अवकाशमय अवयवमात्र का इससे ग्रहण होता है। विशेष अर्थमें यह सिरा शब्द केवल वेइन्स का वाचक है। सिरा शब्द सामान्यतया सभी रस-रक्तवाहिनियों का वाचक है यह इस बात से सिद्ध है कि सिराएँ नाभि या हृदय से निकल कर शाखा-प्रशाखाओं के

रूपमें शरीर में फैलकर उसके पोषणादि कर्म करनेवाली कही गयी हैं। भेल में सिराओं को शरीर के पोषणादि कर्म करके पुनः हृदय में आनेवाली कहा गया है। विशेष अर्थ में सिरा शब्द वेइन्स के लिए प्रयुक्त होता है यह इस बात से सिद्ध है कि रक्तमोक्षण का एक प्रकार सिराव्यध है। सिराव्यध में सभी रस-रक्तवाहिनियों का वेध ग्राह्य नहीं हो सकता। आर्टरी के वेधका परिमाण सुप्रत्यक्ष है। अतः सिराव्यध आदि प्रकरण में सिरा शब्द विशेषार्थ में ही व्यवहृत हुआ समझना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करें तो यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो सिराएँ वेध्य कही गयी हैं वे अमुक-अमुक वेइन्स की वाचक हैं। शेष अवेध्य सिराएँ तत्तत् आर्टरी की (अथवा अमुक स्थूल वेइन्स की) वाचक होना संभव है। यह कल्पना सत्य हो तो, नवीन रचनाशरीर के विद्वान् विवेचन कर इस बात का विनिश्चय कर सकते हैं कि कौन-कौन सिरा किस-किस आर्टरी या वेइन की वाचक है।

सिरा और धमनी शब्दों के अर्थ-विनिश्चयार्थ दो-एक अन्य बातें भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। धमनी व्याकरण अध्याय (सु. शा. ९) के आरम्भ में सुश्रुत ने यह विचार किया है सिरा, धमनी और स्रोत भिन्न हैं या अभिन्न ? वहाँ पूर्वपक्ष यह है कि सिरा विकारा एव धमन्यः स्रोतांसि च : नाम, धमनी और स्रोत सिराओं के ही भेद हैं। यह पूर्वपक्ष रखकर आगे ये तीनों भिन्न हैं यह उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए आरम्भ में कहा है : तत्तु न सम्यक् : यह समीचीन नहीं है। मेरा नम्र मत है कि जहाँ आचार्य इन शब्दोंको प्रयोग करते हैं वहाँ यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि पूर्वपक्ष सर्वात्मना असत्य है और उत्तरपक्ष सर्वात्मना सत्य है। किन्तु 'तत्तु न सम्यक्' के ऊपर स्थापित पूर्वपक्ष और उसके नीचे स्थापित तथाकथित उत्तरपक्ष दोनों मिलकर संपूर्ण सत्य सिद्धान्त बनता है। एवं 'तत्तु न सम्यक्' का अर्थ यह होगा कि—यह बात संपूर्णतया सत्य नहीं है, अंशतः सत्य है। 'तत्तु न सम्यक्' शब्द से आचार्य का यही अर्थ अभिप्रेत होता है, इस बात को एक-दो उदाहरणों से विशद करता हूँ।—

विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय (सु. सू. १०) के आरम्भ में रोगविज्ञान के उपायों का निर्देश करते हुए प्रथम कहा है कि आतुरमभिपश्येत्, स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके (सु. सू. १०।४)। रोगी का दर्शन करे, स्पर्शन करे और प्रश्न करे। इन तीन रोगविज्ञानोपायों से ही प्रायः रोगों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा कुछ एक कहते हैं। आगे आचार्य कहते हैं —तत्तु न सम्यक्। यह कह कर आचार्य ने कहा है—षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च।—रोगज्ञान के छ उपाय हैं : श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन, घ्राणन और प्रश्न। यह सुविदित है कि

दर्शन आदि तीन परीक्षाएँ आयुर्वेद-शास्त्र में सर्वसंमत हैं। उनका खण्डन आचार्य ने 'तत्तु न सम्यक्' इत्यादि पदों से किया है यह नहीं कह सकते। उनका आशय यही है कि, 'तत्तु न सम्यक्' इस सेपूर्व और पर स्थित वचनों से संपूर्ण सिद्धान्त का निर्देश होता है। रोग परीक्षा के तीन उपाय हैं सो तो हैं ही, उन्हीं का विस्तार छ परीक्षाओं के रूप में होता है। इसी दृष्टि से सिरावर्ण विभक्ति अध्याय में आए 'तत्तु न सम्यक्' वचन का भी अर्थ कर सिद्धान्त को समझना चाहिए।

चरक-संहिता में आए ऐसे वचनों का भी इसी प्रकार अर्थ होता है यह बात इसी अध्याय में आए एक प्रकरण से समझी जा सकती है। 'स्रोत' शब्द का कितना विस्तृत अर्थ होता है यह विषय इस अध्याय में चर्चा जा चुका है। उसमें तथाकथित पूर्वपक्ष यह था कि--कई विद्वान् जीवच्छरीर को केवल स्रोतोमय कहते हैं। आगे तथाकथित उत्तरपक्ष की स्थापना के पूर्व कहा है--त त्वेतदेवम्। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि यह बात ऐसी नहीं है। आगे कहा है कि--तत्तत् कारण से स्रोतों से ही शरीर बनता है यह बात नहीं है। यह पक्ष रखकर भी स्रोतों को अपरिसंख्येय कह कर पूर्वनिर्दिष्ट मत का भी स्वीकार किया ही है। वहाँ भी यही तात्पर्य निकलता है कि 'न त्वेतदेवम्' शब्द के ऊपर और नीचे दोनों स्थलों पर आए वचनों से प्रतिपादित अर्थ मिलकर यह संपूर्ण सिद्धान्त बनता है कि स्रोत इतने अधिक हैं कि शरीर स्रोतोमय ही है यह कहा जा सकता है। 'स्रोत' का अर्थ शरीर-परमाणु (कोष, सेल) लें तो यही अर्थ निष्कृष्ट भी होता है। एवं, 'न त्वेतदेवम्' का आशय भी यही लेना योग्य है कि यह बात सर्वात्मना सत्य नहीं है। किं बहुना, सिरावर्ण विभक्ति अध्याय की प्रस्तावना का तात्पर्य यही होगा कि, सिरा शब्द सामान्यतया रस-रक्तवह स्रोतमात्र का वाचक है और इस दृष्टि से धमनी और स्रोत को भी सिरा का भेद (विकार) ही कहना चाहिए। परन्तु विशेष अर्थ में भी सिरा शब्द का व्यवहार होता है और तब तीनों को भिन्नार्थक मानना चाहिए। धमनी शब्द सिरा-विशेष या आर्टरीज़ का वाचक है यह बात एक अन्य प्रकरण से भी सिद्ध की जा सकती है।--

धमनीव्याकरण अध्याय के आरम्भ में ही कहा है--चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः (सु. शा. ९।३)।--पहले कह आए हैं कि नाभि से चौबीस धमनियाँ उत्पन्न होती हैं। कहाँ कहा है? इसकी स्पष्टता स्वयं डल्हन ने की है: अभिहिताः उक्ताः। 'शोणित वर्णनीये' इति शेषः। अर्थात् यह बात पहले शोणितवर्णनीय अध्याय (सु. सू. १४।३) में कही गयी है। उक्त अध्याय में जो वचन आया है वह यह है: स (रसः) हृदयाच्चतुर्विंशतिर्धमनी-रनुप्रविश्य...अर्थात् रस हृदय से चौबीस धमनियों द्वारा सर्वशरीर में अनु-प्रविष्ट होता है। दोनों वचनों से एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया गया है यह

तन्त्रकार तथा टीकाकार कहते हैं। जो वस्तु देखने की है वह यह है कि धमनियों का उद्भवस्थान एक वचन में हृदय को बताया है और दूसरे वचन में नाभि को। इस से यह अर्थ अनायास आपतित होता है कि नाभि और हृदय शब्द ऐसे प्रकरणों में एकार्थवाचक हैं। इसकी स्पष्टता थोड़े शब्दों में कर लें।

हृदय को चक्र की उपमा वैदिक वाङ्मय में दी गयी है। चक्र (पहिए) में मध्य में 'नाभि' होती है और उसके चतुर्दिक् अरे होते हैं। हृदय में अर-स्थानीय वे स्रोत हैं जो रस-रक्त को इससे बाहर ले जाते हैं तथा इसमें लाते हैं। शेष नाभि इन स्रोतों के मध्य में स्थित कमल-सदृश अवयव है। अर्थात् वेद तथा आयुर्वेद में हृदय शब्द का अर्थ केवल 'हार्ट' नहीं है, किन्तु 'हार्ट विथ वेसल्स' ––अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख सर्व स्रोतों समेत हार्ट––वेद तथा आयुर्वेद का हृदय है। हृद्रोग शब्द से स्रोतों-सहित हृदय के रोगों का ग्रहण करना चाहिए। सिरा, धमनी और हृदय के विषय में इस दृष्टि से शास्त्रों को समक्ष रख कर विचार किया जाए तो बहुत-सी उलझन मिट सकती है।

किं बहुना, इतना प्रासंगिक विवेचन कर अब पुनः प्रकरण का विचार किया जाता है। मूल प्रकरण यह है कि, स्रोतों की दुष्टि का तृतीय लक्षण है उनकी ग्रन्थि हो जाना। इसका अर्थ अरुण ने दिया है उनका कुटिलभाव। इसी को 'सिराकुञ्चन' भी कहते हैं। सिरागत वात का लक्षण सुश्रुत ने दिया है–– कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चन पूरणम्––सु. नि. १।२७। यहाँ सिरा-कुञ्चन का अर्थ डह्लन ने दिया है––सिरा कुञ्चनं 'कुटिला सिरा' इति लोके। इस अवस्था में सिराएँ फूल जाती हैं तथा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। अंग्रेजी में इसे 'वेरीकोज्ड वेइन्स' या 'वेरीकोसिस' कहते हैं। नवीनों के मत से गुदगत अर्श सिराकौटिल्य ही है। प्राचीनों ने इन्हें मांसांकुर कहा है। मांस (या अन्य किसी धातु, उपधातु मल या दोष) का क्षय हो तो वायु का प्रकोप होता है। वायु के प्रकोप के दो कारणों में एक धातुक्षय है। रक्तधरा कला को मांसधातु के अन्तर्गत स्थित कहा गया है (देखिए : रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः। तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति––सु. नि. ४।१०)। यह रक्तधरा कला केशिकाओं के रूपमें हों या सिराओं के रूपमें (आर्टरीज़ आदि के रूपमें) या यकृत्प्लीहा में स्थित रक्ताशयों के रूप में––सर्वत्र यह रक्तधातु से आवेष्टित होती है। केशिकाओं में इसके चतुर्दिक् पेशीरूप मांस होता है तथा सिराओं में उनके मांसमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) के रूप में मांसधातु होता है। अर्श में गुदगत सिराओं को वेष्टित करनेवाला मांस (मांसमय मण्डल) सहज कारणों से या जन्मोत्तरकालज कारणों से क्षीण और दुर्बल होता है एवं यत्किंचित् भी दबाव से पराजित हो जाता है। सिरागत मांस धातु की इस क्षीणता को ही

अन्य शब्दों में उनमें वायुका कोप कह सकते हैं। इसके कारण यत्किंचित्--किं बहुना प्राकृत भी--दबाव से सिराएँ फूल जाती हैं। इस प्रकार सिराओं का बलाबल मांसमय मण्डल के ही अधीन होने से उसका दौर्बल्य ही अर्शों की उत्पत्ति में कारणभूत है। अतएव मांसधातु को लक्ष्य में रखकर ही इन्हें मांसांकुर कहा है। उपचार में भी रोगी को मांस के सेवन का उपदेश किया है।

यह शङ्का की ही नहीं जा सकती कि प्राचीनों ने अर्श सिराओं की विकृति है इस बात को प्रत्यक्ष नहीं किया होगा। प्राचीनों ने रोगजन्तुओं जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का भी प्रत्यक्ष किया था, जिसके प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रमाणों में महाभारतकार का यह वचन प्रस्तुत किया जा सकता है--सकृत्पक्ष्मनिपातेन येषां स्यात्स्कन्धपर्ययः--ये रोगजन्तु इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक वार पलक झपकें तो सहस्रों जीवाणुओं के कन्धे उतर जाते हैं। इससे सिद्ध है कि प्राचीनों ने रोगजन्तुओं के सूक्ष्म प्रत्यङ्गों का भी--उनकी प्रकृति-विकृति का भी--प्रत्यक्ष किया था। तभी तो उन्होंने कन्धों के उतरने का--अंससन्धि की विच्युति का--उल्लेख किया है। रोगों का अनेक बाहु, पाद, शिर आदि अवयवों वाले राक्षसों के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। संभव है, आज के अणुवीक्षण यन्त्रों द्वारा जिन जन्तुओं का स्वरूप दण्ड, कौमा, बिन्दु आदि के रूपमें होता है, प्राचीनों ने किसी साधन द्वारा उनकी सूक्ष्मता का इस से भी अधिक प्रत्यक्ष किया होगा और उनके हस्तपादादि अवयव उनके देखने में आए होंगे, जिनका यथास्थित वर्णन रोगों के राक्षसाकृति स्वरूप के नाम से प्राचीनों ने किया है।

रक्तधरा कला मांस के अन्तर्गत होती है, इस बात की स्मरणीयता आयुर्वेद में एक अन्य प्रकार से भी है। जीवन-संग्राम की विकटता के कारण हुई चिन्ता, क्षोभ, विषाद आदि का प्रभाव मांसपेशियों पर होता है। वे स्तब्ध हो जाती हैं। उनका पीड़न तदन्तर्गत रक्तधराकला-रूप केशिकाओं पर होता है। इस पीडनवश पीडित हो कर तदन्तर्गत रक्त धमनियों तथा हृदय में ही संचित रह कर प्रमाण के आधिक्य के कारण उनमें रक्त के दबाव को भी बढ़ा देता है। जीवन-संग्राम के घर्षण की निरन्तरता के कारण यह तनाव प्रायः रहे तो शनैः-शनैः धमनियों में स्थायी रचनात्मक विकृति हो जाती है। यह आज-कल के घर्षणात्मक जीवन में होनेवाली अकाल-मृत्यु का कारण है। प्राचीनकाल में दो या तीन वार संध्या, आसन, प्राणायाम आदि किये जाते थे। इसके अतिरिक्त कोई पचास वर्ष की वय होने पर पुरुष संसार से निवृत्ति ले लेते थे। संध्या के अन्तर्गत हुई मानसिक क्षोभ-रहितता से पेशियाँ शिथिल होती हैं, शवासन आदि आसनों के प्रभाव से भी पेशियों में शिथिलता आती है। पेशियाँ शिथिल होने से केशिकाओं में और उनके

कारण धमनियों में भी रस-रक्त का दबाव न्यून होकर उनमें उल्लिखित अकाल-मृत्यु जनक स्थिति उत्पन्न होने नहीं पाती। इसी भूयोदर्शन के आधार पर महाभारतकार ने कहा है: ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्— ऋषि अपने नित्य संध्या के शील के कारण दीर्घ आयु प्राप्त किया करते थे। आयु का प्रतिपादन करनेवाले आयुर्वेद की ओर से विश्व को जीवन को सुखी बनानेवाला यह परम संदेश है।

स्रोतों की दुष्टि के कारण——

स्रोतों की दुष्टि के कारण जिस पद्य में चरक तथा वाग्भट ने उद्धृत किए हैं, उसमें 'धातु' शब्द का उपयोग हुआ है। वहाँ आए 'धातु' शब्द के अर्थ का प्रकरणानुसार अर्थ प्रथम निश्चित कर सकें तो उस पद्य का अर्थ सुबोध हो जाएगा।

स्रोत का जो परिचय चरक ने दिया है, उसमें कहा है कि, तत्-तत् रूप में परिणत (परिवर्तित) होते हुए 'धातुओं' का अभिवहन इन स्रोतों द्वारा हुआ करता है——स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनाम् अभिवाहीनि भवन्ति च. वि. ५।३। पहले कह आए हैं कि यहाँ धातु शब्द केवल रस-रक्तादि सात के अर्थ में मर्यादित नहीं है। इसी वचन के पूर्व चरकाचार्य ने कहा है——पुरुष में (जीवच्छरीर में) जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ हैं उतने ही इसमें स्रोत हैं। कारण, स्रोतों द्वारा ही इन पदार्थों की उत्पत्ति हो सकती है——विना स्रोत नहीं——यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकार विशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते।

आगे यह कह कर कि स्रोत असंख्य हैं, स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा का मार्ग समझाने के लिए चरक ने कुछ प्रधान स्रोत पसन्द कर उनका नाम, उन की दुष्टि के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का उपदेश किया है। इन स्रोतों में सात धातुवह स्रोतों के साथ प्राण, जल, अन्न, मूत्र, पुरीष और स्वेद का भी परिगणन चरक ने किया है। उससे प्रतीत है कि स्रोतों द्वारा वाह्य धातु केवल रसादि सप्त नहीं हैं। धारणकर्ता होने से प्राणादि सभी द्रव्य इस प्रकरण में धातुपदवाच्य हैं।

इसी अध्याय के अन्तमें स्रोतों का परिचय देते चरक ने प्रथम विशेषण दिया है——स्वधातुसमवर्णानि (च. वि. ५।२५)। दीपिकाकार ने इस का अर्थ दिया है——वाह्य धातुतुल्यवर्णानि——नाम, जो स्रोत जिस धातुका वहन करता है, उसके सदृश ही उसके वाहक स्रोत का वर्ण होता है। यही पद्य वाग्भटने भी उद्धृत किया है (अ. हृ. शा. ३।४३)। वहाँ उक्त विशेषण की स्पष्टता करते आयुर्वेद-

रसायनकार कहते हैं--स्वो धातुः स्वधातुः। यो यो यस्य यस्य स्रोतस आधारस्याधेयत्वेन स्थितो धातुः तेन तेन स्वधातुना समः समानो वर्णो येषां स्रोतसां तानि स्वधातुसमवर्णानि रसवहस्रोतांसि, यावच्छुक्रधातुसदृशवर्णानि शुक्रवाहिस्रोतांसि।। अरुणदत्त ने यहाँ कहा है कि आधारभूत स्रोत जिस आधेय या वाह्य द्रव्य का धारण या वहन करता है, उसके सदृश ही उस का वर्ण होता है। यथा, रसवाही स्रोत का वर्ण रसधातु के सदृश होता है, शुक्रवाही स्रोतों का वर्ण शुक्र के सदृश होता है...इत्यादि।

इतनी स्पष्टता के पश्चात् अब स्रोतों की दुष्टि के कारणों पर दृष्टिपात करें। प्रत्येक स्रोत की दुष्टि के पृथक् कारण भी होते हैं, जिनका उल्लेख उनके पृथक् वर्णन में देंगे। स्रोतों की दुष्टि के सामान्य कारण अधोनिर्दिष्ट हैं--

आहारश्च विहारश्च यः स्याद् दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चैव स्रोतसां स प्रदूषकः॥
च० वि० ५।२३ ; अ० हृ० शा० ३।४४

आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह। दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति। × × धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः। दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः॥ चक्रपाणि × × × यश्चाहारस्तथा विहारो धातुभिः इत्यादिभिः, विगुणो विरुद्धगुणो रससमानगुणैर्विपरीतगुणः × ×॥ अरुणदत्त।

जो आहार तथा जो विहार दोषों के गुणों के समान हो--उसमें वही गुण हों जो तत्-तत् दोष में होते हैं, अत एव जो दोषों के गुणों की अतिवृद्धि करे--दोषों को प्रकुपित करे, एवं जो आहार-विहार धातुओं के --अर्थात् स्रोतों द्वारा वाह्य द्रव्यों के--स्वभाव के विरुद्ध हो--उनमें दुष्टि करनेवाला हो वह स्रोतों को दुष्ट करता है।

इस प्रकार स्रोतों की दुष्टि के कारणों के प्रथम दो भेद होते हैं--दुष्टिजनक आहार तथा दुष्टिजनक विहार। इनमें भी प्रत्येक के दो भेद होते हैं--दोष-प्रकोपक आहार-विहार तथा स्रोतोवाह्य द्रव्यों को दूषित करनेवाला आहार-विहार।

प्रकुपित हुए दोष स्रोतों में तत्-तत् विकृति उत्पन्न कर उनमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस दुष्टि का विचार अनेकशः किया जा चुका है। वाह्य द्रव्य की दुष्टि करनेवाला आहार-विहार उनकी वृद्धि, क्षय या रूपान्तर तीनों में कोई भी स्थिति उत्पन्न करे तो उसे धातु-विरुद्ध कहा जाता है। उदाहरणतया, रसवाही

स्रोतों की दुष्टि करनेवाले गुरु-स्निग्ध आदि अन्नपान रसधातु की वृद्धि करते हैं; परन्तु अति चिन्ता रसधातु का क्षय करती है। वृद्धि को प्राप्त हुआ रस अपने गौरव द्वारा रसवह स्रोतों में भी गुरुता तथा मन्दता उत्पन्न करता है। यह रसवाही स्रोतों की दुष्टि का एक स्वरूप है। अन्य गुणों के अन्य परिणामों की इसी पद्धति से कल्पना कर लेनी चाहिए। अति चिन्ता से रस धातु क्षीण होने से होते सिराशैथिल्य के सदृश रसवाही स्रोतों का शैथिल्य भी पूरक रस धातु की अल्पता के कारण होता है। इन दोनों दुष्टियों के कारण दूरगामी परिणाम होते हैं। यथा, रसवह स्रोतों की दुष्टि के कारण इतर धातुओं की पुष्टि न्यून होना—उनका क्षय तथा दौर्बल्य, एवं उनके कारण तत्-तत् रोग की उत्पत्ति इत्यादि।

स्रोतों की दुष्टि के ये सामान्य लक्षण तथा कारण हैं। अब कायचिकित्सकोक्त स्रोतों के पृथक् मूल, उनकी दुष्टि के कारण लक्षण तथा उपचार देखिए।

यह स्रोतोदुष्टि इतर रोगों से भिन्न है—

स्रोतोदुष्टि के इस प्रकरण में स्मरण रखने योग्य वस्तु यह है कि, यद्यपि प्रत्येक रोग में स्रोतों की दुष्टि हुआ करती है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है तथापि विभिन्न रोगों में विभिन्न स्रोतों की जो दुष्टि हुआ करती है वह यह स्रोतोदुष्टि नहीं है। यह स्रोतोदुष्टि स्वतन्त्र पृथक् विकृति ही समझी जानी चाहिए। इस का एक प्रमाण यह है कि, अध्याय के अन्तमें चिकित्सा का निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा है कि—प्राणवह स्रोतों की दुष्टि की चिकित्सा श्वास रोग के समान, उदकवह की तृषा रोग के समान तथा अन्नवह स्रोत की आमदोष के समान करनी चाहिए। मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के अनुसार, पुरीषवह की अतिसार के समान तथा स्वेदवह की ज्वर के समान करनी चाहिए। रसादि धातुओं की दुष्टि की जो चिकित्सा कही है वही रसवह आदि स्रोतों की दुष्टि की भी चिकित्सा है। इस विधान से स्पष्ट है कि यह स्रोतोदुष्टि तत्-तत् रोग किंवा उनमें होनेवाली स्रोतोदुष्टि से भिन्न है। इन पद्यों के ऊपर पृथक्-पृथक् स्रोतों की दुष्टि के कारण भी दर्शाए हैं, जो इन्हें स्वतन्त्र विकृति मानने के प्रति संकेत करते हैं।

इस विषय में चक्रपाणि का निम्न वचन और भी पोषक है। अस्वेदन आदि स्वेदवह स्रोतों की दुष्टि के प्रकरण में वह कहता है—ये लक्षण यद्यपि कुष्ठ के पूर्वरूपों में भी होते हैं तथापि अन्य भी पूर्वरूप हों तो निदान कुष्ठ-पूर्वरूप करनाचाहिए, अन्यथा स्वेदवह स्रोत की दुष्टि।—अस्वेदनादिकं स्वेदवहदुष्टिलक्षणं कुष्ठपूर्वरूपेऽप्यस्ति; तेन यत्रान्यत् कुष्ठपूर्वरूपदर्शनं भवति तत्र कुष्ठपूर्वरूपता निश्चेतव्या; एतावन्मात्रलक्षणोदये तु स्वेदवह धमनी दुष्टिरिति।

वस्तुतः स्रोतोदुष्टि के इस प्रकरण को ज्वरादि रोगों के समान निदान-चिकित्सा के सामान्य प्रकरण में ही स्थान देना उपयुक्त है।

स्रोतों के मूल दुष्टि तथा उसके निदान-लक्षण-चिकित्सा—

प्राणवह स्रोतों के मूल, दुष्टि इत्यादि : प्राण-नामक विशिष्ट वायु का ग्रहण करनेवाले स्रोतों को प्राणवह स्रोत कहा जाता है। हृदय तथा महास्रोत प्राणवह स्रोतों के मूल हैं। (सुश्रुत में प्राणवह स्रोतों का मूल हृदय तथा रसवाही धमनियाँ—पाठान्तर में प्राणवाही धमनियाँ—बताया है। पाठभेद से अर्थभेद कुछ नहीं। कारण, रसवाहिनी धमनियाँ प्राण का भी वहन करती हैं—धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ—शार्ङ्गधर) धातुक्षय[1], रूक्षता, (रूक्ष अन्न, पान, वात आदि का सेवन); क्षुधा, पिपासा (इनके वेग का अवरोध; भूख-प्यास होने पर भी खान-पान न करना); क्षुधा का वेग होने पर व्यायाम (या अन्य कठिन श्रम का कार्य) करना, वेगावरोध तथा अन्य दारुण कर्मों के योग से प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होती है। प्राणवह स्रोत दुष्ट हों तो पुरुष का उच्छ्वास (प्राणवायु की बहिः प्रवृत्ति अथवा-गमनागमन दोनों[2]) शब्द और शूल-सहित होते है। साथ ही, उच्छ्वास अतिदीर्घ होता है अथवा अतिह्रस्व; वह कुपित होता है (उसमें अन्य अस्वाभाविकताएँ होती हैं, जिनका विशेष निर्देश श्वासके भेद के लक्षणों में किया गया है) तथा दुर्बल होता है अथवा वार-वार होता है।

श्वासका वेग कितना बढ़ जाए तो उसे अतिसृष्टि कहना चाहिए यह प्रश्न है। नव्य-मत में प्रति मिनट पच्चीस से अधिक श्वासगति हो तो उसके लिए अतिसृष्ट का पर्यायभूत 'एक्सेलेरेटेड रेस्पीरेशन'[3] शब्द प्रयुक्त होता है। शब्द का कारण प्राणवह स्रोतों के मार्ग में अवरोध कहा जाता है। श्वास-सदृश रोगों में यह कफाधिक्य रोग में कफ के अवरोध के कारण एवं वाताधिक्य में वात के कारण स्रोत का स्तम्भ या संकोच होने से होता है। कभी पित्त के कारण स्रोतों का पाक होने से भी स्रोतों का मुख (विवर) संकुचित हो जाता है। यह स्थिति कास-श्वास प्रधान त्रिदोषारब्ध ज्वरों में होती है। सौषिर्य (केविटी) बन जाए तो जैसे किसी संकीर्ण मुख परन्तु नीचे विपुल विस्तारवाले पात्रपर फूँक मारने से शब्द होता है ऐसा शब्द श्वास क्रिया में सुनाई पड़ता है। ये शब्द श्रावणी नाडी से ही

१—संग्रह में 'क्षय' का पाठान्तर धातुक्षय है। देखिये अ०हृ० शा० ३।४१ (निर्णयसागर)

२—प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः—सु.शा.९। ६ पर डल्हन।

३—Accelerated Respiration.

सुने जाते हैं। प्राणवह स्रोत अर्बुद से पीड़ित हों तो भी शब्द होता है। अवरोध के कारण को हठात् हटा कर प्राणवायु को गमनागमन करने में जो बल-प्रयोग होता है वह शब्द का कारण होता है।

अभीक्ष्ण का अर्थ वार-वार होता है। नव्य-मत में एक प्रकार की श्वास-क्रिया होती है जिसमें प्रश्वास और उच्छ्वास दोनों पृथक्-पृथक् एक संख्यावाले न होकर इन में प्रत्येक दो या अधिक खण्डों में विभक्त होता है। इसे 'इन्टरेप्टेड या कॉगह्वील रेस्पीरेशन'[1] कहते हैं। कॉग ह्वील उन परस्पर संयुक्त चक्रों को कहते हैं जिनमें दन्त होते हैं, जो एक दूसरे में ग्रथित होते हैं, जैसे कोल्हू में। ये एक-दूसरे की गति में अन्तराय उपस्थित करते हैं।

प्राणवह स्रोतों की दुष्टि धातुक्षय, वेगावधारण, रूक्षता (रूक्ष--स्नेहरहित अन्नपान का सेवन; किंवा रौक्ष्य जनक देश, काल, श्रम आदि का अतियोग), क्षुधा का वेग उपस्थित हो उस काल व्यायाम या श्रम एवं अन्य दारुण (विकट) कर्म करने से होती है। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर उपचार श्वास रोग के सदृश करना चाहिए।

उदकवह स्रोतों के मूल इत्यादि : उदकवह स्रोतों का मूल तालु तथा क्लोम है। सुश्रुत ने भी इनका मूल यही बताया है। इनकी दुष्टि होने पर विशेष लक्षण ये होते हैं : जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा क्लोम का शोष--इन अवयवों में सूखेपन की अनुभव-सिद्ध प्रतीति तथा अतिप्रवृद्ध पिपासा। ये लक्षण देखकर उदकवह स्रोतों की दुष्टि हुई है यह निदान करना चाहिए। उष्णता (सूर्य-ताप आदि के रूप में, किंवा शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्यों के रूप में), आम, भय, मद्यपान, अतिशुष्क अन्न का सेवन एवं तृष्णा के वेगका अतिनिरोध इन कारणों से उदकवह स्रोतों की दुष्टि होती है। (तृष्णा ोग के प्रकरण में गुरुभोजनादि जन्य आम से हुई तृष्णा आमज ृष्णा नाम से पृथक् अभिहित है तथा सर्व त्यक्ष है। भारी भोजन खाने के पश्चात् अतिजलपानेच्छा के रूप में तृषा का अनुभव सब को होता है)। उदकवह स्रोत दुष्ट हो े पर तृष्णा रोगाधिकार में निर्दिष्ट चिकित्सा करें।

इस प्रकरण में आए क्लोम शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने हृदयस्थ पिपासास्थान दिया है। हृदय शब्द का व्यापक अर्थ; हृदयोपलक्षित प्रदेश (छाती का मध्यभाग) लेना उचित प्रतीत होता है। यहाँ, तृष्णा के प्रकरण में (×× जिह्वामूल-गलतालुक्लोम्नः संशोष्य--च. चि. २२।६) तथा अन्यत्र भी ओष्ठ, जिह्वा, जिह्वामूल, तालु, मुख, गल तथा कण्ठ इन अवयवों के साथ क्लोम में भी सूखेपन की रोगी को प्रतीति होना इस लक्षण का निर्देश हुआ है। इससे कम से कम इन

१—Interrupted or Cog wheel respiration

प्रकरणों में तो क्लोम इन अवयवों के समीपवर्ती ऐसा कोई अवयव होना चाहिए जिसमें शुष्कता का अनुभव हमें हो सके। इस दिशा में 'क्लोम स्याद् गलनाडिका' इस वचन से क्लोम का निर्णय करने में और सौकर्य होता है। इन आधारों से क्लोम का अर्थ कदाचित्, कम से कम इन प्रकरणों में, ईसोफेगस मानने की वृत्ति कई विद्वानों की है।

अन्नवह स्रोतों के मूल इत्यादि :--अन्नवह स्रोतों के मूल आमाशय तथा वामपार्श्व है। सुश्रुतजीने इनका मूल आमाशय तथा अन्नवाही धमनियाँ बताया है। इन की प्रदुष्टि होने पर अधोनिर्दिष्ट लक्षण होते हैं: अनन्नाभिलाष, अरोचक (अरुचि), अविपाक (अजीर्ण) तथा छर्दि। इन का उदय होने पर अन्नवह स्रोत दुष्ट होने का निदान करें। अन्नवह स्रोतों की दुष्टि के कारण ये हैं: अत्यशन; अध्यशन, क्षुधा का वेग न होने पर भोजन, क्षुधा का वेग नष्ट हो जाने पर भोजन आदि के रूप में अकाल-भोजन; अहिताशन (स्वस्थवृत्तोक्त नियमों का अतिक्रमण कर अन्नपान का सेवन--विषमाशन) तथा अग्नि की विगुणता--मन्दता, तीक्ष्णता या विषमता। अन्नवह स्रोत दुष्ट होने पर वही उपचार करना चाहिए जो आमदोष (विविध अजीर्ण, विषूचिका, विलम्बिका और अलसक) के अधिकार में उपदिष्ट है (देखिए: च. वि. २, सु. ३. ५६)।

अनन्नाभिलाष तथा अरुचि में यह भेद (च. सू. २८।९की टीकामें) चक्रपाणि ने बताया है--अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परन्तु अनिच्छा; अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः--अश्रद्धा में अन्न की इच्छा ही नहीं होती, परन्तु आग्रह आदि कारणोंसे भोजन किया जाए तो वह भाता है, मुख से नीचे उतर भी जाता है। अरुचि में क्षुधा और अन्न की इच्छा (माँग के रूप में) होती है, परन्तु मुख में रखने पर उसके प्रति भाव नहीं होता--अतश्च वह गले से नीचे उतारा नहीं जाता। अरसज्ञता इनसे मिलता-जुलता तीसरा विकार है। इसमें अन्नपान के मधुरादि रसों की ही प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होती--उनका अनुभव नहीं होता।

चरक ने प्राणवह आदि सर्व स्रोतों का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हुए उनके लिए 'प्राणवहानां स्रोतसाम्' इत्यादि रूपों में बहुवचन का ही प्रयोग किया है। सुश्रुत ने अधोनिर्दिष्ट एकादश स्रोत अपने प्रतिपाद्य विषय (अधिकार) में उपयुक्त होने से गिनाए हैं; प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह, आर्तववह। 'प्राणवहे द्वे' इत्यादि पदों द्वारा सुश्रुत ने प्रत्येक स्रोतकी संख्या दो-दो बताई है। यह निश्चित है कि, शल्यहर्ता को अवयवों के (यहाँ स्रोत के) आयाम-विस्तार-संख्या आदि का निश्चित ज्ञान होना चाहिए। तभी वह विद्धलक्षण आदि को यथावत् समझ सकता है तथा उनका

उपचार कर सकता है। इस दृष्टि से विचार करें तो सुश्रुत ने जो प्रत्येक स्रोत की संख्या दो-दो दी है वह प्रत्यक्षसिद्ध और यथार्थ है। उसी को आदर्श मान कर स्रोतों के विनिश्चय का प्रयास करना उचित है। शेष, चरक ने स्रोतों के लिए जो बहुवचनान्त प्रयोग किया है वह उनकी शैली मात्र हो सकता है, किंवा इसी अध्याय में ऊपर उन्होंने स्रोतों की असंख्येयता के संबन्ध में विवेचन किया है और उसकी जो व्याख्या इसी अध्याय में हमने की है उसे ध्यान में रखें तो, संभव है, चरक ने प्रत्येक स्रोतोयुग्म के घटकभूत शरीर-परमाणुओं की असंख्येयता को लक्ष्य में रख कर स्रोतों के लिए बहुवचन का प्रयोग किया होगा। प्रासंगिक इतना विवरण कर अब पुनः प्रकृत विषय का विचार करते हैं।

विदाह के प्रकरण में निम्न पद्य में सुश्रुत ने अन्नवह शब्द का प्रयोग किया है—

स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति।
विदाहि भुक्तमन्यद् वा तस्याप्यन्नं विदह्यते॥

सु. सू. ४६।४६७

विदाह (अम्लपाक, एसिड डिस्पेप्सिआ) या विदग्धाजीर्ण के कारणों में एक का निरूपण करते आचार्य कहते हैं कि जिस पुरुष के अन्नवह स्रोत में किंवा पक्ति-स्थान में पित्त कुपित हो कर स्थानसंश्रय कर रहता है वह विदाही (स्वरूपसे अम्ल, यथा—अचार आदि) किंवा अन्य कुछ भी द्रव्य (स्वरूप से अविदाही, परन्तु पाकानन्तर विदग्ध—अम्लरस—हो जाने के स्वभाववाला, यथा भात, टमाटर आदि) खाता है वह विदाह को प्राप्त होता है। यहाँ 'अन्नवहे स्रोतसि' का अर्थ डल्हन ने, 'आमाशये' दिया है। पक्तिस्थान का अर्थ अग्निस्थान दिया है। परन्तु, मूलविद्धप्रकरण में (सु. शा. ६।१२ में) 'अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्न-वाहिन्यश्च धमन्यः' वचन में अन्नवह स्रोतों की संख्या दो बताकर उन का मूल आमाशय तथा अन्नवाही धमनियाँ कहा है।

रसवह स्रोतों के मूल इत्यादि : रसवह स्रोतों का मूल हृदय तथा दश धमनियाँ हैं। (सुश्रुत ने भी यही मूल बताए हैं—हृदय तथा रसवाही धमनियाँ)। इनकी इसी प्रकार इतर धातुओं का वहन करनेवाले स्रोतों की दुष्टि के लक्षण वही हैं जो विविधाशितपीतीय अध्याय (च. सू. २८) में तत्-तत् धातु की दुष्टि से हुए रसज, रक्तज आदि रोगों के लक्षण हैं। इस प्रकार रसज रोगों के लक्षण और रसवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण समान ही हैं। इन के तथा अन्य धातुज रोगों के लक्षण इस ग्रन्थ में पहले आ चुके हैं।

गुरु, शीत, अतिस्निग्ध और अतिमात्र भोजन एवं चिन्त्य वस्तुओं की अति-चिन्ता इन कारणों से रसवह स्रोत दुष्ट होते हैं। विविधाशितपतीय अध्याय में

रसज आदि रोगों की जो चिकित्सा दी है वह रसवह आदि स्रोतों की दुष्टि की भी समझनी चाहिए। इत्थं रसज रोगों की लङ्घनादि चिकित्सा रसवह स्रोतों की दुष्टि होने पर भी विधेय है।

रक्तवह स्रोतों के मूल इत्यादि : जैसा कि सुश्रुत ने कहा है इनकी संख्या दो है। इनका मूल यकृत् और प्लीहा है। (सुश्रुत में इनका मूल यकृत्, प्लीहा तथा रक्तवाही धमनियाँ बताया है। निर्णयसागरी सुश्रुत में इस वचन की टिप्पणी में लिखा है कि ताडपत्र में केवल यकृत्प्लीहा का मूल होना लिखित है)। रक्तवह स्रोतों की दुष्टि प्रकृतितः किंवा विपाकवश विदाही अन्नपान तथा स्निग्ध, उष्ण और द्रव अन्नपान के तथा आतप और अग्नि के सेवन से होती है। इनकी दुष्टि से वही रोग होते हैं जिनका निर्देश रक्तज नाम से कर आए हैं। इनका उपचार भी वही है जो रक्तज रोगों का है।

यकृत् और प्लीहा रक्ताग्नि तथा रञ्जक पित्त के अधिष्ठान हैं। इन दोनों द्रव्यों का पार्थक्य समझ लेना चाहिए। रक्ताग्नि रसधातु का रक्त धातु में परिणमन करती है। रञ्जक पित्त का कार्य रक्त का रञ्जन करना है। क्रिया-शारीर में तथा इस ग्रन्थ में हम देख चुके हैं कि रक्त शुद्ध होता है तो उसका अमुक वर्ण होता है। वही वातादिदोष-दूषित हो तो दोष भेद से उसमें तत्-तत् विवर्णता (वर्णभेद) आती है।--वात से श्यावारुणता, पित्त से पाण्डुहारिद्रहरितादिवर्णता तथा कफ से शुक्लता आदि। यकृत् और प्लीहा में जब रक्त आता है तो रञ्जक पित्त की क्रिया से तद्गत दोषों का परिपाक (रासायनिक क्रिया द्वारा रूपान्तर) होकर रक्त की शुद्धि होती है। परिणामतया रक्त में अपना प्राकृत राग या वर्ण आता है। रस धातु से रक्त का निर्माण होते हुए भी रञ्जक पित्त ही उसे वर्ण प्रदान करता है। इस प्रकार रागोत्पत्ति और विशुद्ध रागोत्पत्ति का मूल होने से यकृत्प्लीहास्थित इस कर्म के करनेवाले पित्त को रञ्जक पित्त कहते हैं। 'राग' और 'रञ्जक' शब्द राग या वर्ण अर्थ की 'रञ्ज' धातु से व्युत्पन्न हुए हैं।

रञ्जक पित्त की यह क्रिया समझने में व्याकरण भी सहायक हो सकता है। रञ्जन शब्द भाषाओं में प्रायः अकेला नहीं आता। मन इस पूर्वपद के साथ संयुक्त हो 'मनोरञ्जन' शब्द बनता है। यह भाषाओं में प्रसिद्ध है। इस का जो अर्थ है वही अर्थ संस्कृत में केवल रञ्जन शब्द का है। इस का प्रसिद्ध पर्याय प्रसादन है। इन दोनों पदों का अर्थ है--प्रसन्न करना। परन्तु प्रसादन शब्द का अन्य भी अर्थ है--निर्मल या स्वच्छ करना। 'प्रसन्न', 'प्रसीदति' आदि शब्द इस अर्थ में संस्कृत वाङ्मय तथा आयुर्वेद में प्रसिद्ध हैं। इन में जो उपसर्ग तथा धातु हैं वही 'प्रसादन' शब्द में भी हैं। सो, प्रसादन का दूसरा अर्थ हुआ--निर्मल, निर्दोष या स्वच्छ करना। इसके पर्यायभूत रञ्जन शब्द का भी इसके समान ही

अन्य अर्थ हो सकता है--निर्मलीकरण। संस्कृत भाषा की यह अपूर्व शैली है। इसे समझे विना इसका अवगाहन सुगम नहीं होता। अस्तु। रञ्जन का प्रसिद्ध अर्थ दृष्टि में रखते हुए रञ्जक पित्त का कार्य विदित होता है : रक्त धातु को उसका प्राकृत वर्ण प्रदान करना। यह वर्ण वह कैसे करता है इस की विशदता व्याकरणानुसारी इस विवेचन से होती है कि रञ्जक पित्त कुपित हुए वात, पित्त, कफ के कारण रक्त में आई दुष्टि को दूर कर--उसे निर्मल, निर्दोष एवं स्वच्छ कर--उसमें उसके प्राकृत वर्ण को स्थापित करता है। अतः उसे रञ्जक पित्त नाम दिया गया है। नव्यों ने यकृत् का एक कर्म 'डीटॉक्सिकेशन' (अर्थ-निर्विषीकरण) बताया है। उसका कुछ साम्य रञ्जक पित्त के इस कर्म से देखा जा सकता है। प्लीहा में विषमज्वर आदि रोगों के कारण किंवा काल उपस्थित होने से मृत हुए रक्त (रक्त कणों) का विघटन होकर उससे प्राप्त सामग्री का उपयोग पुनः रक्त के निर्माण में होता है। प्लीहा में यकृत् के समान निर्विषीकरण नहीं होता। आयुर्वेद में तो इन दोनों अवयवों को सर्वथा एक ही कोटि में रखा गया है।

किं बहुना, रक्त की शुद्धि के स्थान आयुर्वेद-मत से यकृत्-प्लीहा ही हैं। अच्छे वैद्य भी क्रियाशारीर के प्रकरण में इस सत्य की विस्मृति कर रक्त की शुद्धि फुप्फुस में होती बताते हैं। क्या यह संभव नहीं कि, वात (प्राण या कार्बनडाइ ऑक्साइड की बहुलता) से दुष्ट रक्त यकृत् में आता है तो यकृत् ही उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन कर देता है कि फुप्फुस में यान्त्रिक (मिकेनिकल) क्रिया से उसका प्राणवायु निकलना और अन्तरिक्षगत अपान वायु (ऑक्सीजन) का उस से सयोग होना सुगम हो जाता हो। संभव है, इसी प्रयोजन से रक्त का महदंश प्रथम यकृत में होकर पश्चात् फुप्फुसों में जाने की व्यवस्था प्रकृति ने की हो।

व्यवसाय में उपयोगिता की दृष्टि से चरक ने अपनी संहिता के आरम्भ में ही (सु. सू. ४ में) एक-एक कार्य करनेवाले दश-दश द्रव्य (दशेमानि) दिए हैं। इनमें एक वर्ग शोणितास्थापन है। इस संज्ञा की व्याख्या करते चक्रपाणि कहते हैं--शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य प्रकृतौ शोणितं स्थापयतीति शोणितास्थापनम्--(च. सू. ४।८पर)।--अर्थात् रक्त वातादिदोष दूषित हो तो उसकी दुष्टि को दूर कर जो द्रव्य रक्त को पुनः प्रकृति में (स्वरूप में) ले आएँ उन्हें शोणितास्थापन कहा जाता है। आगे चरक ने ये दश द्रव्य शोणितास्थापन बताएँ हैं।--मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियंगुशर्करालोजा इति दशेमानि शोणितास्थापनानि भवन्ति--च.सू.४।१७। (रुधिरं कुंकुमम्)। अन्वेषकों को इन द्रव्यों पर अन्वेषण कर निर्णय करना चाहिए कि ये द्रव्य रञ्जक पित्त की क्रिया में सहायभूत होते हैं या नहीं--नवीनों ने जिसे 'हीमोग्लोबीन-परसेंटेज' कहा है उस पर इनका कुछ प्रभाव होता या नहीं। आयुर्वेद की दृष्टि से

विचार करने से ये सर्व द्रव्य पित्त के शामक हैं। पित्तके सम होने से उस की पचनात्मक (विनाशक) क्रिया के अतियोग से रक्त धातु की रक्षा होती है। इससे संभव है, रक्त का साम्य स्थापित करने में ये द्रव्य उपयोगी सिद्ध हों। अन्तिम निर्णय अन्वेषकों के हाथ में है।

रक्तवह स्रोतों के अतिरिक्त रक्तवह सिराओं का मूल भी यकृत्-प्लीहा कहे गए हैं--रक्तवाहिन्यश्च (सिराः) यकृत्प्लीह्नोः (सु. शा. ७।६)। रक्त को लाने और ले जानेवाली अनेक नालियाँ इन अवयवों से संबद्ध प्रत्यक्षगोचर होती हैं। इनमें स्रोत कौन हैं तथा सिरा कौन इस का विनिश्चय करना चाहिए। रक्तपित्त की संप्राप्ति में पित्त तथा रक्त की वृद्धि और दुष्टि के अतिरिक्त यकृत्-प्लीहागत रक्तवह स्रोतों का अवरोध भी होता है। चरक ने इस रोग की संप्राप्ति बताते हुए पित्त और रक्त के प्रकोपक कारणों का निर्देश करने के पश्चात् कहा है--

तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन् (लोहिते), स्वप्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात्[1] तदेव लोहितं दूषयति[2]॥ च० नि० २।४

राजयक्ष्मा में रक्त की प्रवृत्ति कण्ठ (प्राणवह स्रोत) या आमाशय दो स्थानों से होती है। आमाशय से होनेवाली रक्तप्रवृत्ति (केवल रुधिरच्छर्दन) में रक्त का मार्ग रुद्ध होता है। यक्ष्मा में स्रोतोरोध संप्राप्ति का एक अङ्ग है। अन्य स्रोतों के सदृश रक्तवह स्रोतों का भी यक्ष्मा में रोध होता है। इस रोध के कारण रुद्ध हुआ रक्त मांसादि धातुओं में तो जाता नहीं--यकृत्प्लीहा की दिशा में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती--परिणामतया आमाशय में संचित और उत्क्लिष्ट होकर वह कण्ठमार्ग से बाहर आता है।--

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति च॥ च. चि. ८।५८

यक्ष्मा में कण्ठ से रक्तप्रवृत्ति (सरक्त कफ-प्रवृत्ति) का कारण भी यह होता है कि शरीर दुर्बल होने से कण्ठ (प्राणवह स्रोत) में स्थित रक्त का प्रक्षेपण अपने

१--'प्रतिपद्यते' इति पाठान्तरम्।

२--स्वप्रमाणमतिवर्तते प्रवर्धत इत्यर्थः। × × × लोहितवहानामिति चकारोऽवधारणे। वक्ष्यति च रक्तपित्तचिकित्सिते--प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् (च. चि. ४।१०) इति--चक्रपाणि।

मूल यकृत्प्लीहा की दिशा में समीचीनतया होता नहीं। परिणामतया पूर्ववत् संचय और उत्क्लेश होकर वह बहिः प्रवृत्त होता है। उर कफ का स्थान होने से इस रक्त के साथ कफ की भी प्रवृत्ति होती है यह विशिष्टिता इस रक्त-प्रवृत्ति में होती है।--

अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्।
कण्ठात् प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्ट संचितः॥

च. चि. ८। ५७

इसी शैली से अन्य रोगों में होनेवाली रक्तवह स्रोतों की दुष्टि का भी अनुशीलन किया जा सकता है। स्रोतो विमान के इस प्रकरण में कही रक्तवह-स्रोतोदुष्टि स्वयं एक स्वतन्त्र विकृति है, यह पुनः स्मरण करा देता हूं। रक्तवह स्रोतों की दुष्टि से सामान्यतया सभी रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं। विधिशोणितीय अध्याय में रक्तज रोगों का जो उपाय कहा है वह रक्तवह स्रोतों की दुष्टि का भी उपाय है।--

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

च. सू. २४।१८

मांसवह स्रोतोंके मूल इत्यादि : मांसवह स्रोतों के मूल स्नायु तथा त्वचा (सुश्रुत में--स्नायु, त्वचा तथा रक्तवह धमनियाँ) हैं। मांसपेशियों को अस्थियों के साथ संयुक्त करनेवाले अवयव स्नायु (टेंडन) कहाते हैं। वातवह आदि सिराओं की व्याख्या करते कहा गया है कि सिराएँ यद्यपि सभी सर्वअवयवों, दोषों, धातुओं, उपधातुओं, मलों, आशयों और स्रोतों के पोषक द्रव्यों का वहन करती हैं, परन्तु जिस दोष के प्राधान्य वाले अवयव में वे जाती हैं वहाँ विशेषतया उसी दोष के पोषक द्रव्य छोड़ जाती हैं अतः उन्हें उस अवयव के नाम पर वातवह, पित्तवह आदि नाम दिये जाते हैं। देखिए--तासां तु वातवाहिनीनांवातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति--सु.शा.७।६। इसी प्रकार मांसवह आदि स्रोतों की भी यह व्याख्या की जाती सकती है कि, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष तथा स्वेद इन धातुओं तथा मलों के पोषक द्रव्य जिन नालियों द्वारा मांसपेशी आदि को प्राप्त होते हैं वे नालियाँ ही मांसवह स्रोत, मेदोवह स्रोत आदि पदों से वाच्य हैं। मांस की दुष्टि से जो रोग होते हैं वही मांसवह स्रोतों की दुष्टि से भी होते हैं--यथा अधिमांस, अर्बुद, कील (अर्श), गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका।

अभिष्यन्दी (स्रोतों में घटक द्रव्यों का लेप या बृद्धि करनेवाले एवं) स्थूल तथा गुरु भोज्य द्रव्यों के अतियोग और दिन में भोजन कर सोनेसे मांसवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इन की दुष्टि का उपचार वही है जो मांसदुष्टि से हुए रोगों का होता है। अर्थात्--मांसजानां तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्नि-कर्म च--च. सू. २८।२६। नाम--वमनादि शोधन, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म एवं अग्निकर्म।

मेदोवह स्रोतों के मूल इत्यादि--मेदोवह स्रोतों का मूल वृक्कद्वय (पाठान्तर में--दो बुक्क) तथा वपावहन हैं। (सुश्रुत में मेदोवह स्रोतों के मूल दोनों वृक्क तथा कटि बताए हैं)। वपावहन का अर्थ उदरावयवों की आवरणी कला, जिसे अंग्रेजी में पेरीटोनियम कहते हैं. वह निश्चित की गयी है। वृक्कौ पुष्टिकरौ ज्ञेयौ जठरस्थस्य मेदसः--जठर में जो मेद रहता है उसकी पुष्टि करनेवाले अवयव वृक्क हैं--इन पदों में वृक्कद्वय का परिचय देकर शार्ङ्गधर ने भी वृक्क, वपावहन तथा मेद का परस्तर संबन्ध बताया है। संभव है, वृक्कों की मूत्र स्राविणी क्रिया सुस्थित हो तो शरीर में मेद का प्रमाण समावस्था में रहता है। इस दृष्टि से विचार करने में शिलाजतु का उपयोग उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। यह वृक्कों की कार्यक्षमता बढ़ानेवाला है तथा साथ ही मेद का ह्रास करनेवाला (लेखन) भी है। कदाचित् इससे मेदके प्रमाण में कमी न हो तो भी मेदस्विता के कारण जो शारीर-मानस गौरव प्रभृति लक्षण होते हैं उनमें तो कमी आती ही है। संभव है, धमनीप्रतिचय के कारणों में एक जो धमनी की आभ्यन्तर कला में स्नेह का संचय (एथीरोमा) है, उसपर शिलाजतु के सेवन का कुछ परिणाम होता हो। इसी प्रकार नवीनों का प्रत्यक्ष है कि शरीर में उत्पन्न एक द्रव्य ब्लडप्रेशर को उन्नत करने में प्रेरक होता है। यह द्रव्य जैसे-जैसे बनता जाता है वैसे-वैसे वृक्कमार्ग से क्षरित होकर बाहर निकलता जाता है। इस रीति से शरीर में उसका प्रमाण सम रहने से ब्लडप्रेशर भी समावस्था में रहता है। कथंचित् वृक्कों में पाक (नेफ्राइटिस) आदि के रूप में स्वरूप-च्युति (विकृति) हुई हो तो वृक्क भी उक्त द्रव्य-विशेष का क्षरण यथावत् कर नहीं पाते। परिणामतया, शरीर में इस द्रव्य की प्रमाणवृद्धि होने से ब्लडप्रेशर में भी वृद्धि होती है। यथा, गर्भावस्था में होनेवाले एक्लेम्पशीआ या प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिआ नाम से अंग्रेजी में प्रख्यात रोग में वृक्कों की विकृति होने से ब्लडप्रेशर में भी वृद्धि होती है। आयुर्वेद-मत से तो यह कफज शोथ का ही परिणाम होने से कफ के साम्य को लक्ष्य में रखकर ही उपचार इस में करना चाहिए। भोज्य द्रव्यों का तो अनशन कराना ही चाहिए, अब्धातु की वृद्धि इस रोग में हुई होने से आवश्यक हो तो पेय द्रव्यों का भी--कदाचित जल का भी--परित्याग इस रोग में

कराना योग्य होता है। इस रोग में उक्तदृष्ट्या औषधतया शिलाजतु का प्रयोग कराने से गुण होना संभव है।

सुश्रुत ने (सु. सू. १५।३२ में) मेद की चिकित्सा में शिलाजतु आदि के साथ गोमूत्र का भी विधान किया है। यह भी मूत्रल है। इससे मूत्रके प्रभवस्थान वृक्क तथा मेद का कुछ संबन्ध होने की कल्पना को आश्रय मिलता है।

गोक्षुर मूत्रल रूप में प्रसिद्ध है। यह रसायन भी है। रस तथा अन्य वहनशील द्रव्यों का अयन जिन द्रव्यादि से सुधरे उन्हें रसायन कहा जाता है। संभव है, गोक्षुर मूत्रल होने से वृक्क के क्षरण स्वभाव को प्रकृतिस्थ कर रसवह स्रोतों (धमनियों) की आभ्यन्तर कला में होने वाले मेदसम द्रव्यों के संचय (धमनीप्रलेप, धमनी-प्रतिचय) को भी दूर करता हो।

मेदोवह स्रोतों की दुष्टि से वही लक्षण होते हैं जिनका मेदोज रोग नाम से उल्लेख कर आए हैं। अव्यायाम (श्रमाभाव), दिवास्वप्न, मेद्य (मेद की वृद्धि करनेवाले) आहार-विहारादि का अतियोग एवं वारुणी (ताडी) का अति-सेवन--इन कारणों से मेदोवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इसमें मेदोवृद्धि के जो उपाय कहे हैं उन्ही का अवलम्बन करना चाहिए।

अस्थिवह स्रोतों के मूल इत्यादि--अस्थिवह नाम अस्थि को पोषक रस पहुँचानेवाले स्रोतों का मूल मेद तथा जघन है। सुश्रुत में अस्थि, मज्जा तथा शुक्र के स्रोत नहीं दिए हैं। अस्थि वह स्रोतों की दुष्टि से पूर्वोक्त अस्थिज रोग होते हैं। अति व्यायाम (शक्ति से अधिक श्रम), अति संक्षोभ (अस्थियों को झटके लगना), अस्थियोंका अति विघट्टन (अति हलन-चलन) एवं वातकारक आहारादि का सेवन इन कारणों से अस्थिवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इन की चिकित्सा अस्थिज रोगों के सदृश ही करनी चाहिए।

मज्जवह स्रोतों के मूल इत्यादि--मज्जवह स्रोतों के मूल अस्थि तथा संधियाँहैं। इनकी दुष्टि से मज्जज रोग होते हैं। उत्पेष--अवयव पिस जाना, अति अभिष्यन्द (पानी में अत्यधिक काम करना), आघात, प्रपीडन--कोई अवयव दब जाना एवं विरुद्ध आहार का सेवन इन कारणों से मज्जवह स्रोतोंकी दुष्टि होती है। इन की चिकित्सा मज्जज रोगों के सदृश ही करनी चाहिए।

शुक्रवह स्रोतों के मूल इत्यादि--शुक्रवह स्रोतोंके मूल वृषण तथा शिश्न हैं। इनकी दुष्टिसे शुक्रज रोग होते हैं। अकालगमन--हर्ष न हुआ हो तब भी समागम का प्रयास करना, अयोनिगमन--योनिभिन्न मुष्टि, कृत्रिम योनि, गुद आदि में गमन, हर्ष (कामोद्रेक) का निग्रह, अति मैथुन एवं शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म से शुक्रवह स्रोतों की दुष्टि होती है। एक्सरे आदि का अति संसर्ग होने से क्लैब्य (पुंबीजनाश) आदि शुक्र विकार देखे जाते हैं। संहितोक्त

अग्निकर्म शब्द से उन का भी ग्रहण किया जा सकता है। शुक्रवह स्रोतों की दुष्टि का उपचार शुक्रज रोगों के सदृश ही करें।

मूत्रवह स्रोतों के मूल इत्यादि--मूत्रवह स्रोतों के मूल बस्ति तथा वंक्षण-द्वय (सुश्रुत में--बस्ति और शिश्न इन की दुष्टि होने पर अधोनिर्दिष्ट लक्षण होते हैं: मूत्र की प्रवृत्ति अति सृष्ट (बहुत पतली) या अति बद्ध (बहुत गाढा) होना, मूत्रस्राव प्रकुपित होना--उसमें विकृत वर्ण आदि तत्-तत् दोष के तत्-तत् लक्षण होना, मूत्रप्रवृत्ति थोड़ी-थोड़ी वार-वार होना या प्रचुर प्रमाण में होना, मूत्रप्रवृत्ति के समकाल शूल। इन लक्षणों को देख कर मूत्रवह स्रोत दुष्ट हुए हैं, यह जाना जा सकता है।

आयुर्वेद-निर्दिष्ट मूत्रयन्त्र अब तक विवादग्रस्त है। जब तक उसका निर्णय न हो जाए तब तक यहाँ कहे मूल पर विशेष विचार करना शक्य नहीं है। आयुर्वेद के वचनों की प्रायः ध्वनि यह है कि मूत्रका निर्माण अन्नपानगत क्लेद (द्रव अंश) से पक्वाशय में होता है। मूत्रवह स्रोतों से यह मूत्र पक्वाशय से बस्ति में पहुंचा दिया जाता है। यहाँ सरल प्रश्न किया जा सकता है कि शरीर में क्लेद तो रस, रक्त, स्वेद आदि अन्य द्रव्यों के अङ्ग के रूप में भी रहता ही है। उस क्लेद के प्रमाण में वृद्धि हो तो उसका भी तो निर्हरण मूत्ररूप में ही होना चाहिए। यह सत्य है कि मूत्रमार्ग से निकलनेवाले क्लेद का अधिकांश आहार का ही क्लेद है। यह भी सत्य है कि जैसे शारीर वायु की पुष्टि में समवायी कारण श्वास में गृहीत वायु आदि भी हैं, तथापि रोगों की उत्पत्ति और उपचार में जिस वायु को लक्ष्य में रखा जाता है वह पक्वाशय में अन्नपान के किट्टांश से उत्थित वायु ही है, इसी प्रकार शरीर में द्रवधातु अन्य रूप में विद्यमान होने पर भी अतिसार आदि रोगों में विगुण अर्थात् मूत्रादि के मार्ग से प्रवृत्त न होकर पक्वाशय में आए हुए (विमार्गगामी हुए) जिस शारीर क्लेद को लक्ष्य में रखा जाता है वह मूत्रगत क्लेद ही है तथापि इससे अन्य अवयवों और द्रव्यों में स्थित क्लेद (आर्द्रत्व) का निषेध तो नहीं होता। कम से कम यह प्रश्न तो रहता ही है कि अन्नपान से भिन्न द्रव्यों में स्थित इस क्लेद के निर्हरण का मार्ग कौन सा है? विशेष करके, नव्य प्रत्यक्ष के रहते तो वृक्कों द्वारा मूत्र के क्षरण की प्रक्रिया की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस विषय में विचारार्ह दो वचन हैं। एक तो रचनाशारीर के ग्रन्थों में उद्धृत अथर्ववेद का वह वचन है, जिसमें मूत्राशय में मूत्र को पहुचानेवाली दो प्रणालियाँ बताई गई हैं, जिन्हें गवीनी नाम दिया गया है। इस वचन में तथा इससे अगले मन्त्र में (अथर्ववेद प्रथम काण्ड ३।६।७) मूत्र यन्त्र के अङ्गभूत अवयवों का क्रमिक निर्देश है। द्वितीय मन्त्र में 'मेहन में रुद्ध मूत्र के प्रवर्तन का उल्लेख है। मेहन शब्द निश्चित ही शिश्न का वाचक है। प्रथम मन्त्र में सबसे अन्तमें बस्ति में रुद्ध हुए

मूत्र की प्रवृत्ति का निदश है। बस्ति निर्विवाद मूत्राशय है। इसके पूर्व गवीनी-द्वय निर्दिष्ट हैं। सायण ने इनका अर्थ मूत्राशय में मूत्र लानेवाली दो प्रणालिकाएँ बताया है। प्रत्यक्ष से ये नवीनोक्त 'यूरेटर' होना सिद्ध है। अब एक ही अवयव शेष रह जाता है--आन्त्र। कविराज गणनाथ सेन जी कहते हैं कि अन्त्रवत् कुण्डलित होने से वृक्क की अङ्गभूत सुसूक्ष्म मूत्रोत्सर्जन कारिणी प्रणालियों को ही यहाँ आन्त्र कहा है। यहाँ अन्त्र शब्द में सादृश्य में अण् प्रत्यय लगकर आन्त्र पद बनता है। इसमें अधिक विवाद को स्थान नहीं है। तथापि इस विषय में एक स्पष्ट प्रमाण भी सुलभ है। शार्ङ्गधर की आढमल्लकी टीकामें वृक्क का परिचय देते लिखा है--आहारजलवाहिसिरा धारौ तिलवृक्कौ--यहाँ कहा है कि वृक्क वे दो अवयव हैं जो आहारान्तर्गत जल का वहन करनेवाली सिराओं के (स्रोतोंके) मूल हैं। आढमल्ल ने यह वचन जिस आधार पर लिखा होगा वह आज उपलब्ध नहीं है। पर यह वचन नवीन एनेटॉमी भारत में आने के पूर्व का है। इससे वृक्क का अर्थ विनिश्चय करने में सौकर्य हो सकता है। विज्ञ वाचक विचार करें।

मूत्र के उत्पत्तिस्थान का विनिश्चय करने में अन्य एक प्रकरण को भी स्मरण किया जा सकता है। यह प्रकरण है शाखाश्रित कामला का। इस रोग में मलरञ्जक पित्त पच्यमानाश्रय में न जा सकने के कारण पुरीष का वर्ण श्वेत रहता है। अब यदि प्राचीनों को मूत्र का पक्वाशय से सीधे मूत्राशय में गमन अभिप्रेत होता तो शाखाश्रित कामला में मूत्र के भी श्वेतवर्ण होने की आशङ्का खड़ी होती। उसका समाधान भी देना तन्त्रकारों का कर्तव्य हो जाता। परन्तु तन्त्रकारों ने ऐसी कोई आशङ्का ही उपस्थित नहीं की है। इससे प्रमाणित होता है कि पूर्वाचार्यों के मत से मूत्र का सीधा पक्वाशय से मूत्राशय में आना अभिमत न होगा।

मूत्रवह स्रोत की दुष्टि के लक्षणों का निर्देश करते आचार्य ने उन्ही शब्दों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग प्राणवह स्रोतों की दुष्टि दर्शाते किया है। परन्तु मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि के प्रकरण में इन शब्दों का अर्थ वैसा क्लिष्ट नहीं है। पहला लक्षण है--अतसृष्ट या अतिबद्ध। बद्ध शब्द शास्त्र तथा लोक दोनों में गाढपुरीष के लिए विशेष प्रसिद्ध है। मूत्र में द्रवत्व की अपेक्षया घनत्व अधिक हो तो उसके लिए भी 'गाढा' आदि शब्द-प्रयोग होता है। वही अर्थ बद्ध मूत्र का भी किया जा सकता है। इसके विपरीत सृष्ट का अर्थ द्रवाधिक्य जिसमें हो ऐसा मूत्र लेना चाहिए। विपाकों का कर्म बताते (च. सू. २६।६१-६२ तथा सु. सू. ४१।११ में) 'सृष्टविण्मूत्र' तथा 'बद्धविण्मूत्र' शब्दों का प्रयोग किया है। चरक में इन पद्यों के पूर्वपद्यों में विपाकों का ही कर्म अन्य शब्दों में बताते हुए

वातमूत्रपुरीष की ससुख प्रवृत्ति तथा इन्ही की सदुःख प्रवृत्ति--इन पदों का प्रयोग किया है। उससे बद्ध तथा सृष्ट शब्दों से क्रमशः सकृच्छ्र प्रवृत्ति तथा ससुख (अनायास, बल प्रयोग किए विना) प्रवृत्ति ये अर्थ निष्पन्न होते हैं।

प्रकोप शब्द दोषों की वृद्धि के लिए प्रसिद्ध और सुविदित है। तदनुसार प्रकुपित का अर्थ दोषों की वृद्धि के लक्षण जिस के स्वरूप तथा प्रवृत्ति में लक्षित हों ऐसा मूत्र यह सरलता से लिया जा सकता है। मूत्र तथा उसकी प्रवृत्ति में तत्तद्दोषकृत विकृति का विस्तार प्रमेह, मूत्रकृच्छ, मूत्राघात के प्रकरणों में देखा जा सकता है। शेष विशेषण सुगम हैं। सुश्रुत में मूत्रवह स्रोत दो बताए हैं। उस में एक-एक वृक्क से आरम्भ होनेवाला एक-एक स्रोत मिल कर दो स्रोत निर्दिष्ट किए प्रतीत होते हैं।

पुरुष मूत्र के वेग (हाजत) से युक्त हो तथापि मूत्र विसर्जन न करके जलपान करे, भोजन करे, स्त्रीसंग करे किंवा यह कुछ न करता हुआ मूत्र के उपस्थित वेग का निरोध करे तो एवं वह अति कृश या क्षीण हो अथवा उसे क्षत हो तो मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि होती है।

मूत्रवह स्रोतों की दुष्टि होने पर मूत्रकृच्छ्राधिकारोक्त उपचार करना चाहिए।

पुरीषवह स्रोतों के मुल इत्यादि—पुरीषवह स्रोतों के मूल पक्वाशय तथा स्थूलगुद (पाठान्तर में--स्थूलान्त्र तथा गुद) (सुश्रुत में--पक्वाशय और गुद) हैं। इन के दुष्ट होने पर विशेष लक्षण ये होते हैं।--पीडित पुरुष सकृच्छ्र मलोत्सर्ग करता है (मल विसर्जन करते हुए उसे बल करना पड़ता है)। प्रवृत्ति अल्प-अल्प होती है। प्रवृत्ति के समकाल या आगे-पीछे शूल और शब्द होते हैं। मल अति द्रव या अति ग्रथित होतति प्रचुर है। मल अर होता है। इन लक्षणों को देखकर पुरीषवह स्रोत दुष्ट हुए हैं यह निदान करना चाहिए।

पक्वाशय, गुद, स्थूलान्त्र इन अवयवों को पुरीषवह स्रोत का मूल कहा है। पुरीषधरा कला का पृथक् निर्देश तन्त्रकारों ने अन्यत्र किया है। इन अवयवों से भिन्न किस अवयव को (सुश्रुत के निर्देशानुसार किन दो अवयवों को) पुरीषवह स्रोत कहा जाए यह शेष प्रश्न है। पुरीष में शरीर के इतर भागों से भी मल द्रव्य पक्वाशय में आते हैं। अतएव नवीनों ने व्रणों के उपचार के प्रकरण में विरेचन की योजना की है। प्राचीनों ने तो व्रण के षष्टि उपक्रमों में अन्य संशोधनों के साथ विरेचन की भी गणना की ही है। व्रण के रोगी को विरेचन देने में नवीनों का आधार यह है कि, व्रण में जो विष द्रव्य (टॉक्सीन) बनते हैं वे शरीर में प्रसृत होते हुए शुद्धचर्थ पक्वाशय में आते हैं। विरेचन द्वारा इनकी शुद्धि न करते रहें तो ये गृहीत हो शरीर में ज्वर-प्रभृति विक्रिया उत्पन्न करते हैं। तो पुरीष की वृद्धि करनेवाले ये द्रव्य तथा अतिसार आदि रोगों में शारीर क्लेद एवं

अन्य रोगों में तत्-तत् दोष (वातादि तथा रक्त) जिन मार्गों से पक्वाशय और गुद इन दो मूलों (सिरों, अन्त्रों) के मध्य में स्थित अवकाश में प्रविष्ट होते हैं उन मार्गों का नाम मेरे ख्याल में पुरीषवह स्रोत हो सकता है। इस अवकाश में स्थित अन्नपान का अंशभूत क्लेद जिन मार्गों से गृहीत होकर मूत्र की वृद्धि करता है वे मार्ग मूत्रवह स्रोत हैं, यह निर्विवाद मत है। इसी प्रकार पुरीष का अङ्ग बनने-वाले द्रव्य जिन सूक्ष्म स्रोतों से पक्वाशय में आते हैं वे पुरीषवह स्रोत कहे जा सकते हैं। ये शुद्ध हों तो मल न बहुत द्रव होता है न बहुत ग्रथित...इत्यादि।

पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण में पुरीष की अल्प-अल्प प्रवृत्ति यह एक लक्षण निर्दिष्ट है। इससे यह अभिप्रेत है कि पुरीष द्रव हो, सान्द्र हो या ग्रथित, वायु के कोप से इसका भेदन हो जाता है। पुरीष के पृथक्-पृथक् खण्ड हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि रोगी का मलोत्सर्ग नित्य के क्रमानुसार एक-दो-तीन जितनी भी वार होता था उतनी ही वार अब भी होता है। परन्तु वह एक वेग के समय एक ही साथ संपूर्ण निकल नहीं जाता। किन्तु थोड़ा-थोड़ा करके प्रवृत्त होता है। इस प्रकार रोगी को मलोत्सर्ग में सामान्य की अपेक्षया बहुत अधिक काल लगता है। यह विकृति कई वार आजन्म रहती है। ऐसे ही रोगी होते हैं जो घण्टों-घण्टों भी वर्चःस्थान (संडास) में बैठते हैं और कालक्षेप के लिए वर्तमान पत्र इत्यादि साधनों का उपयोग करते देखे-सुने जाते हैं। कई रोगियों में मल खण्डित हो कर अति दूर-दूर स्थान पर स्थित होता है। परिणामतया प्रत्येक मल अंश की प्रवृत्ति के वेग पर्याप्त समय के अन्तर से होते हैं। इन रोगियों को सामान्यतया अहोरात्र में जितनी बार मलोत्सर्ग के वेग होते थे, उसकी अपेक्षया अधिक संख्या में वेग होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा, मल द्रव, सान्द्र या ग्रन्थित (गांठ दार) किंवा रक्त, शूल, कफ, वात आदि के सहित या इन से रहित किसी भी प्रकार का हो सकता है। वातकृत इस विकृति को विड्भेद कहते हैं। यह स्वतन्त्र भी होती है और तत्-तत् रोग का अङ्गभूत भी होती है।

इन पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि वेगधारण से, अत्यशन से, आमाजीर्ण आदि अजीर्ण के किसी भी भेद से किंवा अध्यशन से होती है। पुरुष जन्म से या व्याधि-विशेषवश मन्दाग्नि या कृश हो तो भी उसके पुरीषवह स्रोतों की उक्त लक्षणाक्रान्त दुष्टि होती है।

आमाजीर्ण आदि अजीर्णों से कच्चे-पक्के दस्त होने का प्रत्यय प्रत्येक व्यक्ति को होता ही है। इस विक्रिया का शास्त्रीय नाम आमातिसार है। इसके अतिरिक्त वातज आदि दोषज अतिसारों में भी दोष आम हों तो भी अतिसार आम कहाता है। परन्तु तब उसके नाम में दोष-भेद से आम 'वातातिसार' आदि विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। आमाजीर्ण में आम अत्यधिक हो तो

उसके कफस्वभावी होने से उस के मन्द गुण के कारण आमपक्वाशय में अन्नपान, पुरीष आदि का वहन करने में प्रेरक रूप प्राण, समान तथा अपान वायु आवृत होने से उनका यह प्राकृत कर्म क्षीण हो जाता है। पक्वाशय में वहन क्षीण (मन्द) होने का परिणाम यह होता है कि तदन्तर्गत स्नेह तथा क्लेद का पचन और शोषण करनेवाले पुरीषाग्नि और वायु सम प्रमाण में हों तोभी उन्हें अपना प्राकृत कर्म करने के लिए काल अधिक मिलता है। परिणामतया पुरीष में शुष्कता अधिकाधिक आती जाती है, जिससे अन्त में वह ग्रथित हो जाता है। यह ग्रथित मल वायु को अवरुद्ध कर विगुण होता हुआ शूलादि लक्षणों को भी उत्पन्न करता है।

पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि के लक्षण देखकर वही चिकित्सा करनी चाहिए जो दोषभेद से अतिसार के विभिन्न भेदों की की जाती है।

स्वेदवह स्रोतों के मूल इत्यादि--स्वेदवह स्रोतों के मूल मेद तथा रोमकूप हैं। इनकी दुष्टि हो तो स्वेदनाश या अति स्वेद, अङ्गों की (त्वचा, जिह्वा आदि की) परुषता या अतिश्लक्ष्णता, अङ्गों में सर्वतः दाह तथा रोमाञ्च। इन लक्षणों को देखकर पुरुष के स्वेदवह स्रोत दुष्ट हुए हैं, यह अनुमान करना चाहिए।

व्यायाम, अति संताप (धूप, अग्नि आदि की उष्णता), अति शारीरिक-मानसिक क्षोभ, शीत और उष्ण का क्रमहीन सेवन, क्रोध, शोक तथा भय--इन कारणों से स्वेदवह स्रोतों पर क्रिया होकर उनकी दुष्टि होती है। इस स्थिति में वही उपचार करना चाहिए जो ज्वर होने पर किया जाता है।

इस विषय में कुछ संकेत पहले कर आए हैं कि स्वेदवह स्रोत से केवल उत्पन्न स्वेद को बाहर लानेवाली नालियाँ अभिप्रेत नहीं हैं। किन्तु स्वेद को उत्पन्न करनेवाले कोष किंवा उनकी पुञ्जभूत ग्रन्थियों का भी ग्रहण स्वेदवह स्रोत शब्द से करना चाहिए। व्यायाम, क्रोध, ज्वरारम्भक निदान तथा उनके उपचार इत्यादि की क्रिया से जो स्वेद की उत्पत्ति या नाश होता है उसमें क्रिया केवल नालियों पर होना प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार आर्तव, शुक्र आदि का वहन करनेवाले स्रोत भी केवल नालीरूप नहीं समझे जा सकते। इनका भी व्यापक अर्थ उत्पादक ग्रन्थि-समेत वाहक नाली (नाडी) लेना समीचीन होगा। किं बहुना, ऊपर हम यह भी कह आए हैं कि स्वयं स्रोत शब्द शरीर के चरम इकाई रूप शरीरपरमाणुओं या कोषों (सेलों) का वाचक होना आयुर्वेद के पूर्वाचार्यों को अभिमत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से स्रोतों का विचार किया जाए तो इनका स्वरूप विशदतर हो सकता है।

रोग-परीक्षा के प्रकरण में स्रोतों की परीक्षाका उल्लेख कर अब हम अन्य परीक्ष्य वस्तुओं का निर्देश करते हैं।

बाह्य स्रावों की परीक्षा

रोगों की सामान्य संप्राप्ति के प्रकरण में वाग्भट ने कहा है : दोषा दुष्टा रसैर्धातून्[1] दूषयन्त्युभये मलान् (अ. हृ. सू. ११।३५) : अर्थात्---मधुरादि रसों एवं गुरु-लघु आदि गुण आदि के मिथ्यायोग, अतियोग या हीनयोग से प्रथम दोषों का वैषम्य होता है। विषम हुए दोष रस-रक्तादि धातुओं को दूषित करते हैं। दूषित दोष तथा धातु दोनों संयुक्त होकर मलों को दूषित करते हैं।

इस प्रकरण में वाग्भट ने तथा इसी के सदृश प्रकरण में (च. सू. ७। ४२ में) चरक ने आगे कहा है कि मल अपनी वृद्धि या क्षय का प्रभाव अपने-अपने मलद्वार पर डालते हैं। परिणामतया, अलक्ष्य दोषों की विषमता का स्वरूप ,तथा उसका तारतम्य मलों तथा मल द्वारों को देखकर सम्यक् जाना जा सकता है। त्वचा, गुद, शिश्न आदि मलद्वार हैं तथा पुरीष, मूत्र आदि मल हैं, जिन की परीक्षा आयुर्वेद-मत से रोग-परीक्षा में सदैव की जाती है। नीचे दिए प्रसिद्ध पद्य में इस दृष्टि से परीक्षणीय भावों का परिगणन किया गया है।

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं, मूत्रं, मलं, जिह्वां, शब्दस्पर्शदृगाकृतीः॥

अर्थात् रोगी के शरीर के निम्न आठ स्थानों की परीक्षा करनी चाहिए : नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श (त्वचा), नेत्र तथा आकृति।

नाड़ी से किसी बाह्य स्राव या मलकी परीक्षा नहीं की जाती। तथापि दोषों का प्रभाव हृदय पर और उसके द्वारा उससे निकलनेवाली धमनी-संज्ञक शिराओं पर पड़ता है, अतः दोषों के बलाबल का ज्ञान धमनियों की परीक्षा से होता है। परीक्ष्य धमनियों को आयुर्वेद में नाडी नाम दिया गया है। नाड़ी-परीक्षा के संबन्ध में अधिक विचार इसी ग्रन्थ में आगे आएगा। यहाँ इतना ही कहना है कि दोषों का प्रभाव रस-रक्त पर पड़ता है और निज या आग़न्तु किसी कारण से शरीर के किसी मार्ग से रक्तस्रुति हो तो उसकी परीक्षा से जाना जा सकता है कि वह किस दोष से आक्रान्त है। पुरीष, मूत्र, रक्त आदि स्रावों एवं त्वचा आदि इन्द्रियाधिष्ठानों की दोष भेद आदि की दृष्टि से परीक्षाएँ शास्त्र में निर्दिष्ट है। उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है।

शुद्ध तथा अशुद्ध रस के लक्षण

रक्तसार पुरुषों के लक्षण में शुद्ध रक्त के ऐसे लक्षणों का निर्देश किया जा चुका है जिन्हें देखकर निज या आगन्तु किसी कारण से रक्त का स्राव हुए विना

१---रसग्रहणं वीर्यादीनामुपलक्षणम्---अरुणदत्त।

भी जाना जा सकता है कि यह पुरुष शुद्धरक्तवान् है। यहाँ उन लक्षणों का निर्देश किया जाता है जिन को स्रुत रक्त में देखकर कह सकते हैं कि यह रक्त शुद्ध है या वातादि दोषों में किसी दोष से दूषित (अशुद्ध)।

क्रियाशारीर या दोषधातुमलविज्ञान में शुद्ध रक्त के अधोलिखित लक्षण[१] बताए गए हैं: शुद्ध रक्त रक्तवर्ण होता है। मानवों की वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सम प्रकृति के अनुसार रक्त की रक्तिमा में न्यूनाधिक भिन्नता होती है। समप्रकृति पुरुष के रक्त की रक्तिमा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के वर्ण के सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतिवाले पुरुषों के रक्त का वर्ण तप्त सुवर्ण, रक्तकमल, लाक्षारस या गुञ्जाफल के सदृश[२] होता है।

एवं शुद्ध रक्त न अति घन न अति अच्छ (पतला), तथा अस्कन्दनशील (न जमनेवाला) होता है।

वातादिदोषदूषित अशुद्ध रक्त के पृथक् लक्षण ये हैं।

वात-दूषित रक्त कृष्णारुण (काले-गुलाबी) वर्ण वाला; तनु (पतला) रूक्ष (चक्षुरिन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय को स्निग्धता रहित प्रतीत होनेवाला), परुष, शीघ्रगति--क्षत से अधिक वेग से निकलनेवाला, विशद (पिच्छिलता-रहित) एवं अस्कन्दनशील (न जमने के स्वभाववाला) होता है।

पित्त-दूषित रक्त नील-हरित-पीत-श्याववर्ण, आमगन्धि (कच्ची मछलियों के गन्धवाला), (पित्त के तिक्त रस, तीक्ष्णत्वादि गुणों के कारण) मक्खियों और पिपीलिकाओं को अप्रिय--ये प्राणी खाने के लिए जिस पर न बैठें ऐसा उष्णस्पर्श तथा अपनी उष्णता के कारण देर से जमनेवाला या न जमनेवाला होता है। वर्ण-भेद की व्याख्या करते डल्हन ने लिखा है कि: श्याव (हरित-कृष्ण) वर्ण साम पित्त से दूषित रक्त का होता है; निराम पित्त दूषित रक्त पीत वर्ण होता है।

१--स्थल: च. सू. २४।२२, सु. सू. १४।२२ तथा चक्रपाणि--डल्हन।

२--सुश्रुत के मूल वचन में 'अविवर्णम्' विशेषण है। डल्हन ने इसकी टीका में लिखा है--**अविवर्णमिति इन्द्रगोपकवर्णमपि ईषद विविधवर्णम्। एतेन पद्मालक्तकगुञ्जाफल वर्णमित्युक्तम्। अथवा वस्त्रादिलग्नं सत् प्रक्षाल्यमानं न विवर्णतां यातीत्यविवर्णम्।** प्रथम अर्थ ऊपर दिया है। द्वितीय अर्थ यह है कि--वस्त्रादि पर लगने पर इसे धोएँ तो जो विवर्ण (भिन्नवर्ण का) न हो जाए वह अविवर्ण। 'असंहतम्' का अस्कन्दनशील अर्थ भी एकीय मत से है।

३--स्थल: च. सू. २४।२०-२१; सु. सू. १४।२१, तथा डल्हन।

कफ-दूषित रक्त गैरिक (गेरू) के द्रव (घोल) के समान पाण्डु-रक्त वर्ण का (किञ्चित् पाण्डु), पिच्छिल (चिपचिपा), तन्तुमान्, बहल (अधिक प्रमाण वाला), घन (गाढ़ा), स्निग्ध, शीतल, चिरस्रावी (क्षत से धीमे-धीमे स्रुत होने वाला), एवं अपने शीघ्र जमने के स्वभाव (तन्तुमत्ता) के कारण जमकर मांसपेशी (मांस खण्ड) के सदृश प्रतीत होनेवाला होता है।

प्रकुपित रक्त दूषित रक्त में पित्तदुष्टि के ही लक्षण होते हैं; परन्तु उसमें कृष्ण-वर्णता विशेष होती है।

संसर्ग (दोष द्वय)—दूषित रक्त में संसृष्ट दोषों के लक्षण दृग्गोचर होते हैं।

संनिपात-दूषित रक्त तीनों दोषों के उक्त सर्वलक्षणयुक्त, काञ्जी के समान तथा विशेष दुर्गन्धयुक्त होता है।

जीवरक्त तथा पित्तरक्त में भेद[1]

वमन का अतियोग होने पर मुख या आमाशय से तथा विरेचन का अतियोग होने पर गुदमार्ग से रक्त प्रवृत्ति एक लक्षण होता है। यह रक्त पित्तदूषित या शुद्ध दोनों में कोई हो सकता है। रक्तपित्त, रक्तप्रदर आदि रोगों में भी रक्त पित्तदूषित या शुद्ध दोनों में कोई हो सकबा है। रक्तपित्त-रक्तप्रदर आदि रोगों में भी रक्त पित्त इन भेदों दूषित या शुद्ध में कोई होना संभव है[2]। शरीर से किसी भी कारण शुद्ध रक्त की प्रवृत्ति हो तो उसे जीवादान कहते हैं। क्रियाशारीर में रक्त के प्राकृत गुण-कर्म बताकर रक्त को जीवन का परम आधार होने से जीव ही कहा जाता है यह सिद्धान्त बताया गया है। रक्तं जीव इति स्थितिः। रक्त पित्तदूषित हो तो सामान्यतया उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, उसके स्तम्भन का उपाय न करना चाहिए। कारण, रक्त के साथ उसकी दुष्टि करनेवाला पित्त भी निकल जाने से रक्त और सर्वाङ्ग निर्दोष हो जाता है। परन्तु जीवरक्त (शुद्ध रक्त) का एक भी बिन्दु शरीर से निकलने न देना चाहिए। स्थिति यह होने से किसी भी कारणवश निःस्रुत रक्त पित्तदुष्ट (रक्तपित्त) है या जीवरक्त इस की परीक्षा आवश्यक है।

यहाँ दुष्टि के कारणभूत अन्य दोषों को स्मरण न कर केवल पित्त को

१—स्थल : च. सि. ६।७८-८० ; सु. चि. ३४।१४

२—इस बात का प्रमाण यह है कि चरकाचार्य ने जो वीस पित्तनानात्मज रोग गिनाए हैं, उनमें **जीवादान** भी एक है। शिवदास सेन ने इसका अर्थ '**जीवनहेतुभूत धातुरूपशोणितनिर्गमः**' कह कर वही अर्थ बताया है जो वमन-विरेचनातियोग की जीवादान-रूप व्यापत्ति का बताया गया है।

लक्ष्य में रखना सकारण है। रक्त आग्नेय (अग्नि महाभूत की अधिकतावाला) और उष्ण-तीक्ष्णादि गुणयुक्त होता है। कफ तथा वायु में इसके विपरीत शीत-स्निग्धादि गुण होते हैं। विरोधी गुणों के द्वारा रक्त अपने आश्रय में कफ और वायु की वृद्धि उतनी नहीं होने देता। पित्त रक्त का समानधर्मा होने से रक्त को शान्त नहीं करता। दोनों समान होने से एक-दूसरे के बल की वृद्धि करते हुए रक्तज रोगों को उत्पन्न करते हैं। परिणामतया रक्तज रोग प्रायः पित्तज होते हैं। अतएव जीवादान के इस प्रकरण में दूषित रक्त को रक्तपित्त नाम से ही स्मरण किया है।

जीवरक्त तथा शुद्धरक्त की परीक्षा यह है। निर्गत रक्त में श्वेत शुष्क वस्त्र अथवा पिचु (रूई का टुकड़ा) भिगोए। इसे उष्ण जल से धोने पर वस्त्र वा पिचु शुद्ध निकल आए उसपर किसी प्रकार का कलङ्क (डाग) न रहे, तो इसे जीवरक्त जाने, अन्यथा पित्तदूषित रक्त जाने। अन्य परीक्षा यह है कि इस रक्त में चावल या सत्तू मिला कुत्ते या कौए के आगे रखें। वह यदि खाए तो जीवरक्त जाने, अन्यथा दुष्ट रक्त (रक्तपित्त) है ऐसा समझे।

शुद्ध और दुष्ट आर्तव की परीक्षा

शुद्ध आर्तव मास में एक वार अपत्यपथ (योनि) से प्रवृत्त होता है। यह अग्नि-महाभूत की प्रधानता वाला रक्त धातु ही होता है। इस की पुष्टि रस धातु से एक सप्ताह में होती है। इसकी पुष्टि और आविर्भाव को एक मास लगता है। केश के सदृश सूक्ष्म सिराएँ (केशिकाएँ) इस रक्त (बीजरक्त) से परिपूर्ण होकर गर्भाशय को पूर्ण करती हैं। इन केशिकाओं का पूरण दो धमनियों द्वारा आए रक्त से होता है। गर्भाशय में आकर यही सार्वदैहिक रक्तधातु आर्तव इस संज्ञा को प्राप्त होता है। वायु के प्रभाव से यह कुछ कृष्णवर्ण और विकृत गन्धवाला रक्त योनि के द्वार पर आकर निकल जाता है। इस अवसर पर गर्भस्थिति न हो तो गर्भाशय पुनः संकुचित हो जाता है और (पुं) बीज को ग्रहण नहीं कर सकता।

आर्तव शुद्ध हो तो उसमें ये लक्षण होने चाहिए : उसकी प्रवृत्ति मास में एक वार हो। उसकी प्रवृत्ति पाँच दिन हो। उसका प्रमाण न अति बहु हो, न अति अल्प। उसका वर्ण इन्द्रगोप, गुञ्जाफल, रक्त कमल, शशक के रक्त या लाक्षारस के सदृश हो। उसमें पिच्छा (कफ के छिछड़े) न हों। उसकी प्रवृत्ति के आगे-पीछे या उसके समकाल दाह या वेदना न हो। वह स्निग्ध और मधु के गन्धवाला हो, पिच्छिल तथा शीत न हो। एवं वस्त्र पर लगा वह (आर्तव)

शुष्क हो जाने पर उसे धोया जाय तो उस का कलङ्क (डाग) न रहे। ऐसा आर्तव प्रशस्त--गर्भजननोपयुक्त--होता है[1]।

आर्तव की प्रवृत्ति मास में एक वार होनी चाहिए इसका अर्थ यह नहीं कि प्रवृत्ति तीस-तीस दिन के अन्तर से हो। प्रत्येक स्त्री में तीस दिन से कुछ न्यूनाधिक दिनों के अन्तर से आर्तव-प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अन्तर के दिनों की प्राकृत संख्या प्रत्येक स्त्री में पृथक् होती है। इस संख्या में वृद्धि -ह्रास होना दुष्टि का लक्षण होता है।

'पञ्चरात्रानुबन्धि' की विशदता करते चक्रपाणि ने लिखा है : पञ्चरात्रानुबन्धीति उद्भूततया पञ्चरात्रमनुबध्नाति इति पञ्चरात्रानुबन्धि द्वादशरात्रानुबन्धित्वादातवकालस्य। किंवा द्वादशरात्रपर्यन्तं गर्भारम्भकत्वमार्तवस्य न तु प्रवृत्तिरिति ज्ञेयम्--अर्थात् स्राव के पश्चात् बारह और सब मिलकर सोलह रात्रियाँ (दिवस) आर्तवकाल कहा ता है। इस काल में स्त्री को ऋतु मती कहते हैं। शुद्ध आर्तव के लक्षणों में जो पाँच रात्रियों तक अनुबन्ध (संबन्ध-आर्तवकाल) की बात कही है उसका अर्थ यह है कि इतने दिनों की अवधि में आर्तव उद्भूत (प्रकट, प्रत्यक्षगोचर) होता है। (परन्तु उसमें गर्भोत्पादनक्षमता नहीं होती)। इसी को अन्य शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि बारह दिनों में आर्तव में (जो कि लीन अवस्था में गर्भाशय में ही रहता है) गर्भ के उत्पादन का सामर्थ्य रहता है, प्रवृत्ति नहीं होती। इस पद्य की टीका में मधुकोषकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

शुद्ध आर्तव के वर्ण में जो इन्द्रगोप, गुञ्जाफल इत्यादि उपमान बताए हैं उसका अर्थ भी शुद्ध रक्त के वर्ण के सदृश यही है कि सम-प्रकृति स्त्री में इन्द्रगोप या गुञ्जाफल के समान वर्ण होता है। शेष वर्ण तत्-तत् प्रकृति में होते हैं। परन्तु, प्रकृति निरूपण के प्रकरण में चरक ने कहा है कि मानवों का स्वभाव ही विषम आहार-विहार करने का होता है, जिसमें दोषों का समत्व उन में रहना संभाव्य ही नहीं है। अतएव वातल आदि को प्रकृति न कह कर विकृति ही कहना योग्य है। (देखिए : च. वि. ६। १३)। इस चर्चा से प्रस्तुत प्रकरण में यह बोध ग्रहण कर सकते हैं कि स्त्री-पुरुषमात्र में दोषों का साम्य दुर्लभवत् होने से इन्द्रगोप या गुञ्जाफल के सदृश रक्त किंवा आर्तव प्रायः होता नहीं। स्वयं

१—स्थल : सु. सू. १४।७ ; सु. सू. १४।१४, इसपर डल्हन—चक्रपाणि-टीका ; सु. शा, ३।९-१० ; सु. शा. ६।७ ; सु. शा. ६।१२ ; सु. शा. २।१७ ; च. चि. ३०।२२५-२२६ ; पिछले दो स्थलों पर चक्रपाणि तथा मधुकोष टीका।

सुश्रुत ने नीचे के पद्य में आर्तव का सामान्य स्वरूप बताते हुए उसे ईषत् कृष्ण और विकृतगन्धवाला कहा है। देखिए :—

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥

सु० शा० ३।१०

इस प्रकरण में लाक्षा बदरी, पिप्पली आदि पर लगी ग्राह्य है, न कि उसे शुद्ध कर बनाई हुई शलाका, जो मुद्रा (सील) के लिए बाजार में मिलती है। (वृक्ष-लग्न लाक्षा भी मुद्रा का काम देती ही है)।

पिच्छा आदि लक्षण तत्-तत् दोष-कृत दुष्टि के हैं। पिच्छा प्रतिश्याय, कास, आदि में निकलनेवाले कफ के समान आर्तव में कफ की वृद्धि और स्थान संश्रय के सूचक हैं। दाह तथा उष्णता पित्त-वृद्धि के सूचक हैं। वेदना वातप्रकोप के कारण होती है। इन-इन दोषों का स्थान-संश्रय गर्भाशय और आर्तव में होने से तत्-तत् विकृतियाँ होती हैं। योनिव्यापत् नाम से शास्त्र में इनका उल्लेख किया है। ये व्यापत्तियाँ वात, पित्त तथा श्लेष्मा के कोप के भेद से संक्षेप में तीन प्रकार की होती हैं। आर्तव की अति प्रवृत्ति अर्थात् नियत अन्तर के पश्चात् प्रवृत्त होने पर भी अधिक दिन प्रवृत्ति, किंवा प्रवृत्ति उतने ही दिन हो तो भी आर्तव का प्रमाण अधिक होना अथवा आर्तव अल्प दिनों के अन्तर से आना असृग्दर या रक्तप्रदर कहाता है। अपत्यपथ से रक्तस्राव कई दिन, सप्ताह या महीने रहे यह विकृति रक्तयोनि या असृक्क्षरायोनि कहाती है। यह पैत्तिक योनि व्यापदों में एक है।

वर्ण, प्रमाण आदि की इन विकृतियों के अतिरिक्त दोष का स्थान संश्रय स्वयं आर्तव रक्त में होने से उसके स्वरूप में भिन्नता होती है। सुश्रुत तथा संग्रहकार ने इन दुष्टियों के निर्देश के क्रम में प्रथम शुक्र की दुष्टि का सविस्तर निर्देश किया है। पश्चात् आर्तव की दुष्टि के प्रति संकेतमात्र किया है। उसके अनुकरण में हम भी आर्तव की दुष्टियों का केवल नामतः निर्देश कर विस्तार शुक्रदुष्टि के विवरण में देंगे। दूषित आर्तव के वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्म दूषित, कुणपगन्धि, ग्रन्थिसदृश, पूतिपूयसदृश, क्षीण और मूत्रपुरीषगन्धि आर्तव ये आठ भेद होते हैं। ये आर्तव बीज के धारण में अशक्त होते हैं। इनमें कुणप गन्धि (शवसदृश गन्धवाला), ग्रन्थिसदृश, पूतिपूयसदृश, क्षीण और मूत्रपुरीष-सदृश आर्तव असाध्य होता है, शेष साध्य होते हैं। (नवीनों का रक्तार्बुद-केन्सर आदि-से प्रवृत्त होनेवाला दुर्गन्धि रक्त इन विकृतियों में ही कहीं समाविष्ट किया जा सकता है। लघु वाग्भट ने अ. हृ. उ. ३३।२४-२६ में शिश्न के रक्तार्बुद और मांसार्बुद का निर्देश किया है। मांसार्बुद को प्रत्याख्येय भी कहा

हैं। इसके पश्चात् इसी अध्याय में योनिव्यापत्तियों का वर्णन किया है। परन्तु उनमें अर्बुद का उल्लेख नहीं किया है)।

शुद्धाशुद्ध शुक्र की परीक्षा[१]

शुद्ध शुक्र के लक्षण शुक्रसार पुरुषों के लक्षण के रूप में आ ही गए हैं। उनके अतिरिक्त रक्त के सदृश प्रवृत्त शुक्र के स्वरूप एवं प्रवृत्ति-समकालिक लक्षणों द्वारा भी शुद्ध तथा अशुद्ध शुक्र के लक्षण जाने जा सकते हैं। इनमें --

शुद्ध शुक्र स्फटिकवत् निर्मल (स्वच्छ, पारदर्शक), किन्ही के मत में तैल या मधु के सदृश; स्निग्ध, गुरु, घन, किंचित् द्रव, पिच्छिल, बहु (पुष्कल प्रमाण-वाला) मधुर, अविदाहि, शुक्लवर्ण, मधुतुल्य गन्धवाला तथा आमगन्धरहित होता है। यही प्रजोत्पत्तिक्षम होता है।

प्रकुपित हुए दोषों का स्थानसंश्रय शुक्र में हो तो उसके स्वरूप में दोषभेद से तत्-तत् विकृति होती है। एवं उसकी प्रवृत्ति के समकाल भी तत्-तत् लक्षण होते हैं। चरक, सुश्रुत दोनों ने दुष्ट शुक्र के आठ-आठ प्रकार बताए हैं। इनमें वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् दुष्ट हुए शुक्र के लक्षण दोनों तन्त्रों का समन्वय कर आरम्भ में देता हूँ। संग्रहकार ने इन के लक्षण 'समन्वयपूर्वक ही दिए भी हैं।

वात दूषित शुक्र फेनयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है। उसका वर्ण अरुण-कृष्ण आदि कुपित वायु के सदृश होता है। वह देर से, कठिनाई से तथा अल्प प्रमाण में एवं रुक-रुक कर (विच्छिन्न) प्रवृत्त होता है। उसकी प्रवृत्ति के समय (शिश्न आदि अवयवों में) तोद-भेदादि वेदनाएँ होती हैं। यह प्रजोत्पत्तिक्षम नहीं होता।

वातिक कास में कफ, वातिक स्तन्य, वातिक छर्दि में वान्त द्रव्य, वातिक शुक्र इत्यादि में द्रव्य का फेनयुक्त होना विशिष्ट लक्षण होता है। होता यह है कि द्रव्य का घनत्व अल्प होने से प्रवृत्ति के समय बाह्य वायु उसमें प्रविष्ट हो जाता है। परिणामतया, साबुन के पानी के फेन आदि के सदृश इन द्रव्यों में भी फेनिलता (फेनयुक्तता) आती है।

वातदुष्ट शुक्र पतला (तनु) होने का कारण यह होता है कि शुक्र के घटक (पुंबीज आदि) की पुष्टि उतनी नहीं होती। धातु विशेष का क्षय होने से ही वायु को उसमें स्थान संश्रय का अवकाश सुलभ होता है। शुक्र का पतलापन लोकव्यवहार में सुप्रसिद्ध है।

१—स्थल: सु. शा. २।११; च. चि. ३०।१४५; च. चि. २।पा-४-५०; च. चि. ३०। १३९-१४४; सु. शा. २।३-४; च. चि. २८।३४; च. चि. २८।६८; सु. नि. १।२९ (तथा डल्हन); अ. सं. शा. १।

शुक्र की कठिनाई से प्रवृत्ति का अर्थ यह है कि उसकी मात्रा अल्प होने से उसकी प्रवृत्ति होती नहीं। आवेग की पूर्ति के लिए पुरुष बलप्रयोग (प्रवाहण) करता है। जैसे प्रवाहिका में मल की प्रवृत्ति के लिए तथा शनैर्मेह में मूत्र की प्रवृत्ति में रोग-स्वभाववश रोगी को बलप्रयोग करना पड़ता है वही स्थिति शुक्र क्षीण होने पर किए गए व्यवाय में शुक्र की प्रवृत्तिके संम्बन्ध में होती है।

पित्तदूषित शुक्र किंचित् नील-पीत आदि पित्त के वर्ण वाला, अति उष्ण, दुर्गन्धियुक्त एवं पिच्छिलता रहित होता है। उसके निकलते हुए ओष, चोष, दाह आदि पैत्तिक वेदनाएँ होती हैं।

प्रवृत्त हुए शुक्र के कृष्ण-अरुण, पीत आदि वर्ण व्यवाय में तो कदाचित् प्रत्यक्ष गोचर होने संभव नहीं, परन्तु स्वप्नमेह आदि में कपड़े आदि पर पड़े उसके लाञ्छन (डाग) से ये वर्ण देखे जा सकते हैं।

कफ-दूषित शुक्र शुक्लवर्ण, प्रभूत (अधिक प्रमाणवाला) अति पिच्छिल तथा कण्डू आदि श्लैष्मिक वेदनाओं का जनक होता है। यह आमगन्धि (विस्रगन्धि) होता है। पानी में छोड़ने पर यह कुछ-कुछ नीचे बैठ जाता है। संग्रहकार ने इसे मज्जायुक्त भी कहा है।

शुक्रगत वात के लक्षण प्रकारान्तर से वातदूषित शुक्र के स्वरूप का ही निर्देश करते प्रतीत होते हैं। दोनों में भिन्नता यह समझनी चाहिए कि शुक्र वातदूषित हो तो शुक्रके स्वरूप में ही विकृति आ जाती है। उसका प्रभाव परम्परया शुक्र की प्रवृत्ति पर भी पड़ता है। शुक्रगत वात का अर्थ है: शुक्र स्वयं विकृत न हो परन्तु उसका स्थान तथा उसका प्रादुर्भाव और विसर्ग करने वाली धमनियाँ और स्रोत वाताभिभूत हों तो अमुक विकृति होती है। शुक्रगत वात के लक्षण ये हैं: शुक्र की अप्रवृत्ति (स्राव न होना), किंवा अति शीघ्र[1] या अति मन्द प्रवृत्ति; किंवा शुक्रमें विवर्णता, ग्रथितता आदि विकृति होना, गर्भ का स्राव या पात; अथवा गर्भ चिरकालतक (प्रसव का सामान्य काल उपस्थित होने के पश्चात्भी) गर्भाशय में रहना; अथवा गर्भ के आकार में नाना विकृतियाँ होना।

वायु स्वयं शुक्रसे आवृत हो तो शुक्र का पात न होना या वेग से पतन अथवा गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता (निष्फलत्व)--ये लक्षण होते हैं।

शुक्रविसर्गकर स्रोत वायु के कोप के कारण स्तब्ध (आकुञ्चन-प्रसारण रहित) हों तो शुक्र की प्रवृत्ति शक्य नहीं होती। अतिशीघ्र प्रवृत्ति के अनेक प्रकार हो सकते हैं। इसका एक प्रकार दिन में अल्पमात्र मानसिक या शारीरिक

१--Premature ejaculation--प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन; Early discharge--अर्ली डिस्चार्ज। प्रसिद्ध नाम--शीघ्रपतन।

कारण के योग से शुक्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इस विकृति में शारीरिक कारण का उदाहरण कण्डूयन (खुजलाना), हस्तदोष आदि हैं। इसका अन्य प्रकार रात्रि में न्यूनाधिक कारणवश स्वप्न में शुक्र की प्रवृत्ति (स्वप्नदोष) है। इसका तृतीय प्रकार व्यवाय-काल में दम्पती--विशेषतया स्त्री--तृप्तिलाभ करें उसके पूर्व ही शुक्रप्रवृत्ति होना है। इन स्थितियों में प्रायः वैद्य शुक्र के तनुत्व (पतलापन) को ही ध्यान में रखकर वङ्गभस्म आदि शुक्रवृद्धिकर या शुक्रवह स्रोतों के बल्य उपचारों की योजना करते हैं। इन स्थितियों में वात की कारणता प्रायः लक्ष्य में आती नहीं। वायु की वृद्धि न करें ऐसे आहार-विहार तथा औषधों एवं उत्पन्न वायु का शोधन-शमन करनेवाले उपचारों की योजना इन विकृतियों में की जाए तो यह मूलगामी उपचार उतना ही आशुफलप्रद भी होता है। इन से वायु का चल स्वभाव शान्त होकर उसके कारण शुक्र में आया चाञ्चल्य दूर होता है।

गर्भ का स्राव या पात भी शुक्र में आये चलत्व के कारण होता है। क्षयादिवश शुक्र की अप्रवृत्ति, शुक्र का शीघ्र स्खलन एवं उसके कारण स्त्री को सौमनस्य-लाभ न होने से गर्भधारण न होना किंवा गर्भ का स्राव या पात हो जाना--इन विकृतियों के कारण शुक्र में गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता वातकृत शुक्र-विकृति का विशिष्ट लक्षण है। कदाचित् यह भी स्थिति हो सकती है कि गर्भ का पोषण करनेवाले रस-रक्त वाही स्रोत वायु के कारण स्तब्ध हों--उनमें आवश्यक प्रमाण में आकुञ्चन-प्रसारण न होता हो तो गर्भ की पुष्टि यथावत् न होने से वह जानो पुष्टि की प्रतीक्षा में प्रसवकाल के पश्चात् भी गर्भाशय में रहता है। इस विकृति को शुष्क या नागोदर कहा जाता है। कदाचित् प्रसव के समय गर्भ के निष्क्रमण के मार्ग वायु के प्रकोप के कारण संकुचित हो जाएँ तो गर्भ पीडित होने से उसकी मृत्यु हो जाती है। इस स्थिति में गर्भ को लीन कहते हैं। मृत्यु की इस दशा में विद्यमान परन्तु अभी मृत्यु को प्राप्त न हुए गर्भ को लीयमान गर्भ कहा जाता है। गर्भ की प्रतिबन्धक इन स्थितियों की सूचक एक संज्ञा गर्भनाश है। गर्भनाश वायु के अस्सी नानात्मज रोगों में एक है। निष्फलत्व शब्द से भी यही अर्थ गृहीत होता है।

अनपत्यता (प्रजा न होना) की स्थिति में केवल स्त्री दोष-पात्र नहीं होती। पुरुष का भी दोषी होना सर्वथा संभव है। यह इस वर्णन से स्पष्ट है। प्राचीन वैद्य तो अतएव अनपत्यता की अवस्था में स्त्री के साथ पुरुष को भी औषध-सेवन कराते थे। नव्य प्रत्यक्ष भी इस मत का समर्थन करता है। अनपत्यता के लगभग आधे प्रसंगों में पुरुष कारण होता है। पुरुष में पुंबीजों की संख्या पर्याप्त न होना, किंवा उन में वेग पर्याप्त न होना किंवा गति सीधी दिशा में न होकर तिर्यक्

या वृत्ताकार होना ये पुरुष के प्रजोत्पत्ति-विघातक शुक्रदोष नव्य-मत से माने जाते हैं।

इस प्रकरण में यह वस्तु भी समझ लेनी चाहिए कि व्यवाय की शक्ति या अशक्ति तथा प्रजोत्पादन का सामर्थ्य या असामर्थ्य भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। व्यवाय की शक्ति होते हुए भी पुरुष में प्रजोत्पादन का सामर्थ्य न हो किंवा व्यवाय की शक्ति न होते हुए भी उसमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य हो यह संभव है। प्रजोत्पादन की शक्ति के अभाव को आयुर्वेद में निष्फलत्व नाम दिया गया है। इसमें फल शब्द संतान का वाचक है। गर्भस्थिरताकारक प्रसिद्ध योग फलघृत में फल शब्द संतति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। आर्तव या स्त्री बीज को पुष्प कहा जाता है, तो प्रजा उसका फल है।[१]

शुक्र की दुष्टियाँ सुश्रुत के शब्दों में :[२] सुश्रुत ने दूषित या अशुद्ध शुक्र के आठ भेद कहे हैं--वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्मदूषित, रक्तदूषित या कुणपगन्धि (शवगन्धि), वातश्लेष्मदूषित या ग्रन्थि भूत, पित्तश्लेष्मदूषित या पूतिपूयसदृश, पित्तवातदूषित या क्षीण तथा संनिपातदूषित या मूत्र पुरीषगन्धि। इनमें वातपित्त-कफ दूषित शुक्र के लक्षण ऊपर दिए जा चुके हैं। शेष का लक्षण क्रमशः देते हैं।

रक्तदूषित नाम वातादि दोषों से दूषित हुए रक्त के द्वारा दूषित शुक्र शवगन्धि तथा बहुल (अधिक प्रमाण में प्रवृत्त) होता है।

आगे आर्तव की दुष्टि के भी आचार्य ने यही नाम - रूप दिए हैं। इनमें कुणपगन्धि आर्तव के विषय में कुछ स्पष्टता आवश्यक है। नव्य प्रत्यक्षानुसार अपत्य-पथ से प्रायः अति प्रमाण में एवं दुर्गन्ध सहित रक्त की प्रवृत्ति दुष्टार्बुदों में होती किंच, पित्तला योनि में जो गर्भाशय का पाक होता है वह कुपित पित्त का प्रमाण अति अधिक हो और भेदावस्था तक पहुँच चुका हो--श्लेष्मकला विदीर्ण होकर पाक व्रणभाव को प्राप्त हो गया हो, और उसके साथ प्रादेशिक रक्तधरा कला में भी क्षत हो चुका हो तो भी अपत्यपथ से रक्त की प्रवृत्ति होती है। इस रक्त में

१--अंग्रेजी में व्यवाय-शक्ति को Potency--पोटेन्सी, व्यवायाशक्ति को Impotency--इम्पोटेन्सी; प्रजोत्पादन-शक्ति को Fertility--र्फटिलिटी या Fecundity--फिकण्डिटी तथा प्रजोत्पादन की अशक्ति को Sterility--स्टरिलिटी कहते हैं। पुरुष में प्रजोत्पादन शक्ति हो, परन्तु व्यवायशक्ति न हो, तो उसका शुक्र स्खलित कर नाड़ी द्वारा गर्भाशय में प्रविष्ट कराने से गर्भधारण कराया जा सकता है।

२--सु० शा० २।३-४ तथा डल्हन।

भी कभी-कभी न्यूनाधिक दुर्गन्ध होती है। संभवतः इसका कारण यह हो कि रुग्णा ने जिन पित्तवर्धक द्रव्यों का अतियोग किया हो उनको निर्माण के पूर्व पाक-शास्त्र के नियमानुसार गलाया गया हो जिससे उनमें विशिष्ट गन्ध उत्पन्न हो गयी हो अथवा पकने के अनन्तर वासी होने से उनमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो गयी हो। अंग्रेजी में पित्तला योनि को 'इरोझन' तथा उसके दुर्गन्धयुक्त भेद को बैड इरोझन कहते हैं। कुणपगन्धि आर्तव तथा अपत्यपथ से रक्त की दुर्गन्धयुक्त प्रवृत्ति के इन दो भेदों में प्राथमिक भेद यही है कि कुणप गन्धि आर्तव आर्तव की ही दुष्टि होने से इसका आविर्भाव ऋतुकाल में ही होता है। शेष दो में रक्तप्रवृत्ति 'प्रायः' सतत होती है। इन रोगों के अन्य भेदक लक्षण स्त्रीरोगविज्ञान में देखने चाहिए।

ग्रन्थिभूत शुक्र कफ तथा वात से दूषित होता है। इसमें शुक्र ग्रन्थियाँ (छोटी-छोटी गाँठों) के रूप में प्रवृत्त होता है।

पूतिपूयसदृश शुक्र सड़ी हुई पूय के समान गन्ध-वर्ण वाला होता है। यह पित्त और कफ से दूषित होता है। ग्रन्थिभूत तथा पूतिपूयसदृश शुक्र में दुष्टिजनक दोषों के पृथक् निर्दिष्ट वर्ण और वेदनाएँ मिश्र रूप से पाई जाती हैं।

क्षीण शुक्र[1] (शुक्रक्षय) पित्त और वायु से दूषित होता है। इसके लक्षण धातुओं के पृथक् क्षयों के लक्षणों के प्रकरण में कहे जा चुके हैं। कफ शुक्र का पोषक तथा वात और पित्त उसके क्षय कारक दोष हैं।

संनिपातदूषित (त्रिदोष दूषित) शुक्र में मूत्र और पुरीष का गन्ध होता है।

इन आठ में किसी भी प्रकार का शुक्र प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है। इनमें वातदूषित, पित्तदूषित तथा कफदूषित शुक्र सुख-साध्य होते हैं। कुणपगन्धि, ग्रन्थि-भूत, पूतिपूय सदृश तथा क्षीण शुक्र कष्टसाध्य होते हैं। मूत्रपुरीषगन्धि असाध्य होता है।

शुक्र की दुष्टियाँ चरक के पदों में :[2] चरक ने शुक्र के आठ दोष ये बताए हैं---फेनिल (फेनयुक्त), तनु (पतला, सान्द्र-विपरीत), रूक्ष (स्निग्ध-विपरीत), विवर्ण (विकृत वर्णवाला,) पूति (दुर्गन्धयुक्त) पिच्छिल, अन्यधातूपसंसृष्ट (अन्यधातु रक्त से संयुक्त) तथा अवसादि। इनमें---

फेनिल, तनु तथा रूक्ष एवं अल्प, अल्प होने के कारण जिसकी प्रवृत्ति बलात् करनी पड़े ऐसा (कृच्छ्र) तथा प्रजोत्पादनासमर्थ शुक्र चरक ने वातदुष्ट बताया है। यह सुश्रुत का वातदुष्ट शुक्र ही है।

१---स्थल : सु० सू० १५।९ तथा चक्र-डह्लन इत्यादि।

२---स्थल : च० चि० ३०।१३९-१४४।

विवर्ण तथा पूति की व्याख्या करते हुए नील तथा पीत वर्ण वाला, दुर्गन्धयुक्त अति उष्ण एवं प्रवृत्ति के समकाल शिश्न में दाह करने वाला इन लक्षणों से विवर्ण का अर्थ पित्तदुष्ट शुक्र किया है। तात्पर्य, विवर्ण तथा पूति सुश्रुत के पित्तदूषित शुक्र ही हैं। कथंचित् पूति शब्द से सुश्रुत के कुणपगन्धि तथा मूत्रपुरीष-गन्धि का भी ग्रहण किया जा सकता है।

अति पिच्छिल शुक्र को श्लेष्मा से बद्ध मार्गवाला कह कर चरक ने उसे श्लेष्मदूषित कहा है। यह सुश्रुत का श्लेष्मदूषित शुक्र है।

रुधिरान्वय (रक्त मिश्रित) या अन्यधातूपसंसृष्ट शुक्र की व्याख्या करते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि--अति व्यवाय, अभिघात या क्षत के कारण शुक्र रक्त मिश्रित प्रवृत्त होता है। इन में प्रथम कारण का निर्देश चरक ने प्रतिलोम क्षय (शुक्र क्षय) से होनेवाले राजयक्ष्मा की संप्राप्ति के प्रकरण में अधिक विशद-तया किया है। (देखिए : च. नि. ६।९)। यद्यपि चरकोक्त इस विकृति में तथा सुश्रुत के रक्तदुष्ट शुक्र में रक्त शब्द स[illegible]न है तथापि दोनों के स्वरूप में अन्तर है। चरकीय विकृति में शुक्र क्षीण होने [illegible] या प्रादेशिक रक्तधरा कला में क्षत होने से रक्त की प्रवृत्ति होती है, परन्तु सुश्रुतीय विकृति में दोषों की दुष्टि से प्रथम रक्त दूषित होता है, दुष्ट हुए इस रक्त से शुक्र की दुष्टि होती है।

अवसादि का लक्षण बताते चरक कहते हैं : (मल, मूत्र, वायु तथा शुक्र का) वेग रोकने [illegible] वायु कुपित होकर शुक्र को मार्ग में--शुक्रविसर्गकर स्रोतों में--रुद्ध कर देता है। रोधवश यह शुक्र व्यवाय काल में बलात् प्रवृत्त (कृच्छ्र) करने से ही प्रवृत्त होता है। यह ग्रन्थिसदृश (ग्रथित, गुटिकाकृति) होता है। स्वरूप-साम्य को देखते यह विकृति कथंचित् सुश्रुत की ग्रन्थिभूत शुक्र हो सकती है, परन्तु दोनों के निदान में स्पष्ट भेद है। वायु को दोनों तन्त्रकारों ने कारण माना है। चरक ने उसके कोप का विशेष कारण--वेगावरोध--भी बताय[illegible]।

उक्त आठों विकृतियों से युक्त शुक्र प्रजोत्पादनासमर्थ ([illegible]बीज) होता है। इस असमर्थता की संप्राप्ति बताते चरकाचार्य कहते हैं--

> व[illegible] यस्माद् व्यवाये तु हर्षयोनिसमुत्[illegible]म्।
> शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु॥
> यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम्।
> न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम्॥
> अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात्।
> अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः॥

रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्ण सेवनात्।
नारीणामरसज्ञानां[1] गमनाज्जरया तथा॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्नि विभ्रमात्।
भयात्क्रोधादभीचाराद्[2] व्याधिभिः कर्षितस्य च॥
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात्।
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः॥
शुक्रं संदूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः[3]॥
च० चि० ३०।१३३-१३६

मैथुन-क्रिया में हर्ष नाम कामोद्रेकवश बीजभूत शुक्रका आविर्भाव और उत्सर्ग होता है। यह शुक्र ही पुरुष का चिह्नरूप होने से पौरुष कहाता है।

जैसे गेहूँ, चना आदि का बीज अकाल में वपन (बोया जाना),जल से फूल कर बिगड़ जाना, कृमि-कीट द्वारा भक्षण, अग्नि से दहन इत्यादि कारणों से दूषित होकर अंकुरित नहीं हो पाता वैसे अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए वातादि दोषों से दूषित हुआ शुक्र भी प्रजाजनन में समर्थ नहीं होता।

अतिव्यवाय (अतिमैथुन), अति श्रम, असात्म्य (अहित आहार आदि) का सेवन, अकाल में नाम हर्ष और उत्थान न हुआ हो ऐसे समयों में किंवा ऋतुकाल आदि निषिद्ध समयों में समागम, अयोनि-गमन (पाषाण-प्रतिमा, हस्त, मुख, गुद आदि में मैथुन), हर्ष होने पर भी समागम न करना या निकलने को प्रवृत्त शुक्र का निग्रह करना; रूक्ष, तिक्त, कषाय, अति लवण, अति अम्ल या अति उष्ण (अतएव शुक्र को क्षीण करनेवाले) द्रव्यों का सेवन; अरसज्ञ अर्थात् जिनकी कामवासना पुरुष की समान कोटि की न हो और जो इसी कारण किंवा श्रम, चिन्ता आदि कारणों से रति के रस का संपूर्ण आनन्द अनुभव करने की स्थिति में न हों ऐसी स्त्रियों का समागम; उनकी रसानुभूति अल्प होने से पुरुष का मैथुन बिना भी शुक्र-स्खलन; जरावस्था (वार्धक्य), चिन्ता, शोक,

---

१—अरसज्ञत्वात् स्रवणात् (सरणात्) इति पाठान्तरम्।

२—अतीसारात् इति पाठान्तरम्।

३—× × यस्माद्बीजभूतं गर्भस्य शुक्रं तस्माद् वक्ष्यामि। व्यवाये हर्ष एव योनिः कारणं तस्मादुत्थितम्। पौरुषमिति पुरुषचिह्नम्; शुक्रेणैव हि पुरुषो व्यज्यते। मैथुनं न च गच्छत इति उचितमैथुनकाले मैथुनागमनं शुक्रवेगप्रतीघातादेव दर्शयति। अविस्रम्भादिति अविश्वासात् × ×॥
—चक्रपाणि

(स्त्री पर) विश्वास का अभाव ; शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म की कोई व्यापत्ति ; भय, क्रोध, अभिचार (मारण आदि कर्म) ; अतिसार तथा अन्य व्याधियों के कारण शरीर कृश और दुर्बल होना ; वेगावरोध, क्षत एवं धातुओं की दुष्टि--इन कारणों से कुपित हुए दोष पृथक्, संसृष्ट या समस्त शुक्रवह स्रोतों (वृषण से शिश्नाग्रपर्यन्त शुक्रयन्त्र) को प्राप्त हो शुक्र में वैगुण्य उत्पन्न कर देते हैं, जिसके कारण उसमें फेनिलता आदि उल्लिखित विकृतियाँ आ जाती हैं।

इन प्रकरणों को विशद समझने के लिए अन्य प्रकरणों का भी अनुशीलन करना चाहिए। यथा, यहाँ शुक्र की दुष्टि का एक कारण जरा (वृद्धावस्था) बताया है। उसका विस्तार चरक के इसी अध्याय में कुछ ही आगे जरासंभव क्लैब्य के प्रकरण में देखा जा सकता है। अयोनि-गमन आदि की विशदता के लिए उपदंश, स्वस्थ-वृत्त आदि के प्रकरण देखना उचित होगा।

शुद्धाशुद्ध शुक्र के लक्षण देखकर अब शुद्धा-शुद्ध स्तन्य के लक्षण तथा परीक्षा देखते हैं।

शुद्धाशुद्ध स्तन्य के लक्षण[1]

स्तन्य (माता या धात्री का दुग्ध) शुद्ध हो तब ही उसके सेवन से बालक का आरोग्य स्थिर रहता है, शरीर की पुष्टि (बृंहण, उपचय), स्नेहन तथा बल की अभिवृद्धि होती है। परम सात्म्य (पथ्य) होने से नारीस्तन्य जीवन (आयुको स्थिर रखनेवाला) अग्नि का दीपन तथा लघु होता है।

शुद्ध स्तन्य के जो प्राकृत वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अनुभव से ज्ञात हुए हों उनकी विद्यमानता हो तो स्तन्य को शुद्ध समझना चाहिए। दोषभेद से वर्ण आदि की विकृति के लक्षण आगे देंगे। वे न हों तो प्रथम अनुभव से भी स्तन्य की शुद्धि की परीक्षा की जा सकती है। यह शुद्ध स्तन्य मधुर, कषायानुरस, शीतल, निर्मल (दोषों के कोप के सूचक लक्षणों से रहित), पतला तथा वर्ण में शङ्ख के सदृश श्वेत होता है। इसकी तथा अशुद्ध स्तन्य की भी विशेष परीक्षा जल में डालने से होती है। स्तन्य को जल में डालने पर वह फैल कर जल के साथ एक-रूप हो जाए, उसमें फेन या तन्तु न दिखाई दें, वह न तो जल के ऊपर तैरे और न नीचे बैठ जाए तो इसे शुद्ध समझना चाहिए। इन लक्षणों की विशदता आगे दोष-दूषित स्तन्य के लक्षण देखने से होगी।

माता या धात्री दोष प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करे तो उसका अन्नरस दुष्ट होता है और उसके कारण उसका उपधातु स्तन्य भी दूषित होकर रोगजनक

१--च० सू० २७।२२४ ; सु० सू० ४५।५७ ; च० शा० ८।५४ तथा चक्र० ; सु० शा० १०।३१ ; अ० हृ० उ० २।१-५।

होता है। अतः क्षीराद बालक की परीक्षा में स्तन्य की भी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। कुपित दोष के भेद से दुष्ट स्तन्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है।

वातदूषित स्तन्य श्याव-अरुण वर्ण वाला, (कुछ अधिक) कषाय अनुरस वाला[1], विशद (पिच्छिलता रहित), जिसमें किसी गन्ध की प्रतीति न हो ऐसा, रूक्ष, द्रव (जितना सान्द्र या गाढा होना चाहिए वैसा न हो कर पतला), फेनिल, लघु, तृप्ति न करने वाला, बालक के शरीर को कृश करने वाला तथा मल-मूत्र का विबन्ध एवं वातरोगों का उत्पादक होता है। इसे जल में छोड़ा जाए तो (लघु होने से--घनत्व न्यून होने के कारण) यह जल पर तैरता है।

'तृप्ति न करनेवाला' का अर्थ यह है कि बालक सामान्य से अधिक काल पर्यन्त स्तनपान करता रहता है और उसके पश्चात् भी स्तनपान के लिए ही पुनः रोदन आदि द्वारा इच्छा व्यक्त करता है। फेनिल का अर्थ भी पूर्ववत् यही है कि बाह्य वायु के प्रवेश से उसमें स्वल्प बुद्बुद-तुल्यता आ जाती है। विशेष यह होता है कि दूध पीते समय बालक तृप्तिलाभ की विशेष इच्छा से सूत्कार करता है, जिससे स्तन्य के साथ बाह्य वायु भी आमाशय में जाता है और आमाशय में सञ्चित हो प्रत्याध्मान उत्पन्न करता है। स्तन्य का प्रमाण अल्प (स्तन्यक्षय) हो तो यह स्थिति प्रायः होती है।

पित्तदूषित स्तन्य कृष्ण, नील, पीत, ताम्र--इनमें किसी वर्ण के आभास अर्थात् झलक वाला (अर्थात् कुछ कालिमा लिए श्वेत इत्यादि); तिक्त, अम्ल और कटु अनुरसवाला, शव या रक्त के सदृश गन्धवाला, अति उष्ण और दाह (मुखपाक, ज्वर आदि) पित्तविकारों को शिशु के शरीर में उत्पन्न करने वाला होता है। इसे जल में छोड़ने पर पीतवर्ण रेखाएँ दिखाई देती हैं।

प्रायः देखा जाता है कि कई वार माता के शरीर में पित्त का कोप केवल इतने प्रमाण में होता है कि कुपित पित्त का स्थानसंश्रय मुख में हो तो वह उष्णस्पर्श या गुण वाली वस्तुओं को मुख में नहीं रख सकती। परन्तु कुपित पित्त का इतना भी प्रमाण बालक के छोटे शरीर के लिए इतना होता है कि उस में व्यक्ति की अवस्था उत्पन्न कर दे--अर्थात् ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त लक्षण वाले रोगों को उत्पन्न कर दे। बालकों की परीक्षा में यह वस्तु सदैव स्मृतिगत रखनी चाहिए।

१--'अनुरस' का अर्थ यह है कि स्तन्य का प्रधान रस मधुर होता है--नार्यास्तु मधुरं स्तन्यम्--सु० सू० ४५।५७। दोष-भेद से अनुरस कषाय आदि होते हैं।

कफदूषित स्तन्य अत्यधिक श्वेत, अत्यधिक मधुर, लवण अनुरसवाला; घृत, तल, वसा और मज्जा के गन्ध वाला, सान्द्र (गाढ़ा) पिच्छिल, तन्तुमान्, जलपात्र में छोड़ने पर नीचे बैठ जाने वाला तथा उपयोग करने पर (प्रतिश्याय, कास, श्वास आदि) कफज रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

कफ दुष्ट स्तन्य में लवण अनुरस होने का कारण यह है कि कफ स्तब्ध और विकृत हो कर लवण रस हो जाता है श्लेष्मा ही विदग्धो लवणतामुपैति-- (सू. सु. ४०।१०) यह सिद्धान्त है।

संसर्ग दूषित स्तन्य में संसृष्ट दोषों के तथा संनिपात दूषित में तीनों दोषों के कोप के लक्षण होते हैं।

वातादि दोषदूषित स्तन्य के अतिरिक्त माता या धात्री क्षुधार्त, शोकमग्न, श्रान्त (थकी हुई), दुष्ट धातुवाली, गर्भिणी, ज्वरित, अतिकृश, अतिस्थूल (अति मेदस्वी), विदग्धाजीर्ण पीडित किंवा विरुद्ध आहार किए हुए हो तो उसका स्तनपान न कराना चाहिए। कारण, इन परिस्थितियों में क्षीर असंदिग्ध दोष दूषित होता है। अथच, बालक को कोई औषध दिया गया हो तो वह जीर्ण-(हजम) न हो तब तक स्तनपान न कराना चाहिए। अन्यथा, दोषों, मलों तथा औषध का कोप तीव्र होता है।

दुष्ट स्तन्य की अंशाश कल्पना (आठ क्षीरदोष)

रोगों की संप्राप्ति के प्रकरण में आचार्यों ने उपदेश किया है कि रोगारम्भक कुपित या क्षीण दोष कौन-सा है इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं, किन्तु कुपित या क्षीण दोष के जो-जो गुण शारीर में कहे गए हैं उनमें किस एक या अनेक गुणों का कोप या क्षय हुआ है और वह कितने प्रमाण में हुआ है यह जानना चाहिए। दोषों का यह तारतम्य देखने का मूल यह है कि दोष-विशेष को कुपित या क्षीण करने वाले द्रव्य किसी दोष के सभी गुणों को कुपित किंवा क्षीण करते हों सो बात नहीं। द्रव्य अपने पाञ्चभौतिक संघटन के कारण किसी दोष के किसी ही गुण को अथवा किन्हीं अनेक किंवा सभी गुणों को अमुकामुक प्रमाण में कुपित या क्षीण करने का सामर्थ्य रखते हैं। यह विषय विस्तार से आगे निदान-पञ्चक के प्रकरण में देखेंगे। गुणों के तरतम भाव की इस परीक्षा को अंशांश कल्पना या विकल्प कहा जाता है। इस परीक्षा के अनन्तर कुपित या क्षीण गुण और उसके प्रमाण को दृष्टि में रख कर ही निदान-परिवर्जन, शमन या शोधन चिकित्सा के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण श्रेयस्कर होता है।

इस प्रकार अंशांश कल्पना की परीक्षा का विधान करके भी मूल प्रकरण में आचार्यों ने इसे दृष्टान्त देकर विशद नहीं किया है। तथापि, चरक ने स्तन्य की

परीक्षा पूर्वनिर्दिष्ट प्रकरणमें देकर भी इस का पुनः विस्तार अन्यत्र किया है।[1] इसमें क्षीर के आठ दोषों के कारण, नाम, लक्षण तथा प्रत्येक की चिकित्सा का पृथक् निर्देश किया है। यहाँ केवल प्रकरणागत दुष्टि-लक्षण उद्धृत करते हैं। इस प्रकरण को दृग्गत रख कर प्रत्येक रोग की अंशांश कल्पना का विचार चिकित्सक को करना चाहिए।

दोष-प्रकोपक तत्तत् आहार-विहार के अतियोग के कारण दोष कुपित हो, स्तन्यवह (स्तन्योत्पादक) स्रोतों में प्रवेश कर स्तन्य में आठ प्रकार की दुष्टि उत्पन्न करते हैं। इन अष्टविध दुष्टियों के नाम ये हैं: **वैरस्य, फेनसंघात, रौक्ष्य, वैवर्ण्य, दौर्गन्ध्य, स्नेह** (स्निग्धत्व), **पैच्छिल्य** तथा **गौरव**। इन में वैरस्य, फेनसंघात तथा रौक्ष्य वायु के कोप से, वैवर्ण्य और दौर्गन्ध्य पित्तके कोप से तथा स्निग्धत्व, पैच्छिल्य तथा गौरव कफ के कोप से होते हैं।

वैरस्य—रूक्षाहार आदि प्रकोपक कारणों के योग से वायु कुपित एवं क्षीराशयों (स्तनों) में प्रविष्ट हो सान्यके रस को दूषित एवं (नष्ट, या विकृत) कर देता है। यह बात दुष्ट विरस स्तन्य बालक को स्वादु नहीं प्रतीत होता। इस के पीने से बालक कृश हो जाता है, अथवा उसकी वृद्धि का वेग अति मन्द होता है—कृच्छ्रेण च विवर्धते।[2]

फेनसंघात—एवं अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ वायु स्तन्य को अन्दर ही मथित (विलोडित) कर उसमें फेन-समूह उत्पन्न करता है। स्तन्य, रक्त आदि में फेनिलता उत्पन्न होने का स्वरूप दृष्टान्त देकर ऊपर बता आए हैं। वायु द्वारा मन्थन का वहाँ कहा अर्थ लेना चाहिए। फेनिल स्तन्य की प्रवृत्ति सकृच्छ्र (अल्पाल्प तथा कथंचित् दबाने आदि से) होती है। इसके पान से बालक क्षीण स्वर वाला तथा बद्ध (अप्रवृत्त) पुरीष, अधो वायु और मूत्रवाला होता है। वह प्रतिश्याय या वातिक शिरोरोग से पीडित होता है।

रूक्ष—कुपित हुआ वायु स्तन्य के स्नेहांश (स्निग्धगुण) को शुष्क कर उसे रूक्ष बना देता है। इसके पान से शरीर में रौक्ष्य की वृद्धि होकर बालक बलहीन होता है।

वैवर्ण्य—पित्त अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हो स्तन्यजनक स्रोतों में स्थान संश्रय कर स्तन्य में वैवर्ण्य (वर्ण-विकृति) कर देता है—उसे नील, पीत, श्याव आदि किसी वर्ण का बना देता है। इस विवर्ण स्तन्य के सेवन से बालक के

१—स्थलः च० चि० ३०।२२९–२३१; सु० शा० १०।३२–३३ (स्तन्यदुष्टि के कारण)

२—वैरस्य तथा अन्य स्तन्यदोषों की सामान्य तथा विशेष चिकित्सा च० चि० ३०।२५१–२८१ में निर्दिष्ट हुई है।

शरीर में विवर्णता आती है। उसका शरीर सदैव उष्णस्पर्श तथा स्वेदयुक्त (स्विन्न) होता है। उसे सतत पिपासा लगती है। उसका पुरीष भिन्न हो जाता है--पुरीष नित्य के समय पर रुक-रुक कर थोड़ा-थोड़ा आता है, या थोड़ा-थोड़ा और वार-वार आता है; अथवा उसे अतिसार होता है। (विड्भेद के ये दोनों अर्थ शास्त्रसंमत हैं)। स्तनपान की उसकी प्रवृत्ति नहीं होती--नाऽभिनन्दति तं स्तनम्।

दौर्गन्ध्य--कुपित पित्त स्तन्य को दुर्गन्धयुक्त कर दे तो उसके सेवन से शिशु पाण्डुरोग या (कोष्ठशाखाश्रित) कामला से पीड़ित होता है।

स्निग्ध--गुरु भोजन आदि अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ कफ स्तनों में स्थान संश्रय कर अपने स्नेहाधिक्य के कारण स्तन्य को भी अति स्निग्ध बना देता है। उसके सेवन से शिशु (लालालु-लालास्रावी) होता है--सोते समय या जागते हुए भी उसके मुख से लाला टपकती है। उसे छर्दि (वमन) के वेग होते हैं। वह कुन्थन करता है--प्रवाहिका के सदृश मलप्रवृत्ति के लिए बल प्रयोग (जोर) करता है। प्रवाहिका के समान ही यह विकृति पक्वाशय में कफ संचिति के कारण होती है। उसके मुख, नासिका, प्राणवह स्रोत, महास्रोत, मूत्रवह स्रोत आदि स्रोत कफ से उपलिप्त होते हैं। (प्राणवह स्रोतों का लेप उसकी छाती में 'सण-सण' इस शब्द-विशेष से ज्ञात होता है। पच्यमानाशय में लेप होने से अग्निमान्द्य तथा कृशता एवं पक्वाशय में लिप्तता के कारण प्रवाहिका होती है। मूत्रयन्त्र में लेप के कारण लालामेह, शनैर्मेह प्रभृति कफज मेह होते हैं। प्राणवह स्रोतों के अवरोध के कारण) उसे क्षुद्र या तमक श्वास और कास होता है। प्राणवह तथा महास्रोत के वैगुण्य (अवरोध) के कारण उसे प्रसेक (वमन की प्रतीति, उपस्थित-वमनत्वम् इव) तथा तमोदर्शन (तमक, आँखों के आगे अन्धकार छाना) ये विकृतियाँ पीड़ित करती हैं।

पैच्छिल्य--प्रकुपित कफ ही को स्तन्य पिच्छिल बना दे तो उसके पान से बालक का मुख तथा अक्षिकूट शून (शोथयुक्त) हो जाते हैं। वह लाला-स्रावी तथा जड़ (मन्द शारीर, वाचिक, मानस चेष्टाओंवाला) होता है।

गौरव--प्रकुपित कफ में प्रकोपक कारणवश गुरुता हो तो उसका स्थानसंश्रय स्तन्य में होने से उसमें भी गौरव आ जाता है। गुरु इस स्तन्य के पान से बालक को हृदयरोग तथा इतर कफ प्रकोपज रोग होते हैं।

पुरीष की परीक्षा

रोग-परीक्षा में किसी एक परीक्षा को सर्वोपरि महत्त्व देना हो तो वह पुरीष की परीक्षा है। कुपित हुए शारीर या मानस दोष किंवा अग्नि की दुर्बलता

प्रभृति रोग के सभी कारणों का प्रभाव पुरीष पर पड़ता ही है। चरक ने मधुरादि रसों के गुण-कर्म तथा उनके अतियोग के लक्षणों का सविस्तार उल्लेख कर अन्तमें अधोवायु, पुरीष, मूत्र तथा शुक्र की प्रवृत्ति पर उनका क्या प्रभाव होता है यही दो पद्यों में दर्शाया है। (देखिए : च. सू. २६।५९-६०)। आगे चरक ने तथा सुश्रुत ने विपाक के कर्म भी पुरीषादिकी प्रवृत्ति के प्रकार को लक्ष्य में रख कर ही दर्शाए हैं। (देखिए : च. सू. २६।६१-६२; सु. सू. ४१।११)। इससे पुरीष की परीक्षा का महत्त्व स्पष्ट समझा जा सकता है।

पुरीष की परीक्षा का महत्त्व अन्य प्रकार से भी है। इस प्रकरण के आरम्भ में हमने देखा है कि कुपित या क्षीण दोषों का प्रभाव अन्तको प्रत्यक्ष दृश्यमान पुरीषादि मलों एवं उनके द्वारों पर अभिव्यक्त होता है। इन मलों में पुरीष प्रधान है। अतः प्रकृति या विकृति की परीक्षा में भी इस मल का महत्त्व स्पष्ट ही है।

जठराग्नि की परीक्षा भी पुरीष की परीक्षा से होती है। यह दुर्बल हो तो पुरीष आमयुक्त होता है, अन्यथा पक्व। पुरीष की आम-पक्वता के लक्षण आगे दिए जाएँगे। जठराग्नि के बलाबल पर ही धात्वग्नियों और भूताग्नियों का बलाबल भी आश्रित है। कारण, ये अग्नियाँ पित्तरूप हैं। जैसे, आहार समयोग-युक्त हो--उसमें शरीर के सर्व धातुओं, उपधातुओं, मलों, दोषों एवं इन से घटित शरीरावयवों, स्रोतों और आशयों के पोषक गुण सम प्रमाण में विद्यमान हों, साथ ही जठराग्नि भी सम हो तो शरीर धातु आदि के सदृश धात्वग्नियों के पोषक द्रव्य भी पक्व होकर अन्नरस द्वारा प्राप्त होते हैं। जठराग्नि दुर्बल हो तो अन्नपान में धात्वग्निपोषक द्रव्य विद्यमान होते हुए भी पचन न होने से वे किट्ट रूप में ही अधोद्वार से बाहर फेंक दिए जाते हैं। (नव्य मत से भी धात्वग्नि सदृश रस थायरॉक्सिन, एड्रीनलीन आदि की पुष्टि प्रोटीनों के सम्यक् पाकवश उद्भूत एमाइनो एसिड आदि के योग से होती है)। किं बहुना, जठराग्नि और धात्वग्नि दुर्बल हों तो दोषों का भी प्रकोप होता है। कारण, जठराग्नि के दौर्बल्य से अन्नपान का किट्ट ही अधिक बनता है और इस किट्ट में वायु भी एक होता है। इसी प्रकार रसाग्नि के दौर्बल्य से कफ और रक्ताग्नि के दौर्बल्य से पित्त अधिक प्रमाण में बनता है। अग्नियों की यह दुर्बलता पुरीष के दर्शन से जानी जा सकती है। कारण, जठराग्नि दुर्बल हो तो पुरीष भी आम रहता है, अन्यथा वह पक्व होता है। पुरीष को पक्व देखकर अग्नियों तथा दोषों के साम्य की कल्पना की जा सकती है।

पुरीष की सामता तथा पक्वता के लक्षण---

मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघात शैत्यश्लेष्म प्रदूषणात्॥

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम् ।
विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥[१]

च० चि० १५।६३-६४

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम् ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु ।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥[२]

सु० उ० ४०।१७-१८

× × तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति ।[३]
शकृद्दुर्गन्धमाटोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः ॥
विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपि मज्जति ॥

अ० हृ० नि० ८।१७

आम कफस्वभावी होता है। कफ के अन्य गुणों के सदृश आम में गुरुत्व भी होता है। आमजनित इस गुरुत्व के कारण आम पुरीष को जल में छोड़ा जाए तो वह नीचे बैठ जाता है। आमता जितनी ही होगी उतना ही वह नीचे जाएगा, यह समझा जा सकता है। इस के अतिरिक्त आम पुरीष अति दुर्गन्धयुक्त होता है। यह दुर्गन्ध भी आमता के अनुरूप प्रमाण में होती है। व्यवसाय में डूबने की परीक्षा शक्य न होने से प्रश्न-परीक्षा द्वारा दुर्गन्ध के ज्ञान से ही पुरीष की सामता का निश्चय किया जाता है। आम पुरीष अल्पाल्पशः (थोड़ा-थोड़ा करके) प्रवृत्त (विच्छिन्न) होता है। रुग्ण पुरुष आटोप, विष्टम्भ (उदर में

१—गुरुत्वादिति आमाहित गुरुत्वात्। × × द्वयोरपि आमपक्वलक्षणयोरपवादमाह—विनातिद्रवेत्यादि। अतिद्रवत्वादामापि प्लवते, अतिसंहता तु पक्वाऽपि अतिसंघातादेव मज्जति; शैत्यश्लेष्मप्रदूषणाच्च कफयोगाहितगौरवा पक्वाऽपि मज्जति, गुरुत्वादेव न प्लवते × × ॥ —चक्रपाणि

२—× × अवसीदति ब्रुडति। विच्छिन्नम् अल्पाल्पप्रवर्तकम्। विच्छिन्नमित्यत्र पिच्छिलमिति केचित् पठन्ति × × × । ननु कफसंसृष्टः पक्वोऽपि मलो निमज्जति तत् कथं पक्वातीसारज्ञानम् ?—उच्यते, तदितरलक्षणैरेव ॥

३—पद्य के पूर्वांश में अतिसार के दो प्राथमिक भेद किए हैं—साम-निराम, सरक्त -अरक्त।

—डल्हन

जकड़ाहट), शूल और हृल्लास से पीडित होता है। अपरंच, मल पक्व हो तो शरीर में लाघव होता है, यह आगे निराम या पक्व मल के लक्षण में कहा जाएगा। साम मलयुक्त पुरुष के शरीर और मन में, इसके विपरीत, गौरव, तन्द्रा तथा आलस्य का आवेश रहता है।

पक्व पुरीष में आम-विपरीत लक्षण रहते हैं। यथा, वह जल में छोड़ा जाने पर तैरता है। पुरुष के तन और मन में लघुता होती है।

आम और पक्व पुरीष के इन लक्षणों में कुछ अपवाद भी होता है। यथा, पुरीष आम हो परन्तु अति द्रव हो तो वह जल पर तैरता है। वह पक्व हो तथापि अति संघट्ट हो तो इस संघात (घनत्व) के कारण पुरीष नीचे डूब जाता है। पुरीष कफ दूषित हो तो वह कफ जनित गुरुता तथा शीतता के कारण निराम होता हुआ भी नीचे बैठ जाता है। अपवादभूत इन परिस्थितियों में दौर्गन्ध्य, शरीर-गौरव, क्षुधानाश प्रभृति इतर लक्षण देखकर सामता-निरामता का निश्चय करना चाहिए।

ये पद्य अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी अधिकार में निर्दिष्ट हैं। इन रोगों में पुरीष के स्वरूप से सामता-निरामता का ज्ञान कर सामावस्था में लङ्घन-पाचनादि उपचार करने चाहिए तथा निरामावस्था में स्तम्भनादि। कामला, ज्वर, कास आदि अन्य रोगों में भी पुरीष के स्वरूप में इसी प्रकार भेद होता है, जिसे देख कर उपचार के मार्ग का निर्धारण करना चाहिए।

शास्त्रों में तत्तत् रोग में दोषभेद से पुरीष का क्या स्वरूप होता है यह लिखा गया है। उसे एकत्र संगृहीत करना विद्यार्थियों के बोधन के लिए आवश्यक है। वह भेद दोष तथा व्याधि दोनों के भेद से होता है। योगरत्नाकरकार ने निम्न पद्यों में दोष-भेद से संक्षेप में मल का स्वरूप-भेद दर्शाया है--

वातान्मले तु दृढता शुष्कता चापि जायते।
पीतता जायते पित्तात् शुक्लता श्लेष्मतो भवेत्॥
संनिपाते च सर्वाणि लक्षणानि भवन्ति हि।
त्रुटितं फेनिलं रूक्षं धूमलं वा प्रकोपतः॥
वातश्लेष्मविकारे च जायते कपिशं मलम्।
बद्धं सुत्रुटितं पीतश्यामं पित्तानिलाद् भवेत्॥
पीत श्वेतं श्लेष्मपित्तात् ईषत्सान्द्रं च पिच्छिलम्।
श्यामं त्रुटित पीताभं बद्धं श्वेतं त्रिदोषतः॥

योगरत्नाकर

शरीर में वायु का प्रकोप हो और उसका स्थानसंश्रय पुरीष में हो तो वह त्रुटित (विच्छिन्न, थोड़ा-थोड़ा कर के प्रवृत्त होनेवाला–विड्भेद), कठिन, रूक्ष, शुष्क, फेनयुक्त एवं धूमवर्ण होता है। इसी प्रकार पित्तदुष्ट पुरीष पीतवर्ण तथा कफ के कोप से श्वेतवर्ण होता है। वात श्लेष्म दुष्ट पुरीष कपिश (श्वेत-श्याव, राख जैसा) होता है। पित्तवात दुष्ट पुरीष बद्ध (बँधा हुआ ; ढीला या द्रव नहीं), अति त्रुटित एवं पीत-श्यामवर्ण होता है। श्लेष्म-पित्त दुष्ट पुरीष किञ्चित् सान्द्र (गाढ़), पिच्छिल तथा श्वेतपीत वर्ण होता है। संनिपात-दुष्ट मल में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं। तथाहि, वह श्यामवर्ण, त्रुटित, श्वेत तथा पीताभ होता है।

पुरीष की विशेष परीक्षा तो उदावर्त की परीक्षा के लिए करनी चाहिए। उदावर्त शब्द का प्रयोग चरक ने एक स्वतन्त्र रोग के लिए किया है। सुश्रुत ने उदावर्त के दो भेद बताए हैं। इन में एक वही है जो सर्वत्र आयुर्वेद में वेगावरोध के नाम से प्रसिद्ध है। द्वितीय प्रकार को सुश्रुत ने अपथ्य-भोजनजन्य कहा है। इसके लक्षण वही हैं जो चरकोक्त उदावर्त के हैं[1]। संभव है, उदावर्त का प्रमुख कारण वेगावरोध होने से कार्य-कारण में अभेद मान कर दोनों को सुश्रुत ने एक ही उदावर्त नाम दिया हो। जो भी हो, डल्लन के काल में भी उदावर्त का लोक प्रसिद्ध अर्थ वही था, जो आज कब्ज या 'कॉन्स्टीपेशन' नाम से प्रख्यात है। उदावर्त प्रतिषेध अध्याय (सु० उ० ५५) के आरम्भ में उदावर्त शब्द की व्युत्पत्ति डल्लन ने दी है--वात, पुरीष, मूत्र प्रभृति मलों की जिस रोग में उत् नाम ऊर्ध्व दिशा में आवर्त नाम भ्रमण (गति) होती है उसे उदावर्त कहते हैं। टीकाकार के मूल शब्द ये हैं--उत् ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनाम् आवर्तो भ्रमणं यस्मिन् रोगे स उदावर्तः। आगे डल्लन कहते हैं--अन्य टीकाकारों का मन्तव्य है कि, (रूक्ष, कषायादि सेवनवश कुपित) वायु पुरीष को वर्तुल बना देता है तो रोग को उदावर्त कहा जाता है। लोक में उदावर्त शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध भी है।--अन्ये पुरीषं वायुना वर्तुली-कृतम् उदावर्तं मन्यन्ते, लोकप्रसिद्धत्वात्। कुपित वायु के कर्मों में एक 'वर्त' है, यह इसी ग्रन्थ में हम आगे विस्तार से देख चुके हैं।

यह उदावर्त समस्त रोगों का कारण है यह बात चरक-सुश्रुत के इन प्रकरणों में दिए हुए उदावर्त के उपद्रवों पर दृष्टिपात से विदित होगी। अवरोधवश वायु अपने स्थान पर वृद्धि को प्राप्त हो सर्वशरीर-प्रसृत हो वातिक विकारों को उत्पन्न करता है, साथ ही कफ और पित्त को भी कुपित करता है। सुश्रुत ने

---

१ स्थल : च० चि० २६।५-३१ ; सु० उ० ५५ ; (इसमें अपथ्य भोजन-जन्य उदावर्त—सु० उ० ५५।६, ३७–५३।

अधो वायु के वेग के अवरोध से होनेवाले लक्षणों में कफ और पित्त के घोर प्रसर की भी गणना की है--बलासपित्तप्रसरं च घोरम्--सु० उ० ५५।७। इस विषय का उत्तम विवेचन तो सहज अर्शों से तीनों दोषों का कोप कैसे होता है इस वस्तु का चरक ने जिन शब्दों में उल्लेख किया है उनमें प्राप्त होता है। वह कहता है--जन्म प्रभृति अस्य गुदजैः आवृतो मार्गोपरोधाद् वायुः अपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति--च० चि० १४।८। (प्रत्यारोहन्–ऊपर चढ़ता हुआ, विलोम गति को प्राप्त हुआ)। इस प्रकरण में सहज अर्शो रोगी को तीनों दोषों के प्रकोपवश होने वाले रोगों की जो दीर्घ सूची दी है उसे देखने से अनायास विदित होगा कि उदावर्त भी एतादृश संप्राप्ति द्वारा नानाविध असंख्य रोगों को उत्पन्न कर सकता है। अतः रोग-परीक्षा और चिकित्सा दोनों में उदावर्त पर ध्यान एकाग्र करना परमावश्यक है। वस्तुतः जो चिकित्सक अपने व्यवसाय में इस रोग को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हैं उनकी सिद्धि ध्रुव होती भी है। इस रोग के उपायों में आयुर्वेदीय चिकित्सक श्रेष्ठ उपचार बस्ति पर नहिवत् ध्यान देते हैं, यह शोचनीय है।

उदावर्त के विषय में अधिक वक्तव्य और विशदता उक्त रोगों के प्रकरणों में इसी ग्रन्थ में की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना है कि रोग-परीक्षा में पुरीष के स्वरूप को लक्ष्य में रखना चाहिए।

पुरीष-संबन्धी अन्य सामान्य रोग इसके क्षय और वृद्धि हैं। इनके लक्षण पहले (पृ० ८४-८७) में दे आए हैं।

मूत्र-परीक्षा

पुरीष के सदृश मूत्र भी प्राकृत अवस्था में तथा नाना रोगों में स्वरूप, प्रमाण एवं तोद-भेद-दाह आदि लक्षणों की दृष्टि से भिन्न होता है। किस रोग में मूत्र का वर्ण कैसा होता है यह आप्तोपदेश तथा अनुभव से पूर्व-विदित हो तो रोग-परीक्षा में बड़ी सुकरता होती है। यथा, मूत्र हारिद्र वर्ण हो तो तत्क्षण शाखाश्रित कामला का विचार उपस्थित होता है। नेत्र-परीक्षा आदि से उसकी निश्चिति होती है। किस रोग में मूत्र का स्वरूपादि कैसा होता है संहिताओं के अनुशीलन से इसका संग्रह कोई विद्वान् करें तो विद्यार्थियों के लिए उत्तम मार्गदर्शन हो।

मूत्र-परीक्षा के प्रकरण में विशेष वेदितव्य परीक्षा मूत्र की तैल बिन्दु-परीक्षा है। प्राचीन तन्त्रों में इसका उल्लेख नहीं है। परन्तु कोई वैद्य केवल मूत्र से रोग की परीक्षा में समर्थ होते हैं। अतः इसे भी क्रिया में लाना अनुचित नहीं। योगरत्नाकर से मूत्र की तैल बिन्दु-परीक्षा का प्रकार यहाँ दिया जाता है।--

निशान्त्ययामे घटिका चतुष्टये
उत्थाप्य वैद्यः किल रोगिणं च।
मूत्रं धृतं काचमये च पात्रे
सूर्योदये तत् सततं परीक्षेत्॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में, चार घड़ी बीतने पर वैद्य रोगी को सोते से उठाए और उसे काचमय पात्र में मूत्र-विसर्जन कराए। पात्र को ढक दे और सूर्योदय होने पर मूत्र की परीक्षा करे। मूत्र का संग्रह करने में कुछ नियम है और वह यह है कि--

तस्याद्यधारां परिहृत्य मध्य-
धारोद्भवं तत् परिधारयित्वा॥

मूत्र प्रवृत्ति की आरम्भ की धारा (आरम्भ का भाग) तथा अन्तिम धारा छोड़ दे। परीक्षार्थ केवल मध्य धारा ले। अर्थात्--रोगी को थोड़ा मूत्र बाहर प्रवृत्त करने को कहें, बीच का थोड़ा मूत्र काच-पात्र में लें और शेष मूत्र पुनः पूर्ववत् बाहर ही प्रवृत्त कराएँ। परीक्षा के समय इस मूत्र को किसी शलाका से अच्छी प्रकार एकरस कर दें। पश्चात्--

तृणेन दापयेत् तैल बिन्दुं तत्राति लाघवात्॥

बहुत हलके हाथ से तृण-शलाका से (यथा, दियासलाई से) तैल का एक बिन्दु मूत्र में छोड़ें।--

विकासितं तैलमथाशु मूत्रे
साध्यः स रोगी, न विकासितं चेत्।
स्यात् कष्टसाध्यस्तलगे त्वसाध्यो
नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा॥

तैल बिन्दु यदि मूत्र में चारों ओर प्रसृत हो जाए तो रोग को साध्य समझें। तैल बिन्दु एक स्थान पर स्थिर रहे तो कष्टसाध्य तथा बिन्दु पात्र के तल पर जाकर बैठ जाए तो रोग को असाध्य मानें।

मूत्र में छोड़ा बिन्दु किस दिशा या उपदिशा में जाता है इससे भी रोग-परीक्षा होती है।--

पूर्वाशां वर्धते बिन्दुर्यदा शीघ्रं सुखी भवेत्।
दक्षिणाशां ज्वरो ज्ञेयस्तथाऽऽरोग्यं क्रमाद्भवेत्॥
उत्तरस्यां यदा बिन्दोः प्रसरः संप्रजायते।
अरोगिता तदा नूनं पुरुषस्य न संशयः॥

तैल बिन्दु यदि पूर्व दिशा की ओर प्रसृत हो तो रोगी शीघ्र ही रोगमुक्त होगा। दक्षिण दिशा की ओर बिन्दु की वृद्धि हो और रोगी ज्वर पीड़ित है तो उसे स्वास्थ्य-लाभ शनैः-शनैः होगा ऐसा निदान करना चाहिए। (कदाचित् यह लक्षण साध्य संतत-संनिपात-संसृष्ट या विषम ज्वरों का है)। तैल बिन्दु उत्तर दिशा में प्रगति करे तो रोग निश्चित साध्य है यह निदान करना चाहिए। तैल बिन्दु की गति प्रथम पश्चिम दिशा में हो तो भी रोगी को आरोग्य और सुख-लाभ होगा ऐसा समझा जा सकता है।

ऐशान्यां वर्धते बिन्दुः ध्रुवं मासेन नश्यति।
आग्नेय्यां तु तथा ज्ञेयं नैऋत्यां प्रसरेद्यदि॥
छिद्रितश्च भवेत् पश्चाद् ध्रुवं मरणमेव च।
वायव्यां प्रसरेद्बिन्दुः सुधयाऽपि विनश्यति॥

तैल बिन्दु मुख्य दिशाओं में प्रसृत हो तो रोग सुखसाध्य होता है यह उक्त पद्यों का सार है। अब उप दिशाओं में इसके प्रसर के लक्षण देखिए।——तैल बिन्दु ईशान दिशा (पूर्वोत्तर) में बढ़े तो रोगी निश्चित एक मास में मृत्यु को प्राप्त होगा। तैल बिन्दु अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण) की ओर प्रसृत हो तो भी यही परिणाम होता है। नैऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) दिशा में तैल बिन्दु प्रसृत हो और प्रसृत हुए तैल बिन्दु में छिद्र देखने में आएँ तो रोगी निश्चय ही मृत्युवश होता है। तैल बिन्दु प्रथम वायव्य दिशा (पश्चिम-उत्तर कोण) में फैले तो अमृत पिलाने पर भी रोगी बच नहीं सकता।

इतने आत्मविश्वासयुक्त शब्दों के पीछे लेखक का प्रत्यक्षानुभव होना ही चाहिए। वर्तमान वैद्यों को इन्हें आचरण में लाकर देखना चाहिए।

इन परीक्षाओं के अतिरिक्त पुरीष के सदृश मूत्र में भी दोष-भेद से जो लक्षण होते हैं उन्हें देख कर रोग की प्रकृति (आरम्भक दोष) प्रधानतया क्या है इसका निर्णय करना चाहिए। वात का प्रकोप हो तो मूत्र श्याव या अरुण वर्ण, रूक्ष (स्निग्धतारहित) और प्रमाण में अल्प होता है। पित्त के प्रकोप में मूत्र हरित, पीत या रक्त वर्ण का, उष्ण और दुर्गन्धयुक्त होता है। कफ का प्रकोप होने पर मूत्र श्वेत (जल-सदृश), स्वच्छ (पारदर्शक), प्रमाण में अधिक, पिच्छिल और स्निग्ध होता है। कामला, विविध प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अतिसार आदि रोगों में मूत्र का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है।

नेत्र-परीक्षा

प्रकृति एवं विकृति दोनों में आरम्भक दोष के अनुसार नेत्रों के स्वरूप में भेद होता है। इसे देखकर देह-प्रकृति या रोग-प्रकृति (दोनों का आरम्भक मुख्य

दोष) का अनुमान किया जा सकता है। विभिन्न रोगों में नेत्र का स्वरूप कैसा होता है यह तत्-तत् रोग के लक्षणों में बताया जाता है। संक्षेप में रोगों में दोष-भेद से नेत्रों के स्वरूप में अधोनिर्दिष्ट प्रकार से भेद होता है--

नेत्रं स्यात् पवनाद्रूक्षं धूम्रवर्णं तथैव च।
कोटरान्तः प्रविष्टं च तथा स्तब्धविलोकनम् ॥

वात के प्रकोप से हुए रोगों में नेत्र रूक्ष (अश्रुयुक्त हों या न हों तथापि नेत्रों में मज्जा के मल-विशेष के कारण जो स्निग्धता दृष्टिगोचर होती है उससे रहित), धूम्र-वर्ण, कोटर (अक्षिगुहा) के अन्दर प्रविष्ट (धँसे हुए), तथा स्तब्ध (स्थिर) दृष्टिवाले होते हैं।

हरिद्राखण्डवर्णं च रक्तं वा हरितं तथा।
दीपद्वेषि सदाहं च नेत्रं स्यात् पित्तकोपतः ॥

पित्तज रोगों में नेत्र हरिद्रा के खण्ड (ताजे तोड़े टुकड़े) के सदृश वर्ण के (जैसे कामला में होते हैं), किंवा रक्त वर्ण या हरितवर्ण, दीप (या अन्य प्रकाश) को सहन न कर सकने वाले (प्रकाशासहिष्णु ; प्रकाशयुक्त स्थान में मिचे रहने-वाले) और दाहयुक्त होते हैं।

चक्षुर्बलासबाहुल्यात् स्निग्धं स्यात् सलिलप्लुतम्।
तथा धवलवर्णं च ज्योतिर्हीनं मलान्वितम् ॥

कफ के प्रकोप से हुए रोगों में नेत्र स्निग्ध, अश्रुपूर्ण, श्वेतवर्ण, कान्तिहीन तथा मलयुक्त (किनारी पर दूषिका से व्याप्त) होते हैं।

श्यामवर्णं च निर्भुग्नं तन्द्रामोहसमन्वितम्।
रौद्रं तथा रक्तवर्णं भवेच्चक्षुस्त्रिदोषतः ॥ --योगरत्नाकर

संनिपातात्थ रोगों में नेत्र श्यामवर्ण, वक्र (कुटिल), तन्द्रा और मोह (अर्ध-मूर्च्छा)-युक्त, भयावह एवं रक्तवर्ण होते हैं।

जिह्वा की परीक्षा

जिह्वा भी रोगों में दोष-विशेष के प्रकोप की परिचायक होती है। तत्तत् दोष के कोप में जिह्वा का स्वरूप निम्न प्रकार का होता है--

शाकपत्र प्रभा रूक्षा स्फुटिता रसनाऽनिलात्। --भावप्रकाश
जिह्वा रूक्षा खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके ॥ --योगरत्नाकर

वात के प्रकोप से हुए रोगों में जिह्वा शाक (सागौन) के पत्र के सदृश खर स्पर्शवाली, रूक्ष (स्नेह-रहित) और स्फुटित (फटी हुई, जिसमें चीर पड़े हों ऐसी) होती है।

रक्ता श्यावा भवेत् पित्ताल्लिप्ताऽऽर्द्रा धवला कफात् ॥
--भावप्रकाश

रक्ता श्यामा भवेत् पित्ते, कफे शुभ्राऽतिपिच्छिला ॥
--योगरत्नाकर

पित्त प्रकोपजन्य रोगों में जिह्वा रक्त, श्याव या श्याम वर्ण की होती है। कफ प्रकोपज रोगों में जिह्वा श्वेतवर्ण, आर्द्र, मल से उपलिप्त और अति पिच्छिल होती है।

परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णा दोषत्रयेऽधिके ॥
--भावप्रकाशः

कृष्णा सकण्टका शुष्का संनिपाताधिके तु सा ॥
--योगरत्नाकर

त्रिदोषोत्थ रोगों में जिह्वा परिदग्धा (जली हुई-सी), कृष्ण-वर्ण, शुष्क, खरस्पर्श और सकण्टक (जिस पर काँटे-काँटे उभरे हुए स्पर्श से प्रतीत हों ऐसी) होती है।

स्पर्श-परीक्षा

त्वचा आदि का स्पर्श भी दोष-भेद से भिन्न होता है। केवल उसे देखने से भी दोष के प्रकोप को जान कर वैद्य उपचार की दिशा का निश्चय कर सकता है।

पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतलः।
श्लेष्मलस्तु भवेदार्द्रः स्पर्शतश्चैव लक्षयेत् ॥
--योगरत्नाकर

वात का प्रकोप होने पर शरीर शीत (और रूक्ष), पित्त के प्रकोप में उष्ण तथा कफ के कोप में आर्द्र (गीला-स्तिमित) होता है।

मुख के रस से परीक्षा

प्रकुपित मरुतः स्यात् कषायो रसश्च। × × × कट्वम्ल-तिक्ता रसाः × × × कर्माणि पित्तस्य वै। रसौ पटुस्वादू × × × कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ --सुदान्तसेन

मुख के रस से भी कुपित हुए दोष का निदान होता है। तथाहिः वात का प्रकोप होने पर मुख-रस कषाय, पित्त के कोप में कटु, अम्ल और तिक्त एवं कफ का कोप हो तो मधुर और लवण रस मुख में होता है।

॥ समाप्त ॥

निदान चिकित्सा हस्तामलक

वर्णानुक्रमणी

विषय — पृष्ठ

ख

ट—ड

त

द

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

बैद्यनाथ आयुर्वेदीय-प्रकाशन

यह कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नहीं है। शुद्ध अर्थ में यह एक आयुर्वेदीय प्रतिष्ठान है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का प्रति-संस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सा-प्रणाली से जनता को लाभान्वित कराना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिए एक ओर जहाँ वह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वहीं दूसरी ओर उसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करता है। बैद्यनाथ-प्रकाशन के उत्तम ग्रन्थों की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षण-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने यहाँ के अनेक ग्रन्थों को अपने पाठ्यक्रम की पुस्तकों में प्रमुख स्थान दिया है: चूँकि आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार बैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है, अतः पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण में सर्व-साधारण की क्रयशक्ति का पूरा विचार कर इन्हें लागत-मात्र कीमत पर बेचने का प्रबन्ध किया गया है, जिसके कारण बैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है।

आरोग्य-प्रकाश (बारहवाँ संस्करण)—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर **वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा** ने अनेक वर्षों के परिश्रम के पश्चात् इस महान ग्रन्थ—**आरोग्य-प्रकाश**—का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य समय पर हजारों रुपयों का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयों को पढ़कर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर बड़ी ही सरल भाषा में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिनको पढ़कर विद्वान से लेकर साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत वर्षों के परीक्षित, कभी विफल नहीं होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है।

औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ संस्करणों में १,०८,००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बारहवें संस्करण में २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गई हैं। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य मात्र २·२५

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर (**रायल अठपेजी साइज, बढ़िया कागज, सजिल्द और सचित्र**)—**लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई, वाइस-प्रिंसिपल, आयुर्वेद-महाविद्यालय, सूरत।** इस ग्रन्थ ने थोड़े समय के भीतर ही आयुर्वेद-जगत् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है और आयुर्वेदीय महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में पाठ्य-पुस्तक के रूप में यह स्वीकृत हो चुका है। इसमें कुल ४६ अध्याय हैं। इन अध्यायों में आयुर्वेद के सप्त धातुओं—रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र के कार्य, वात-पित्त-कफ का प्राकृत-वैकृत स्वरूप-कार्य और उनका स्थानसंश्रय-गति-प्रसार का प्राचीन-अर्वाचीन मतों के साथ सुरुचिपूर्ण विवेचन है। इसके साथ पुरीषादि मल, ओजद्वय, स्तन्य-आर्त्तव, द्रव्य, आहार-परिणाम, अवस्थापाक, धातुपाक, धातुपोषणक्रम, नाड़ी की परीक्षा, नाड़ी-संस्थान, अन्तःस्राव, त्वग्विज्ञान, शरीर-परमाणु, प्रजनन का सामान्य क्रम, श्वास-प्रश्वास-क्रिया, रुधिराभिसरण, रुधिरशोधनक्रम, मूत्रोत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-शारीर के अन्य सब विषयों का प्राचीन-आधुनिक मतों के साथ इसमें सरल विवेचन है। विषय की स्पष्टता के लिए अनेक एकरंगे चित्र भी इसमें दिये गये हैं। इसे पढ़ लेने के बाद आयुर्वेद के विद्यार्थियों को 'हैलिबर्टन फिजिओलॉजी' खरीदने की जरूरत नहीं रह जाती। मूल्य मात्र ११·००

आयुर्वेद-सार-संग्रह (**तृतीय संस्करण**)—सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र के मंथन के पश्चात् इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। इसमें रोगानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अति प्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य बार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगों का इस ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा, यन्त्र-पुट-खरल परिभाषा, औषध-प्रयोग विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गंधक-हिंगुल-परिभाषा, शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन ;

कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-बटी, पर्पटी, लौह-मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणों में विविध प्रकार की औषधियों के निर्माण, विधि-प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तर वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गये हैं, जिनसे औषधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी ११०० पृष्ठ के इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र ७·००

आयुर्वेद-व्याधि-विज्ञान (पूर्वार्द्ध)—लेखक : **आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी।** किसी भी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोगों के निदान का ज्ञान होना परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के बिना रोगी की चिकित्सा सफल नहीं हो सकती। इसीलिए व्याधि-विज्ञान (निदान-रोग-विनिश्चय) आयुर्वेद के प्रधान विषयों में सम्मिलित एक उपयोगी विषय है। इस ग्रन्थ में व्याधि-विज्ञान के साधनों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। व्याधियाँ कितने प्रकार की होती हैं; निज, स्वाभाविक और आगन्तुक व्याधियों में क्या भेद है; स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधियों के स्वरूप क्या हैं; प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त और समुत्थान भेद से १० प्रकार के रोगानीक कैसे हो जाते हैं; रोगों का आश्रय क्या है आदि अनेक ज्ञातव्य बातें इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्याय में वर्णित हैं। यह पूर्वार्द्ध खण्ड पाँच अध्यायों में विभाजित है, जिन्हें अध्ययन कर लेने के बाद निदान-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य-सिद्धान्त हस्तामलकवत् प्रतिभात हो जाते हैं। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वान और विद्यार्थी, दोनों के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। डिमाई साइज के ११२ पृष्ठ की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का मूल्य मात्र २·५०

आयुर्वेद-व्याधि-विज्ञान (उत्तरार्द्ध)—लेखक : **आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध है, जिसकी प्रतीक्षा आयुर्वेद-जगत् को अनेक वर्षों से थी। यह ग्रन्थ ज्वर, महास्रोतगत रोग, उरोगत रोग, रक्तपित्त रोग, पाण्डु रोग, शोथ, व्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्न निदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि १५ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसके प्रत्येक अध्याय में रोगों के लक्षण, निदान, चिकित्सा आदि पर सरल भाषा में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। मूल्य ६·००

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान (द्वितीय संस्करण)—लेखक : **वैद्य रणजितराय देसाई।** इस ग्रन्थ में अन्य दर्शन-ग्रन्थों से क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गये हैं। आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए, इस पर विद्वान् लेखक ने यथास्थान स्वमत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है, अतः इसका अध्ययन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। इसके प्रथम संस्करण की प्रतियाँ समाप्त हो चुकी हैं। द्वितीय संस्करण––अनेक संशोधन-परिवर्धन के साथ डबल डिमाई––१६ पेजी साइज में छपी है। प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण की जिल्द, छपाई-सफाई बहुत आकर्षक है। मूल्य ६·००

आयुर्वेदीय हितोपदेश––लेखक : **वैद्य रणजितराय देसाई।** आयुर्वेद के रहस्य-बोधन के लिये संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्रायः आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों की प्रारम्भिक परीक्षाओं में संस्कृत भी एक अनिवार्य विषय रहता है, परन्तु इसका अध्ययन-अध्यापन संस्कृत-साहित्य के पाठ्य-ग्रन्थ हितोपदेश, पंचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विषयों के रूप में होता है। किन्तु, यह प्रचलित पद्धति आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के लिए पूर्ण समीचीन प्रतीत नहीं होती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर, आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य में दक्ष वैद्य रणजितराय ने 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ में मूल वचनों का हिन्दी-अनुवाद तथा नवीन विचारों का समन्वयात्मक विवेचन भी किया गया है। आयुर्वेद के अध्यापकों और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। मूल्य ३·००

उपचार- पद्धति (पंचम संस्करण)––सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रतिवर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य ०·६२

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य––किशोर बालकों और तरुणों को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है। पृष्ठ-संख्या ११० ; मूल्य ०·६२

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श––लेखक : **आयुर्वेद-वृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य।** इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान हैं। इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के

अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पंच-महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। मूल्य २·६२

द्रव्यगुणविज्ञानम्--पूर्वार्द्ध (तृतीय संस्करण)--लेखक : **आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सूत्र रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से (द्रव्यों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयों पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायों में बहुत उत्तमतापूर्वक) संकलित कर सरल संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी है। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। मूल्य ४·५०

पदार्थ-विज्ञान (द्वितीय संस्करण), (देश भर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा-समिति के पाठ्यक्रम में स्वीकृत)—लेखक : **पं० रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य।** इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन और द्वितीय अध्याय में पदार्थ का गुण-कर्म-निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गई है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व-जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगा करती है। मूल्य ३·५०

मानस-रोग-विज्ञान (द्वितीय संस्करण)—लेखक : **डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक।** आज जब कि काम, क्रोध, मिरगी, उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि विभिन्न मानसिक रोग मनुष्य-जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य ५·५०

यूनानी चिकित्सा-सार—लेखक : **हकीम ठा० दलजीत सिंह।** आयुर्वेद में जैसे माधवनिदान रोग-निदान के लिए और शारंगधर, चक्रदत्त आदि रोगों की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध हैं, वैसे ही यूनानी (हकीमी) चिकित्सा में करावादीनकादरी, शिफाउल् अमराज, इलाजुल्गुर्बा आदि निदान और चिकित्सा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक यूनानी और आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान हैं, अतएव उन्होंने, आयुर्वेदीय चिकित्सकों को भी यूनानी के रोग-निदान, लक्षण और चिकित्सा का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इस पुस्तक में यूनानी रोगों के नाम हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं में लिखकर

उसके निदान-सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन सरल हिन्दी भाषा में सविस्तर किया है, जिससे यह पुस्तक वैद्यों और हकीमों के लिए अत्युपयोगी हो गई है। इसमें यूनानी सिद्धान्तानुसार सिर से लेकर पाँव तक के रोगों के निदान तथा चिकित्सा वर्णित है। स्थल-स्थल पर यूनानी और आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा का तुलनात्मक विवेचन भी अपने वक्तव्य में देकर लेखक ने विषय को और स्पष्ट कर दिया है। यह पुस्तक स्वर्गीय आचार्य यादवजी के निर्देशानुसार छापी गई है, जिससे इस पुस्तक की उपयोगिता का अनुमान पाठक कर सकते हैं। डबल डिमाई १६ पेजी साइज के ४३२ पृष्ठ में यह पुस्तक छपी है, फिर भी मूल्य केवल लागत-मात्र ४·५०

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह (द्वितीय संस्करण)—यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकाशित किया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २·७५

सिद्धयोग-संग्रह (पंचम संस्करण)—**आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य** द्वारा रचित इस ग्रन्थ को पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। डिमाई ८ पेजी २०० पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य २·७५

संक्रामक रोग-विज्ञान—लेखक : **कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेद-शास्त्राचार्य।** आज जब कि देश में मलेरिया, कुष्ठ, यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयंकर संक्रामक रोगों से हजारों-लाखों मनुष्य आक्रान्त हो रहे हैं, तो यह आवश्यक है कि संक्रामक रोगों से बचने का उपाय तथा रोग-परीक्षा, निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित करा दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयंकर रोग होने ही न पाये और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं विषयों का सरल हिन्दी भाषा में वर्णन कर इसे सर्वसाधारणोपयोगी बना दिया गया है। डबल डिमाई १०७९ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ६·००